'नैषधीयचरितम्' में उपलब्ध शास्त्रीय सन्दर्भों की मीमांसा

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ. सुरेश चन्द्र पाण्डे
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

प्रस्तुतिकर्ता
रामबहादुर

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद युनिवर्सिटी
इलाहाबाद – 211 002

सन्- 1999 पंजीयन संख्या – 2728

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

निःसंदेह मानवयोनि संचित पुण्यकर्मों का परिणाम है, क्योंकि इसी योनि में ही जीवधारी सम्पूर्ण धर्मों के परिपालन में समर्थ होता है। हाँ, उन धर्मों का निर्वहन हो पाना या न हो पाना बहुत कुछ प्रारब्ध कर्मों एवं सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के ऊपर निर्भर करता है, साथ ही उसमें व्यक्ति की मानसिक स्थिति के प्रभाव के योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता। आज इक्कीसवीं शताब्दी की तरफ अग्रसर मानव भले यह कहता रहे कि उसे वेदों या शास्त्रों के तथ्यों पर विश्वास नहीं है जैसा कि वर्तमान में कबीरपन्थी एवं अन्य भौतिकता में विश्वास करने वाले मनुष्य देखे जाते हैं, परन्तु वास्तव में अपने तर्क के समर्थन में वे भी वहीं तथ्य रखते हैं, जो कहीं न कहीं वेदों या अन्य शास्त्रीय ग्रंथों में उपनिबद्ध हैं। यहाँ तो, उनकी यही स्थिति मानी जा सकती है कि जो उनकी विचारधारा के अनुकूल हो वह उनका है, एवं जो प्रतिकूल हो, वह वेदों या अन्य शास्त्रों का। जो कि सर्वथा अग्राह्य है। यह भारत की भारतीयता एवं आध्यात्मिक संस्कृति का ही प्रभाव है कि चाहे कितना भी भौतकवादी या निरीश्वरवादी मानव हो, अपने धर्म से सम्बन्धित पूज्य स्थलों के सामने से गुजरने पर सहसा उनका मस्तक उस स्थान के सामने झुक ही जाता है, इससे यही सिद्ध होता है कि अभी भी उस प्राणी के अन्दर ऐसे वह संस्कार अवशेष हैं, जो धरोहर रूप में उसे अपने पूर्वजों से मिले हैं, उस असीम सत्ता पर वह अब भी विश्वास रखता है, जो इस संसार का नियन्ता, पालनकर्त्ता एवं संहर्त्ता हैं, भले ही हम उसे विविध नामों से सम्बोधित करते हैं।

शास्त्रों के अन्तर्गत वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, प्रस्थानत्रयी, विभिन्न स्मृतियाँ एवं धर्म, खिल तथा सूत्र ग्रंथ परिगणित किये जा सकते हैं। इनकी प्रासङ्गिकता तत्कालीन समय में तो थी ही, आज भी है। हाँ, इतना जरूर है कि आज इनकी विचारधाराओं पर समय की धूल पड़ गयी है, आवश्यकता है उस धूल को झाड़ने की एवं सामान्य जन को इनकी विचारधाओं एवं तथ्यों से अवगत कराने की, क्योंकि जहाँ प्राचीन काल का मानव आध्यात्मिक शान्ति एवं अर्थ शुचिता का प्रेमी था, वहाँ आज के अधिकांश मानव भौतिकभोगविलास एवं अर्थपरायणता के वशीभूत हो रहे हैं। यद्यपि महाभारत कालीन समाज में भी अर्थपरायणता थी जैसा कि भीष्म के कथन "अर्थस्य पुरुषो दासः अर्थः दासः न कस्यचित्" से निगमित होता है किन्तु फिर भी उस समय राज्यनिष्ठा, त्याग एवं संयम के प्रति भी लोगों की आस्था थी जिसका वर्तमान में लोप होता दिखाई देता है। आज के अर्थपिपासु मानव की तुलना यदि प्राचीन कालीन मानव से की जाये, तो "परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्" की अवधारणा की जगह "स्वकार्यं साधयेत् धीमान् कार्यं भ्रशों हि मूर्खता", तथा "घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा कृत्त्वा राजसरोहणम्। येन केन प्रकारेण प्रसिद्धस्तु नरो भवेत्।।" की अवधारणा ही अधिक समीचीन लगती है, क्योंकि आज इसी अवधारणा ने अधिकांश मनुष्यों को अपने पाश में आबद्ध कर रखा है। आज शास्त्र सम्मत क्रियाओं का निष्पादन होता तो है, लेकिन शायद रीति-रिवाजों, परम्पराओं को निभाने या लोकलज्जावश ही या केवल दिखावा मात्र के लिये। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि इस विज्ञान एवं कम्प्यूटर के युग में तो कुछ लोग शास्त्रों के अध्ययन, एवं शास्त्र सम्मत विधियों के क्रियान्वयन को समय एवं धन का दुरुपयोग मानते हैं। शायद यही कारण है कि प्राचीन काल के मानव जहाँ नीरोग एवं मानसिक शान्ति का जीवन व्यतीत

करते थे, वहीं आज का मानव स्वास्थ्य एवं मानसिक शान्ति की खोज में डाक्टरों एवं विभिन्न सन्त महात्माओं, तान्त्रिकों या ज्योतिषियों की शरण खोजता फिरता है, बात बराबर हो गयी, अर्थात् घूम फिर कर मानव को शास्त्रों की ही शरण लेनी पड़ी।

यह हमारे लिये गौरव एवं आत्मपरितोष की बात है कि भारत सरकार ने सन् 1999-2000 ई० को "संस्कृत वर्ष" घोषित किया है जिस संस्कृत भाषा में हमारे सभी शास्त्रीय ग्रंथ रचित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य गोस्वामी तुलसीदासजी के कथन "शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि पेठिअ" के सन्दर्भ की मीमांसा अब सरकार को भी सटीक लगने लगी है। क्योंकि जीवन की हर विधाओं में व्यक्ति का शास्त्र ही मार्ग दर्शन करते हैं! यथा-

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षाऽर्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नाऽप्यन्ध एव सः ।।

वाक्यपदीयकार भी शास्त्र को नेत्र की संज्ञा से अभिहित करते हैं। यथा-

वेदशास्त्राविरोधी यस्तर्कश्चक्षुरपश्यताम्। 1/137

गीता में भी शास्त्रों की महनीयता का विशिष्ट वर्णन मिलता है। यथा-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। 16/23

तस्माच्छात्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। 16/24

शास्त्र हैं क्या? इसके बारे मे व्यास का कथन है-

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ।। शान्ति पर्व 299/13

साथ ही महाभारत के सनतसुजातीय पर्व में यह भी वर्णन मिलता है कि –

यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यम् ।
सत्यस्थितौ यस्तु स वेद वेद्यम् ।।

एवं व्यास की यह भी मान्यता है कि-

शमार्थं सर्वशास्त्राणि निर्मितानि मनीषिभिः ।
य एव सर्वशास्त्रज्ञ तस्य शान्तं मनस्सदा ।।

आचार्य सायण के अनुसार वेद वह ग्रंथ है जो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट को रोकने का अलौकिक उपाय बतलाते हैं - "इष्ट प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं 'यो' ग्रंथो वेदयति स वेदः। साथ ही वेद से अभिप्राय उस समूचे साहित्य से है जो मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों भागों से मिलकर बना है, जैसा कि आपस्तम्ब कहते हैं "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नाम धेयम्।" आचार्य शंकर का कथन है कि वेद की वेदता इसी से होती है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान आदि से उद्भावित अलौकिक उपाय का बोध कराते हैं ("श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थ विज्ञानोत्पत्तौ।") भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य, निखिल ज्ञान के

अमूल्य भाण्डागार, एवं धर्म का साक्षात्कार करने वाले महर्षियों के द्वारा परमतत्त्व के परिचायक हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् (2/4/10) में वर्णन मिलता है कि वेदों की रचना ऋषियों ने अन्तः प्रेरणा की स्थिति में की थी और उन्हें जो प्रेरणा देता है वह ईश्वर है। जब कि शंकराचार्य मानते हैं कि ये ऋषियों के सामने विना उनके प्रयत्न के प्रकट हुए हैं, ("पुरुष प्रयत्नं विना प्रकटीभूत"), लगभग इसी तथ्य का प्रतिपादन अपने ग्रंथ निरुक्त (1/20) में यास्क भी करते हैं कि "साक्षात्कृत धर्माण ऋषियो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेल मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषिर्वेदं च वेदाङ्गानि च।

जहाँ तक शास्त्रों के प्रामाण्य की बात है तो इस विषय में यह कहा जा सकता है कि लगभग सभी धर्मपरायण भारतीय विचारधारा की सभी शाखायें वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करती हैं, यहाँ तक कि बौद्ध और जैन तक उपनिषदों की शिक्षा स्वीकार करते हैं, हाँ यह बात अवश्य है कि वे उनकी अपने अपने ढंग से व्याख्या करते हैं। नैयायिक मानते हैं कि वेदों की रचना ईश्वर ने की है जब कि मीमांसकों का मत है कि उनकी मनुष्य या ईश्वर किसी के द्वारा रचना नहीं हुई है, ध्वनियों के रूप में वे अनादिकाल से विद्यमान हैं। मीमांसक जहाँ वेदों को स्वतः प्रमाण मानता है वहीं नैयायिक परतः प्रमाण। न्यायशास्त्र की पद्धति को अपने लिए उचित नहीं समझ कर आचार्यजयन्त भट्ट वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करते हुए लिखते हैं - "अस्मत्पितामह एव ग्रामकामः साङ्ग्रहणीं कृतवान्, स इष्टिसमाप्त्यनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप।

यदि शास्त्रों को विषयवस्तु की सूत्रशैली में मीमांसा की जाये तो यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में जहाँ मुख्य रूप से स्तुतियों का वर्णन है, वहीं यजुर्वेद में यज्ञों के विवरण, सामवेद में गीतों की चर्चा एवं अथर्ववेद में सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विवरण के साथ-साथ जादू टोना, औषधि, कृषि एवं पशुपालन राजा एवं राज्य के विविध विवरणों का प्रतिपादन मिलता है। प्रत्येक वेद के चार-चार विभाग हैं, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्। जिसमें संहिताओं में मंत्रों, प्रार्थनाओं, स्वस्तिवाचन, एवं यज्ञविधियों का निरूपण जबकि ब्राह्मणों में अधिकांशतः गद्य लेख हैं जिसमें यज्ञों एवं अनुष्ठानों के महत्त्व का प्रतिपादन मिलता है। अवधेय है कि वेदों में कर्मकाण्ड के जो तत्त्व मिलते हैं उन्हें ब्राह्मणों में विकसित कर अनुष्ठानों की एक विस्तृत व्यवस्था का रूप दे दिया गया है। भट्टभास्कर ने भी अपनी तैत्तरीय संहिता (1/5/1) के भाष्य पर कर्मकाण्ड तथा मंत्रों के व्याख्यान ग्रंथों को ब्राह्मण कहा है यथा "ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मात्राणां व्याख्यानग्रन्थः।" इनमें प्रतिपाद्य विषय को तीन भागों में बाँटा जा सकता है, विधि, अर्थवाद एवं उपनिषद्। वाचस्पति मिश्र ने इन ग्रंथों का प्रयोजन निर्वचन, मंत्रों का विनियोग, अर्थवाद (प्रतिष्ठान) एवं विधि माना है। यथा-

नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम् ।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते ।।

वास्तव में मनुष्य के लिए आदर्श इस पृथ्वी पर पूर्ण आयु तक जीना है, मृत्यु निश्चित है एवं यज्ञ स्वर्ग की प्राप्ति में सहायक होता है। ऐसा वेदों एवं अन्य शास्त्रीय ग्रंथों में वर्णन मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (11/2/1/1) के अनुसार मनुष्य के तीन जन्म होते हैं, प्रथम माता पिता से, द्वितीय यज्ञादि के अनुष्ठान से, और तृतीय मृत्यु एवं दाहसंस्कार के बाद । यथा- "तीर्हा वै पुरुषो जायते, एतन्नु एव मातश्च अधिपितुश्च

अग्रे जायते, अथ यं यज्ञः उपनमति स यद् यजते तद् द्वितीयं जायते, यथ यत्र मियते यत्रैनमग्नावभ्यादधाति स यत् ततस्सम्भवित तत् तृतीयं जायते।" आरण्यकों में यज्ञों के अनुष्ठान के नियम, धार्मिक संस्कारों एवं पक्षीय धर्म की गुह्य शिक्षाओं का विवरण देखने को मिलता है। आरण्यकों में वैदिक यागों के आध्यात्मिक एवं तात्विक स्वरूप यथा वर्णाश्रम धर्म, निष्काम कर्मयोग, उपासना का समन्त्र प्राणविद्या, तत्वमीमांसा, आत्मविवेचन के साथ-साथ यज्ञों के दार्शनिक रूप का भी विवेचन मिलता है जैसा कि "यज्ञों वै श्रेष्ठतमं कर्म" एवं शांखायन ब्राह्मण के "विष्णुर्वै यज्ञः" वाक्यों से ध्वनित होता है। आरुणेय उपनिषद् (2) के अनुसार वानप्रस्थ व्रतधारी ही इनका अध्ययन करते हैं। आरण्यक अदृष्य रूप से उपनिषदों के भीतर छाये हुए हैं वैसे ही ब्राह्मण आरण्यकों के भीतर छाये हुए है जैसा कि ऐतरेय आरण्यक (3/1/1), एवं सांख्यायन आरण्यक (7/2) के आरम्भ के शीर्षक "अथातस्संहितायां उपनिषद्" से स्पष्ट होता है। उपनिषदों में वेदों के ज्ञानकाण्ड का विवरण मिलता है, इनमें आत्मा, परमात्मा सृष्ट्युत्पत्ति, ज्ञान, कर्म, उपासना एवं तत्वज्ञान का प्रतिपादन भी समाहित है। सारांशतः ब्रह्म तथा ब्रह्मात्मैक्यता का पल्लवन उपनिषदों का प्रधान विषय है। उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है क्योंकि वेदों की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य और अभिप्राय उपनिषदों में ही मिलता है, जैसा कि मुक्तिकोपनिषद् (1/9) के तिलेषु तैलवद् वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः, और भागवत (11/21/35) के "वेदो ब्रह्मत्मविषया एवं ब्रह्मसूत्र के आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते, तथा वेदान्तसार के "वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्" श्वेताश्वतर उपनिषद् (6/22) के "वेदान्ते परमं गुह्यम्," तथा छान्दोग्योपनिषद् (6/8/7) के तत्वमसि एवं वृहदारण्यकोपनिषद् (1/4/60) के "अहं ब्रह्मास्मि," माण्डूक्योपनिषद् (2) के "अयमात्माब्रह्म" आदि श्रुतिवाक्यों से स्पष्ट है। प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता) के अंतिम ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति, इन तीनों साधनों (मार्गों) से ध्येय (मोक्ष) प्राप्ति का विवरण मिलता है एवं विभिन्न स्मृतियों तथा सूत्रग्रंथों में सदाचरण के साथ-साथ आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक कर्मो के सन्दर्भो पर विभिन्न ऋषियों द्वारा विवेच्य विषय सामग्री का प्रतिपादन मिलता है।

स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य आश्रम से लेकर सन्यास आश्रम तक सामाजिक कार्यकलापों से लेकर राजनीतिक वीथियों तक एवं यज्ञ, पूजा, अर्चना, संस्कार निष्पादन, कलाशिक्षण, आरोग्यता तथा अन्तिम व्याधि मृत्यु तक सभी अवस्थाओं की गतिविधियों एवं उनकी क्रियाओं की सफल विधियों की जानकारी शास्त्रों के अध्ययनान्तर ही सम्भव हो सकती है। सृजन की प्रत्येक विधा यथा साहित्य, दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिष, काममीमांसा, शिल्प, वास्तु, रत्न, सामुद्रिक, पाक, औषधि, रसायन, भौतिक एवं प्राणिविज्ञान, गणित, राजनीति, अश्वपरिज्ञान, वर्णाश्रम, लोक, परलोक, जन्म, मोक्ष आदि विषयों को लक्ष्य कर लेखन प्रसंग में विद्वत्गण शास्त्रों को ही प्रमाण रूप में, साथ ही मार्गदर्शन रूप में भी स्वीकार करते हैं, जिसका प्रमाण आचार्य भरत से लेकर आधुनिक विद्वानों की कृतियों में प्राप्त होता है, इससे स्वतः ही शास्त्रों की महनीयता का आकलन किया जा सकता है। भारतीय मनीषियों के साथ-साथ पाश्चात्य विद्वान् भी शास्त्रों से अत्यधिक प्रभावित थे। मैक्समूलर का मानना है कि ऋग्वेद ही पहली वाणी है जो आर्य मानव के मुख से निकली है। वृहदारण्यक उपनिषद् (2/1/10) मुण्डकोपनिषद् (2/1/6) एवं स्वयं ऋग्वेद में भी यह वर्णन मिलता है कि ऋग्वेद उस महान सत्ता (परमात्मा) का निःश्वास हैं परन्तु आज ऋग्वेद की पूर्ण विषयवस्तु के उपलब्ध होने की सूचना अनुपलब्ध है, मैक्समूलर का (अपने ग्रंथ सिक्स सिस्टम्स आफ इंडियन फिलास्फी," 1899, पृ 41) में यहाँ तक मानना है कि आज ऋग्वेद के सौवें भाग को सुरक्षित रखने

के दावे की घोषणा नहीं की जा सकती। रैगोजिन भी अपने ग्रंथ "वैदिक इंडिया" (1895 पृ0 114) में लिखते हैं कि ऋग्वेद निःसन्देह आर्यजाति का सबसे प्राचीन ग्रंथ है। तथा ब्लूमफील्ड. अपने ग्रंथ "द रिलीजन आफ द वेद" (1908, पृ017) में कहते हैं कि ऋग्वेद न केवल भारत का सबसे प्राचनी स्मारक है बल्कि हिन्द यूरोपीय जातियों का सबसे प्राचीन दस्तावेज भी है। डॉ० निकोल मैक्निकोल ने अपनी पुस्तक "हिन्दू स्क्रिप्चर्स (1938 पृ0 14) में लिखा है कि यह (ऋग्वेद) साहित्य यूनान और इजराइल दोनों के साहित्य से पुराना है, और जिन्होंने इसमें अपनी उपासना को अभिव्यक्ति दी थी, उनकी सभ्यता के ऊँचे स्तर को प्रकट करता है। विण्टरनित्ज महोदय भी अपनी पुस्तक "ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर" (अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड-1, 1927, पृ0 6) में लिखते हैं कि यदि हम अपनी निजी संस्कृति के आरम्भ को जानना और समझना चाहते हैं, यदि हम प्राचीनतम हिन्द यूरोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं, तो हमें भारत जाना चाहिए, जहाँ एक हिन्द यूरोपीय जाति का सबसे प्राचीन साहित्य सुरक्षित है, क्योंकि भारतीय साहित्य की प्राचीनता के प्रश्न पर चाहे हमारा कुछ भी मत हो, पर यह बात निर्विवाद कहीं जा सकती है कि भारतीयों के साहित्य का जो सबसे प्राचीनतम स्मारक है, वह हिन्द यूरोपीय साहित्य का भी अभी तक उपलब्ध प्राचीनतम स्मारक है। मैक्समूलर ने भी अपने ग्रंथ "ऐंशियन्ट हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर" (1895, पृ0 63) में लिखा है कि हिन्द यूरोपीय साहित्य का सबसे प्राचीन स्मारक ऋग्वेद है। वेदों में जो इतनी रुचि ली जाति है, उसके दो कारण है, इसका सम्बन्ध विश्व इतिहास से है एवं भारतीय इतिहास से भी। विश्व इतिहास में यह एक ऐसी खाई को पूरा करता है, जिसे किसी अन्य भाषा कोई साहित्यिक ग्रंथ पूरा नहीं कर पाया है। यह हमें पीछे के उस काल में ले जाता है जिसका हमारे पास कोइ साक्ष्य नहीं है, तथा मनुष्यों की ऐसी पीढ़ी के खुद उनके शब्दों को हमारे सामने रखता है जिसके विषय में हम अन्यथा कल्पनाओं और अनुमानों के सहारे बस बहुत ही धुंधला सा अंदाजा लगा पाते हैं। जब तक मनुष्य अपनी नस्ल के इतिहास में रुचि लेता है रहेगा और जब तक हम पुस्तकालयों और संग्रहालयों में प्राचीन युगों के अवशेषों का संग्रह करते रहेंगे तब तक मानव जाति की आर्यशाखा का लेखा जोखा रखने वाली पुस्तकों की लम्बी पांत में पहला स्थान सदा ऋग्वेद को ही मिलेगा। उपर्युक्त कथनों एवं वर्तमान में भी विद्वत्गणों द्वारा संहिता वाक्यों को अपनी ग्रंथो में जगह देने से वेदों की प्राचीनता एवं समीचीनता की पुष्ट होती है। वास्तव में काव्यवृजन की यह परम्परा, आत्मिक जीवन को पंगु कर देने वाला और हमसे एक सदा के लिए गुजरे युग में लौटने की अपेक्षा करने वाला कोई कड़ा और कठोर सांचा "नहीं" है, वह अतीत की स्मृति भी नहीं है बल्कि जीवन्त आत्मा का सतत आवास एवं आत्मिक जीवन की जीवन्त धारा है, और कहीं न कहीं से हम उसी पुरातन काव्यधारा से अवश्यमेव प्रभावित होकर उससे मार्गदर्शन रूपी लौ को उधार ले ही लेते हैं। महात्मा सुकरात भी कहते हैं कि हमें मिल जुलकर उस भण्डार को उलटना पलटना चाहिए जो संसार के मनीषी हमारे लिए छोड़ गये हैं और यदि ऐसा करते हुए हम एक दूसरे के मित्र बन जाते हैं, तो यह और भी प्रसन्नता की बात होगी। इस प्रकार शास्त्र विभिन्न संस्कृतियों के परिज्ञान के साथ-साथ मानव में मानवीयता, सदाचरण एवं मित्रता के बीज बोने में भी अपनी महनीय भूमिका निभाते हुए दिखते हैं। इसलिए इनकी मीमांसा करना पवित्र कर्म भी माना जा सकता है। यथा-

यस्य व्याकुरुते वाचं, वाचं यस्य मीमांसतेऽध्वरम् ।
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ पंक्तिपावन पावनः ।।

यह तो सच है कि वेदों या श्रुतियों का सम्बन्ध उन विषयों से हैं जिन्हें सामान्य जन द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान एवं अनुमान से नहीं जाना जा सकता "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" (मीमांसासूत्र 1/2/5) यथा, ब्रह्म, आत्मा, जन्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष की मीमांसा, परन्तु फिर भी शास्त्रों की "चरैवेति चरैवेति" की अवधारणा मानव को निरन्तर स्वकर्म करने हेतु प्रेरित करती रहती है और "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" आचारवान् पुरुषो वेद, "ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः" भागवत के "जितेन्द्रियस्यात्मरतेबुर्धस्य गृहाश्रमः किन्नु करोत्यवद्यम्" एवं अभिनवगुप्त के कथन "तत्वज्ञानिनं सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्तिरिति स्मार्तेषु श्रुतौ" आदि वैदिक वाक्यों के माध्यम से यह तो कहा ही जा सकता है कि सामान्यजन भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं अष्टांगिक योगों के सफल क्रियान्वयन के पश्चात अपने अंतिम ध्येय "मोक्ष" को प्राप्त कर सकते हैं और शास्त्र तो प्राणिमात्र के आस्था के विषय तो हैं ही, क्योंकि वर्तमान में भी उनमें सन्निहित तथ्यों का रसपान मानव द्वारा विभिन्न माध्यमों से किया जाना, उनके प्रति आस्था का सबल प्रमाण माना जा सकता है। यह शास्त्रों के प्रति आस्था का ही प्रभाव है कि जर्मन रहस्यवादी एवं दार्शनिक शोपेनहावर (Schopenhauer 19वीं शताब्दी) की मेज पर उपनिषदों की एक लैटिन प्रति रहती थी और वे सोने से पहले उसमें से ही अपनी प्रार्थनाएँ किया करते थे। उनकी मान्यता थी कि उपनिषदों के प्रत्येक वाक्य से गहन, मौलिक और उदात्त विचार फूटते हैं और सभी कुछ एक उच्च पवित्र और एकाग्र भावना में व्याप्त हो जाता है। समस्त संसार में उपनिषदों जैसा कल्याणकारी और आत्मा को उन्नत करने वाला कोई और ग्रंथ नहीं है। ये सर्वोच्च प्रतिभा के प्रसून हैं। देर सबेर ये लोगों की आस्था का आधार बनकर रहेंगे। (ब्लूमफील्ड रिलीजन आफ द वेद , 1908 पृ0 55) साथ ही उनका यह कथन कि उपनिषद् मेरे जीवन में शान्ति के साधन रहे हैं और मृत्यु में भी शान्ति के साधन रहेंगे। (It has been the solace of my life and will be the solace of my death- winternitz, H.I.L. P. 267)से उनकी शास्त्रों में अगाध एवं असीम आस्था तथा श्रद्धा का पता चलता है। उपनिषदों से अत्यधिक प्रभावित डा0 पाल डायसन (1845-1919 जिनका भारतीय पंडितों ने भारतीयकरण करा देवसेन नाम रख दिया था।) का मानना है कि उपनिषद् नामक श्रुति ऐसी दार्शनिक धारणाओं की स्थापना करती है, जो भारत में, या शायद विश्व में भी अद्वितीय है, एवं दर्शन की प्रत्येक समस्या को सुलझाती है। उनका जर्मन ग्रंथ "डास सिस्टम डेस वेदान्त" (जिसका अंग्रेजी अनुवाद "दि सिस्टम आफ दि वेदान्त हो चुका है), एवं "एलीमेन्टस आफ मेटाफिजिक्स", जो तीन भागो में है, उसमें पहला भाग उपनिषदों का दर्शन है। डब्लू. बी. यीट्स का कथन (जो राधाकृष्णन टेन प्रिंसिपल उपनिषद्स 1937, जिसमें दस उपनिषदों के मन्तव्यों की पुनर्व्याख्या और मूल्यांकन हुआ है, के पृष्ठ 11 में उद्घृत) है कि "सम्प्रदायों को शास्त्रार्थ के लिए बेचैन करने वाली कोई भी चीज ऐसी नहीं है, जिस पर इनका (उपनिषदों का) ध्यान न गया हो।"

वास्तव में यदि सम्पूर्ण उपनिषदों की मीमांसा की जाये, तो यही निष्कर्ष उभर कर सामने आता है कि ये हमें अदृश्य सत्य का एक पूर्ण रेखाचित्र प्रदान करते हैं, साथ ही मानव अस्तित्व के रहस्यों पर बहुत ही सीधे, गहरे विश्वरत ढंग से प्रकाश डालते हैं एवं जाति, वर्ण, भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठकर मानव आत्मा की अन्वेषण प्रवृत्ति का समाधान करते दिखते हैं, इससे यह प्रतीत होता है कि समय की दृष्टि से वर्तमान में हमसे दूर होते हुए भी अपनी विचारधारा से यह आज भी हमारे नजदीक हैं, इससे इनकी वर्तमान में भी प्रासंगिकता द्योतित होती है। ओल्डेनबर्ग का भी अभिमत (जो कीथ के "द रिलीजन एण्ड फिलासिफी आफ द वेद एण्ड द उपनिषद्स, 1925 पृ0 492 में उद्धृत) है कि उपनिषदें हमें

आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और दार्शनिक तर्कप्रणाली दोनों प्रदान करती हैं। क्रिश्चियन वेदान्तिजम पर एक लेख (इंडियन इंटरप्रेटर 1913 में छपे) में श्री आर. गोर्डन मिल्बर्न लिखते है कि "भारत में ईसाई धर्म को वेदान्त (उपनिषदों की) आवश्यकता है। भारतीय विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन ने उपनिषदों के ऋषियों को पवित्र ज्ञान के शिक्षणालय के महान शिक्षक की पद्वी से समलंकृत किया है, क्योंकि वे हमारे सामने ब्रह्मज्ञान व आध्यात्मिक जीवन की सुन्दर व्याख्या रखते हैं। वर्तमान में उपनिषद् साहित्य जिस रूप में हमें प्राप्त है उनके बारे में यह अभिमत रखा जा सकता है कि उपनिषदों के ऋषियों में न केवल गहरा संदर्शन है, बल्कि वे अपने संदर्शनों को सुबोध और प्रत्ययकारी वाणी का रूप भी दे पाने में सर्वथा सफल रहे हैं। मुक्तिकोपनिषद् (1/30-39) में यहाँ तक कहा गया है कि एक सौ आठ उपनिषदों के अध्ययन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। शायद इसी मान्यता का परिणाम था कि उपनिषद् जैसे शास्त्रीय ग्रंथों का अनेक भाषाओं में अनुवाद किया गया। जहाँ दाराशिकोह (1656-57 ई०) ने फारसी में इनका अनुवाद कराया, वहीं एन्क्वेटिल डुपेरोन (1801-1802 ई०) ने औपनिखत नाम से लैटिन भाषा में (50 उपनिषदों का) अनुवाद किया। अंग्रेजी भाषा में उपनिषदों के अनुवादकों की भरमार देखी जा सकती है जिनमें प्रमुख रूप से राममोहन राय (1832), रोअर (1853 विब्लियोथेका इंडिका), मैक्समूलर (1879-1884) ने शंकर द्वारा उल्लिखित 11 उपनिषदों एवं मैत्रायणी संहिता का अनुवाद किया (सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट मीड और चट्टोपाध्याय, 1896 लंदन, थियोसोफिलकल सोसाइटी)। डॉ० पाल डायसन ने 60 उपनिषदों का (जिनमें वह 14 को ही मूल उपनिषद् मानते हैं) का अनुवाद किया। सीताराम शास्त्री और गंगानाथ झा (1898-1901 जी0ए0 नटेसन मद्रास), सीतानाथ तत्वभूषण (1900 ई०) एस.सी. बसु (1911) के अतिरिक्त आर. ह्यूम (1921) ने मैक्समूलर द्वारा चुनी गयी 12 उपनिषदों एवं माण्डूक्योपनिषद् का, ई०बी० कोवेल, हिरियन्ना, द्विवेदी, महादेवशास्त्री एवं श्री अरविन्द ने कुछ उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये है। इससे उपनिषदों की शास्त्रीय रूप में महत्ता सिद्ध होती है और शास्त्र तो हमारे लिए अमूल्य निधि हैं ही क्योंकि शास्त्र ही वह नीवं हैं, जिस पर करोड़ों मनुष्यों का विश्वास आज भी विद्यमान है।

दर्शनशास्त्र एवं संस्कृत की स्नात्कोत्तर कक्षाओं में महाकवि श्रीहर्ष के दो ग्रंथों क्रमशः खण्डनखण्डखाद्य एवं नैषधीयचरितम् के अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ, साथ ही स्नातक कक्षाओं में सूक्तियों के लेखन प्रसंग में नैषधं विद्वदौषधम् नैषधे पद लालिव्य एवं उदिते "नैषधे काव्ये क्व माघः क्वच भारविः" तथा श्रीहर्ष की स्वयं की उक्तियों की, कि उसका नैषधीयचरित क्षीरसागर के समान है एवं उसकी वाणी के सरस प्रवाह में परमानन्ददायी अमृत की प्राप्ति होती है वह समाधियों में परब्रह्म के साक्षात्कार से परमानन्द का अनुभव करता है, उसका काव्य अमृतमय एवं तर्क प्रतिपक्षी को मौन धारण करवा देते हैं इत्यादि ने मुझे सोचने को मजबूर कर दिया कि आखिर श्रीहर्ष कैसी प्रतिभा के धनी हैं कि उन्होंने दसप्रमुख ग्रंथों (जिनमें आठ अप्राप्य हैं) की रचना की? खण्डनखण्डखाद्य पर दृष्टि डाली, तो यही समझ में आया कि यह अद्वैतन्याय (Dialectics) का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है एवं इसमें विशेष रूप से नैयायिकों के मत का खण्डन करके अनिवर्चनीयतावाद को प्रतिष्ठापित किया गया है। इसीलिए इस ग्रंथ को "अनिवार्यनीयतासर्वस्वम्" भी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो श्रीहर्ष ने नैयायिकों के मतों का खण्डन कर उन्हें खाँड़ (गुड़ का परिवर्तित रूप) रूप में खाने को सम्प्रेषित कर दिया। इस पर नैयायिक शंकर मिश्र की आनन्दवर्धिनी (शाकंरी), विद्यासागर की विद्यासागरी टीकाओं के साथ-साथ चित्सुखाचार्य ने भी टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त गोविन्दनरहरिबैराजकपुरकर ने इस ग्रंथ पर लिखी गयी अन्य टीकाओं

यथा-रघुनाथसिरोमणिकृत खण्डनमण्डन, पद्मनाभकृत शिष्यहितैषिणी, चरित्रसिंह कृत खण्डनमहातर्क, प्रगल्भमिश्रकृत खण्डनमण्डन, शुभशंकरमिश्रकृत व्याख्या तथा विद्याभरणी एवं श्रीदर्पण इत्यादि प्रमुख हैं। दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मैं इस ग्रंथ की अधिकाधिक सामग्री से परिचित हो चुका था, अतः इसमें कार्य करने के लिए मन ने स्वीकृति नहीं दी। रह रह कर एक कसक या यह कहूँ अनुरक्ति नैषधमहाकाव्य के प्रति बढ़ती चली गयी। अनेकशः इस महाकाव्य का आलोडन विलोडन करने के पश्चात हर बार इसी किसी न किसी पंक्ति में कोई नयी शास्त्रीय चर्चा मिल जाती। तब मन में यह विचार कौंधा कि वस्तुतः नैषध तो श्रृंगार रस का कलश काव्य है परन्तु फिर भी इसमें शास्त्रीय संदर्भों की भरमार भी है, जिन पर आज तक किसी विद्वान् की लेखनी नहीं उठी। वैसे तो इस महाकाव्य पर लगभग 24 प्रमुख टीकाकारों ने टीका लिखी है यथा - चाण्डू पंण्डित विद्याधर, गदाधर, आनन्दराजानक, ईशानदेव, उदयनाचार्य, गोपीनाथ चारित्रवर्धन, जिनराज, नरहरि (नरसिंह), भगीरथ, भरतमल्लिक (भरतसेन), भवदत्त, मधुरानाथ, महादेवविद्यावागीश, रामचन्द्र शेष वंशीवदन शर्मा, विद्यारण्ययोगी, विश्वेश्वराचार्य, श्रीदत्त, श्रीनाथ, सदानन्द, नारायण भट्ट, महामहोपाध्याय मल्लिनाथ एवं श्रीहरिसिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य। इनमें आचार्य मल्लिनाथ की जीवातु टीका, महामहोपध्याय नारायण भट्ट की नैषधप्रकाश या नारायणी टीका तथा श्रीहरि सिद्धान्त वागीश भट्टाचार्य की जयन्ती (बंगला अनुवाद सहित) टीका को ही विद्वानों ने अध्ययन अध्यापन की दृष्टि से श्रेष्ठ माना है। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्णकान्त हाण्डिकी (ने 1956 में नैषध का अंग्रेजी अनुवाद एवं विशिष्ट टिप्पणीयाँ लिखी,) डॉ० अरुणोदय नटवर लाल जानी एवं डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ला ने भी नैषधमहाकाव्य के साहित्यिक एवं आंशिक रूप में दार्शनिक, पौराणिक भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है।

परमादरणीय गुरूदेव प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डेजी से जब मैंने नैषध के शास्त्रीय सन्दर्भों पर कार्य करने की अपनी अभीप्सा व्यक्त की, तो उन्होंने सहर्ष अनुमति प्रदान करने के साथ-साथ बहुविध सहायता देने का आश्वासन भी दिया। नैषध जैसे गम्भीर काव्य की शास्त्रीय मीमांसा करना वास्तव में एक दुष्कर कार्य था, परन्तु गुरूजी के समय-समय पर विद्वत्तापूर्ण निर्देशन से यह कार्य संभव हो सका। गुरूजी के विशाल सारगर्भित पुस्तकालय से सहयोग लेने के साथ-साथ मैंने उनकी अगाध, असीम, पण्डित्यसम्पन्ना रसनाग्रनर्तकी शास्त्रविद्या का निरन्तर रसपान भी किया है। उनके स्नेह, सहयोग, एवं गवेष्णात्मक दृष्टि प्रदान करने के लिये उन्हें मैं ह्रदय से कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

इस शोधप्रबन्ध के पूर्ण होने में वाग्देवी के साथ-साथ अपने कुल देवता भगवान शंकरजी को अपनी प्रणिमा निवेदित करता हूँ। स्वर्गनिवासिनी, करुणा एवं ममता की प्रतिमूर्ति, प्रातः स्मरणीया मातृद्वय (स्वमाता एवं गुरुमाता) के प्यार एवं अमोघ आशीर्वाद का कवच मुझे हर क्षण स्वाध्ययन हेतु प्रेरित करता रहता है, उन्हें मैं ह्रदय से नमन करता हूँ। प्रो. हरिशंकर त्रिपाठी जी (संस्कृत विभागाध्यक्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने, जो सत्परामर्शों से मेरा ज्ञानवर्धन किया है, एवं अपना अनुराग पात्र समझा है, इसके लिये मैं उनके प्रति नतमस्तक हूँ। प्रो. सूर्य नारायण मिश्रजी (विधि विभाग) के स्नेह एवं शुभाशीः की छाँव ने मेरी आत्मिक शक्ति का सदैव परिवर्धन किया है, अतएव उन्हें भी मैं विनम्र भाव से नमन करता हूँ। डॉ० शङ्करदयालद्विवेदी जी (रीडर संस्कृत विभाग) की प्रीति भावना की प्रतीति, मेरा उत्साह वर्धन करती रहीं है एतदर्थ उनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना पूत कर्त्तव्य समझता हूँ। डॉ० जटाशंकरतिवारी

(रीडर, दर्शन विभाग) एवं अग्रजतुल्य डॉ० दुर्गा प्रसाद मिश्र, डॉ० हरिराम मिश्र, डॉ० सुरेश कुमार पाण्डेय, डॉ० दिनेश प्रसाद मिश्र तथा डॉ० सरिता वाजपेयी के शुभकामनाओं एवं पुस्तकीय सहयोग के लिये उनके प्रति हृदय से अनुगृहीत हूँ।

परम पूज्य पिताजी के शुभाशीष एवं प्रोत्साहन का ही फल है कि आज मैं इस स्थिति तक पहुँच सका हूँ। परम सम्माननीय अग्रज श्री कामता प्रसाद शुक्ल (D.O.) के शुभाशीष एवं आर्थिक सहयोग ने मेरे इस मार्ग को सरल बनाया है अतएव उन्हें मैं मन ही मन प्रणाम करता हूँ। मेरे इस शोध यज्ञ में जिन अदृश्य शक्तियों, ऋषियों, गुरुजनों एवं उनके ग्रंथों ने आज्य एवं समिधा सदृश काम किया या इस शोधयज्ञ के अनुष्ठान में समवायि एवं निमित्तकारण की भाँति सहयोग प्रदान किया, उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ के प्राचार्य डॉ० गया चरण त्रिपाठी जी का जो अनुराग एवं पुस्तकालय में अध्ययन के लिये जो सहयोग मिला, उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। अन्य पुस्कालयों के साथ-साथ पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय एवं उनके कर्मचारियों विशेषकर श्री संगमलालशाहू के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने दुर्लभ जनरलों, पाण्डुलिपियों एवं नैषध महाकाव्य से सम्बन्धित अत्यन्त प्राचीन टीकाओं तथा अन्य प्रासंगिक विषय सामग्री को खोजने में मेरी मदद की। इस शोधप्रबन्ध के सुन्दर प्रकाशन हेतु जय दुर्गे माँ कम्प्यूटर प्वाइंट, कटरा के स्वत्वाधिकारी श्री रतनखरे को हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

प्रस्तुतिकर्त्ता

राम बहादुर

शोध-छात्र (संस्कृत विभाग)

इलाहाबाद युनिवर्सिटी

इलाहाबाद

ABBREVIATIONS

A.B.R.O.I.	-	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute - Poona,4
A.I.O.C.	-	All India Oriental Conference (Series) ; 1925, Volumn 1 - 4.
An. H.I.	-	Ancient History Of India.
Adyar	-	A catalogue of the S.K.M.S.S.in the Adyar library by the Pandits of the library , Part I 1926, Part II 1928.
B.O.R.I.	-	Bandarkar oriantal Research Institute , Poona
Cat	-	Catalogue
G.O.S.	-	Gaewad's oriental series, Baroda.
H.C.S.L.	-	History of classical Sanskrit Literature.
H.I.L.	-	The History of Indian Literature.
H.S.P.	-	History Of Sanskrit Poetics.
H.S.L.	-	History Of Sanskrit Literature.
I.A.	-	Indian Antiquary.
I.O.	-	Cat. of S.K.MS S in the liberary of Indian Office (London) by Eggeling , Part VII, 1904.
J.B.B.R.A.S.	-	Journal Of Bombay Branch of the the Royal Asiatic Society.
J.B.O.R.I	-	Journal of Bhandarkar oriental Research Institute , Poona
J.O.R.	-	Journal of Oriental Research, Madras.
M.S. (S)	-	Manuscript (S)
N.C.	-	Naisadhiyacaritam.
N.S.P	-	Nirnaya Sagara Press, Bombay
N.W.	-	A catalogue of S.K., M.S.S., In the private library of the north west Provinces Part I Benaras
O. I.	-	Orriantal Institute Baroda.
O.I.M.S	-	An alphabetical List of Manuscript in the oriental Institute , Baroda Vol. II, G.O.S, CX IV. P- Page.
Report	-	Detailed reort of a tour in search of Sanskrit manuscript, made in the Kashmir Rajputana and Central India by G. Buhler, Extra No. Of J.B.B.R.A.S Bombay 1877.
Tanjore	-	A descriptive catalogue of the Snaskrit manuscript in the tanjore Maharaja serfoji' S Saraswati Mahal Library, Tanjor , By P.P.S Sastri in Vol 19 Vols.
T.C.	-	Triennial cat. of Mss Collected for the Govt. Mss Liberary Madras.
	-	Vol. - I By M.Rangacharya and S. Kuppuswami sastri in three parts - 1913.
	-	Vol. - II By S. Kuppuswami Sastri (each in 3 parts to Vol. V, 1917-1932)
	-	Vol. - VI By S. Kuppuswami Sastri, 1953.
	-	Vol. - VII By S. Kuppuswami Sastri and P.P.S. Sastri 1937.
	-	Vol. - VIII By P.P.S Sastri 1939.
	-	Vol. - IX By P.P.S. Sastri and A Sankaran. 1943.

संक्षिप्त सङ्केत सूची

अग्नि पु०	-	अग्निपुराण
अर्थ शा०	-	अर्थशास्त्र
अथर्व०	-	अथर्ववेद संहिता
अभि० भा०	-	अभिनव भारती
अभि०धा०वृ०मातृ०	-	अभिधावृत्तिमातृका
अभि०शा०	-	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
अभि०चि०	-	अभिधानचिन्तामणि
अलं० सर्व०	-	अलंकारसर्वस्व
अमरुक शत०	-	अमरुक शतक
अष्टा०	-	अष्टाध्यायी
आप०गृ०सू०	-	आपस्तम्ब गृह्य सूत्र
आश्व०गृ०सू०	-	आश्वलायन गृह्य सूत्र
आश्व०श्रौ०सू०	-	आश्वलायन श्रौतसूत्र
ईशा०	-	ईशावास्योपनिषद्
उप०	-	उपनिषद्,
उ० मेघ०	-	उत्तरमेघदूत
उ०रा०	-	उत्तर रामचरित।
ऋ०	-	ऋग्वेद
औ०वि० चर्चा	-	औचित्यविचार चर्चा
ऐत० उप०	-	ऐतरेयउपनिषद्
कठो०	-	कठोपनिषद्,
का०गृ०सू०	-	काठक गृह्यसूत्र
का० प्र०	-	काव्यप्रकाश
काव्या०	-	काव्यालंकार
का०मी०	-	काव्यमीमांसा
काव्याद०	-	काव्यादर्श
काव्यानु०	-	काव्यानुशासन
का०वा०	-	कात्यायन वार्तिक
काशिका०वृ०	-	काशिकावृत्ति
का०सा०सं०	-	काव्यालंकारसारसंग्रह
का०सू०वृत्ति	-	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
किरात०	-	किरातार्जुनीयम्
कु०	-	कुमारसंभव
कूर्म पु०	-	कूर्म पुराण
केनोप०	-	केनोपनिषद्
खं०ख०खा०	-	खण्डनखण्डखाद्य
गृ०सू०	-	गृह्यसूत्र
गरुण पु०	-	गरुणपुराण
गो०गृ०सू०	-	गोभिलगृह्यसूत्र
चि०मी०	-	चित्र मीमांसा
छान्दो० उप०	-	छान्दोग्य उपनिषद्
ज्यो०	-	ज्योतिस्
त०व०	-	तत्ववैशारदी
तत्त्वार्थ० सू०	-	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र
तै०आर०	-	तैत्तरीय आरण्यक
तै०उ०	-	तैत्तरीय उपनिषद्
तै०ब्रा०	-	तैत्तरीय ब्राह्मण
तै० सं०	-	तैत्तरीय संहिता
दश०	-	दशरूपक
धर्म०सू०	-	धर्मसूत्र
धर्म०शा० का इति०	-	धर्मशास्त्र का इतिहास
ध्वन्या०	-	ध्वन्यालोक
ध्वन्या०लो०लो०	-	ध्वन्यालोकलोचन
न्या०सू०	-	न्यायसूत्र
ना०स्मृ०	-	नारद स्मृति
ना०शा०	-	नाट्यशास्त्र
नै०प्र०	-	नैषधप्रकाश (व्याख्या)
नै०	-	नैषधीयचरितम्
नै० परि०	-	नैषधपरिशीलन
न्याय०कु०	-	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्याय०म०	-	न्यायमञ्जरी
न्याय सि०मु०	-	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
नी०श०	-	नीति शतक
पात०यो०दर्श०	-	पातञ्जलयोगदर्शन
पस्पशा०	-	पस्पशाह्निक
पा०सू०	-	न्याणिनिसूत्र
पा०गृ०सू०	-	पास्करगृह्यसूत्र
प्रश्नो०	-	प्रश्नोपनिषद्
बौ०ध०सू०	-	बौधायन धर्मसूत्र
ब्र०-सू०	-	ब्रम्हसूत्र
भा०द०	-	भारतीय दर्शन
भार०धर्म०	-	भारद्वाज धर्मसूत्र
भार०गृ०सू०	-	भारद्वाज गृह्य सूत्र
भा०पु०	-	भागवत पुराण
भार०ज्यो०	-	भारतीय ज्योतिष
भाव०प्र०	-	भाव प्रकाशन

मनु०	-	मनुस्मृति
महा०	-	महाभारत
मानव गृ०सू०	-	मानव गृह्यसूत्र
माल वि०	-	मालविकाग्निमित्र
मार्कण्डे० पु०	-	मार्कण्डेय पुराण
माण्डू०	-	माण्डूक्योनिषद्
मु०रा०	-	मुद्राराक्षस
मृच्छ	-	मृच्छकटिक
मी०शा०भा०	-	मीमांसा शाबर भाष्य
मीमा०भा०	-	मीमांसा भास्य
मीमा०सू०	-	मीमांसा सूत्र
यजु०	-	यजुर्वेद
याज्ञ०सं०	-	याज्ञवल्क्य संहिता
या०स्मृ०	-	याज्ञवल्क्यस्मृति
यो०सू०	-	योगसूत्र
यो०वा०	-	योगवार्तिक
रघु०	-	रघुवंशमहाकाव्य
रस०गं०	-	रसगङ्गाधर
रस०तरं०	-	रसतरंगिणी
राजतरं०	-	राजतरङ्गिणी
रामा०	-	रामायण
रा०मा०वृत्ति	-	राजमार्तण्डवृत्ति
वा०भा०	-	वात्स्यायन भाष्य
वा०सू०	-	वात्स्यायन सूत्र
विष्णु पु०	-	विष्णु पुराण
वाग्भटा०	-	वाग्भटालंकार
व०जी०	-	वकोक्तिजीवित
वशिष्ठ ध०सू०	-	वशिष्ठ धर्मसूत्र
वाज०सं०	-	वाजसनेयि संहिता
वृह० उप०	-	वृहदारण्यक उपनिषद्
वा०प०	-	वाक्यपदीय
वैखानस गृ०सू०	-	वैखानस गृह्यसूत्र
वा०सू०	-	वात्स्यायन सूत्र
वै०सू०	-	वैशेषिक सूत्र
व्यक्ति वि०	-	व्यक्ति विवेक
वृत्ति समु०	-	वृत्ति समुद्देश
वा०सौ०	-	वास्तु सौख्यम्
वृहत सं०	-	वृहत्संहिता
विष्णुधर्मो०	-	विष्णुधर्मोत्तर पुराण
विक्रमो०	-	विक्रमोर्वशीयम्
श्वे०उप०	-	श्वेताश्वतरउपनिषद्
श्रृं०प्र०	-	श्रृंगारप्रकाश
शत०ब्रा०	-	शतपथब्राम्हण
शा०भा०	-	शाङ्कर भाष्य
शु०यजु०	-	शुक्ल यजुर्वेद
शिशु०	-	शिशुपालबध
षड दर्श०समु०	-	षडदर्शनसमुच्चय
स०क०	-	सरस्वतीकण्ठाभरण
सं०सा०का इति०	-	संस्कृत साहित्य का इतिहास
सं०-र०	-	संगीत रत्नाकर
साम०वे०	-	सामवेद
सा०द०	-	सहित्यदर्पण
सु०ज्यो०	-	सुगम ज्योतिष
सर्व०द०सं०	-	सर्वदर्शन संग्रह
सांखा०गृ० सू०	-	सांखायन गृह्यसूत्र
सौ०	-	सौन्दरनन्द
स्वप्न०	-	स्वप्नवासदत्ता
सार०संद०	-	सारस्वत संदर्शनम्
सायण-भा०	-	सायण भाष्य
सुभा०रत्न०भा०	-	सुभाषितरत्नभाण्डागार
संगीत०पा०	-	संगीतपारिजात
सि०कौ०	-	सिद्धान्त कौमुदी
सांख्य कौमु०	-	सांख्यतत्व कौमुदी
संगी०सुधा०	-	संगीत सुधाकर
सु०संहि०	-	सुश्रुत संहिता
सं०सा०विमर्श	-	संस्कृत साहित्यविमर्श
सं०सा०का समी०इति०	-	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास
हिन्दी अभि०	-	हिन्दी अभिनवभारती
हिरण्य के०गृ०सू०	-	हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
हारीत स्मृ०	-	हारीत स्मृति

प्रथम अध्याय

श्रीहर्ष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

श्रीहर्ष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

रचना कर्तृत्व —

संस्कृत का काव्य वाङ्मय न केवल हृदयस्पर्शी, बुद्धिचमत्कारकारी एवं सरसता की दृष्टि से महनीय है, अपितु वह विविध ज्ञान विज्ञानराशि का अनुपम कोष भी है। संस्कृत काव्य साहित्य न केवल गुणवत्ता अपितु संख्या की दृष्टि से भी अपरिमित हैं, तथापि अध्ययन अध्यापन की परम्परा में वृहत्त्रयी एवं लघुत्रयी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। व्याकरणतंत्र में प्रचलित "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" के अनुसार पूर्व की अपेक्षा पर मुनि श्रेष्ठ माने जाते हैं। यह उक्ति व्याकरणतंत्र के मुनियों के प्रामाण्य के विषय में जितनी सटीक है, संभवतः उतनी ही वृहत्त्रयी के महाकवियों के सन्दर्भ में भी खरी उतरती है। परम्परागत पण्डित समाज में प्रचलित अधोलिखित सूक्ति इसी तथ्य की पुष्टि की ओर संकेत करती है —

तावद् भाभारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधेकाव्ये क्व माघः क्व च भारविः ।।

लोकजीवन में प्रचलित विभिन्न कल्पनाओं की ऊँची उड़ानों का जितना बहुविध चित्रण नैषधीयचरित में उपलब्ध है, उतना अन्यत्र किसी भी एक ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता। साथ ही लोकोत्तर चमत्कारिक तथ्य, ध्वनि रस भाव, पदलालित्य, दर्शन, व्याकरण एवं अन्य शास्त्रों के बहुविध प्रसंगों से समन्वित होने के कारण भी नैषधीपचरित महाकाव्य सभी महाकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसके रचयिता महाकवि श्रीहर्ष हैं।[1]

संस्कृत साहित्य में श्रीहर्ष नाम के अनेकों विद्वान् समादृत हैं, परन्तु "नैषधीयचरितम्" का रचयिता कौन श्रीहर्ष है? इस तथ्य की विवेचना के लिए यहाँ ऐतिहासिक चर्चा करना समीचीन होगा। तंजौर में प्राप्त नैषधीयचरित ग्रंथ की पुष्पिका में कालिदास को नैषधीयचरित का लेखक कहा गया है।[2] परन्तु रघुवंशादि रचयिता कालिदास (ई०पू० प्रथम शताब्दी) इसके रचनाकार नहीं हो सकते, क्योंकि उनके एवं श्रीहर्ष (बारहवीं शताब्दी) के समय में बारह सौ वर्षों का अन्तराल है, और अन्य कोई और कालिदास ऐसे ग्रंथ का रचयिता कैसे माना जा सकता है। प्रायः ग्रंथ को प्रतिष्ठित करने के लिए भी यदा कदा ग्रंथों को कालिदास निर्मित कह दिया जाता है जैसे कतिपय विद्वान घटकर्पर काव्य को भी प्रसिद्ध कालिदास की रचना मान लेते हैं। ऐतिहासिक तिथि क्रम में संस्कृत साहित्य में प्रमुख रूप से एकादश श्रीहर्षों का प्रसंग मिलता है जो निम्नलिखित हैं —

१. सर्वप्रथम वर्धनवंश के राजा हर्षवर्धन, जो कि थानेश्वर (स्थाणीश्वर) तथा कन्नौज के राजा प्रभाकरवर्धन के पुत्र और राज्यवर्धन के छोटे भाई हैं, को संस्कृत जगत में हर्ष, श्रीहर्ष एवं हर्षदेव आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इनका राज्यकाल 606 ई० से 647 ई० तक माना जाता है। ये विविध शास्त्रों के ज्ञाता होने के साथ-साथ विद्वान, कवि, नाटककार तथा प्रसिद्ध विद्वान् कवियों के आश्रयदाता थे। मातंग, दिवाकर, बाण, मयूर आदि इनके आश्रय प्राप्त कवि थे।[3] इन्हीं

---

1. यहाँ पर "श्री" शब्द उनके नाम का ही अंश है न कि आदरार्थे लगाया गया शब्द, यदि ऐसा न होता तो नैषधकार स्वयं 'नैषधीयचरितम्' में कविप्रशस्ति श्लोक-4 में "श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्" क्यों कहते।
2. "इति श्रीमहाकाव्ये कालिदासकृतौ नैषधे अष्टमः सर्गः समाप्तः"— तंजौर —VI, P-2560, No-3555
3. (A) अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकराः। श्रीहर्षस्याभवन् सभ्याः सभाबाणमयूरयोः ।। – राजशेखर (शार्ङ्गधरपद्धति से उद्धृत)
(B) श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनमेंकाव्यप्रकाश (प्रथम उल्लास) झलकीकरटीका पृ० 8 -9

के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत आकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। इनकी तीन रचनाएँ रचनाक्रम की दृष्टि से प्रियदर्शिका रत्नावली एवं नागानन्द हैं। इन्होंने अपनी तीनों नाटिकाओं की भूमिका में अपना नाम श्रीहर्षदेव बतलाया है।[1] प्रियदर्शिका और रत्नावली में श्रीहर्ष ने स्वयं को निपुण कवि के रूप में चित्रित किया है।[2] सोड्ढल कवि (11वीं शताब्दी) ने उदयसुन्दरी कथा में हर्ष को राजा, कवीन्द्र, गीर्हर्ष (वाणीका सुखद) और बाण का आश्रयदाता बताया है।[3] जयदेव ने अपने ग्रंथ 'प्रसन्नराघव' में भास, कालिदास, बाण, मयूर के साथ-साथ हर्ष को भी कवि और कविता का हर्ष कहा है।[4] हर्ष के पद्य सुभाषितावली और सदुक्तिकर्णामृत जैसे ग्रंथों में प्राप्त होने के साथ-साथ मयूरशतक में भी प्राप्त हैं। मधुबन और बाँसखेड़ा (628 ई०) के अभिलेख स्वयं श्रीहर्ष की रचनाएँ हैं। इन पर उसके इस्ताक्षर (स्वहस्तो मय राजाधिराजश्रीहर्षस्य) प्राप्य हैं। इनमें प्राप्त निम्न श्लोक से श्रीहर्ष की ओजस्विता का पता चलता है –

कर्मणा मनसा वाचा, कर्त्तव्यं प्राणिनां हितम् ।
हर्षेणैतत् समाख्यातं धर्मार्जनमुत्तमम् ।।

इसके साथ-साथ हर्ष ने दो बौद्ध स्तोत्र ग्रंथः 'सुप्रभातस्तोत्र' एवं 'अष्टमहाश्रीचैत्यस्तोत्र' भी लिखे हैं। उपर्युक्त वर्णन से श्रीहर्ष की काव्यप्रतिभा एवं औदार्यता का पता चलता है।

२. इसके बाद आठवीं शताब्दी ई० में अनर्ङ्हर्ष (मात्रराज, मात्राराज) नामक नाटककार का नाम मिलता है जिसकी नाट्यकृति 'तापसवत्सराज' है।

३. तदनन्तर दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (लगभग 950 ई०) में धारानगर के राजा भोज के पितामह 'श्रीहर्ष' थे ऐसा ऐतिहासिक ग्रंथों में विवरण मिलता है।

४. तत्पश्चात् उज्जैन के विक्रमादित्य हर्ष का नाम भी प्राप्त होता है, जिसकी सभा में मातृगुप्त रहते थे।

५. फिर काव्यप्रदीप के लेखक 'हर्ष'[5] का नाम इतिहास के पृष्ठों पर अंकित मिलता है।

६. इसी क्रम में जयदेव के गीतगोविन्द' के टीकाकार के रूप में 'हर्ष' नामक विद्वान का विवरण उपलब्ध होता है।[6]

७. इसी श्रृंखला में तमिलदेश निवासी तमिलभाषा के श्रेष्ठ विद्वान 'अमरखण्डनम्' के रचयिता श्रीहर्ष नामक के विद्वान् का वर्णन मिलता है जिन्होंने स्वयं तमिल भाषा में ही 'नैषधीयचरित काव्य' लिखा था।[7]

1.(A) श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालंकृता प्रियदर्शिका नाम नाटिका कृता — प्रियदर्शिका
(B) श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालंकृता रत्नावली नाम नाटिका कृता — रत्नावली
(C) श्रीहर्षदेवेनापूर्वरचनालंकृतं विद्याधरजातकप्रतिनिबद्धं नागानन्दं नाम नाटकं कृतम्। —नागानन्द

2. श्रीहर्षो निपुणः कविः — प्रियदर्शिका 1/3, रत्नावली 1/5

3. श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु, नाम्नैव केवलमजायतवस्तुतस्तु।
गीर्हर्ष एवं निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः। काव्यमीमांसा की भूमिका — पृ० 10

4. हर्षा-हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः। — प्रसन्नराघव 1/22

5. K.M. Panik Kar—Sri Harsa of Kanauj—P.65

6. Dr. S.K. De — History of Sanskrit Literature — P.666, note-3

7. Dr. Raghavan — Amaramandana of Krsnasuri, Introdcution, P.1 and P.5-12.

८. तत्पश्चात् अभिनवगुप्त (980 ई०—1020 ई०) पूर्ववर्ती वार्तिककार के रूप में श्रीहर्षनाम के एक कवि का उल्लेख मिलता है, जिसने भरत के नाट्यशास्त्र पर आर्याछन्द में वार्तिक की रचना की।[1] परन्तु इन वार्तिककार का डॉ० शंकरन ने अपने ग्रंथ "रस और ध्वनि सिद्धान्त" के पृष्ठ तेरह में कन्नौज नरेश हर्षवर्धन से साम्यता दिखायी है किन्तु प्रसिद्ध विद्वान डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे ने इसे केवल अनुमानित तथ्य की संज्ञा दी।[2]

९. किञ्चित् कालान्तर कश्मीरनरेश हर्षदेव (1081 ई०-1101 ई०) का उल्लेख ऐतिहासिक कवि कल्हण की राजतरंगिणी में प्राप्त होता है। कल्हण ने इस राजा को सम्पूर्ण भाषाओं का ज्ञाता, यशस्वी कवि होने के साथ-साथ औदार्यगुणों से सम्पन्न बतलाया है।[3] परन्तु इन श्रीहर्ष के किसी ग्रंथ का वर्णन राजतरंगिणी या अन्य किसी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता।

१०. राजतरंगिणी में ही कल्हण ने एक दूसरे राजा हर्ष का विवरण दिया है। इसकी सभा में कवि के पिता चम्पक मंत्री थे। इस हर्ष का चरित्र ऐसा था कि इस्लाम का नारा बुलन्द करते आये आक्रामक लुटेरों को भी मात कर देता है। उसने धन के लिए मंदिरों को लूटा, मूर्तियों को तोड़कर धनार्जन किया, एवं धातु की बनी देवमूर्तियों को रस्सी में बाँधकर सड़कर पर घसीटते हुए ले गया।[4] उसके दुश्चरित्र की तो सीमा ही नहीं थी। उसने अपने पिता कलश की बहन की पुत्री नागा से बलात्कार किया।[5] इस हर्ष का बुरा अंत हुआ और मारा गया। कवि ने इस हर्ष की उपमा दानव की पीठ पर खड़ी चामुण्डा से दिया है।[6]

११. ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में उपर्युक्त श्रीहर्षों के बाद जैन कवि राजशेखर सूरी ने सन् 1348 ई० में अपने ग्रंथ प्रबन्धकोशान्तर्गत 'श्रीहर्षकविप्रबन्ध' नामक अध्याय में एक अन्य श्रीहर्ष नामक विद्वान् कवि को, काशीनरेश जयन्तचन्द्र आश्रयी श्रीहरि नामक ब्राह्मण का पुत्र का कहा है।[7] शताधिक ग्रंथों के रचयिता थे।[8]

अब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उपर्युक्त एकादश श्रीहर्षों में कौन नैषधीपचरित महाकाव्य का प्रणेता है? तथ्यों के अध्ययनानन्तर एक बात तो स्पष्ट है कि उपर्युक्त वर्णित दश श्रीहर्षों में कोई भी नैषधीयचरित का रचयिता नहीं हो सकता, क्योंकि नैषधीयचरित की रचना 1125 ई० 1180 ई० के मध्य की गयी[9] एवं इन विद्वानों का समय इस तिथि के बहुत पहले पड़ता है, इसलिए प्रथम दृष्ट्या ही उपर्युक्त

---

1. Dr. M. Krishnamachariar — H.S.L. P.564, 948
   History of Sanskrit Poetes — Dr. S.K. De, Vol. I, II[nd] Ed., 1960.
2. Dr. P.V. Kane — History of Sanskrit Poetics, P.59, संस्करण — 1951
3. सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः ।
   कृती विद्यानिधिः प्रापख्यातिं देशान्तरेष्वपि ।। राजतरंगिणी 7/611
4. राजतरंगिणी — 7/1090—1100
5. सम्भोगं भगिनीवर्गे कुर्वता दुर्वचोरूषा ।
   निगृहीता च भुक्ता च नागा पुत्री पितृष्वसुः ।। राजतरंगिणी —7/1148
6. पृष्ठे पूर्वं प्रविष्टस्य तिष्ठन्स्थानकनिष्ठुरः ।
   स रूरोरिव चामुण्डा रेजे दण्डाकृतिः क्षणम् ।। राजतरंगिणी — 7/1707
7. पूर्वस्यां वाराणस्यां पुरि गोविन्दचन्द्रो नाम राजा ।.........तत्पुत्रो जयन्तचन्द्रः..........।
   तत्रैको हरिनामा विप्रः तस्य नन्दनः प्रासचक्रवर्ती श्रीहर्षः.......। प्रबन्धकोश पृ० 54
8. खण्डनादि ग्रन्थान् परःशताऽग्रन्थोंप्रबन्धकोश पृ० 54
9. – Hence the date of Sriharsa falls between 1020 – 1180 A.D. and his literary career falls between circa 1125 to 1180. — Prof. S.P. Bhattacharya - In his article "The Probable date of Naisadhacarita" (Oriental thought—Vol-I No.—4 July - 1955, P.58-73)
   – The date of the composition of the N.C. therefore can be given as 1175 A.D. if not earlier—A critical study of Srihars's, Naisadhiyacaritam —A.N. Jani, P.129

दश श्रीहर्ष नैषधमहाकाव्य के रचयिता नहीं हो सकते। दूसरा निष्कर्ष जो नैषधीयचरित में उपलब्ध विवरण से प्रकट होता है कि जो राजा का पद प्राप्त किये व्यक्ति होंगे वे किसी अन्य राजा के राज्याश्रय में एक आसन एवं पान के दो बीड़े के भूखे भला कैसे हो सकते हैं? नैषधकार जो भी रहे हों, उन्होनें अपने ग्रंथ नैषधीयचरित में स्वतः इस तथ्य को रखा है कि जिसे कान्यकुब्जेखर से एक आसन एवं दो पान के बीड़े मिलते हैं, जो समाधियों में परमानन्द स्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार करता है, जिसका काव्य अमृत की वर्षा करने वाला है, तथा तर्कशास्त्र में जिसकी उक्तियों से पराभव प्राप्त करके प्रतिवादी परान्मुख हो जाते हैं उस विद्वच्चक्र-चूड़ामणि श्रीहर्ष कवि की यह कृति पण्डियों को आनन्ददायक हो।[1] राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश में जिस श्रीहर्ष का उल्लेख किया है उनके पिता का नाम श्रीहरि बताया है एवं नैषधकार ने भी अपनी कृति में स्वयं को श्रीहरि एवं मामल्लदेवी का पुत्र माना है।[2] अतः निःसंदेह यह स्पष्ट हो जाता है कि राजशेखर द्वारा बताये गये (एकादश) श्रीहर्ष ही नैषधीयचरित के रचनाकार हैं जो वास्तव में दार्शनिक, विद्वान, शास्त्रज्ञ, गुणी, जितेन्द्रिय एवं काव्य प्रतिभा के धनी थे जिनकी कल्पना शक्ति की समानता संस्कृत साहित्य में आज तक कोई भी विद्वान् नहीं कर सका। इन्हीं श्रीहर्ष को विद्यारण्य, वरद पंडित एवं नैषध के प्राचीन टीकाकार गदाधर[3] ने श्रीहर्षमिश्र (नाम) से संबोधित किया है। नैषधमहाकाव्य के 'हर्षहृदय' टीकाकार श्रीगोपीनाथ आचार्य[4] एवं श्री विद्यासागरोपाह्वानन्दपूर्णमुनीन्द्र तथा न्यायाचार्य मीमांसातीर्थ स्वामीयोगीन्द्रानन्द ने[5] भी श्रीहर्ष का नाम श्रीहर्षमिश्र होने की सम्मति अपने ग्रंथों में दी है।

श्रीहर्ष का स्थितिकाल

नैषधकार का (समय) स्थितिकाल-नैषधकार श्रीहर्ष के स्थितिकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद की स्थिति रही है। श्रीहर्ष ने अपने विषय में स्वीकृति 'नैषधीयचरितम्' के सर्गान्त श्लोकों में यह तो बता दिया है कि उनके पिता का नाम श्रीहीर एवं माता का नाम मामल्लदेवी है।[6] परन्तु उन्होंने अपने सम्बन्ध में यह नहीं बताया कि उनका जन्म किस समय एवं कहाँ हुआ? श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में न्यायसूत्रकार गौतम (अक्षपाद) के उपहास का वर्णन किया है।[7] गौतम का समय ई०पू० चतुर्थ शताब्दी विद्वानों द्वारा मान्य है।[8] अतः श्रीहर्ष ई०पू० चतुर्थ शताब्दी के बाद के ही होंगे। सर्वप्रथम प्रो० बूहलर ने राजशेखर सूरि के (सन् 1348 ई०) प्रबन्धकोश के आधार पर श्रीहर्ष के समय का निर्धारण करने का उद्योग किया। राजशेखर ने

---

1. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्यः साक्षात् कुरूते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः, श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याम्युदीयादियम्।। नै० प्रशस्ति श्लोक-4
2. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहरिः सुतम् ।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।। नैषध/1/145 पूर्वार्द्ध
3. यद्वक्त्रस्थरस्यती श्रुतिवचः शाऽस्त्रेऽभवत्खण्डनं,
काव्ये नैषधमुष्णरश्मिशशिनी जागीयते यद्युगम् ।
स्फूर्जत्स्फीतिविपक्षपक्षदलनस्पर्द्धिष्णु विद्वद्भटै-
र्विद्यासंयति हर्षमिश्र इडितो गौडेरगौडैर्गुणैः ।। 0.1.MS No-1353, st.2.
4. नैषध – हर्षहृदय टीका, भूमिका, पृ० 1 - 10.
5. खण्डनखण्डखाद्य – पृ० 10
6. श्रीहर्षं कविरजिराजिमुकुटालंकारहीरः सुतं । श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रिय चयं मामलदेवी च यम् ।।
तच्चिन्तामणिमंत्र चिन्तनफले श्रृंगारभंग्या महा । काव्ये चारूणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ।। 1/145
7. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ।। नै - 17/75
8. भारतीय दर्शन - आचार्य बलदेव उपाध्याय—P.171

श्रीहर्ष को राजा जयचन्द्र का आश्रित कवि माना एवं यह वर्णित किया कि श्रीहर्ष के पिता को किसी राजकीय पंडित ने हराया।[1] वह राजकीय पंडित न्यायकुसुमांजलि के रचयिता प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ही थे।[2] ऐसा चण्डूपंडित ने अपनी नैषधदीपिका में कहा है।[3] किन्तु चाण्डू पंडित ने नैषधः दीपिका में जिन उदयनाचार्य का विवरण दिया है, यदि हम उन्हें नैयायिक उदयनाचार्य मानें, तो श्रीहर्ष एवं उदयनाचार्य में लगभग 150 वर्षों का अन्तर पड़ेगा, जो कि ऐतिहासिकता के धरातल पर उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकता। अहमदाबाद के समीप ढोलका ग्राम के निवासी चाण्डू पंडित ने संवत् 1353 (सन् 1296) में दीपिका नामक नैषध की टीका समय का वर्णन करते हुए लिखा है कि-

श्री विक्रमार्कसमयाच्छरदामथ त्रिपञ्चाशता समधिकेष्वितेषु ।
तेषु त्रयोदशसु भाद्रपदे च शुक्लपक्षे त्रयदशतिथौ रविवासरे च ।।

न्यायकुसुमाञ्जलिकार के कुछ वर्णनों को श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथों में कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है यथा शंकाचेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्। व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिर्मतः।[4] को श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य में "तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्वठा। त्वद् गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि।।"

तथा प्रथम श्लोक को श्रीहर्ष ने कुछ परिवर्तन करके निम्न रूप में वर्णित किया- यथा

व्याघातो यदि शंकास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिकृतः ।।

इस वर्णन से यह तो स्पष्ट है कि 'उदयन' नामक व्यक्ति का परोक्ष या अपरोक्ष रूप से श्रीहर्ष से साक्षात्कार जरूर हुआ था, तभी श्रीहर्ष ने (उदयन) शत्रु नाम श्रवण से ही शत्रुवत् व्यवहार करने का वर्णन 'नैषधीयचरितम्' में किया है कि यदि किसी मनुष्य का वही नाम हे, जो उसके अपने शत्रु का, तो कौन तेजस्वी मनुष्य उसे सहन करेगा।[5] उदयनाचार्य ने लक्षणावली नामक ग्रंथ की रचना शाके 906 अर्थात् संवत् 1041(984-85) में की थी- यथा

तर्काम्बरांङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः । वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ।।

उदयन ने श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर को शास्त्रार्थ में पराजित किया था या नहीं, यह विषय विवादास्पद हो सकता है, परन्तु श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य में उदयन के ग्रंथों की विषयवस्तु

---

1. पूर्वस्यां वाराणस्यांपुरि गोविन्दचन्द्रो नाम राजा 1750 अन्तःपुरी यौवनरसपरिमलग्राही। तत्पुत्रो जयन्तचन्द्रः। तस्मै राज्यं दत्त्वा पिता योगं प्रपद्यपरलोकमसाधयत्। जयन्तचन्द्रः सप्तयोजनशतमानां पृथ्वीं जिगाय। मेघचन्द्रः कुमारस्तस्य, यः सिंहनादेन सिंहानपि भङ्क्तुमलम्, किं पुनर्मदान्धगन्धेभघटाः? तस्य राज्ञश्चलतः सैन्यं गंगा-यमुने बिना नाम्भसा तृप्यतीति नदीद्वययष्टिग्रहणात्पङ्गुलो राजेति लोके श्रूयते। यस्य गोमतीदासी षष्टिसहस्रेषु बाहेषु प्रक्षरां निवेश्याभिषेणयन्ती परचकं त्रासयति। राज्ञः श्रम एवं कः? तस्य रासो बहवः विहांसः। तत्रैको हीरनामा विप्रः। तस्य नन्दनः प्रासचक्रवर्ती श्रीहर्षः। सोऽद्यापि बालावस्थः। सभायां राजकीयेनैकेन पण्डितेन वादिनो हीरो राजसमक्षं जित्वा मुद्रितवदनः कृतः। लज्जा पङ्के मग्नः। बैरं बभार धारालम्। मृत्युकाले हर्षं स बभाषे-वत्स! अमुकेन पण्डितेनाहमाहत्य राजदृष्टौ जितः। तन्मे दुःखम्। यदि सत्पुत्रोऽसि तदा तं जयेः क्ष्मापसदसि श्रीहर्षेणोक्तम्-ओमिति। हीरो द्यां गतः। प्रबन्धकोष पृ० 54
2. Rajasekhara does not give the name of his rival. Candu Pandita, however, names him as undayana, the author of Laksanavali, etc. whose view are refuted by Sriharsa, in his Philosophical treatise Khandana-Khanda Khadya. A critical study of Sriharsa — A.N. Jani— P.87
3. प्रथमं तावत्कविर्विजिगीषुकथायां स्वपितृभावुकमुदयनमत्यमर्षणतया कटाक्षयंस्तद्ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रंथयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुरूषार्थैरभिमानमनवधीयमानमवधीर्य मानसमेकतानतां चिनाय। — 'नैषधदीपिका' के प्रारम्भ से उद्धृत।
4. उदयन-न्यायकुसुमाञ्जलि III स्तवक, श्लोक-7
5. नामापि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमं सहन्ते। नै० 8/74

का जो खण्डन किया, उससे यह तो निश्चित हो जाता है कि श्रीहर्ष 985 ई० के बाद ही प्रसिद्ध हुए। एक जनश्रुति के अनुसार श्रीहर्ष को अपने नैषधीयचरितम् की ग्राह्यता का प्रमाण पत्र लेने कश्मीर जाना पड़ा था। परन्तु विद्वानों की नगरी काशी में रहने वाले श्रीहर्ष का अपने ग्रंथ की प्रामाणिकता के लिए कश्मीर जाना तो अत्युक्ति मात्र लगती है, संभव है कि श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित महाकाव्य की रचना प्रचलित महाकाव्य नियमों से हटकर की हो, जो कि काशी के विद्वानों को ग्राह्य न रही हो क्योंकि श्रीहर्ष के प्रखरपाण्डित्य का प्रतिवाद सरल नहीं था। यह,भी संभव प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने अभिनवगुप्त समर्पित नियमों का अनुसरण कर नैषधीयचरितम् की रचना की हो। इस संभावना के अनुसार श्रीहर्ष का अभिनवगुप्त (10वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) से परवर्ती होना सिद्ध होता है। डॉ० पी०पी० काणे ने अभिनवगुप्त को 980ई० से 1020ई० तक माना है।[1]

अतः श्रीहर्ष का समय 10वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के पूर्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य में 'व्यक्तिविवेक'[2] एवं व्यक्तिविवेक के रचयिता महिमभट्ट[3] दोनों का उल्लेख किया है। महिमभट्ट का वर्णन करते हुए उनके ग्रंथ व्यक्तिविवेक को कविलोकलोचन इसलिए कहा है कि आनन्दवर्धनादि के ध्वनि सिद्धान्त की आलोचना में व्यक्तिविवेक का विशिष्ट स्थान है एवं इसके रचयिता कश्मीर निवासी महिमभट्ट वस्तुतः काव्यालोचकों में प्रसिद्ध थे। महिमभट्ट अभिनवगुप्त के परवर्ती कवि जान पड़ते हैं क्योंकि महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में अभिनवगुप्त का नामोल्लेख किया है।[4] इसलिए महिमभट्ट का काल 1020 ई० से परवर्ती ही सिद्ध होता है। व्यक्ति विवेक के टीकाकार ख्यातिलब्ध अलंकारशास्त्री रुय्यक का समय 1100ई० से 1150ई० तक माना जाता है।[5] अतएव महिमभट्ट का काल 1100 ई० तक माना जा सकता है, इस प्रकार व्यक्तिविवेक को उद्धृत् करने वाले श्रीहर्ष महिमभट्ट (1100 ई०) से परवर्ती ही होंगे। श्रीहर्ष ने नैषध के दसवें सर्ग में बौद्ध दर्शन के तीन सम्प्रदायों माध्यमिकों के शून्यवाद, योगाचार के विज्ञानवाद एवं सौत्रान्त्रिकों के साकारवाद या साकारता सिद्धि का उल्लेख किया[6] है, जो कि 11वीं शताब्दी के अद्वयवज्र[7] से प्रभावित प्रतीत होता है, अतः श्रीहर्ष 11वीं शताब्दी के वाद के ही सिद्ध होते हैं।

एक जनश्रुति के अनुसार काश्मीरी विद्वान् मम्मट श्रीहर्ष के मामा थे। श्रीहर्ष ने उन्हें अपना नैषधीयचरित दिखाया तो उन्होंने कहा यदि तुम मुझे इसे मेरी रचना काव्यप्रकाश के पहले दिखाते तो मुझे दोषप्रकरण के लिए अन्यत्र नहीं जाना पड़ता।[8] मम्मट ने श्रीहर्ष के नैषधीयचरित में दोष ही दोष देखे एवं

---

1. History of Sanskrit Poetics—Dr. P.V. Kane-P. 232.
   श्रीहर्षण पण्डिता उक्तास्तत्रत्या ग्रन्थयत्रत्याय राज्ञे माधवऐतनाम्ने दर्शयत् । श्रीजयन्तचन्द्राय च भुद्धोऽयं ग्रन्थ इति लेखं प्रदत्त-इति।– प्रवन्धकोश पृ० 56
2. खण्डनखण्डखाद्य-पृ० 723
3. दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने ।
   काव्यमीमांसिषु प्राप्रमहिमा महिमाऽऽदृत ।। खण्डनखण्डखाद्य- पृष्ठ 783
4. अत्र केचितु विद्वन्मानिनः...मन्यमाना। 'व्यङ्न्तः इति द्विवचनेनेदमाहुः-यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एवं व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्य सहकारिता न त्रटयति। - - यदाहुस्तद्भ्रान्तिमूलम्' इत्यादि। ध्वन्यालोकलोचन पेज- 33 (त्रिवेन्द्रम प्रकाशन) पृष्ठ 19 में उदघृत। एवं व्यक्तिविवेक (त्रिवेन्द्रम प्रकाशन) पृष्ठ 19
5. History of Sanskrit Pactics - Dr. P.V. Kane page- 273, संस्करण वही।
6. या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव ।
   विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिलेव ।। नै० ११/८८।
7. द्रष्टव्य-साधनमाला, द्वितीय भाग, भूमिका, पृ०६, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज।
8. Kashmir report (Extra No. of J.BBRAS. 1877) P-68- Recorded by Dr. Buhler.

श्रीहर्ष के कहे जाने पर कि मेरे ग्रंथ में दोष दिखाइये, तो उन्होंने नैषध का एक श्लोक उदाहरण स्वरूप बताया-

तब वर्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ॥[1]

इस श्लोक को मम्मट ने निम्न रूप में रखा-

तब वर्त्म निवर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं सा माऽऽगमः ।
अयि साधयसाधयेप्सितं समये वयं वयः ॥

ऐसा होने पर श्रीहर्ष द्वारा किये गये अर्थ का अनर्थ ही हो जायेगा। दूसरा कहां मम्मट का समय 1050 ई० एवं कहाँ श्रीहर्ष का 12वीं शताब्दी, तो मम्मट एवं श्रीहर्ष के बीच सम्बन्ध स्थापन, तो केवल कल्पना मात्र ही है। यह संभव है कि कश्मीरी विद्वान ने श्रीहर्ष की प्रतिभा से आतंकित होकर श्रीहर्ष के ग्रंथ में दोष देखें हों जो कि उनके विद्वत्वदोष का परिणाम माना जा सकता है, इसके शिवाय कुछ और नहीं, परन्तु डॉ० सुशील कुमार डे ने इस विषय को अविश्वसनीय ही माना।[2]

श्री रामप्रसादचन्द्र ने श्रीहर्ष को विल्हण के समकालीन 11वीं शताब्दी में रखने का दृष्टिकोण रखा है। उन्होंने यह वर्णित किया, कि श्री हर्ष सिन्धुराज की सभा में थे, एवं गोर्डोशकुलप्रशस्ति, उन्होंने गौडनरेश महिपाल प्रथम की प्रशस्ति में लिखा था, इसका आधार उन्होंने नवसाहसांकचरित को बनाया[3] परन्तु डॉ० डी० आर० भण्डारकर ने उनके मत का खण्डन कर उन्हें बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का ही सिद्ध किया।[4]

नैषधीयचरितम् को सर्वप्रथम हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्रसूरि ने अनेकार्थसंग्रह[5] की टीका अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी में उद्धृत् किया है। उसमें उन्होंने नैषधीयचरितम् के अनेक श्लोक उदाहरण रूप में रखे हैं।[6] हेमचन्द्र का समय 1088 से 1172 ई० के मध्य माना जाता है।[7] महेन्द्रसूरि के समय तक नैषधीयचरितम् अवश्य ही प्रसिद्ध हो गया होगा, तभी महेन्द्रसूरि ने उसे उद्धृत् किया होगा। महेन्द्रसूरि ने अनेकार्थसंग्रह की टीका रचना हेमचन्द्र के जीवनकाल या उनकी मृत्यु के तत्काल बाद प्रारम्भ की होगी, अतः स्पष्ट है कि श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित की रचना 1172 के पूर्व कर ली होगी। महेन्द्रसूरि ने जिन ग्रंथों या ग्रन्थकारों का आश्रय लेकर अपनी टीका की रचना की उनका सम द्वादश शताब्दी के मध्य के बाद का नहीं है, अतः नैषधीयचरित का समय द्वादश शताब्दी का मध्य भाग ही निश्चित जान पड़ता है इस प्रकार श्रीहर्ष का जन्मकाल उससे पूर्व रखना ही उचित होगा।

चौदहवीं शताब्दी के जैन विद्वान् राजशेखरसूरि ने अपने प्रबन्धकोश में "श्रीहर्ष के आश्रयदाता कान्यकुब्जेश्वर का नाम जयन्तचन्द्र (जयचन्द्र) था, एवं उन्हें कश्मीर नरेश माधवदेव से नैषधीयचरित की

---

1. नैषध- 2/62।
2. H.S.L. P-325- N-G= S.K. Day.
3. IA XL 11 (1913) P- 83.
4. Ibid- for a reply to this date by Sri R.P. Chanda, Vide Ibid- P.P. 286-287.
5. जकराया प्रकाशन 1893 ई०।
6. अनेकार्थ संग्रह की टीका-मे पृष्ठ 8 पर 2/18, 13 पर 2/56, 43 पर 2/274, 184 पर 4/339/ श्री दिनेश चन्द्र महाचार्य द्वारा सिद्ध भारती द्वितीय भाग पृष्ठ- 140, पर उद्धृत विश्वेश्वरानन्द, इंडोलाजिकलसिरीज, होशियारपुर।
7. History of Sanskrit Poetics-P 278- संस्करण वही।

प्रामाणिकता का प्रमाणपत्र प्राप्त हुआ था" इस तथ्य का वर्णन किया है।[1] डॉ० बुह्लर ने राजशेखर के उपर्युक्त संदर्भ के आधार पर नैषध का रचनाकाल 1163 ई० से 1174 ई० के मध्य निश्चित किया है[2] एवं डॉ० डी०आर० भण्डारकर जैसे विद्वानों ने भी डॉ० बुहलर का समर्थन करते हुए कहा है कि- I agree with Buhler in accepting the statement of Rajsekhara, the author of Prabandhkosa that Sriharsa wrote the Naishadhiyacharit at the bidding of Jayantchandra who can be no other than the Gahadaval king Jayachandra (A.D. 1172-87).[3] राजशेखर के मतानुसार श्रीहर्ष, कान्यकुब्जाधीश्वर जयन्तचन्द्र, जिनका उपनाम पङ्गुल था, के राज्याश्रित कवि थे। वह कुमारपाल (1143 ई० - 1174 ई०) का समकालीन था एवं उसका राज्य यवनों द्वारा अपहृत कर लिया गया था। राजशेखर ने जिस जयन्तचन्द्र के बारे में वर्णन किया वह कन्नौज और काशी का इतिहास प्रसिद्ध जयन्तचन्द्र ही है। वह संस्कृत साहित्य का पोषक एवं नीतिनिपुण सम्राट था, परन्तु आधुनिक ऐतिहासिक पुस्तक लेखकों ने बिना किसी ठोस प्रमाण के केवल चन्द कवि द्वारा लिखित 'पृथ्वीराजरासो' के आधार पर जयचन्द्र को देशद्रोही एवं विश्वासघाती के रूप में चित्रित किया है, जबकि वास्तविकता यह है कि जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता का बलात अपहरण पृथ्वीराज चौहान ने किया था, परन्तु चन्द कवि ने उसे प्रेमगाथा का रूप दे दिया। ऐतिहासिक वास्तविकता के धरातल में जांय तो पायेंगे कि चन्द कवि एक भाट था, राजाओं की गाथा (प्रशंसा) वर्णित करना, एवं प्राचीन काल में जगह-जगह जाकर यशोगान करके वृत्ति प्राप्त करना ही भाट जाति की मुख्य वृत्ति थी। संस्कृत अभिलेखों पर यदि नजर डाले जैसे- विजय चन्द्र का अंतिम शिलालेख 1163 ई०, जयचन्द्र का यौवराज्य का दानपत्र 1169 ई० एवं उनका दानपत्र 1177 ई० तथा 1186 का दानपत्र जिसमें भारद्वाज गोत्रीय श्री अणङ को केमौली नामक ग्राम देने को उल्लेख के साथ-साथ विद्वानों का आदर देना लिखा मिलता है। इस प्रकार गहड़वाल चन्द्रवंशी राजा भारतीय संस्कृति के अनन्य पोषक थे। राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश के एक अन्य प्रबन्ध "हरिहरप्रबन्ध" में यह लिखा है कि गुजरात में नैषध की हस्तलिखित प्रतिलिपि वीरधवल के राज्यकाल में सर्वप्रथम हरिहर द्वारा लायी गयी। वीरधवल के मंत्रीं वस्तुपाल ने उसकी प्रतिलिपियाँ कराई और उसका प्रचार किया।[4] प्रो० बूहलर ने राजशेखर के कथन का आश्रय लेकर नैषधीयचरित का काल 12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही सिद्ध किया, जबकि जस्टिस के.टी. तेलंग, एफ.एस. ग्राउस एवं डॉ० हाल, बूहलर के कथन से असहमत हैं, इन लोगों ने श्रीहर्ष को 10वीं शताब्दी से पूर्व निर्धारित करने का प्रयास किया है। प्रो० बूहलर ने अपने कथन के विरोधियों की युक्तियों का खण्डन कर अपने मत की स्थापना करने का प्रयास किया। समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिये-

---

1. श्रीहर्षेण पण्डिता उक्तास्तत्रत्या ग्रन्थमन्त्रत्याय राज्ञे माधवऐवनाम्ने दर्शयत्। श्रीजयन्तचन्द्रस्य च शुद्धोऽयं ग्रन्थ इति लेखं प्रदत्त इति। प्रबन्धकोश पेज- 56।

2. Shiharsa was a protege of king Jayant chandra (Jayachandra). This Jayant Chandra must have ascended this throne between A.D. 1163 and 1177, as the last inscription of his ather (Vijay Chandra) is dated in the former year and the first of his own grants in the latter year. Again, according to Rajsekhara, he was a contemparary of kumarpal (A.D. 1143-1174). Thus Jaya Chandra ruled over Benaras between A.D. 1163 and 1194. Thus the Naisadhiya Charit must have been written between A.D. 1163 and 1174 i.e. between the earliest date on which Jaya Chandra's accession to the throne may be placed and kumarpala'ss death. Thus the date of the compositian of the Naisadh and hence the date of its auther is letter half of the 12th Century A.D.
   J.B.B. R.A.S.X. (1871) P.P. 31-37.
   Bahler- A Critical Study of Sriharsa's Naishadhiyacharitam. P-123.

3. I.A. 1913, Bahler P- 126.

4. प्रबन्धकोशे- हरिहरप्रबन्ध- पृष्ठ 60

(1) 1348 ई० में लिखित प्रबन्धकोश में राजशेखर ने श्रीहर्ष को (काशी) वाराणसी के राजा जयन्तचन्द्र का सभासद कहा है।

(2) यह जयन्तचन्द्र इतिहास प्रसिद्ध जयचन्द्र ही है, जो कन्नौज के गहड़वाल (राठौर) एवं चन्द्रवंशी राजाओं में बनारस का अंतिम राजा था एवं जिसका साम्राज्य 1294 ई० में मुसलमानों (मुहम्मदगोरी) ने छीना था।

(3) श्रीहर्ष ने स्वयं वर्णित किया कि उसे कान्यकुब्जेश्वर से पान के दो बीड़े एवं आसन प्राप्त था।

(4) राजशेखर ने प्रबन्धकोश के अन्तर्गत 'हरिहरप्रबंध' में यह तथ्य उद्‌घाटित किया कि वीर धवल के राज्यकाल में हरिहर, सर्वप्रथम गुजरात में नैषधीयचरित की हस्तलिखित प्रतिलिपि लाये, एवं उसके मंत्री वस्तुपाल ने नैषध की प्रतिलिपियाँ कराकर उसका अत्यधिक प्रचार भी किया।

प्रो० बूहलर के इन तर्कों के विरोध में अन्य ख्याति लब्ध विद्वज्जनों ने अपने निम्नलिखित तर्क सम्प्रेषित किये-

(1) डा० फिट्ज एडवर्ड हाल (Dr. Fitz Edward Hall) ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहा कि नैषधीयचरित के कुछ श्लोक भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत मिलते हैं। भोज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्व भाग माना जाता है, इसलिए श्रीहर्ष को भोज से पूर्व अर्थात ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व का ही होना चाहिए।

(2) श्री काशीनाथ त्रयम्बक तैलङ्ग ने कुसुमाञ्जलिकार उदयन[1] का काल निर्धारण करते हुए यह निर्देशित किया कि श्रीहर्ष का समय 9वीं या 10वीं शताब्दी है न कि 12वीं शताब्दी इसके समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिये।

(अ) 11वीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने श्रीहर्ष के ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन कर अपने ग्रंथ 'खण्डनोद्धार' की रचना की।

(ब) सायणमाधव ने स्वरचित शंकरविजय में श्रीहर्ष को शङ्कर का समकालिक अभिहित किया, क्योंकि उसने वर्णित किया कि खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष, श्री शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ में पराभव को प्राप्त हुए थे।

(स) भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में नैषधचरित के कुछ श्लोक उद्‌धृत मिलते हैं।

(द) राजशेखर ने कथन सर्वथा अविश्वसनीय हैं क्योंकि उसने जयन्तचन्द्र को गोविन्दचन्द्र का पुत्र कहा है।

प्रो० बूहलर के मत के खण्डनार्थ प्रो० ई०एस० ग्राउस[2] (E.S. Grouse) ने यह तर्क दिया कि पृथ्वीराजरासो के प्रणेता चन्दवरदाई (चन्दकवि) ने अपने ग्रंथ के मंगलाचरण में अपने पूर्ववर्ती कवियों का नाम वर्णित किया है, एवं उसमें उसने श्रीहर्ष का नाम कालिदास से भी पहले रखा है।

प्रो० बूहलर ने नैषधीयचरित को 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का मानते हुए, 10वीं शताब्दी मानने वाले अपने विरोधियों के आक्षेपों का निम्न रूप से उत्तर दिया-

---

I.A. (इण्डियन आण्टिकेरी) प्रथमपुस्तक- पृष्ठ - 297, 353 पृष्ठ, द्वितीय पुस्तक - पृष्ठ-71, दाचीचपंडित शिवदन्तशर्मा प्रस्तावना पृष्ठ- 5।

I.A. के पुस्तक के द्वितीय भाग, पृष्ठ 213

(1) डॉ० फिट्ज एडवर्ड (Fitz Edward) और श्री काशीनाथ त्रयम्बक तेलङ्ग ने जो यह वर्णित किया कि- ''सरस्वतीकण्ठाभरण' में नैषध के कुछ श्लोक उपलब्ध है। वह सर्वथा सत्य से परे है, क्योंकि वामनाचार्य झलकीकर और डॉ० आफरेख्ट (Aufrecht) ने सरस्वती कण्ठाभरण' की श्लोको की जो सूची बनायी है, उनमें नैषधीयचरित का कोई भी श्लोक नहीं है। प्रो० बूहलर ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में देखा कि उसमें नैषधीयचरित का कोई श्लोक नहीं हैं। इस संदर्भ में यही तथ्य दृष्टिगोचर हो रहा है कि या तो डॉ० फिट्ज एडवर्ड हाल और श्री तैलङ्ग को कोई भ्रान्ति हुई है, या उन्हें सरस्वतीकण्ठाभरण की कोई दूषित प्रति मिली, जिसमें नैषध के प्रक्षिप्त श्लोक मिले हैं।

(2) श्री त्रयम्बक तैलंग का यह कथन कि 11वीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य के विरोध में जो खण्डनोद्धार' लिखा, अतएव श्रीहर्ष का समय 11वीं शताब्दी से पहले माना जाना चाहिए। इसके उत्तर में प्रो० बूहलर का यह कथन कि यद्यपि यह सत्य है कि वाचस्पति मिश्र ने खण्डनखण्डरवाद्य के निराकरण में खण्डनोद्धार लिखा किन्तु वाचस्पति, कई हो सकते हैं। 'खण्डनोद्धार' के लेखक वाचस्पति मिश्र, 11वीं शताब्दी के वाचस्पति मिश्र से, जिसने न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका, सांख्यतत्वकौमुदी, भामती आदि दार्शनिक ग्रंथ लिखे हैं, से सर्वथा भिन्न कोई अर्वाचीन विद्वान् हैं।

(3) सायणमाधव ने अपने ग्रंथ 'शंकरविजय' में श्रीहर्ष को शंकराचार्य का समकालिक बतलाया, यह अविश्वसनीय है। सायणमाधव ने ऐतिहासिक तिथि क्रम का उल्लंघन करके शङ्कराचार्य की प्रशंसा करने के लिए अनेक पूर्ववर्ती एवं परवर्ती विद्वानों को शंकराचार्य का समकालीन बतलाया है। सायणमाधव ने तो यहाँ तक कहा कि शंकराचार्य ने वाण एवं मयूर को भी शास्त्रार्थ में पराजित किया, जबकि इनका समय 7वीं शताब्दी हैं, अतएव ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि में सायण माधव का कथन कपोलकल्पना ही कहा जा सकता है।

(4) प्रो० ग्राडस का कथन कि- "चन्द कवि ने पृथ्वीराजरासो के मङ्गलाचरण के श्लोक में श्रीहर्ष को पूर्ववर्ती कवि के रूप में नमस्कार किया है एवं उसका नाम कालिदास से पूर्व[1] रखा है, उसका उत्तर यह है कि चन्द कवि ने जो शेष विष्णु, व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, दण्डमाली, जयदेव आदि का उल्लेख किया है, उसमें यह आवश्यक नहीं कि उसने तिथि क्रमानुसार ही नाम रखे हों। श्रीत्रयम्बक तैलंग ने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रीहर्ष, भोजराजवृत्तान्त के रचयिता कालिदास का परवर्ती है। संभव है, साहित्य की उत्कृष्टता की दृष्टि से चंद कवि ने श्रीहर्ष को प्रथम स्थान पर रखा हो कुछ विद्वान जैसे- श्री गौरीशंकर, हीराचंद ओझा, श्री मेनारिया आदि ने पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया है।[2] इसलिए पृथ्वीराजरासों में श्रीहर्ष का उल्लेख होने से श्रीहर्ष की प्राचीनता सिद्ध नहीं हो सकती ।

---

1. नरं रूपं पंचम्म श्रीहर्ष सारं । नलै राय कंठं दिने पद्ध हारं ॥
छटं कालिदासं सुभाषासुबद्धं । जिनै बागवानी सुबानी सुबद्धं ॥
कियो कालिका मुख्ख वासं सुसुद्धं । जिनै सेत वंध्येति भोजप्रबन्धं ॥ पृथ्वीराजरासो-मंगलाचरण से उद्धृत पंकितयाँ।
2. कविराज मुरारधन ने पृथ्वीराजरासो को चौदहवीं शताब्दी के बाद का ग्रन्थ बताया।

राजशेखर प्रो० बूहलर के साथ-साथ इण्डियन आण्टिक्वरी में बाबूरामदाससेन[1] एवं श्री पी०एन० पूर्णिया[2] महोदय ने भी श्रीहर्ष के रचनाकाल को 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखा है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए यदि हम तत्कालीन उपलब्ध दानपत्रों एवं लेखों पर भी अपनी दृष्टि डालें, तो भी हमें यही स्वीकार पड़ेगा कि श्रीहर्ष की रचना प्रक्रिया का उद्‌भव 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हुआ। सर्वप्रथम प्राचीन लेखमाला के 23वें (दानपत्र संवत् 1243) 1187 ई० आषाढ़ शुक्ल 7 रविवार के अनुसार जयन्तचन्द्र गोविन्दचन्द्र के पौत्र तथा विजयचन्द्र के पुत्र थे। इस दानपत्र में जयन्तचन्द्र को राजा कहा गया है, जबकि 22वें लेख (लेखपत्र संवत् 1225) 1169 ई० में जयन्तचन्द्र को युवराज कहा गया है। इन दानपत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयन्तचन्द्र 1169 ई० में युवराज बन गये थे, एवं 1170 ई० तक वह राजा बन गये थे। अतः यदि जयन्तचन्द्र को श्रीहर्ष का आश्रयदाता मान लिया जायें तो नैषध का रचनाकाल 1170 ई० के आसपास ही स्वीकरणीय होगा।

ऐतिहासिक ग्रंथों के अवलोकन से भी श्रीहर्ष के समय निर्धारण में हम पाते हैं कि गाहड़वंशीय गोविन्दचन्द्र का समय 1114 ई० से 1154 ई० तक था। नैषधीयचरित के टीकाकारों में सर्वप्रथम, विद्याधर, चाण्डूपंडित (1297 ई०), गदाधर, (1444 ई०), दांधी चिपंडित शिवदत्त शर्मा (1912) हुए। गदाधर[3] श्रीहर्ष को वाराणसी के राजा गोविन्दचन्द्र के आश्रित सिद्ध करते हैं। कश्मीरी कवि मङ्खक के अनुसार कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्र के दूत सुहल पंडित, कश्मीर नरेश जयसिंह द्वारा सम्मानित हुए थे।[4] मङ्खक और गदाधर दोनों विद्वानों के कथन के साथ-साथ गोविन्दचन्द्र का वाराणसी (काशी) तथा कान्यकुब्ज दोनों प्रान्तों का राजा होना गोविन्दचन्द्र के अनेक ताम्रपत्रों से भी प्रमाणित सिद्ध होता है। श्रीहर्ष के ग्रंथ विजयप्रशस्ति से भी श्रीहर्ष का उनका राजाश्रयी होना सिद्ध होता है। संभव है श्रीहर्ष ने गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र की प्रशंसा में विजयप्रशस्ति' नामक ग्रंथ लिखा हो, ध्यातव्य है कि यदि हम राजशेखर के कथन को पूर्णतः प्रमाण मानें, जिसमें उन्होंने जयन्तचन्द्र को गोविन्दचन्द्र का पुत्र माना[5] तो यह मानना पड़ेगा कि राजशेखर ने तो विजय चन्द्र को ऐतिहासिक धरातल से ही गायब कर दिया, बहुत कुछ संभव है कि गोविन्दचन्द्र पौत्र जयन्तचन्द्र को पुत्रवत् स्नेह करते रहें हों, तभी राजशेखर ने उन्हें गोविन्दचन्द्र का पुत्र माना हो। राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश में यह भी वर्णित किया कि जयचन्द्र के प्रधानमंत्री ने 1174 ई० में सोमनाथ की यात्रा की थी, एवं इस यात्रा के पहले श्रीहर्ष कश्मीर अपनी कृति नैषधीयचरित की प्रामाणिकता के लिए गये थे। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष ने 1174 ई० के पहले ही नैषधीयचरित की रचना कर ली थी। प्रो० एस०पी० महाचार्य ने भी ही श्रीहर्ष के साहित्यिक जीवन को 1125 ई० से 1180 के बीच ही माना है।[6]

श्रीहर्ष के जीवन के अन्तिम भाग के सन्दर्भ में यदि हम दृष्टिपात करें, तो यह जान पड़ता है कि उन्होंने जयन्तचन्द्र के राज्यकाल में ही उनकी पत्नी सूहवदेवी के व्यवहार से रुष्ट होकर सन्यास ग्रहण

---

1. आई०ए० के तृतीय खण्ड, पृष्ठ- 31।
2. आई०ए० के तृतीय खण्ड, पृष्ठ- 29।
3. प्रो० श्रीधररामकृष्ण भण्डारकर के द्वितीय भ्रमण का विवरण- 1904 ई०, पृष्ठ- 43, 87।
4. अन्यः सः सुहलस्तेन ततोवन्द्यत पण्डितः ।
दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः ।। श्रीकण्ठचरित 25/102।
5. गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च मास्मिन्नृपे कुरूत कामधियं तरुण्यः ।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्रीरस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री ।। प्रबन्धकोशपृष्ठ-55।
6. The Probable date of the Naisadhacarita- Prof. S.P. Battacharya, oriental thought, Vol, N0-4, July 1955, P-58-73.

कर लिया था। राजशेखर सूरि के "श्रीहर्षविद्याधरजयन्तचन्द्रप्रबन्ध" से यह ज्ञात होता है कि काशीराज जयन्तचन्द्र के 'पद्माकर' नाम के प्रधानमंत्री अणहिलपत्तन (गुजरात) की यात्रा (1174) में गये थे, तभी वहां उन्होंने शालापति की विधवा पत्नी सूहवदेवी जो अत्यधिक सौन्दर्य शालिनी एवं यौवनसम्पन्ना थी, उसे उन्होंने कुमारपाल (गुजरात के राजा) के पास रखकर सोमनाथ की यात्रानन्तर उसे काशी लाकर काशीराज जयन्तचन्द्र की भोगपत्नी बनाया। सूहवदेवी स्वयं को "कलाभारती" कहती थी। एक बार श्रीहर्ष से सूहवदेवी ने पूंछा- तुम कौन हो? श्रीहर्ष ने कहा, मैं कला सर्वज्ञ हूँ। ऐसे उत्तर से उसे श्रीहर्ष से ईर्ष्या हुई, उसने कहा, यदि कर्लासर्वज्ञ हो, तुम मुझे जूता (चप्पल-उपानह) पहनाओं, उसने सोचा कि यदि श्रीहर्ष यह कहते हैं कि मैं नहीं जानता, तो वह कला सर्वज्ञ नहीं हो सकते, एवं ब्राह्मण होने के कारण चर्मकार कर्म उपानह निर्माण नहीं कर सकते परन्तु श्रीहर्ष ने बल्कल (पेड़ की छाल) का उपानह बनाकर सूहवदेवी को दिया, एवं राजा जयन्तचन्द्र से इस व्यवहार से अपनी खिन्नता को अवगत कराकर राजसभा छोड़कर गंगा के किनारे सन्यास ग्रहण कर लिया।[1] इसके बाद श्रीहर्ष के जीवन के बारे में कुछ भी तथ्य नहीं मिलता।

प्राचीन लेखमाला के 23वें लेख के संवत् 1243 (सन् 1183) आषाढ़ शुक्ल 7 रविवार को लिखित दानपत्र से जयन्तचन्द्र का वंशक्रम इस प्रकार ज्ञात होता है- सर्वप्रथम, यशोविग्रह, महीचन्द्र, श्रीचन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र, विजय चन्द्र, जयन्तचन्द्र, मेघचन्द्र, हरिश्चन्द्र इनमें यशोविग्रह के पौत्र श्रीचन्द्रदेव ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) तथा काशी पर विजय प्राप्त की थी, तथा 22वें लेख में जयन्तचन्द्र के यौवराज्यदानपत्र में संवत् 1225 (सन् 1169) लिखा है। श्रीहर्ष ने भी जयन्तचन्द्र, के पिता विजयचन्द्र के वर्णन स्वरूप विजयप्रशस्ति ग्रंथ के अतिरिक्त नैषध में भी उनकी चर्चा की है।[2] ऐतिहासिक विवरणों से[3] भी ज्ञात होता है कि त्रिपक्षीय संघर्ष में प्रतीहार वंश के अंत के साथ गहड़वाल वंश चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। 1080-85 के बीच चन्द्रदेव ने राष्ट्रकूट शासक गोपाल को हटाकर आधुनिक सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश तक सत्ता स्थापित कर 1100 ई० तक शासन किया। उसके पुत्र मदनपाल (मदनचन्द्र) के बारे में जानकारी नहीं मिलती संभव है, वह शांतिप्रिय रहे हों, एवं उन्होंनें 1114 तक राज्य किया हो, क्योंकि उनके पुत्र गोविन्दचन्द्र (1114-1154) महत्वाकांक्षी एवं योग्यशासक थे। उसने बंगाल के पालों से मगध जीता एवं मालवा पर भी अधिकार किया, उड़ीसा एवं कलिंग के शासकों से भी शक्तिपरीक्षण किया। कश्मीर, गुजरात एवं दक्षिण के चोल राजाओं से भित्रता की एवं लाहौर के तुर्की हाकिम को हराकर आगे बढ़ने से रोका। उसका पुत्र विजयचन्द्र (1154-1170) गहड़वाल साम्राज्य को सुरक्षित बनाये रखा, एवं लाहौर के तुर्की हाकिम को हराया। जयचन्द्र (1170-93) इस वंश का अंतिम शक्तिशाली शासक था इसे बंगाल के शासक

---

1. अत्रान्तरे जयन्तचन्द्रस्य पद्माकरनामा प्रधाननरः श्रीअणहिलपत्तनं गतः। तत्र सरस्तटे रजकक्षालितायां शाटिकायां केतक्यामिव मधुकरकुलं निलीयमानं दृष्ट्वा विस्मिोऽप्राक्षीद्रजकम्- यस्या युवतेरियं शाटी तां मे दर्शय। तस्य हि मन्त्रिणस्तत्पद्मिनीत्वे निर्णयस्यं मनः। रजकेन सायं तस्मै तद्गृहं नीत्वा, तामर्पयित्वा, तत्स्वामिनी सूहवदेविनाम्नी शालापतिपत्नी विधवा यौवनस्था सुरूपा दर्शिता। तां कुमारपालराजपार्श्वादुपरोध्य तद्गृहान्नीत्वा सोम्नाथ यात्राकृत्वा काशीं गतः। तां पद्मिनीं जयन्तचन्द्रभोगिनीमकरोत्। सूहवदेविरिति ख्यातिमगात्। सा च सगर्वा विदुषीति कृत्वा 'कलाभारतीति' पाठयति लोके। श्रीहर्षोऽपि 'नरभारतीति' पठ्यते। तस्य तन्न सहते सा मत्सरिणी। एकदा ससत्कारमाकारितः श्रीहर्ष। भणितश्च-त्वं कः? श्रीहर्ष "कलांसर्वज्ञोऽहम्"। राज्ञ्याऽभाणि-तर्हि मामुपानहौ परिधापय। को भावः-यद्ययं न वेद्मि इति भणति द्विजत्वात्तर्हि अज्ञः। श्रीहर्षेणाङ्गीकृतम्। तोनिलयम्। तरूवल्कलैस्तथा तथा परिकर्मितैः सायं लोलाक्षः सन् दूरस्थः स्वामिनीमाजूहवत्। चर्मकारविधिनोपानहौ पर्यदीघपत्, अभ्युक्षणं निक्षिपध्वं चर्मकारोऽहमिति वदन्। राजानमपि तत्कृतां कुचेष्टां ज्ञापयित्वा खिन्नो गङ्गातीरे सन्यासमग्रहीत्। प्रबन्धकोश पेज- 59-60।
2. तस्य श्री विजयप्रशस्ति रचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्वोऽगमत्पञ्चमः।। नैषध 5/138 का उत्तरार्द्ध ।
3. मध्यकालीन भारत (750-1540) सम्पादक प्रो० हरिश्चन्द्र वर्मा पेज- 7,8

लक्ष्मणसेन से पराजित होना पड़ा। दिल्ली पर आधिपत्य को लेकर चौहानों एवं गहड़वालों में शत्रुता चली आ रही थी, जिस पर अंततः 1193-94 ई० में चन्द्रवार (चन्दावर) के युद्ध में मुहम्मदगोरी से जयचन्द हार गया एवं मार डाला गया। जयचन्द्र का पुत्र हरिश्चन्द्र कन्नौज को तुर्कों (कुतुबुद्दीन ऐबक तथा मुहम्मद गोरी) से कन्नौज को मुक्त कराने में असफल रहा, वह केवल काशी तक सीमित रहा। ध्यातव्य है कि राजशेखर ने भी यह वर्णित किया है कि रानी सूहवदेवी अपने पुत्र को काशी राजपद दिलवाना चाहती थी, परन्तु जयन्तचन्द्र के मंत्री विद्याधर की मंत्रणा से काशी राजपद मेघचन्द्र को दिया गया, जिस पर रानी क्रुद्ध एवं उसने काशी पर आक्रमण करने के लिए तक्षशिला दीश्वर सुरत्राण (मुहम्मदगोरी) को काशी पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रण किया। विद्याधर ने राजा को सतर्क किया परन्तु राजा जयचन्द्र ने विद्याधर की उपयुक्त बात नहीं मानी। फलतः विद्याधर ने राज्य एवं राजा की हानि के पहले ही स्वयं की सत्ता समाप्त हो जानी चाहिए, ऐसा सोचकर उसने गंगा में डूबकर प्राण त्याग दिया।[1]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष राजा विजयचन्द्र एवं जयन्तचन्द्र दोनों के समय राजसभाश्रय प्राप्त कवि थे, शायद तभी उन्होंने विजयचन्द्र (1114-1154) की प्रशस्ति में विजयप्रशस्ति नामक काव्य लिखा, इसलिए उनके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ 1114 के पूर्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूंकि 1193-94 ई० में चन्दावर के युद्ध में जयचन्द्र की मृत्यु हो गयी, एवं इसके पहले ही श्रीहर्ष ने राजसभा छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लिया था। ब्रह्म विद्याभरण (कुम्भकोणम्) की पातानिका में श्रीहर्ष मिश्र के ग्रंथ स्थैर्यप्रकरण का एक श्लोक उद्धृत मानता है। इसमें चर्चित तांत्रिक चिद्विलास का समय कामकोटि की परम्परा में ११६७-१२०० बताया गया है। अतः निश्चित ही श्रीहर्ष १२०० ई. के पूर्व ही रहे होंगे।[2] इसके साथ-साथ यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि गङ्गेश उपाध्याय (1200 ई०) ने श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन कर 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक ग्रंथ की रचना की थी, श्रीहर्ष के समय यदि गंगोश उपाध्याय उनके ग्रंथ का खण्डन करते तो बहुत कुछ संभव है, श्रीहर्ष उनका उत्तर अवश्य देते। 1193 ई० के पूर्व ही जयचन्द्र के मंत्री विद्याधर ने अपनी जीवन लीला समाप्त की थी। संभव है उन्होंने राजा के द्वारा अपनी सन्मंत्रणा न मानने एवं राज्य विनाश से पूर्व ही अपनी जीवन लीला समाप्त करना ही उचित समझा हो। स्पष्ट है कि श्री हर्ष 1200 ई० के बाद तो जीवित नहीं ही रह पाये होंगे, अतः श्रीहर्ष को 1114 ई० से 1200 ई० के बीच रखना उचित जान पड़ता है।[3]

---

1. हितवचनानाकर्णनमनये वृत्तिः प्रियेष्वपि द्वेषः ।
   निजगुरूजनेऽप्यवज्ञा मृत्योः किल पूर्वरूपाणि ।। श्लोक-1- श्रीहर्ष विद्याधर जयन्त चन्द्रप्रबन्धः।
2. तन्त्रैर्दुर्यन्त्रमन्त्रैरपि बुधजनतागाधबोधापमृत्योः कृत्योद्यत्क्रूरधारापरुषतरमर्तेर्गुप्तनाम्नाः शरारोः।
   चेष्टाभिष्टकम्भकानां प्रतिविबुधसमोत्खातजैत्रध्वजाम् आजानज्ञानभाजां विभवमभिधत्ते चिद्विलासाख्यभूम्नाम्।। खं०खं०खा०, पृ० ११ से उदधृत।
3. नैषधीयचरितम् महाकाव्य पर सन् 1934 में प्रो० कृष्णकांत हांडिकी, 1953 ई० डॉ० अरूणोदय नटवर लाल जानी एवं सन् 1954 ई० में डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल ने अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया। डॉ० हान्डिकी ने श्रीहर्ष के जीवनकाल के बारे में अपनी लेखनी ही नहीं उठायी। डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने जीवनकाल का विवरण तो दिया किन्तु उन्होंने श्रीहर्ष के काल निर्धारण के सन्दर्भ में श्रीहर्ष के जीवनवृत्त के पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष का उल्लेख न करके अपने स्थिर मत की स्थापना नहीं की एवं डॉ० जानी ने श्रीहर्ष सम्बन्धी विवरण तो दिया, परन्तु उनका काल निर्धारण सम्बन्धी कथन, (श्रीहर्ष को 160 वर्ष का मानना) कितना समीचीन हो सकता है, इसमें सुधीजन ही प्रमाण हैं। यथा-
   The date of the composition of the N.C. therefore, can be given as 1175 A.D. if not earlier. Hence the date of Sriharsa falls between 1020-1180 A.D. and his literary career may fall between circa 1125 to 1180, as his khandana is refuted by Gangesa upadhyaya (1200 A.D.) in his Tattvacintamani.
   A Critical Study of Sriharasa's Naisadhiya Caritam- A.N. Jani, P-129

नैषधकार का निवास स्थान (देश)

नैषधकार श्रीहर्ष का स्थितिकाल बारहवीं शताब्दी (1114 ई० 1200) सिद्ध होने के बाद अब उनके निवास स्थान के बारे में परिचित होना जिज्ञासु का प्रथम कर्त्तव्य बन जाता है। मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक के प्रायः सभी विद्वान् श्रीहर्ष के निवास स्थान के बारे में अलग-अलग विचार रखे हैं। उनके ग्रंथों के अध्ययनोपरान्त विविध कविपंडितों ने अपने-अपने मत की स्थापना के लिए अलग-अलग तर्क समुपस्थित किये हैं। विविध ग्रंथों एवं टीकाओं के अध्ययपनोपरान्त श्रीहर्ष के निवासस्थान के बारे में जो संकेत मिलता है, उससे विविध सुधीजनों में मतभेद दिखायी पड़ता है। किञ्चित् कविपंडितों ने श्रीहर्ष के पण्डित्य से प्रभावित होकर उन्हें कश्मीर निवासी माना, तो कुछ विद्वानों ने रीति-रिवाजों का साक्ष्य देकर उनका जन्म बंगाल (गौड़देश) में जम माना, किञ्चित् शोधपरीक्षकों ने श्रीहर्ष को कन्नौज का निवासी सिद्ध किया, तो अन्य प्राचीन टीकाकारों ने उन्हें काशी का निवासी घोषित किया।

श्रीहर्ष को कश्मीर निवासी मानने वालों ने निम्न तर्क दिये।

1. श्रीहर्ष की माता का नाम मामल्लदेवी था, यह नाम कश्मीर से ही सम्बन्धित हो सकता है।[1] इसलिये श्रीहर्ष कश्मीर के रहने वाले ही होंगे।
2. जनश्रुति के अनुसार श्री हर्ष का सम्बन्ध काव्यप्रकाशकार मम्मट से था, वह उनके भागिनेय थे।
3. श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ नैषधीयचरित में यह उल्लेख किया है, कि चौदह विद्याओं के जानने वाले विद्यानिष्णातों ने उन्हें सम्मान दिया।[2] यह सम्मान उनके स्वदेशप्रेम से आह्लादित होकर ही दिया गया होगा, अतः श्रीहर्ष कश्मीर के रहने वाले थे।

श्रीहर्ष को कश्मीर निवासी मानने वाले विद्वानों के तर्कों का निराकरण

1. श्रीहर्ष की माता के नाम मामल्लदेवी को कश्मीर से सम्बन्धित करना, विद्वानों की भ्रान्ति का ही परिचायक हैं, क्योंकि ऐसे नाम निर्धारण की परम्परा कश्मीर में नहीं देखी गयी। हाँ, ऐसे नाम, दक्षिण भारत, विशेषकर आन्ध्रप्रदेश एवं तमिलनाडु राज्य में अवश्य मिलते हैं, तब तो सुधीजनों को चाहिए कि वे श्रीहर्ष को आन्ध्रप्रदेश एवं तमिलनाडु का जन्मा ही घोषित करें। परन्तु मातृकुल को प्रमाण मानकर ऐसा मत देना समीचीन नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर दक्षिण भारत की यात्रा करने गये हों, एवं वहीं मामल्लदेवी से मुलाकात हुई हो या काशी में ही उनसे सम्पर्क हुआ हो, एवं दोनों परिणय सूत्र में आबद्ध हो गये हों।
2. कुछ विद्वान् जो श्रीहर्ष का सम्बन्ध मम्मट से स्थापित करते हुए श्रीहर्ष का मम्मट से भेंट होना एवं नैषधीयचरित में मम्मट ने दोष देखकर कहा कि "यदि तुम मुझे इस नैषधीयचरित कृति को मेरी कृति (काव्य प्रकाश) के पहले दिखाते तो मुझे दोष प्रकरण के लिए अन्यत्र नहीं जाना पड़ता" इस तथ्य को उद्धृत कर श्रीहर्ष को कश्मीरी मानते हैं।[3] उन्होंने शायद ऐतिहासिक तिथियों की उपेक्षा ही की ध्यातव्य है कि मम्मट का समय 1050 ई० है, जबकि श्रीहर्ष का (1114 ई० 1200 ई०)

---

1. श्रीनीलकमलभट्टाचार्य "नैषध और श्रीहर्ष" - सरस्वती भवन स्टडीज, पृ० 170-194
2. कश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदभिर्महा।
   काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्षोडशः ॥ नै० 16/131 उत्तरार्द्ध
3. Kashmir report—Recorded by Buhler, P-68.
   And see also article entitled Naisdhacharita - aucityacarca by Shivakamesvara Rao, in Mimansa, I-5 (Tenali, 1922) and History of Sanskrit Sahitya, Banaras, Vol. 131.

बारहवीं शताब्दी। इसलिए श्रीहर्ष का कश्मीरी होना कथमपि संभव नहीं हो सकता। क्योंकि इन दोनों में लगभग 150 वर्ष का अन्तर मिलता है। डॉ० सुनील कुमार डे ने भी मम्मट एवं श्रीहर्ष के सम्बन्ध स्थापन को अविश्वसनीय मना है।[1]

3. कुछ कश्मीरी विद्वानों द्वारा सम्मनित होने से श्रीहर्ष कश्मीर के निवासी कथमपि सिद्ध नहीं हो सकते, संभव है उन विद्वानों ने श्रीहर्ष की प्रतिभा को सम्मनित करने के लिए उसे अपना आदरपात्र बनाया हो।

साथ ही यह भी शंका उत्पन्न होती है कि विद्वानों की नगरी काशी में आश्रयप्राप्त श्रीहर्ष को कश्मीर जाने की आवश्यकता ही क्या हो सकती है? माना कि कश्मीर भी विद्या का केन्द्र था, परन्तु ऐसा कथन तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि श्रीहर्ष को अपने ग्रंथ की प्रामाणिकता के लिए गिड़गिड़ाना पड़ा हो। यह भी माना कि श्रीहर्ष ने कश्मीर की यात्रा की एवं विद्वानों तथा तत्कालीन राजा माधवदेव से उसकी मुलाकात हुई, तो यदि श्रीहर्ष कश्मीर के निवासी थे, तो उन्हें अपने आपको 'वैदेशिक' कहने की क्या आवश्यकता आन पड़ी? जैसा कि राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्धकोश के अन्तर्गत श्री हर्षक विप्रबन्धक में उद्धृत किया है।[2] उन्हें अपने को वैदेशिक कहने मात्र से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष कश्मीर के रहने वाले तो नहीं ही थे, अन्यत्र कहीं दूसरे प्रान्त के भले ही हो सकते हैं।

श्रीहर्ष को बंग प्रदेश (गौड़देश) का निवासी मानने वाले विद्वानों में सर्वप्रथम श्रीहरिसिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य प्रो० नीलकमल भट्टाचार्य, नलनीनाथ दास गुप्त, विद्यापति, डॉ० अरूणोदय नटवरलाल जानी प्रमुख हैं। श्री हरिसिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य महोदय ने नैषधीयचरित के अपने बंगाली संस्करण (1849 शकाब्द में प्रथम संस्करण एवं 1871 शकाब्द सन् 1918 में प्रकाशित दूसरे संस्करण में) में श्रीहीर नामक ब्राह्मण को गौड़देश की राजधानी लक्ष्मणावती के समीप का निवासी एवं उनकी पत्नी मामल्लदेवी तथा पुत्र श्रीहर्ष के होने का उल्लेख किया है।[3] आधुनिककाल का बंगाल प्रदेश, प्राचीन काल का गौडदेश ही है, एवं उसकी राजधानी लक्ष्मणावती आज 'मालदह' ज़िला है। श्रीभट्टाचार्य ने श्रीहर्ष के बंगालवासी होने के निम्न तर्क दिये–

1. 1348 ई० में राजशेखर के द्वारा रचित प्रबन्धकोश में "श्रीहर्षो गौडदेशीयः" ऐसा कहा गया है।

2. श्रीहर्ष ने स्वयं नैषधीयचरित में "उलूलु ध्वनि"[4] का वर्णन किया, जो कि बंगाल देश में प्रचलित रीति-रिवाज में ही परिलक्षित होती है अन्यत्र कहीं नहीं।

---

1. H.S.L.—S.K. De, P.325

2. श्रीहर्षेण पण्डिता उक्तास्तत्रत्याः ग्रन्थमत्रत्याय राज्ञे माधवदेवनाम्ने दर्शयत्। श्रीजयन्तचन्द्राय च शुद्धोऽयं ग्रन्थः इति लेखं प्रदत्त। श्रुतेऽणि ग्रन्थे भारत्यभिमते ज्ञातेऽपि ते न लेखं ददतेय न भूपं दर्शयन्ति। स्थितः श्रीहर्षो बहून मासान्। जग्धं पाथेयम्। विक्रीतं वृषभादि। मितीभूतः परिच्छदः। एकदा नद्यासन्देशे कूपतटासन्नतन देवकुले रूद्रजपं रहः करोति। तत्रागते कयोश्चिद् गृहिणोरूलण्ठे चैट्यो जलप्रथमपश्चाद्ग्रहणघटभरणविषये वादे लग्ने। तयोश्चिरमुक्तिप्रत्युक्तिरभूत्। शीर्षाणि स्फुटितानि घातप्रतिघातैः। गते राजकुले। राजा साक्षिणं गवेषयति। उक्ते ते - अत्र कलहे कोऽपि साक्षी विद्यते न वा? ताभ्यां जगदे - विप्र एकस्तत्रास्ते जपतत्परः। गता राजकीयाः। आनीतः श्रीहर्षः पृष्टस्तयोर्नयानयौ। श्रीहर्षेर्ण गीर्वाणवाण्योक्तम् - देव! वैदेशिकोऽहं। न वेद्मि किमप्येते प्राकृतवादिन्यौ ब्रूतः। केवल तान् शब्दान् वेद्मि

3. असीत् किल गौडदेशे लक्ष्मणावती राजधानी सन्निघाने श्री हीरो नाम महाविचक्षणः कश्चन् ब्राह्मणः। स खलु मामल्देवी नामिकाया निजमार्ययायां श्रीहर्ष नाम पुत्र जनयामास। स चात्मनो विद्यवैभनेन दिग् दिगन्तविकीर्णकीर्तिः श्रीहरिः काव्यकुन्जाधितिना विजयचन्द्रेण ससम्मानमुवनीय स्वकीयान्यतमसमापण्डितपदे समारोपितः। II संस्करण, 1871 शकाव्य जयन्ती टीका –नैषधीयचरित - हरिसिद्धान्त वागीस।

4. कापि प्रमोदास्फुट निर्जीहानवर्णेव या मङ्लगीतिरासाम् ।
सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चकार ।। नैषध - 15/51।

3. श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में सरस्वती वर्णन के प्रसंग में ॐकार के चन्द्र की 'बिन्दी' (भालबिन्दु)[1] का वर्णन किया है, वह बंगाली परम्परा में ही प्रचलित है।

4. श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में काशीराज वर्णन के प्रसंग में व्याकरणशास्त्र में विशेषप्रसिद्धिप्राप्त लुङादि संज्ञा को छोड़कर कलापव्याकरण के अन्तर्गत 'अद्यतनी संज्ञा'[2] का प्रयोग किया, जिसमें कवि ने अपने कलाप व्याकरण के अध्ययन को सूचित किया है। कलापव्याकरण के अध्ययन का प्रचलन आजकल पूर्वोत्तर बंगाल में है एवं मालदह जिला उत्तरी बंगाल में ही अवस्थित है।

5. श्रीहर्ष ने गौडदेश में रहने के कारण ही गौडराजवंश की प्रशस्ति हेतु 'गोडोर्वीशकुलप्रशस्ति' नामक ग्रंथ की रचना की,[3] जिससे स्पष्ट होता है कि वे बंगाल के ही रहने वाले थे।

"श्रीहरिसिद्धान्तवागीशभट्टाचार्य के मत का खण्डन"

1. भट्टाचार्य महोदय, ने जो राजशेखर के प्रबन्धकोश में "श्रीहर्षो गौडदेशीयः" कहा है, वह नितान्त मनगढ़न्त है क्योंकि राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोष के अन्तर्गत् ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं है। हाँ प्रबन्धकोशान्तर्गत 'हरिहरप्रबन्ध' में "श्रीहर्षवंशे हरिहरः गौडदेशीयः" का उल्लेख अवश्य हुआ है। ध्यातव्य है कि श्रीहर्ष की पत्नी एवं उनके बच्चों के बारे में तो कोई वर्णन नहीं मिलता, परन्तु उनके नाती (Grandson) कमलाकरगुप्त का वर्णन मिलता है, जिन्होंने नैषधचरित पर भाष्य लिखा था, एवं उसी सीढ़ी में कवि हरिहर उत्पन्न हुए जो नैषधीयचरित की प्राचीन लिपि गुजरात से लाये थे। हरिहर के बाद उसी वंश परम्परा में चित्रेश्वर शर्मा का वर्णन मिलता है, जिन्होंने नैषध पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि तैयार की[4] परन्तु "श्रीहर्षवंशे हरिहरः गौडदेशीयः" से यह कथमपि प्रमाणित नहीं होता कि श्रीहर्ष बंगाल के रहने वाले थे। संभव है कि श्रीहर्ष के वशंज हरिहर जीविकावृत्ति हेतु बंगाल गये हों, एवं वही बस गये हों, जैसा कि आधुनिककाल में भी देखा जाता है कि किसी दूसरे प्रान्त के व्यक्ति जीविका निर्वाह या व्यापार के बहाने अन्य प्रान्तों में जाते हैं, एवं धीरे-धीरे वह वहीं स्थापित हो जाते हैं, परन्तु इससे उनकी जन्मभूमि नहीं बदल सकती, हाँ कर्मभूमि भले बदल जाये। अतः भट्टाचार्य महोदय का यह तर्क असंगत ही ठहरता है।

2. भट्टाचार्य महोदय का यह तर्क कि श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ नैषधीयचरित में यह विवरण दिया है कि जिस समय दमयंती ने स्वयंवर सभा में नल के गले में वरमाला पहनायी, तो नगर की कामिनियों ने (मंगलार्थक) 'उलूलु' ध्वनि का उच्चस्वर में उच्चारण किया।[5] 'उलूलु' ध्वनि की व्याख्या करते हुए नारायण राम आचार्य 'काव्यतीर्थ' ने अपनी नैषध टीका में निम्न व्याख्या प्रस्तुत की "विवाहाद्युत्सवे स्त्रीणां धवलादिमंगलगीतिविशेषा गौडदेशे "उलूलुः" इत्युच्यते। सोऽप्यव्यक्तवर्ण–उच्चार्यते। स्वदेशरीतिः कविनोक्ता।" एवं दाक्षिणात्य विद्वान् मल्लिनाथ ने 'उलूलु'

---

1. भ्रुवौ दलाभ्यां प्रणवस्य मस्यास्त द्विन्दुना भालतमाल पत्रम् ।
तदर्द्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्ची-निक्राणनाकोणधनुः प्रणिन्ये ।। नैषध- 10/86
2. भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य, भीमोद्भवे! भवति भावमिवास्तिधातुः। नैषध - 11/117 उत्तरार्ध पंक्ति
3. गोडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभातर्ययं तन्महाकाव्ये–नैषध 7/110 उत्तरार्द्ध पंक्ति
4. शाके वारिधिसूर्यवाजिगिरिजाबालानलक्ष्म्या युते मासे फाल्गुनिके तथैव दशमीतिथ्यां च पक्षे सिते वारे देवगुरोरलेखि ललितं तन्नैषधं पुस्तकं श्रीचित्रेश्वरशर्मणा हरिहरवंशौद्भवेनाचिरात्।। NW II, P.71, No.67, A.N. जानी-पृ० 93
5. कापि प्रमोदास्फटनिर्जिहानवर्णेव या मंगलगीतिरासाम् ।
सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चकार ।। नैषध-14/51

ध्वनि को "उदीच्यानामयमाचारः" रूप में वर्णित किया।[1] भट्टाचार्य के मत से सहमति व्यक्त करते हुए श्रीनीलकमल भट्टाचार्य ने अभिहित किया कि नैषधीयचरित में विवाहोत्सव के समय 'उलूलु' ध्वनि का जैसा विवरण मिला है, वैसा केवल बंगाल में ही प्रचलित है, हालांकि उड़ीसा और आसाम में भी 'उलूलु' ध्वनि की मान्यता है। किन्तु विद्वद्द्वय यह विवरण देने में अक्षम रहे कि 'उलूलु ध्वनि' बंगाल की ही उपज है। ध्यातव्य है कि 'उलूलु' ध्वनि का प्रचलन मध्यकाल से नहीं, अपितु प्राचीनकाल से चला आ रहा है। पौराणिक ग्रंथों एवं उपनिषदों के पृष्ठों को यदि पलटा जाय, तो उनमें भी 'उलूलु' ध्वनि का विवरण द्रष्टव्य है, सर्वप्रथम अथर्ववेद में 'उलूलायाह'[2] रूप मे, फिर छान्दोग्य उपनिषद् में उलूलु ध्वनि का विवरण देखने को मिलता है,[3] तदुपरान्त अन्य स्थलों में भी उलूलुध्वनि का वर्णन द्रष्टव्य है। यथा काश्मीरी विद्वान् मुरारिकृत अनर्घराघव में सीता विवाह के प्रसंग में,[4] मैथिलीकवि रूचिपति उपाध्याय कृत अनर्घराघव की टीका में,[5] 13वीं शताब्दी में गुजरात के राणा वीरधवल के मंत्री वस्तुपाल कृत नरनारायणानन्द में सुभद्रा और अर्जुन के विवाह के प्रसंग में[6] वस्तुपाल के समकालिक अमरचन्द कृत पद्मानन्द महाकाव्य में तीर्थंकर ऋषभदेव के विवाह प्रसंग में,[7] वास्तुपाल के राज सभा के प्रसिद्ध विद्वान अरिसिंह की काव्यकल्पलता में एवं इसी ग्रंथ के टीकाकार अमरचंद की टीका में[8] साथ ही देवेश्वर कृत कविकल्पलता में, जगडूचरित तथा हेमचन्द्राचार्य कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में अजितनाथ के जन्म के अवसर पर भी द्रष्टव्य है।[9]

यदि हरिसिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य के मतानुसार नारायणी टीका के आधार पर यदि हम श्रीहर्ष को बंगालवासी मान लें, तो फिर रुचिपति के आधार पर दाक्षिणात्यवासी एवं वस्तुपाल के विवरण के आधार पर गुजराती तथा प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार उत्तर देशवासी मानना होगा[10] जबकि मल्लिनाथ के मत का खण्डन नीलकमल भट्टाचार्य ने किया है।[11] भारतीय संस्कृति विविधता में एकता का कलेवर पहने हुए अपने में अनूठी ही है। कोइ परम्परा केवल उसी प्रान्त की ही ऐसा कह पाना मुश्किल है। क्योंकि कवि तो सूक्ष्मदर्शी होता है संभव है श्रीहर्ष ने ऐसे विवाहोत्सव की परम्परा काशी या बंगाल में देखी हो, एवं उन्हें यह परम्परा रूचिकर लगी हो, जिससे उन्होंने नैषध में इसे स्थान दिया है परन्तु 'उलूलु' ध्वनि के विवरण देने मात्र से श्रीहर्ष को बंगाली सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं होगा, क्योंकि आधुनिक काल में भी उत्तरी गुजरात एवं सौराष्ट्र की औरतों

---

1. उलूलुरित्येवरूपः कश्चिद्धर्षणात्मकः सुखोच्चार्यो ध्वनिविशेष उत्सवादौस्त्रीभिरुच्चार्यते-इत्युदीच्यानामाचारः। नैषधीयचरित-नारायणी टीका–संस्करण–1986, मेहरचन्द लक्ष्मनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ० 585
2. अर्थवंवेद 3/10/6
3. अथयत्तदजायत् सोऽसावादित्यः तंजायमानं घोषा उलूलवोनूदतिष्ठन् तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यांयनं प्रति घोषा उलूलवोनूत्तिष्ठान्ति। छान्दोग्य उपनिषद - 3/19/3
4. वैदेहीकरवन्धमंगलयजुः सूक्तं द्विजानां मुखे।
नारीणां च कपोलकन्दलतले श्रेयानुलूलुध्वनिः ॥ अनर्घराघव 3/55, निर्णय सागर प्रेस।
5. दक्षिणा देशे विवाहाद्यवसरे स्त्रीमिरू लूलुध्वनिः क्रियते इत्याचारः।
6. मुदित मृगाक्षी मण्डलोलूलुनादः –नरनारायणानन्द 15/17
7. इन्द्राण्युलूलुविलसत्प्रतिशब्दपूरैर्निःशेषदिङ्मुखभवद्धवलानुवादः पद्मानन्द महाकाव्य 9/68
8. विवाहे स्नानशुभ्रांङ्गभूषोलूलुत्रयीरवाः। वेदीसीमन्ततारेक्षालाजा मङ्गल-वर्तनम्॥ काव्यकल्पलता 1/5/86
9. त्रिष्टिशलाकापुरुषचरित 2/2/539, एवं जैन आत्मानन्द शताब्दी सिरीज नं0 VIII, Pt. II, P.183
10. New I.A. II, P. 265, No. 6
11. सरस्वती भवन स्टडीज, पृष्ठ- 175-177

द्वारा (लोरी) गायी जाती है। प्रसिद्ध विद्वान् जियाफ्रे ग्रोरर ने तो इसे दक्षिण अफ्रीका की संस्कृति का अंग माना।[1] डॉ० सुनील कुमार डे ने भी भट्टाचार्यद्वय के उलूलु ध्वनि का विवरण देने मात्र से श्रीहर्ष के बंगाली होने का खण्डन किया है।[2] साथ नैषध के अंग्रेजी अनुवादकर्ता प्रो० कृष्णकांत हांडिकी ने उलूलु ध्वनि का बंगाल से बाहर भी प्रचलन होना वर्णित किया है।[3] उन्होंने ग्रीक के ओलोगी (Ololuge) और लैटिन के उलूलेटस (Ululatus) से इस ध्वनि का अनुरणात्मकनाद सौन्दर्य माना। स्पष्ट है कि केवल उलूलु ध्वनि के आधार पर श्रीहर्ष को बंगाली नहीं माना जा सकता।

3. श्रीहरिसिद्धान्तवागीशभट्टाचार्य महोदय का यह मत कि ॐकार की 'बिन्दी' सदृश 'भालबिन्दु' का जो वर्णन नैषधीयचरित में मिलता है, वह बंगाली परम्परा में ही प्रचलति है इसलिए श्रीहर्ष बंगाली रहे होंगे तभी, उन्होंने ऐसे तिलक रचने का वर्णन किया है, परन्तु उनका यह तर्क सतही तौर पर ही विखंडित हो जाता है, क्योंकि भारत में लगभग सभी प्रान्तों में सभी वर्ग विशेष की (मुसलमान एवं ईसाइयों को छोड़कर) औरतें 'बिन्दी' लगाती हैं, उससे यह कहीं भी ध्वनित नहीं होता कि वे बंगाली हैं, अतः जाहिर है कि भालबिन्दु वर्णन से सम्बन्ध स्थापित कर श्रीहर्ष को बंगाली नहीं ठहराया जा सकता।

4. श्रीवागीश जी का यह कथन कि श्रीहर्ष ने कलाप व्याकरण, जिसका प्रचलन बंगाल में अध्यधिक था, का वर्णन नैषधीयचरित में किया, इसमें उन्होंने अपने देश प्रेम (गौड़ देश) को दर्शाया है, इसलिए श्रीहर्ष बंगाली हैं। श्रीवागीश महोदय का यह तर्क निराधार है, क्योंकि विदग्ध कवि किसी शास्त्र के अंगभूत में परंगत नहीं होते, अपितु वे सम्पूर्ण शास्त्रों के समग्र अध्ययन के प्रेमी होते हैं एवं जिस श्रीहर्ष को "कविराजराजिमुकुटालंकार" की संज्ञा से अलंकृत किया गया हो, उसके बारे कहना ही क्या है श्रीहर्ष कलाप व्याकरण ही क्या वे व्याकरण शास्त्र की सभी शाखाओं के मर्मज्ञ थे। ध्यातव्य है कि तत्कालीन समय में काशी विद्वत्केन्द्र थी, संभव है श्रीहर्ष ने वहाँ से अध्ययन अध्यापन हेतु बंगाल गये हों, और वहाँ उन्होंने व्याकरण की इस शाखा का अध्ययन किया हो, एवं उन्हें रूचिकर लगने के कारण उन्होंने नैषधचरित में यत्रतत्र उसका प्रयोग किया हो परन्तु इस आधार पर श्रीहर्ष को बंगाली तो निश्चय ही नहीं कहा जा सकता।

5. श्रीवागीश का श्रीहर्ष को बंगदेशीय मानने का अंतिम तर्क यह था कि उन्होंने जो 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' की रचना की, यह उनके गौडदेश से प्रेम सम्बन्ध को पुष्ट करता है, तथा उन्होंने स्वदेश प्रेम के कारण ही यह रचना की, अतः वे बंगालवासी थे। श्रीहर्ष को गौड़ विषय का निवासी विद्यापति ने भी पुरूषपरीक्षा की मेधाविकथा में वर्णित किया है। साथ ही यह भी विवरण उपस्थित किया है कि नैषधीयचरित को वह वाराणसी के पण्डितों द्वारा प्रमाणित कराने वाराणसी

---

1. Geaffray Garer in this book, Africa Dances' rcords the prevalence of this custom among the Negros, when he says - Another difference from the red chempionships was the small number of women present, usually there is a salid pholanx of them singing and ululating egging the fighters on and tountig them if they do badly. — Panguin books edn. P. 29.

2. Sriharsa's Bengal arigin need not follow, as Narayana in this commentory thinks, from his use (14/51) of the word 'ULULU' as on auspicious sound made by women on bestike occations ....Sriharsa belonged to bengal is wholly unconssincing. New Indian Antiquarry - S.K. De- II P. 81, H.S.L.-S.K. De, I, P-326

3. The Ululu sound has, infact, been brought in to special Connection with the marriage festiscities by center leter writers on poetics.- Naisadha Charit - K.K. Handiqui - P. 563-65

गये एवं स्वदेशी कोक पण्डित को उन्होंने नैषधीयचरित को दिखाया।[1] परन्तु विद्यापति के कथन से दो तथ्य उभरकर सामने आते हैं, प्रथम यह कि, स्वदेश प्रेम के कारण यदि वे कोक पंडित से मिले, तो यदि वे 'रतिरहस्य' के प्रणेता कोक्कक थे, तो वे तो काश्मीरी विद्वान् थे, तो इस आधार पर श्रीहर्ष भी काश्मीरी ही ठहरते हैं, बंगाली नहीं। द्वितीय, यह कि संभव है कि 'कोक' नामधारी कोई विद्वान् काशी में रहे हों, तो इस आधार पर भी श्रीहर्ष बंगाली नहीं ठहरते, क्योंकि किसी बंगाली कवि 'कोक' नाम की जानकारी उपलब्ध ग्रंथों यथा–काशीरहस्य में भी नही मिलती। जिस गौडोर्वीशकुल प्रशस्ति रचना के आधार पर श्रीवागीश जी श्रीहर्ष को बंगाली मानते हैं, उन्हें शायद गौडदेश के विषय में पर्याप्त जानकारी नहीं थी।, उन्होंने गौड शब्द से तात्पर्य बंगाल ही समझ लिया, यदि ऐतिहासिक संस्कृति का अध्ययन किया जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है, कान्यकुब्जेश्वर श्रीजयन्तचन्द्र का राज्य मगध से पूर्वी भागों तक थ , जिसमें गौडदेश भी आता था, एवं गौड ब्राह्मणों का निवास स्थान प्रान्त (विषय) को भी गौड विषय की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। गौड ब्राह्मणों का निवास गोंडवाना, गोंडा एवं बंगाल के साथ-साथ उत्तरी भारत के अन्य स्थानों में भी था। 'जातिभास्कर'[2] में गौड़ देश की स्थिति के बारे में वर्णन आया है कि बंगदेश से लेकर अमरनाथ पर्यन्त गौडदेश अवस्थित है। ऐसा ही वर्णन आदिगौडदीपिका में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि–

गौडदेशं समारभ्य भुवनेशान्तगः शिवे ।
गौडदेशः समाख्यातः सर्वविद्याविशारदः ।।

ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्ड के प्रणेता ने गौड देश की स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि हरियाणा, दिल्ली, सोनीपत, पानीपत के आसपास का क्षेत्र यमुनानदी के किनारे के प्रदेश, फतेहपुर पुष्कर, मत्स्य, विराट, भिवानी आदि स्थानों में गौड ब्राह्मणों का निवास है। अयोध्या में सरयूनदी के उत्तर सरवार तथा गौडदेश है। मत्स्यपुराण एवं वायुपुराण[3] में श्रावस्तीपुरी को गौडदेश के अन्तर्गत ही माना गया है। जातिभास्कर में ही गौडदेश की सीमा निर्धारण सम्बन्धी विवरण मिलता है कि यह श्रावस्तीपुरी (प्राचीन नाम सेहेत–मेहेत) गौड देश में सरयू नदी के उत्तर (इस समय) गोंड़ा नगर के समीप स्थित है। जिस देश की सीमा पूर्व में गंगा नदी और गण्डकी नदी का संगम है, पश्चिम एवं दक्षिण दिशाओं में सरयू नदी प्रवाहित है, उत्तर में हिमालय है, इसके मध्य की भूमि का नाम गौड़देश है। गण्डकी नदी के पश्चिम की भूमि गौड़देश कहलाती है। इस स्थान में जो ब्राह्मण सृष्टि के आरम्भ से निवास करते हैं, वे गौड़ कहलाते हैं।[4] अतएव स्पष्ट है कि गौड़देश यथार्थ में बंगाल प्रान्त का ही वाचक न होकर, बल्कि उन सारे प्रान्तों का वाचक है, जहाँ-जहाँ गौड़ ब्राह्मणों का निवास रहा है। हितोपदेश में तो यहाँ तक वर्णन मिलता है कि 'कौशाम्बी' (इलाहाबाद के पश्चिम दक्षिण में यमुना के किनारे स्थित नगरी) भी गौड़देश के सीमान्तार्गत

---

1. "वयूब गौडविषये श्रीहर्षोनाम कविपण्डितः। स च नलचरितामिधानं काव्यं कृत्वा......तत्काव्यं दर्शपितुं पण्डित-मण्डलीमुदि्दश्य वाराणसी जगाम। तत्र च कोकनामानं पण्डितं श्रावयामास।..... श्रीहर्षस्तु तमनुगच्छन् पठति प्रत्यहम्। तदुत्तरं किमपि नाप्नोति। एकादा श्रीहर्षेणोक्तम्, आर्य! महाकाव्ये कृतश्रमोहम्, तत्परीक्षार्थ त्वामुदि्दश्य बुद्धया स्वदेशीयवात्सल्येन च महतो दूरादागतोदिम"। सरस्वती भवन स्टडीज, भाग-3, पृष्ठ 190-91 की टिप्पणी से अनूदित
2. जाति भाष्कर (खेमराज श्री कृष्ण दास संस्करण), पृ० 73
3. श्रावतश्च महातेजा वत्सकस्तत्सुतोऽभवत् ।
   निर्मिता येन श्रावती गौडदेशे जिोन्तमाः ।।
   अत्तराकौशले राज्यं लवस्य च महात्मनः ।
   श्रावस्ती लोकविख्याता श्रविता च लवस्य च ।। वायु- पु० भाग-2, अध्याय 26, श्लोक 198
4. जातियास्कर - खेमराज श्री कृष्णदास, संस्करण, पृ० 73

थी।[1] इन सारे साक्ष्यों के बावजूद भी यदि गौड देश को बंगाल का ही वाचक माना जाय, जो कि वास्तविकता के धरातल से परे ही सिद्ध होता है, तो हम यदि ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करें, और यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समय में कान्यकुब्जेश्वर (गोविन्दचन्द्र) का साम्राज्य गौडदेश तक रहा है, इसलिए कान्यकुब्जेश्वर को ही गौडेश्वर की संज्ञा से श्रीहर्ष ने विभूषित किया होगा, क्योंकि गोविन्द चन्द्र के मनेर, लार, तथा सेहेत-मेहेत ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है कि चंद्रवंशीय गहड़वालों का साम्राज्य उत्तरी भारत के साथ-साथ मगध के पूर्व तक फैला था।[2] दूसरे गौड़ ब्राह्मणों का निवास स्थान गहड़वालों की साम्राज्य सीमा में ही था, एवं नैषध में भी जिस करूष प्रदेश का वर्णन मिलता है वह काशी के पूर्व का भू भाग था[3] एवं वह काव्यकुब्जेश्वर के अधीन था इसलिए भी उनका स्वामी (राजा) गौडेश्वर अर्थात् कान्यकुब्जेश्वर ही सिद्ध होता है, उपर्युक्त विवेचन से स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि श्रीवागीशजी का मत कि ''गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति के रचनाकार श्रीहर्ष बंगाली थे'' अनुपयुक्त कथनमात्र है। अतः श्रीहर्ष बंगाली नहीं थे।

श्रीवागीश भट्टाचार्य के बाद श्रीहर्ष को बंगालवासी कहने में प्रो० नीलकमल भट्टाचार्य जी का स्थान प्रमुख है। उन्होंने नैषधीयचरित में प्रयुक्त कुछ व्याकरणिक संदर्भों, ग्रंथ में वर्णित वाक्यविन्यासों पराम्पराओं परिधानों एवं तंत्रमंत्रों, रीतियों 'भोज्यसामग्री' के आधार पर श्रीहर्ष को बंगलवासी सिद्ध करने का प्रयास किया है। श्रीवागीश की तरह श्रीनीलकमलजी ने भी उलूलु ध्वनि का साक्ष्य श्रीहर्ष को बंगालवासी सिद्ध करने में किया है, जिसका खण्डन पूर्व में किया जा चुका है, अतः उनका यह प्रमाण असमीचीन ही समझा जाना चाहिए। प्रो० नीलकमलजी ने श्रीहर्ष को बंगालवासी माननें में दूसरा प्रमाण वाक्यविन्यासों का दिया है, जो निम्न हैं–

1. फाल शब्द (द्विफालबद्धाश्चिकुराः नै. 1/6) आसाम से सम्बन्धित है। प्रो० हांडिकी[4] ने भी द्विफालबद्धाः को आसाम के 'दुफाले बन्धा' से सम्बन्धित माना है, जो कि बंगाल के समीपवर्ती है।

2. आलेपन (विधुमालेपनपाण्डुरम– नै. 2/26, क्वचित्तदालेपनदानपण्डिता, नै. 15/12) नारायण एवं ईशानदेव की व्युत्पत्ति के अनुसार पिसे चाँवल एवं हल्दी का मिश्रण जो कि दीवारों एवं फर्श पर चित्रकारी के काम आता था, और जो बंगाली आल्पना से साम्य रखता है।

3. उदयभास्कर (वासितैरुदयभास्करेण 18/103) जो कि कपूर का एक प्रकार था, एवं चाण्डूपण्डित के अनुसार गौडदेश में पाया जाता था।

4. ललड्डिम्ब (रौप्यं लसड्डिम्बमिवेन्दुबिम्बम् नै. 22/51) या लसड्डिम्ब शब्द, आधुनिक बंगाली शब्द लाटिम (Latima) से सम्बन्धित है, परन्तु इसका युद्ध अर्थ लट्टू (Top) या चकई भंवरा (बच्चों का खिलौना) है। नारायण ने इसकी टिप्पणी करते हुए कहा है कि ''डिम्बं ललडिम्बमिति वा गौडदेशभाषायां भ्रमरकस्य संज्ञा'' महाराष्ट्र भाषायां कान्यकुब्जभाषायां च 'भवरा' इति संज्ञा। –ईशानदेव का कथन है'' गौडदेशे भ्रमरकस्य लाडिम्बः इति नाम। आसाम में लाटिम को 'लाटुम' कहते हैं। वृहत्कथामंजरी में 9/2/55, लड्डमरु एवं 9/1648 में लड्डमरुक–लड्डमरु शब्द आया है

---

1. अस्तिगौडीये कौशाम्बी नगरी - हितोपदेश 1/5।
2. J.B.O. R.S. भाग 19- पृष्ठ- 233
3. J.B.O. R.S. भाग 19- पृष्ठ- 233
4. प्रो० के० के० हांडिकी ने अपनी टीका नैषध में 551-647 में निम्न शब्दों की व्याख्या की है।

जो कि ललड्डमरु का अपभ्रंश है, पिशाचशाकिनी युक्तं लड्डमरुमण्डलम्-डमरु कापालिकों द्वारा प्रयोग किया जाने वाले (दुन्दुभी, नगाड़ा) ढोल का एक प्रकार है।

5. अन्नमीन (साधितमन्नमीनरसादि नै. 14/78) शब्द, बंगालियों के माच्छभात (Machbhat) जो कि चावल एवं मछली का सम्मिश्रण होता है। यह बंगाली भोजन है। श्रीहर्ष ने नलदमयन्ती विवाहोपरान्त हुए भोजन वर्णन में बंगाली भोज्य का वर्णन किया है, अतः वह बंगाली हैं।

6. घुघु (सर्वं विस्मृत्य दैवात्स्मृतिमुषसि गतां घोषयन्यो घुसंज्ञां नै 10/61) बंगाली शब्द है, जिसे श्रीहर्ष ने नैषध में कवितात्मक सौन्दर्य हेतु प्रयुक्त किया है जबकि पाणिनी ने इसे 'घुसंज्ञा' के रूप में व्याकरण में प्रयुक्त किया है।

प्रो० नीलकमल भट्टाचार्य बंगाली भाषा के लक्षण या विशेषताएँ बताते हुए कहते हैं कि श्रीहर्ष ने भी नैषध में बंगाली भाषा की विशेषताओं को अपनाया है बंगालीभाषी सकारोच्चारण में श, ष, स में अन्तर नहीं कर पाते, साथ ही वह ण, व, य को न, ब, ज एवं ष को क्ष, ख को रव्य एवं विसर्ग का संक्षेप में स्पष्ट उच्चारण करते हैं। ये विशेषताएँ बंगाली भाषा को अन्य भाषाओं से अलग ही रखतीं हैं। यह विशेषताएँ यमक अलंकार के अतिरिक्त कहीं भी नहीं दिखायी देंगीं, चूंकि श्रीहर्ष ने इस भाषा की विशेषताओं को अपनाया है, अतः वह बंगाली हैं। उन्होंने अनुप्रास की श्रेष्ठता वाले खण्डनखण्डखाद्य के दो श्लोकों का उदाहरण भी दिया।[1] उन्होंने बंगाली भाषा की विशेषाओं एवं यमकालंकीरयुक्त निम्नलिखित नैषध के उद्धरण दिये–

1. श ष स– अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं (1/57), अयोगभाजोऽपि नृपस्यपश्यता (1/100), सखा सखायः स्रवदश्रवो मम (1/136), कटु कीटान्दशतः सतः क्वचित् (2/4), अज्ञासिषुः स्त्रीशिशुबालिशास्तं (10/32), बालामभावत सभासततप्रगल्भा (11/16), अश्वैरस्वैरवेगैः (12/100), नास्नाति स्नाति हा मोहात् (17/41), ज्ञानस्पर्शान्तरा मौनमानशे मानसेविनी (20/13) विस्राणि विज्ञाणितवान् पितृम्यः (22/50)।

2. ज, य – मनस्तु यं नोज्झतु जातु यातु (3/59), उपयेमाधुर्यमधैर्यसर्जे (6/93), मनुष्यजन्मन्यपि यन्मनो जने (9/34), यातुं ततो जातु न यातुधानः (10/11), तरूपत्रजन्मायन्मारूतः (11/39) जागर्ति यागेश्वरः (12/38), यज्ञयूपधनां यज्ञौ (22/172)।

3. ण, न – पुण्येनमन्ये पुनरन्यजन्म (8/33), स्फरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवैः (12/2), अमूनिमन्येडमरनिर्झरिण्या (22/21)।

4. ब, व– कुलं सुधांशोर्वहलं वहन्बहु (1/110), स्मरहरः किममुं बुभुजे विभुः (4/60) बुबुधिरे बिबुधेन्द्राः (5/60), त्रिविबुर्धी बुबुधे न (5/22), स विलोक्य बालाम् (6/13), संविभ्रति श्रोत्रिय विभ्रयं यत् (7/100), क्षये जगज्जीव पिबं शिवं बदन् (9/124)।

5. क्ष– नलस्य च स्वयस्य च सख्यमीक्षते (1/38), अभिख्याभिक्षाधुना (7/104), तव सौख्यलक्ष्यः (6/108), अचख्यौ चाक्षिपन्नमुम् (17/92), सख्यौ सक्षौमभावेऽपि (20/129)।

---

1. (A)तदद्वैतश्रुतेस्तावद् बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः नानुमादि तं कर्तुं तबापि क्षमते मते ।
अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान् सेवा मेवार्जयत्यर्थापत्ति परम्परा ।।-खण्डनखण्डखाद्य -1/20, 21
(B) समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः। का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयो ।। खण्ड नखण्डखाद्य 1/38

6. विसर्ग– आगत्यभूतः सकलो भवत्या भवप्रतीत्या गुणलोभवत्याः (3/115), तं संवदत्यङ्क मृगस्यनाभिकस्तूरिकासौरभवासनाभिः (22/86)।

7. मिश्रित उदाहरण– स राशिरासीन्महसां महोज्जवलः (1/1) असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे (1/53), अबाह्यमिज्यते (2/78), आसन्ननायककविषण्णमुखानुमेय (11/12), पंकजसख्यशिक्षा (11/102), सृणीपदसुचिह्ना श्रीः (20/58), अंकस्थितसज्जशय्यम् (22/2)। साथ ही श्रीहर्ष ने नैषध में अनुप्रासादि युक्त कुछ ऐसे वर्णन किया है यथा–''धार्यं कथङ्कारमहं भवत्या, वियद्विहारी-वसुधैकगत्या (3/15), अशक्यशंकाव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु (3/78), अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा (3/93), तं क्वापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या (8/6) जाता न वित्ते न, गुणे न कामः सौन्दर्य एवं प्रवगः स वामः (10/13), मध्येसभं सावततार बाला गन्धर्वविद्याधरकण्ठनाला।

त्रयीमयीभूतवलीविभंगा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरंगा (10/74) इनमें बंगाली लय की मधुरिमा का श्रीहर्ष ने पालन किया है ऐसा वर्णन करना कवि का देशीय संस्कृति के प्रति उन्माद ही कहा जा सकता है। कुछ ऐसे ही वर्णनों के अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं–

> वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः । 2/1
> आस्थितावितथतागुणपाशस्त्वादृशा स विदुषा दुरपासः ।। 5/130
> तस्मिन् विषज्यार्धपथात्तपातं तदंगरागच्छुरितं निरीक्ष्य ।
> विस्मेरतामापुरविस्मरन्त्यः क्षिप्तं मिथः कन्दुकमिन्दुमुख्यः ।। 6/42
> छायासु रूपं भुवि वीक्ष्य तस्य फलं दृशोरानशिरे महिष्यः । 6/43
> चन्द्राधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायतं तत्किरणाद् घनानाम् ।। 7/44
> यस्य कीर्तिरवदायति स्म सा कार्तिकीतिथिनिशीथिनीस्वसा । 18/22
> कार्तवीर्यभिदुरेण दशास्ये रेणुकेय भवता सुखनाश्ये ।। 21/68

प्रो० नीलकमलजी के सभी उदाहरण देना इसलिए आवश्यक समझा गया, जिससे विद्वानों को उनके दिये गये साक्ष्यों को देखने एवं परखने हेतु अन्यत्र न जाना पड़े। इन सभी आधारों पर नीलकमलजी ने श्रीहर्ष को बंगालवासी मानने की अपनी अभीप्सा उपस्थित की। उनके उपर्युक्त सभी तर्कों को डॉ० सुनील कुमार डे एवं डॉ० बुहलर ने खण्डन किया है। डॉ० बुहलर ने कहा कि श्री नीलकमल जी ने जो बंगाली भाषा की विशेषताएँ बतायी हैं उनके लक्षण तो कश्मीरी भाषा से भी मिलते हैं, अतः इस आधार पर श्रीहर्ष को कश्मीर एवं बंगाल दोनों देश का निवासी मानना पड़ेगा, जो कि सत्य से परे होगा। डॉ० बुहलर का कथन था "The group `Ksa' becomes invariably `Khya', e.g., Ksamyatam, K(h)yemyatam. S is never used, its usual substitute is sometimes interchan. ged with `S'. Visarga is sounded very soft, so as to be almost inaudible"[1] डॉ० एस0के0 डे का कहना है कि "The indiscriminate use in alliteration and chiming of the three sibilants, the two nasal, `b' and `n', `y' and `j' as sounds of equivalent value is not definitely conclusive, as it is sanctioned by rhetaricians"[2] यद्यपि श्री नीलजी की यह बात सत्य है कि श,ष,स,ण,न,व,ब,य,ज,ष,क्ष,ख

---

1. Report, P. 26, Nos-11-13.
2. New, I.A. II, P. 266, N-6, सरस्वती भवन स्टडीज Vol. 3, P. 185-88.

के बंगालियों के द्वारा किये जाने वाले उच्चारण में इन अच्छरों में कोई अन्तर नहीं माना जाता, परन्तु इस आधार पर श्रीहर्ष को बंगाली भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि श्रीहर्ष महान् काव्यसाहित्यकार थे, एवं उन्होंनें यहाँ भी काव्य-शास्त्रीय मर्यादा का ही पालन किया है। परन्तु यहाँ यह अभिकथन अनिवार्य हो जाता है कि दृष्टि ही सृष्टि की रचना करती है, श्री नीलकमलजी (पूर्वाग्रही) की दृष्टि ने पहले ही श्रीहर्ष को बंगाली मान लिया, तो अब उनकी कृति में किये गये सारे वर्णन एवं रीतियों का वर्णन करने में श्रीहर्ष उन्हें बंगाली ही नजर आये, एक काव्यमर्मज्ञ वाद में। ध्यातव्य है कि काव्यशास्त्रीय परम्परा में अलंकारमर्मज्ञों ने अनुप्रास, यमक आदि के संदर्भ में इन वर्णों को एक ही मान लेने की छूट रखी होगी, तभी कवियों में इसका भरपूर उपयोग भी किया है।[1]

प्रो० नीलजी का यह कथन कि फाल (चोटी बालों की दो चोटो करना केवल बंगाली औरतों की ही परम्परा है, अक्षरशः असत्य है कि क्योंकि दो चोटी करने की परम्परा उत्तर प्रदेश, म०प्र०, कश्मीर आदि प्रान्तों में भी प्रचलित है, आलेपन (चित्रकारी) केवल बंगाली में ही नहीं, अपितु महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के लोगों द्वारा भी भाद्रपद, एवं क्वांर मास में की जाती है। उदयभास्कर, जो कर्पूर का एक प्रकार माना जाता है एवं जिसे नारायण ने गौडदेश का बताया, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि वह बंगाल का ही था, साथ ही उदयभास्कर सदृश "ब्रास" भी पान में डाला जाता है जो उत्तर प्रदेश, म०प्र० एवं महाराष्ट्र में आज भी प्रचलन में है। लल्लडिम्ब या बच्चों के खेलने का लट्टू केवल बंगाल में ही नहीं आज सम्पूर्ण उत्तरी भारत में बच्चों के खेलने के खिलौने के रूप में देखा जा सकता है। रही अन्नमीन (माछभात) की बात, तो यह बात तो सार्वजनीन है कि क्षत्रियों की बरात में मत्स्य मांस का प्रचलन प्राचीन काल से था आज भी है फिर वह तो निषधदेश के सम्राट की बरात थी, उसमें भोज्य सामग्री के अनेकानेक व्यञ्जनों का होना, कोई चमत्कार नहीं है। जिस घुघु संज्ञा की बात श्रीनीलजी कहते हैं, क्या एक विद्वान् व्याकरण से परिचित नहीं होगा, स्मरणीय है कि 'घु' बंगाल की नहीं, अपितु पाणिनि महोदय की देन है। अतः इन कथनों के आधार पर भी श्रीनीलकमलजी श्री हर्ष को बंगाली सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ ही सिद्ध प्रतीत होते हैं परन्तु उन्हें इस बात का श्रेय तो अवश्य ही दिया जाना चाहिए कि उन्होंने नैषधीयचरित जैसे रमणीय ग्रंथ का सांगोपांग अध्ययन किया है।

प्रो० नील भट्टाचार्य जी ने श्री हर्ष को बंगालवासी मानने में अगला प्रमाण 'शङ्खवलय' को माना है शङ्खवलय का विवरण नैषध में दो स्थलों पर द्रष्टव्य है प्रथम काञ्ची अधिपति के संदर्भ में, दूसरा स्वयंवर स्थल में।[2] स्वयंवर में आभूषणों से सुसज्जित, रतिसौन्दर्य-दामिनी दमयंती की बाहुलताएँ मंगलकारी शङ्खवलयों से अलंकृत थीं, शङ्खवलयों से अलंकृत बाहुओं को देखकर ऐसा लग रहा था, मानो उन

---

1. यमकादौ भवेदैक्यं डलोर्बबोर्तर्रोस्तथा (साहित्य दर्पण, दशम परिच्छेद यमक प्रकरण) पृ० 280 विमला टीका संस्करण - 1977
   – यथा कालिदास........भुजलतां जड़तामवलाजनः।।
   शष (सष) योर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः सबिन्दुका बिन्दुकयोः स्याद्भेद प्रकल्पनम्।। –इतिशेष
   – रलयोर्डलयोश्चैव बवयोः शसयोर्नभित् । नानुस्वारविसर्गो च बित्रमङ्गाय सम्मतौ ।।
   अलङ्कार-शेखर केशव मिश्रः पञ्चमदश्मरीतिः।
2. अदःसमित्सम्मुखवीर यौवत त्रुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी ।
   द्विषद्गणस्त्रौणदृगम्बुनिर्झरे यशोमरालाबलिरस्य खेलति ।। नै० 12/35
   उपास्यमानामिव शिक्षितुं हतो - मृदुत्वमप्रोढ़मृणालमालया ।
   विरेजतुर्माङ्गलिकेन सङ्तौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुनः ।। नै० 15/45

बाहुओं से कोमलता सीखने के लिए बालमृणालदण्ड उनकी सुश्रूषा कर रहे हों। नारायण राम आचार्य 'काव्यतीर्थ' शङ्खवलय

शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं कि "गौडदेशे विवाहकाले शङ्खवलयधारणमाचारः"[1] उनकी इस व्याख्या के आधार पर श्रीनीलकमलभट्टाचार्य ने यह मत प्रतिपादित किया कि चूँकि श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में शङ्खवलय शब्द का प्रयोग किया है, जाहिर है कि वह बंगाली रीतियों से परिचित रहे होंगे, तभी उन्होंने ऐसा वर्णन किया, अतएव श्रीहर्ष बंगालवासी हैं। परन्तु श्री भट्टाचार्य जी यह तथ्य तो विस्मृत कर ही गये कि गौड़ ब्राह्मणों का निवास स्थान कान्यकुब्जेश्वर के सीमान्तर्गत था, इस हेतु उनका आवास भी तो गौडदेश कहलायेगा। दूसरे यह कि अगर नैषधीयचरित के पूर्व किसी ग्रंथ में शङ्खवलय शब्द का वर्णन न मिलता, तब भी हम मान सकते थे, कि चलो यह शब्द बंगाल की परम्परा का प्रसूता होगा, परन्तु मध्यकाल (12वीं शताब्दी) के पूर्व के पहले के ग्रंथों में भी चूंकि शङ्खवलय शब्द के प्रयोग की बहुतायतता मिलती है, अतः स्पष्ट है कि इस आधार पर श्रीहर्ष को बंगालवासी सिद्ध नहीं किया जा सकता। नैषध के पूर्ववर्ती ग्रंथ महाभारत के विराटपर्व में अर्जुन का वृहन्नला रूप रूपार्जित करने में[2] एवं बाणभट्ट कृत कादम्बरी के जाबालि आश्रमवर्णन के सन्दर्भ[3] में एवं अश्वघोषकृत बुद्धचरित[4] में भी 'शङ्खवलय' शब्द का विवरण मिलता है। अगर ग्रंथों में वर्णित तथ्यों के आधार पर यदि रचयिता को उस देश का वासी माना जाय, जैसा कि श्री नीलजी मानते हैं, तब तो महाभारतकार व्यास, कादम्बरी प्रणेता बाणभट्ट, एवं बुद्धचरित रचयिता अश्वघोष को भी उनके मतानुसार बंगाल का ही मानना होगा जो कि तत्वतः असमीचीन ही मान्य होगा, अतः इस आधार पर भी श्रीभट्टाचार्य द्वारा श्रीहर्ष को बंगालवासी मानना उचित नहीं जान पड़ता।

प्रो० इमेन्यू (Emeneau) भी उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुए कहते हैं कि शङ्खवलय की प्रथा बंगाल की न होकर अपितु सम्पूर्ण भारत की थी।[5] उनके मत के निराकरण का प्रयास भी एस0एन0 मुकर्जी ने "Conch Carving in Bengal"[6] नामक लेख में किया है, परन्तु उनका मत उचित तर्क देने में सर्वथा अक्षम रहा, वे यह भूल गये कि उत्तर भारत हमेशा से परिधान निर्माण का केन्द्र रहा है, काशी की बाजार आज की नहीं प्राचीनकाल से प्रसिद्धि को प्राप्त किये हुए है, एवं चूड़ियों का गढ़ फिरोजाबाद (दिल्ली के पास स्थिति जनपद) आज विश्व में चूड़ी (Conch bengles) के लिए विख्यात है।

प्रो० नीलकमल भट्टाचार्य एक अन्य रीति, विवाह के समय वर वधू का हाथ कुशों से बांधने का वर्णन[7] के आधार पर एवं उसमें नारायण की व्याख्या कि "कुशैः पाणिबन्धनं देशाचारः"[8] के आधार पर

1. नारायणी टीका-संस्करण, 1986 पृ० 618
2. वलयैच्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ । कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे ॥
   पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः ।
   वेणीकृत-शिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला ॥ महाभारत, विराटपर्व अध्याय 2, श्लोक 26, 27 एवं 11/1
3. इभकलमार्धोपभुक्तपतितैः सरस्वतीभुजलताविगलितैः शङ्खवलयैरिव मृणालशकलैः कल्माषितम् —— आश्रममपश्यम्। कादम्बरी सौरभम्-जाबालिआश्रमवर्णने
4. अश्वघोष-बुद्धचरित 12/10
5. Prof. Emeneau also opines that the Custom of wearing conch-bengles, was a custom wide-spread in India, if not Pan-Indic. — New I.A. II, P.99
6. S.N. Mukharjee : "Conch Carving in Bengal" The Illustrated weekly of India June 22, 1952, P-35.
7. वरस्य पाणिः परघातकौतुकी वधूकरः पंकजकान्तितस्करः ।
   सुराङ्गि तौ तत्र विदर्भमण्डले ततो निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः ॥ नै० 16/14
8. नैषध - नारायणी टीका सस्करण - 1968, पृ० 641

श्रीहर्ष को बंगालवासी सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु नारायण ने यह तो नहीं कहा कि "कुशैः पाणिबन्धनं गौड देशाचार," अतः किस आधार पर भट्टाचार्य महोदय इसे बंगाल की रीति मानते हैं? बंगाल की विवाह की रीतियों के बारे में शोधकर्ता द्वारा बंगाली जनों से पूछने पर मालुम हुआ कि समस्त बंगाल में तीन प्रकार की वर्ग रीतियाँ प्रचलित थीं। और आज भी प्रचलित है वे हैं राढ़ी, वारेन्द्री एवं गौड़ी। एवं तीनों एक दूसरे में विवाह नहीं करते, फिर जहाँ विदर्भ मण्डल में नल एवं दमयंती के विवाह का वर्णन हो रहा हो, तो यह स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष ने जो 'विदर्भमण्डले' शब्द प्रयोग किया, तो यह प्रथा विदर्भ के शिवाय और कहाँ की हो सकती है? हाँ यदि गौड देश विदर्भ के समीप में होता तो, हम यह मान भी लेते कि चलो गौड़ पड़ोस में था, अतः उसकी परम्परा ही विदर्भ में भी प्रचलित होगी, परन्तु कहावत भी है कि "कोस-कोस में बदले पानी चार कोस में बानी" और यह तथ्य तो सर्वविदित ही है, भारत के पश्चिमी छोर में विदर्भ राज्य था एवं पूर्वी छोर में गौड तो एक प्रान्त के व्यक्ति दूसरे प्रान्त के व्यक्ति शायद ही परिचित रहे हों, तथा उनकी रीतियों से परिचित होने की तो दूर की बात है या कल्पना मात्र हो सकती है। रीतियाँ भी तीन प्रकार की होती है – लोकरीति, वेदरीति एवं कुलरीति, अब किस रीति का पालन श्रीहर्ष ने दमयंती विवाह विर्णन में किया है, यह तो स्पष्ट नहीं है परन्तु विवाह तो विदर्भराज्य में हो रहा था, तो संभव है श्री हर्ष लोकरीति (विदर्भरीति), एवं कुल रीति (भीमकुल रीति या नलकुल रीति) का वर्णन किये होंगे। अतएव श्रीनीलजी का इस आधार पर भी श्रीहर्ष को बंगाली एवं बंगालवासी मानना असंगत ही कहा जा सकता है, क्योंकि कवि किसी बन्धन से ग्रस्त होकर काव्य रचना नहीं करता, वह तो उन्मुक्त वातावरण में गाता चलता है, एवं जहाँ की वैविध्यता उसे आकर्षित करती है, उसे ही वह अपने काव्य में समेट लेता है स्पष्ट है कि तत्कालीन समय में श्रीहर्ष द्वारा वर्णित तथ्य विदर्भ या निषध देश के सिवाय और कहाँ का हो सकता है?

प्रो० नीलभट्टाचार्य ने नैषध में वर्णित अन्य रीतियों यथा वर का मुकुट पहनना (नै० 15/60, 70), कौतुकागार (कोहवर) (16/46), बारात में सामिष एवं निरामिष भोज्य सामग्री वर्णन (नै० 14/78, 16/76, 81, 82, 87), आलेपनवस्तु वर्णन (नै० 2/77, 90) एवं पति पत्नी रागालाप वर्णन (20/55, 56, 57 आदि) में बंगाली परम्परा देखी, जो कि सरासर गलत है, ये सब प्रथाएँ प्राचीन ग्रंथों में उत्तरी भारत के सभी प्रान्तों, दक्षिण में महाराष्ट्र, म०प्र० सर्वत्र प्रचलित थीं एवं आज भी प्रचलित हैं, इसलिये इस आधार पर श्री हर्ष को बंगाली एवं बंगालवासी सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अतः श्री भट्टाचार्य का यह प्रयास भी असंगत जान पड़ता है क्योंकि ये दोनों राज्य पड़ोसी थे।

प्रो० नीलकमल भट्टाचार्य ने श्रीहर्ष को बंगाली एवं बंगालवासी सिद्ध करने में अपना अंतिम तर्क नैषध में वर्णित (सारस्वत मंत्र) चिन्तामणि[1] मंत्र का देते हैं। वह कहते है कि बंगाल ही प्रारम्भ से तंत्र मंत्र का देश रहा है। श्रीहर्ष मंत्र के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की बात करते हैं, अतएव वह बंगाली पद्धति का प्रयोग करने के कारण बंगाली ही सिद्ध होते हैं। परन्तु यहाँ यह तो माना जा सकता है कि तंत्रमंत्रवाद की उत्पत्ति बंगाल में हुई, परन्तु इससे यह नहीं ध्वनित होता कि उसका प्रयोग बंगाल में ही, सीमित था, तत्कालीन (मध्यकाल) समय से लेकर आज तक, आसाम, गुजरात, राजस्थान एवं उत्तरी भारत के कुछ स्थानों में यह प्रथा प्रचलित है। फिर यदि इस मंत्र का सूक्ष्म विवेचन किया जाय, तो यही सिद्ध होता है कि इसमें भगवान शंकर के अर्द्धनारीश्वर रूप का चित्रण है, एवं भगवान शिव की स्थली आर्यावर्त में काशी एवं

1. अवामावामार्धे सकलमुभयाकार घटना– द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत् ।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिध्यतु सते ।। नै०. 14/88 एवं चिन्तामणि मंत्र माहात्म्य वर्णन 14/89,90

उज्जैन (निषददेश के समीप) में ही मानी गयी है, अतः भट्टाचार्य का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। संभव है श्री हर्ष ने राजा नल को उज्जैन में महाकालेश्वर या इन्द्र द्वारा वरदान में दिये गये काशी[1] के पास रहने का वर्णन तथा नल को काशी स्थित विश्वनाथ (शंकरजी) की अर्चना करने के लिए श्रीहर्ष ने ऐसा विवरण दिया हो। सौदामिनी मेहता एवं डॉ. सन्देश्वर ने भट्टाचार्य के मत का प्रतिवाद करते हुए कहा कि मध्यकाल में तंत्र-मंत्र की प्रथा सारे भारत में व्याप्त थी, केवल बंगाल में ही नहीं।[2]

प्रो० नीलकमल भट्टाचार्य के बाद श्रीहर्ष को बंगालवासी मानने वाले श्रीनलिनी नाथदासगुप्त हैं। वह भी भट्टाचार्य के मत के समर्थन करते हुए कहते हैं कि श्रीहर्ष बंगाल के ही थे, उन्हें 'मिश्र' संज्ञा से विद्यारण्य और वरद पंडित ने विभूषित किया। उन्होंने श्रीहर्ष को बंगाल के राजा विजयसेन की सभा का विद्वान् बताया, इसके निर्धारण में उन्होंने श्रीहर्ष की दो कृतियों गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति एवं विजयप्रशस्ति को आधार बनाया। श्रीनलिनीनाथदासगुप्त ने नैषध की हर्ष हृदय के टीकाकार गोपीनाथ आचार्य के मतानुसार 'मिश्र' को मित्र एवं विजयप्रशस्ति को विजयसेन की प्रशस्ति बताया, जबकि विजय प्रशस्ति को विजयसेन की प्रशस्ति भावदेव ने मानी थी।[3] भावदेव ने कहा "विजय प्रशस्ति विजयसेननाम्नो गौडेश्वरस्य प्रशस्तिः।" नैषध में वर्णित नल के उपमानों यथा-वीरसेनकुलदीपचन्द्रवंशवसते (5/124), को विजयसेन के उपमान माना। दमयंती विवाह में गौडेन्द्र राजा (16/96-100) का वर्णन भी मिलता है, इसलिए श्रीहर्ष ने जरूर गौडदेशप्रेमी होने का फर्ज़ निभाया होगा, अतः श्रीहर्ष बंगाली थे। ध्यातव्य है कि श्री गुप्त ने यह माना कि गौड नरेश विजयसेन का काल 1158 ई० में समाप्त हो जाता है, जबकि स्मरणीय है कि जयन्तचन्द्र का राज्यकाल उसके बाद 1170 ई० से प्रारम्भ होता है, अतः गुप्त जी का तर्क उचित नहीं जान पड़ता। हाँ एक बात में साम्यता अवश्य परिलक्षित होती है, और वह यह है कि श्री गुप्त जी का कथन राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोश एवं विद्यापति की मेधाविकथा दोनों से संगत जान पड़ता है कि श्री हर्ष विजयसेन की मृत्यु के बाद श्रीहर्ष गौडदेश से कान्यकुब्जेश्वर के पास (काशी) आये। परन्तु कवि के पिता श्रीहीर तथा उनका जयचन्द्र से समकालीन होना इन दो बातों में अन्तर दिखायी पड़ता है, स्मरणीय है कि श्रीहीर की मृत्यु गोविन्दचन्द्र के समय में ही एवं श्रीहर्ष के शिशुकाल में ही हो गयी थी, अतः यह तर्क पिष्टपेषण मात्र ही होगा। दूसरा नैषध में स्वयंवर प्रसंग में अन्य कई राजाओं का वर्णन श्री हर्ष ने किया है, कीकटनरेश का विवरण तो गौड नरेश से वृहद् रूप में है, तो फिर दासगुप्त महोदय को श्रीहर्ष को कीकटदेश का निवासी ही मानना चाहिए, दूसरा गौड नरेश के वर्णन में श्री हर्ष ने वर्णित किया है "श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः", इसके अनुसार तो गौडनरेश श्याम वर्ण वाले थे, एवं काव्यशास्त्रियों ने भी पूर्व देश के लोगों को श्याम वर्ण का ही माना।[4] जबकि गुप्त जी यह तर्क देते हैं कि श्रीहर्ष ने (अपने देश के राजा) गौडेन्द्र के जीवन से नल के जीवन में अधिक साम्य होने के कारण नलचरित्र का दुःखद अंश चित्रित ही नहीं कि (जैसा कि महाभारत में नल कथा के उत्तरार्द्ध में मिलता है) ध्यातव्य है कि जहाँ गौडेन्द्र कृष्णवर्ण थे, वहाँ

---

1. तवोपवाराणसि नामचिन्हं वासाय पारेसि पुरं पुरास्ति ।
निर्वातुमिच्छोरपि तत्र भैमीसम्भोगसङ्कोचभियाधिकाशि ॥ नै० 14/75
2. However the instances of the realisation of the Sarasvata Manta are recorded in case of Gujarati poets like Amarcanadra and Balacandra (13th Century) by Dr. Sandesara, in the "Literary circle of Mahamatya Vastupala" paras. 105 and 124 respectively. Thus this practice seems to be spread in different parts of India, and not in Bengal alone, during the medieval period.—Saudamini Mehta—Bangalamam Sanagara-Sanskriti-Nov. 1951, P.182.
3. Gopiantha or Bhavadava—A.N. Jani-J.I.O.I, Vol.-II, No.-4, June 53, P.370-73.
जबकि डॉ० चण्डिकाप्रसाद ने भी नैषधपरिशीलन पृ० 16 में गोपीनाथ का ही मत बताया, जो कि गलत है।
4. तत्र पौरस्त्यानां श्यामोवर्णः– (काव्यमीमांसा, अध्याय 17, पृ० 290)

नल गौर वर्ण, तो यहीं गुप्त जी का कथन (नल एवं गौडेन्द्र में साम्यता बताना) तर्क संगत नहीं ठहरता। दूसरा गुप्त जी ने नैषध से राजाओं के विवरण विशालता की बात की, तो उनके इस तर्क में भी दम नहीं है, क्योंकि श्रीहर्ष के राजादि वर्णन प्रसंग को ध्यान से देखा जाय एवं पढ़ा जाय, तो उन्होंने कीकटनरेश का सबसे अधिक श्लोकों में वर्णन नैषधीयचरित में किया है, तब तो इस आधार पर गुप्त जी को श्रीहर्ष को कीकटदेशवासी ही मानना पड़ेगा। स्पष्ट है कि गुप्त जी के ये दोनों कथन केवल उनकी भ्रान्तिमानसिकता के ही द्योतक हैं। रही नैषध में नल के उत्तरार्द्ध विवरण न देने की बात, तो कवि को जितना अभीष्ठ होता है, उतनी ही विषय सामग्री को वह लेता है, फिर भारतीय काव्यशास्त्र में सुखान्त ग्रंथ लेखन की परम्परा रही है, एवं श्रीहर्ष ने इसी परम्परा का पालन कर अपने काव्य को शृङ्गारामृतशीतगुः कहकर अपनी काव्यशास्त्रज्ञता का भी परिज्ञान कराया है।

अन्त में श्रीहर्ष को बंगाली मानने वाले श्रीविद्यापति एवं श्री अरूणोदयनटवरलालजानी का नाम आता है। महामहोपध्याय राखालदास न्यायरत्न ने भी "नैषध के वाक्य सस्मार न स्मरमनाः प्रियदूतभूतं तत्रामरालयमरालकेशीः" के माध्यम से कहा कि श्रीहर्ष बंगाली थे।[1] परन्तु उनका यह कथन भट्टाचार्य महोदय का अनुकरण मान है। श्रीविद्यापति के मत का पूर्व में ही निराकरण किया जा चुका है। श्रीजानी के विचारों को अध्ययन करने के उपरान्त यह प्रतीत होता है कि उन्होंने श्री श्रीभट्टाचार्यद्वय, विद्यापति एवं श्रीनलिनीनाथ दास गुप्त के मत का अनुसरण करते हुए श्रीहर्ष को बंगाली माना है।[2] श्री जानी ने नैषधीयचरित में उपलब्ध कुछ परम्पराओं को बंगाल देश की ही माना, उन्होंने भी तर्क रखा कि चूँकि श्रीहर्ष ने ऐसे वर्णनों का चमत्कार अपने काव्य में किया है, जिनमें बंगाली परम्परा, रीति-रिवाजों का ही ज्यादा साम्य परिलक्षित होता है, अतः श्रीहर्ष निश्चित ही बंगाली एवं बंगालवासी रहे होंगे। श्रीजानी जी ने भट्टाचार्यद्वय के तर्कों को मानने के साथ-साथ निम्न तर्क और दिये–

1. दमयंती के विवाह वर्णन के प्रसंग में, श्रीहर्ष ने यह उल्लेख किया है कि दमयंती द्वारा लगाया गया 'अंजन' कानों तक विस्तृत था।[3] चूँकि इस प्रकार की विधि से अंजन लगाना बंगाली स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है, जैसा कि नारायण ने भी इस प्रथा को पूर्व देश का माना है प्राच्यो हि सुन्दर्यो विलोचने नेत्रप्रान्तनिर्गतया– कर्णोपान्तस्पर्शिन्याञ्जनरेखया भूषयन्ति।[4] पूर्व देश में बंगाल है ही, अतः श्री हर्ष बंगाल निवासी थे।

2. स्वयंवर सभा में कवि ने दमयन्ती की तुलना 'पान्थदुर्गा'[5] से दी। नारायण ने अपनी टीका में लिखा है "उत्सवादौ मञ्चके दुर्गामारोप्य राजवीथिषु भ्राम्यते, तथैनामपि चलदुर्गां चकारेत्यर्थ

1. Bassy in sanskrit Bhavan series Banars - III - 150, there he argues that Sriharsa was Bengali - H.C.S.L. - कृष्णमाचार्यर, पृ० 180
2. However, looking to the conflicting nature of the evidence, it will be better to conclude that Sriharsa, was a bengali by blood and his father being patronized by the king of Kanauj, was liking at his Court. The same honour was extended to Sriharsa as well. His works, which have not come down to us, will help us, when found out, in arriving at a final decision, till then Bengal may be accepted provisionally as Sriharsa's home. — Naisadhiyacaritam-A.N. Jani, P-109.
3. अपांगमालिग्य तर्दायमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताञ्जनेन या ।
अपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयःश्रिया वर्धयितुं विलोचने ।। नै० 15/34
4. नारायणी टीका, संस्करण- 1986, पृ० 615
5. हसत्सु भैमी दिविषत्सु पाणौ पाणिं प्रणीयाप्सरसां रसात्सा ।
आलिंग्य मीत्याकृत पान्थदुर्गां भूपालादिक्पालकुलाध्यमध्यम् ।। नै० 14/37

इति वा"।[1] "पान्थदुर्गा" को विजयादशमी के अवसर पर इसे महान दुर्गापूजा त्योहार रूप में बंगाल एवं आसाम की प्रथा जानी एवं प्रो० कृष्णकांत हांडिकी ने बताया है।[2]

3. नैषधकार ने केलों के पेड़ों एवं पत्तों से वधू दमयंती (भीममहल) के द्वार को सजाने का वर्णन किया है।[3] उसे प्रो० हांडिकी ने आसाम के आस-पास के कुछ क्षेत्रों में प्रचलित परम्परा कहा है।[4] अतः श्रीहर्ष आसाम देश के पड़ोसी देश बंगाल के ही रहे होंगे।

4. श्रीहर्ष के द्वारा वर्णित नाई के कृत्य कि "एक क्रुद्ध नाई की भांति दिन ने सूर्य की तीक्ष्ण किरण रूपी तेज छुरे से रजनी रूपी अपनी भार्या की वेणी रूपी अन्धकार को काटकर उसे घर से निकाल दिया", इसमें एक विधवा के मुण्डन का ही वर्णन है, एवं बंगाल ही ऐसा देश है, जहाँ विधवाओं के शिर मुड़वा दिये जाते हैं, अतः यहाँ भी हर्ष ने बंगाली रीति को अपनाया है, अतः श्रीहर्ष बंगाली थे। क्योंकि बंगाली बच्चों का साथ आठ वर्ष की उम्र तक ही दो या तीन बार मुण्डन होता है, इसके बाद लड़कियाँ अपने बाल धारण किये रहती हैं, मुण्डन नहीं करातीं।[5]

परन्तु श्री अरूणोदय नटवर लाल जानी जी के तर्क भी श्रीहर्ष को बंगाली एवं बंगालवासी सिद्ध कर पानें में समर्थ सिद्ध नहीं हो सके हैं। स्त्रियों के आंखों में अंजन लगाने की परम्परा केवल बंगाल में ही नहीं मिलती, जैसा कि नारायण ने अपनी टीका में लिखा है, अपितु अंजन लगाना तो सम्पूर्ण भारत की स्त्रियों द्वारा अपनाया जाता है। केरल की स्त्रियाँ तो आंखों में अंजन का प्रयोग करने के साथ-साथ माथे पर अंजन तिलक लगाती है। राजस्थान एवं पंजाब की स्त्रियों द्वारा अंजन लगाने की विधियों का तो कोई सानी ही नहीं, अतः अंजन का विवरण देने मात्र से कवि को बंगालप्रान्त का सिद्ध करना तर्कोपवेत नहीं होगा, क्योंकि कवि तो स्वच्छन्दमना होते हैं, जहाँ, जिस देश की रीति-रिवाज उन्हे भा गयी, बस उसे उन्होंने अपने काव्य में पिरो लिया।

श्रीजानी जी ने जो 'पान्थ दुर्गा' के माध्यम से बंगाल प्रान्त की विजयादशमी त्योहार से तुल्यता दिखायी है, तो सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कवि ने वहाँ अलंकार वर्णन की चारुता ही दिखायी है, दूसरे यदि हम यह भी मानें कि विजयादशमी त्योहार के समय होने वाली दुर्गा स्थापना समारोह का कवि वहाँ सन्दर्भ रखना चाहता है, तो इससे यह कहीं भी ध्वनित नहीं होता कि दुर्गा पूजा या दुर्गा मूर्ति स्थापना, केवल बंगाल प्रान्त की देन है, यह तो सर्वत्र उत्तरी भारत के यत्र-तत्र सर्वत्र स्थानों में देखा जा सकता है। हेमचन्द्र के द्वयाश्रय काव्य में भी पान्थ दुर्गा का वर्णन मिलता है।[6] ग्रीक वर्णनों में पान्थदुर्गा को 'सड़कों की देवी' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।[7] दुर्गा का विवरण देवीपुराण के देवी

---

1. नारायणी टीका- पृ० 581, संस्करण - 1986
2. नैषधीयचरित-प्रो० के0के0 हान्डिकी, पृ० 601, संस्करण - 1956, दकन कालेज, पूना।
3. श्लथैर्दलैः स्तम्भरुगस्य रम्भयोश्चकास्ति, चण्डातकमण्डिता स्म सा।
   प्रियासखीवास्य मनःस्थितिस्फुरत्सुखागतप्रश्नि ततूर्यनिःस्वना ।। नै० 16/8
4. It is usual even now, in some parts of India (e.g. Assam), to decorate the entrance ground of the bride's place with Banana plants. नैषधीय चरितम्, पृ० 230, संस्करण-1956
5. Saudamini Mehta - Bangalamam Sanagara Sanskrit - Nov - 1951, P-420
6. हेमचन्द्र-द्वयाश्रय काव्य-7/34
7. Lady of the Road of Goddess of Paths - Pausanias (Loeb), Vol. 2, P. 72 and Frazer's trans, Vol. 1, P-151.

की रथयात्रा (भाग-31) में एवं स्कन्दपुराण में प्रभासखण्ड में, भाग-83 में उपलब्ध मिलता है। अतः इस विवरण के आधार पर भी श्रीहर्ष बंगाली नहीं ठहरते।

वधू के द्वार को कदली स्तम्भों एवं कदली पत्रों से सजाने की परम्परा के बारे में यदि हम सांस्कृतिक झरोखों में झाँके, तो स्पष्ट हो जाता है कि यह परम्परा केवल आसाम की नहीं, अपितु उत्तर भारत के साथ-साथ दक्षिण भारत में भी यह परम्परा देखी जाती है। दक्षिण भारत में तो विवाहादि की सारी प्रथाएँ, भोजन आदि सब केलों के पत्ते पर ही सम्पन्न की जाती हैं, अतः इसके आधार पर तो श्रीहर्ष को दक्षिणात्य कहा जाना चाहिए। स्पष्ट है कि इस तर्क के आधार पर भी जानीजी श्री हर्ष को बंगाली सिद्ध करने में असमर्थ ही सिद्ध होते हैं।

श्रीजानी ने जो श्रीहर्ष के कथानक को तोड़-मरोड़ कर "बंगाल की विधवा प्रथा" के वर्णन का जो साक्ष्य रखा, वह भी तर्कोपवेत नहीं लगता क्योंकि यह प्रथा दक्षिण भारत एवं उत्तरी भारत के कुछ अंचलों में प्राचीन काल से थी एवं आज भी इसके आंशिक उदाहरण मिलते हैं। अतः जानीजी का यह तर्क भी श्रीहर्ष का बंगाली सिद्ध करने में असंगत ही प्रतीत होता है। श्रीजानी ने डॉ० सुनील कुमार डे के आक्षेपों का परिहार करने की कोशिश उन्हीं के विचारों को रखकर, श्रीहर्ष को बंगाली मानने में की,[1] परन्तु उनकी यह कोशिश मात्र कल्पना लोक की प्राप्ति मात्र कही जा सकती है।

श्रीहर्ष को कश्मीर एवं बंगाल प्रान्त का मानने वालों के बाद अब कुछ विद्वान् श्रीहर्ष को 'कन्नौज' का निवासी मानते हैं इन विद्वानों में डॉ० वात्वे (Watve), प्रो० इमेनेयू (Emeneau), आचार्य रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री एवं नैषधपरिशीलनकार डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल जी प्रमुख हैं।

डॉ० वात्वे "संस्कृतकाव्य के पंचप्राण"[2] नामक पुस्तक में श्रीहर्ष को कन्नौज का माना है, एवं प्रो० इमेनेयू ने अपने एक लेख[3] के आधार पर श्रीहर्ष को कन्नौजनिवासी माना है, तथा रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री ने भी अपने एक लेख[4] के आधार पर श्रीहर्ष को कन्नौज प्रान्त का रहने वाला बताया है। परन्तु इन तीनों विद्वानों के तर्क श्रीहर्ष को कन्नौज निवासी बता पाने में असमीचीन एवं अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं जैसा कि उनके विवरणों के अध्ययन से ज्ञात होता है।

नैषधपरिशीलन रचयिता डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्लजी ने श्रीहर्ष को कन्नौज प्रान्त का जन्मा एवं निवासी माना एवं इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिये–

1. बाह्य साक्ष्य से श्रीहर्ष का कन्नौज प्रान्त का होना सिद्ध होता है। फर्रुखाबाद जिले में कन्नौज के पास मीरासराय नामक कस्बा है, जहाँ कन्नौज का रेलवे स्टेशन है। यहाँ विशेष बस्ती कान्यकुब्ज मिश्रों की है। ये लोक स्मार्त और शाक्त हैं, और अपने को श्रीहर्ष का वंशज बतलाते हैं, इनका कहना है कि "हम लोग पहले त्रिपाठी थे, परन्तु श्रीहर्ष ने एक यज्ञ किया, जिससे हम मिश्र कहे जाने लगे।" ये लोग श्रीहर्ष का किसी राजा द्वारा सम्मानित होना भी बतलाते है।[5]

---

1. नैषधीचरित-ए0एन.जानी पृ० 108-109
2. संस्कृत काव्य के पंचप्राण-डॉ० वात्वे, पृ० 231
3. Sementic and Oriental studies, Vol. XI.
4. Was Sriharsa a Bangali ओरियन्टल कान्फ्रेस 1926, Vol. IV, 48N. Series.
5. नैषधपरिशीलन - पृ० 19

2. अन्तःसाक्ष्य के आधार के रूप में डॉ० शुक्ल जी ने श्रीहर्ष द्वारा किये गये मध्यदेश के वर्णन को लिया है। विवाहानन्तर नलदमयन्ती के प्रेमालाप स्थिति का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कीरमुखेन कहलवाते हैं कि "हे नल! दमयंती को अंक में धारण करते हुए आप अब समुद्र के समान शोभायमान हों, जो पृथ्वी को अपने मध्य में धारण करता है। दमयंती के नौक्तिक हार नदी की कांति हरने वाले हैं। मध्य में अति कृश' होने के कारण यह वेदिका की समानता करती है। उसके शरीर का मध्य भाग लोगों के चित्त को आनन्ददायक है। आप उसके मुखचन्द्र को देखकर हर्ष प्राप्त करते हैं। पृथ्वी कांति से मनोहर नदी रूप हार धारण करती है, गंगा यमुना के बीच मध्यदेश लोगों को आनन्ददायक है।"[1] डॉ० शुक्लजी का कहना है कि नलदमयंती के लिए जिस उपमान की कल्पना की गयी है, वह एक प्रकार से असम्भव तथा अज्ञात वस्तु है। कहाँ सागर और कहाँ मध्यदेश? इतनी कठिन दूरी की उपेक्षा कर कवि ने मध्यदेश को भूमि का सागर की गोद में बैठाकर एक उपमान खड़ा किया है। जब सागर एवं नदी के संयोग से भी काम चल सकता था, तब मध्यदेश को बीच में लाने की क्या आवश्यकता थी? इसका केवल एक ही समाधान है कि वह प्रान्त कवि का अपना जन्म प्रान्त था, "जनमनःप्रियः" विशेषण इस भाव को और भी पुष्ट करता है।[2] अतः श्रीहर्ष कन्नौज के रहने वाले थे।

3. डॉ० चण्डिका प्रसाद जी का यह भी कहना है कि चूंकि श्रीहर्ष ने उस प्रान्त की राजधानी 'महोदय' (कन्नौज) नगरी का भी नामोल्लेख किया है,[3] अतः श्रीहर्ष कन्नौज प्रान्तवासी ही थे। तोता (कीर) दमयन्ती की प्रशंसात्क शैली में स्तुति करते हुए कहता है "दमयंती! आप कामदेव की राजधानी हैं, और आपके वक्षस्थल पर खिंचे बेलबूटे राजधानी की मत्स्य सहित ध्वजा का काम देते हैं। हे तरूणी! आपकी भौंहों को इस राजधानी का तोरण कौन नहीं करता, क्योंकि वे कामदेव के उत्सव के साथी हैं।' डॉ० शुक्ल का कहना है कि ऐसा (कन्नौज) विवरण देना, प्रेमालाप प्रसंग से सर्वथा भिन्न था, परन्तु चूँकि श्रीहर्ष स्वदेश स्मरण उस समय भी नहीं भूले थे, इसलिए उन्होंने उस समय कन्नौज प्रान्त को याद किया, अतः निश्चित ही श्रीहर्ष कन्नौज प्रान्त के निवासी थे।

नैषधपरिशीलनकार के मत का खण्डन

1. डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल जी ने जो बाह्य साक्ष्य को आधार मानकर फर्रूखाबाद जिले में कन्नौज के पास मीरासराय का कस्बा माना है, उसके लिए उन्होंने कोई भी तर्क नहीं दिया और न यह ही बताया कि वे बाह्य साक्ष्य कौन हैं? अतः यह केवल ऐसी किंवदन्ती[4] मात्र है, जिसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता। अतः इस आधार पर श्रीहर्ष को कन्नौज प्रान्त का निवासी नहीं माना जा सकता।

2. अन्तःसाक्ष्य के आधार पर डॉ० शुक्ल ने मध्यदेश में जिस कन्नौज प्रान्त को स्थित माना, वह तो सत्य है, कि कन्नौज मध्यदेश के अन्तर्गत आता है क्योंकि मनुस्मृति में वर्णन आया है कि "हिमालय एवं विन्ध्याचल पर्वत के मध्य, कुरुक्षेत्र से पूर्व एवं प्रयाग से पश्चिम स्थित देश मध्यदेश

---

1. एतां धरामिव सरिच्छविहारिहारा मुल्लासितस्तवमिदमाननचन्द्रभासा ।
   बिभ्रद्विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रियं जनमनः प्रियमध्यदेशाम् ।। नै० 21/133
2. नैषधपरिशीलन, पृ० 18
3. चेतोभवस्य भवती कुचपत्रराज, धानीयकेतुमकरा ननु राजधानी।
   अस्यां महोदयमहः रगृशि मीनकेतोः के तोरणं तरूणि! न ब्रुवते भ्रुवौ ते।। नै० 21/135
4. डॉ० शुक्ल से शोधकर्ता ने वार्तालाप किया, तो मालुम हुआ कि चूंकि उनके गुरू आचार्य रघुवरमिट्ठूलाल शास्त्री ने उन्हें श्रीहर्ष से सम्बन्धित कथा सुनायी थी, जिसके आधार पर श्रीहर्ष त्रिपाठी से मिश्र हो गये, एवं वह मीरासराय के ही थे, परन्तु न तो नैषधपरिशीलनकार फर्रूखाबाद कभी इस तथ्य की प्रामाणिकता हेतु या अन्य बहाने गये, और न ही उन्होंने अपने कथन की सिद्धि में तर्क जुटाने की आवश्यकता समझी, केवल गुरूवाणी को ही चरम प्रमाण माना यह बात कितनी तर्क पुष्ट है, इसमें सुधीजन ही प्रमाण हैं।

कहा गया है।[1] स्मरणीय है कि मध्यदेश के अन्तर्गत आज उत्तर प्रदेश का अधिकांश भाग एवं मध्य प्रदेश तथा हरियाणा के भाग शामिल हैं, जिनमें हरिद्वार, प्रयाग एवं उज्जैन मुख्य स्थान तत्कालीन समय में भी थे, एवं आज भी हैं, तो फिर शुक्लजी ने कन्नौज को ही श्रीहर्ष का गृहप्रान्त क्यों माना? इसके लिए भी उन्होंने कोई तर्क समुपस्थित नहीं किया।

यहाँ पर मध्यप्रदेश की विस्तृत व्याख्या करना अनिवार्य ही नहीं अपरिहार्य भी हैं क्योंकि डॉ० शुक्लजी ने मध्यप्रदेश की स्थिति का वर्णन संकुचित रूप में कर संदेह की स्थिति पैदा कर दी है। मध्यप्रदेश का शाब्दिक अर्थ मध्यवर्ती स्थिति वाले देश से है। एक भौगोलिक इकाई के रूप में मध्यप्रदेश की अवधारणा उत्तरवैदिककालीन है। अथर्ववेद एवं ब्राह्मण ग्रंथों में दिशाओं के आधार पर देशों के वर्गीकरण एवं उनके नामकरण का उल्लेख मिलता है। इनमें चार दिशाओं के आधार पर चार देश एवं मध्यवर्ती क्षेत्र को 'मध्यदेश' नाम दिया गया।[2] शतपथ ब्राह्मण में प्राच्य (पूर्वी) एवं उदीच्य (उत्तरी) देशों का वर्णन मिलता है।[3] एवं ऐतरेय ब्राह्मण में मध्यदेश का वर्णन पंचस्थल विभागों में एक है यथा प्राच्य देश, दक्षिण देश, प्रतीची (पश्चिमी) देश, उदीची (उत्तरी) देश, ध्रुवा मध्यमादिक् (मध्यदेश)।[4] इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में 'मध्यमादिक् प्रतिष्ठा' को मध्यदेश कहा गया है। इसके अन्तर्गत कुरु, पांचाल, वश, एवं उशीनर देश आते हैं ऐतरेय ब्राह्मण में कुरु पांचालराजा का वर्णन भी प्राप्त मिलता है।[5] मध्यदेश पूर्व में कोशल एवं विदेह से लेकर पश्चिम में राजस्थान के मारवाड़ के मध्यवर्ती भागों तक विस्तृत था।[6] परन्तु मध्यदेश की स्थिति की अवधारणा विभिन्न कालों परम्पराओं एवं सम्प्रदायों के मतानुसार भिन्न-भिन्न रूप में की गयी है। पौराणिक मान्यतानुसार पृथ्वी सात द्वीपों में विभक्त थी जिसमें जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष की परिगणना की गयी है अर्थात् जम्बू द्वीप में नववर्ष थे, जिसमें एक भारतवर्ष है। भारतवर्ष के भी नव भेद, खण्ड या द्वीप बताये गये हैं जिनमें मध्यदेश भी सम्मिलित है। बौद्धों के त्रिपिटक एवं उनकी अठकथाओं में भारत देश के लिए जम्बूदीप (जम्बद्वीप) का प्रयोग किया गया है तथा जम्बूद्वीप के प्रादेशिक विभागों में मज्झिम मण्डल या मध्यदेश भी एक है।[7] परन्तु ध्यातव्य है कि पुराणों में वर्णित जम्बूद्वीप बौद्धगंथों में वर्णित जम्बदीप से अधिक विस्तृत है, साथ ही यह तथ्य भी अवधेय है कि बौद्धग्रंथों में वर्णित मज्झिमदेश (मध्यदेश) पुराणों में उल्लिखित मध्यदेश से ज्यादा विस्तृत है।[8] पालि भाषा में रचित त्रिपिटक में मज्झिम देश (मध्यदेश) को जम्बूद्वीप का सर्वश्रेष्ठ प्रदेश बाताया गया है। विनयपिटक के महावग्ग में मध्यदेश की सीमाओं का स्पष्ट उल्लेख है।[9] मध्यदेश ही भगवान बुद्ध का कार्य क्षेत्र था। उन्होंने पश्चिम में मथुरा और कुरु जनपद के थल्लकेट्ठित नगर, पूर्व में कजंगला नगर के मुखेलुवन, और पूर्व दक्षिण की सलिलवती नदी, दक्षिण में सुंसमारगिरि तक, उत्तर में उशीरध्वज (हरिद्वार में पास कनखल की पहाड़ियाँ), तथा कोलिय राज्य में स्थित सायुग निगम तक भ्रमण करते हुए उपदेश दिया। पाली परम्परा के अनुसार यही क्षेत्र मध्यदेश माना गया। बौधायन धर्मसूत्र[10] में आर्यावर्त एवं मध्यदेश को एक ही बताया गया है, एवं राजशेखर नें काव्यमीमांसा में आर्यावर्त और मध्यदेश को अन्तर्वेदी कहा है।[11]

---

1. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राक्कनखलादपि यत्प्राग्विनशनादपि । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।। मनु0 2/2
2. अथर्ववेद 3/27, 4/40, 12/3, 19/17
3. श० ब्रा० 1/7/3/8 11/4/1/1
4. ऐतरेब्राह्मण 8/14/3
5. ऐ० ब्रा० - 3/8/3
6. कास्मोग्राफी एंड ज्योग्राफी इन अर्ली इण्डियन लिटरेचर - डी. सी. सरकार , पृ० 15, 16
7. बुद्धकालीन भूगोल - डॉ० भरत सिंह उपाध्याय पृ० 70 - 71
8. वही पृ० - 79 (मध्यदेश की पूर्वी सीमा का विस्तार)
9. विनयपिटक (हिन्दी अनुवाद) पृ० 213
10. बौधायन धर्मसूत्र 1/1/2/9
11. विनयशन प्रयागयोः गङ्गायमुनयोश्च अन्तरम् अन्तर्वेदी। - काव्यमीमांसा, अध्याय - 17

महर्षि पाणिनि ने देश के दो विभागों, उदीच्य एवं प्राच्य का ही उल्लेख किया। इनके ही मध्य भरत जनपद स्थित था, जिसे प्राच्य भारत कहा जाता है। पाणिनि के अनुसार गांधार (कंधार वर्तमान में अफगानिस्तान में स्थित) से मगध तक एक ही शिष्ट भाषा का क्षेत्र था, जिसमें प्राच्य और उदीच्य दो स्वाभाविक भाग थे। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में उदीच्य, प्राच्य और आर्यावर्त का उल्लेख किया हैं पतञ्जलि का आर्यावर्त ही मध्यदेश था क्योंकि वह आर्यावर्त को शिष्टों का देश कहता है, जो हिमालय के दक्षिण, आदर्श के पूर्व और कालकवन के पश्चिम में स्थित था। इसकी दाक्षिणी सीमा पारियात्र थी। आदर्श की पहचान अदर्शन या विनशन से की गयी है, जहाँ पर सरस्वती नदी (पटियाला में) लुप्त हो गयी थी। पारियात्र विन्ध्यमेखला का पश्चिमी भाग है।[1] कालकवन बौद्ध साहित्य का कालकाराम है, जो साकेत के पड़ोस में स्थित था। महाभारत की जनपद तालिका यद्यपि मध्यदेश से प्रारम्भ होती है (यथा-अंग, मगध, काशी, कोशल आदि) परन्तु इसमें मध्यदेश का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता, परन्तु बाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में यज्ञियदेश (मध्यदेश या धर्मदेश) की प्रशंसा मिलती है। अयोध्या से केकय देश की राजधानी राजगृह (गिरिव्रज) तक भारत की यात्रा में हमें मध्यदेश और उत्तरापथ का दिग्दर्शन होता है।[2] रामायण के उत्तराकाण्ड में वर्णन मिलता है कि बाल्लि (बाह्लीक) देश के राजा (बाह्लीश्वर) इल ने मध्यदेश में अश्वमेध यज्ञ करने के बाद प्रतिष्ठान नगर (इलाहाबाद के पास झूँसी) को बसाया था।[3] मनुस्मृति में धर्म और आचार के आधार पर किये गये भारत के कुछ खण्डों का वर्णन मिलता है यथा - ब्रह्मावर्त ब्राह्मर्षि देश, मध्यदेश आर्यावर्त और यज्ञिय देश आर्यावर्त ही यज्ञिय देश था, अन्य क्षेत्रों को म्लेच्छ कहा गया है।[4] पुराणों में; वायुपुराण के अनुसार देश के दक्षिण (अंत) में म्लेच्छ, पूर्व में किरात, पश्चिम में यवन एवं मध्य में वर्णचतुष्ट्य के लोग रहते थे। भविष्यपुराण में ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त और यज्ञियदेश तथा उसके बाहर म्लेच्छ देश के होने का वर्णन मिलता है।[5] विष्णुपुराण में "कुरुपाञ्चाला, मध्यदेशादयो जनाः"[6] उल्लिखित मिलता है। गरुण पुराण में मध्यदेश को धर्मदेश कहा गया है।[7] स्कन्दपुराण में "गङ्गायमुनयोर्मध्ये मध्यदेशः" कहा गया है।[8] साथ ही इसे क्षेत्र को अन्तर्वेदी नाम भी दिया गया है।[9] अर्थात् स्कन्दपुराण के अनुसार मध्यदेश एवं अन्तर्वेदी एक ही था। मनुस्मृति सदृश भविष्यपुराण भी मध्यदेश को हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य, विनशन के पूर्व तथा प्रयाग के पश्चिम स्थित भूखण्ड को मानता है।[10] हरिवंश पुराण,[11] वायुपुराण,[12] वामनपुराण[13] विष्णुधर्मोत्तर पुराण,[14] गरुणपुराण[15] एवं राजशेखर के

---

1. प्राचीन भारतीय भूगोल - अवध बिहारी लाल अवस्थी, पृ० 57 - 57
2. रामायण अयोध्याकाण्ड , अध्याय - 68
3. रामायण - उत्तराकाण्ड - 90/21, 22
4. मनुस्मृति 2/17 24
5. भविष्यपुराण, ब्रह्मपर्व 181/33-34
6. विष्णु पुराण 2/3/15
7. गरुण पुराण 2/2/9
8. स्कन्दपुराण 1/2/2/85
9. स्कन्दपुराण 1/1/17/274
10. भविष्य पुराण ब्रह्मपर्व 181/41
11. हरिवंशपुराण, हरिवंश पर्व 10/21, विष्णुपर्व 52/4, 57/2,3,4
12. वायुपुराण 45/111
13. वामनपुराण 13/35,36
14. विष्णुधर्मोत्तर पुराण 1/9/2
15. गरुण पुराण 5/5/10

काव्यमीमांसा में[1] मध्यदेश का वर्णन मिलता है। वृहन्नारदीय पुरण में कूर्म के नाभिमण्डल को मध्यदेश माना गया है एवं इसमें अन्तर्वेदि और पांचाल क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया है। यथा-

प्राङ्मुखस्य तु कूर्मस्य नवांगेषु धरामिमाम् ।।
विभज्य नवधा खण्डे मंडलानि प्रदक्षिणम् ।
अन्तर्वेदाश्च पांचालस्तस्येदं नाभिमण्डलम् ।।
प्राच्यामागधलाटोत्था देशास्तन्मुखमंडलम् ।
स्त्रीकलिङ्गकिराताख्या देशास्तत्पार्श्वमण्डलम् ।।
अवंती द्रविडा भिल्ला देशास्तत्पार्श्वमण्डलम् ।
गौडकौंकणशाल्वांध्र पौंड्रस्तत्पाद मण्डलम् ।।
कुरूकाश्मीरमाद्रेय मत्स्यास्तत्पार्श्वमण्डलम् ।
खसांगवंगवाह्लीकं कांबोजाः पाणिमंडलम् ।।[2]

वराहमिहिर की वृहत्संहिता में भी मध्यदेश का वर्णन मिलता है।[3] भुवनकोशों में भी सांस्कृतिक भूखण्ड के अर्न्तगत मध्यदेश की गणना की गयी है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में मध्यदेश के लिए आर्यावर्त तथा अन्तर्वेदी शब्दों का प्रयोग न करके मज्झिम देश शब्द का प्रयोग किया है।[4] इन्होंने भारत को फाइव इंडीज (Five Indies) भारत की पंचस्थल विभाग परम्परा को मानते हुए नाम दिया है ये हैं, 'मध्य', 'पूर्व', 'दक्षिण', 'पश्चिम' और उत्तर ।[5] इसमें सम्पूर्ण गंगा नदी घाटी जिसमें थानेश्वर से लेकर डेल्टा के शीर्ष भाग तक, एवं हिमालय से लेकर नर्मदा तक का क्षेत्र सम्मिलित था।[6] इसे वह महत्वपूर्ण एवं पवित्र धर्मदेश कहता है, साथ ही सातवीं शताब्दी में 70 राज्यों में कम से कम 37 (सैंतीस) राज्य मध्यदेश में सम्मिलित थे। स्पष्ट है कि ह्वेनसांग के मध्यदेश की सीमा (मनुस्मृति के मध्यदेश की सीमा की तुलना में) पाली के मज्झिमदेश की सीमाओं से अधिक मेल खाती है। राजशेखर (10वी शताब्दी) में काव्यमीमांसा में पंचस्थल विभाग वाले प्रदेशों यथा पूर्वदेश, दक्षिणापथ, पश्चाद्देश, उत्तरापथ और अन्तर्वेदी का विवरण दिया है। राजशेखर ने मध्यदेश को अन्तर्वेदी के रूप में विभाजित किया[7] जो मनुस्मृत के मध्यदेश से तुलनीय है। दि ज्याग्राफी आफ द पुराणाज में एस०एम० अली ने ऊपरी गंगा वेसिन के प्राचीन नाम को मध्यदेश कहा है, जिसमें आगरा एवं अवध के प्रान्त सम्मिलित थे।

उपर्युक्त तथ्यों के अनुशीलन से पता चलता है कि मध्यदेश की सीमायें विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रूप में मिलती हैं। उत्तर वैदिक काल में मध्यदेश की सीमाओं में कुरु, पांचाल, वश और उशीनर सम्मिलित थे, जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। कुरु प्रदेश वर्तमान उत्तर प्रदेश में मेरठ, दिल्ली एवं अम्बाला तक विस्तृत था, जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पांचाल प्रदेश के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद एवं पड़ोसी जिले सम्मिलित थे, इसकी राजधानी अहिच्छत्र (बरेली) तथा कांपिल्ल (फर्रुखाबाद) में थी। वश, कुरु, पांचाल और उशीनर ही आगे चलकर वत्स

---

1. काव्यमीमांसा- राजशेखर- 94/15, एवं पृ० 93
2. वृहन्नारदीय पुराण पूर्वखण्ड 56/739-745
3. वृहत्संहिता अध्याय 14 कर्मविभाग
4. आन युवान च्वांग ट्रेवेल्स इन इंडिया टी वाटर्स जिल्द एक पृ० 132,156,342
5. एंशियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया- ए कनिंधम पृ०10
6. एंशियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया- ए कनिंधम पृ० 275-76
7. राजशेखर के काव्यमीमांसा में अन्तर्वेदी (मध्यदेश) की सीमाएं इस प्रकार हैं-- तत्र वाराणस्याः परतः पूर्वदेशः, महिष्मत्याः परतः दक्षिणापथः देवसभायाः परतः पश्चाद्देशः पृथूदकात् परतः उत्तरापथः, विनशन प्रयागयोश्च गंगायमुनयोश्च अन्तरम् अन्तर्वेदी - काव्यमीमांसा -अध्याय 17 पृ० 93

कहलाया, जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी। उशीनर, सतलज के पश्चिम और पूर्व यमुना तक विस्तृत था। इन्हीं जनपदों के मध्य कोशीन, श्रृंजय, मत्स्य (अलवर, भरतपुर, जयपुर) शाल्व (अल्वर) भी थे। काशी भी मध्य प्रदेश का एक भाग था किन्तु इसका अधिकांश लगाव प्राच्य के साथ था। प्रारम्भिक सूत्रों के काल में आर्यदेश का जो वर्णन है, वस्तुतः वह उत्तर कालीन मध्यदेश ही है। बौधायन धर्मसूत्र[1] में भी अदर्शन के पूर्व कालकवन के पश्चिम (इलाहाबाद के समीप), हिमालय के दक्षिण तथा पारियात्र (अरावली श्रेणी के साथ पश्चिमी बिन्ध्य) के उत्तर तक मध्यदेश विस्तृत माना गया। इस प्रकार न केवल वर्तमान बंगाल अपितु बिहार भी इसकी पूर्वी सीमा के बाहर था। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि बौधायन धर्मसूत्र का आर्यावर्त ही बाद में मध्यदेश के रूप में प्रथित हुआ। इस प्रकार राजशेखर के विवरणानुसार भी मध्यदेश या अन्तर्वेदी की पूर्वी सीमा वाराणसी एवं मनुस्मृति के अनुसार प्रयाग, निर्धारित की गयी जबकि पाली परम्परा में उसकी सीमा कजंगल नामक निगम तक निश्चित की गयी है।[2] कजंगल की पहचान राजमहल से अठारह मील दूर दक्षिण में बिहार प्रान्त के सन्थाल परगना के वर्तमान कंकजोल नामक स्थान से की गई है।[3] दक्षिण पूर्व सीमा पर सलिलवती की पहचान वर्तमान हजारीबाग और मेदिनीपुर जिलों से बहने वाली सिलई नदी से की गयी है। सेतकण्णिक दक्षिणीसीमा पर विन्ध्यश्रेणी के पार स्थित था। पश्चिम में थूण नामक ब्राह्मण ग्राम से तात्पर्य स्थानेश्वर (थानेश्वर, अम्बाला) से है। उत्तरी सीमा पर स्थित उशीरध्वज की पहचान हरिद्वार के समीप कनखल के उत्तर में उशीरगिरि नामक पर्वत से की गयी है।[4] इस प्रकार पालित्रिपिटक में वर्णित मध्यदेश उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक, पूर्व में अंग जनपद से लेकर पश्चिम में कुरुराष्ट्र तक स्थित था। इसका विस्तार लम्बाई में तीन सौ योजन, चौड़ाई में ढ़ाई सौ योजन और घेरे में नौ सौ योजन था।[5] दिव्यावदान में तो इसकी पूर्व समीमा बंगाल के पुण्डवर्धन तक बताई गयी है, जब कि पौराणिक विवरणों में मध्यदेश की स्थिति निम्न रूप में थी -

तास्विमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वाश्चैव स जाङ्गलाः ।
शूरसेना भद्रकारा बोधाः सह पटच्चराः ॥
मत्स्याः किराताः कुल्याश्च कुन्तयः काशि कोशलाः ।
आवन्त्याः भुलिङ्गाश्च मागधाश्चान्धकैः सह ॥
मध्यदेशा जनपदाः प्रायेशोऽमी प्रकीर्तिताः ॥[6]

स्पष्ट है कि पौराणिक मान्यतानुसार भी मध्यदेश में पूर्व में प्रयाग एवं काशी, पश्चिम में सरस्वती (कुरुक्षेत्र), उत्तर में कनखल तथा दक्षिण में माहिष्मती, (नर्मदातट) तक का क्षेत्र आता है। परन्तु मनुस्मृति एवं बौद्ध ग्रथों में मध्यदेश से सम्बन्धित तथ्यों में अन्तर मिलना जैसा तथ्य विचारणीय है। संभव है हिन्दू एवं बौद्ध धर्मों का परस्पर विरोध इसका कारण हो। बौद्धों ने महात्माबुद्ध के कर्मक्षेत्र को सम्मिलित किया

---

1. द ज्योग्राफी आफ द पुराणाज़ – एस. एम. अली, पृ० 133.
2. माज्झिमदेसो नाम पुरत्थिमदिसाय कजंगलं नाम निगमों, तस्स अपरेन महासाला ततो परंपच्चन्तिमां जनपदा औरतो मज्झे, पुबदाबखेणाय दिसाय सलिलवती नाम नदी, ततो परं पच्चन्तिमां जनपदा औरतो मज्झे, दक्खिणाय दिसाय सेतकण्णिक नाम निगमों, ततो परं पच्चन्तिमां जनपदा औरतो मज्झे, पच्छिमायदिसाय थूनं नाम ब्राह्मणगामी, ततो परं पच्चन्तिमां जनपदा औरतो मज्झे, उत्तराय दिसाय उसीरद्धजो नाम पब्बतो, ततो परं पच्चन्तिमां जनपदो औरतोमज्झेति।
   - जातकट्ठकथा पठमो भागा, पृ० 38, 39, 64 (भारतीय ज्ञानपीठ काशी) (भरतसिंह उपाध्याय पूर्वोद्धृत, पृ० 73)
3. ऐंशियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया-ए. कनिंघम, पृ० 548-49
4. बुद्धकालीन भूगोल - भरतसिंह उपाध्याय. पृ० 548-49
5. सो आयामतो तीणि योजनसतानि वित्थारतो अड्ढतिययोजनानि परिक्खेपतो नवयोजन सतानीति" - जातक कट्टकथा, पठमो भागो, पृ० 39, एवं 64
6. ज्याग्राफी आफ ऐंशियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया–डी.सी. सरकार (1971), पृ० 30 से उद्धृत ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि ज्याग्राफिकल डाटा इन द अर्ली पुराणाज - एम. आर. सिंह (1972) पृ० 56.. 116

हो, अन्तर्वेदि (मध्यदेश) में पौराणिक मान्यता में प्रयाग के पूर्व का क्षेत्र अनार्य क्षेत्र माना गया, तथा शुद्धि के बाद ही निवास योग्य बना, इसलिए मध्यदेश की पूर्वी सीमा में संकुचन किया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है कि शतपथ ब्राह्मण में वर्णित शतानीक और सात्राजित की कथा का प्रभाव पुराणों पर पड़ा हो, परिणामतः अत्यन्तपवित्र क्षेत्र ही मध्यदेश की सीमा में रखे गये हों, जो भी हो, काशी तो मध्यदेश की पूर्वी सीमा में तो आता ही है, हाँ मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से इस स्थान को रखने की बात नहीं की गयी। केवल मनुस्मृति को आधार मानकर एवं अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों एवं ग्रंथों में प्रतिपाद्य सामग्री को नकारना वास्तविकता से दूर भागना होगा, या लकीर का फकीर बनना मात्र होगा, अतएव काशी को मध्यदेशान्तर्गत मानना सर्वथा तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त है।

श्रीनारायण ने मध्यदेश की व्याख्या करते हुए लिखा "तथा जनमनसां प्रियो मध्यदेशो विन्ध्यहिंमाचलान्तरभूभागरूप, आर्यावर्तापरपर्यायः पुण्यभूतो मध्यदेशों यस्यास्ताम्[1] "एवं मल्लिनाथ ने मध्यदेश की व्याख्या करते हुए कहा "तथा जनमनसां लोकचेतसां, प्रियः प्रीतिजनकः मध्यदेशो नितम्बभागो यस्याः ताम्" पक्षे जनमनसां लोकचित्तानाम् प्रियः हर्षजनकः मध्यदेशः।[2] कीर कहता है कि हे राजन् (नल) नदी की शोभा को चुराने वाले (तद्वत सुन्दर) हार वाली, वेदिमध्य के समान शोभा वाली अर्थात् पतली कटि वाली तथा लोगों के मन को प्रिय कटिभागवाली इस (दमयंती) को अंङ्क में धारण करते हुए और इस (दमयंती) के मुखचन्द्र की कांति से हर्षित तुम, शोभा से मनोहर नदी रूप हार वाली, गंगा-यमुना के मध्यभाग स्थित (अन्तर्वेदि नाम की) भूमि से शोभित तथा जनमन के प्रिय मध्यदेश (हिमालय विन्ध्याचल का मध्यभाग-आर्यावर्त) वाली 'पृथ्वी' को अंङ्क (बीच) में धारण करते हुए तथा चन्द्रकान्ति से वर्द्धमान समुद्र के समान सुशोभित हो रहे हो।"[3] स्पष्ट है कि उपमान उपमेय बल से यहाँ मध्यदेश से तात्पर्य दमयन्ती एवं पृथ्वी दोनों से है। इस प्रसंग में मध्यदेश की ध्वनि तो निकल रही है किन्तु मध्यदेश तो बड़ा विशाल देश खण्ड था, तो उसमें शुक्लजी ने केवल कन्नौज को ही क्यों माना, उज्जैन, काशी, प्रयागादि अन्य स्थलों को भी तो ले सकते थे। नैषधपरिशीलनकार ने कन्नौज विशेष को ही मध्यदेश में मानने के अपने तर्क में कोई प्रमाण न दे कर अपने तर्क को निराधार ही छोड़ दिया। अगर हम मध्यदेश के अन्तर्गत आने वाले देशों की परिगणना करें, तो उसमें काशी के साथ - साथ निषध देश (मालवा प्रान्त का उत्तरी छोर) भी आता है।[4] ध्यातव्य है कि तत्क्षण श्रीहर्ष निषध सम्राट एवं निषध देश का ही वर्णन (तोता के मुख से) कर रहे हैं, न कि अन्य स्थान का यदि विवेचन क्रम में गंगा एवं यमुना नदियों के हार पहनने वाले देश की

---

1. नैषधीयचरित - नारायणी टीका, P. 931
2. जीवातु टीका-''हरिदास संस्कृत ग्रंथ माला-205, II भाग, हरगोविन्द शास्त्री, पृ० 1465
3. एतां धरामिव सरिच्छविहारिहारामुल्लासितस्त्वमिदमाननचन्द्रभासा ।
   विभ्रद्विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रियं जनमनः प्रियमध्यदेशाम् ॥ नै० 21/133
4. This country to which Panini refers in this Artadhyayi as Naisadha (4.1.172) seems to have been situated not very for from Vidarbha. The Country of Nala's queen Damayanti. Wilsan thinks that it was near the Vindhyas and Payasni river and that it was near the roads leading from it a cross. The RKSa mountain to Avanti and the south as well as to Vidarbha and Kosala. Lassen places it along the Satpura hills to the north-west Berar. Burgess also places it to the south of Malwa [Antiquities of Kathiawar and Kacch. P.731]. The Mahabharata mentions Giriprastha as the Capital of the Nisadhas (III/324/12). The Visnupurana (IV Ch.24/17) refers to the nine Kings of Nisadhas, while the Vayu purana mentions the kings of the Nisadha Country who held sway till the end of the days of Manu. They were all the decendants of king Nala and they lived in the Nishadha country. (B) Nala, the king of the Nisadhas, was a skillful charioteer and knew much about the nature of horses, Naisadhiyacharita-Sarga. 5, 60.— Historical Geography of Ancient India by Bimal Churn Law, Peris. 1954, P.325.
   - विष्णुपुराण— Vol. II, Page. 156-90.
   - वायुपुराण — Ch. 990, 376

बात की जाये, तो प्रयाग से उत्तम भला और कौन देश उचित हो सकता है[1]! अतः इस तर्क के आधार पर श्रीहर्ष को कन्नौजवासी मानना निराधार कथन माना होगा। जब कि पूर्व में वर्णित तथ्यों से निषध एवं काशी भी मध्यदेश में आता है।

श्रीहर्ष को कन्नौजप्रान्त वासी बताने वाले डॉ० शुक्ल जी का अंतिम तर्क है कि चूंकि श्रीहर्ष ने कन्नौज (महोदय) का विवरण दिया है, यह उनके हार्दिक सम्बन्ध को प्रतिध्वनित करता है, अतः वह कन्नौज के निवासी थे। श्रीहर्ष कीरमुखेन वर्णन करते हुए कहते है कि "(हे दमयन्ती!) स्तनद्वय पर (कस्तूर्यादि रचित) पत्ररचनारूप राजधानी-सम्बन्धिनी पताकावाली तुम मानो कामदेव की राजधानी हो, तथा हे तरुणि! महान् उदय वाले उत्सवों से युक्त (त्वद्रूप) इस व्यक्ति भला राजधानी में तुम्हारे भ्रूद्वय को कौन तोरण नहीं कहते हैं ? अर्थात् सभी कहते हैं। (जिस प्रकार राजा अपने विशिष्ट चिन्हयुक्त पताकावाली राजधानी में निवास करता है और उसमें (पल्लवादि रचित) नील तोरण रहता है, उसी प्रकार स्तन में कस्तूरी आदि से बनाये गये मकर पत्ररूपिणिषीपताका से युक्त राजधानीरूपिणी तुम में नृपरूप कामदेव निवास करता है, एवं तुम्हारे नीलवर्ण भ्रूद्वय तोरणतुल्य हो रहे हैं। तुम में ही कामदेव सर्वोत्कर्ष से सदा निवास करता है।[2] उपर्युक्त श्लोक में आये "महोदय" शब्द का अर्थ, विश्वकोश के अनुसार"महोदयः कान्यकुब्जेऽप्याधिपत्यापवर्गयोः इति विश्वः, "एवं अमरकोश के अनुसार "महस्तुत्सवतेजसोः इत्यमरः" होता है। यहाँ महोदय शब्द का ध्वन्यमान अर्थ श्लेषबल के प्रयोग से कन्नौज तो अवश्यमेव ग्रहणीय है, परन्तु महोदय (कन्नौज) का विवरण देने का मात्र से शुक्लजी ने श्रीहर्ष को कन्नौजवासी मान लिया यह तथ्य चिन्त्य प्रतीत होता है, क्योंकि श्रीहर्ष ने तो अन्य अनेक देशों पुष्कर, शाक, क्रौंच, कुश, शाल्मल, प्लक्ष द्वीप, अवन्ती, गौड़, काशी, मथुरा, अयोध्या, पाण्ड्य, नेपाल, मिथिला, कामरूप, उत्कल एवं मगध आदि का भी वर्णन किया है, फिर कन्नौज तो राजधानी के साथ-साथ राज्यक्षेत्र विशेष का भी सूचक है।[3] परन्तु शुक्लजी ने इस विषय पर अपनी दृष्टि ही नहीं डाली एवं वह यह बता पाने में भी अक्षम ही रहे कि उन्होंने श्रीहर्ष को कन्नौज बासी ही क्यों माना? स्मरणीय है कि उनका विवरण केवल काव्यात्मक चमत्कान ही कहा जा सकता है, एवं इसके माध्यम से ही श्रीहर्ष को कन्नौजवासी मानना, एवं ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करना है जो तर्कसंगत नहीं लगता।

उपरोक्त सभी तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नैषधकार श्रीहर्ष का जन्मस्थान कश्मीर, गौडदेश (बंगाल) एवं कन्नौज कोई भी नहीं है, तब यह प्रश्न स्वभावतः व्याकुल करने लगता है कि आखिर श्रीहर्ष की जन्मस्थली एवं कर्मस्थली कौन थी? चूंकि श्रीहर्ष ने इस बारे में कोई भी वर्णन नहीं

---

1. यदि आर्यावर्त में स्थित नदियों के हार पहने देश की बात की जाये, तो काशी नगरी वरूणा असी एवं गंगा नदियों का हार धारण किये हुए है एवं मध्यदेश में निषध देश विषेष रूप से उज्जैन) नर्मदा, बनास, चम्बल, बेतवा नदियों का हार पहने प्रतीत होता है। साथ ही मनुस्मृति में आये वर्णन के अनुसार निषधदेश भी (मालवाप्रान्त का दिक्षिणी भाग) के अन्तर्गत ही आता है।— The Oxford School Atlas, 25th Adition, P-14.
2. चेतोभवस्य भवती कुचपत्रराज-धानीयकेतुमकरा भनु राजधानी ।
   अस्यां महोदयमहस्पृशि मीनकेतोः के तोरणं तरुणि न ब्रुवते भ्रुवौ ते ।। नै० 21।135
3. There are indications that the title of Kanykubja was not restricted to the city only, but also extended to the neighbouring territory, or even to the kingdom of which it was the centre. Youanchawang gives the name Ka-No-Ku. She, it, Kayakubja both to the Captial and the Country, which the descirbes as being 400 li in circuit **(A)** Similarly, the Barch copper plate shows tha at that period (836 A.D.) both the names Mahadaya and Kanyakubja were current, the former being used for the capital city and the latter for a bhukti or province of the kingdom. **(B)** of which Kalanjara-Mandala, formed a part.
   - History of Kanauj—Dr. Rana Shankar Tripathi
   - Motilal Banrsidass—1964, Page.6
   - Watters, I PP-340-41,
   - Ep. IInd. XIX (January, 1927) PP. 17,19.

किया, अतः उनके द्वारा रचित ग्रंथों एवं उनके समसामयिक तथा परवर्ती ग्रंथों, विद्वानों के विवरण को साक्ष्य मानकर ही उनके जन्मस्थानादि के बारे में किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है एवं उनके आधार पर श्रीहर्ष का जन्म एवं कर्म स्थाली ''काशी'' (वाराणसी) ही थी। इस मान्यता की सिद्धि के पुष्ट आधार अधोलिखित तर्क हैं-

1. राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्धकोश के अन्तर्गत 'श्रीहर्षकविप्रबन्ध' में यह तथ्य उद्घाटित किया है कि वाराणसी नगरी में गोविन्दचन्द्र राजा के राज्य में कई विद्वानों में श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर भी थे जो किसी विद्वान् से शास्त्रार्थ में पराजित हुए थे एवं अपने पुत्र श्रीहर्ष को, जो बाल्यावस्था में ही थे, यह कहकर प्राण त्यागे, कि यदि तुम मेरे सत्पुत्र होगे, तो मेरे अपमान का बदला अवश्य लोगे, एवं श्रीहर्ष ने उन्हें ऐसा करने का वचन दिया।"[1] यह श्रीहर्ष के बचपन से वाराणसी में रहने का प्रमाण है। साथ ही श्रीहर्ष ने अपने गुरू के द्वारा दीक्षित (गुरु कोई और नहीं उनकी माता मामल्लदेवी ही थी)[2] 'चिंतामणि मन्त्र'[3] का जाप गंगा नदी के किनारे किया, ध्यातव्य है कि वाराणसी में गंगा बिल्कुल समीप में तत्कालीन समय से आज भी प्रवाहित हो रहीं हैं, अतः निश्चित ही उन्होनें वाराणसी में ही गंगा नदी के किनारे चिन्तामणि मंत्र की सिद्धि प्राप्त की, यदि हम कन्नौज में उनके रहने एवं चिन्तामणि मंत्र की सिद्धि की बात मानें, तो स्मरणीय है कि कन्नौज से कई मील की दूरी में गंगा प्रवाहित थीं[4] एवं एक बालक का कई मील दूर जाकर मंत्र जाप करने की बात मनमस्तिष्क में कहीं नहीं उतरती एवं तर्कसंगत भी नहीं लगती, अतएव स्पष्ट है कि श्रीहर्ष की जन्म एवं कर्मस्थली काशी (वाराणसी) ही थी।

2. श्रीहर्ष ने स्वयं इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि उन्हें कान्यकुब्जेश्वर की राजसभा में ताम्बूलद्वय एवं आसन का सम्मान मिलता था।[5] वे कान्यकुब्जेश्वर कोई और नहीं गोविन्दचन्द्र, विजयचन्द्र एवं जयचन्द ही थे। 'सोमनाथपत्तनप्रशस्ति' एवं गहड़वाल ताम्रपत्रों से यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है।[6] कि 'कान्यकुब्ज' शब्द राज्य के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है न कि केवल क्षेत्र विशेष के लिए।[7] हस्तिकुण्डि शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि गहड़वाल राजा ने

---

1. पूर्वस्यां वाराणस्यां पुरि गोविन्दचन्द्रो राजा–तत्पुत्रो जयन्तचन्द्रः। .... तस्य राज्ञो बहवः विद्वांसः। तत्रैको हीरनामा विप्रः। तस्यनन्दनः प्राज्ञचक्रवर्ती श्रीहर्षः। सोऽद्यापि बालावस्था। साभायां-राजकीयेनैकेन पण्डितेन वादिना हीरो राजसमक्षं जित्वा मुद्रितवदनः कृतः। लज्जापङ्के मग्नः। बैरं बभार धारालम्। मृत्युकाले हर्ष स बभाषे-वत्स! अमुकेनपण्डितेनाहमाहत्य राजदृष्टौ जितः। तन्मे दुःखम्। यदि सपुत्रोऽसि तदां तं जयेः क्ष्मापसदसि। श्रीहर्षेणोक्तम्-ओमिति। हीरो द्यां गतः। श्रीहर्षस्तु-गंगातीरे सगुरुदत्तं चिन्तामणिमन्त्रं वर्षमप्रमत्तः साधपामास। प्रत्यक्षा त्रिपुराऽभूत्।। – प्रबन्धकोष पृ० 54
2. तस्य द्वादस एष मातृचरणाम्भोजालिमौलेर्महा। काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्जवलः।। नै० 12/133
3. अवामा यामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद्, द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवतियत् ।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं, निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिध्यतु सते ।। 14/85
4. The Petty town of Kanauj, laying in latitutde 27°5′ north and longitude 79°,55′ East in the Farrukhabad district of the United Provinces, is one of the few cities that have played a notiworthy part in the political life of Ancient India......The City staced on a cliff on the right Bank of the Ganges.......The rivers, however,, now flows at a distance of some miles to the east. – (Gazettur of Farrukhabad, P.217, Imperial Gazettur of India, XIV, P. 370)
5. ताम्बूलद्वयभासनं च लभते यः कान्यकुब्ेश्वरात्। नैषध प्रशस्ति-श्लोक-4
6. Somnathapattan prasasti of Bhava Brihaspati, dated 1169 A.D, mentions The Kanyakubja-visaya as including Banarasi i.e. Benaras.
   – In the Gahadavala plates the city itself is called the Kusika tirtha and the name Kayankubja is given to the kingdom.
   – Vienna oriental Journal, III PP-7, 13, Verses, 5.6—The History of Kanauj-R.S. Tripathi, P.7.
7. There are indications that the title of Kanyakubja was not restricted to the city only, but also extended to the neighbouring territory, or even to the kingdom of which it was the Centre.–The History of Kanuaj, R.S. Tripathi.-P-6.

कन्नौज से देशान्तर गमन किया था।[1] एवं बनारस को अपनी कार्यस्थली बनाया था, क्योंकि यह उनके राज्य के केन्द्र में था। ऐतिहासिक तथ्यों के विवरण से यह ज्ञात होता है कि गोविन्द चन्द्र ने मगध के कुछ भाग, दशार्ण प्रदेश (मालवा), विदिशा, चन्देल राज्य के कुछ भाग को जीता था, एवं कश्मीर आदि राज्यों से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किया था तथा विजयचन्द्र ने कटक, दिल्ली, पत्तनपुर (अन्हिलवाड़), तैलंग, कर्नाटक, एवं कोंकण आदि प्रदेशों को जीता था।[2] एवं जयचन्द ने युवराज पद प्राप्ति के बाद बनारस में गंगा स्नान के बाद भगवान कृष्ण की पूजा की थी।[3] यह बनारस में गहड़वाल सम्राटों के कर्मक्षेत्र एवं निवासस्थल का प्रमाण है। कामिल-उल तवारीख, इलियट के विवरण एवं मनु शिलालेख से भी कान्यकुब्जेश्वर काशीश्वर ही थे, इस तथ्य के प्रमाण मिलते हैं।[4] इलियट ने तो यहाँ तक लिखा कि जयचन्द्र का साम्राज्य हिमालय से लेकर गया तक फैला था एवं गहड़वाल सम्राट बनारस में ही रहते थे।[5] श्रीहर्ष उनके राजसभा में थे, अतः स्पष्ट है कि श्रीहर्ष का जन्म एवं कर्मस्थान बनारस ही था। राजशेखर ने भी अपने प्रबन्धकोशान्तर्गत श्रीहर्ष कवि प्रबन्ध में इस तथ्य का विवरण दिया है कि श्रीहर्ष जयन्तचन्द्र के राजकवि थे, एवं वाराणसी नगरी में रहते थे।[6]

---

1. The Hathaundi (Hastikundi) inscription, dated in the Vikrama year 1053=997 A.D.[A] testifies to the fact that Rastrakuta princes ruled over tracts of Marwar long before the supposed migration of the Gahadavalas from Kanauj.

   – EP. gnd, X PP-17-24, Imp. Gaz. of India, VI, P.247 –The History of Kanau – R.S. Tripathi, P.299.

2. The History of Kanauj, R.S. Tripathi, P.309-317.

3. Jayacandra was "installed in the dignity of Yuvaraja and endowed will all royal prerogatives", on the 10th tithi of the bright half of the month of Asadha of the Vikrama year 1224, Corresponding exactly to Sunday, 16th June 1168 A.D. It was on the same occasion that he was initiated as a Worshiper of the God Krishna after bathing in the Ganga at Banaras. – The History of Kanauj, R.S. Tripathi, P.321.

4. Jayacandra was the last great monarch of Kanauj, whose power and extensive jurisdiction struck even the Moslem historians. Refeing to him uan Asir says in the Kamil-ut-Tawarikh that "The King of Banaras was the greatest king in India, and passessed the largest territory, extending lengthwise from the borders of China to the province of Malwa, and in breadth from the sea to within ten days. Journey to lahore. Elliat history of India, Vol. II, P.251.
   - In the Manu inscription he (Madanavarman 1125-1165 A.D.) even claims to have forced "The King of Kasi" who is probably in indentical (l) with Vijayacandra to pass his time" in friendly behaviour.
   - Ep-Ind. I PP.198, 204, Verse 15cf "Kalam Sauharddavritya Gamayati Satatam trasath Kasirajah." – The History of Kanauj, R.S. Tripathi, P-323.

5. As to the north, the phrase "borders of China" may be presumed to denote that the kingdom extended upto the foot of the Himalayas, while in the east it must have comprised the Gaya region, where an insscription presumably belonging to Jayacandra's region records that a hermit named Srimitra served as spiritual guide to the king of Benaras (Kasisa), who was attended by a hundred chieftions (nripa-Sata-Krita-Sevah)[A]. It is also definitely known from inscriptions that Allahabad. Benaras, and the surrounding tracts were included within Jayacandra's kingdom. The Gahadavala Connection with Banaras was more intimate, and perhaps because of the habitual residence of the kings, there, or owing to its religions importance and advantageous situation" in the Centre of the country fo Hinda[B] it become a sort of second capital almost from the beginning of their rule. Indeed the Moslem historians significantly style Jayacandra "Rai of Banaras,[C] and so also do the several other outhorities cited above, and Merutunga in his Prabandha cintamani.[D]
   - Prac. As. Soc. Bang, 1880, PP. 76-80, Ind. Hist. Quart, V (1929) PP. 14-30.
   - Elliat, History of India, II, P.223
   - Elliat, History of India, P.222, 223, 300 etc. Firishta Calls—Jayacandra "The prince of Kanauj and Banaras" (Briggs, I-P-178)

   – Prabandhacintamani, V. 210 (ed. Jinavijaya Muni, P-113), also see II, 121, P.74 of "Atha Kasi nagaryam

   Jayacandra iti nripah.—The History of Kanauj, R.S. Tripathi, P.324-325.

6. प्रबन्धकोश- पृ० 55.56

3. श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में काशी का तीर्थरूप में वर्णन करते हुए कहा है कि काशी में शरीर छोड़ने वालों को 'मोक्ष' मिलता है,[1] एवं उसी तरह का वर्णन महाभारत के वनपर्व में भी आया है।[2] परन्तु तीर्थरूप में न तो उन्होंने कश्मीर का न बंगाल का, और न ही कन्नौज का वर्णन किया है, अतः स्पष्ट है कि उन्हें अपनी जन्मभूमि का वात्सल्य स्नेह ऐसा वर्णन करने को विवश कर रहा होगा, तभी तो उन्होंने काशी को स्वर्ग से भी अधिक[3] एवं इन्द्र की राजधानी अमरावती से भी अधिक सुन्दर होने का वर्णन किया है। स्वाभाविक रूपेण प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जन्मभूमि से अत्यधिक लगाव रहता है, क्योंकि जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। श्रीहर्ष ने नैषध में काशी (वाराणसी) का इतना विस्तृत एवं मनोहारी चित्रण किया है, उससे यह ध्वनित होता है कि श्रीहर्ष का काशी से असीम अनुराग उनके मन की बात को जाहिर कर देता है, और तो और उन्होंने काशीराजा को कल्पवृक्ष के समान दानी[4] एवं सभी राजाओं से कर लेने वाला[5] सम्राट बताकर जो उनकी प्रशंसा की है, इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपने आश्रयदाता को सर्वोत्तम बताकर अपनी कृतज्ञता का परिचय दिया है। अन्य राजाओं एवं देशों के बारे में उन्होंने ऐसा विवरण नहीं दिया। अतः निश्चित ही श्रीहर्ष काशीराजा के आश्रय में बनारस की राजसभा में रहे होंगे, तभी तो उन्होंने नैषधीयचरित में ऐसी अभिव्यक्ति की। कल्पवृक्ष के समान काशीराजा को दानी बताने में श्रीहर्ष ने अपने और काशीनरेश के सम्बन्ध की ओर एक तरह से यह संकेत किया है कि उन्होंने मूर्खों (अल्पज्ञों) को पीछे कर मुझे विद्वान् होने का श्रेय प्रदान कर सम्मानित किया है।

4. श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर का वर्णन करते हुए सत्तू पीसने वाली चक्कियों का जो उल्लेख किया है,[6] यह सत्तू उनके भोजपुर क्षेत्र (वाराणसी एवं उसके पूर्वजनपद) में रहने एवं जन्म लेने का सटीक साक्ष्य है। आज भी इस क्षेत्र में बाटी (सत्तू से बनने वाला भोज्य पदार्थ) एवं चोखा भोज्य पदार्थ का प्रचलन देखा जा सकता है। निश्चय ही श्रीहर्ष ने तत्कालीन समय में भी सत्तू एवं उससे बने इस विशिष्ट भोज्य सामग्री को चखा होगा, तभी उन्होंने इसका वर्णन किया है। आधुनिक संस्कृत कवि पण्डितों में अग्रगण्य एवं काव्यशास्त्रमर्मज्ञ प्रो० सुरेश चन्द्र पाडेजी ने भी इसी तथ्य से सहमति जताते हुए लिखा है''जो भी हो इस युक्ति के फलस्वरूप हम

---

1. वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां, तत्रस्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः ।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वार्गात् परं पदमुदेतु मुदे तु की दृक् ॥ नै० 11/116
अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदापिका ॥ काशीखण्ड 23/7ए गरूणपुराण प्रेतखण्ड 24/5
त्रिस्थली सेतु में भी पुराण वचन उद्धृत हैं–
अन्यानि मुक्ति क्षेत्रापि काशीप्राप्तिकराणि हि । काशीं प्राप्य विमुच्येत् नान्यथातीर्थकोटिभिः ॥
शास्त्रीय सूक्ति भी यही तथ्य प्रतिपादित करती है–
मरणं मंगलं यत्र विभूतिश्च विभूषणम् । कौपीनं यत्रकौशेयं सा काशी किन्नसेव्यते ॥
नैषधीयचरित में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन श्रीहर्ष ने बड़ी चारूतापूर्ण ढंग से किया है–
ज्ञानाधिकासि सुकृतान्यधिकाशि कुर्याः, कार्यं किमन्यकथनैरपि यत्र मृत्योः ।
एकं जनाय सतताभयदानमन्य, द्धन्ये! वहत्यमृतसत्रमवारितीर्थ ॥ नै० 11/120
2. अविमुक्तं समावसाद्य तीर्थसेवी कुरूद्‌ह । दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥
ततो वाराणसीं गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम् । कपिला-हृदमुपस्पृश्य, राजसूर्यफलं लभेत् ॥ महाभारत नवपर्व 84/79
3. न स्यात् कनीयसितरा यदि नाम काश्या ।
राजन्वती मुदिरमण्डनधन्वना भूः ॥ नै० 11/119 उत्तरार्द्ध
4. किं न द्रुमा जगति जाग्रति लक्षसंख्या, स्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः ।
स्तुत्य कल्पविटपी फलसम्प्रदानं, कुर्वन् स एष विबुधानमृतैकवृत्तीन् ॥ नै० 11/125
5. अस्मैकरं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मादस्यैव तत्र यदभूत प्रतिभूः कृपाणः ।
दैवाद्यदा प्रवितरन्तु न ते तदैव, नेदं कृपा निजकृपाण करग्रहाय ॥ नै० 11/126
6. प्रतिहट्टपथे धरट्टजात्पथिकाह्वनदसक्तुसौरभैः ।
कलहान्न घनाद्यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ नै० 2/85

श्रीहर्ष को उस जनपद का निवासी स्वीकार करते है, जहाँ खान-पान में सत्तू अधिक सम्मानित है। ऊपर के छंद में सत्तू का उल्लेख कवि के मनः संस्कार का उल्लेख है।[1]

5. नैषधकार ने नैषधीयचरित में ऋतुपर्ण नरेश के प्रसंग में प्रतीक रूप से कान्यकुब्जेश्वर (जयचन्द्र) तथा दिल्ली सम्राट (पृथ्वीराज चौहान) के कटु सम्बन्धों की ओर संकेत कर जयचन्द सम्राट का ही यशोगान किया है[2] कि इस राजा ऋतुपर्ण की भुजाओं से उत्पन्न कीर्ति रूपी गंगा की धारा ने शत्रुओं की अकीर्ति रूपी यमुना नदी से जब रणभूमि में संगम किया, तब वहाँ उस संगम में तीर्थराज प्रयाग की पवित्रता आ गयी, उसमें विनिमज्जन (वीरगति प्राप्त) करने वाले वीरों ने देवलोक में रम्भा जैसी अप्सराओं से आलिंगन करने का आनन्द पाया। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि गहड़वालों की राजधानी कन्नौज एवं काशी गंगा नदी के तट पर है (जो गंगा ऋतुपर्ण की कीर्तिधारा है) और यमुना नदी के तट पर दिल्ली है, दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान गहड़वालों के शत्रु हैं (मानो यमुना नदी का नीला पानी उनके अपयश का प्रवाह है) श्रीहर्ष वर्णन तो कर रहे हैं ऋतुपर्ण का लेकिन उनके अन्तर्मन में प्रत्यक्षतः वाराणसी एवं दिल्ली हैं कान्यकुब्जेश्वर की कीर्ति गंगा अपने प्रवाह में दिल्ली के अपयश रूप यमुना जलप्रवाह को समेट लेती है। स्मरणीय है कि वाराणसी में जो गंगा प्रवाहित हैं, वह गंगा एवं यमुना दोनों का मिश्रण जल है, फिर भी वहाँ गंगा नदी के नाम से ही जलधारा प्रवाहित होती है, अतः स्पष्ट है कि श्रीहर्ष ने जयचन्द्र एवं अपनी जन्मभूमि को सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थान दिया है, यह उनके वाराणसी स्थली से अत्यधिक लगाव का द्योतक है, अतः निश्चित ही श्रीहर्ष वाराणसी के जन्मा थे, तभी तो उन्होंने अन्य राजाओं के वर्णन में भी वाराणसी को ही परोक्ष रूप में याद किया।

6. श्रीहर्ष नैषधीयचरित में प्रतीक के माध्यम से गहड़वाल (चन्द्रवंशी) राजाओं की ही प्रशंसा करते हैं। सरस्वती द्वारा वर्णित राजा ऋतुपर्ण के गुणों की विस्मयपूर्ण प्रशंसा, दमयन्ती ने सुना, तदनन्तर अपना शिर हिलाकर उसने मनुवंशीय उस राजा को अस्वीकार कर दिया है।[3] यहाँ कवि ने ''मनोरन्वयम्'' कहकर जो बात कहनी चाही है, वह यह है कि ऋतुपर्ण मनुवंश अर्थात् सूर्यवंश का है, एवं दमयन्ती का मन चन्द्रवंश (राजानल) के अनुराग में डूबा हुआ है, अतः सारे गुण होने पर भी उसका मनचन्द्र के विपरीत सूर्य में कैसे अनुरक्त हो सकता है? कई विपरीत पक्ष कवि ऋतुपर्ण के वर्णन में एक साथ घटित कर देता है, उनको कान्यकुब्जेश्वर का प्रतीक भी बनाता है, तिरस्कार भी करता है, क्योंकि उसे वह सूर्यवंशी क्षत्रिय कहता है, इसलिए भी कि दमयंती का अनुराग चन्द्र (देवकुल) के क्षत्रिय (नल) के प्रति है। यहाँ जो कवि की तर्कशैली से ध्वनित हो रहा है कि उसके वर्तमान आश्रयदाता कान्यकुब्जेश्वर सूर्य (मनु) वंश के नहीं, अपितु चंद्रवंश के क्षत्रिय हैं उनका और पौराणिक राजा नल का कुल एक ही है, इसलिए भी श्रीहर्ष नलचरित का गान कर रहे हैं, कान्यकुब्जेश्वर चूंकि वाराणसी में रहते थे, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, अतः स्पष्ट है कि श्रीहर्ष किसी न किसी रूप में वाराणसी एवं वाराणसी सम्राट का वर्णन हर जगह किये हैं, इससे पूर्णतः प्रमाणित होता है कि श्रीहर्ष वाराणसी को ही अपना जन्म एवं कर्मक्षेत्र मानते हैं।

---

1. कवि और काव्यशास्त्र–प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डे–राका प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1981, पृ० 90
2. द्वेष्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्यास्य यद्दोर्द्वयी – कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद्गंगा रणप्रांगणे
   तत्तस्मिन्वि निमज्ज्य बाहुजभटैराराम्भि रम्भापरी – रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडाद्रराडम्बरः।। नै० 12/12
3. इति श्रुतिस्वादिततद्गुणस्तुतिः सरस्वतीवाङ्मयविस्मयोत्थया ।
   शिरस्तिरःकम्पनयैव भीमजा न तं मनोरन्वयमन्वयमन्यत् ।। नै० 12/13

7. श्रीहर्ष ने अपने जन्मस्थान एवं कर्मस्थान का विवरण देने के लिए ही इन्द्र के द्वारा नल को यह वरदान दिलवाया कि राजन्! तुम्हारे निवास के लिए वाराणसी के समीप असी नदी के उस पार तुम्हारे नाम से चिह्नितपुर अर्थात् नलपुर (भविष्य में) होगा, मुक्ति के इच्छुक भी तुम्हारे उसपुर (नलपुर) को दमयंती के साथ रहने के संकोच भय से काशी में नहीं किया, अर्थात् यद्यपि वर्तमान में तुम्हारा निवास स्थान अन्यत्र (निषधदेश) में है, किन्तु भविष्य में काशी के पास असी नदी के पार में नलपुर (नगवाँ)[1] नामक तुम्हारी राजधानी होगी, मोक्षाभिलाषी तुमको दमयन्ती के साथ सम्भोग प्राप्त करने में संकोच होगा, इस कारण से मैंने काशी में तुम्हारी राजधानी नहीं बनाकर काशी के पास ही असी नदी के पार बनायी है, अतः उस राजधानी में दमयन्ती के साथ पूर्णतः सुख सम्भोग करके अन्त में तुम दोनों दम्पति क्रमशः शिवपार्वती के सायुज्य को प्राप्त करना।[2] ध्यातव्य है कि देवों द्वारा नल को दिये गये जितने वरदानों का उल्लेख नैषध में हुआ है, उन सभी का वर्णन महाभारत में भी आया है, किन्तु नैषध में इस वरदान का कि ''काशी के पार तुम्हारे नाम की नगरी होगी'' का उल्लेख न तो महाभारत में हुआ और न ही अन्य नलकथाओं में, तो श्रीहर्ष को नल को इस नूतन वरदान दिलवाने की नैषधीयचरित में ही क्यों आवश्यकता पड़ गयी? स्पष्ट है कि श्रीहर्ष नूतन वरदान रूप इस अभिव्यक्ति से अपनी कर्मभूमि काशी के प्रति ही प्रेमातिशय अभिव्यक्त कर रहे हैं अपनी जन्मभूमि के प्रति विशेष प्रेम होना स्वाभाविक ही है क्योंकि महाकवि कालिदास ने भी अपनी जन्मभूमि उज्जयिनी को याद करने के लिए यक्ष द्वारा मेघ को बलात् रामगिरि (महाराष्ट्र स्थित मल्लिनाथ इसे चित्रकूट स्थित पर्वत मानते हैं) से उज्जयिनी होते हुए कैलास (मानसरोवर के पास) स्थित अलकापुरी भेजते हैं कालिदास चाहते उसे सीधे मार्ग से भेज सकते थे परन्तु उन्हें अपनी जन्म स्थली उज्जयिनी की रह-रह कर याद आ रही थी, अतः उन्होंने यक्ष मुखात् मेघ से कहा ''कि देखो उत्तर की ओर जाने में यद्यपि उज्जयिनी होकर जाने वाला मार्ग कुछ टेढ़ा पड़ेगा, फिर भी तुम उस नगर के राजभवनों को देखना न भूलना। तुम्हारी बिजली की चमक से डरकर वहाँ की स्त्रियाँ जो चंचल कटाक्ष चलायेंगी, उन पर यदि तुम न रीझे, तो समझ लो तुम्हारा जन्म व्यर्थ गया।[3] एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि इस महाकाव्य में तीन नायक हैं—राजानल, कान्यकुब्जेश्वर एवं स्वयं कवि। तीनों का मिला-जुला व्यक्तित्व नायकत्व का निर्वाह करता है। पूरे महाकाव्य में पौराणिक राजा नल का प्रतिनिधित्व बहुत कम है वस्तुतः अन्तः की रचमान स्थिति में कवि और उसके आश्रयदाता ही इस महाकाव्य के नायक हैं। तीनों को वाराणसी क्षेत्र में स्थापित करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रीहर्ष काशी के पास उसी गांव में रहते रहे होंगे, तभी उन्होंने नल को वहीं रहने का वरदान इन्द्र द्वारा दिलवाया। काशी के पार। असी नदी (अब नाला) के उस पार नरियापुर, नैषढ़ा (नैषधपुर) नगवाँ (नलग्राम), नरोत्तमपुर स्थित है, जिसमें नगवाँ (नलग्राम) में गुप्तकालीन अभिलेख भी मिले हैं। यही प्राचीनतम गाँव है, जिसमें नल के रहने का या उसके नाम से होने का वरदान इन्द्र ने दिया था, शायद इसी गाँव में श्रीहर्ष

1. नगवाँ (नलग्राम) में गुप्तकालीन अभिलेख मिले हैं—द्रष्टव्य—भारत सावित्री-वासुदेव अग्रवाल, S.M. अली, जाग्रफी आफ पुराणाज, मस्तरामसिंह—जाग्रफी आफ पुराणाज।
2. तवोपवाराणसि नामचिन्हं वासाय पारेसि पुरं पुरास्ति ।
निर्वातुमिच्छोरपि तत्र भैमीसम्भोगसंकोचभियाधिकाशि ॥ नै०14/75
3. वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥ पूर्वमेघ 29

भी रहते होंगे, एवं यही से कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र की काशी स्थित राजसभा में जाते रहे होंगे। इस विवरण से इस बात का संकेत मिलता है कि श्रीहर्ष वाराणसी के ही निवासी थे।

8. इतिहास की प्रमुख पुस्तकें, जो कन्नौज से सम्बन्धित है-यथा The History and Culture of Indian people. The age of Imperial Kanauj— सम्पादक, आर०सी० मजूमदार एवं The History of Kanauyto the Maslem conquest — Rama Shankar Tripathi— में श्रीहर्ष के जन्मादि का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है, जबकि काशी से सम्बन्धित श्री बलदेव उपाध्याय की प्रसिद्ध पुस्तक ''काशी की पाण्डित्य परम्परा'' में काशी के विद्वानों का साहित्यिक अवदान में श्रीहर्ष के योगदानकी चर्चा उल्लिखित है, साथ ही यह भी उल्लिखित है कि श्रीहर्ष जयचन्द्र की काशी की राजसभा में उपस्थित थे।[1] यह भी श्रीहर्ष को काशी का निवासी सिद्ध करने में एक सहायक तर्क है।

9. श्रीहर्षप्रणीत खण्डनखण्डखाद्य के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार श्रीपरमहंसपरिव्राज- कार्यसत्यानन्दपूज्यपाद के शिष्य श्रीविद्यासागर ने श्रीहर्ष को वाराणसी का निवासी माना है। वे कहते हैं कि "खण्डनखण्डखाद्य के नाम से प्रख्यात ग्रन्थ के रचयिता का नाम श्री श्रीहर्षमिश्र है। सरस्वती का यह वरद पुत्र इसी वाराणसी की कभी शोभा बढ़ाता रहा है अतः एव पुस्तक के अन्त में उल्लिखित" तामबूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्" इस पद्यांश की व्याख्या में श्री विद्यासागर ने कहा है "कान्यकुब्जेश्वरः काशिराजा"। कन्नौज के गहड़वालवंशी राजाओं की यह ले राजधानी काशी ही थी। नैषधीय चरित के आदि व्याख्याता श्री चाण्डू पंडित (संवत् 1353 सन् 1297) नैषधी प्रचरित की टीका नैषधदीपिका) के आरम्भ में ही श्रीहर्ष का काशी में रहना बताते हैं ''वाराणस्यां मुक्ति क्षेत्रेऽनुभूतपर ब्रह्मस्वरूपो- गंगादर्शनादिना धर्मकर्ममध्यमासीनः''।[2] नैषधीयचरित के एक अन्य टीकाकार गदाधर श्रीहर्ष को वाराणसी का निवासी बताते हैं। इन विद्वानों का कथन भी श्रीहर्ष को वाराणसी में ही रहने का साक्ष्य प्रदान करता है, अतः श्रीहर्ष के वाराणसी में जन्म होने एवं वहीं निवास करने में शंका का कोई अवसर शेष नहीं रह जाता।

10. श्रीहर्ष ने अपनी रचनाओं खण्डनखण्डखाद्य एवं नैषधीचयरित में बौद्ध धर्म के प्रति जो उदार भाव दिखाया है, उससे भी स्पष्ट है कि वह अपनी जन्मभूमि (स्थित सारनाथ, जो बौद्ध धर्म का केन्द्र था, एवं जहाँ महात्मा बुद्ध ने प्रथम भाषण दिया था) की श्रीहर्ष निंदा नहीं करना चाहते थे, स्मरणीय है कि अन्य दर्शनों (वेदान्त को छोड़कर) की श्रीहर्ष ने जमकर आलोचना की थी, इससे भी स्पष्ट है कि श्रीहर्ष की जन्मभूमि वाराणसी ही थी। ''यद्यपि श्रीहर्ष के समय बौद्ध धर्म का बल बहुत घट गया था, फिर भी श्रीहर्ष की श्रद्धा उस पर प्रतीत होती है। खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष कहते हैं'' तदुक्तं भगवता लंकाकतारसूत्रे[3] साथ ही उन्होंने यत्र तत्र बुद्ध के लिए बहुमान भी प्रकट

---

1. मध्ययुग में 12वीं शताब्दी में गहड़वाल राजाओं ने कान्यकुब्ज के अतिरिक्त काशी को भी अपनी राजधानी बनाया था। आज भी काशी में राजघाट के पास इन राजाओं के दुर्ग के खण्डहर उपस्थित हैं। इन राजाओं में जयचन्द तथा उसके पिता विजयचन्द्र प्रसिद्ध थे, जिन्होंने काशी को धार्मिक महत्व के साथ ही राजनैतिक महत्व प्रदान किया।–काशी की पाण्डित्य परम्परा–पृ० 8, 9

   श्रीहर्ष कान्यकुब्जनरेश जयचन्द्र की सभा में विद्यमान थे, जिनका उल्लेख श्रीहर्ष ने किया, ये नरेश गहड़वाल कहलाते थे, इनकी राजधानी कन्नौज थी, परन्तु बाद में इन्होंने काशी को अपनी राजधानी बनायी। जयचन्द्र तथा उसके पिता विजयचन्द्र मिलकर सन् 1156.1193 तक शासन किया।

   काशी की पाण्डित्य परम्परा, बलदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी II संस्करण, 1994, पृ० 70
2. खण्डनखण्डखाद्य-व्याख्याकार श्री विद्यासागर, षडदर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, सं० 1979
3. खण्डनखाखाद्य । पृ० 62

किया है। नैषधीयचरित में कामदेव से कहा जा रहा है" जितेन्द्रिय सुगत (बुद्ध) ने तुम (कामदेव) को जीतकर तुम्हारी (कामदेव के) कीर्तितनु (यशः शरीर) को नष्ट कर दिया था, बची-खुची भूतमयी (प्रेतमयी) शरीर-यष्टि को भगवान शंकर ने भस्म कर डाला।"[1] दार्शनिक धरातल पर तो सुगत-सम्मत अनिवर्चनीयता अपनाए बिना नैयायिको को परास्त करना सम्भव नहीं था, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में सुगत की कीर्तिपताका को दिग-दिगन्त में फहराना सौगत पादों में श्रद्धातिरेक के बिना सम्भव नहीं। संभवतः राजाओं की धर्मनीति इसलिए वैसी ही रही हो कि सौगत जगत का झुकाव कहीं म्लेच्छों की ओर न हो जाय।[2]

उपर्युक्त वर्णित सभी तर्कों से यह प्रमाणित हो जाता है कि श्रीहर्ष की जन्म एवं कर्मस्थली वाराणसी ही थी।

श्रीहर्ष का व्यक्तित्व कृतित्व एवं परिवेश

जीवन परिचयः-

संस्कृत के विदग्धपंडितों में प्रायः आत्मविज्ञापन की परम्परा नहीं रही, शायद इसे वह अपनी आत्मश्लाघा मानते रहे हों, इसीलिए वह अपने बारे में अपनी लेखनी नहीं उठाये। स्पष्ट है कि वे लोग आत्मविज्ञापन परान्मुख रहे। विख्यात मनीषियों में कालिदास, भारवि, माव के बाद की श्रृंखला में श्रीहर्ष भी आते हैं, परन्तु वे अपने ग्रंथ नैषधीयचरित्र में अपने बारे में यत्किंचित् जानकारी दे गये हैं। नैषधीयचरित के सर्गान्त श्लोकों[3] से यह पता चलता है कि उनके पिता का नाम श्रीहीर एवं माता का नाम मामल्लदेवी था। किंवदन्त्या साहित्यज्ञ मम्मट श्रीहर्ष के मामा थे। इसके बाद की जानकारी जैनविद्वान् राजशेखर सूरि के ग्रंथ प्रबन्धकोष से मिलती है जिसमें उल्लेख मिलता है कि श्रीहर्ष के पिता काशीनरेश जयचन्द्र की सभा के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। काशी में ही एक विद्वान् उदयनाचार्य शास्त्रार्थ में पराजित होने पर उन्होंने अपने शिशु 'श्रीहर्ष' से कहा कि यदि तुम मेरे सच्चे पुत्र होगे, तो मेरे अपमान का बदला (शास्त्रार्थ में उस व्यक्ति को पराजित कर) लोगे। इसके बाद वह स्वर्ग सिधार गये।[4] तदनन्तर श्रीहर्ष की माँ मामल्लदेवी अपने पुत्र की गुरु बनकर उन्हें चिन्तामणि मंत्र का[5] जप करने का उपदेश दिया, तत्पश्चात श्रीहर्ष ने गंगा नदी के तट पर चिन्तामणि मंत्र की साधना की। इससे प्रसन्न होकर त्रिपुरा देवी ने उन्हें अखण्ड विद्वान् बनने का आशीर्वाद दिया, तदनन्तर तर्कशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त, योग का ज्ञान प्राप्तकर श्रीहर्ष ने लेखन कार्य के साथ-साथ व्याख्यान भी दिये परन्तु उनके लेखन एवं सम्भाषण को विद्वान् व्यक्ति भी समझ नहीं पाते थे क्योंकि श्रीहर्ष की भाषा अत्यधिक क्लिष्ट थी। इसके बाद श्रीहर्ष ने पुनः त्रिपुरा देवी को उपासना की एवं देवी से प्रार्थना की, कि आपके द्वारा दिया गया प्रखरतम ज्ञान जब लोगों की समझ में ही नहीं,

---

1. सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियः त्वदुरूकीर्तितनुं यदनाशयत् ।
   तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद् हरः ।। नै० 4/80
2. **खण्डनखाखाद्य** । पृ० 12
3. श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालंकारहीरं सुतं, श्रीहरिः सुषुवे जितेन्द्रियचपं मामल्लदेवी च यम् ।
   तच्चन्तामणिमंत्रचिन्तनफले श्रृङ्गारभंग्या महा - काव्ये चारूणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ।। नै० 1/145
4. पूर्वस्यां वाराणस्यां पुरि गोविन्दचन्द्रो राजा......तत्पुत्रो जयन्तचन्द्र.....तस्यराज्ञोबहवः विद्वांसः। तत्रैको हीर नामा विप्रः। तस्यनन्दनः प्राज्ञचकवर्ती श्रीहर्षः। सोऽद्यापिबालावस्थः सभायां राजकीये नैकेन पंडितेन वादिनों हीरो राजसमक्षंजित्तवा मुद्रित्तवदनः कृतः। लज्जापङ्के मिग्नः। बैरं बभार, धारालम् मृत्युकाले हर्षं स वभाषे वत्स! अमुकेन पण्डितेनामहत्य राजदृष्टौ जितः, तन्मेदुखम्, यदि सत्पुत्रोऽसि, तदातं जयेक्ष्मापसदसि, श्रीहर्षेणोक्तम् ओमिति, हीरो द्यांगतः।" प्रबन्धकोश - पृ० 54
5. अवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत् ।
   तदन्तर्मन्त्रं में स्मरहरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते सिध्यतु सते ।।

आता तो, फिर यह मेरे किस काम का? फलतः त्रिपुरा देवी ने श्रीहर्ष को रात में दही खाने एवं शिर में गीला कपड़ा रखने को कहा जिससे कफ इत्यादि के माध्यम से उसकी बुद्धि कुछ कुण्ठित, (जाड्य) हुई एवं उन्होंने अनेक ग्रथों की रचना की। इसके पश्चात श्रीहर्ष जयचन्द्र की सभा में पहुँचे एवं राजा की गुणप्रियता से हर्षित श्रीहर्ष ने उसकी प्रशंसा में अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च माऽस्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विषये स्मरः स्त्रीरस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः।।[1]

ऐसी सारगर्भित एवं विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान को सुनकर उपस्थित समस्त सभासदों सहित राजा भी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। सभा में नैषधकार श्रीहर्ष ने अपने पिता के विजेता उदयनाचार्य को कटाक्ष करते हुए कहा–

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढ़न्यायग्रहग्रन्थिले तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ।
शय्या वाऽस्तु मृदुत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता भूमिर्वा हृदयङ्गमों यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ।।[2]

इसी प्रसंग में एक किंवदन्ती है कि प्रखरतम पाण्डित्य प्राप्त करने के बाद जब श्रीहर्ष काशी नरेश के राजदरबार में आये तो उनके आने पर उदयनाचार्य ने (शायद व्यंग्य करते हुए) "गौर्गौरागतः" (बैल आया) कहा उदयनाचार्य के कटाक्ष का तर्कयुक्त कटाक्ष शैली में श्रीहर्ष ने उत्तर देते हुए कहा कि–

किं गवि गोत्त्वममुतागवि गोत्त्वं यदि गवि गोत्त्वं नहि मयि गोत्त्वम् ।
अगवि च गोत्त्वं तव यदि साध्यं, भवतु भवत्यपि संप्रति गोत्त्वम् ।।

अर्थात् गोभिन्न को यदि तुम गो (बैल या मूर्ख) सिद्ध करना चाहते हो, तो वह गोत्त्व (मूर्खत्त्व) तुम में भी है। तदनन्तर श्रीहर्ष की पाण्डित्य परायणता से पराभूत श्री हीर विजयी उदयनाचार्य ने श्रीहर्ष की प्रशंसा करते हुए कहा कि भारतीसिद्ध वादिगज केसरी विद्वद्वर! आपके समान कोई भी विद्वान् नहीं है फिर आपसे अधिक विद्वान् कोई हो भी कैसे सकता है क्योंकि

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्धता
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महपैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते ।।[3]

ऐसा सुनकर श्रीहर्ष का क्रोध शान्त हो गया। राजा जयन्तचन्द्र ने श्रीहर्ष स्तुति की प्रशंसा करते हुए दोनों विद्वानों को परस्पर स्नेहपूर्वक आंलिगन कराकर राजमहल में दोनों का सत्कार कर स्वर्णमुद्राओं से दोनों को पुरस्कृत किया।

अनन्तर महाकवि श्रीहर्ष ने कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र की राजसभा का सदस्य होना अंगीकार कर लिया, एवं महाराज के अनुरोध पर कि "कवीश्वर किसी उत्तम काव्यप्रबन्ध का सृजन कीजिए," श्रीहर्ष ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर नैषधीयचरित महाकाव्य की रचना की, जिसे देखकर राजा अत्यधिक प्रसन्न हुए, एवं कहा कि इस ग्रंथ को आप कश्मीर में स्थित शारदापीठ में सरस्वती के हाथों में रख दीजिए वे दोषरहित ग्रंथ का शिरःकम्पनपूर्वक अभिनन्दन करती हैं, और यदि ग्रंथ सदोष हुआ तो वे उसे कूड़े के

---

1. राजशेखर सूरिकृत प्रबन्धकोशान्तर्गतः श्रीहर्षकविप्रबन्धः श्लोक-1
5. श्रीहर्ष कवि प्रबन्धः श्लोक–2
1. श्रीहर्ष कविप्रबन्धः श्लोक–3

सदृश दूर फेंक देती है। इस प्रकार सरस्वती द्वारा अभिनन्दित ग्रंथ का प्रमाणपत्र वहाँ के राजा से लाइये, ऐसा कहकर श्रीहर्ष प्रभूतधन के साथ कश्मीर भेजा। श्रीहर्ष ने सरस्वती के हाथों में नैषधीयचरित को रखा परन्तु सरस्वती ने उसे दूर फेंक दिया। श्रीहर्ष के कहने पर पर कि आप मेरे प्रबन्धग्रंथ को सामान्य ग्रंथ क्यों मान रहीं है, तो सरस्वती ने प्रत्युत्तर में कहा कि तुमने अपने ग्रंथ में मुझे विष्णु की पत्नी बनाकर मेरे कन्यात्त्व का हरण किया है[1] इसी दोष के कारण मैंने तुम्हारे ग्रंथ को फेंक दिया क्योंकि अग्नि, ठग, (धूर्त), रोग, मृत्यु और मर्मभाषणकर्ता वक्तों ये पाँच योगियों को भी उद्विग्न कर देते हैं।[2] यथा -

पावको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्त्वं मर्म भाषकः। योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगकारकाः।।

इसका उत्तर देते हुए पुराणविद् श्रीहर्ष ने कहा कि क्या एक अवतार में आपने भगवान विष्णु पतिरुप में स्वीकार नहीं किया था? क्या लोक में अपको विष्णुप्रिया नहीं कहा जाता? तब आपका मेरे ऊपर क्रोध क्या व्यर्थ नहीं है? जिससे आप मेरी रचना का अपमान कर रही हैं। यह सुनकर सरस्वती देवी ने नैषीधीय चरित को उठा लिया एवं विद्वज्जनों के सम्मुख उसका अभिवादन किया। श्रीहर्ष ने कश्मीर पहुँचकर राजा को अपना ग्रंथ दिखाना चाहा परन्तु राज पण्डितों ने श्रीहर्ष की विदग्धता की ईर्ष्यावश उसे राजा के पास तक ही नहीं पहुँचने दिया। श्रीहर्ष बहुत दिनों तक वहीं ठहरे, इसी बीच नदी के किनारे हुए दो स्त्रियों के कलह का निपटारा करने पर गवाह के तौर पर उन स्त्रियों द्वारा एक परदेशी का जिक्र आने पर श्रीहर्ष प्रथम बार कश्मीर की राजसभा में पहुँचे, एवं राजा के पूँछे जाने पर श्रीहर्ष ने कहा कि मैं परदेशी प्राकृत भाषा नहीं जानता हूँ, परन्तु उनकी (स्त्रियों की) बातचीत को मैं उन्हीं के वाक्यों में बता सकता हूँ, ऐसे शक्ति मुझमें है, एवं राजा के समझा उन्हीं वाकयों को दुहरा दिया। राजा श्रीहर्ष की इस प्रकार की प्रखरतम प्रज्ञा से अत्यन्त प्रसन्न हुए, एवं पूँछा कि हे मेधाशिरोमणि! आप कौन है? तब श्रीहर्ष ने अपना परिचय दिया एवं कहा कि राजन्! मैं आपके पण्डितों के व्यवहार से अत्यन्त दुखी हूँ[3]। विद्वान् राजा ने विद्वज्जनों को बुलाकर कहा कि मूढ़ो! इस प्रकार के (विद्वान्) रत्न से ईर्ष्या नहीं की जाती क्योंकि :-

वरं प्रज्जवलिते वह्नावह्नायि निहितं वपुः। न पुनर्गुणसम्पन्ने कृतः स्वल्पोऽपि मत्सरः ।

वरं सा निर्गुणाऽवस्था यस्यां कोऽपि न मत्सरी। गुणयोगे तु वैमुख्यं प्रायः सुमनसामपि ।।[4]

(अर्थात् दहकती हुई अग्नि में शरीर को शीघ्र ही जला डालना अच्छा है, परन्तु गुणी पुरुष के साथ थोड़ी भी ईर्ष्या करना उचित नहीं हैं। वह गुणविहीन अवस्था श्रेष्ठ है, जिसमें कोई ईर्ष्या नहीं रखता क्योंकि गुणियों के प्रति वैमुख्य होना बड़े-बड़े विद्वांनों में भी देखा जाता हैं इसलिए तुम सब लोग इस महात्मा को अपने अपने घरों में ले जाकर सत्कार करो। तब श्रीहर्ष ने कहा कि जिस प्रकार परम रमणीय रमणी युवकों के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है वह बालको चित्त को आकर्षित नहीं कर सकती है, उसी प्रकार मेरी यह उक्ति (काव्य) सुधारस बनकर विद्वानों के चित्त को आच्यापित करती है, तो इसे रसहीन (हृदयहीन) पुरुषों को आराधना करने की क्या आवश्यकता[5] श्रीहर्ष के ऐसे कथन को सुनकर राजपण्डित लज्जित हो गये एवं अपने-अपने घर ले जाकर उन्होंनें श्रीहर्ष का सत्कार किया, साथ ही

---

2. देवी पवित्रितचतुर्थभुजवामभागा, वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
एतस्य निष्कृप कृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ।। नै० 11/66ए श्रीहर्ष कवि प्रबन्ध श्लोक-4
2. याचको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्तवं मर्मभाषकः। योगिनामप्यमी पञ्च प्रायणोंद्वेगहेतवः।। श्रीहर्ष कवि प्रबन्धकोष- श्लोक-5
3. श्रीहर्ष प्रबन्ध- पृष्ठ - 57-58
4. श्रीहर्ष कवि प्रबन्ध - श्लोक–5, 6
5. यथा युनस्तद्वत्परमरणीययापि रमणी, कुमाराणामन्तः करणहरणं नैव कुरूते।
मदुक्ति श्चेन्द्रदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः किमस्यानाम स्यादरस पुरूषानादरमरैः।। श्रीहर्ष कविप्रबन्ध श्लोक-8ए नैषध, कविप्रशस्ति श्लोक-1

कश्मीर नरेश माधवदेव से नैषध की शुद्धता का राजमुद्रांकित प्रमाण पत्र प्रदान करवाया। राजमुद्रांकित प्रमाणपत्र लेकर श्रीहर्ष महाराज जयचन्द्र के पास काशी आये जयचन्द्र से कश्मीर का सभी वृतान्त कहा, वह अपनी कार्योपलब्धि से सन्तुष्ट हुए तदनन्तर नैषध संसार में विख्यात हुआ। इसी बीच जयचन्द्र के प्रधानमंत्री पद्माकर ने गुजरात के राजा शालापति की विधवा सुन्दरी एवं विदुषी युवा पत्नी सूहवदेवी को काशी लाकर अपने राजा जयचन्द्र की भोग पत्नी बनाया। वह स्वयं को कलाभारती कहती थी जबकि श्रीहर्ष नरभारती के नाम से जाने जाते थे, यह उस मत्सरिणी को असह्य लगता था। एक बार श्रीहर्ष (को जानते हुए भी) से पूँछा कि आप कौन हैं? श्रीहर्ष ने कहा मैं कलासर्वज्ञ हूँ! तब सूहवदेवी ने कहा कि आप मुझे एक जोड़ी जूता (चप्पल) पहनाइये। उसका तात्पर्य यह था कि अगर ये ब्राह्मण होने के नाते शूद्र कर्म (उपानह निर्माण) को कहते हैं, कि मै नहीं बना सकता, तब ये कलासर्वज्ञ नहीं माने जायेंगे, परन्तु श्रीहर्ष ने उसकी चुनौती स्वीकार की एवं जंगल जाकर बल्कल से एक जोड़ी जूते बनाकर उन्हें सूहवदेवी को पहना दिया परन्तु उसकी इस तरह की अशोभनीय कुचेष्टा से अपनी खिन्नता को राजा से कहकर श्रीहर्ष ने गंगा नदी के किनारे सन्यास ग्रहण कर लिया अर्थात् राजनिष्ठा से अपने को असंयुक्त कर लियां इसके बाद श्रीहर्ष के जीन लीला के बारे में कुछ भी उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है श्रीहर्ष के ग्रंथ खण्डन खण्ड खाद्य का खण्डन 1200 ई० में गंगेश उपाध्याय ने "तत्त्व चितामणि" नाम ग्रंथ लिखकर किया था। अतः श्रीहर्ष 1200 ई० या उसके बाद तक जीवित नहीं रहे होगे नहीं तो वह अवश्य गंगेश उपाध्याय का प्रत्युत्तर देते एवं ग्रथ लेखन अवश्य करते, पंडिताभिमानी जो थे। उनके (जन्म) जीवन के बारे में यह कहा जा सकता है कि चूंकि उन्होंने विजयप्रशस्ति काव्य राजा विजयचन्द्र के बारे में लिखा था, एवं उनका शासनकाल 1114ई० से 1154 ई० से तक था, अतः वह 1154 ई० के पहले के नहीं हो सकते। अतः श्रीहर्ष का जीवन काल 1114 ई० से 1200 ई० के बीच ही रखा जा सकता है।

श्रीहर्ष का व्यक्तित्त्व

किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्त्व उसके जीवनदर्शन का मापक होता है। व्यक्तित्त्व के माध्यम से हम किसी भी व्यक्ति के जीवन शैली के बारे में आकलन कर सकते हैं। वास्तव में व्यक्तित्त्व कोई बाह्य आवरण नहीं होता बल्कि वह तो मनुष्य के आन्तरिक भावों की विविधताओं का समाकलन मात्र होता है। श्रीहर्ष ने भी अपने ग्रंथों में अपने व्यक्तित्त्व के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा फिर भी उनके ग्रंथों के अध्ययनान्तर हम यह निष्कर्ष सहजतया निकाल ही लेते हैं कि उनकी कृतियों में उनका व्यक्तित्त्व प्रतिबिम्बित होता है। नैषधीयचरित के अनुशीलन से परिलक्षित होता है कि श्रीहर्ष मातृ पितृभक्ति, देशभक्त, संस्कृतानुरागी, प्रकृतिप्रेमी, गणितज्ञ, भूगोलवेत्ता, संस्कृतिविद्, कलाशास्त्रज्ञ, काव्यमनीषी, दार्शनिक, तन्त्रमन्त्रविद्, व्याकरणविद, ज्योतिषशास्त्रविद्, शकुनशास्त्रवेत्ता, सामुद्रिकशास्त्रज्ञाता, धर्मशास्त्रविद, राजनीतिशास्त्रवेत्ता, नीतिशास्त्रवेत्ता, चिकित्साशास्त्रवेत्ता, कामशास्त्रज्ञ, पाकक्रियाज्ञाता, अस्त्रशस्त्रशास्त्रज्ञ, अश्वशास्त्रविद, सौन्दर्यशास्त्री, व्यवहारविद, हासपरिहासप्रेमी, वेदवेदांगपुराणैतिहासज्ञाता, कर्मनिष्ठ ईश्वराराधक, नवीनभाषाशैली का व्याख्याता, कल्पनाशक्ति का विलक्षण प्रतिपादक, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, एवं पंडिताभिमानी थे।,

श्रीहर्ष के जीवनवृत्त से पता चलता है कि बचपन में ही इनके पिता श्रीहीर की जीवन लीला समाप्त हो गयी थी। इनकी माता मामल्लदेवी ने ही इन्हें माता पिता दोनों का प्यार दिया एवं दोनों का कर्तव्यनिर्वहन किया। श्रीहर्ष की पितृभक्ति का प्रमाण यह है कि इन्होंने अपने पिता को शास्त्रार्थ में हराने

वाले उदयनाचार्य (नैयायिक) को शास्त्रार्थ में हराया, एवं उनकी आलोचना की।[1] क्योंकि इन्होंने अपने पिता को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले को पराभूत करने का वचन जो दिया था। इनकी माता ने ही गुरु बनकर चिन्तामणि मंत्र की सिद्धि के लिए इनसे साधना करायी, जिसके परिणाम स्वरुप यह सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत हुए। कवि की मातृभक्ति का ही परिणाम है कि उन्होंने अपने ग्रंथ नैषधीयचरित में माता की वन्दना गुरु रुप में की।[2]

श्रीहर्ष माध्यकालीन संस्कृति के विद्वान् हैं। तत्कालीन परिस्थितियों में कवि लोग केवल राज्याश्रित सम्राट की ही प्रशंसावश ग्रंथ लेखन करते थे, परन्तु श्रीहर्ष उसके साथ साथ अपने देश की महिमा एवं वहीं पर रहने का वरण करने वाला विचार सरस्वती के मुख से कहलाते हुए कहते हैं कि मनु आदि आर्यपुरुषों ने आश्रमों में गृहस्थाश्रम की भाँति देशों में भारतवर्ष की भूरि-भूरि प्रंशसा की है, क्योंकि स्वर्ग में रहने वालों को केवल सुख ही सुलभ है धर्मकार्य नहीं, जबकि भारतवर्ष में सुख के साथ साथ धर्मकार्य भी सुलभ हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञार्जन से देव प्रसाद भी यहाँ सुलभ है, फिर तीन को त्याग कर क्यों एक की अभिलाषा करुँ?[3] एवं माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः तथा "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" जैसे कथन तो उनके जीवन के ध्येय ही हैं और तो और भारतभूमि से महाप्रमाण करने पर ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[4] एवं पुण्यक्षीण होने पर मृत्यु लोक मिलता है। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" शायद तभी उन्होनें अपनी जन्मभूमि काशी को स्वर्ग से भी ऊँचा स्थान दिया।[5]

कविताकामनी श्रीहर्ष के आनन्द के पारवार का पता उनके द्वारा की गयी रचनाओं से ही ध्वनित होता है। उन्होनें संस्कृत भाषा को ही अपनी ग्रंथ सज्जा का माध्यम बनाया। सभी विद्याओं में पारंगत व्यक्ति तो किसी भी भाषा में ग्रंथ सृजन कर सकता था परन्तु उन्होंने संस्कृत भाषा को ही चुना, यह उनके संस्कृतानुराग का परिचायक है। उन्होंने नैषधीयचरित में संस्कृत भाषा का यशोगान करते हुए लिखा कि संस्कृत केवल मनुष्यों की ही नहीं बल्कि देवताओं की भी भाषा थी, एवं सर्वत्र (पृथ्वी लोक एवं स्वर्गलोक में) इस भाषा के बोलचाल का प्रचलन था, शायद तभी विदर्भनरेश राजा भीम द्वारा आहूत दमयंती के स्वयंवर में सभी राजागण संस्कृत भाषा बोल रहे थे जिससे मनुष्यों तथा देवताओं का पहचानना मुश्किल हो रहा था।[6]

मामल्लदेवीसुत श्रीहर्ष प्रकृति प्रेमी थे। उनके प्रकृतिप्रेम का ही परिणाम था कि उन्होनें समुद्र की निसर्गछटा से आकृष्ट होकर 'अर्णववर्णन' जैसे ग्रंथ की रचना की। गंगा नदी का तट तो उन्हें अत्यधिक मनभावन प्रतीत होता था क्योंकि उन्होंने वहीं चिन्तामणि मंत्र का जप किया, एवं अंत में संयास लेकर गंगा के किनारे का ही आश्रय लिया। यह तो जग जाहिर है कि प्रकृति मानव की चिरसंगिनी रही है, जन्म से लेकर मरणपर्यन्त वह प्रकृति की ही गोद में रमण करता है। श्रीहर्ष अत्यन्त सरस एवं सहृदय कवि थे, शायद तभी वे नल के खिन्न मन को बहलाने के लिए उपवन का प्रसंग प्रस्तुत करते है, परन्तु वहाँ भी प्रियाविहीन उद्यान जो कि विविध वृक्षों लताओं एवं पुष्पों से सज्जित तथा सुगन्धित था वह राजा नल को

---

1. मुक्तये यः शिलात्त्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्। गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः।। नै० 17/74
2. तस्य द्वदश एष मातृचरणाम्भोजालिमौलेर्महा –
   काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्जवलः।। नै० 12/113 उत्तरार्द्ध
3. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु। तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययेह शर्मोर्मिक्रिर्मीरित धर्मलिप्सुः।। नै० 6/97
   स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च । शक्या मखेनापि भुदोऽमराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे ।। नै० 6/98
4. साधोरपि खलुः स्वलु गामिताधो गमी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे। नै० 6/99 पूर्वार्द्ध
5. वाराणसी नियसते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
   तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परंपदमुदेतु मुदे तु कीदृक ।। नै० 11/116
6. अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु। दिग्भयः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौदर्गवर्गो न जनैरचिह्नि।। नै० 10/34

आनन्दित न कर क्लेश ही दे रहा था, केतकी का पुष्प उन्हें कामबाण की लग रहा था।[1] कवि वनपवन का वर्णन अत्यन्त सहजता से करते हुए कहते हैं कि लतारुपी ललना का नृत्यकलागुरु पुष्प और सौरभ का चोर, कुसुम मकरन्द से सुवासित एवं सलिल में तैरने वाला वनपवन नल की सेवा कर रहा था।[2] श्रीहर्ष ने पग पग पर प्रकृति का मानवीकरण कर उससे मानवोचित कार्य भी करवाया है। वृक्ष अपने पल्लवसदृश करों के द्वारा फलफूलों को लेकर राजा नल का अतिथ्य करते दिखते हैं।[3] बड़ी बड़ी बावलियों के तटों पर तरंगो द्वारा वादन (कलकलध्वनि), कोयलों एवं भ्रमरों के द्वारा गायन (उनका गुंजन) मयूरों द्वारा नृत्य एवं उनकी वाणी संगीत से राजा नल की सेवा किये जाने का विवरण किस व्यक्ति के मन को आकर्षित नहीं कर लेता।[4] नल द्वारा हंस को पकड़ने पर उनके सहजीवी पक्षियों का विलाप एवं उनका सरोवर परित्याग कर चीखते हुए उड़ना, जैसे दृश्य से यह ध्वनित होता है कि प्रकृति भी राजा नल के गर्हित कृत्य की निन्दाकर रही है।[5] कवि का प्रभातवर्णन अत्यन्त सरस एवं रमणीय दृश्योत्पादक है।[6] एवं सूर्यास्त का वर्णन उनकी विदग्धता की अमिट छाप ही छोड़ देता है जिसमें वह कहते हैं कि अपने पारिपार्श्विक रुप दंड को धारण कर सूर्य रुपी सन्यासी सभी दिशाओं में घूमता रहा, और सन्ध्या के समय समुद्र में गोता लगाते हुए उसने सान्ध्यअरुण मेघरुप काषाय वस्त्र को ऊपर रख दिया।[7] स्पष्ट है कि श्रीहर्ष के काव्योपवन में प्रकृतिनटी विविध विलासों के द्वारा रमण करती हुई, कवि की कल्पना एवं बहुज्ञता के स्वाभाविक रुप को सजा संवार रही है। कवि ने अपनी प्रकृति सुन्दरी को परिष्कृत रुप में प्रस्तुत कर यह दिखला दिया कि उसे प्रकृति के अद्वितीय सौन्दर्य एवं उसके द्वारा शाश्वत सत्य के रहस्य को उद्घाटित करने में महारत हासिल है।

नैषधीयचरित में उपलब्ध विवरण से ध्वनित होता है कि नैषधकार गणित विद्या में भी दक्ष थे। गणित में प्रचलित शब्दों यथा शून्य एवं संख्याओं यथा एक, दो, तीन, चार, पाँच का विवरण यथा स्थान दिया है। गणित में अपनायी जानें वाली विधि बांटने (भाग) का उल्लेख श्रीहर्ष ने व्यंजना में किया है।[8] शून्य का विवरण योजनाप्रसंग मे रमणीय ढंग से प्रतिपादित करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि दही बड़ा इतने विशिष्ट ढंग से बनाया, मानों वह भोजन (विधि) की समाप्ति का सूचक था उसी प्रकार जिस प्रकार पुस्तकों के अंत में गोल गोल चिन्ह (शून्य) बना की दिये जाते हैं।[9]

नैषधीयचरित के अनुशीलन से यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि श्रीहर्ष भूगोलवेत्ता एवं भूगर्भशास्त्री भी थे। भौगोलिक विवरणों यथा– शीलकाल में दिन बड़े एवं ग्रीष्म ऋतु में रातें लम्बी होती है।[10]
~~है। समुद्र में बड़वाग्नि पैदा होती है।[1] चन्द्रमा एवं सूर्य रात्रि एवं दिन के कारक है।[2] समुद्र में ज्वार भाटा~~

1. धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन् । प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाक्रुश्यत तेन केतकम्।। नै० 1/81
2. लताबलालास्यकलागुरुस्तरु प्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः । असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः।। नै० 1/106
3. फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोतिपातोद्गत्तवात्तवेपिते ।
   स्थितैः समादाय महर्षिवार्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ।। 1/77
4. विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्। वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाजनः।। नै० 1/102
5. न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग्! यस्याः पतिरुज्झितस्थितः।
   इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ।। नै० 1/128
6. तटतरूखग श्रेणीसांराविणैरिवि साम्प्रतं, सरसि विगलन्निद्रामुद्राजनिष्ट सरोजनी ।
   अधरसुधया मध्ये मध्ये वधूमुखलब्धया धयति मधुपः स्वादुंकार मधूनि सरोरूहाम् ।। नै० 19/29
7. आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः ।
   अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाशायमधत्तसायम् ।। नै० 22/12
8. विभजयमेरूर्न यदर्थसात् कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजिलव्ययैमरूः । नै० 1/16 पूर्वार्द्ध
9. समाप्तिलिप्येव भुजिक्रियाविधेर्दलोदरं वर्तुलयालयीकृतम् ।
   अलंकृत क्षीरवटैस्तश्नतां रराज प्राकर्षितगैरिकश्रिया ।। नै० 16/98
10. अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
   तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ।। नै० 1/41

समुद्र में बडवाग्नि पैदा होती है।[1] चन्द्रमा एवं सूर्य रात्रि एवं दिन के कारक है।[2] समुद्र में ज्वार भाटा आने का कारण चन्द्रमा है[3], से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष भौगोलिक गतिविधियों के भी जानकार थे।

श्रीहर्ष भारतवर्ष (जम्बू द्वीप) के विभिन्न प्रान्तों की राजधानियों एवं उनकी संस्कृतियों का विवरण नैषधीयचरित में देकर अपनी संस्कृतिरुचि का दिग्दर्शन करवाया है। भीम के महल में नल दमयन्ती के विवाहानन्तर भोजन प्रसंग में विभिन्न प्रान्तों के भोजन वैविध्य का वर्णन, विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का वर्णन, विवाह के समय मंगलगान (उलूलु ध्वनि) एवं पाणिग्रहण की विधि तथा वरवधू द्वारा ध्रुव नक्षत्रादि का दर्शन, लाजा होम एवं दमयन्ती का विविध प्रकार के आभूषणों कर्णफल, माणिक्यहार, केशों में पुष्पगूंथना जैसे अलंकारणों से अलंकृत हो सजसंवर कर विदा करने हेतु भीम का जलाशय तक जाकर कन्या एवं दामाद को विदा करना इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष ने विविध प्रान्तों की संस्कृतियों का वर्णन नैषधीयचरित में किया है, यथा दर्पण देखना, बरात वर्णन में हासपरिहास, नल के द्वारा अपने शिर के बालों को दो भागों में विभाजित कर संवारना, तो दमयन्ती द्वारा शून्य (बिन्दुआकृति) की बिन्दी लगाना नल की पूजा वर्णन, भोज द्वारा नल को उपहारदान, भोजन में मत्स्य के विविध व्यंजनों की सरणि में दही वड़े का भी होना इत्यादि। सजल नयन राजा भीम दमयन्ती को विदा करते हुए जब कहते हैं कि विवाहोत्तर पति ही नारी का सर्वस्व है यह वाक्य आज भी भारतीय नारियों द्वारा अक्षरशः अपनाया जाता है। बारहवीं शताब्दी में भी भारतीय संस्कृति का यह आदर्शवाक्य था और आज भी है। भीम अपनी पुत्री को समझाते हुए कहते हैं पुत्रि! अब तुम्हारा पुण्य ही तुम्हारा पिता है, सहनशीलता ही आपत्ति विनाशक है, मनस्तुष्टि ही सारी सम्पत्ति हैं, ये नल ही तुम्हारे सब कुछ हैं, इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारा कोई भी नहीं रहा।[4] ऐसा भीम के द्वारा कहलवाकर श्रीहर्ष ने भारतीय संस्कृति की अनूठी निदर्शना व्यक्त की है।

श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित मे कामसूत्र में प्रतिपादित चौंसठ कलाओं में लगभग सभी कलाओं यथा- गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य, शयनरचना, उदकवाद्य, उदकाघात, वास्तुविद्या, द्यूत, ऐन्द्रजाल, शुकसारिकाप्रलाप, इत्यादि का मनोहारी चित्रण कवि ने यथा स्थान दिया है । इन सभी वर्णनों से यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष चौंसठ कलाओं के ज्ञाता थे, शायद तभी श्रीहर्ष स्वयं को नरभारती कहते थे एवं यह इनकी कलाशास्त्रज्ञता का ही परिणाम था कि उन्होंने शूद्रोचित कर्म उपानह निर्माण कर सूहवदेवी को अपनी कलाचातुरी से पराभूत किया था। चित्रकला का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि कुण्डिनपुर के भवनों के अधो, मध्य, उर्ध्व भाग क्रमशः पाताल, भूलोक तथा आकाश के सभी चिन्हों सहित श्रेष्ठ अंशों द्वारा आश्चर्यमय चित्रों से निर्मित किये गये थे।[5] साथ ही प्रासाद की भित्तियों, स्तम्भों आदि पर अतिरूपवती पुत्तलिकाएँ निर्मित थीं।[6] कुण्डिनपुरी के लोग भी चित्रकारी में प्रवीण थे, क्योंकि उन्होंने दमयंती के चित्रों को दीवारों पर बनाया था एवं स्वयंवर में आये हुए राजाओं ने उन्हीं चित्रों को देखकर अपने दिन बिताये

---

1. चलीकृता यत्र तंरगरिगंडणैरबालशैवाल लतापरम्पराः। ध्रवं दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररान्हत्तमभूमधूमताम्।। नै० 1/114
2. प्रतिमासंसौ निशापतिः खग! संगच्छति यद्दिनाधिपम्। किमुतीब्रतरैस्ततः करैर्ममं दाहाय स धैर्यतस्करैः ।। नै० 2/58
3. नै० ... . 2/89
4. पिताऽऽत्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
   अतः परं पुत्रि! न कोऽपि तेऽहमित्युदश्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम्। नै० 16/117
5. क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक्। जगतां किल यारिवलाद्भुताजनि सारैर्निचिह्नधारिभिः।। नै० 2/81
6. नै० ...... 2/83

थे।[1] दमयंती को सखियों द्वारा कामकला की शिक्षा देना, पाक, क्रिया वर्णन, शुकसारिका प्रलाप आदि ऐसे वर्णन हैं जिनसे श्रीहर्ष की कलासर्वज्ञता सिद्ध होती है।

नैषधीचरित वृहत्त्रयी का अंतिम महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। श्रीहर्ष ने अपने इस काव्य को "श्रृंगारामृतशीतगुः"[2] अर्थात् श्रृंगार रुपी अमृत बरसाने वाला चन्द्रमा कहा है। उसने घोषणा कि दूसरे कवि पर्वत की चट्टानें है जिनसे नदियाँ निकलती हैं, नदियाँ आपस में अपनी तुलना करती रहें, परन्तु मेरा यह काव्य तो "क्षीरोदन्वान्" (दूध का समुद्र) है, जिसका मंथन करने पर प्रमोदन ओदन रुपी अमृत प्राप्त होगा।[3] उन्होंने अपने काव्य में रस, छंद, अलंकार, रीति एवं कल्पनाओं का ऐसा मणिकांचन संयोग किया है कि उनकी "एकामत्यजतोनवार्थघटनाम्"[4] की अभिव्यक्ति सर्वथा सार्थक सिद्ध होती है। श्रीहर्ष का श्रृङ्गार रस परिपाक उस समय देखने को मिलता है जब प्रिय को पहनाने के लिए माला से अलंकृत दमयन्ती का पाणिपल्लव नल के समक्ष पहुँचकर भी पुनः रुक गया और उसका चंचल कटाक्ष भी प्रियमुख के अर्धपथ तक जाकर भी लज्जा के कारण पुनः लौट आया।[5] साथ ही दमयन्ती सरस्वती द्वारा नल का नामोच्चारण करवाने पर लज्जा से अपना शिर झुका लेती है, एवं सरस्वती की उंगलियों को दबाते हुए पुनः लज्जित हो जाती है।[6] श्रृंगार रस का ऐसा परिपाक अत्यन्त्र दुर्लभ है जिसमें मनोभावनाओं एवं संकेतो से अपने अन्तःकरण की बात नल तक पहुँचाने में दमयन्ती ने व्यक्त की है। श्रीहर्ष करुण रस का वर्णन भी मनुष्य को कुछ सोचने को झिंझोड़ देता है जब नल के द्वारा पकड़े जाने पर हंस नल से कहता है कि मैं वृद्धामाता का अकेलापुत्र हूँ एवं मेरी पत्नी ने अभी एक नवजात शिशु को जन्मा है मुझे छोड़ दो, क्योंकि मैं उन तीनों का जीवनोपाय हूँ, क्या तुम्हें मुझे मारने से दया नहीं आती?[7] साथ ही उन्होंने वीर रस, अद्भुत रस, हास्यरस, बीमत्सरस, भयानकरस, वात्सल्यरसों का भी यथास्थान वर्णन किया है श्रीहर्ष ने रीतियों में वैदर्भीरीति को ही प्रमुख तथा अपनी काव्य रचना का आधार बनाया है वैसे कहीं कहीं उनके काव्य में गौड़ी रीति के भी दर्शन होते हैं। उन्होंने वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए कहा है "धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः।" अलंकार में कवि को दक्षता हासिल है। हंस द्वारा पूँछने पर दमयन्ती कहती है, मेरा मन नल को ही चाहता है, और किसी अन्य को नहीं और न ही वह लंका जाना चाहता है।[8] संभगश्लेष का यह उदाहरण श्रीहर्ष की काव्यमनीषिता का द्योतक है। कवि ने नैषधीयचरित में अनुप्रास,[9] उपमा,[10] उत्प्रेक्षा,[11] अपह्नु,[12] समासोक्ति,[13] अतिशयोक्ति,[14] अर्थान्तरन्यास,[15] आदि अनेक अलंकारों का नैषध में वर्णन किया

---

1. नै० ...... 10/35
2. नै० ...... 11/130
3. नै० कवि प्रशस्ति–2
4. नै० ...... 19/67
5. करः स्रजा सज्जतरस्तदीयः प्रियोन्मुखः सन्विरराम भूयः। प्रियाननस्यार्धपथं ययौ च प्रत्याययौ चातिचलः कटाक्षः।। नै० 14/25
6. देव्याः श्रुतो नेति नलार्धनाम्नि गृहीत एवं त्रपया निपीता । अथाङ्गुलीरङ्गुलिभिर्मृशन्ती दूरं शिरः सा नमयाञ्चकार ।। नै० 14/32
7. मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
   गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे! त्वां करूणा रूणद्धि न ।। नै० 1/135
8. चेतो नलङ्कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषय् । नै० 3/67 उत्तरार्द्ध
9. कल्याणि! कल्यानि तवाङ्कानि कच्चित्तमां चित्तामनाविलं ते ।
   अलं विलम्बेन गिरं मदीयामाकर्णयाकर्णतटायताक्षि! ।। नै० 8/57
10. नै० ...... 1/94
11. नै० ...... 2/38
12. नै० ...... 1/16
13. नै० ...... 1/85
14. नै० ...... 10/131
15. नै० ...... 1/50

है। विभिन्न छंदों, यथा- वंशस्थ, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित आदि को भी अपने क[illegible]न का आधार बनाया है। श्रीहर्ष ने स्थान पर ललितपदावली के द्वारा अपने कोमल, ललित, करुण[illegible]नोहर भावों को नैषधीयचरित में व्यक्त किया है। उनके इस महाकाव्य में पदशय्या का नैसर्गिक लालित[illegible]शब्द[illegible]क स्वतः गुम्फन में भी देखा जा सकता है, जैसे कवि द्वारा हंस का रुदन करवाना एवं नल का दया[illegible], केवल कलापक्ष के लिए ही सचेष्ट नहीं हैं प्रत्युत वह मानव के अन्तस तक रमने के लिए उत्सुक है।[1] स्पष्ट है कि श्रीहर्ष एक विदग्ध काव्यशास्त्रविद् थे, उन्होंने माघ की उक्ति को अपने काव्य में अक्षरसः सत्य सिद्ध कर दिया कि क्षणे–क्षणे यन्नवतामुमैति तदेवरुपं रमणीयतायाः।"[2]

श्रीहर्ष ने अपने इस ग्रंथ मे लगभग सम्पर्ण दर्शनों यथा चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य-योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त सभी का शुष्ठु रुप में विवरण देकर उन्होनें अपने दर्शनविद् होने की भी सूचना विदग्धजनों को दी है। सांख्य के सत्कार्यवाद,[3] योग की सिद्धियाँ,[4] यथा अणिमा, लघिमा, महिमा, न्याय के मोक्ष।[5] तो वैशेषिक के अणुवाद,[6] का भी प्रतिपादन किया है। वैशेषिक को उन्होंने उलूकदर्शन भी कहा।[7] बौद्धों के शून्यवाद[8] एवं चार्वाको के भौतिकवाद,[9] जैनों की अहिंसा नीति के प्रतिपादन के साथ मीमांसकों का वर्णन भी श्रीहर्ष ने किया। नैषधीयचरित के सत्रहवें सर्ग में कवि द्वारा सम्पूर्ण दर्शनों का खण्डन देखते ही बनता है। परन्तु नैषधकार तो अद्वैत वेदान्त के ही समर्थक हैं। उन्होंने अपने खण्डनखण्डखाद्य में अन्य सभी दर्शनों का खण्डन किया हैं एवं अद्वैत्त्वेदान्त का मण्डन। नैषधीयचरित में भी वे अद्वैतवेदान्त का अनूठा आदर्श उपस्थापित करते हुए कहते हैं कि दमयन्ती जब अपने अन्तःपुर में नल को देखती है, तो उस समय वह युक्त तथा संसारी दोनों प्रकार के व्यक्तियों की दशाओं का दुहरा मधुरस्वाद अनुभव कर रही थी।[10] सत्यानृतमिथुनीकृत्य रुप जगत के प्राणियों यही व्यवहार होता है। शायद यही जीवन की यथार्थता भी है कि मानव माया के भ्रम में ही पड़कर अपना सम्पूर्ण जीवन गुजार देता है। दमयन्ती भी अपनी सखियों को कहती है कि आप लोग संसार को क्यों नहीं देखती-वह मोक्ष से निकृष्ट जान कर भी धर्म, अर्थ, काम को नहीं त्याग रहा है।[11] परन्तु जो मोक्ष का अभिलाषी है वह धीरपुरुष सांसारिक सुखों की अवहेलना करने के पश्चात् पश्चाताप नहीं करता।[12] इन वर्णनों से स्पष्टतया श्रीहर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक होने की संसूचना मिलती है।

नैषधकार को तत्रमंन्त्र विद्या भी अभिप्रेत थी, राजशेखर ने भी उनके बारे में विवरण देते हुए कहा है कि चिन्तामणि मंत्र जो त्रिपुरा देवी का साधक मंत्र था, सिद्धि की अनन्तर उनमें वैदुष्य[illegible] का परिपाक

---

1. सुताः कमाहूय चिराय चुकूड्तैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ।
   कथासु शिष्यध्वमिति प्रभील्य सः सुतस्य सेकाद्बुबुधे नृपाश्रुणः ।।
2. शिशुया लवध..... 4/17
3. नै० ...... 3/17, 5/94 ।
4. नै० ...... 3/64, 22/159
5. नै० ...... 17/75
6. नै० ...... 3/125
7. ध्वान्तस्य वामोरूं! विचारणायां वैशेषिक चारू मतं मतं मे ।
   औलूकमाहुः खलुदर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्तवनिरूपणाय ।। नै० 22/35
8. नै० ...... 22/23
9. नै० ...... 17/69
10. तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीय मोहा ।
    सा युक्त संसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुड्न्तमिष्ट्म ।। नै० 22/35
11. न लोकमालोकयथापवर्गात्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम्। नै० 6/105 उत्तरार्द्ध
12. निर्वातुकामं भवसम्भवानां धीरं सुखानामवधीरणेव।। नै० 6/96 उत्तरार्द्ध

हुआ परन्तु यदि इस मंत्र के बारे में गूढ़ाध्ययन किया जाय, तो यह निश्चित रुपेण कामबीज एवं अर्धनारीश्वर का आराधना मंत्र मालुम होता है। जैसा कि नैषधीयचरित में उपलब्ध विवरण से स्वतः स्पष्ट हो जाता है।[1] श्रीहर्ष की तन्त्रमंत्र के प्रति रुचि इसी से जाहिर होती है कि विवाहानन्तर दमयन्ती की सखी बनी हुई सरस्वती नल को भी चिन्तामणिमंत्र का उपदेश देती हुई कहती है कि राजन् शिव के उस अर्धनारीश्वर रुप का चिन्तन करो, मेरे आशीर्वाद से वह तुम साधु पुरुष को सिद्ध हो जाये। यहाँ ऐसा प्रसंग उपलब्ध कराकर श्रीहर्ष ने अपनी तन्त्रमन्त्रविदता की जानकारी दी है।

श्रीहर्ष व्याकरणशास्त्र के भी ज्ञाता थे। नैषधीयचरित महाकाव्य व्याकरण का निकष भी है। श्रीहर्ष ने स्वयं ही कहा है कि मैंने सर्वथा नये अर्थ की योजना करने की प्रतिज्ञाकर इस काव्य का प्रणयन आरम्भ किया है, साथ ही वे यह भी कहते हैं कि मैंने इस ग्रंथ में कहीं कहीं पर समास, क्रिया, कारक, प्रकृतिप्रत्यय, उपसर्गों इत्यादि के प्रयोग से बीच-बीच में ऐसी काव्य गांठे लगायी है, कि उन्हें वे व्यक्ति ही खोल सकते हैं जिन्होंने परम्परा से श्रद्धापूर्वक गुरु की आराधना कर विद्या प्राप्ति की होगी।[2] श्रीहर्ष व्याकरणशास्त्र के प्रमुख आचार्यों पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि का विवरण नैषधीयचरित में दिया है। पाणिनि के मत का उल्लेख करते हुए कवि कहते हैं कि अपवर्ग में तृतीया विभक्ति होती है।[3] कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों की कमी की भरपाई वार्तिक लिखकर की एवं पर्दे में शेषनाग रुपग्रहण कर पतंजलि ने सूत्रों की व्याख्या करने के लिए महाभाष्य की रचना की।[4] ऐसे विवरण देकर श्रीहर्ष ने व्याकरणशास्त्र के इतिहास की जानकारी दी। वैयाकरणों के "अपदं न प्रयुञ्जीत" एकवचन मुत्सर्गतः करिष्यते" इस सिद्धान्त का विवरण देते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि सम्यक् रूप में सुबन्त एवं तिङन्त विभक्तियों का विचार किया जाय तो वह प्रथमा विभक्ति ही है जो अपने सु, औ, जस्, अर्थात् एकवचन, द्विवचन, एवं बहुवचन प्रत्ययों के कार्यबल से अनेक प्रातिपादिक शब्दों को सिद्ध करने में नितान्त समर्थ होती है।[5] दमयन्ती स्यंवर में नलरूपधारी इन्द्र के विवरण के समय श्रीहर्ष ने पाणिनि के सूत्र "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ"[6] का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि इन्द्र जो व्याकरणशास्त्र के जानकार थे, उन्होंने "स्वयं नहोधः"[7] आदि आदेशों को बनाकर भी अनल विधि में क्या दूषित स्थानिवद्भाव नहीं किया? जबकि स्थानिवद्भाव केवल अनल विधि में ही होता है।[8] ऐसे वर्णनों से जाहिर है कि श्रीहर्ष व्याकरण शास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् भी थे।

प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक मानव दिन प्रतिदिन होने वाली घटनाओं का कोई न कोई कारण खोजता आया है। घर से निकलते ही यदि पानी के भरे घड़े मिल जाँय, बछड़े को दूध पिलाती गाय दिख जाय तो लोग समझ लेते थे कि शुभ शगुन हो रहें है, काम की सिद्धि हो जायेगी, बाद में इसी का विस्तृत रूप ज्योतिषशास्त्र के रूप में सामने आया। श्रीहर्ष ने अपने नैषधीयचरित में शकुन वर्णनों के साथ-साथ ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तों का भी वर्णन किया है, साथ ही मनुष्यों की आकृति देखकर उनके

---

1. अवामावामार्थे सकलमुमयाकारघटना, द्विधाभूतं रूपं भगवद्भिधेयं भवतियत्।
   तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं, निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिध्यतु सते ॥ नै० 14/88
2. नैषध---- कविप्रशस्ति–2
3. अपवर्गे तृतीयेति भवतः पाणिनेरपि। नै० 17/70 उत्तरार्द्ध
4. फणिभाषितभाष्यफक्किकाविषमा कुण्डलनामवापिता नै० 2/95 उत्तरार्द्ध
5. क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
   या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमाभि बहुस्यात् ॥ नै० 3/23
6. पाणिनि सूत्र 1/1/56
7. पाणिनि सूत्र 8/2/34
8. स्वं नैषधादेश महो विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन् ।
   किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तादृक्कृतवयाकरणः पुनः सः ॥ नै० 10/136

विषय में ज्ञान प्राप्त करने वाले शास्त्र समुद्रिक शास्त्र का वर्णन भी यत्र तत्र किया है। ज्योतिषशास्त्र का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि राजा भीम दमयन्ती के विवाह से पूर्व ज्योतिषयों की सभा की जिसमें ज्योतिषियों ने शुक्र, गुरु आदि ग्रहों के उदय अस्त दोषों से निर्मुक्त तथा जामित्र आदि सम्पूर्ण गुणों से संयुक्त मुहूर्त राजा को बताया, अतः राजा ने उसी मुहर्त में कन्यादान करने का उपक्रम प्रारम्भ किया।[1] साथ ही दुरुधरा योग[2] बुधादित्य[3] योग की चर्चा भी श्रीहर्ष ने की। शकुनशास्त्र की व्युत्पत्ति करते हुए श्रीहर्ष ने कहा कि जब हंस कुण्डिनपुरी जा रहा था, तो मार्ग में सर्वप्रथम पथिक की प्रार्थित सिद्धि का द्योतक एक जलपूर्ण कलश दिखायी पड़ा।[4] बाद में उसने शुभकारी फलसंयुक्त आम्रवृक्षों को देखा।[5] साथ ही सूर्याभिमुख यात्रा प्रशस्तन होने की बात भी श्रीहर्ष ने की है।[6] सामुद्रिकशास्त्र की संगति बैठाते हुए श्रीहर्ष कहते है कि राज नल सौभाग्यशाली इसलिए भी थे क्योंकि उनके चरणों में ऊर्ध्व रेखाये थी।[7] साथ ही नल के बाहु विशाल थे।[8] नल ने हंस को तो सामुद्रिक शास्त्र ज्ञाता ही बता दिया एवं कहा कि प्रिय हंस! तुम्हारा रुप अतुलनीय है, तुम्हारी सुशीलता अवर्णनीय हैं, तथा रूप में भी गुण होते हैं, सामुद्रिक शास्त्र के इस कथन के तुम प्रत्यक्ष उदाहरण रूप हो।[9] उपर्युक्त विवरणों से यह जाहिर होता है कि श्रीहर्ष ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र एवं सामुद्रिक शास्त्र के भी वेत्ता थे।

नैषधीयचरित में उपलब्ध विवरणों से श्रीहर्ष की धर्मशास्त्रज्ञता राजनीतिशास्त्रज्ञता एवं नीतिशास्त्रज्ञता की भी जानकारी मिलती है, नल के द्वारा धर्म के चारों पैरों पर स्थिर हो जाने से उस सतयुग में भला कौन धर्मपरायण न था और की कौन कहे, तब तो स्वयं अधर्म भी केवल एक पाद से पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ क्षीण हो तपस्वी बन गया था।[10] हंस कहता है कि धर्मशास्त्रज्ञ (मनुआदि) नरेशों ने भी मृगया को निंदित नहीं कहा, फिर भी हे नल! जो तुमने मुझे मुक्त कर दिया वह तुम्हारा उज्ज्वल धर्म ही था।[11] नल की बहुविध प्रकार से देवार्चना दान देना एवं दौत्यकर्म निभाना उसकी धर्मशास्त्रज्ञता के सूचक हैं। नीतिशास्त्र की बातें श्रीहर्ष हंसमुखेन करवाते हुए कहते हैं कि सुन्दरि मैंनें तुम्हें बहुत परिश्रान्त किया, बोलो मैं तुम्हारा क्या उपकार करुँ।[12] एवं राजनीतिकपटुता का आदर्श उपस्थापित करते हुए श्रीहर्ष ने यह सन्दर्भ उपस्थापित किया कि हंस दमयंती से अपनी बात कहकर राजकुमारी के मनोभावों को जानने की अभिलाषा से चुप हो गया क्योंकि विद्वान्जन (राजनीतिज्ञ) गम्भीर कुण्ड सदृश गम्भीर हृदय युक्त व्यक्ति का किसी व्यक्ति या कार्य के अवगाहनोपरान्त ही उचित कार्य का निर्णय लेते हैं।[1] स्पष्ट है कि

---

1. निरीय भूपेन निरीक्षिताननना शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम् ।
   गुणैररीणैरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे ॥ नै० 15/8
2. नै०.........15/42
3. नै०.........1/17
4. प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थित सिद्धिशंसिनम् ।
   कलजं जलसंभृतं पुरः कलहंस कलयां बभूव सः ॥ नै० 2/65
5. नै०.......2/66
6. नै०.........3/9
7. नै०.........1/18
8. नै०.........1/22
9. न तुलाविषये त्तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि तें सुशीलता । त्तवदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रकसारमुद्रणा ॥ नै० 2/51
10. पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना केन तपः प्रपेदिरे ।
    भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥ नै० 1/7
11. मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्म पारगैः। स्मरसुन्दर! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयादयोज्ज्वलः॥ नै० 2/9
12. नै०......... 3/52

का किसी व्यक्ति या कार्य के अवगाहनोपरान्त ही उचित कार्य का निर्णय लेते हैं।[1] स्पष्ट है कि श्रीहर्ष को धर्मशास्त्र नीतिशास्त्र, एवं राजनीतिशास्त्र का भी ज्ञान था।

श्रीहर्ष कामशास्त्र में प्रतिपादित शास्त्रीय विषयों से भी परिचित थे, जैसा कि नैषधीयचरित में आये प्रसंगों के अध्ययनान्तर पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने नैषध में इस तरह का प्रतिपादन किचा है मानों वह कामशास्त्र के ग्रंथ सामने रखकर अपनी लेखनी चला रहे हों। स्त्री पुरुषों मे आपस में कौन पहले आकृष्ट हो जिससे प्रेम बना रहे, उसकी विवेचना करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते है कि "आदौ वाच्यः स्त्रियारागः" अर्थात् स्त्रियाँ जिस पुरुष को प्रथम बार प्यार करतीं है वहीं प्यार सार्थक होता है न कि पुरुष द्वारा की गयी प्रथम प्यार की चेष्टा। श्रीहर्ष उनकी बात का समर्थन करने के साथ ही पति पत्नी को किस तरह का व्यवहार करना चाहिए? किन-किन कलाओं में प्रवीण होना चाहिए? अपने सम्बन्धियों एवं मित्रों से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए? किस तरह हास परिहास के क्षण उपस्थित करने के प्रसंग उपलब्ध करने चाहिए? पाक क्रिया संगीत कौतुक पहेलियों आदि विषयों का सम्यक् प्रतिपादन नैषध में दिया है। नैषध में विभिन्न स्थलों पर धर्म, अर्थ, एवं काम की चर्चा करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि इन तीनों में समन्वय होना चाहिए। वात्स्यायन ने भी कामसूत्र के प्रारम्भ में इन तीनों पुरुषार्थों का नमस्कार किया है।[2] पंचनली प्रसंग में दमयन्ती भी नल (काम प्राप्तिसाधनरुप) की प्राप्ति हेतु देवताओं की पूजा करती है क्योंकि देवता मानवों की अभिलाषा पूर्ण करने वाले कामधेनु सदृश माने जाते हैं।[3] स्पष्ट है कि कामशास्त्र, अर्थ एवं काम पुरुषार्थों की प्राप्ति का यथेष्ठ मार्ग सुझाता है। काम की प्रक्रिया प्रारम्भ करने के बारे में श्रीहर्ष अपने ग्रंथ में विवरण दिये हैं कि सर्वप्रथम पुरुष को अपनी प्रिया (पत्नी) के आकस्मिक संभोग के भय को दूर कर देना चाहिए, एवं उसे सर्वप्रथम अपने विश्वास में लेना चाहिए, शास्त्र भी यही कहता है "आदौरतं बाह्यमिह प्रयोज्यं तत्रापि चालिंगनमेव पूर्वम्" नल ने भी सभी सखियों को बाहर भेजकर दमयन्ती को अपने विश्वास में लेकर उसकी कमर में हाथ लागकर अपनी सन्निधि में लेते हुए पहले उसके आकस्मिक संभोग के भय को दूर करने के लिए ललाट का चुम्बन लिया, फिर कपोलों, एवं अधरों का चुम्बन लिया।[4] कामशास्त्र का कथन है कि चुम्बन, नखदशन इत्यादि राग को बढ़ाने वाले हैं।[5] इसलिए इन्हें सम्भोगपूर्व अवश्य करना चाहिए। स्त्री को सम्भोगावसर में पुरुष को अपनी बांयी तरफ सुलाना चाहिए, प्राचीनकाल से लेकर अभीतक यही परम्पराचली आ रही है। काम क्रिया सम्पादन मे तो विभिन्न देश के लोग विविध प्रक्रियाएँ अपनाते हैं, परन्तु नैषधकार को सम्पुट विधि ही अभीष्ट है।[6] कामशास्त्र का यह भी मन्तव्य है कि पुरुष को अपनी पत्नी को सम्भोग सुख की सहभागिनी बनाने के लिए आवश्यक है कि दोनो

---

1. इतीरयित्त्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
   हृदे गम्भीरे हदि चावगाढे शंसन्तिः कार्यावतरं हि सन्तः ।। नै० 3/53.
2. अथ अर्थधर्मकामेभ्यो नमः, कामसूत्र। 1/1/1
3. अथाधिगन्तुं निषधेश्वरं सा प्रसादनामा द्रियतामराणाम् ।
   यतः सुराणां सुरभिनृणां तु सा वेधसाऽसृज्यत कामधेनुः ।। नै० 14/1
4. सन्निधावपि निजे निवेशितामालिभिः कुसुमशास्त्रशास्त्रवित् ।
   आनयद् व्यवधिमानिव प्रियामङ्कपालिवलयेन सन्निधिम् ।। नै० 18/40
   प्राग चुम्बदलिके ह्रियानतां तां क्रमाद्दरतां कपोलयोः ।
   तेन विश्वसितमानसां झटित्यानने स परिचुम्बय सिष्मिये ।। नै० 18/41
5. चुम्बननखदशनच्छेद्यानां न पौर्वापर्यमस्ति ।
   रागयोगात् प्राक्संयोगादेषां प्राधान्येन प्रयोगः ।। प्रहणन - सीतकृतयोश्चं संप्रयोगे। कामसूत्र 2/3/1
6. मिश्रितोरू मिलिताधरं मिथः स्वप्नवीक्षितपरस्परक्रियम् ।
   तौ ततोऽनु परिरम्भसम्पुटे पीडनां विदधतौ निदद्रतुः ।। नै० 18/152

का स्खलन (वीर्यक्षरण) एक साथ हो। स्त्री की स्वाभाविक प्रवृत्ति त्वरित स्खलन की होती है इसलिए उसकी कोमलता, कामप्रचण्डता एवं सहनशक्ति को समझते हुए एवं अपनी शक्ति का अनुमान कर पत्नी का चित्त भ्रम कर उसे जल्दी स्खलन होने से रोकने के साथ स्वयं को भी इडा, पिंगला आदि नाड़ियों को संयुमन कर सम्भोग सुख में प्रवृत्त करना चाहिए।[1] तभी दोनों सम्भोगानंद की असीमपरिणति असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँच सकेंगे। श्रीहर्ष ने इस स्थिति का अप्रतिम रमणीय ढंग से प्रतिपादन करते हुए लिखा कि नल एवं दमयन्ती की एक साथ स्खलित होने की स्थिति में दोनों के अंग शिथिल हो गये, नेत्र मुँद गये, त्वरित रोमांच के साथ लम्बी श्वासें चलने लगीं, सी-सी की ध्वनि होने लगी।[2] इस प्रकार कामशास्त्रीय विवरण नैषधीयचरित में देकर श्रीहर्ष ने अपनी कामशास्त्रविदता का परिचय दिया है।

नैषधीयचरित में बारात के भोजन वर्णन प्रसंग में नैषधकार ने विविध प्रकार के व्यञ्जनों के परोसे जाने का जो विवरण उपलब्ध करवाया है उससे यह स्पष्ट है कि वे पाकक्रियाविधि के भी जानकार थे। नल की बारात में भोजन हेतु दिये गये अनेक स्वादिष्ट, चरफरे एवं मधुर पदार्थों में ओदन, पायस, घृत, दधि, विभिन्न पशुओं के मांस से बने विविध प्रकार के व्यंजन शर्करा (स्तिा), पानक, गोलक, लड्डू, रायता, दहीबड़ा, एवं शार्करी पुत्रिका आदि का सूचारु वर्णन किया है।[3] अन्यत्र स्थलों में सत्तू,[4] हैयंगवीन (नवनीत) एवं मधु का प्रयोग,[5] पापड़ एवं अपूप[6] तथा ताम्बूल को विविध आकृतियों में सजा कर दिया जाना, इक्षु (गन्ना), खण्ड (खाँड) एवं द्राक्षा का प्रयोग,[7] मदिरा,[8] गुडपाक,[9] शर्करा चक्रिकाओं (जलेबियों)[10] का वर्णन, दुग्ध एवं द्राक्षासव विशिष्ट पेय पदार्थों का वर्णन[11] फलों में दाडिम (अनार), अंगूर, आम, बेल, जामुन, केला आदि को प्रयोग का वर्णन किया है। भोजन षड्रस होता था।[12] इस प्रकार तत्कालीन समाज में प्रचलित भोजन की विविध सामाग्रियों का उल्लेख श्रीहर्ष ने किया है। सूपकारों ने भोजन इस विचित्रता से पकाया था कि बरातियों को कभी-कभी निरामिष भोजन भी सामिष लगते थे।[13] श्रीहर्ष द्वारा किया गया यह वर्णन उनकी पाकशास्त्रज्ञाता का ही प्रमाण है।

श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में अश्वों के बारे में जो वर्णन किया है उससे यह ध्वनित होता है कि वह, एवं उनके नायक नल अश्वशास्त्रविद् थे। श्रेष्ठ अश्वों के लक्षण बताते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि जिनके खुर चंचल हो, साथ ही बल की अपेक्षा अधिक वेग वाले, पुरुष प्रमाण से भी अधिक ऊँचे धवलवर्ण, गले में

---

1. आत्यन्तिकं तु तत्रापि परिहरेत्। कामसूत्र 2/7/27
2. विश्लथैरवयवैर्निमीलया लोमभिर्द्रुमितैर्विनिद्रताम्। सूचितं श्वसितसीत्कृतैश्च तो भावमक्रमभध्यगच्छताम्।। नै० 18/117
3. नैषध 16/66..................103
4. नै०...............2/85
5. नै० ....3/130
6. नै०................15/12, 22/147
7. नै०...............21/152
8. नै०...............21/149
9. नै०...............21/153
10. नै०...............21/155
11. नै०...............21/160
12. नै०...............21/108
13. यथामिषे जग्मुरनामिषंभ्रमं निरामिषे चामिषमोहमूहिरे। तथा विदग्धैः परिकर्मनिर्मितं विचित्रमेते परिहस्य भोजिताः।। नै० 16/81

भंवरी वाले कण्ठ मध्य मार्ग में उठे हुए चन्द्ररश्मि धवल स्कन्ध वालों से सुशोभित हों।[1] नल की अश्वशास्त्रज्ञता को बताते हुए कहते हैं कि राजा नल अश्वों के द्वारा की गयी मौन अभिव्यक्ति को जानते थे।[2] अश्वों की श्रेष्ठता और विशेषताएँ बताते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि उनकी पूँछ चंचल होती है।[3] साथ ही सिन्धु देशोद्भव अश्व अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं।[4]

नैषधकार ने नैषधीयचरित में चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी जो विवरण दिया है उससे यह द्योतित होता है कि वे चिकित्साशास्त्र के भी ज्ञाता थे। उन्होंने यह तथ्य प्रतिपादित किया कि बीमार व्यक्ति को स्नान नहीं करना चाहिए।[5] क्योंकि दमयन्ती जो विषम कामज्वर से पीड़ित थी, उसे प्रिय (नल) की कथा रुपी सरसी (तालाब) में स्नान कर लिया फलतः उसका अन्तस्ताप शीघ्र ही विषम ज्वर में परिणत हो गया। श्रीहर्ष ने मधु एवं घृत साथ में नहीं खाने का उपदेश दिया।[6] क्योंकि मधु एव घृत की समान मात्रा मिलाकर खाने से व्यक्ति मूर्छित हो सकता है, नारायण ने भी कहा है, "समत्त्वेन मधुमिश्रितं घृतं नितान्तं पीतं सत्संतापमोहौजनयति।" वैद्यकों की चर्चा करते हुए श्रीहर्ष ने अश्वनीकुमारों को स्वर्गलोक का वैद्य बताया।[7] मदन तापहारी विशल्या औषधि[8] को वर्णन के साथ साथ लोहे को भी अपने स्पर्श से स्वर्ण बना देने वाले सिद्ध पारदरस,[9] शरीर की कांति वर्धन हेतु गोरोचन चन्दन, कुंकुम एवं कस्तुरी के लेप की[10] चर्चाकर नैषधकार ने इस क्षेत्र में भी अपनी जानकारी की अभिव्यक्ति दी।

उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ श्रीहर्ष व्यवहारविद्,[11] हासपिरहास प्रेमी[12] वेद वेदांग पुराण इतिहास ज्ञाता[13] कर्मनिष्ठ ईश्वराधक[14] संगीतज्ञ मधुर भाषा शैली का व्याख्याता[15] कल्पना शक्ति का विलक्षण प्रतिपादक[16] संगीतज्ञ[17] मनोवैज्ञानिक विश्लेषक[18] धर्मशास्त्रज्ञ[19] एवं शिल्पशास्त्र[20] के भी जानकार थे।

---

1. अभी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरूषाधिकम् ।
   उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरादरम् ।। नै० 1/57
   अथान्तरेणाबटुगामिनाध्वना निशीथिनीनाथमहः सहोदरैः ।
   निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ।। नै० 1/58
2. चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम्। अलंगिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम्।। नै० 1/60
3. नै०............1/62
4. नै०...............1/64
5. यदतनुज्वरभाक्तनुतेस्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम्। सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत्।। नै० 4/2
6. चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रय त्प्रेयोदूपततङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
   स्वादं स्वादमसीममिष्टसुरभि प्राप्ताभि तृप्तिंन सा तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ।। नै० 3/130
7. नै०..............5/46
8. नै०..............8/90
9. नै०...............9/42
10. नै०.............10/98
11. नै० 1/75,77, 98, 2/11, 44, 48, 3/53,61, 4/16,19, 8/17
12. नै० 16/48.........111
13. नै० 15/31,72,83,84, 17/9,16, 18/20,21, 19/3,8, 21/32, 22/43,49
14. नै० 21/31...........119
15. नै० 3/116
16. नै० 19/3.......20
17. नै० 3/27, 14/51, 15/16, 21/34
18. नै० 20/2, 4, 15
19. नै० 11/11, 115, 13/37,39,50,51,52, 14/1,9,81
20. नै० 10/131, 9/66, 1/38

नैषधकार के व्यक्तित्त्व में उपर्युक्त सभी विशेषाताएँ तो अवश्यमेव विद्यमान थीं, परन्तु उनके व्यक्तित्त्व का यथार्थ एवं आलोचनात्मक विवेचन करने पर यह तथ्य भी प्रकट होता है कि वे पाण्डित्याभिमानी भी थे, जोकि नैषधीयचरित में दिये गये उनके विवरण से स्वतः स्पष्ट होता है जहाँ वह कहते है कि कान्यकुब्जाधीश्वर आदर के साथ उन्हें (ही) दो ताम्बूल एवं बैठने हेतु आसन देते हैं एवं वह समाधि में पर ब्रह्म के दर्शन भी करते हैं, उनकी कविता अमृतवर्षीहै तथा उनकी तार्किक शक्ति के सामने प्रतिपक्षी मौन साथ लेते है।[1] जानबूझकर उन्होंने काव्य में व्याकरण समासाद्धि ग्रंथियों लगा दी हैं, जिससे सहृदय जन गुरुओं द्वारा ही इस ग्रंथ का आनन्द ले सकें।[2] उनका काव्य क्षीरसागर एवं श्रृङ्गारामृत–शीतगुः है एवं अन्य काव्यग्रंथ पाषाणखण्ड की तरह नीरस एवं शब्दाडम्बर मात्र हैं।[3] साथ ही उनका काव्य सहृदय विद्वानों के लिए है, अरसिक व्यक्तियों के लिए नहीं। अवधेय है कि वह अपने काव्य (नैषधीयचरित) को तरुणी रमणी के रूप में लोकजीवन में स्थापित करना चाहते हैं,[4] परन्तु उपर्युक्त सभी तथ्यों के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि वास्तव में उनकी यह कृति (रमणी) विदुषी बन गयी है, तरुणी और रमणी तो नहीं बन पायी। कालिदास के काव्यग्रंथों की तरह नैषधमहाकाव्य सामान्यजन संवेद्य नहीं है, इसीलिए यही कहा जा सकता है कि सामान्यजन के लिए उनको काव्य में बुद्धिरंजन तो है पर मनोरंजन नहीं बुद्धितोष है पर मनस्तोष नहीं, परन्तु विद्वानों को बुद्धिरंजन एवं मनोरंजन दोनों ही इस ग्रंथ में मिलता है, शायद तभी श्रीहर्ष ने इसे गुरुमुखात् अध्ययन करने की सलाह दी। श्रीहर्ष की यह बात कि वह कान्यकुब्जाधीश्वर से आसन एवं दो पान के बीड़े पाते हैं, यह तो सही है, क्योंकि राजशेखर के प्रबन्धकोश से यह बात प्रमाणित होती है, किन्तु यह कहना है कि वह समाधि में परब्रह्म के दर्शन करते हैं, केवल पाण्डित्य की गर्वोक्ति मात्र लगती है, क्योंकि जो समाधि में परब्रह्म का दर्शन कर लेता है, उसे फिर किसी के द्वारा सम्मानपात्रता की बात सोचना तार्किक नहीं लगती । उनकी तार्किक शक्ति के सामने विपक्षियों को नतमस्तक होने की बात तो सत्य है जैसा कि उनके ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य एवं नैषधीयचरित के अध्ययन से स्पष्ट होता है परन्तु उनका यह कहना कि उनका ग्रंथ क्षीरसागर है साथ ही यह भी कहना कि काव्य में ऐसी ग्रंथि लगा दी हैं जिससे विद्वन्मन्य खल अवज्ञा से यह न कह सकें कि मैने सरलता से इस गंथ का अध्ययन कर लिया है, दोनों बातें इस साथ घटित नहीं हो सकती। हाँ यह कहा जा सकता है कि इनके काव्य के पाठक सामान्यजन नहीं हो सकते, विदग्धजनों के लिए ही यह परम उपादेय हैं। श्रीहर्ष के ग्रंथ के बारे में यह कहना कि "काव्यं नवं नैषधः" वास्तव में सत्य ही है क्योंकि कल्पनाओं की ऊँची उड़ाने, अलंकार शैली वर्णन वैविध्य, की तो इसमें भरमार है। नैषधकार ने सम्पूर्ण तथ्यों का साङ्गेपांग विवरण दिया है। लेकिन कभी-कभी उनकी वर्णनचारुता के वैविध्य में पाठक इतना रम जाता है कि जब कथा की आगे की विषयसामग्री मिलती है तब पाठक को स्मरण करना पड़ता है कि पीछे की कथा सामग्री का प्रसंग क्या है? स्मरणीय है कि नैषधमहाकाव्य में कथारस तो है परन्तु विषय वर्णन की विशालाकृति के कारण कथावस्तु की निरन्तरता एवं सुसम्बद्धता विश्रृङ्खलित हो जाती है जबकि कथावस्तु की वक्रता एवं सुसम्बद्धता ही उसका सबसे बड़ा गुण है, एवं उसकी विश्रृंखलता ही सबसे बड़ा दोष है। इस सम्बन्ध

---

1. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा, द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम् ।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः, श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ।।
नै० ग्रथंप्रशस्ति श्लोक–4
2. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया, प्राज्ञं मन्यमना हठेन पठिती मास्मिनखलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरूश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः। नै० ग्रंथ प्रशस्ति–श्लोक–3
3. दिशि-दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमुन्तु सरस्वती। तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्ध वनिडम्बरराम् ।
स परस्परः क्षीरोद न्वान्यदीयमुदींयते, मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदन् ।। ग्रंथप्रशस्ति नै० श्लोक–2
4. यथायूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी, कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरूते ।
मदुक्तिश्चेददन्तर्मदयति सुधीभूय सधियः, किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ।। नै० ग्रंथप्रशस्ति श्लोक -1

में प्रो0 अय्यर का कथन अवधेय है।[1] स्पष्ट है कि श्रीहर्ष कालिदास के रघुवंशादि ि काव्य एवँ बाण की कादम्बरी तरह कथावस्तु को सुसम्बद्धता रुपी संजीवनी तो नहीं ही दे पाये हैं। प्रसिद्ध विद्वान् A. B. कीथ ने श्रीहर्ष की प्रतिभा का धनी विद्वान् तो अवश्य माना, परन्तु उनकी श्रृंगार वर्णन की आलोचना करते हुए कहा कि "Needless to say. Sriharsa, in dealing with the theme of the wedding, shows that his logical studies had in no way prevented him becoming an expert of great skill in all the complexities of kamasutra."[2] लेकिन कीथ महोदय की यह आलोचना समीचीन नहीं लगती क्योंकि श्रीहर्षकृत नल दमयन्ती सम्भोग श्रगांर वर्णन सर्वथा कामशास्त्रसम्मत हैं।[3] संस्कृत साहित्य में गति रखने वाले श्री. एस. एन. दास गुप्ता नैषधकार की कृति की प्रशंसा करते हुए कहा कि "The only Mahakavy a which need detain us is the Naisadhatarita of Sriharsa not so much for its intrinsic poetic merit as for the intersting evidence it affords of the type of enormously laboured metrical composition which was widely and enthusiastically favoured. The work is regarded as one of the five great Mahakavayas in Sanskrit, It is undoubtedly the last masterpiece of Industry and ingenuity that the Mahakavya can show, but to class it with the masterpieces of Kalidas, Bharavi and even Magha is to betray an ignorance of the difference between poetry an its counterfeit.[4] उन्होंनें नैषधकार की विद्वत्ता की प्रशंसा करते हुए उन्हें श्रेष्ठ दार्शनिक भी माना, परन्तु कथावस्तु की विषय सामग्री एंव विविध सांस्कृतिक परिदृश्यों के वर्णन पर कटाक्ष करते हुए कहा कि "It is no wander, therefore, that Judging by madern standards, an impatien western critic should stignatise the work as a perfect masterpiece of bad taste and bad style. श्रीहर्ष की भाषा की समृद्धता एवं व्याकरणिक ज्ञान की प्रशंसा करते हुए भी गुप्त महोदय ने कथावस्तु की ससम्बद्धता की विश्रंखता एवं भाषा कौठिन्य के कारण नैषधीयचरित को केवल सामान्यकृति की ही संज्ञा देते हुए कुछ लोगों के द्वारा ही अध्ययन की जाने वाली कृति बताया, जो कि काव्यात्मक सौन्दर्य समन्वित है । वहीं श्रीहर्ष की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए श्री नीकमल भट्टाचार्य ने कहा कि "समस्त पौराणिक उपाख्यान उनकी उंगलियों पर हैं, अलंकार शास्त्र पर मानो वे सवार हैं। उनके वर्णन के प्रवाह का अन्त नहीं दिखता ।"[5] "Sri M. Krishanamachariar ने श्रीहर्ष के व्यक्तित्व का समीक्षात्मक मूल्यांकन करते हुए कहा। " The Ideas though at times for fatched, are, yet fine and true. In fancy and imagery, his descriptions see no limit. His Vocabulary is extensive but language lacks lucidity and the reader can rarely approach the poem with confidence, Sriharsa inaugurated a new model of poetic composition. He was logician and philosopher and the ideas of those sciences are often imported into his descriptions. He has no particular regard for the artificial precepts of the poctics and in many instances rhetoricians discover faults of composition.[6] पं0 बलदेव उपाध्याय

---

1. But a literary work only begins with the stanzas or if it is in pUose, with the paragraph. Until the stanzas or paragraphs have been knit together into whole,forming a Mahakavya or Khandakavya or Katha or Champu or Nataks, as the case may be, the creation of the work is not over. It is obvious that unless this unification is carried out well, the work will be spoiled, parts, in themselves beautiful can not form a beautiful whole, unless they are strung together beautifully. Asthetic satkaryavada - The commemoration - Volume- page - 163
2. A History of Sanskrit literature - A. B. Keith - P-140
3. इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन इसी शोध प्रबन्ध के कामशास्त्रीय मीमांसा नामक अध्याय में किया गया है ।
4. H. s. L. S. N. Das Gupta & S. K. Day - P- 325
5. All mythology is at his finger's ends. Rhetoric he rides over. He sees no end to the flow of his discription=History of classical sanskrit literature-Krishnamacharya.
6. It is also a treasure house of literary dexterirty and envolves for its appriciation an ptitude in this direction ..... Sri haras not only shares but emphasises to anextreme degree the orst artificialities of his tribe, and no shound hearted, sound minded readeer will ever include him in the small class of great poets. Evin as a rhetorical writr, Srihorsa does notank high, for his Rhetoric is there, not because it is noural accompaniment of the emotion or imagination, but because it is loved for its own sake. It is indicates not only a tendency towards the artificial, but an inability to achieve the natural, History of classical ranokrf litratious - M. Krishanamachariar, Para- 74 Page-180-181

एवं प्रो0 सुरेशचन्द्र पाण्डेय जी ने श्रीहर्ष के व्यक्तित्व के बारे में जो कथन किया वह श्री एस0एन0 दास गुप्त एवं श्री एस0के0 डे के कथन का अनुकरण मात्र लगता है।[1] श्रीबलदेव उपाध्याय ने कहा कि "श्रीहर्ष की प्रतिभा ऊँचे दर्जे की है, परन्तु कालिदास की भावमयी पद्वति से उसकी कभी भी तुलता नहीं की जा सकती। उन्होंने श्रीहर्ष को अलंकृत शैली के सर्वश्रेष्ठ रचयिता, नवार्थघटना वर्णन में चतुर श्रृंगार कला का कवि बोलते हुए कहा कि उनके वर्णन मस्तिष्क का तोष करती हैं मन का तोष नहीं, उनमें हृदय पक्ष का अभाव है, एवं कलापक्ष का प्राधान्य है।"[2] वहीं प्रो. पाण्डेजी ने श्रीहर्ष को विद्वान् कवि बताते हुए उनके काव्य को विरोधी विचारों, गर्वोक्तियों तथा चित्र विचित्र उक्तियों का ऐसा घना जंगल माना, जिस जंगल के वृक्ष फूल और फल से हीन है। " परन्तु वह श्रीहर्ष के मर्मस्पर्शी भावों की मीमांसा करना नहीं भूले।"[3] परन्तु विद्वद्वय ने शायद श्रीहर्ष के साथ न्याय नहीं किया। कालिदास, बाण न तो श्रीहर्ष हो सकते हैं और न ही श्रीहर्ष, कालीदास एवं बाण । प्रत्येक कवि की अपनी अलग वर्णन शैली होती है । फिर श्रीहर्ष तो चौदह विद्याओं में पारंगत थे । कवि तो तत्त्वदर्शी होता है, उसके पाण्डित्य एवं वर्णनचातुरी के सामने कथावस्तु का प्रवाह यदि मन्द गति से भी चले, तो काव्य का विशेष दोष नहीं माना जा सकता फिर "श्रीहर्ष की पद रचना, भाव विन्यास, कल्पना चातुर्य और प्रकृति पर्यवेक्षण आदि सभी विषयों में एक मौलिक सूझ बूझ दिखायी पड़ती है एवं जिस प्रणय पक्ष की कीथ जैसे विद्वानों ने आलोचना की ऐसे प्रणय पक्ष का इतना समर्थ, संयत और हृदय ग्राही चित्रण कुछ ही महाकाव्यकार कर सकने में सफलता प्राप्त किये हैं।[4] डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी जी के कथन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने श्रीहर्ष के व्यक्तित्व का यथार्थ आकलन किया है। वह कहते हैं'' श्रीहर्ष मूर्घन्य महाकवियों में एक हैं एवं इनका यह महाकाव्य ही इनके गुण गौरव और विद्वत्ता का आकर है। पाण्डित्य प्रदर्शन, योग्यता, विद्वत्ता और व्युत्पत्ति में इन्होंने सभी महाकवियों पीछे छोड़ दिया है। इनकी कृति में भाषा सौन्दर्य, भावसौष्ठव, उत्प्रेक्षाओं का बाहुल्य, अर्थान्तरन्यास का वैभव, कलापक्ष की प्रधानता भावपक्ष की उदात्तता, कल्पनाओं के प्राचुर्य के साथ चिन्तन की विशालता, श्रृंगार की क्रीडाओं के साथ करुण का द्रवीभाव भी समाहित हैं।[5] जहाँ हंस विलाप एवं दमयन्ती विलाप में करुण रस का पूर्णपरिपाक एवं हृदयस्पर्शी चित्रण है वही नलदमयन्ती विलास में श्रृंगार का एवं भोजन वर्णन प्रसंग में हास का दृश्य अपनी छटा मानव मन में बिखेर ही देता है। श्रीहर्ष ने पुरातन पद्धति का अन्धानुकरण न कर अपनी कृति को नई शैली में रचा। वे अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों से अत्यन्त प्रभावित थे। उन्होंने कालिदास से प्रसाद गुण नहीं अपितु कल्पना, भारवि से चित्रालंकार आदि नहीं अपितु अर्थगौरव, एवं माघ से कथाशैथिल्य नहीं अपितु पाण्डित्य प्रदर्शन एवं वाग्वैशारद्य आदि गुणों को अपनाया है। वास्तव में श्रीहर्ष का यह काव्य सरस सहृदय एवं व्युत्पन्न मति सम्पन्न पाठकों के लिए शस्य-श्यामल, कुसुमित एवं सुरभित उद्यान हैं, किन्तु पल्लवग्राही, अव्युत्पन्नमति, अरसिक एवं सामान्य बुद्धि पाठकों के लिए नीरस एवं काण्टकाञ्चित कान्तार है। वास्तव में नैषध महाकाव्य विद्वानों के लिए बढ़िया रसायन है, अर्थात् इसके अध्ययन एवं मनन में ही उन्हें बुद्धि विलास तथा शक्ति मिलती हैं तभी शायद नैषध को नैषधं ''विद्वदौषधम्'' कहा गया है। किसी विद्वान् ने नैषधकार की प्रशंसा करते हुए यहाँ तक कह दिया कि -

---

1. तुलनीय H.S.L.S.N. Das Gupta 8 Day. P. 325-328 कवि और काव्यशास्त्र - डॉ0 सुरेशचन्द्र पाण्डे, पृ० 66-67 सं0सा0 इति बलदेव उपाध्याय, पृ० 233......35
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास पं. वकदेव उपाध्याय 233.34
3. कवि और काव्यशास्त्र - प्रो0 सुरेश चन्द्र पाण्डे-पी-66
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास- बहादुर चंद छाबड़ा - पृ० 866
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास-डा0 कपिलदेव द्विवेदी - पृ० 225,226

तावद् भा भारवेर्भाति, यावन्माघस्य नोदयः। उदिते नैषधे काव्ये, क्व माघः क्व च भारविः।

अर्थात् यदि भारवि सौर कान्ति को माघ के माघ मास ने निष्प्रभकर दिया है तो श्रीहर्ष की बासन्ती सुषमा ने माघ के कम्प को भी निरस्त कर दिया है। वृहत्त्रयी के इस अंतिम महाकाव्य के रचयिता, जो कि चिन्तामणि मंत्र सिद्धि से सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत थे, संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ विद्वान् थे, तभी तो मध्यकाल से लेकर आज भी संस्कृत जगत में इनका नाम आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

श्रीहर्ष का कृतित्व कर्म

राजशेखर ने अपने प्रबन्ध कोश के अन्तर्गत श्रीहर्षकविप्रबन्ध में यह विवरण समुपस्थापित किया है कि तत्त्वचिन्तामणि मंत्र सिद्धयानन्तर श्रीहर्ष ने सैकड़ों ग्रंथ की रचना की थी ''बोध्यावगासीत्'' खण्डनादिग्रंथान् परः शताञ्जग्रंथ। कृतकृत्यीभूय काशीमायासीत्।[1] श्रीहर्ष जैसे विदग्ध मनीषी ने इतने ग्रंथों की रचना अवश्य किये होगें परन्तु उनके उन ग्रंथों के नाम एवं उनका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। राजशेखर ने प्रबन्धकोश में भी उनका विवरण नहीं दिया। ग्रंथों की संसारसरणि में श्रीहर्ष के दो ग्रंथ ही जुड़ पाये हैं एवं अपने मूल रुप में उपलब्ध भी हैं। वे हैं नैषधीयचरित, खण्डनखण्डखाद्य/हाँ श्रीहर्ष ने अवश्य अपने ग्रंथ नैषधीयचरित में आठ ग्रंथों का एवं खण्डनखण्डखाद्य में एक ग्रंथ का उल्लेख किया है। इस प्रकार श्रीहर्ष रचित ग्रंथों की संख्या दस ही परिगणित की गयी हैं जिनका विवरण निम्नाकिंत है-

(1) **नैषधीयचरित-** इसमें निषध देश के राजानल के जीवनचरित के बारे में श्रीहर्ष ने 22 सर्गों एवं 2828श्लोकों में इस ग्रंथ कीरचना की। श्रीहर्ष ने इस ग्रंथ पुष्प को श्रृंगार रस की रचनाकृति[2] एवं श्रृंगार रुपी अमृत बरसाने वाला काव्य कहा है।[3] इस ग्रंथ में श्रीहर्ष ने नल दमयन्ती के जीवन का पूरा विवरण नहीं दिया जैसा कि महाभारत के नलोपाख्यान से विदित होता है। इस बात के साथ-साथ अन्य तथ्यों यथा-जीवन की आगामी घटनाओं की ओर संकेत[4] एवं महाकाव्य के सभी लक्षणों यथा-जीवनवृत्तादि को लक्ष्य लेकर प्रो0 नीलकमलभट्टाचार्य,[5] डॉ0 कृष्णामाचार्य[6] एवं डॉ अरुणोदय नटवरलालजानी[7] : नैषधीयचरित को पूर्ण ग्रंथ नहीं मानते। श्री नीलकमल भट्टाचार्य, डॉ वात्वे, एवं कृष्णामाचारी नैषधीयचरित में 60 से 120 सर्ग मानते हैं, जब कि काव्य प्रकाश के टीकाकार अच्युताचार्य 100 सर्ग मानते हैं। श्रीहर्ष ने 21 प्रकार के छन्दों[8] का प्रयोग किया है जिनमें छोटे छन्दों की अधिकता है। स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता एवं शिखरिणी जैसे बड़े छन्दों का प्रयोग कम किया है। यह भी संभव है कि श्रीहर्ष ने रत्नाकर के हरविजय

---

1. प्रबन्धकोष- पृ० 54
2. श्रृङ्गारभङ्ग्यामहाकाव्ये-नै० 1/145
3. श्रृंगारामृतशीतगौ - नै० 11/130
4. कारिष्यते परिभवः कलिना नलस्या। नै० 13/37 पूर्वपंक्ति
   चक्रदार विरहेक्षणक्षणे विभ्यती धवहसाय साभवत्। क्वापि वस्तुनि वदत्यनागतं चित्तमुद्यदनिमित्तवैकृतम्।। नै० 18/69
5. The Conclusion, therefore, is inevitable that the current Naisadha is incomplete.
   सरस्वती भवन स्टडीज वैल्यूम 3,1924, पृ० 164-165
6. It is had that it is still lurking in some corner of Bangal and may one day be restord to नै० हिस्टी आफ संस्कृत लिटरेचर-कृष्णामाचारी पं0 180
7. It is therefor pÜoaper to conclude that the present poem is incomplete and shows indications that its auther had in his mind to poetise the whole of the Mbh episode but he could not do so far one reason or another. - , क्रिटिकल स्टडी आफ श्रीहर्ष नैषधीय चरितम् ए0ए0 जानी- पृ०-25
8. H.S.L.- S.N. Das Gupta & S.K. day, valum-I-P. 329

(50 सर्ग) को पछाड़ने हेतु अपने ग्रंथ का विस्तार किये हों, परन्तु यह वास्तविकता के धरातल पर सही प्रतीत नहीं होता। यह तो सार्वजनीन तथ्य है कि भारतीय काव्य की परिणति सुखान्त की जाती है न कि दुःखान्त, शायद इसी लिए श्रीहर्ष ने महाभारत से केवल वहीं तक का अंश ग्रहण किया, जहाँ तक काव्य सृजन हेतु उसे शास्त्र संगत लगा, इसीलिए उन्होंने नल दमयन्ती के कामोपभोगानन्द तक की स्थिति का वर्णन किया, साथ ही उन्होने नैषधीयचरित के अंतिम सर्ग के अन्त में कहा कि चन्द्रदेव हमारे (आनन्दाभिषेक आलिंगन के समय) ऊपर एक सहस्र धार कलश की भांति अमृत वर्षा करते हुए हम लोगों को सुख एवं सन्तोष प्रद हो[1] एवं ग्रन्थ समाप्ति सूचक ग्रन्थान्त मेंग्रन्थ प्रशस्ति श्लोक भी दिया है। इसलिए नैषधीयचरित एक पूर्ण ग्रंथ माना जाना चाहिए । डॉ ए0बी0 कीथ[2] एवं नैषध के टीकाकार नारायण एवं विद्याधर[3] भी नैषध को पूर्ण काव्य मानते हैं। नारायण ने स्पष्ट लिखा है कि ''आनन्दपदेन'' तुष्टयेस्तु इत्याशिषा च ग्रंथसमाप्ति द्योतमति।''[4]

नैषधीयचरित महाकाव्य का स्रोत- शतपथ ब्राह्मण 2/2/4-(1-2), महाभारत वनपर्व (52-79) कथासरित्सागर, कुमारपालप्रतिबोध, पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड, लिंगपुराण 1/66,24-25, वायुपुराण 2/26/74, हरिवंश पुराण 1/15, ब्रह्माण्डपुराण 2/63, 173, 74, परन्तु प्रमुखतया महाभारत का नलोपाख्यान ही नैषध की कथा वस्तु का आधार है। नैषध की सम्पूर्ण कथा नलोपाख्यान के प्रथम छैः अध्यायों में ही समाहित है।

(2) स्थैर्यविचारण प्रकरण[5] इस ग्रंथ में सम्भवतः श्रीहर्ष ने बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन किया होगा। सम्प्रति यह ग्रंथ अप्राप्य है।

(3) विजयप्रशस्ति-[6] इस अनुपलब्ध ग्रंथ में जय चन्द्र के पिता विजयचन्द्र की प्रशस्ति का वर्णन है।

(4) खण्डनखण्डखाद्य[7] इस उपलब्ध ग्रंथ पुष्प में श्रीहर्ष ने नैयायिकों का खण्डन कर उन्हीं लोगों को खांड (गुड़ से बनी चीनी) रुप में खाने को दे दिया. अर्थात् इसमें उन्होंने नैयायिकों के सिद्धान्तों का न्याय विधि का अवलम्ब लेकर खण्डन किया एवं अद्वैत सिद्धान्त का मण्डन किया। इसमें 4 परिच्छेद एवं कूल 66 विभाग हैं यह अद्वैत वेदान्त का अत्यधिक दुरुह एवं पाण्डित्य सम्पन्न ग्रंथ हैं। 1200ई० में गंगेश उपाध्याय ने खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन अपने ग्रंथ ''तत्त्वार्थचिन्तामणि'' की रचना की। सोलहवीं शताब्दी में शंकर मिश्र ने इसी की शैली पर 'वादिविनोद' लिखा।

(5) गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति-[8] कवि प्रकृत्या यायावर होते हैं। श्रीहर्ष भी कभी भ्रमण करते करते गौड देश (बंगाल) गये होंगे, एवं वहाँ के राजा ने उनक अत्यधिक सम्मान किया होगा, उस राजा की सेवाओं का परिणाम फल उनकी प्रशस्ति रुप में परिणत हुआ। यह ग्रंथ भी लुप्तप्राय है।

---

1. पुष्पैष्यासनतत्प्रिया परिणयानन्दाभिषेकोत्सवे, देवः प्राप्तसहस्रधारकलशश्रीरस्तु नस्तुष्टये।। नै० 22/148 उत्तरार्द्ध
2. It is happily in credible that even sriharsa should have thought it worthwhile further Elaborating this theme. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर- ए0बी0 कीथ- पृ० 140
3. ननु महाभारतेनलोपाख्यानस्येव वक्तुमुचिततत्वात् श्रीहर्षेणोपाख्यानैकदेशे काव्यविश्रान्तिः कथंकृता।सकलनलोपाख्यानस्यैव वक्तुमुचितत्तवात् । सत्यम्। काव्यं हि सहृदय-हृदयानामावर्जकं भवति। हृदयावर्जकं च काव्यं स्वरसेन क्रियते । यत्र च पुनरैतिह्ये एक देशे सरसत्तवं दृश्यते। तत्रेयानेनापि विश्रान्तिः कृतेति भावः। -नैषध-विद्याधरी टीका
4. नैषधीयचरित-नारायणी टीका, (दाधीचिपंडित शिवदत्त शर्मा) सन् 1912, पृ० 527
5. तुर्यः स्थैर्यविचारण प्रकरणं भ्रातर्ययं तन्महाकाव्ये -------- नै० 4/123
6. तस्य श्री विजयप्रशस्तिरचनातातस्य नव्येमहाकाव्ये ---- नै० 5/138
7. षष्ठः खण्डनखण्डतयोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महाकाव्ये ----- नै० 6/113
8. गौडोर्वीकुलप्रशस्तीाणिति भ्रातर्ययं तन्महाकाव्ये ----- नै० 7/110

(6) अर्णववर्णन-[1] श्रीहर्ष गौडदेश में रहते हुए समुद्र दर्शन का भी लाभ लिये होगें। फलतः उसकी प्राकृतिक छटा से आकृष्ट होकर उन्होंने अर्णववर्णन ग्रंथ काव्य लिखा होगा। यह ग्रंथ भी अनुपलब्ध हैं।

(7) छिन्दप्रशस्ति-[2]इस अप्राप्य ग्रंथ में छिन्द नामधारी किसी राजा की जीवनचर्या का प्रशंसातमक विवरण श्रीहर्ष दिये होंगे।

(8) शिवशक्तिसिद्धि-[3] श्रीहर्ष शिव, शक्ति (पार्वती) के उपासक थे, अतः उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की होगी। ध्यात्त्वय है कि वे चिन्तामणिमंत्र (अर्धनारीश्वर) के साधक थे। यह ग्रंथ भी अप्राप्य है।

(9) नवसाहसांकचरितचम्पू-[4] इस ग्रंथ को राजा भोज के पिता नवसाहसांक उपाधिवाले सिन्धु राजा कीप्रशस्ति में श्रीहर्ष ने लिखा होगा। यह भी अनुपलब्ध ग्रंथ है।

(10) ईश्वराभिसन्धि-[5] इस ग्रंथ के होने का उल्लेख श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य मेंदिया है। ईश्वर को लक्ष्य लेकर लिखा गया दर्शन का यह ग्रंथ होगा जिसमें अनीश्वरवादियों का खण्डन श्रीहर्ष नेकिया होगा जैसा कि खण्डनखण्ड खाद्य में ''अप्रसंगात्मक तर्क निरुपणम्'' आये ईश्वरामिसन्धि से ध्वनित होता है परनतु यह ग्रंथ भी अप्राप्य है।[6]

उपर्युक्त दस ग्रंथों में सम्प्रति श्रीहर्ष के दो ग्रंथ ही प्राप्त हैं। नैषधीयचरित एवं खण्डखण्डखाद्य। शेष आठ ग्रंथ लुप्तप्राय हैं। नैषध में जिन आठ ग्रंथों का वर्णन मिलता है, वे अवश्य ही नैषध से पहले लिखे गये होगें परन्तु उन आठ ग्रन्थों में खण्डनखण्डखाद्य पर यह बातनहीं लागू होती, क्योंकि श्रीहर्ष ने नैषध में लिखा है कि ये दोनों ग्रंथ (नैषध एवं खण्डनखण्डखाद्य) साथ-साथ लिखे गये।[7] साथ ही खण्डनखण्डखाद्य में नैषध के 21वें सर्ग का उल्लेख प्राप्त होने से ऐसा मालूम होता है कि कवि ने खण्डनखण्डखाद्य को पूर्ण करने के पहले ही नैषधीयचरित को पूर्ण कर लिया हो, साथ ही यह भी स्मरणीय है कि उन्होंने ईश्वराभिसन्धि ग्रंथ के होनेका वर्णन नैषध में न देकर खण्डनखण्डखाद्य के अंतिम प्रकरण में दिया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वराभिसन्धि ही उनकी अंतिम कृति रही होगी क्योंकि खण्डनखण्डखाद्य में उसका वर्णन भविष्य में होने को सूचित करता है यथा- शेषं चेश्वराभिसान्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः, श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते'' ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रंथ को श्रीहर्ष ने पूर्ण कर लिया था या नहीं इस बारे में कुछ कह पाने के लिए कोई भी विवरण नहीं मिलता । उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष के प्राप्त ग्रंथपुष्पों में कालक्रमदृष्ट्यानुसार नैषधीयचरित खण्डनखण्डखाद्य से प्राचीन कृति सिद्ध होती है।

---

1. संदृब्धार्णववर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महाकाव्ये ------ नै० 9/160
2. यातः सप्तदशः स्वसुः सुसदृशि छिनप्रशस्तेर्महाकाव्ये ------ नै० 17/222
3. यातोऽस्मिञ्शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभव्ये-महाकाव्ये ----- नै० 18/154
4. नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतोऽयं महाकाव्ये------ नै० 22/149
5. दृष्टव्योदाहरणं चैतदीश्वराभिसन्धौ वेदप्रामाण्ये तथा, यथा न सौगताऽपि विप्रतिपत्तुमर्हति।----- दर्शितं च विविच्येदमीश्वराभिसन्धौ। -खण्डनखण्डखाद्य-अप्रसंगात्मकतर्कनिरूपणम्, प0 779-781
6. श्रीहर्ष ग्रंथों के विवरण हेतु द्रष्टव्य H.C.S.L.M. Krishnamachariar, Para-75 P. 181.
7. षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे ---- नै० 6/113

परिवेश

श्रीहर्ष मध्यकालीन समय के प्रतिनिधि महाकाव्यकार थे। मध्यकाल में सामन्ती प्रथा, एवं राजशाही प्रशासन था। कवि युग द्रष्टा होते ही हैं, वे अपनी रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जनजीवन का चित्रण किसी न किसी रुप में अवश्य कर देते हैं। कवि के ऊपर परिवेश का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है क्योंकि परिवेश का आवरण हर मानव को ढक ही लेता है। तत्कालीन परिवेश से प्रभावित होकर श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में जो वर्णन किया है, उससे उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, भौगोलिक स्थिति का आकलन किया जा सकता है।

श्रीहर्ष ने अपनी कृति में मध्य कालीन राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण किया है। मुगलों का भारत पर आधिपत्य करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी एवं भारतीय नरेश आपसी रंजिस के शिकार थे। वे मिलजुलकर बाहरी मुगल आक्रमण का सामना न कर आपसी शत्रुता में ही अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे थे। ऋतुपर्ण के प्रसंग में कवि प्रतीक रुप से कन्नौज नरेश तथा दिल्लीपति (पृथ्वी राज चौहान) के कटु सम्बन्धों कीओर संकेत करता है-

द्वेष्या कीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्याऽस्ययद्दोर्द्वयी कीर्तिश्रेणिमयी समागमाद् गंगा रणप्रांगणे।
तत्तस्मिन्विविनिमज्जय बाहुजजभटैरारम्भि रम्भापरी रभानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः।।[1]

कविगण अपने सम्राट की स्तुतिपरक ग्रंथ लिखने में ही स्वयं को धन्य समझते थे उन्होंने अपने सम्राट को यथास्थिति से परिचित कराने वाले काव्यों में अपनी लेखनी नहीं चलायी। श्रीहर्ष भी अपने स्वामिवंश की प्रशंसा करते दिखते हैं,[2] परन्तु नैषधकार ने तत्कालीन सांस्कृतिक गतिविधियों का भी वर्णन किया है। नैषधकार तत्कालीन सामाजिक दशा का चित्रण करते हुए कहते है कि उस समय भवन निर्माण कला पर्याप्त विकसित अवस्था में विद्यमान थी। श्रीहर्ष ने कुण्डिनपुर का जो वर्णन नैषध में किया हे वह तत्कालीन राजधानियों का परिचायक है। कुण्डिनपुर के भवन या यों कहें कि तत्कालीन राजभवन जिन्हें श्रीहर्ष "सौध" नाम से अभिहित करते हैं ऊँचे एवं सुधा धविल रहते थे। भवनों पर पताकायें लहराती रहती थीं। भवन के स्तम्भ शालभञ्जिकाओं तथा सिंहादिको की प्रतिमाओं से सुसज्जित रहती थीं। उन पर कलश बनवाने कीभी प्रथा थी, परकोटे से बाहर एक गहरी तथा चौड़ी परिखा भी बनायी जाती थी, प्रवेश हेतु विशाल कपाट बनाये जाते थे। नगर के मध्य में बाजार था। आवागमन हेतु राजपथ थे। राजभवनों के द्वार पर सन्तरी खड़े रहते थे, शुभ अवसरों पर भवनों , राजपथों को तोरणों मालाओं तथा चित्रों से सजाने की परम्परा थी। यद्यपि श्रीहर्ष ने ग्रामीण बस्तियों का विवरण नहीं दिया, परन्तु राजधनियों में रहने वाले व्यक्तियों के भवनों तथा उनमें स्थित वातायनों, राजपथ एवं बाजारों आदि से श्रीहर्ष ने जो वर्णन किया है, वह शहरी आवास व्यवस्था की झलक ही उपस्थित करता है। राज्य में अनेक कर्मचारी थे। राज्य का प्रधान कर्मचारी अमात्य कहलाता था। यह इतना योग्य एवं विश्वासपात्र होता था कि राजा अपने समस्त उत्तर दायित्त्व को उस पर छोड़ देता था।[3] अमात्यों की संख्या एक से अधिक थी। वे राजा को सभी समाचारों से अवगत कराते थे। राजभवन के सेवकों में कञ्चुकी मुख्य कर्मचारी था। द्वारपाल सशस्त्र एवं चौकन्ने रहते थे। प्रतीहारों के समान अन्तःपुर में प्रतीहारिणी होती थीं, जो दंड धारणा किये रहती थीं। सन्देश

---

1. नै० 12/12
2. इतिश्रुतिस्वादितत‌द्गुणस्तुतिः, सरस्वतीवाङ्गमय विस्मयोत्थया ।
   शिरस्तिरःकम्पनयैव भीमजा, न तं मनोरन्वयमन्वमन्यत् ।। नै० 12 /93
3. न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादारराध मदनं प्रियासखः। नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमे हेमभूमिभृति सौधमूधरे।। नै० 18/3

प्रेषणादि के लिए दूत एवं दूतियाँ होती थी अन्तःपुर में दासियाँ थी, पर राजकुमारियाँ इनसे सखी जैसा व्यवहार करती थीं। स्वास्थ्य की देखभाल के लिए राजवैद्य थे। वैतालिक लोग प्रातःकाल स्तुति कर राजा को जगाने का कार्य करते थे । वस्त्रादि प्रच्छालन के लिए रजक एवं रथ हांकने के लिए सूत (सारथी) होते थे, तथा शिविका (पालकी) ढोने के लिए कुशल यानवाहक थें लेखनकार्य हेतु स्याही तथा खड़िया थीं। मद्यपान हेतु कलात्मक चषक थे। लेनदेन में बहुमूल्य रत्न से लेकर कौड़ियों तक का प्रयोग किया जाता था।[1] शयन में अच्छे पर्यंकों का प्रयोग एवं दहेज प्रथा विद्यमान थी।[2]

धार्मिक अवस्था का चित्रण करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि उस समय जनसाधारण तथा राजपरिवार दोनों की ही धार्मिक क्रिया कलापों में आस्था थी। इहलोक तथा परलोक में लोंगों का विश्वास था। संसार को क्षण-भंगुर तथा मिथ्या माना जाता था। धर्म एवं यश आदि के लिए जीवन तक को उत्सर्ग कर देना आदर्श था।[3] लोगों का जीवन भाग्यवादी था जो उनके विचारों से ध्वनित होता है यथा-

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ।।[4]

स्पष्ट है कि लोगों की ज्योतिष में भी आस्था थी। देवताओं के पूजन को अभीष्ट संपादक समझा जाता था। उनकी आराधना, प्रणाम, ध्यान , पूजन तथा स्तुति आदि से की जाती थी। सूर्य, विष्णु, शिव, प्रधान देवता थे पूजनोपरान्त ध्यानादि तथा दानादि की प्रथा थी।[5] तन्त्रमन्त्र का भी प्रचलन था। स्वयं श्रीहर्ष भी चिन्तामणि मंत्र (अर्धनारीश्वर) की सिद्धि किये थे। मातृभक्ति एवं पितृभक्ति भी तत्कालीन समय में थी। श्रीहर्ष स्वयं इसके समर्थक थे। धार्मिक अनुष्ठान के साथ-साथ वेदपाठ भी होता था। धार्मिक स्नान के लिए तालाब, एवं नादियाँ थी। साथ ही कलि प्रसङ्ग के माध्यम से श्रीहर्ष ने यह भी बतलाने की चेष्टा की है कि उस समय भी परस्त्रीगामी, पापाचारी कामी तथा स्वेच्छाचारी, ऋषियों एवं मुनियों की खिल्ली उड़ाने वाले लोग थे।[6]

सांस्कृतिक परिवेश का विवरण देते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि उस समय विभिन्न प्रथाएँ विद्यमान थीं। स्वयंवर के साथ-साथ ब्राह्म विवाह का प्रचलन था। स्वयं कुण्डिनपुरनरेश भीम ने नलदमयन्ती के परिणय संस्कार दोनों विधियों से किये थे। दहेजप्रथा भी थी, क्योंकि भीम ने नल को दहेज रूप में विभिन्न आभूषणों के साथ-साथ एक खंजरी भी दी। वरमाला दूर्वाङ्कुरों एवं बन्धूक पुष्पों की बनी होती थी। वरमाला पड़ने के बाद कुछ राजाओं के निराश होने पर युद्ध की भी स्थिति आ जाती थी। बारात की अगवानी, के बाद पाणिग्रहण संस्कार में ग्रंथिबन्धन, ध्रुवदर्शन, होम, संकल्प तथा दक्षिणा आदि का वैवाहिक व्यापारों में समावेश था, जो आज तक भी भारतीय संस्कृति में प्रचलन में है। बारात तीन चार दिन तक रुकती थी। सिन्दूर दान की भी प्रथा थी। औरतें चूड़ियाँ पहनती थीं, ओठों में यावक एवं पैरों में आलक्तक (रंग) लगाती थीं, केशों में पुष्प लगाना, तथा रेशमी वस्त्र एवं आभूषण स्त्रियों को प्रिय थे। सौन्दर्य के लिए अनुलेप एवं कुंकुम आदि का प्रयोग स्त्रियाँ करती थीं। स्त्रियाँ के साथ-साथ पुरुष भी ज्ञान विज्ञान की

---

1. बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्कारः। हिमवालुकयाच्छवालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः।। नै० 2/88
2. तदा निसस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम् ।
   अयापुरुच्चैः सुषिराणि राणितामनमानद्धमियत्तयाध्वनीत् ।। नै० 16/16
3. नै० 5/118
4. नै० 1/120
5. 21/118-119
6. नै० 17/37.........83

शिक्षा लेते थे। भोज्य पदार्थों में ओदन, पायस, घृत, दधि, विभिन्न पशुओं का मांस, पानक, गोलक, लड्डू, सत्तू, नवनीत, ताम्बूल, पर्पट, द्राक्षासव एवं मदिरापान मुख्य थे। मनोविनोद के साधनों में नृत्य, गीत एवं वाद्य (तौर्यत्रिक) थे। स्त्रीपुरुषों के सामूहिक नृत्य भी होते थे।[1] मृगया तथा उपवनविहार भी विनोदार्थ किये जाते थे। राजाओं के अन्तःपुर में विनोदार्थ हंस, सारिका, शुक तथा कोकिल आदि पक्षियों को भी रखा जाता था, स्त्रीपुरुष आपस में भी हासपरिहास कर लेते थे। वाद्यो में वीणा, मृदङ्ग, विपञ्ची, वेणु, ढोल, तुरही, वंशी आदि प्रमुख थे। स्त्रियाँ कन्दुक के साथ-साथ अभिनय के माध्यम से भी मनोविनोद करती थीं। कठपुतली नृत्य, चित्रकला तथा मूर्तियाँ भी मनोविनोद का साधन थीं। कविता पाठ एवं विद्वत्गोष्ठियों का आयोजन भी तत्कालीन समय में प्रचलित था। बारात में भी हास-परिहास का प्रचलन था।

भौगोलिक दशा की स्थिति बताते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि उस समय (भारत) जम्बू द्वीप के राजाओं में अवन्ती, गौड़, मथुरा एवं काशी नरेश सशक्त राजा थे। श्रीहर्ष ने अवन्ती के साथ उज्जयिनी नगरी तथा शिप्रा नदी, मथुरा के साथ यमुना नदी, वृन्दावन एवं गोवर्धन पर्वत तथा अयोध्या के साथ सरयू का भी उल्लेख किया है । बदरिका आश्रम के निकट स्थित कल्पग्राम की सत्ता, तथा काशी के निकट असी के पास नलपुर का बसना भी भौगोलिक एवं ऐतिहासिक तथ्य है। इसी प्रकार सरस्वती, यमुना ताम्रपर्णी तथा गंगा आदि नदियों का संकीर्तन, गोवर्धन, हिमालय, मेरु, कैलाश, मलय, विन्ध्याचल आदि पर्वतों के सन्दर्भ तथा विभिन्न समुद्रों,[2] दारुवन तथा वृन्दावन का उल्लेख भी भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

दार्शनिक परिवेश की स्थिति की मीमांसा श्रीहर्ष के दोनों ग्रंथों नैषधीयचरित एवं खण्डनखण्डखाद्य में वर्णित तथ्यों के माध्यम से की सकती है। वह यह है कि उस समय दार्शनिक क्रान्ति का बोलबाला था। स्वयं श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर को एक नैयायिक (उदयनाचार्य) से पराजित होना पड़ा था, उसी के प्रतीकारार्थ श्रीहर्ष ने खण्डनाखण्डखाद्य की रचना की। स्पष्ट है कि उस समय दार्शनिक स्थिति अवस्थित थी। एक ओर ईश्वर में आस्था न रखने वाली बौद्ध परम्परा विपन्न हो चुकी थी, तो दूसरी ओर ईश्वर वादी शैव कापालिक, कालमुखादि भी मृत्युशय्या पर पड़े थे। बौद्ध वज्रयानियों से लेकर वैदिकतन्त्र साधकों तक एक ही अग्नि धधक रही थी। धर्मचक्र का स्थान भैरवी चक्र, उपोसथ व्रतों का स्थान अनीतियों एवं कुरीतियों ने ले रखा था। चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक साङ्ख्य, तथा वेदान्त आदि सभी दर्शनों की सत्ता उस युग में विद्यमान थी[3] परन्तु तार्किक गण शाङ्कर के अद्वैतवाद की खिल्ली उड़ाने लगे थे। अनिवर्चनीयतावाद का घोर खण्डन किया जा रहा था। आचार्य शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वालों का बोलबाला हो गया था। मीमांसकगण बौद्ध प्रतिरोध से प्रभावित होकर अपने याज्ञिक पक्ष को छोड़कर प्रमाण के क्षेत्र में चिन्तनरत हो गये थे। ऐसी परिस्थिति में प्रमाणमीमांसा पर एक प्रबल प्रहार करने की आवश्यकता थी, अतः श्रीहर्ष ने अपनी कृति खण्डनखण्डखाद्य की रचना कर नैयायिकों और वैशेषिकों के माध्यम से निर्वचनचर्चा पर आघात किया, फलस्वरूप वेद और वेदान्त के साधना पक्षों का द्वार उद्घाटित हुआ एवं वेदान्तिक पक्ष प्रशस्त हुए। वैताण्डिक प्रतिवादियों की बाढ़ कम हुई, प्रत्येक वादी को अपने वाद प्रस्तुत करने का अवसर मिला, यद्यपि "कीरवदेतदुक्त्वा दिग्विजयाकौतुकमातनुध्वम्"[4] जैसी

---

1. यत्र वैणरववैणवस्वरैर्हुंकृतैरुपवनीपिकालिनाम्। कङ्कणालिकिलहैश्च नृत्यतां कुब्जितं सुरतकूजितं तयोः।। नै० 18/17
2. नै० 20/2, 21/27
3. नै० 17/37...........214
4. खण्डनखण्डखाद्य- पृ- 12

युक्ति के साथ-साथ प्रतिवादियों की ओर से भी "नित्यंकथासु विजिगीषुभिरेष धार्यः"[1] इत्यादि नारे भी लगाये गये किन्तु विजयश्री ने श्रीहर्ष को ही वरण किया। यह सच है कि तार्किको की कुदृष्टियों का खण्डन करने के लिए श्रीहर्ष ने तत्काल चार्वाकों एवं सौगतों की प्रणाली को अपनाया, किन्तु पश्चात् अपनी खण्डन युक्तियों को व्यापक बनाकर उन तर्कपद्धतियों को भी अपनी खण्डनीय कोटि में समेट लिया। उन्हीं की ओर सङ्केत करते हुए कहा गया-

तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे । श्रृङ्खलां तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया।।[2]

स्पष्ट है कि श्रीहर्ष ने शाङ्कर अद्वैतवाद के मत की स्थापना करते हुए लोकजीवन में सत्य एवं अनृत (भ्रम माया) के सम्मिश्रण वाले व्यवहरित जीवन को ही अभीष्ट समझा होगा क्योंकि सारा संसार सत्य तथा अनृत के मिथुनीभाव के बीच में ही संचालित है, एवं लोकजीवन की चरितार्थता भी इसी में है कि वह पुत्रैषणा, लोकैषणा, एवं वित्तैषणा की भावनाओं में रमा रहे। अगर उसे यह ज्ञान हो जाय कि संसार मिथ्या है, तो संभव है वह लोक जीवन की क्रियाओं से विमुख हो जाय, तब सांसारिक जीवन की क्रियाएँ ही बाधित हो जायेंगी।

---

1. तार्किकरक्षा, मेडिकल हाल काशी, 1903, पृ० 364
2. खण्डनखण्डखाद्य- पृ० (791)

द्वितीय अध्याय

नैषधीयचरितम् में दार्शनिक संदर्भ

दर्शनशास्त्र

चिन्तन मनुष्य मात्र की सहज प्रवृत्ति है। निःसन्देह हर मनुष्य का चिन्तन अलग-अलग होता है। वैसे मानव, पशु, पक्षी, सभी की जीवन विधाओं में 'चिन्तन' 'सामान्य' तत्व के रूप में समाहित है. किन्तु मानव के अतिरिक्त पशु पक्षी इत्यादिका चिन्तन केवल उनके जीवन धारण और जीविका दर्शन तक ही सीमित रहता है, जब कि बौद्धिक प्राणी होने के नाते मानव का चिन्तन यथार्थता के आलोक से प्रकाशित होने के कारण जीवन दर्शन के साथ साथ उनके यथार्थ का ज्ञान का प्रतिपादक होता है, क्योंकि दर्शन यथार्थ ज्ञान का ही पर्याय है । आज विरासत रूप में जो संसार हमारे सामने अवस्थित है, वह हमारे पूर्वजों ऋषि मुनियों एवं विद्वज्जनों की गवेषणाओं की प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है । स्पष्ट है कि हमारे सामने अनन्तकाल का प्रवाह वह रहा है, एवं हम उसी अनन्त प्रवाह से एक लोटा पानी निकालकर अपने ज्ञान की तृष्णा बुझाना चाहते हैं तथा संसार को विविध रूपों में परिभाषित करते हैं । वेद, पुराण एवं उपनिषदों से भी यह स्पष्ट होता है कि मानव में कौतूहल एवं पृच्छा की प्रवृत्ति उसकी मौलिक विशेषता थी[1] एवं अपनी पृच्छा तथा कौतूहल की सन्तुष्टि में मानव ने जिन विविध विचारों को अभिव्यक्त किया, उन सबका व्यवस्थित स्वरूप ही ''दर्शन'' नाम से अभिहित हुआ । दर्शन, जीवन दृष्टि को देखने की एक विशिष्ट विधा है । मानव जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण तथ्यों यथा-संस्कृति, विज्ञान, धर्म, कला से दर्शन का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है, क्योंकि चाहे जिस, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण के लोग हों, उनका दर्शन से अटूट सम्बन्ध रहता है, हाँ विविधता भले हो सकती है।[2] अगर धर्म जीवन की आचार पद्धति है, तो दर्शन मनुष्य की बौद्धिक परिपुष्टि का दस्तावेज या जीवन की जीवन्त दृष्टि है । यह तो यथार्थ सत्य है कि संसार के सम्पूर्ण मनुष्यों की चिन्तन की विधायें एक नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि भी सामाजिक भौगोलिक, प्राकृतिक वातावरण या स्वयं मनुष्य के पूर्वाग्रहों से प्रभावित होती है, इसलिए एक ही प्रश्न के मनुष्यों द्वारा विविध शैली में अनेक उत्तर हो जाते है ।[3] अर्थात् निर्णय ऐकान्तिक न होकर अनैकान्तिक हो जाता है, इस रूप में दर्शन भी अनेक हो गये । दर्शन को 'आन्वीक्षिकी' विद्या के नाम से भी जाना जाता है। अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य का कहना है कि दर्शनशास्त्रह सभी विधाओं का दीपक है, वह सभी कर्मों को सिद्ध करने का साधन है, साथ ही सभी धर्मों का अधिष्ठान भी है।[4] लेकिन ग्रीक भाषा में दर्शन का अर्थ विद्यानुराग, या ज्ञान के प्रति प्रेम, या

---

1. आत्मा येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
   एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीय ॥ कठो. 1/1/20
   – किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
   अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ श्वेताश्वर उप. १/१
   – को अद्धा वेद क इह प्रवोचत कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः । नासदीप सूक्त
   – हिष्यममेन पत्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।
   तत्वं पूषन्नपावणु सत्य धर्माय दृष्टये ॥ इशिवास्यो मंत्र 15
   – मुण्डं 1/1/3, छान्दो 6/1/3, 7/1/2, 7/23/1, वृ. 2/4/5
2. All Philosophy is systematic symbolism and sympalism necessarily admits of alternatives. There are Naturaly different schools.–K.C. Bhatacharya, The chief currents of contemparary philosophy. D.M. Datta- p-133
3. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ऋ १/१४४/६६
   – रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथ जुषां ।
   मणिामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ पुष्पदन्त-शिवमहिम्नस्त्रोत्र
   – मनुष्य की मूल्य चेतना बदलती और विकसित होती रहती है, उसी के अनुरूप दर्शन भी नये रूप धारण करता है । भारतीय दर्शन, नंदकिशोर देवराज, पृ० 10
4. प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
   आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ अर्थशास्त्र (कौटिल्य) 2/13

ज्ञान की चाह (Love of wisdom) हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों[1] के साथ साथ भारतीय विचारकों ने दर्शन की विविध रूपों में व्युत्पत्तियाँ की हैं। यथा-दृश् धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर दर्शन का मौलिक अर्थ होगा दर्शन या दृष्टि (ख्यातिरेव दर्शनम्) अर्थात् देखना, जिसका तात्पर्य है तत्वसाक्षात्कार यदि दृश् धातु से ल्युट् प्रत्यय को करण अर्थ में स्वीकार किया जाये तो दर्शन शब्द का अर्थ होगा, जिसके द्वारा देखा जाये (दृश्यते अनेन इति दर्शनम्) अर्थात् दर्शन वह विशिष्ट विधा है, जिसके द्वारा तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है । भारतीय दर्शन की मीमांसा के पश्चात् "दृश्यते आत्मादितत्वमनेनेति दर्शनम्" इस प्रकार का 'दर्शन' सम्बन्धी अर्थ भारतीय विचारकों या भारतीय दर्शनों के लिए समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि इनकी दर्शन सम्बन्धी विवेचना में अध्यात्म का समन्वय समाहित है । विलियम अर्न्स्ट हाकिंग भी दर्शन को मौलिक रूप को अध्यात्मनाद से समन्वित मानते है[2] उपनिषदों में भी ऋषियों ने आत्मतत्व पर विचार किया है।[3] ईसा के अपने आप को जानो ~~ह्वू जीलेमसैहि~~ कथन में उपनिषदों का प्रभाव माना जा सकता है; जबकि तथा महात्मा बुद्ध का सम्मादिट्ठि का उपदेश आत्मदीपो भव का सूचक है । इस रूप में भी भारतीय दर्शन तत्वज्ञान का रास्ता दिखाता है, जो नित्यानन्द की अवाप्ति के साथ-साथ ब्रह्म जैसे अथाह समुद्र में गोते लगाने के समान है ।[4] भगवान कृष्ण ने भी यही बात गीता में कही है-

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूमः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।[5]

भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी-अपनी दृष्टि से उसी एक सार्वभौम तत्व का साक्षात्कार करने के विविध साधन प्रस्तुत करते हैं, जबकि उन सबका एक ही लक्ष्य है परमतत्व का ज्ञान या साक्षात्कार। पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने भी माना है कि विज्ञानस्वरूप शिवतत्व का साक्षात्कार मानव जीवन का चरम लक्ष्य है ।

सांसारिक जन तो किसी भी अभिव्यक्ति का बाहरी कन्चुक मात्र देखता है, अभिव्यक्ति की अन्तप्रक्रिया से उसे क्या लेना देना ? यह कार्य तो योगकुशल परमहंसो, दार्शनिकों अथवा सन्तों का है, जो संसार में रहते हुए संसारी नहीं होते । मानव संस्कृति के ऊषाकाल से ही भारत शास्त्रचिन्तन की भूमि रहा है एवं इसी शास्त्र चिन्तन ने ही भारत को विश्वगुरू' बनने का गौरव प्रदान किया था।[6] प्रो0 जिमर भी यह मानते हैं कि पाश्चात्य विचारधारा, चाहे वह प्राचीन ग्रीक प्रत्ययवाद (Idealism) हो या आधुनिक ईसाई मत हो, की प्रमुख अभिरुचि मानवता ही रही है, जब कि भारत के सन्त महात्माओं के लिए मानवता से ऊपर उठना (और जीव मात्र तक फैल जाना ही) समस्त साधनाओं का लक्ष्य है,[7] और ऐसा मनुष्य

---

1. – Philosphy aims at a knowledge of eternal and issential nature of things - Plato
   – Philosphy is the scence, which investigates the nature of being, as it is in itself - Aristqtle
   – Philosphy or Metaphysics is an attempt to know reality as against mere appearance - Bradly
   – Philosphy is the Metaphysics of reality or a knowledge of that which is eternal - Hegel
   – Philosphy is the science and criticism of cognition - Kant
   – Philosphy is the science of knowledge.- Fichte
   – Philosphy is the sum total of all scientific knowledge. - Paulsen
   – Philosphy is the science of all sciences. - Comte
   – Philosphy is the synthesis of science, a universal science or a super science - Harbort spancer
   – Philosphy is the logical study of the foundations of science. - Bertrand Russel
   – Philosphy is the logical analysis of the proqsitions of science or critique of language.-Witzenstein
2. Types of Philosophy-william 'Ernst hocking. अनुवादक रमेशचन्द्र 14
3. आत्मा वाऽरेद्रष्टव्यः श्रोतव्यों मन्तव्यों निदिध्यासितव्यश्च मैत्रेयि। वृ०उ० 2/4/5
4. Schools of Indian philosophical thoughts स्वामी प्रज्ञानानन्द पृ० 1
5. गीता- 6/43-45
6. एत्तद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरन् पृथिसव्यां सर्वमानवाः ।। मनु. 2/20
7. Philosophis of India - p-2/32 इह चदेवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । केनोप 2/5

तभी कर सकता है जब वह सम्पूर्ण स्वार्थो एवं मानव केन्द्रित दृष्टिकोण से ऊपर उठेगा । इसके लिए उसे यथार्थ दृष्टा बनने की पात्रता हासिल करनी पड़ेगी, जो कि साधन चतुष्टय के अधिकारी बनने पर ही सम्भव हो सकती है । अरस्तू भी यह मानते हैं कि मनुष्य में एक दैवी तत्व है और हम इस दैवी तत्व के प्रति तभी न्याय कर सकते है, जब हम सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करें, क्योंकि एक ज्ञानी व्यक्ति का यही लक्षण है कि वह किसी भी विषय का सही सही ज्ञान प्राप्त करे [1] क्योंकि दर्शन सत्य की खोज का एक प्रयास है ।[2] जर्मन कवि लेसिंग ने भी कहा है यदि "सर्वशक्तिमान (ईश्वर) अपने दाहिने हाथ में 'सत्य' और बायें हाथ में 'सत्यान्वेषण' लेकर मुझे दोनों में से एक चुन लेने का अधिकार दे, तो मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक सत्यान्वेषण को ही चुनूँगा।" इस प्रकार दर्शन सत्य का शाश्वत अन्वेषण भी सिद्ध होता है[3] दूसरे शब्दों में दर्शन सम्पूर्ण जीवन और विश्व की व्याख्या तथा इष्टत्व बाध का प्रयत्न है या मनुष्य का वह बौद्धिक प्रयास है, जिसके द्वारा वह किसी भी विषय से सम्बन्धित मूल तत्वों अथवा आधारभूत मान्यताओं की तर्कसंगत एवं निष्पक्ष परीक्षा करता है, और उसके सम्बन्ध में केवल तर्क के आधार पर अपना मत निश्चित करता है[4] इस प्रकार अनवरत तथा प्रयत्नशील चिन्तन के आधार पर विश्व की समस्त अनुभूतियों की बौद्धिक व्याख्या तथा उनके मूल्यांकन के प्रयास को दर्शन कहा जा सकता है । डॉ0 राधाकृष्णन ने भी कहा है कि "दर्शन उस प्रयास का ही दूसरा नाम है जो मानव समाज के बढ़ते हुए अनुभव की व्याख्या के लिए किया जाता है, किन्तु जिस खतरे से हमें सावधान रहना होगा वह यह कि कहीं श्रद्धा को ही दार्शनकि विज्ञान का परिणाम न स्वीकार कर लिया जाय।"[5]

दर्शन से सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं वैज्ञानिक सभी मनुष्य प्रभावित हैं। हरबर्ट स्पेन्सर जैसा वैज्ञानिक, विज्ञान को आंशिक रूप से एकीकृत ज्ञान के रूप में परिभाषित करता है जबकि दर्शन को पूर्णरूप से एकीकृत ज्ञान मानता है[6] डेकार्ट, बर्कले, बेकन, लॉक, लाइबनित्ज, ह्यूम आदि दार्शनिक दर्शन को विज्ञान का चरम विकास मानते थे।[7] स्पष्ट है कि दर्शन एवं विज्ञान में विरोध नहीं - अपितु यह एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं।[8] हाँ, यह बात अवश्य स्वीकरणीय है कि जहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने

---

1. It is the mark of an educated mind to expect that amount of exactness in each kind, which the nature of the particular subject admits-Aristotle- Nicomachaen Ethic, Book-I 1094, b25
2. Every Philosophy is an attempt to find out the true reality.The Idealistic thought of India-P.T. Raju-p.38 Allen &Unwin, London- 1953g while the salvation of soul is the end of religion, the discovery of truth is the object of Philosphy - S. Radakrishnan. - Philosphy of religion - A.R. Mahapatra, P. 3 से उद्धृत
3. If we are careful we will notice that the great metaphysical systems which are warked out in a logical way are really points of view, Darasan as they are called in India, Visions of reality fow which we discaver reasans - Radhakrishan - Recovery of faith- p.1

   – Philosophy of sarvepalli Radhakrishnan -पृ० 824

   – An Iducatist view of life. P. 152. My serach ofer truth - P- 152
4. यह सच है कि दर्शन तर्कशास्त्र की भांति किसी एक ही बात को निश्चित रूप से नहीं रख पाता, पर हमारे पूरे मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन ला सकने में सक्षम है । How I see philosophy- वायसमैन का लेख, ए.जे. एयर द्वारा सम्पादित "लाजिकल पाजिटिविज्म" से संग्रहीत, पृ० 37, 40, 377 ,

   सुकरात भी यह जानते है कि अपरीक्षित जीवन (Unexaminationed life) किसी भी मनुष्य द्वारा जीने योग्य नहीं है प्लेटों - एपोलॉजि, पृ० 37
5. भारतीय दर्शन - राधाकृष्णन भाग-2, पृ० 11
6. First principal Val-II, Chapt.I
7. Introduction to metaphysics - Paulsen P. 23 (Ed 1930)
8. Science and philosophy mutually criticise each other and suply imaginative material for each other. A.N.whitehead- adventure of Idedas- P. 187

   The science are the children of the old mother philosophy.It is only recently comparativsely peeking that the children have matured to place of independence and set up their own several households.V. Ferm - First Adventures in philosophy. p. 24

दर्शन को बुद्धि विलास समझा या इसका उद्देश्य ज्ञानात्मक स्तर पर सत्य को अधिष्ठत करना बतलाया, वहीं प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने इसे तत्वज्ञान की प्राप्ति का माध्यम बतलाया, परन्तु आज पाश्चात्य दार्शनिक भी यह मानने लगे हैं कि दर्शन का उद्देश्य कुछ ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना होना चाहिए, जिससे आधुनिक जीवन की अशांति मिट सकती हो[1] और यह अशांति तो मानव में हमेशा से रही है तथा भविष्य में रहेगी, क्योंकि दुःख और दुःख के योग से ही इस संसार की सृष्टि संचालित है, यह तो अनुभव गम्य तथ्य है कि संसार में विषयों से उत्पन्न होने वाले जितने भी सुख है उनमें दुःख किसी न किसी रूप में अवश्य छिपा रहता है[2] एवं पहिये के दांते के समान मनुष्य के जीवन में क्रम से ये आते जाते रहते हैं ।[3] मनुष्य को दुःख से छुटकारा दो ही रूपों में मिल सकता है, या तो उसकी मृत्यु हो जाये, जैसा कि भौतिकवादी दार्शनिक मानते हैं। (मणम् एव अपवर्गः) या तो उसे तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार (मोक्ष) हो जाये, जो कि यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से ही संभव है (ऋते ज्ञानान्मुक्तिः) जो कि भारतीय दर्शन का मुख्य प्रयोजन एवं उद्देश्य है । भारतीय दर्शन केवल जिज्ञासा की शांति तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं, वरन् वह परमपुरुषार्थाधिगम का उपाय है, एक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से हम आध्यात्मिक जीवन जीकर (अदृश्य) परम तत्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। इस रूप में दर्शन को मनुष्य की नैतिक चेतना के समीक्षात्मक मूल्यांकन का प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है।[4] जब कि मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन कराने के कारण मनुस्मृति में दर्शन को 'सम्यग्दर्शन' कहा गया है । संसार और परमार्थ दोनों के लिए उचित उपाय बतलाना भारतीय दार्शनिकों का मुख्य ध्येय रहा है, एवं सांसारिक सुख और पारमार्थिक मोक्ष दोनों मार्ग का निरूपण भारतीय दर्शन का मुख्य प्रयोजन भी है जैसा कि शास्त्रों में भी वर्णन मिलता है। यथा-

यद् आभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च । सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम् ।।

दर्शन के बीजग्रंथ निःसन्देह वेद एवं उपनिषद हैं, परन्तु दर्शनों की संख्या का परिचय सर्वप्रथम हमें महाभारत में मिलता है जहाँ सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, तथा वेदमत, आदि पांच दर्शन गिनाये गये हैं । तदनन्तर पुष्पदन्त के शिवमहिम्नस्तोत्र में सांख्ययोग, पाशुपत एवं वैष्णव इन दर्शनों का वर्णन मिलता है कुछ स्मृतिग्रंथों में समस्त दर्शनों को न्याय तथा मीमांसा इन दो दर्शनों के अन्तर्गत माना गया है, जब कि सांख्य दार्शनिक पंचसिख ने केवल एक ही दर्शन माना, और वह है ज्ञानमीमांसा (एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्,) । ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य जयन्तभट्ट ने मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य आर्हत (जैन), बौद्ध तथा चार्वाक दर्शनों का उल्लेख किया, जबकि सर्वसिद्धान्त संग्रह' नामक ग्रंथ में लोकामतपक्ष, आर्हतपक्ष, बौद्धपक्ष, वैशेषिक पक्ष, न्यायपक्ष, भट्टपक्ष, प्रभाकरपक्ष, सांख्यपक्ष, पतन्जलिपक्ष, तथा वेदान्तपक्ष आदि ग्यारह दर्शनों का विवरण मिलता है । माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में

---

1 Where as the aim of philosophy is to rise to pure thought. In such passages we are still on the level of symbolism and philosophy only begins when symbolism has been surpassed. No doubt it is possible to take the line that man's thought is not capable of grasping the infinite as it is in itself, and can only fall back upon symbols. But that is another question, and at any rats, whether it is or is not possible to rise from sensuous to pure thought philosophy is essentially the atempt to do so. W.T.Stace - A critical History of Greek Philosophy, P.-16

2. यो हि संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनय एव ते । गीता 5/22

3. कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना, चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः ।। भास, स्वप्न 1/4
   – एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च ।। भास, स्वप्न 5/10
   – सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।
   सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति "शूद्रक, मृ 1/10
   – संयोज्यैतो बिगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ । भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ।। कालि. उत्तरमेघ 62

4. Philosophy begins with the reflective and critical examination of the habitual data of consciousness. Modes of direct apprehension such as sensation and interopection give phenomenal appearances subsisting as the content of awareness, although they might at the same time refer beyond themselves-Prof. G. C. Pande- The Meaning and Process of culture, p. 142

चर्वाक, बौद्ध, आद्वैत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश, पाशुपतः शैव, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनि, पाणिनि, सांख्य, पातंजल और शांकर इन सोलह दर्शन का उल्लेख किया है । भारतीय दार्शनिक परम्परा आस्तिक एवं नास्तिक[1] रूप में दर्शन के प्रमुख दो प्रकार मानती है । हरिभद्रसूरि ने अपने षड्दर्शन समुच्चय में जैन, मीमांसा बौद्ध, सांख्य तथा नास्तिक दर्शनों को षड्दर्शन माना है, जब कि सामान्यतः चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन के चार भेदों सौत्रान्तिक मत, वैभाषिक मत, योगाचार मत एवं माध्यमिक मत को नास्तिक षड्दर्शन के अन्तर्गत रखा जाता है एवं सांख्य, योग,न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा तथा- वेदान्त को आस्तिक षड़दर्शन के जाता है । आधुनिक युग के महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने अपने परमार्थ दर्शन को सप्तम दर्शन कहा है इसके अतिरिक्त भी अन्य अर्वाचीन दार्शनिकों एवं सन्तों के दर्शन हैं जो षड्दर्शन के अतिरिक्त ही प्रतीत होते है।, किन्तु इस विषय में यही कहा जा सकता है "नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्" साथ हो नैषधकार, जो कि बारहवीं शताब्दी के प्रतिष्ठित दार्शनिक थे, उनके सन्दर्भ में भी षड्दर्शनों के अतिरिक्त अन्य दर्शनों को यहाँ विवेचन का विषय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि इसमें असमीचीनता एवं अप्रासंगिकता का दोष उपलब्ध होगा । यदि पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शनों की तुलनात्मक मीमांसा की जाये, तो षड्दर्शनों का औचित्य ही प्रतीत होता है, क्योंकि नास्तिक दर्शनों में चार्वाक भौतिकवादी हैं, जैन लोकमत वादी हैं, वैभाषिक वस्तुवादी हैं एवं माध्यमिक निरपेक्षतावादी । इसी तरह वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त भी क्रमशः भौतिकवादी, लोकमतवादी, वस्तुवादी, विषयिगत प्रत्ययवादी, आलोचनात्मक वस्तुवादी और निरपेक्षतावादी कहे जा सकते हैं।[2]

हर्ष के समय बारहवीं शताब्दी में दार्शनिक शान्ति अवस्थित थी। प्राचीन दर्शनों के अस्तित्व के विरुद्ध पाँचवीं छठी शताब्दी में बौद्ध एवं जैन दर्शनों का प्रादुर्भाव तो हुआ, परन्तु उनके सिद्धान्तों की व्यवहारिक पृष्ठभूमि अपने अधिक अनुयायी बना पाने में अक्षम रही। यही हालत सभी दर्शनों की थी, बस एक दूसरे की आलोच्ना एवं कटाक्ष ही उस समय का केन्द्र विन्दु था। उसी का प्रतिफल था कि, श्री हर्ष के पिता श्रीहीर को उदयनाचार्य नैयायिक ने शास्त्रार्थ में राजा जयचन्द्र की राज्य सभा में परास्त किया एवं श्रीहीर अपने पुत्र से यह वचन लेकर, कि वह उसके शत्रु को शास्त्रार्थ में पराजित करेगा, स्वर्गलोकगमन कर गये। श्रीहर्ष ने अपने पिता के विरोधियों के विचारों का खण्डन किया तथा उदयनाचार्य ने विना शास्त्रार्थ किये ही उनसे हार मान ली एवं उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा की। जैसा कि राजशेखर सूरि के कथन से ज्ञाप्त होता है।[3] उनका खण्डनखण्डखाद्य ग्रंथ तो अद्वैत वेदान्त का आधार ग्रंथ ही है, जिसमें उन्होंने तार्किकों की कुदृष्टियों का खण्डन करने के लिये चार्वाकों एवं सौगतों की तर्क प्रणाली को अपना कर, अपनी खण्डन युक्तियों को व्यापक बनाकर, उन तर्क पद्धतियों को भी अपनी खण्डनीय कोटि में समेट लिया।[4] अर्थात् अपने विरोधियों, विशेषकर वैशोषिक एवं नैयायिकों का खण्डन कर उन्हीं को खांड रूप में खाने के लिये खण्डनखण्डखाद्य रूप में प्रेषित कर दिया (रचा)। साथ ही अपने ग्रंथ नैषधीयचरितम् में भी उन्होंने चार्वाक दर्शन के (उपहास रूप में) साथ अन्य दर्शनों का वर्णन किया है एवं अद्वैतवेदान्त का मण्डन कर भी अपनी श्रेष्ठ दार्शिनिकता का परिचय दिया है। नैषधकार ने नैषधीयचरित को

---

1. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्रनयाद् द्विजः । स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः ।। मनु 2/11
2. विस्तृत विवरण हेतु दृष्टव्य-आधुनिक दर्शन की भूमिका, प्रो. संगम लाल पाण्डेय, का प्राक्कथन भाग
3. पितृवैरिणं तु वादिनं दृष्ट्वा (श्रीहर्षः) सकटाक्षमाचष्टे–
   साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढ़न्यायग्रह ग्रन्थिले, तर्के वा मायि संविधातरि समं लीलायते भारती ।
   शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता, भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ।।
   एतच्छुत्त्वा स वादी प्राह - देव! वादीन्द्र! भारतीसिद्ध तव समोऽपि न, न वाधिकः।
   हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्धताः, तस्यैकस्य पुनः स्तवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
   केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः, संहर्षो महिषैश्च मस्य मुमुचे साहङ्कृतेर्नुङ्कृते: ।।
   इदं श्रुत्वा श्रीहर्षो निष्क्रोध इवासीत्। भूपेनोक्तम् - अत्र श्रीहर्षो इदमेव अन्योन्यं गाढालिङ्गनमचीकरद् द्वयोरपि वसुन्धरासुधांशुः। विस्तारेण सौधमानीय माङ्गलिकानि कारयित्वा गृहं प्रति प्रहितः। लक्षसंख्यानि हेमानि ददिरे।
   प्रबन्धकोशान्तर्गत - श्रीहर्षकविप्रबन्ध, पृ० 54,55
4. तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे । श्रृंखला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमते मत्क्रिया ।। खं.खं., खा., पृ० 791

खण्डनखण्डखाद्य का सहोदर कहा है,[1] इससे भी स्पष्ट है कि इस ग्रंथ में भी उन्होंने दार्शनिक विचारों का समावेश किया है। साथ ही उनकी उक्तियों[2] तथा नैषध एवं खण्डनखण्डखाद्य के प्राचीन टीकाकारों या व्याख्याओं की प्रशस्तियों[3] से भी नैषधकार श्रेष्ठ दार्शनिक सिद्ध होते हैं, जिन्होंने नैषध में लगभग सभी दर्शनों की विषय वस्तु का प्रतिपादन किया है।

हाण्डिकी महोदय का कथन है कि "लगता है कि नैषधकार नैषधकोदार्शनिक सिद्धान्तों का एक परिचय ग्रन्थ बनाना चाह रहे थे।[4] श्रीहर्ष के दो अन्य ग्रंथ स्थैर्यविचारप्रकरण एवं ईश्वराभिसन्धि भी दर्शन सम्बन्धीग्रंथ है, परन्तु अप्राप्य होने के कारण उनके विषय में कुछ भी कह पाना मुश्किल है।

नास्तिक दर्शन

चार्वाक दर्शन - नैषधकार ने चार्वाक, मत का निदर्शन नैषधके सत्रहवें सर्ग में किया है, जहाँ दमयन्ती स्वयंवर, पश्चात् देवताओं के स्वर्गारोहण काल में देवताओं एवं कलि तथा उसकी सेनाऔर द्वापर आदि का आपस में सम्मिलन होता है तथा कलिप्रतिनिधि के रूप में काम, क्रोध, लोभ, मोह सभी मूर्तरूप में अवस्थित दिखायी पड़ते हैं एवं देवों को किसी व्यक्ति के अत्यन्त कर्कश शब्द सुनने को मिलते हैं, जो चार्वाक दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों के तीर छोड़ते चले जा रहा था।[5] वास्तव में यह श्रीहर्ष की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का ही विलास है कि उन्होंने बारहवीं शताब्दी में स्थित होते हुए भी इस प्राचीन दर्शन की मीमांसा को नैषध में जगह दी, क्योंकि इस दर्शन के बीज तो वेदों, उपनिषदों, महाभारत, रामायण, इत्यादि सभी में अवस्थित है।[6] इस दर्शन के प्रणेता आचार्य वृहस्पति माने जाते हैं इसलिए इस

---

1. षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात्क्षोदक्षमे तन्महा । काव्येऽयं व्यगग्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ।। नै. 6/113
2. यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् । यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः ।। नै. ग्रंथ प्रशक्ति -4
   – तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीन्ममहाकाव्ये - नै. 10/138.
3. – कवेरस्य स्वर्गप्रभुगुरुगरीयस्तरमतेः प्रमाणच्छायासु प्रकृतिरभिविश्राम्यति मुहुः ।
   न 'मे' तु व्युत्पत्तेः परिचितिरिह प्रायिकतया
   ह्यते व्यत्यासेऽपि क्वचिदपि न वाच्योस्मि सुधियः ।। –गदाधर (O.I. Ms. No. 1353, St. 4)
   – यः सहित्यरसामृताब्धिलहरीजालेषु खेलाचलो यश्चात्यर्थगभीरतर्कजलधेर्मथे स मंथाचलः ।
   मीमांसायुग सिन्धुतारण विधौ यः कर्णधारः परः
   केषामेष मनोविनोदयति न श्रीहर्षनामाकविः ।। – रामचन्द्रशेष (Tanjore - 19 पृ० 2550)
   – एतैः खण्डन (खण्डखाद्यसहज) स्यन्दैरमन्दैः शुच
   कुल्यावर्त्मविसृत्वरैः सुमनसामाप्लावितानां मुहः ।
   उन्मीलत्पुलकावलीविकसनव्याजेन जानीमहे
   सर्वांगीणतया स्फुरन्त्यविरलोद्भेदाः प्रमोदाङ्कुराः ।। – विश्वेश्वरभट्ट (O.I. Ms. No. 9850)
   – प्रत्यक्ष लक्षण विचक्षणवादिवृन्ददुर्दन्तिदन्तदलनानि विलासमात्रम् ।
   येषां जयन्ति त इमे जगति प्रतीताः श्रीहर्ष सिंह नररूप करप्रहाराः ।। – वरदराज पण्डित – खण्डन मण्डन व्याख्या (T.C. pt., Ic., p. 4819)
4. The Naisadh contains a large number of philosophical allusions. Sriharsa in his tries to establish the supremacy of the monistic vedant on a logical basis. In tne Naisadh he refers to doctrines of all the system including the vedant and passes in review a number of characterstic theories, as if the desired his poem to serve also as an interoduction to the study of the philosophical system.— Naisadhacarita of Sriharsa, K.K. Handiqui Apendix - I, p. 509.
5. नै. 17/13.......... 36
6. ऋ. 10/8/2 इन्द्र की सत्ता में संदेह करने वालों की ब्रह्मद्विष् देवनिंद् तथा अपव्रत कहकर निंदा की गयी है।
   – न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
   अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनः पुनर्वश 'मापद्यते' में ।। कणे. 1/2/6
   – रामायण, अयोध्याकाण्ड, 108/7..........17 तक जाबालि का नास्तिकों के मत का अवलम्बन कर श्रीराम को वन छोड़कर अयोध्या लौट जाने के समझाने में चार्वाक मत का निरूपण मिलता है। यहाँ जाबालि चार्वाक के अनुयायी की तरह बात करते हैं जब कि वह चार्वाक के अनुयायी नहीं थे।
   – महाभारत–शान्तिपर्व के 186 अध्याय "जीव सत्ताविषये नानायुक्तिभिः शङ्कापस्थानम्" में भारद्वाज–भृगु के साथ संवाद में जीव की सत्ता के विषय में संदेह करते हैं, उस वर्णन में चार्वाक मत का निरूपण मिलता है। द्रष्टव्य – महां शान्ति पर्व – 186/1.....3, 8...12

दर्शन को वार्हस्पत्य दर्शन भी कहते हैं। कुछ लोग वृहस्पति के शिष्य चार्वाक के द्वारा प्रचारित करने के कारण इसे चार्वाकदर्शन कहते हैं।[1] हो सकता है ऐन्द्रिय सुख के उपदेशक इन दार्शनिकों के चारु (सुन्दर) वाक् वाक्यों(वाक) को सुनकर लोगों ने इन्हें चार्वाक नाम प्रदान किया हो। गुणरत्न एवं हेमचन्द्र का मानना है कि पुण्य पापादिक परोक्ष वस्तु जात के चर्वण कर जाने से इनका नाम चार्वाक पड़ा,[2] परन्तु वास्तव में में इस दर्शन का नाम लोकायत ही है[3] एवं स्वयं नैषधकार ने भी इस दर्शन के लिये लोकायत शब्द का ही प्रयोग किया है।[4] प्रतीत होता है सामान्य लोगों की तरह आचरण करने के कारण इन दार्शनिकों को लोकायतिक या लोकायत नाम दिया गया हो।[5] लोक में (इस दर्शन की मान्यताओं के सर्वाधिक व्याप्त होने के कारण के साथ-साथ इसे लोकायतिक इसलिए भी कह सकते हैं क्योंकि यह दर्शन इस लोक के अतिरिक्त अन्य लोक (परलोक) को नहीं मानता। साथ ही लौकिक प्रमाणों के आधार पर ही तत्त्व की मीमांसा करने के कारण तथा लोकमत से भी इसकी उत्पत्ति होने से इसका लोकायत नाम समीचीन जान पड़ता है। मध्वाचार्य ने तो लोकायत या चार्वाक दर्शन को नास्तिक शिरोमणि की संज्ञा दी है।[6] मनुस्मृति तथा हिन्दू परम्परा में नास्तिक उसे कहते हैं, जो वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करता,[7] एवं पाणिनि के अनुसार परलोक को मानने वाला आस्तिक है और न मानने वाला नास्तिक।[8] जबकि संसार के अधिकधिक दर्शनों में नास्तिक का अर्थ अनीश्वरवादी होना माना जाता है। इस तरह चार्वाक उपर्युक्त तीनों मतों के अनुसार नास्तिक सिद्ध होता है। अवधेय है कि सांख्य दर्शन वेद को मानता है, किन्तु ईश्वर को नहीं, इस लिये वह आस्तिकदर्शन माना जाता है जब कि जैन, बौद्ध, वेद और ईश्वर को नहीं मानते, किन्तु परलोक को मानते हैं, फिर भी वह नास्तिक दर्शन की कोटि में ही परिगणित किय जाते हैं। लोकायत दर्शन को बाह्य भी कहते हैं, क्योंकि यह वेद विरुद्धहै।

जिस रूप में चार्वाक दर्शन का साहित्य हमारे सामने अवस्थित है, उससे यही ज्ञात होता है कि इनके लिये प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है, अनुमान एवं शब्द इत्यादि नहीं, इसी कारण इन्हें चार पदार्थों पृथ्वी, जल, तेज, वायु की ही सत्ता स्वीकार है। आकाश की सत्ता अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने के कारण नहीं। जगत को ये इन्हीं चार भौतिक तत्त्वों से निर्मित मानते हैं, इस अर्थ में यह दर्शन भौतिकवादी या जड़वादी भी कहा जाता है।[9] आत्मा, ईश्वर, परलोकः स्वर्ग,पुनर्जन्म, आदि को यह दर्शन नहीं मानता, साथ

---

1. चार्वाक मत के चार्वी नामक आचार्य का उल्लेख काशिकावृत्ति में मिलता है– 'नयते चार्वी लोकायते चार्वी बुद्धिस्तत्सम्बन्धादाचायोऽपि चार्वी। स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते – काशिकावृत्ति 1/3/36 सूत्र
2. चर्वन्ति भक्ष्यन्ति तवतो न मन्यते पुण्यपापादि परोक्षजातमिति चार्वाकाः। आचार्य हेमचनद्र गुणरत्न - षड्दर्शन समुच्चय की टीका, पृ - 301
3. – क्वचिन्न लोकायतिकान् ग्राह्मणांस्तात सेवते – बाल्मीकि रामायण -2/100/38
   – लोकायतिकानामपि चेतन एव देह इति शंकराचार्य
   – लोकायत वदेन्त्येयमू-हरिभद्रमसूरि ष.द.स. 1/8
   – अनुमानमप्रमाणमिति लोकायतिकाः। वाचस्पति मिश्र- तत्वकौमुदी
   – वरंसांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण इति लोकायतिका :। – वा0 सू0................
4. वेदैस्तद्वेषिभिस्तद्वत्स्थिरं मतशतैः कृतम् । परं करुते परं वाचा लोकं लोकायत! त्यजेत् ।। नै. 17/97
5. लोकगाथामनुरुन्धानानीतिकामशास्त्रानुसारेणार्थकामावेव पुरुषार्थो मन्यमानाः।
   पारलौकिकमर्थमपह्नुवानाश्चार्व्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते अतएव तस्य चार्वाकमतस्य लोकायत मित्यन्वर्थमपरं नामधेयम्।। मध्वाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० -2
6. अर्थ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्त्वमभिधीयते बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिक शिरोमणिना चार्वाकेण दूरोत्सारितत्त्वात्। दुरुच्छेदंहि चार्वाकस्य चेष्टितम्। वही पृष्ठ - 2
7. नास्तिको वेद निन्दकः - मनुस्मृति 2/11
8. अस्ति, नास्ति दिष्टंमातेः - अष्टा. 4/4/60
9. भौतिकवादी मान्यता के कारण चार्वाक दर्शन, ग्रीक परमाणुवादियों के समीप है। यथा –
   Man is naturally a materalist and that Philosophy is the movement from sensuous to non-sensuous thought. As we should expect. Then, philosophy begins in materialism. The first answer to the question what the ultimate reality is, places the nature of that reality in a sensuous object, water. The other members of the Ionic school, Anximander. and Anaximenes. are also materailists...... because the Ionic Philosophers were all materialists they are also sometimes called Hylicists, from the greek hule which means matter. w.t. Stace - A critical history of Greek Philosophy, p. 23-24

ही वेदों, एवं पुरोहित कर्मों की यह निंदा करता है। मनुष्य को पूर्णतया भूतों से निर्मित एवं चैतन्यता को विशिष्ट गुण, तथा देह को ही यह आत्मा (देहात्मवाद)मानता है। काम को ही पुरुषार्थ मानता है, धर्म एवं मोक्ष को नहीं। इस दर्शन का मन्तव्य जीवन को अधीक से अधिक सुखमय बनाने एवं दुःखों से दूर रहने का है।[1] नैषधकार ने चार्वाक दर्शन सम्बन्धी जो विवरण दिये हैं, उसमें सर्वप्रथम चार्वाकों द्वारा की गयी वेदों की अप्रामाणिकता का विवरण कलिप्रतिनिधिमुखेन देते हुए वे लिखते हैं कि "जैसे जल में पत्थर का तैरना नहीं देखा जाता उसी प्रकार यज्ञ के फल के प्रति वेदवचन (स्वर्गकामोजेत्)को सत्य नहीं माना जा सकता, अतएव वेदों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, एवं प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड़कर धीवृद्धों (शब्द प्रमाण)के वचनों पर श्रद्धा करना मूर्खता ही है।[2] साथ ही कलिप्रतिनिधि बोधिसत्त्व (महात्मा बुद्ध) की वेदों की निंदा करने के कारण प्रशंसा करता है।[3] बुद्ध के मत में जगत अस्थिर है क्योंकि जो भी पदार्थ है वह क्षणिक हैं। (यत् सत् तत् क्षणिकम्)[4] वेद के साथ-साथ मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुए लोकायत दर्शन का मानना है कि वेद के (अर्थवादात्मक) भाग को यदि प्रलाप (कार्यप्रतिपादक नहीं होने से निरर्थक) मानते हो, तो किस अभाग्य कारण से दुःख कारक दूसरे विधि (अग्निष्टोमादि यज्ञविधान प्रतिपादक भाग) को वैसा (प्रलाप अर्थात् अर्थवादात्मक होने से निरर्थक) नहीं मानते हों।[5] क्योंकि मीमांसा वाक्य "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमेतदर्थानाम्" अर्थात् वेद के क्रियार्थक (क्रिया प्रतिपादक) होने से तदिभिन्न वचन अनर्थक हैं, इस पूर्व पक्षीय वचनानुसार "सोऽरोदीत्, यदरोदीत्" इत्यादि वचन अनर्थक हैं ऐसा पूर्वपक्ष होने पर "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्" अर्थात् विधि के साथ एक वाक्यता होने के वचन एवं स्तुत्यर्थक होने से अर्थवाद मानते हैं, फिर भी उनको जिस प्रकार कार्यप्रतिपादक नहीं होने से निरर्थक मानते हों, उसी प्रकार "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" अर्थात् स्वर्ग चाहने वाला अग्निष्टोम यज्ञ करे, इत्यादि विधि वाक्यों को भी निरर्थक मानना चाहिए, क्योंकि वेद के किसी भाग को सार्थक तथा तदितर भाग को निरर्थक मानना अनुचित एवं अभाग्य का सूचक है, अतएव सभी वेद वचनों को निरर्थक मानकर स्वेच्छापूर्वक कार्य करो। मीमांसा पर प्रहार करते हुए वह कहता है कि हे मीमांसा से परिपुष्ट (पक्षान्तर में स्थूल) बुद्धि वाले! विक्षिप्त (प्रतिपक्षियों से पराजित होकर भ्रान्तचित्त, तुम लोग) वेद में श्रद्धा करते हो, अर्थात् वेद वचन को प्रमाण मानते हो तथा प्रत्येक पक्ष स्तम्भ में हाथी बांधकर ऋत्विजों के लिये दान या लाभ दिलाने वाली श्रुति (वेदवचन) को स्वयंमेव प्रक्षिप्त कहते हो।[6] ऐसा श्रुति के विषय में भेद भाव करना ठीक नहीं। वेद में विधिवाक्य कहने के बाद "यूपे यूपे हस्तिनो बद्ध्वा ऋत्विग्भ्यो दद्यात्" अर्थात् प्रत्येक यूप

---

1. संस्कृत साहित्य विमर्श- पृ० 285.........292
2. ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता ।
   का श्रद्धा? तत्र धीवृद्धाः। कामाद्धा यत् खिलीकृतः ॥ नै. 17/37
3. केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना ।
   यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम् ॥ नै. 17/38
4. बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता है कि अज्ञाननामा जिन भट्टारक वेद के रहस्य के भेदन करने के लिये उत्पनन हुये थे, और उन्होंने कहा था कि सत्त्व के कारण संसार अनित्य है, साथ ही बौद्धों के सिद्धान्त क्षणिकवाद की मान्यता भी है कि यत् सत् तत् क्षणिकम्" अतएव यह संसार भी अनित्य है, क्षणिक है, तथा संसार के अन्तर्गत ही सभी पदार्थों की सत्ता होने से सभी क्षणिक हैं, इस लिये श्रुतियों का यह कहना कि पाप पुण्य का भोक्ता आत्मा है, अप्रमाणिक है क्योंकि जिस क्षण मनुष्य ने पाप या पुण्य किया, तो वह दूसरे क्षण ही नष्ट हो जायेगा, एवं इस रूप में पाप पुण्य का भोक्ता आत्मा कदापि नहीं हो सकता है। ध्यातव्य है कि बौद्ध अनात्मवाद सिद्धान्त के पक्षधर थे। चार्वाक यहाँ इस सिद्धान्त को अपने पूर्वोक्त वचन की पुष्टि के लिये देता है कि चूँकि (श्रुति) वेद वाक्य ही अप्रमाणिक हैं, अतः पाप से डरकर पार लौकिक सुख पाने की आशा से हस्तगत ऐहलौकिक सुख का त्याग नहीं करना चाहिए।
5. प्रलापमपि वेदस्य भागं मन्यध्वएव चेत् ।
   केनाभाग्येन दुःखान्न विधीनपि तथेच्छथ? ॥ नै 17/60
6. श्रुतिं श्रद्धत्थ विक्षिप्ताः प्रक्षिप्तां ब्रूथ च स्वयम् ।
   मीमांसामांसलप्रज्ञास्तां यूपद्विपदापिनीम् ॥ नै. 17/61

में हाथी बांधकर ऋत्विजों के लिये दान दें, इस वचन को जब कि यह वेदमूलक नहीं अपितु लोभमूलक ही हैं, उन्हीं लोगों (ऋत्विजों) के द्वारा यह कहा गया है, ऐसा कहकर अर्थवाद मानना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। इसी तरह परलोक के विषय में "श्रुतिवाक्य" "को हि तद्वेद यद्यमुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा न वा तथा "दिक्ष्वतीकाशान् करोति" अर्थात् परलोक के विषय में कौन जानता है, या परलोक का तत्त्वज्ञाता कोई नहीं है, ऐसा जो श्रुति कहती है, उस (श्रुति) के प्रमाण से इस परलोक के विषय में कौन विश्वास करेगा, अर्थात् कोई नहीं।[1] दूसरे शब्दों में जब वेद ही इस विषय में संशय ग्रस्त हैं, तो उनको प्रमाण मानने वाला या उन पर श्रद्धा रखने वाला संसार उन पर कैसे विश्वास करेगा। सर्वदर्शन संग्रह में लोकायतों द्वारा वेदों एवं उनके प्रणेताओं की आलोचना वीभत्स रूप में वर्णित मिलती है।[2]

स्मृति ग्रंथो यथा महाभारत, पुराण, (मत्स्यपुराण)[3] मनुस्मृति आदि की कथावस्तु पर आक्षेप एवं स्मृतिकारों की निंदा तथा उनकी प्रामाणिकता का खण्डन न करते हुए कविप्रतिनिधि कहता है कि मनु ने धर्म, अधर्म की बात कर, अधर्म के लिये दण्ड का विधान किया, परन्तु वास्तव में उसने धन लोभ के कारण ही दण्ड विधान की व्यवस्था दी थी, किन्तु फिर भी विद्वान् लोग उस पर व्यर्थ ही श्रद्धा करते हैं। मनु के बाद व्यास एवं मत्स्य रूपधारी भगवान विष्णु की आलोचना करते हुए वह कहता है कि निषाद कन्या के साथ (पराशर द्वारा) व्यभिचार से उत्पन्न तथा भ्रातृपत्नी से पुत्रोत्पादन करने वाले भी व्यभिचार परायण व्यास के वचन महाभारत में विश्वास करते हो एवं मनु में श्रद्धा रखते हों, तो तुम सचमुच तांत्रिक जुलाहे के समान मूर्ख हो अर्थात् व्यभिचारी होने से व्यास के वचन रूप महाभारत ग्रंथ भी अश्रद्धेय हैं। मत्स्य (मत्स्यरूपधारी विष्णु) के भी उपदेश्य अर्थात् अनुशासनीय तुम लोगों (मनु आदि स्मृतिकारों से, अतिनीच) के साथ कौन बात चीत करे।[4] पाण्डवों की चाटुकारिता में दक्ष व्यास को आप विद्वान् कवि, एवं आप्त पुरुष समझते हैं, जब कि वास्तविकता यह है कि पाण्डवों ने जिसकी (कौरवों, दुर्योधन आदि की) निंदा की, तो व्यास ने भी उसे निन्दित बताया, एवं पाण्डवों ने जिसकी (कृष्ण की) प्रशंसा की, तो व्यास ने भी उनकी स्तुति की।[5] ठीक है कि व्यास ने माता की आज्ञा से मृत भाई विचित्रवीर्य की पत्नी से नियोग[6] सम्बन्ध स्थापित किया था, काम भावना के वशीभूत नहीं तो फिर उस समय जो दासी (विदुर माता) से सम्भोग करने लगे, क्या उसमें उन्होंने माता की आज्ञा ली थी, अर्थात् नहीं। वह कामवश ही उसके साथ अनुरक्त हुए थे।[7] श्रुति, स्मृति, पुराण एवं ब्राह्मण आदि जो ग्रंथ तुम्हारे लिये प्रमाण हैं, उन्होंने 'गौ' को प्रमाण करने की बातकर (मानवआत्मा पशु से भी नीची होने के कारण), क्या अपना तिरस्कार नहीं किया।[8]

काम को मुख्य पुरुषार्थ घोषित करते हुए कलिप्रतिनिधि का कहना है–

---

1. को हि वेदास्त्यमुष्मिन्वा लोक इत्याह या श्रुतिः । तत्प्रामाण्यादमु लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम् ।। नै. 17/62
2. त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः । जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ।।
   अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नी ग्राह्यं प्रकीर्तितम् । भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ।
   मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितमिति ।
   तस्माद् वहूनां प्राणिनामनुग्रहार्थं चार्व्वाकमतमाश्रयणीयमिति रमणीयम्।। – स.द.सं., पृ० 12
3. A. The School attacks the view of other system as far as Metaphysics and ethics are concerned. It also attacks sruiti, Smrti, ritual, Puranas and so on. A.N. Jani, (A Critical study of Sriharsa,s Naisadhiya caritam), P.140.
   – धर्माधर्मौ मनुर्जल्पन्नशक्यार्जनवर्जनौ । व्याजान्मण्डलदण्डार्थी श्रद्दधायि मुधा बुधा ।। नै. 17/63
4. व्यासस्यैव गिरा तस्मिञ्श्रद्धेत्यद्द्धा स्थ तान्त्रिकाः । मत्स्यस्याप्युपदेश्यान्वः को मत्स्यानपि भाष्यताम् ।। नै. 17/64
5. पण्डितः पाण्डवानां स व्यासश्चाटुपटुः कविः । निनिन्द तेषु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान्न किम् ।। नै. 17/65
6. देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ।। मनु. 4/49
7. न भातुः किल देव्यां स व्यासः कामात्समासजत् । दासीरतस्तदासीद्यन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम् ।। नै. 17/65
8. देवैर्द्विजैः कृता ग्रन्था पन्थायेषां तदादृतौ । गां नतैः किं न तैर्व्यक्तं ततोऽप्यात्माधरीकृतः ।। नै. 17/67

कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः संक्रांन्तपातकः । नाश्नाति स्नाति हा मोहात्कामक्षामव्रतं जगत् ।।
ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान् । स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः ।।
परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः । अहल्याकेलिलोलेन दम्भोलिपाण्डिना ।।
गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः । येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः ।।[1]

स्पष्ट है कि यह दर्शन परपत्नीगमन एवं गुरुपत्नी गमन में भी संकोच नहीं करने का उपदेश देता है, क्योंकि इसके मत में कामिनी संसर्ग से उत्पन्न ऐन्द्रिय सुख ही यथार्थ सुख है।[A] कलिप्रतिनिधि का कहना है कि तीनों वेदों के जानकार व्यास आदि जो वंदनीय माने जाते हैं उन्होंने भी कहा है कामार्तरमणी को स्वीकार करना चाहिए।[2] यथा-

स्मरार्तां विह्वलां दीनां यो न कामयते स्त्रियम् ।
ब्रह्महा स तु विज्ञेयो व्यासो वचनमब्रवीत् ।।

अपने तर्क देते हुए कलिप्रतिनिधि कहता है कि तब व्रत इत्यादि में आप लोगों की इतनी आस्था क्यों है? कामिनी गमन में क्यों नहीं। पुण्यफल तो जन्मान्तर में मिलेगा, जो संदेहास्पद है, जब कि काम सुख काम वेला में ही प्राप्त हो जाता है।[3] इसलिये आप लोग बलात् परस्त्री गमन (कार्य) किया करें,[4] क्यों कि मनु ने भी कहा है कि बलात किये गये सारे दोष अगण्य होते हैं यथा-

बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ।।[5]

अवधेय है कि यहाँ चार्वाक छल से अपने पक्ष को पुष्ट करता है एवं स्वेच्छार पूर्वक उपभोग करने को कहता है।[6] स्त्रियों के प्रति अनुचित वचन न कहने पर जोर देता हुआ कलिप्रतिनिधि उनके उपभोग से आनन्द लाभ प्राप्त करने को कहता है।[7] उसका यह भी कथन है कि ब्रह्मा आदि देवों से अनुलङ्घित कामरूपदेव (कामदेव) की आज्ञा मानकर तदनुरूप आचरण करो क्योंकि वेद भी देव की ही आज्ञा हैं, फिर दोनों आज्ञाओं में, जब कि दोनों समान हैं, किसी को अधिक महत्त्व क्यों दिया जाये।[8] वह यज्ञ कर्मों की पाखण्ड कहकर निन्दा करते हुए कहता है कि जो लोग यज्ञ करते हैं वह इसलिये कि मर कर भी

---

1. नै. 17/41.....44.

A —अङ्गनालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः न चास्य दुःखसंभिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्तीति मन्तव्यम्। अव्वर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते स यावदादेय तावदादाय निवर्त्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति स यावदादेयं तावदादाय निवर्त्तते। तस्माद्दुःखभयान्नानुकूलवेदनीयं सुखं त्यक्तुमुचितम्। न हि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते, नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते यदि कश्चिद् भीरुर्दृष्टं सुखं त्यजेत् तर्हि स पशुवन्मूर्खो भवेत्। तदुक्तम् -
त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्मपुंसां दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैसा ।
व्रीहीन जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् को नाभ्ञ भेस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ।। स.द.सं. पृ० 3, 4 एवं 11

2. यस्त्रिवेदीविदां वन्द्यः स व्यासोऽपि जजल्प वः ।
रामाया जातकामायाः प्रशंस्ता हस्तधारणा ।। नै. 17/47

3. सुकृते वः कथं श्रद्धा सुरते च कथं न सा ।
तत्कर्म पुरूषः कुर्याद्येनान्ते सुखमेधते ।। नै. 17/49

4. बलात्कुरुत पापानि सन्तु तान्यकृतानि वः ।
सर्वान्बलकृतान्दोषानकृतान्मनुरब्रवीत् ।। नै. 17/49

5. मनु. 8/168

6. स्वागमाथेऽपि मा स्थास्मिंस्तीर्थिका! विचिकित्सवः । तं तमाचरतानन्दं स्वच्छन्दं यं यमिच्छथ ।। नै 17/50
श्रुति स्मृत्यर्थबोधेषु क्वैकमत्यं महाधियाम् । व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा सा नोपेक्ष्या सुखोन्मुखी ।। नै. 17/51

7. तृणानीव घृणावादान्विधूनय वधूरनु । तवापि तादृशस्यैव का चिरं जनवञ्चना ।। नै. 17/58

8. कुरुध्वं कामदेवाज्ञा ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम् । वेदोऽपि देवकीयाज्ञा तत्राज्ञाः! काधिकार्हणा ।। नै. 17/59

ललनाओं का उपभोग मिले।[1] इसलिये इस बात की चिन्ता किये बिना अमुक कर्म करने से पाप होगा, इसे छोड़कर कामिनियों के संसर्ग को नहीं छोड़ना चाहिए।[2] स्पष्ट है कि यह दर्शन ललनारति सुख प्राप्ति मे जाति भेद के वन्धन को अस्वीकार कर स्वच्छाविहार पद्धति पर बल देता है यथा-

शुद्धिर्वंशद्वयी शुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः ।
तदानन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का ।।[3]

लोकायत दर्शन पुनर्जन्म मोक्ष, एवं स्वर्ग की धारणा पर अविश्वास करता है। आचार्य वृहस्पति का कथन है कि मृत्यु से कोई बच नहीं सकता, अतः जब तक जीवन मिला हुआ है, उसे सुख पूर्वक जीना चाहिए, क्यों कि जलाकर भस्म किये हुए देह की पुनः उत्पत्ति नहीं होती।[4] इसी से सहमत होते, कलि प्रतिनिधि का भी कथन है कि शान्ति या वैराग्य क्या है? अर्थात् यज्ञादि करने से मरने के बाद स्वर्ग पाकर देवाङ्गनासङ्गम की इच्छा बने रहने के कारण शान्ति वैराग्य कुछ भी नहीं है, इसलिये केवल प्रिया (स्त्री) को पाने का अधिक परिश्रम करों, क्यों कि जले हुए शरीर का फिर आना, अर्थात् परलोक में शरीरान्तर ग्रहण करना संभव नहीं है। आचार्य वृहस्पति भी कहते हैं कि यदि कोई आत्मा इस देह से निकलकर लोकान्तर में जाता हो, तो बन्धुस्नेह से व्याकुल होकर पुनः घर क्यों वापस नहीं आता? अतः देह से भिन्न आत्मा नहीं है। यथा-

यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसभाकुलः ।।[5]

साथ ही आचार्य वृहस्पति स्वर्ग, मोक्ष, आत्मा एवं वर्णाश्रम के कर्मों की सत्ता का निषेध करते हुए कहते हैं-

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ।।[6]

स्वर्ग की कल्पना पर आक्षेप करते हुए कलिप्रतिनिधि कहता है-

हताश्चेद्दिव दीव्यन्ति दैत्या दैत्यारिणी रणे ।
तत्रापि तेन युध्यन्तां हता अपि तथैव ते ।।[7]

अवधेय है कि उपर्युक्त प्रसंग में स्वर्ग की अवधारणा का तिरस्कार करने के साथ-साथ कलिप्रतिनिधि श्रीमद् भगवत गीता में प्रतिपादित "हत्त्वा वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" का खण्डन करता प्रतीत होता है, अतएव यह भी कहा जा सकता है कि गीता में भी प्रतिपादित नीति सम्बन्धी मीमांसा भी चार्वाक दर्शन को अभीष्ठ नहीं है।

---

1. साधुकामुकतामुक्ता शान्तस्वान्तैर्मखोन्मुखैः । सारङ्गलोचनासारां दिवं प्रेत्यापि लिप्सुभिः ।। नै. 17/68
2. एनसानेन तिर्यक्स्यादित्यादिः का विभीषिका । राजिलोऽपि हि राजेव स्वैः सुखी सुखहेतुभिः ।। नै. 17/72
3. नै. 17/40
4. प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्-
   यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः इति ।। लोकगाथा मनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेणार्थकामावेव पुरुषार्थो मन्यमानाः पारलौकिकमर्थमपह्नुवानाश्चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते। – सर्वदर्शन संग्रह, पृ०2
5. कः शमः क्रियतां प्राज्ञाः प्रिया प्रीतौ परिश्रयः । भस्मीभूतस्य भूतस्य पुनरागमनं कुतः ।। नै० 17/69
6. स.द.सं., पृ० 10
7. नै. 17/73

आचार्य वृहस्पति भी वेद, स्वर्ग, नरक, मोक्ष एवं ईश्वर की धारणा पर आक्षेप करते हुए कहते हैं "ननु पारलौकिकसुखाभावे बहुवित्तव्ययशरीरायाससाध्ये अग्निहोत्रादौ विद्यावृद्धाः कथं प्रवर्तिष्यन्ते इति चेत्। तदापि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषैर्दूषिततया वैदिकमन्यैरेव धूर्तबकैः परस्परं कर्म्मकाण्डप्रामाण्यवादिभिर्ज्ञानकाण्डस्य ज्ञानकाण्डप्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च प्रतिक्षिप्तत्वेनत्रय्या धूर्त्तप्रलापमात्रत्वेन अग्निहोत्रादेर्जीविकामात्रप्रयोजनत्वात्। तथा चाभाणकः -"अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानां जीवकेति वृहस्पतिः। अतएव कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकं लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः देहोच्छेदः मोक्षः[1] अर्थात् लोकायत दर्शन के अनुसार दुःख ही नरक तुल्य है, शरीर का नाश (शरीपात) ही मोक्ष है। एवं देह ही आत्मा हैं पृथ्वी, जल, तेज, एवं वायु चार तत्वों से मादक द्रव्यसमुदाय से मदशक्तिवत्, चैतन्य उत्पन्न होता है।[2] जिससे मनुष्य चैतन्यता का अनुभव कर, मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, इत्यादि रूप में स्वयं को व्यवहरित करता है। यथा-

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवाय्वनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलुभूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति समानाधिकरण्यतः ॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्चस एवात्मा न चापरः ।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी॥ इति ॥[3]

कलिप्रतिनिधि भी मोक्ष की निंदात्मक चर्चा करते हुए कहता है कि यह तो नपुंसक लोगों के लिए है। पुरुष एवं स्त्री को हमेशा कामरत रहना चाहिए। यथा-

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥[4]

स्पष्ट है कि लोकायत मत मोक्ष को मान्यता नहीं देता जैसा कि सांख्य, योग, न्याय वेदान्त दर्शन देते है। उसके मत में तो मृत्यु ही मोक्ष है, (देहोच्छेदः मोक्ष) इसीलिए चार्वाक वेदान्त, न्याय आदि आस्तिक दर्शनों के अपवर्ग की भी आलोचना करता है।[5]

लोकायत मत आत्मा की सत्ता का निराकरण करता है। उसके मत में चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है अतः उसके मत को देहात्मवाद कहा जाता है।[6] आचार्य वृहस्पति का कहना है कि "देहात्मवादे

---

1. सर्वदर्शन संग्रह पृ० 4,5
   – पृथिव्यपस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि । तेभ्यश्चैतन्यम् ॥
   किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम् । जले बुद्‌बुदवज्जीवाः ॥ वृहस्पति-सूत्र।
2. स.द.सं.- पृ० 5
3. तत्र प्रथिव्यदीनिं भूतानि चत्वारि तत्वानि तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मद शक्तिवत् चैतन्यमुपजायते तेषु विनष्टेषु सत्सू स्वयं विनश्यति। तदिह विज्ञानधन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्मेवानु विन श्यति स न प्रेत्य संसास्तीति। तत् चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाण अवात् प्रत्यक्षैक प्रमाण वादितया अनुमाना देर नङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्। स.द.स. - पृ० 3
4. नै 17/70
5. स.द.स. - पृ० 3
6. प्रो0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल का चार्वाक दर्शन सम्बन्धी मत कि ''इस आत्मवाद का प्रवर्तक वृहस्पति को माना जाता है'' एवं ''चार्वाक का अनात्मवाद नास्तिक दर्शनों में सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान माना जाता है'' दोनों कथन विरोधाभास सेयुक्त हैं। कहाँ तक न्यायसंगत है इसमें सुधीजन ही प्रमाण हैं। जबकि चार्वाक देहात्मवाद मानता है। –दृष्टव्य- नैषधपरिशीलन, पृ० 385

च" कृशोऽहं कृष्णोऽहं" इत्यादि समानाधिकरण्योपत्तिः। मम शरीरम् इति व्यवहारो राहोः शिरः इत्यादिवदौपचारिकः।[1] कलिप्रतिनिधि कहता है कि यदि आत्मा को देह रूप में मान लिया जाय, तो इसके जल जाने पर पाप का फल भोगने वाला कोई बचता ही नहीं और यदि आत्मा इस शरीर से भिन्न कोई और वस्तु है की जैसा कि वेदों में मान्यता है, तो फिर पुरुषों, स्त्रियों में आत्मा समान होगी, तब किसी एक द्वारा किये गये कर्म को दूसरे क्यों नहीं भोगते।[2] वेदों या ब्राह्मणों का यह कथन भी कितना पाखण्ड पूर्ण है जब वह कहते हैं कि मरने पर प्राणी को अपने पूर्व जन्मों में कृत कर्मों की फलपरम्परा को भोगना पड़ता है परन्तु यदि ब्राह्मण भोजन करवा दिया जाय, तो मृत आत्मा तृप्त हो जाती है।[3] स्पष्ट है कि ब्राह्मणों ने अपनी भोजन व्यवस्था एवं दान दक्षिणा प्राप्ति हेतु ही ऐसा विधान किया है। मनुष्य भी कहते मिलते हैं कि यह (शरीर) मैं हूँ, यह श्याम है इत्यादि, जब कि वेदों में वर्णन मिलता है कि तुम यह शरीर नहीं हो, "बल्कि तत्त्वमसि (परमात्मा का अंश जीवात्मा) हो।[4] अर्थात् वेद वाक्य शरीर को आत्मा होने का खण्डन कर तद्विलक्षण अप्रत्यक्ष एवं वचनागोचर किसी वस्तु को आत्मा कहते हैं, अतएव अनुभव विरुद्ध होने से ये वेदवाक्य अत्यन्त धूर्त एवं अप्रामाणिक हैं।[5] इसी तरह "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, "नेह नानास्ति किञ्चन् का खण्डन करते हुए कलिप्रतिनिधि कहता है, कि सभी लोग जो पाप करते हैं उन समस्त पापों का बोझ उसे ही ढोना पड़ेगा।[6] दूसरे शब्दों में जब आत्मा एक ही है तब कोई भी वस्तु संसार में दूसरी या दूसरे की नहीं है, इस अवस्था में कोई भी स्त्री पर स्त्री नहीं, अतः स्वेच्छाचार से किसी भी ललंना से संसर्ग में पाप कैसा?

लोकायत दर्शन के केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मान्यता दी है।[7] जब कि पौराणिक लोग आठ प्रमाण मानते है।[8] नैषध में भी कलिप्रतिनिधि का कथन है कि वेदों में यह वर्णन मिलता है कि पाप करने वाले को मृत्युपरान्त दुःख मिलता है तथा पुण्य करने वाले को सुख, किन्तु प्रत्यक्षरूप से व्यावहारिक जीवन में तो इसके विपरीत ही फल देखने को मिलता है, अर्थात् पुण्यार्जन से प्राप्त सुख (स्वर्गादिप्राप्त)की बात तो परोक्ष की बात है, जब कि स्त्रीप्राप्ति से प्राप्त सुख प्रत्यक्ष की बात है, अतएव प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाण में प्रत्यक्ष प्रमाण बलवान होने से यह मानना पड़ेगा कि पाप कर्म से ही सुख एवं पुण्यकर्म से दुःख मिलता है, अतः पाप कर्म (स्त्री या परस्त्रीगमन) में सबको प्रवृत्तहोना चाहिए, क्योंकि इसी से प्रत्यक्षतः सद्यः सुखानुभूति मिलती है। स्पष्ट है कि यहाँ कलिप्रतिनिधि शब्द प्रमाण को निःसार मानता है एवं उसकी

---

1. सर्वदर्शन संग्रह - पृ०-5
2. यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तद्दाहे वः किमेनसा ।
   क्वापि तत्किं फलं न स्यदात्मेति परसाक्षिके ॥ नै० 17/52
3. मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्मफलोर्मयः ।
   अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्तवार्तया ॥ नै० 17/53
4. जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ ।
   तयाज्यते ग्राह्यते चान्यदहो श्रुत्यादिधूर्तया ॥ नै० 17/54
5. धूर्तप्रलापीत्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात् – वृहस्पति सूत्र
6. एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्तें निमज्जतः ।
   कः श्रौतस्यात्मनो भीरो! भारः स्याद्दुरितेन ते ॥ नै० 17/56
7. नापि चरमः अन्तःकरणस्य बाहिरिन्द्रयतन्त्रत्वेन बाह्यऽर्थे स्वातन्त्रयेण प्रवृत्यनुपपत्तेः तदुक्तम् चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्हर्म्मन इति॥ स0द0 संग्रह पृ० 6
8. प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् - वृहस्पति सूत्र
   प्रत्यक्ष मेव चार्वाकाः कणाद सुगतौ पुनः । अनुमानं च तच्चाणि सांख्याः शब्दं च ते उभे ॥
   न्यायैकदोशिनोऽप्येव भुपमानं चकेचन । अर्थापत्या सहैतानि चत्वाहुः प्रभाकराः ॥
   अभावष्टान्येतानि भाट्टा वैदान्तिनस्तया । संभवैह्यियुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥ मानसोल्लास 2/17-20

आलोचना करता है।[1] अनुमान प्रमाण का खण्डन करते हुए कलिप्रतिनिधि का कहना है कि तर्क (प्रमाण्योपपादक युक्ति या अनुमान) के अनन्त होने के कारण (सुन्दोपसुन्द न्याय से परस्पर को दूषित करते (विरोधी प्रमाण होनेसे परस्पर में फलनिश्चय नहीं करते) हुए किन मतों (सिद्धान्तों अर्थात् प्रमाणाभाव से समान अनुमानादि का अथवा सत्त्व-असत्त्व, ऐकात्म्य-नानात्म्य, ईश्वरत्व-अनीश्वरत्व आदि)का सत्प्रतिपक्ष के सामन अप्रामाण्य (प्रमाणाभावत्व)नहीं होगा? अर्थात् सबका अप्रामाण्य हो जायेगा।[2] दूसरे शब्दों में इसका आशय यह है कि जिस प्रकार वैशेषिक घट आदि का दृष्टान्त देते हुए कार्य होने से (घट) शब्द को अनित्य मानते हैं, और मीमांसक आत्मा आदि का दृष्टान्त देते हुए निरवयव होने से शब्द को नित्य मानते हैं, इस अवस्था में पूर्वोक्त दोनों मतों के समबल होने से किसी एक में प्रामाण्यनिश्चय नहीं होने के कारण तटस्थ (वैशेषिक तथा मीमांसक से भिन्न तृतीय)व्यक्ति को, शब्द नित्य है या अनित्य? ऐसा सन्देह होने पर उक्त दोनों मतों में अप्रामाण्य बुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार प्रामाण्य निश्चायक तर्कों की अनेकता होने से और सब में समानता होने से उन सभी मतों का अप्रामाण्य हो जायेगा, एवं अनुमान (तर्क) की प्रासंगिता धरी की धरी रह जायेगी। इसी तथ्य से संगति करते हुए कलि प्रतिनिधि कहता है कि संदेह युक्त दो परिणामों (अनुष्ठानादि से पुत्रलाभादि रूप इष्ट की सिद्धि होना या नहीं होना) में किसी एक की प्राप्ति तो अवश्यमेव होगी, यदि इष्ट उद्देश्यकी प्राप्ति हो गयी, तो धूर्त लोग (तांत्रिक या ब्राह्मण) यह कहते हैं कि यह अनुष्ठान का प्रभाव है, एवं यदि इष्टप्राप्ति नहीं हुई तो इसे गलत मन्त्रोच्चारण या कम दानादि पर दोष मढ़कर अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं।[3] चार्वाकों का तो यहाँ तक मानना है कि वैशेषिकों के शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में ही हो जाता है[4] एवं जब अनुमान प्रमाण स्वयं ही संदिग्ध हो, तो उससे सम्बन्धित व्याप्ति या उसके प्रकार स्वार्थानुमान, परार्थानुमान तथा अपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि (अभाव) आदि सभी नैयायिकों के प्रमाण स्वतः ध्वस्त हो जाते हैं। ध्यातव्य है कि आचार्य वृहस्पति ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मान्यता दी है क्योंकि वह चक्षुरादि का विषय है, एवं अन्य सभी प्रमाणों का खण्डन किया है।[5] बर्कले के "Esse is per cipi" (सत्ता ही दृश्यता है) की तुलना चार्वाकों के प्रत्यक्ष प्रमाण से उचित मानी जा सकती है।

---

1. पापात्तापा मुदः पुण्यात्परासोः स्युरिति श्रुतिः । वैपरीत्यं द्रुतं साक्षात्तदारव्यात बलाबले ।। नै. 17/45
2. तर्काप्रतिष्ठया साम्यादन्योऽन्यस्य व्यतिघ्नताम् । ना प्रामाण्यं मतानां स्यात्केषां स्त्प्रतिपक्षवत् ।। नै. 17/79
3. एकं संदिग्धयोस्तावद्भावि तत्रेष्ट जन्मनि । हेतुमाहुः स्वमन्त्रादीनसंङ्गानन्यथा विटाः ।। नै. 17/55
4. शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमर्हति । अनुमाने गतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ।। स0द0सं0, पृ० 7
5. स्यादेतेत-स्यादेष मनोरथो यद्यनुमानादेः प्रामाण्यं न स्यात् अस्ति च प्रामाण्यं कथमन्यथा धूमोपलम्भानन्तरं धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरुपपद्येत। नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वचनश्रवणसमनन्तरं फलार्थिनां नदीतीरं प्रवृत्तिरिति। तदेतन्मनोराज्यविश्रृम्मणं व्याप्तिपक्षधर्म्मताशील लिगं गमकमभ्युगतमनुमानप्रामाणण्यवादिभिः व्याप्तिश्चोभयविधोपाधिविधुरः सम्बन्धः। स च स्वसत्तया चक्षुरादिवन्नांगभावं भजते किन्तु ज्ञाततया। कः खलु ज्ञानोपायो भवेत्। न तावत् प्रत्यक्षं तच्च बाह्यमान्तरं वाभिमतम् न प्रथमः। तस्य सम्प्रयुक्तविषयज्ञानजनकत्वेन विद्यमाने प्रसरसम्भवेपि भूतभविष्यतोस्तदसम्भवेन सर्व्वोपसंहार वत्यव्यापतेर्दुर्ज्ञानत्वात्।। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचरमिति मन्तव्यं, व्यक्त्योरविनाभावा प्रसंगात् ।।12।।
   - नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः; तत्र तत्राप्येवमिति अनवस्थादौस्थ्यप्रसंगात्। नापि शब्दस्तुपायः, काणादमतानुसारेणानुमान एवान्तर्भावात् अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहाररूप लिंगावगतिः सापेक्षतया प्रागुक्तदूषणलङ्घनाजङ्घालत्वात् ।।14।।
   - धूमधूमध्वजयोरविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे मन्वादिवद् विश्वासाभावाच्च। अनुपदिष्टाविनाभावस्य पुरुषस्यार्थन्तरदर्शनेनार्थरानुमित्यभावेस्वार्थानुमानकथायाः कथाशेषत्वप्रसंगाच्च ।।15।।
   - उपमानादिकं तु दूरापास्तं तेषां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धादिवोधकत्वेनानौपाधिकत्वसम्बन्धबोधकत्वासम्भवात् ।।16।।
   - किञ्च उपाध्यभावोऽपि दुखगम उपाधीनां प्रत्यक्षत्वनियमासम्भवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि अप्रत्यक्षाणामभावस्याप्रत्यक्षतया अनुमानाद्यपेक्षा यामुक्तदूषणानतिवृत्तेः ।।17।।
   - अपि च साधनाव्यापकत्त्वे सति साध्यसमव्याप्तिरिति तल्लक्षणं कक्षीकर्तव्यम्। तदुक्तम्–अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः इति। शुद्धेऽनित्यत्वे साध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रावणताञ्च व्यावर्तयितुमुपात्तान्यत्र क्रमतो विशेषणानि त्रीणि ।।18।।
   - तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्य्यैश्चेति ।।19।। उक्तार्थ में आचार्य सम्मति कहते हैं कि समासमेति-समासमाविनाभाववेकत्र स्तो यदा तदा। समेन यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः।। इति
   - तत्र विध्यध्यवसायपूर्वकत्वान्निषेधाध्यवसाय स्योपाधिज्ञाने जाते तदभाव विशिष्टसम्बन्धरूपं व्याप्तिज्ञानं व्याप्तिज्ञानाधीनं चोपाधिज्ञानमिति परस्पराश्रयवज्रप्रहारदोषो वज्रलेपायते। तस्मादविनाभावस्य दुर्बोधितया नानुमानाद्यवकाशः। धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते ।।20।। स. द. सं., पृ० 5....9

कलिप्रतिनिधि ने मोक्ष की सत्ता का उच्छेद करने के बहाने वेदान्त एवं न्यायदर्शन की भी निंदा की। वेदान्त मत के अनुसार जिस प्रकार घटाकाश की घटोपाधि के निवृत्त हो जाने पर केवल आकाश ही रह जाता है उसी प्रकार संसारोपाधि (जीवात्म) के निवृत्त हो जाने के बाद केवल शुद्ध ब्रह्मं ही रह जाता है, "एकमेवाद्वितीयं" का यही अभिप्राय भी है किन्तु दशा में (स्व) जीवात्मा का अर्थात् अपना ही उच्छेद कर वेदान्ती चतुर नहीं, वरन् महामूर्ख सिद्ध होते हैं[1] क्योंकि लोक में भी जो कोई व्यक्ति अपना ही उच्छेद (विनाश) स्वीकार कर दूसरे की स्थिति स्वीकार करता है, उसे मुर्ख ही माना जाता है, इस रूप में वह वेदान्त दर्शन की अलोचना करता है, परन्तु इससे यह भी ध्वनित होता है चार्वाक उच्छेदवादी दर्शन है।[2] अवधेय है कि उच्छेदवाद के प्रवर्तक अजितके ककम्बल का सिद्धान्त भी लोकायत मत के अनुरूप ही है। न्यायदर्शन की आलोचना करते हुए वह कहता है कि जिसने (गौतम ने) चेतना युक्त प्राणियों के (सुख, दुःखादि का अनुभव नहीं होने से) पाषाणस्वरूपा मुक्ति[3] के लिए ग्रंथ बनाया, उसे गोतम (मुनि पक्षान्तर में विशिष्ट गो) ही जानें, और जैसा (मुनि एवं गो) जाते हो, वह वैसा (महापशु) ही है।[4] इस प्रकार यहाँ कलिप्रतिनिधि का मन्तव्य न्याय दर्शन के साथ-साथ उसके प्रणेता की भी आलोचना करना है।

चार्वाकदर्शन यदृच्छावाद एवं स्वभाववाद की मान्यता[5] का प्रतिपादक है। इस दर्शन में कार्यकारणभाव का कोई स्थान नहीं है। सभी पदार्थों की तात्त्विक विवेचना उनके स्वभाव के आधार पर की जाती है[6]। आचार्य वृहस्पति का भी कथन है कि अग्नि जल एवं वायु में उष्ण, शीत एवं स्पर्श गुण स्वभावतः होते हैं।[7] ईश्वर की सत्ता का पला एवं स्वभाववादी मान्यता स्थापन पर जो देते हुए कलि प्रतिनिधि कहता है कि यदि संसारियों को अपने अपने कर्मानुसार सुख दुःखादि भोगना ही है तो ईश्वर का, उस दुःख को संसारियों के द्वारा भोगने में निमित्त होना (मानना), हम संसारियों के साथ में अकारण दोष करना ही है, क्योंकि दूसरे लोग तो परस्पर में अपकार करने के कारण एक दूसरे के बैरी बनते हैं

---

1. स्वञ्च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।
   इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवैदधी वेदवादिनम् ।। नै० 17/74
2. This is the doctrine of annihilation know as Ucchedavada and refered to in works like Aryasura's Jatakamala (Mahabodhijatake)-
   अपर उच्छेदवादकथाभिरेनं कामभोग प्रसंग एवं प्रतारयामास दारुणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि कर्मात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव। नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति लोकस्तथायमिति सौख्यपरायणः स्यात् ।। -हाण्डिकी पृ० 536 एवं द्रष्टव्य जानी, पृ० 141
3. न्याय के अपवर्ग की मीमांसा इसी शोध प्रबन्ध के न्यायदर्शन के अन्तर्गत द्रष्टव्य।
4. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रामूचे सचेतसाम् ।
   गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः ।। नै० 17/75
5. अपरे लोकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहुः। स्वभावादेव जगद् विचित्रमुत्पद्यते, स्वभावतो विलयंयाति।-भट्टोत्पल-वृ० संहिता 1/7 की टीका
   हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
   स्वभावर्णना नैवमवधेर्नियत्त्तन्तवतः ।। न्याय कु0 1/5
6. शिखिनः चित्रयेत् को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्।
   स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्। सर्वसिद्धान्त संग्रह, लोकायत प्रकरण, श्लोक 5
7. क्वचित् फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधादिवत् यादृच्छिकः अतस्तुसाध्यमदृष्टादिकमपि नास्ति।
   नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्माकस्मिकं स्यादिति चेत् न तद्भद्रम अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः।
   केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिरिति ।।21।। स.द.सं., पृ० 10

किन्तु वह ईश्वर तो अकारण ही दुःख भोग कराने में निमित्त होकर हम संसारियों के साथ द्वेष करता है।[1] अतएव वह ईश्वर कारुणिक आदि गुणों से युक्त है, यह कथन सर्वथा मिथ्या है एवं दुःख भोग करने में कर्म की प्रधानता होने से भी ईश्वर का अस्तित्व खण्डित होता है।

देवताओं यथा– विष्णु तथा शिव के अस्तित्व पर प्रहार करते हुए कलिप्रतिनिधि का कथन है कि धार्मिक मान्यतानुसार तो विष्णु एवं शिव का जो एक बार भी नाम ले लेता है, वह मुक्त हो जाता है किन्तु उन्हीं देवताओं की पत्नियाँ लक्ष्मी एवं गौरी (उमा), जो हमेशा उन देवों (विष्णु एवं शिव) में अत्यन्त संलग्नचित्ता हैं, वे क्यों नहीं मुक्त हो गयीं? प्रत्युत वे तो कामदेव के कारागार के (जेल-बन्धन) में हैं अर्थात् काम के परवश (ही दिखायी पड़ती) हैं।[2] अतएव "सकृदुच्चरितं येन शिव इत्यक्षरद्वयम्" तथा "मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यः स मामेति पाण्डव[3] इत्यादि शिव, कृष्ण तथा विष्णु आदि की उपासना से मुक्ति प्राप्ति बतलाने वाले शास्त्र मिथ्या ही हैं। ईश्वर की सत्ता का निराकरण करता हुआ वह कहता है कि यदि सर्वज्ञ, दयालु एवं (वेदरूप) सत्यभाषी ईश्वर (परमात्मा) की सत्ता है तो वह मोक्ष चाहने वाले हम लोगों को अपनी स्वीकृति के शब्द (एवमस्तु) से कृतार्थ क्यों नहीं करता है,[4] या मोक्ष प्रदान क्यों नहीं करता? और यदि सर्वज्ञादि विशेषणों से विशिष्ट होने पर भी (नैयायिक सम्मत ईश्वर) वह हमें मोक्ष प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं तब तो यह मानना पड़ता है कि ईश्वर नामक कोई देव है ही नहीं।

ऋषि, मुनि, तपस्वी, जो भारतीय संस्कृति के संवाहक रहे हैं, कलि प्रतिनिधि उनकी भी आलोचना करने में नहीं चूकता, वह कहता है कि दुर्वासा आदि ऋषि जो स्वयं महाक्रोधी हैं, एवं तपस्वी होते हुए भी क्रोध करते हैं और दूसरों को यह उपदेश देते हैं कि क्रोध का सर्वथा त्याग करना चाहिए, उनका यह उपदेश दूसरों को वञ्चित करना मात्र है वास्तविक नहीं, इसलिए उन ऋषि मुनियों का उपदेश भी मानने योग्य नहीं है। यथा –

अक्रोधं शिक्षयन्त्यन्यैः क्रोधना ये तपोधनाः ।
निर्धनास्ते धनायैव धातुवादोपदेशिनः ।।[5]

दान आदि क्रियाओं की निन्दा करते हुए कलिप्रतिनिधि कहता है लक्ष्मी तो उसी से प्रसन्न रहती हैं जो कंजूस होता है। दान व्यसनी महादानी बलि ने तो अलना सर्वस्व दान कर (वामन रूपधारी विष्णु द्वारा) बन्धन को ही प्राप्त हुआ था।[6] अतएव दानादि करने का उपदेश वञ्चना एवं अपनी उदरपूर्ति का

---

1. भाविनां भावयन्दुःखं स्वकर्मजमपीश्वरः ।
   स्यादकारणवैरी नः कारणादपरे परे ।। नै० 17/78
2. दारा हरिहरादीनां तन्मग्नमनसो भृशम् ।
   किं न मुक्ताः? पुनः सन्ति कारागारे मनोभुवः ।। नै० 17/76
3. भ0 गीता- 8/7
4. देवश्चेदस्ति सर्वज्ञः करुणाभागबन्ध्यवाक् ।
   तत् किं वाग्व्ययमात्रान्नः कृतार्थयति नार्थिनिः ।। नै. 17/77, एवं 79
5. नै० 17/80
6. किं वित्तं दत्त? तुष्टेयमदातरि हरिप्रिया ।
   दत्त्वां सर्वं धनं मुग्धो बन्धनं लब्धवान्बलिः ।। नै० 17/81

साधन मात्र है[1] परलोक में,सुखोत्पादक नहीं, अतएव दान नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक दो व्यक्ति भले ही लोभ के वशीभूत न हों, शेष सभी लोग धनवानों से धन ही लेना चाहते हैं। यथा -

दोग्धा द्रोग्धा च सर्वोऽयं धनिनश्चेतसा जनः ।
विसृज्य लोभसंक्षोभमेकद्वा यद्युदासते ।।[2]

आचार्य वृहस्पति ने भी दानादि पुण्य कर्मों का उपहास किया है।[3]

चार्वाक दर्शन स्वछन्दतावादी दर्शन है। नैषध में भी श्रीहर्ष ने इस तथ्य का प्रतिपादन कलिप्रतिनिधि मुखेन करवाया है जहाँ वह कहता है कि आनन्द का मूलकारण स्वच्छन्दता (श्रुति-स्मृति, पुराणोक्त धर्मों का त्यागकर स्वेच्छाचारिता) है। मनुस्मृति इत्यादि में जो चीजें अभक्ष्य कहीं गयी हैं यथा लशुन, पलाण्डु (ग्राम्यसूकर कुक्कुट का) मास आदि न खाना, पेट को वञ्चित करना है, अचौर्य दीनता का जन्मदाता है, अतः चोरी करके दीनता से छुटकारा पाना ही उत्तम है।[4] वेदों के कथन - "आत्मारामः स्यात्" की व्याख्या वह अपने पक्ष में करता हुआ कहता है कि स्वेच्छा पूर्वक जो भाये वही आत्माराम है।[5] यज्ञ निष्पादन को वह दःखदायी ही मानता है।[6] वह कहता है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्ड धारण करना, भस्मलेपन या तिलक लगाना, ये सब बुद्धिहीन एवं दरिद्रों की जीविका के साधन मात्र हैं। यथा–

अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् ।
प्रज्ञापौरुषनिःस्वान्नां जीवो जल्पति जीविका ।।[7]

लोकायत दर्शन के प्रणेता आचार्य वृहस्पति ने भी उपयुक्त मत की अभिव्यक्ति की थी।[8]

मूर्तिपूजन पर वज्राघात करते हुए कलिप्रतिनिधि कहता है कि डाली से फल तोड़कर देवता पर चढ़ाने से क्या लाभ? यदि वह फूल डाली में रहता तो फल ही देता, इस तरह तो एक फल की उत्पत्ति रोककर तुमने लाभ के स्थान पर हानि ही की और यदि देवता के ऊपर फूल चढ़ाने से अभीष्ट सिद्धि होती है, ऐसी भावना से शिवलिङ्ग या शालिग्राम की मूर्ति पर पुष्प चढ़ाना ही है तो "सर्व शिष्णुमयं जगत्" इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त देवों या मनुष्यों के शिर भेद नहीं से पत्थर के ऊपर पुष्प चढ़ाने की अपेक्षा,

---

1. सर्वथा लोकायतिकमेव शास्त्रमर्थज्ञानकाले ।
   एवमर्थायकरोत्यग्निहोत्रसन्ध्यजयादीन् ।। वा0सू0
2. नै० 17/82,
3. स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
   प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ।। स0द0सं0पृ० 11
4. दैन्यस्यायुष्यमस्तैन्यमभक्ष्यं कुक्षिवञ्चना ।
   स्वाच्छन्द्यमृच्छतानन्दकन्दलीकन्दमेककम् ।। नै. 17/83
5. स्वागमार्थेऽपि मा स्थास्मिंस्तीर्थिका! विचिकित्सवः ।
   तं तमाचरतानन्दं स्वच्छन्दं यं यमिच्छथ ।। नै. 17/50
6. नै. 17/60
7. नै० 17/39
8. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्डनम् ।
   बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्म्मिता ।।
   पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमें गामिष्यति ।
   स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्नहिंस्यते ।।
   मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेतृप्तिकारणम् ।
   गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ।।
   ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
   मृतानां प्रेतकार्य्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ।। स.द.सं., पृ० 11

अपने ही शिर पर रखे होते, जिससे सुगन्धित लाभ तो अवश्य ले लेते, क्योंकि दूसरों की सेवा की अपेक्षा स्वयमेव उपभोग करना श्रेष्ठ है। स्पष्ट है कि कलिप्रतिनिधि यहाँ चार्वाकों के सिद्धान्त स्वार्थवाद का भी प्रतिपादन कर रहा है, साथ ही उसने मूर्ति पूजन (देवपूजन) एवं देवपूजकों का भी उपहास किया है।[1] "गङ्गे 'तव' दर्शनात् मुक्तिः" की अवधारणा भी चार्वाक दर्शन को ग्राह्य नहीं है, व्रतों एवं तीर्थ स्नान की निंदा करते हुए कलिप्रतिनिधि कहता है, जब सांसारिक जन कामपरायण हैं; तब एकादशी, अमावस्या एवं चान्द्रायण पूर्णिमा को व्रत रखना, तीर्थों से स्नान करना सब दिखावा मात्र है।[2] वह गंगास्नान कर स्वर्गप्राप्ति की कामना रखने वालों को भेड़ (मूर्ख) की संज्ञा देता है। यथा–

बिभ्रत्युपरियानाय जनाः जनित मज्जनाः ।
विग्रहायाग्रतः ,पश्चाद्गत्वरोरभ्रविभ्रमम् ।।[3]

यदि हम लोकायत दर्शन की पाश्चात्य दर्शन से तुलना करें, तो हम पाते हैं कि जिस प्रकार लोकायत दर्शन आत्म सुख को परम शुभ मानते हुए इन्द्रिय सुख को ही सर्वोच्च सुख मानता है, उसी तरह सिरैनेक सम्प्रदाय का प्रर्वतक ऐरिस्टिपस (Aristippus) जो कि स्थूल (Gross) अथवा इन्द्रियपरक आत्मसुखवाद का प्रचारक था भी इन्द्रिय सुख या शारीरिक सुख को सर्वोच्च मानता था। उसके अनुसार सभी सुख एक ही प्रकार के होते हैं। सुखों में भेद केवल उनकी तीव्रता अथवा मात्रा और स्थिति में होता है, अर्थात् उनमें मात्रात्मक भेद होता है, गुणात्मक नहीं। शारीरिक सुख अथवा इन्द्रिय तृप्ति आध्यात्मिक सुखों की अपेक्षा अधिक वरण करने योग्य है, क्योंकि शारीरिक सुख आध्यात्मिक सुख की अपेक्षा अधिक तीव्रतर होते हैं। अतीत मर चुका है और भविष्य संशयात्मक है। वर्तमान ही सब कुछ है। वर्तमान से ही हमें अधिक से अधिक सुख लाभ प्राप्त करना होगा।[4] खाओ, पिओ, और मौज उड़ाओ क्योंकि कल तो मरना ही है। (Let us eat, drink and be merry for tomoorow we die.)[5] एक भी क्षण तीव्रतम सुखभोग से खाली न जाये। इसलिये जीवन का सच्चा नियम यह है कि वर्तमान क्षणिक विषय सुखों के लिये अविचारपूर्वक अपना उत्सर्ग कर दो।[6] हाब्स भी सम्पूर्ण चारित्रिकगुणों को आत्मप्रेम में विघटित कर देता है। मैंडेविल (Mandevile 1676-1771) और हेल्वेश्यिस (Helvetius 1715-77) भी इसी मत के अनुयायी हैं। उनके अनुसार आनन्द का अर्थ इन्द्रियों की तृप्ति से उत्पन्नसुख की उच्चतम मात्रा है, और वही परम शुभ भी है। उपनिषदों में भी वर्णन मिलता है कि जब मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, तब वह कर्म करता है बिना सुख मिले कोई कर्म नहीं करता, बल्कि सुख मिलने पर ही करता है, अतः सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।[7] व्यास का भी कथन है कि दुःख से सभी उद्विग्न होते हैं, और सुख सभी को

---

1. किं ते वृन्तहृतापुष्पात्तन्मात्रेहि फलत्यदः ।
   न्यस्य तन्मूर्ध्यनन्यस्य न्यास्यमेवाश्मनो यदि ।। नै. 17/57
2. नै. 17/41
3. नै. 17/71
4. गते शोको न कर्त्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
   वर्तमानेन कालेन वर्तमन्ति विचक्षणाः ।। चाणक्य नीति 13/2
5. Materialism in Ancient India - Published in the Bulletin of Allahabad University oriental society - 1928-29, P-44-53 एवं द्रष्टव्य - सारस्वत संदर्शन - पृ० 158/166
   – पिव खाद च जातशोभने - प्रबोधचन्दोदय 2/50
6. Weber History of Philosophy - E.T. (T. Thilhy) 1986, P-71 विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य - William lillie - An introduction to Ethics - The Standard as Pleasure - 18 Chapt.-9
7. यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। छा. उ0 7/22/1

अभीष्ट है।[1] उपयोगितावादियों में वेंथम, मिल तथा सिजविक ने भी स्वार्थपरक सुखवाद का पूर्ण समर्थन करते हुए उसे अपने उपयोगितावाद का अंग बनाते हुए, सुख प्राप्ति को ही श्रेयस्कर माना है।[2] अरस्तू का भी कहना है कि शब्दतः इस बात पर सामान्य मतैक्य है कि सर्वोच्च श्रेय क्या है, क्योंकि प्राकृत जन तथा शिष्ट जन दोनों मानते हैं कि यह सुख है।[3]

चार्वाकों के प्रत्यक्ष प्रमाण के आधारपर चार पदार्थों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) को मानने के कारण इसकी तुलना ग्रीक परमाणुवादियों या भौतिकवादी दर्शन से की जा सकती है, जैसा कि पूर्व में विवेचन किया जा चुका है। पाश्चात्य दार्शनिकों का व्यवहारवाद या फलवाद (Pragmatism) तथा भाववाद, विशेषकर तर्कमूलकभाववाद (Logical Positivism) की मान्यताएँ भी लोकायत दर्शन के समरूप ही देखी जा सकती हैं। यदि लोकायत दर्शन शारीरिक सुख के साथ-साथ मानसिक एवं आध्यात्मिक सुख को मान लेता, तब हम उसे शिष्ट चार्वाक की संज्ञा से अभिहित कर सकते थे, जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिक इपीकुरस ने माना था कि मानसिक इच्छाओं की तृप्ति भी सुख है। इस रूप में चार्वाक दर्शन के दो भेद किये जा सकते हैं। धूर्त चार्वाक एवं शिष्ट चार्वाक[4]। धूर्त चार्वाकों की श्रेणी में लोकायत दर्शन तथा पाश्चात्य सिरेनाइक मत, एवं शिष्ट चार्वाकों की श्रेणी में इपिकुरसवाद एवं स्वयं हम अपने सभी मनुष्यों के जीवन दर्शन को रख सकते हैं क्योंकि यदि सभी मनुष्यों के जीवन दर्शन को परखा जाय एवं चार्वाक दर्शन से उसकी तुलनात्मक मीमांसा की जाये, तथा उसमें चार्वाकों द्वारा वेद, स्वर्ग, ईश्वर, मोक्ष, आत्मा या नैतिक कर्मों की आलोचना पद्धति को त्याग दिया जाय तो हम सभी शिष्ट चार्वाकी ही ठहरते हैं क्योंकि आधुनिक मनुष्य अपनी उन्नति एवं सुख के लिये सब कुछ करने को उद्यत दिखता है। अन्तर सिर्फ इतना है कि हम ईश्वर, पुर्नजन्म, स्वर्ग एवं नैतिक कर्मो को मान्यता देते हैं, जब कि चार्वाक दर्शन इनकी निंदा करता है। हो सकता है कि चार्वाक दर्शन का रूप, जिस रूप में आज हमें प्राप्त है, उससे भिन्न रहा हो,[5] क्योंकि चार्वाक दर्शन का जो पक्ष हमें देखने को मिलता है, वह गीता, मनुस्मृति योग न्याय वैशेषिक, एवं वेदान्त द्वारा उसकी की गयी आलोचना में ही प्राप्त होता है, और यह भी सभव है कि इन ग्रथों के ग्रंथकारों ने चार्वाक द्वारा की गयी वेद आदि की निंदा न सह सकने के कारण चार्वाकों के दर्शन को इतना घृणित रूप

---

1. दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्। महा. शान्ति प. 139/69
2. Betham - An introduction to the principal of morals and legislation - P. 1
   Each person, so for as he believes it to be attainable, desires his own happiness, happiness is a good, Each person's happiness is good to that person, the general happiness therefore, is good to the aggreate of all person.— James Mill — Utilitarianism - chapt. 4, third para
   – द्रष्टव्य – Henery Sidgwick — Methods of Ethics - P - 375
3. द्रष्टव्य – Nichomachean Ethics - (रास का अनुवाद) P- 1095 - 15-20
4. भारत में चार्वाकों के अनन्तर सुखवाद के दो रूप हो गये, एक की स्थापना कौटिल्य या चाणक्य ने की और दूसरे की न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने। चाणक्य ने मनुष्य को स्वार्थी मानकर, उनके स्वार्थ को नियंत्रित करने के लिये राजसत्ता को अनिवार्य माना, एवं उसने भारतीय नीति शास्त्र को वहीं योगदान किया जैसा कि कालन्तर में हाब्स ने विट्रिश नीतिशास्त्र को दिया। इसे हम सुखवाद एवं राजनैतिक सत्ता का गठजोड़ कह सकते हैं। तदनन्तर उद्योतकर ने मानव मनोविज्ञान के आधार पर घोषित किया कि सुखप्राप्ति य दुःख निवृत्ति ही मानवजीवन का काम्य (साध्य) है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नहीं। बाद में न्याय वैशेषिक के मत में इस सुखवाद की प्रधानता रही। इस सुखवादी दृष्टिकोण की तुलना हम विट्रिश उपयोगितावाद से कर सकते हैं। द्रष्टव्य - प्रो. हिरिन्ना लिखित Indian Philosophical studies पुस्तक में प्रकाशित Indian Philosophy and Hedonis n नामक लेख एवं न्यायवार्तिक (वाराणसी संस्करण) पृ० 13 से उद्घृत
5. Six systems of Indian Philosophy - MaxMuller -P. 100

प्रदान कर दिया हो, किन्तु जिस रूप में आज चार्वाक दर्शन लोकायत हमें प्राप्त है उस रूप में वह **संवेदनशील और** समझदार नरनारियों के लिये **बरतने** योग्य नहीं है।[1]

नैषधीयचरितम् के सत्रहवें सर्ग के साथ-साथ अर्थशास्त्र में लोकायत दर्शन का वर्णन मिलता है, जहाँ लोकायत (चार्वाक)की गणना आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य और योग के साथ की गयी है।[2] वार्हस्पत्य सूत्र[3] तो चार्वाक दर्शन के मूल ही हैं परन्तु पतञ्जलि के समय (ई.पू. द्वितीय शताब्दी) में लोकायत दर्शन के "भागुरी" नामक टीका ग्रंथ के विद्यमान होने का वर्णन मिलता है।[4] लगभग 10वीं शाताब्दी में जयराशि भट्ट द्वारा निलिखत 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक ग्रंथ में चार्वाक तथ्यों का प्रतिपादन मिलता है। कृष्णायति मिश्रकृत प्रबोध चन्द्रोदय[5] के द्वितीय अंक शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह, माधवाचार्य के सर्वदर्शन संग्रह, हरिभद्रसूरि के षडदर्शन समुच्चय, कमलशीलकृत तत्वसंग्रह की पञ्जिका, सर्वमत संग्रह, सर्वसिद्धान्त संग्रह, विवरण प्रमेय संग्रह, ब्रह्मसूत्र के 3/3/53-54 सूत्रों के भाष्य तथा न्यायमंजरी में चार्वाक दर्शनों का प्रतिपादन मिलता है तथा पूर्वपक्ष के रूप में लगभग सभी अस्तिक दर्शन के ग्रंथों में भी लोकायत दर्शन के विवरण देखे जा सकते हैं।

जैन दर्शन

नैषधीयचरितम् में जैन दर्शन सम्बन्धी जो विवरण देखने को मिलते हैं, उनसे यही प्रतीत होता है कि नैषधकार को यह दर्शन दर्शनशास्त्र के रूप में अभिप्रेत नहीं था, क्योंकि जैन धर्म की विशेषताओं का

---

1. भारतीय योग दर्शन - देवराज, पृ० 146
2. सांख्यं योगं लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी - अर्थशास्त्र उपोद्घात (से उद्घृत)
3. (i) पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्वानि।
   (ii) तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा।
   (iii) तेभ्यश्चैतन्यम्।
   (iv) किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्।।
   (v) मदशक्तिवद् विसानम्।
   (vi) चैतन्यविशिष्ट कायः पुरुषः।
   (vii) काम एवैकः पुरुषार्थ।
   (viii) मरणामेवापवर्गः।
   – भास्कर रचित ब्रह्मसूत्र (एक आत्मनः शरीरे भावात् 3/3/53), तथा शांकर भाष्य एवं गीता (16/11) की नीलकण्ठी श्रीधरी तथा मधुसूदनी और अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में निम्नसूत्र द्रष्टव्य हैं जबकि प्रबोधचन्द्रोदय में चार्वाक मत के निम्न
   वृहस्पति सूत्र मिलते है –
   (i) लोकायतमेव शस्त्रम्।
   (ii) अत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्।
   (iii) अर्थकामौ एरुषार्थौ।
   (iv) भूतान्येव परलोकः
   (v) नास्ति परलोकः
   (iv) मृत्यरेवापवर्गः। अन्य वृहस्पति सूत्र अनुपलब्ध है।
4. वर्णिका भागुरी झोकायतस्य - महाभाष्य - 7/3/45, सूत्र - 7.
   – वर्तिका भागुरी लोकायतस्य, महाभाष्य - 7/3/45/, सूत्र 8
   – वर्णिकेति व्याख्यातीत्यर्थः भागरी टीका विशेषः- कैयट, महाभाष्य 7/3/45 –व्याकरण महाभाष्य,III खण्ड, मोती, वना., पृ० 210
5. वाचस्पतिना प्रणीय चार्वाकाय समर्पितम् ।
   तेन च शिष्योपशिष्य द्वारेण बहुलीकृतं तन्त्रम् ।।

विवरण ही नैषध महाकाव्य में मिलता है, एवं जैन दर्शन के सिद्धान्तों यथा स्याद्वाद, अनेकान्तवाद आदि का नामोल्लेख तक श्रीहर्ष ने इस महाकाव्य में नहीं किया है। संभवतः इन्हें धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में ही यह दर्शन अभिप्रेत है। अर्वाचीन विद्वान् प्रो. एम. हिरियन्ना महोदय ने भी जैन दर्शन का प्रतिपादन 'दर्शनों के युग' के पूर्व रखा है।[1] जैन दर्शन का भी दर्शन के क्षेत्र में असीम योगदान है, एवं इसका विवरण विभिन्न ग्रंथों यथा-प्रमेयकमलमार्तण्ड, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र, भगवती सूत्र, आचारांग सूत्र, षड्दर्शनसमुच्चय एवं सर्वदर्शन संग्रह आदि प्रसिद्ध ग्रंथों में देखने को मिलता है। जैन दर्शन के तीर्थकरों के साथ-साथ त्रिरत्नों का अप्रतिम महत्त्व है, उन्हें मोक्ष मार्ग भी माना जाता है।[2] श्रीहर्ष ने जैन दर्शन की त्रिरत्न की अवधारणा का संकेत नवें सर्ग में दूतकार्य में संलग्न नल एवं दमयन्ती के वार्तालाप प्रसङ्ग में किया है जहाँ दमयन्ती कहती है कि मैं अपने चरित्र रूपी धर्म का त्याग कर कुल में कलङ्क नहीं लगाऊँगी, अर्थात् एक बार नल को वरण (मन से पति मान लेने पर) कर लेने पर पुनः इन्द्रादि देवों में से किसी को भी वरण नहीं करूँगी। यथा-

न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्म चिन्तामणिरुज्झितो यया ।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुलेस्तृतं तया ।।[3]

अर्थात् जिनेन्द्र[4] या अर्हत्[5] ने जिस धर्मरूप चिन्तामणि को (रत्नत्रय) तीन रत्नों यथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चरित्र के रूप में रखा है, उस धर्मरूपी चिन्तामणि को जिस स्त्री ने कपालधारी (शिवजी, पक्षान्तर में कपाल धारण करने से अकिंञ्चत व्यक्ति विशेष) के क्रोधाग्नि से भस्म अर्थात् कामदेव के लिए छोड़ दिया (कामवशीभूत होकर चरित्र का त्याग कर दिया) उस स्त्री ने अपने वंश में वही भस्म फैला दिया अर्थात् अपने कुल को दूषित कर दिया। परन्तु मैं (दमयन्ती) ऐसा करके अपने पितृकुल को दूषित नहीं करूँगी। जैन दार्शनिक उमास्वामी के अनुसार यथार्थज्ञान के प्रति सच्ची श्रद्धा या आस्था का होना ही सम्यग्दर्शन है।[6] तथा यथार्थ ज्ञान बिना आस्था या श्रद्धा के प्राप्त नहीं हो सकता (श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्) और यह तो सिद्ध तथ्य है कि सम्यग्दर्शन ही मानव में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न करता है, जिससे स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन प्राप्ति होने पर ही मनुष्य समदर्शी बन सकता है। सम्यग्दर्शन को जैन दर्शन में कर्णधार कहा गया है क्योंकि इस दर्शन का उद्देश्य भी साधक को मोक्ष प्राप्ति कराना है, तथा मोक्ष के लिए (जैन धर्म एवं सिद्धान्तों में) आस्था होनी आवश्यक है। जैन ग्रंथों में सम्यग्दर्शन के प्रमुख आठ अंग बताये गये हैं- निःशंकता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा, अमुद्धदृष्टि, उपवृंहण, स्थितीकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना। जैन विद्वानों के अनुसार सम्यग्ज्ञान का अर्थ है जीव तथा अजीव के पार्थक्य का ज्ञान।[7] शास्त्र तथा आचार्यों के

---

1. भारतीय दर्शन-एम. हिरियन्ना, पृ० १७५
2. रत्नत्रयपदवेदनीयतया प्रसिद्धं सम्यग्दर्शनादित्रितयमर्हत्प्रवचनसंग्रहपरे परमागमसारे प्रुरूपितं "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" स0द0सं0, पृ० 61
3. नै. 9/71
4. नारायण जिनेन्द्र का अर्थ बुद्ध किया है, जब कि आचार्य मल्लिनाथ ने अर्हत । यहाँ मल्लिनाथ का अर्थ ही तर्कसंगत है, क्योंकि जैन शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन' से मानी गयी है, जिसका अर्थ है इन्द्रिय जित एवं इन्हीं जिनो के उपदेशों तथा सिद्धान्तों को जैन दर्शन नाम दिया । द्रष्टव्य 9/71 नारायणी एवं मल्लिनाथी टीका।
5. जैन धर्म में अर्हत् की संज्ञा दी गयी है। यथा-
   सर्वज्ञो जितरागादिदोषवस्त्रैलोक्यपूजितः। यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत् परमेश्वरः।। स.द.सं.,पृ० 6
   एवं अर्हतों द्वारा प्रचाति होने के कारण जैन दर्शन आर्हत दर्शन भी कहलाता है।
6. तत्वार्थश्रद्धानं सम्यक् दर्शनम्। तत्वार्थाधिगमसूत्र 1/3 द्रष्टव्य यशस्तिलक 2/152
7. स्वपरान्तरं जानाति यः स जानाति-इष्टोपदेश-33

उपदेशों को भी सम्यग्ज्ञान माना जाता है, यदि वह उपदेश मोक्ष में सहायक हो तथा मिथ्या दृष्टि का निवारक सिद्ध हो।[1] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सम्यग्ज्ञान में जीव और अजीव के मूल तत्त्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।[2] साथ ही यह असंदिग्ध तथा दोषरहित होता है। सम्यग्ज्ञान सविशेष ज्ञान होने से ही प्राप्त होता है।[3] एवं इसकी प्राप्ति के लिए कर्मों का नाश होना आवश्यक है।[4] सम्यक् चरित्र अहित कार्यों तथा पाप कर्मों का वर्जन, तथा हित कार्यों का आचरण करना है।[5] जैन विद्वान्, कुण्डकुण्डाचार्य कहते हैं-

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठी ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।[6]

जयसेन तो चरित्र को मन की निश्चल (शांत) आकृति मानते हैं।[7] जैन दार्शनिकों की अवधारणा के अनुसार सम्यक चरित्र के द्वारा जीव अपने कर्मों से मुक्त हो सकता है, एवं अपने जीवन लक्ष्य (मोक्ष)को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि कर्मों के कारण ही बंधन एवं दुःख प्राणी को प्राप्त होते हैं। सम्यक्चरित्र पंचमहाव्रतों के अनुशील से ही सम्भव हो सकता है वे हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ओर अपरिग्रह। जैन विद्वानों ने इन पांचों को सन्यासियों के लिए बताया है एवं ग्रहस्थों के लिए पहले तीन ही व्रत निधोरित किये हैं। मध्वाचार्य का कथन है कि स्वभावतः सन्यासी के नियम अधिक कड़े (कठोर) हैं इसलिए उन्हें महाव्रत तथा गृहस्थों के नियम को अणुव्रत कहा गया है।[8] अहिंसा का प्रभाव नैषधकार के ऊपर भी देखा जा सकता है, जहाँ उन्होंने हंस को पकड़ने पर नल की निंदात्मक अभिव्यक्ति को नैषधीयचरितम् में स्थान दिया है[9] क्योंकि नल ने जानबूझकर, छल से हंस को हस्तगत किया था। जैन विद्वान् कुण्डकुण्डाचार्य का कथन है कि असावधानी से कार्य करने वालों को ही हिंसा का पाप लगता है। सावधान व्यक्ति से जीव का घात होने पर नहीं (जैसे आत्मरक्षार्थ जीव हिंसा या कृषि कर्म में जीव हिंसा)। यथा-

---

1. एवं पवयणसारं पचत्थिय संग्रहं किमाणिता ।
   जो मयदि रागदोसे सो गाहदि दुःखपरिमोक्खं।। पञ्चास्तिकाय 103
2. द्रव्य संग्रह-श्लोक-42
3. Samyagjnana means a thraught knowledge of the doctrines propounded in the scripture-K.K. Handiqui-P-535
4. द्रव्य संग्रह श्लोक - 45
5. प्रवचनसार - कुण्डकुण्डाचार्य - 1.7
6. कर्मादाननिमित्तायाः क्रियायाः परमं शमम्। चारित्रोचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे।। यशस्तिलक, द्वितीय भाग पृ० 269
   – औदासीन्यं परं प्रहुर्वृत्त सर्वक्रियोज्झितम्- वहीं पृ० 326
7. सर्व. द. सं., पृ० 33, Outliness of Jainism, पृ 69, एवं 133
8. न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
   इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ।। नै. 1/128
   न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन्मुहुः ।
   अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करञ्जरस्पृशाः ।। नै. 1/129
   धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
   तवार्णवस्येव तुषारसीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ।। नै. 1/130।
   न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
   विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ।। नै. 1/131
   पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ।
   धिगीदृशं ते नृपते! कुवक्रिमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ।। नै. 1/132
   फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
   त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरिणी हृणीयते ।। नै. 1/133
9. प्रवचनसार, 1/16

मरदु वा जीवदु जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥[1]

उमास्वामी ने इन त्रिरत्नों को मोक्षमार्ग माना है।[2] सोमदेव ने यशस्तिलक में इन त्रिरत्नों को बोधि शब्द से अभिहित किया है।[3] तथा उपमितिअवप्रपंचकथा में इन्हें जीवात्मा की तीन महौषधि माना गया है।[4] चन्द्रप्रभाचरित[5] एवं धर्मशर्माभ्युदय में भी त्रिरत्नों का वर्णन मिलता है, जिसमें धर्मशर्माभ्युदय[6] में इन्हें मोक्ष का साधन माना गया है। मध्वाचार्य ने भी इन त्रिरत्नों का विस्तार से वर्णन करते हुए इन्हें मोक्ष का साधन माना है।[7]

नैषधकार ने जैन धर्म के सम्प्रदायों की तरफ भी संकेत किया है। नैषध के बीसवें सर्ग में नल दमयन्ती एवं उसकी सखियों के हासपरिहास वार्तालाप में दमयंती का पक्ष लेते हुए नल ने वरुण से प्राप्त वरदान का चमत्कार दिखाते हुए, दमयंती की सखियों के ऊपर अंजुलि से भरे जल को छिड़क दिया, जिससे भीगने के कारण उनके अंग झलकने लगे। नल ने दमयंती से कहा कि देखो तुम्हारी दोनों सखियाँ (कला एवं उसकी सखी) भीगने के कारण जैन प्रव्राजिका बन गयी हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पतले वस्त्रों के भीग जाने के कारण उनके स्तनादि दृष्टिगोचर हो रहे होंगे, तथा नग्नता प्रतीति के कारण वह दिगम्बर जैन प्रव्राजिका प्रतीत हो रही थीं।[8] ध्यातव्य है कि जैन सम्प्रदाय तीन भागों में विभक्त किया जाता है दिगम्बर, स्वेताम्बर एवं यापनीय किन्तु यापनीय सम्प्रदाय अब लुप्त हो चुका हैं। दिगम्बर आचार पालन में अधिक कठोर है, एवं श्वेताम्बर कुछ उदार। दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि निर्वस्त्र रहते हैं, परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मुनि श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। स्मरणीय है कि यह नियम केवल मुनियों पर ही लागू होता है, ग्रहस्थों तथा श्रावकों, स्त्रियों आदि पर नहीं। तब नैषधकार ने यहाँ पर जैन प्रव्राजिकाओं (साध्वीं या अर्जिका याक्षुल्लिका का व्रत ग्रहण करने वाली स्त्रियों) को नग्न किस कारण माना और यदि यहाँ अमरकोषकार का जिन को बौद्ध मानने का[9] मत भी माना जाये, तब भी बौद्ध सम्प्रदाय में भी नग्न

---

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र। 1/1
2. यशस्तिलक-2/114, 157
3. उपमिति भवप्रपञ्चकथा पृ० 105, 113, 116, 140
4. उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ. 105, 113, 116, 140
5. चन्द्रप्रभाचरित- 18/123-124
6. निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स मोक्षः कथ्यते जिनैः।
   ज्ञान दर्शनचारित्रैरुपायैः परिणामिनः । भव्यस्यायमनेकाङ्गविकलैरेव जायते ।
   तत्त्वस्यावगतिर्ज्ञानं श्रद्धानं तस्य दर्शनम् । पापारम्भनिवृत्तिस्तु चारित्रं वण्यते जिनैः ॥ धर्मशर्माभ्युदय 21/160-162
7. "संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्दधानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारणक्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रम्। तदेतत् सप्रपञ्चमुक्तमर्हता।। सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते। कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा। अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः। न यत् प्रमादयोगेन जीवितव्य परोपणम्। चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्। प्रिय पथ्यं वचस्तथ्यं सुनृतं व्रतमुच्यते। तत्थ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्।। अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्। बाह्यः प्राणा नृणामर्थो हरतां तं हता हि ते।। दिव्यौदयिककामानां कृतानुमतकारितैः। मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्। 24।।
   सर्वभावेषु मूर्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः। यदसत्स्वपि जायेत मूर्छया चित्तविप्लवः। भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चधाक्रमात्। महाव्रतानि लोकस्य साधयन्त्यव्ययं पदम्। इति। भावनापञ्चकप्रपञ्चनं च प्ररूपितम् "हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानानैर्निरन्त रम्। आलोच्य भाषणेनापि भावयत् सूनृतं व्रतम्।। इत्यादिना। एतानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मिलितानि। मोक्षकारणं न प्रत्येकं यथा रसायनसाधनानि सम्भूय रसायनफलं साधयन्ति न प्रत्येकम् न प्रत्येकम्। स.द.सं. पृ 63......64
8. तेनापि नापसर्पन्त्यौ दमयन्तीमयं ततः। हर्षेणादर्शयत् पश्य नन्विमे तन्वि! मे पुरः।। नै. 20/128
   क्लिन्नीकृत्याम्भसा वस्त्रं जैनप्रव्रजितीकृते। सख्यौ सक्षौमभावेऽपि निर्विघ्नस्तनदर्शने।। नै. 20/129
9. सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः। समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिनः। अमरकोष 1/1/13
   षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः। मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता शास्ता मुनिः। अमरकोष 1/1/14

रहने का शास्त्रीय विधान नहीं मिलता, तब नैषधकार का यह कथन किस आधार पर हो सकता है? विद्वानों को इसका विचार अवश्य करना चाहिए। मध्वाचार्य ने जैन सन्यासियों के आचरण का वर्णन करते हुए कहा कि उनके स्नानादि न करने से देह में सदा मैल (धूल) भरा रहता है। भिक्षान्न भोजन, केशलुञ्चन, हाथ में छोटे-छोटे जीवों को उड़ाने के लिए पिच्छिका रखना, जलपात्र रखना, खड़े-खड़े भिक्षा देने वालों के घर में भोजन करना दिगम्बर जैन सन्यासियों का अनुष्ठान (कर्म) है।[1] परन्तु आज वास्तव में इनके आचरण की मीमांसा करने की जरूरत है, क्योंकि जैन धर्म में इतने कठोर नियमों के परिपालन का ही परिणाम है कि यह अपने बहुत अनुयायी नहीं बना सका। स्त्रियों के प्रति इनकी नकारात्मक सोच अछूत मानने का परिणाम यह हैं कि जैन आश्रमों में व्यभिचार, की घटनाएं सम्भव होती है एवं जन्म से ही जैन धर्म में कन्याओं को दीक्षा दिया जाना (साध्वी बनाना) भी उपर्युक्त परिणाम में साधन बनता है। निःसंदेह जैन सन्यासी एवं साध्वी, जैन धर्मानुयायियों की पूज्य एवं जैन धर्म के प्रचार प्रसार के आधार हैं, परन्तु जैन धर्म यदि मध्यममार्ग अपनाने की अपील करता, तब निःसंदेह आज उसका रूप दूसरा होता।

यदि जैन दर्शन को सारांश रूप में देखा जाये, तो यह दर्शन प्रमाणत्रय (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) को मानता है। मोक्ष को मानने की अवधारणा भी इस दर्शन में देखी जाती है किन्तु इसका रूप वेदान्तादि दर्शनों से भिन्न है। यह अनीश्वरवादी दर्शन है लेकिन जिनों या तीर्थंकरों की यह ईश्वर रूप में पूजा करने का विधान करता है। यह दर्शन वस्तुवादी है, क्योंकि यह ब्राह्य जगत के अस्तित्व को मानता है, बहुसत्तवादी भी है, क्योंकि यह अनेक तत्त्वों को मानता है। इसके प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद है, जिसके कारण यह सापेक्षवादी दर्शन है। साथ ही यह संसार को नित्य एवं अनित्य दोनों मानता है, द्रव्यों के गुण परिवर्तनशील नहीं है इस दृष्टि से यह संसार को नित्य मानता है एवं द्रव्यों के पर्याय बदलते रहते हैं इस कारण इनकी दृष्टि में संसार अनित्य तथा परिवर्तनशील भी है। यह आत्मा को भी मानता है लेकिन उसमें मात्रात्मक भेद की परिगणना करता है। पुनर्जन्म की अवधारणा भी इस दर्शन को मान्य है। इनकी मान्यता है कि संचित कर्मो के कारण जन्म पुनर्जन्म के चक्र में पड़ने से जीव अनेक शरीर धारण करता है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि नैषधकार ने जैन दर्शन के किसी सिद्धान्त की मीमांसा नैषध में नहीं की, हाँ जैन धर्म की कुछ विशेषताओं की चर्चा अवश्य की है। यह तो सर्वविदित ही स्मरणीय है कि जैन दर्शन के प्रवर्तक महावीर (जैन) माने जाते हैं।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म एवं दर्शन के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध माने जाते हैं। इनके उपदेश ही बौद्ध दर्शन के आधारशिला हैं। नैषधकार ने अपने ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य में बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का खण्डन तो अवश्य किया है किन्तु महात्मा बुद्ध को उन्होनें दोनों ग्रंथों नैषध एवं खण्डनखण्डखाद्य में सम्मान का पात्र समझा है।[2] साथ ही बुद्ध को जितेन्द्रिय कहते हुए उन्हें, ईश्वरावतार[3] भी माना है। ऐतिहासिक दृष्टि से छठी

---

1. सरजोहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्द्धजाः। श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैन साधवः।।
   लुञ्जिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रादिगम्बराः। ऊर्द्धाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः।
   भुङ्क्ते न केवलं न स्त्रीं मोक्षमेति दिगम्बरः। प्राहुरेषामयं भेदो महान श्वेताम्बरैः सह।।57।। स.द.सं.पृ० 83
2. तदुक्तं भगवता लङ्कावतारसूत्रे-खं0 खा0 7 पृ०, 62
   - सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियः त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत्।
   तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद् हरः। नै० 4/80 एवं 12/87
3. सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत्। नै.-4/80 पूर्वार्द्ध
   एक चित्ततितिरद्वयवादिन्न त्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम्। पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चवाणविजयी षड्भिज्ञः।। नै. 21/87
   तत्र मारजयिनि त्वयि साक्षात्कुर्वति क्षणिकतात्मनिषेधौ। पुष्पवृष्टिरणतत्सुरहस्तात्पुष्पशस्त्रशरसन्ततिरेव। नै० 21/88
   तावके हृदि निपात्य कृतेयं मन्मथेन दृढधैर्यतनुत्रे। कुण्ठनादतितमां कुसुमानां छत्रमुखतैव शराणाम्।। नै. 21/८9
   यत्तव स्तवविधौ विधिरास्ये चातुरीं चरति तच्चतुरास्यः। त्वय्यशेषविदि जाग्रति शर्वः सर्वविद्ब्रुवतया शितिकण्ठः।। नै. 21/90

शताब्दी ईसापूर्व से ग्यारहवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म एवं दर्शन का समय माना जा सकता है, दूसरे शब्दों में बिम्बसार से लेकर बंगाल के पाल वंश तक यह धर्म पल्लवित रहा, किन्तु नैषधकार के समय बारहवीं शताब्दी तक इस धर्म का ह्रास होना प्रारम्भ हो चुका था, इस धर्म की उत्पत्ति भारत में हुई लेकिन इसका प्रचार प्रसार विश्व के अनेक भागों में हुआ। भारत में बारहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण तक बौद्ध धर्म अपनी अंतिम श्वांसे ले रहा था, किन्तु आज पुनः भारत में इस धर्म के अनुयायिओं की संख्या उसी तरह से बढ़ने लगी है, जैसे कि महात्मा बुद्ध के समय हुई थी, अन्तर सिर्फ इतना है कि आज बौद्ध धर्म का केन्द्र बिन्दु डॉ० भीमराव अम्बेडकर को माना जा रहा है एवं महात्मा बुद्ध तथा उनके उपदेशों को बाह्यावरण रूप में रॅखा जा रहा है। बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति के बाद उनके उपदेशों में वाद विवाद के चलते बौद्ध धर्म में अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ एवं अकेले भारत में उनकी संख्या अठारह तक पहुँच गयी।[1] यथा- स्थविरवाद, महीशासक, सर्वास्तिवादी, हैमावत, वात्सीपुत्रीय, धर्मगुप्तिक, काश्यपीय, महासांघिक आदि। किन्तु इन सभी सम्प्रदायों को दो मुख्य सम्प्रदायों के अन्तर्गत मानने में स्वयं महात्मा बुद्ध तथा अन्य विद्वानों की सहमति है और वे हैं हीनयान एवं महायान।[2] हीनयान को श्रावकयान भी कहा जाता है तथा महायान को एकयान, अग्रयान, बोधिसत्त्वयान, एवं बुद्धयान भी कहते हैं।[3] हीनयान व्यक्तिगत निर्वाण पर जोर देता है, जबकि महायान समष्टि के निर्वाण को आदर्श मानता है, परन्तु तथागत (बुद्ध) का अभिप्राय प्रत्येक श्रावक (साधक) को सम्यक् बुद्ध बनने पर जोर देना था[4] जिसको महायान सम्प्रदाय ने अपना आधार माना है। हीनयान के दो सिद्धान्त सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक माने जाते हैं जबकि महायान के योगाचार (विज्ञानवाद) एवं माध्यमिक (शून्यवाद)।[5] ये चारों ही सम्प्रदाय अनीश्वरवादी हैं। नैषधकार ने तीन सम्प्रदायों का वर्णन नैषध के दशवें सर्ग में सरस्वती के वर्णन प्रसङ्ग में किया है, जहाँ वह कहते हैं-

या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव ।
विज्ञानसामास्त्यमयान्तरेव साकारता सिद्धिमयारिवलेव ।।[6]

अर्थात् वह (सरस्वती देवी) मानो सोमसिद्धान्त (कापालिक दर्शन, पक्षान्तर में पूर्ण चन्द्र) रूप मुखवाली, शून्यतावाद (माध्यमिक दर्शन, पक्षान्तरं में-अभाववाद) रूप उदरवाली (कृशोदरी) विज्ञान सामस्त्य (निराकार विज्ञानमात्रवादी बाह्यालापी योगाचार, पक्षान्तर में विशिष्ट ज्ञान) रूप चितवाली और साकरता सिद्ध (साकारज्ञानवादी सौत्रान्तिक ज्ञान, नील पीतादिरूपता से सिद्ध पक्षान्तर में सुन्दर आकृति) रूप सम्पूर्ण अवयवों वाली थी। या वह अतीव सुन्दरी थी।[7] सोम सिद्धान्त कापालिक दर्शन के अन्तर्गत परिगणित

---

1. Pudnistic Philosophy — A.B. Kaith- P., 149-50
2. अहमपि सारिपुत्र... सत्वानां नानाधात्वाशयानामाशं विदित्वा धर्मं देशयामि.....कमेव यानमारभ्य सत्वानां धर्मं देशयामि यदिदं बुद्धयानं....। सद्धर्मपुण्डरीक- पृ० 32
3. बौद्ध धर्म का विकास- डॉ0 जी0सी0 पाण्डे -पृष्ठ-302।
4. उक्तं भगवता श्रीमाला सूत्रे। श्रावको भूत्वा प्रत्येक बुद्धो भवति पुनश्च बुद्ध इति। सूत्रालंकार, पृ० 70
5. चतुःप्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः। अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते। सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बर्हिमतः। आकारसहिता बुद्धियोगाचारस्य सम्मता। केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमा पुनः। रागादिज्ञानसन्तानवासनाच्छेद सम्भवा। चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता। ...सर्व0 द0 सं0 पृ० 46
6. नै० 10/88
7. चन्द्रानना, अतिकृशोदरी, सर्वविज्ञानमयी अतिसुन्दरी चेति भावः। नै. 18/88 नारायण। "शून्यात्मतावादो माध्यमिकाख्यबौद्धविशेषदर्शनं तन्मयमुदरं यस्याः सा तथोक्तेव। अपि च अस्या उदरं नास्तीति शून्यात्मतया यो वादः कथनं तन्मय तद्विषय उदरं यस्या सेवेति व्यज्यते। अतिकृशोदरीति तात्पर्यम्। विज्ञानस्य सामस्त्यं साकल्यं तन्मयं गोघटादिकं सर्वमेव विज्ञानमिति योगाचाराख्य बौद्धविशेषदर्शनं तन्मयनिंत्यर्थः अन्तरं चित्तं यस्याः सा तया भूतेव। अन्यच्च विज्ञान शिल्पशास्त्रविषयकज्ञानस्य सामस्त्यं साकल्यं तन्मयं तद्व्याप्तमन्वन्तरं मनो मस्याः सेवेति ध्वन्यते। तथा साकारतासिद्धिः विज्ञानाकारनुमेयक्षणिक बाह्यार्थ इति सौत्रान्तिकाज्ञानबौद्धविशेषदर्शन तन्मयम् अखिलं सर्वमङ्गप्रत्यङ्गादिकं यस्याः सा तथाविधेव। परञ्च साकारतासिद्धिमयं सौन्दर्यसम्पत्तिप्रचुरम् अखिलमंङ्गं यस्याः सा तथोक्तेवेति सा सूच्यते। नै० 10/87 जयन्ती टीका एवं 10/88 मल्लिनाथी एवं नारायणी टीका भी द्रष्टव्य।

होता है। परन्तु यहाँ बौद्ध दर्शन के सन्दर्भ इसकी प्रासंगिता असमीचीन होते हुए भी संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इसका रहस्य "पश्यामि योगाञ्जनशुद्धदर्शनो जगन्मिथोभिन्नमभिन्नमीश्वरात्"[1] में छिपा है अर्थात् इस सिद्धान्त की मान्यता है कि मेरा (शैव उपासक योगीका) नेत्र योग रूपी अञ्जन से शुद्ध है और मै आपस में भेदयुक्त जगत को भी ईश्वर से अभिन्न देखता हूँ, जैसे अँगूठी और कंकण में भेद होने पर भी दोनो सुवर्ण से अभिन्न होते हैं। ध्यातव्य है कि उपर्युक्त प्रसंग ने नैषधकार में बौद्ध दर्शन के तीन सिद्धान्तों का निर्देश किया है, शून्यात्मवाद या माध्यमिकों का शून्यवाद, योगाचार का विज्ञानवाद एवं सौत्रान्तिकों का साकारता सिद्ध या साकारवाद (ब्राह्यानुमेयवाद) जब कि बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय पूर्व में गिनाये जा चुके हैं। इस रूप में श्रीहर्ष अद्वयवज्र से प्रभावित दिखते हैं, क्योंकि अद्वयवज्र (११वीं शताब्दी) ने अपने ग्रंथ तत्त्वरत्नावली में योगाचार, माध्यमिक, एवं सौत्रान्तिकों को महायान के अर्न्तगत माना है[2] जब कि महायान के अन्तर्गत योगाचार एवं माध्यमिक आते हैं एवं हीनयान के अन्तर्गत सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक। तब नैषधकार ने वैभाषिक को छोड़कर इन तीनों का विवरण किस कारण दिया है? यह विद्वज्जनों द्वारा शोध का विषय है। हॉ. यदि सर्वास्तिवाद के संदर्भ में भामतीकार के कथन "यद्यपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरवान्तरमतभेदोऽस्ति तथापि सर्वास्तितायामस्ति संप्रतिपत्तिरित्येकी कृत्योपन्यासः[3] के आधार पर वैभाषिकों की उपस्थिति भी सौत्रान्तिकों के साथ साथ मान ली जाय, तो और बात है।

शून्यवाद (माध्यमिक) की मान्यता है कि यह संसार शून्य है। बाह्य तथा आन्तरिक, सभी विषय असत् हैं। इस मत में शून्य ही एक मात्र तत्त्व है जो न सत् है न असत् है, और न सत् और असत् दोनों है और न दोनों ने भिन्न है,[4] अर्थात् इन चारों कोटियों से विलक्षण तत्त्व है जिसे माध्यमिकों ने परमतत्व माना है^ एवं शून्य को परमतत्व मानने के कारण इस मत को शून्यवाद कहते हैं। इस शून्यवाद को बौद्धों का अद्वयवाद या अद्वैतवाद भी कहा जाता है क्योंकि बुद्ध को अद्वयवादी भी कहा जाता है[5] एवं श्रीहर्ष भी बुद्ध को अद्वयवादी मानते हैं।[6] स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त किसी पदार्थ का स्वभाव (यथार्थ सत्ता) नहीं मानता है। इस सिद्धान्त का मानना है शून्य ही जगत का उपादान है, एवं अन्त में जगत शून्य में ही परिणत हो जाता है। हम घट, पट एवं मनुष्य आदि का जो कुछ अनुभव करते हैं, वह सब माया है। अविद्या (माया) के नाश से इन सब वस्तुओं का ध्वंश हो जायेगा।[7] बाद में जगत और "मैं" (मनुष्य) दोंनों ही शून्यता में परिणत हो जायेंगे। "मै" शून्यतामात्र हूँ, इस ज्ञान के उत्पन्न होने से निर्वाण प्राप्ति होती है। नार्गाजुन ने भी, जो इस सिद्धान्त के प्रधान संस्थापक थे, कहा है कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, वही शून्यता है, और वही मध्यमप्रतिपदा हैं।[8]

श्रीहर्ष ने शून्यवाद का संदर्भ सरस्वती वर्णन में दिया है, जहाँ वह उनके उदर को माध्यमिकों के सिद्धान्त शून्यवाद से निर्मित बताते हैं।[9] पुनः बाइसवें सर्ग में नल एवं दमयन्ती द्वारा सन्ध्या वर्णन प्रसंग में

---

1. प्रबोधचन्द्रोदय (नाटक) से उद्धृत
2. अद्वयवज्रसंग्रह – गायकवाड़ ओरयिन्टल सिरीज, पृ० 14
3. शाङ्करभाष्य, भामती टीका 2/2/18
4. न सन्नासन्नसदसन्नचाप्यनुभवात्मकम् ।
   चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्तवं माध्यमिकाविदुः।। माध्यमिक कारिका, 1/7 एवं बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० 359
5. भिन्नापि देशनाभिन्ना शून्यता द्वयलक्षणा-भामती टीका, ब्रह्मसूत्र 2/2/18
6. एकचित्ततिरद्वयनादिन........ नै. 21/ 97 पूर्वार्द्ध अद्वयवादी विनायक : ...... अमरकोश 1/1/14
7. एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा ।
   अजातमनिरुद्धं च तस्तस्मात्सर्वमिदं जगत् ।। बौधिचर्यावतार 9/150 एवं 9/1/44......149
8. यः प्रतीत्यसमुत्पाद : शून्यतां तं प्रचक्ष्महे । सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ।। माध्यमिक कारिका, 28/18
9. शुन्यात्मतावादमयोदरेव नै. 10/88 पूर्वार्द्ध।
   – शून्यात्मवादो माध्यमिकदर्शनं तन्मयं तद्रूपमुदरं यस्याः सेव (आत्मानो न सन्तीति शून्यात्मतावादों बौद्धसिद्धान्तः।10/88, नारायण
   – तथा आत्मानो न सन्तीतिवादः शून्यात्मतावादः माध्यमिकबौद्धविशेष दर्शनं, तन्मयं तदेव उदरं यस्याः सा तादृशीव, अथ च शून्यात्मता निस्वरूपता तद्वादो नास्तिवादः, तन्मयमुदरं यस्याः सा अतिकृशोदरीत्यर्थः। नै० 10/88, मल्लिनाथ

शून्यवाद की विषय वस्तु को प्रतिपादित करते हुए नैषधकार लिखते हैं कि जिस प्रकार जागरण समयात्मक दिन में (सूर्य प्रकाश से) अदृष्ट ताराओं को आकाशपुष्प (ये कुछ नहीं है ऐसा) दिखलाती हुई यह रात्रि शून्यमार्ग में स्पष्ट दिखायी पड़ते हुए भी आकाश को (अंधकाराच्छन्न होने से) जिस प्रकार असत्य बतलाती है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान होने के समय में बाधित (भ्रान्तिकारण नाश होने से उत्पत्ति शून्य) नक्षत्र रूपी आकाश पुष्पों का दृष्टान्त देती हुई यह बौद्ध योगिनी (योग द्वारा सिद्धि को प्राप्त की हुई स्त्री) ज्ञानभिन्न सब पदार्थ को शून्य कहने वाले बौद्धों या शून्यवादियों के रहस्य को जानती हुई स्पष्ट दृष्यमान संसार को भी असत्य कहती है।[1] शून्यवाद की मान्यता है कि आकाशपुष्प के समान यह जगत भी अयथार्थ है। ज्ञान ही बाह्य रूप में घटपटादि रूप से प्रतीत होता है। ज्ञान से भिन्न घटपदादि रूप कोई भी पदार्थ नहीं है, सब कुछ असत्य है। ठीक इसी सिद्धान्त को मानने वाली योगिनी उपर्युक्त प्रसंग में संसार को मिथ्यारूप में वर्णित करना चाहती है, क्योंकि जिस प्रकार भ्रान्ति के कारण आकाश पुष्पों का होना प्रतिभासित होता है(जबकि यथार्थ में उनकी सत्ता है ही नहीं) उसी प्रकार भ्रान्ति रहने पर ही स्थावरजंगमरूप यह संसार प्रतीत होने लगता है,[2] ठीक यही स्थिति आचार्य शंकर के माया या अविद्या सिद्धान्त में दृष्टिगोचर होती है। अवधेय है कि शून्यवाद सम्प्रदाय का उदय हीनयान के दोषों को दूर करने एवं बुद्धोपदिष्ट अद्वैतवाद की पुनः प्रतिष्ठा के लिए हुआ था, क्योंकि हीनयानियों ने प्रतीयसमुत्पाद को वास्तविक कार्य कारणवाद मान लिया था एवं इसके आधार पर उन्होंने सार्वभौम क्षणभंगवाद की स्थापना की, जिसका माध्यमिकों ने खण्डन किया।

बौद्धों के सिद्धान्त क्षणिकवाद, अनित्यवाद[3] या क्षणभंगवाद की मान्यता है कि जो सत् है, वह क्षणिक है।[4] जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है, जो उत्पत्ति के तुरन्त बाद नष्ट हो जाता है। वह क्षणिक है। उत्पाद का अर्थ इस दर्शन में कार्य क्षण का कारण-क्षण के अनन्तर विद्यमान होना एवं विनाश[5] का अर्थ कारण क्षण का कार्य क्षण के समय विद्यमान न रहना माना जाता है। उत्पाद और विनाश एक ही वस्तु के दो रूप हैं और दोनों ही क्षणभंगवाद की सिद्धि करते हैं क्योंकि यह दर्शन उत्पत्ति तथा विनाश में आनन्तर्य नियम मानता है[6] अर्थात् कारण और कार्य समकालीन नहीं हैं क्योंकि कारण प्रथम क्षण में और कार्य द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है। इनके अनुसार कारण की सत्ता मात्र से कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। क्योंकि सत्ता का अर्थ ही अर्थक्रियासामर्थ्य या कार्योत्पादव्यापार है और परमार्थ सत् का लक्षण अर्थक्रिया सामर्थ्य है।[7] बुद्ध भी सभी वस्तुओं को परिवर्तनशील एवं नाशवान मानते थे। उनका कथन है कि जितनी वस्तुएं हैं सभी की उत्पत्ति कारणानुसार हुई है, ये सभी वस्तुएँ सब तरह से अनित्य हैं[8], इस रूप में बुद्ध अनित्यवाद का प्रतिपादन करते दिखते हैं वहीं उनके अनुयायी क्षणिकवाद का,

---

1. प्रबोधकालेऽहनि बाधितानि ताराः खपुष्पाणि निदर्शयन्ती।
   निशाह शून्रुध्वनि योगिनीयं मृषा जगदृष्टमपि स्फुटाभम्।। नै. 22/23
2. सर्वदर्शन संग्रह, 31, 45, पृ. 28-36
3. क्षणिकवाद के विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य, बौद्ध धर्म दर्शन- आचार्य नरेन्द्र देव, पृ. 238-241
4. यत्सतत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी सत्ता शक्तिरिहार्थकर्म्मणि मित्तेः सिद्धेषु सिद्धा न सा। नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद् द्वेधापि क्षणभङ्गसंगतिरतःसाध्ये च विश्राम्यति। (24)। सर्व द0 सं0 पृ० 24
5. यो हि भावः क्षणस्थायी विनाश इति गीयते। तत्त्व0 सं0 का0 375
6. उत्पादानन्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः। तदुच्यते क्षणः सोऽस्ति यस्य तत् क्षणिकंम् मतम्।।
   असत्यप्यर्थभेदे च सोऽस्त्यस्येति न बाध्यते। इच्छा रचितसं के तमात्रभावि हि वाचकम्।। तत्व सं. की. 388/389
7. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणं परमार्थ सत् - न्याय बिन्दु 1/15
8. तस्मादनष्टात् तद्धेतोः प्रथमक्षणभाविनः। कार्यमुत्पद्यते शक्ताद् द्वितीय क्षण एवं तु।। वही, 512
   सत्तैव व्याप्ततिस्तस्यां कार्योदयो यतः। यः आनन्तर्यनियमः सैवापेक्षाऽभिधीयते।। वही, 521
   एवं द्रष्टव्यं - प्रमाणवार्तिक, I भाग, पृ० 270 -282, II भाग, पृ० 284-285, III भाग, पृ० 110

क्योंकि उनके अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व कुछ काल तक भी नहीं रहता, बल्कि एक ही क्षण रहता है। उनकी मान्यता में नदी के प्रवाह का जल एक क्षण दूसरा, तो दूसरे क्षण और रहता है, परन्तु एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जन्म देता है। यह प्रवाह नित्यता है, हम भ्रमवश इसे शाश्वत मानते हैं। सारांशतः क्षणभंगवाद स्वयं प्रतीत्यसमुत्याद से सिद्ध होता है एवं अनित्यवाद की स्थापना करता है और नित्यवाद तथा शाश्वतवाद का विरोध करता है। श्रीहर्ष ने क्षणभंगवाद क. विवरण नैषध में दो स्थलों पर दिया है, प्रथम सत्रहवें सर्ग में चार्वाक प्रतिनिधि द्वारा बौद्धों के सिद्धान्त को अपने पक्ष में मानते हुए वेदों के खण्डन में, जहाँ वह कहता है कि बुद्ध अनिवर्चनीय महिमा वाला हुआ, क्योंकि वेद के रहस्य को अर्थात् उसकी प्रामाणिकता को नष्ट करने के लिये सत्त्व के कारण संसार अनित्य है, यह कहा।[1] अन्यत्र इक्कीसवें सर्ग में बुद्धावतार रूप ईश्वर की अर्चना प्रसंग में क्षणिकवाद का प्रतिपादन करते हुए नैषधकार ने बुद्ध को षड्भिज्ञ (दिव्यचक्षुःश्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वनिवास का अनुसरण आत्मज्ञान, आकाशगमन या छैः कामव्यूह सिद्धियों का ज्ञाता, अथवा छैः पारमिताओं- यथा, ज्ञान, शील दान[2] क्षमा, वीर्य, धन और प्रज्ञा या अविद्या आदि पंचक्लेशों तथा अणिमादि छैः सिद्धियो का ज्ञाता) माना।[3] साथ ही यह भी अभिहित किया कि उस बुद्धावतार में कामदेव को जीतने वाले आपने जिस समय 'सर्वंक्षणिकं' के सिद्धान्त पर अत्मसत्ता के निषेध का साक्षात् ज्ञान किया, उस समय देवों ने आकाश से पुष्प वृष्टि की। यथा-

तत्र मारजयिनि त्वयि साक्षात्कुर्वति क्षणिकात्मनिषेधौ ।
पुष्पवृष्टिरपतत्सुरहस्तात्पुष्पशस्त्रशरसंततिरेव ॥[4]

स्पष्ट है कि यहाँ बौद्धों के क्षणिकवाद के साथ-साथ अनात्मवाद का भी प्रसंग नैषधकार रखना चाह रहे थे। बौद्धों के अनात्मवाद सिद्धान्त की मान्यता है कि सर्व अनात्मम्। अर्थात् वे इस मत को नहीं मानते कि आत्मा नित्य है, ध्रुव है, अजर, अमर है, वह आत्मा को क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह मात्र परिवर्तनशील मानते हैं। (इनका यह अनात्मवाद अनत्तवाद भी कहलाता है। संयुक्त निकाय, विशुद्धिमग्न एवं मज्झिमनिकाय में इस सिद्धान्त का विशिष्ट रूप से वर्णन प्राप्त होता है।)[5]

इस दर्शन में पंचस्कन्धों का समुदाय अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पांचों का समुदाय ही आत्मा कहलाता है। इस प्रकार बुद्ध पारमार्थिक नित्य आत्मा का तो निषेध करते हैं किन्तु अनित्य व्यावहारिक आत्मा को स्वीकार करते हैं। व्यक्ति की सत्ता है, परन्तु व्यक्ति पंच स्कन्धों का समुदाय है, इससे भिन्न कोई नित्य, अविनाशी, आत्मा नहीं, जिस प्रकार रथ के अनेक अंगों को मिलाकर हम उसे

---

1. केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना । यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगस्थिरम्।। नै. 17/37

– यत् सत् तत् क्षणिकम् "इति कारणेन, जगत इदं विश्वम्, स्थिरं क्षणिकम्, इति जगदे गदितम्। अयं भावः जगतः क्षणिकत्त्वे सिद्धे आत्मनोऽपि जगदन्तर्गततया क्षणिकत्त्वं सिद्धमेव, ततश्च येनात्मना पापं कृतं तस्यात्मनः क्षणोत्तरं नाशात् कथं तस्य फल भोगसम्भवः। नै. 17/37 मल्लिनाथ एवं 17/37 नारायणी टीका भी द्रष्टव्य

2. दान पारिमिता का वर्णन देव नारद संवाद में नैषधकार ने किया है। यथा -
तद्भुजादतिवितीर्णसपर्याद्द्युद्रुमानापित विवेद मुनीन्द्रः।
स्वः सहस्थिति सुशिक्षित्या तान्दानपारमितयैव वदान्यान्।। नै० 5/11

3. एकचित्ततितिरद्वयवादिन्नत्रयीपरिचितोऽथबुधस्त्वम् ।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः ।। नै. 21/87 एवं द्रष्टव्य नै. 21/87 नारायणी तथा मल्लिनाथी एवं जयन्ती टीका।

4. नै० 21/88

5. यथा हि अंग सम्भारा होति सद्दौ रथौ इति। एवं भन्धेसु सन्तेसु होति सत्तोनि सम्मुति ।।
संयुक्त निकायएसकं नामरूपं च उभो अञ्ञानिस्सिता ।
एकस्मिं भिज्जमानस्मिं उभो भिज्जन्ति पच्चया ।। मज्झिम निकाय 1/1/2

रथ की संज्ञा देते है, उसी प्रकार रूप, वेदना, संस्कार, संज्ञा, विज्ञान, इत्यादि के समुदाय को आत्मा के नाम से पुकारते हैं। आत्मा की सत्ता रथांगों से भिन्न नहीं।[1]

बौद्धों के विज्ञानवाद[2] का विवरण श्रीहर्ष ने सरस्वती वर्णन प्रसंग में दिया है जहाँ उन्होंने सरस्वती के चित्त की रचना को विज्ञानवाद से निरूपित किया है।[3] यहाँ नैषधकार का आशय सरस्वती का चित्त सर्वज्ञ होने के कारण, ज्ञान की सम्पन्नता से सम्पन्न मानना था क्योंकि विज्ञानवादी माध्यमिकों के अनुसार चित्त की ही एक मात्र सत्ता है, बाह्य वस्तुओं की नहीं। ये विज्ञान के प्रवाह को ही चित्त कहते हैं। जिस तरह स्वप्न या भ्रमावस्था में वस्तुओं को बाह्य समझते हैं, यद्यपि वे मन के अन्तर्गत ही होती हैं, उसी तरह साधारण मानसिक अवस्थाओं में भी जो वाह्य पदार्थ प्रतीत होते हैं,[4] वे विज्ञान मात्र हैं। दूसरे शब्दों में विज्ञान ही सत् है। संसार की सभी वस्तुएँ और सभी धर्म स्वप्न भ्रम, द्विचन्द्र और अलातचक्र की भाँति असत् हैं। वस्तुतः ये हमारे चित्त के ही प्रतिविम्ब हैं जिन्हें हम अविद्याग्रस्त होने के कारण बाह्य वस्तु समझते हैं। विज्ञानवाद को योगचार भी कहते हैं। यह नाम संभवतः इन्हें इसलिये दिया गया क्योंकि इस सम्प्रदाय में योगचर्या को विशेष महत्व दिया गया है चूंकि बोधि प्राप्ति के लिए योग आवश्यक है। साथ ही षट्पारमिताओं एवं दशभूमियों (चित्तभूमियों) पर दक्षता प्राप्त करना भी। इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक आचार्य असंग को माना जाता है, जिनके मुख्य ग्रंथ महायानाभिधर्मसंगीतिशास्त्र, महायान सूत्रालंकार, महायान संग्रह, योगाचार भूमिशास्त्र आदि हैं। कुछ लोग असंग के गुरु मैत्रेयनाथ को इस सिद्धान्त का प्रर्वतक बतलाते हैं जिनका मुख्य ग्रंथ समयालंकार है, जिसमें विज्ञानवाद के मतों के समर्थन का विवरण वर्णित हैं।[5]

नैषधीयचरितम् में सरस्वती वर्णन प्रसंग में ही सौत्रांतिकों के साकारतासिद्धि या साकारवाद सिद्धान्त का वर्णन भी प्राप्त होता है। जिससे सरस्वती का पूरा रूप ही साकारता सिद्धि सिद्धान्त से श्रीहर्ष ने परिकल्पित किया है।[6] यह सिद्धान्त हीनयान के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। वसुमित्र ने हीनयान के अठारह मतों का उल्लेख किया[7] किन्तु उनमें दो मत ही प्रमुख माने जाते हैं, थेरवाद (स्थविरवाद), एवं सर्वास्तिवाद। सर्वास्तिवाद के अन्तर्गत सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक दोनों सम्प्रदाय माने जाते हैं[8] परन्तु जहाँ वैभाषिक[9] बाह्यप्रत्यक्षवाद के पोषक हैं, वहीं सौत्रान्तिक[10] बाह्यानुमेयवाद के सौत्रान्तिकों के मत में ज्ञान का

1. संयुक्तनिकाय 12/7.... 10, मज्झिमनिकाय 1/4/5....14, विशुद्धिमग्ग - 24/86...90
2. बौद्धों के विज्ञानवाद के विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य - बौद्ध धर्म दर्शन- आचार्य नरेन्द्र देव, पृ. 384-487
3. विज्ञानसामस्त्यटयमयान्तरेव - नै० 10/88
4. विज्ञप्तिमात्रवेवैतद् सदर्थावभासनात्। यथा तैमिरिकस्यासत् केशचन्द्रादिदर्शनम्।। विशंतिका, आचार्य वसुबन्धु कारिका -1
   यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते - ब्रह्मसूत्र 2/2/28 पर शांकरभाष्य
   - यद्यप्यनुभवात् नान्योनुभाव्योऽनुभविताऽनुभवनं तथापि ...... बुद्धि परिकल्पितेन रूपेण अन्तःस्थ एवैष प्रमाणप्रमेय फलव्यवहारः प्रमातृव्यवहारश्चेत्यपि द्रष्टव्यं न पारमार्थिक इत्यर्थः। ब्रह्मसूत्र 2/2/28, वाचस्पतिमिश्र कृत भामती टीका में उद्धृत
5. विज्ञानवाद के प्रमुख ग्रंथ एवं आचार्यों हेतु द्रष्टव्य - भारतीय दर्शन, देवराज, पृ. 218-219 एवं भारतीय दर्शन, बी0एन0 सिंह, पृ. 281-282
6. साकारतासिद्धिमयाखिलेव - नै० 10/88
7. अष्टादशनिकायभेदभिन्नं भगवतो धर्मशासनम्- भारतीय दर्शन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पृ. 62 से उद्धृत
8. शांकरभाष्य - 2/2/18 पर भामती टीका में द्रष्टव्य
9. विभाषा अभिधर्मग्रंथों की टीका है, वैभाषिक इस टीका का प्रमाण्य अन्तिम मानते हैं, इसलिये वह वैभाषिक कहलाते हैं। सौत्रान्तिक वैभाषिकों के विपरीत यह मानते हैं कि विभाषा मनुष्य रचित होने के कारण दोष युक्त हो सकती है, अतः वे बुद्ध के उपदेशित सूत्रों को ही प्रमाण मानते हैं, इसी वि0 वह सौत्रान्तिक कहलाते हैं। द्रष्टव्य - Encyclopaidia of Religion and Ethics. जिल्द-II, एवं Buddhistic Philosphy, A.B. Keith - p. 155
10. सौत्रान्तिक हीनयान के अनुयायियों का सुत्तापिटक को प्रधान मानने एवं उसी का अनुसरण करने के कारण पड़ा। द्रष्टव्य - भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, प्रो. संगमलाल पाण्डेय, पृ. 179

आकार ज्ञात वस्तु के अनुसार ही होता है, एवं ज्ञान प्राप्ति के चार प्रयत्न है आलम्बन, समनन्तर अधिपति और सहकारी प्रत्यय। इनकी मान्यता है कि चित्त तथा बाह्य जगत दोनों की सत्ता है, क्योंकि यदि बाह्य वस्तुओं की सत्ता न होती, तो हमें उनकी प्रतीति कैसे सम्भव होती! जब हमें घट का प्रत्यक्ष होता है, उस समय घट हमारे बाहर होता है, और ज्ञान अन्दर, इसका स्पष्ट अनुभव भी होता है। इस प्रकार यह बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष न मानकर अनुमान से प्राप्त मानते हैं, इसी कारण बाह्यानुमेयवादी कहे जाते हैं। इन्द्रियसंवेदन द्वारा हमारे मानस पर अपनी छाप छोड़ते हैं, हमें प्रत्यक्ष इन्हीं चित्रों का होता है, जिनके आधार पर हम मूल पदार्थों का अनुमानकर उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं।[1] नैषधकार द्वारा सरस्वती के शरीर का सर्वांग चित्रण करने के बाद साकारवाद से उनके रूपराशि या सर्वांगों का ज्ञान अनुमान से ही हो सकता था, या यह कह लें कि सरस्वती के सम्पूर्ण अवयवों के द्वारा ज्ञान ही आकार को प्राप्त हुआ था। अतः इस संदर्भ में श्रीहर्ष का यह विवरण सर्वथा उचित है।

स्मरणीय है कि दार्शनिक दृष्टि से बाह्यानुमेयवाद के साथ-साथ अनित्यवाद, अनात्मवाद और अनीश्वरवाद[2] हीनयान के सिद्धान्त है। बौद्ध अनीश्वरवादी भी हैं क्योंकि यह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता किन्तु अनन्तर में इस दर्शन में महात्मा बुद्ध एवं तारा देवी की पूजा की परम्परा इस दर्शन के अनुयायियों ने भी प्रारम्भ कर दी थी। नैषधकार ने भी इस तथ्य का निदर्शन किया है जिससे प्रतीत होता है कि बारहवीं शताब्दी में यह परम्परा विद्यमान थी। बाइसवें सर्ग में ऐसे बौद्ध उपासकों की सन्ध्या वर्णन प्रसंग (के पक्षान्तर) में श्रीहर्ष ने प्रशसात्मक अभिव्यक्ति की है।[3] संक्षेप में बौद्धों के मुख्य सिद्धान्तों को निम्न रूप में रख सकते हैं। यथा –

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद् योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सोत्रान्तिकः प्रत्यक्षं क्षणभंगुर च सकलं वैभाषिको भाषते ।।[4]

श्रीहर्ष ने बौद्ध दर्शन में प्रख्यात पारमिताओं में दानपारमिता का भी संकेत नैषध के तृतीय सर्ग में देवऋषि नारद के इन्द्रपुरी पहुँचने के क्रम में दिया है।[5] महायानियों के अनुसार जो बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये यत्नवान है, अर्थात् जो बोधि पद प्राप्ति का इच्छुक है, उसे षट्पारमिताओं को ग्रहण करना चाहिए। दानशीलादि गुणों में जिसने पूर्णता प्राप्त की है उसके लिये कहा जाता है कि इसने दान शीलादि पारमिता हस्तगत करली है। यहीं बोधि, शिक्षा है, और इसी को वे बोधिचर्या भी कहते हैं। षट्पारमिताएं निम्नलिखित हैं, दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा।[6] श्रीहर्ष लिखते हैं कि देवताओं के द्वारा सम्मानित देवर्षि नारदको कल्पवृक्ष को देखकर यह ज्ञान हुआ कि कल्पवृक्षों ने दानशीलता इन्द्र के अत्यन्त दानशील हाथों

---

1. साकारविज्ञानवादी सौत्रान्तिकः। विज्ञानस्य साकारतासिद्धिस्त्ददर्शनम्।। नारायण, नै० 10/88 में नारायण
   – परामाणुसञ्चयरूपोऽर्थः साकारज्ञानजनकः - अद्वयवज्रसंग्रह, पृ. 17
   – इन्द्रिय संन्निकृष्टस्य विषयस्योत्पाद्ये ज्ञाने स्वकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकारेण तस्यार्थस्यानुमेय तोपपत्तेः। – सर्व. द.सं., पृ. 36
   – ज्ञाने ज्ञेयप्रतिबिम्बो बिम्बपुरः सरः प्रतिबिम्बत्वात् दर्पणगतमुखप्रतिबिम्बवादिति। एवञ्च प्रत्यक्षग्राह्यो बाह्यर्थों नास्ति। सर्वमत संग्रह, पृ. 2
2. अनात्मवाद एवं अनीश्वरवाद के विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य-बौद्ध धर्म दर्शन-आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० 241-249
3. ताराविहारभुवि चन्द्रमयीं चकार, यन्मण्डलीं हिमभुवं मृगनाभिवासम् ।
   तेनैव तन्वि! सुकृतेन मते जिनस्य, स्वर्लोकलोकतिलकत्वमवाप धाता ।। वै. 22
4. भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय, पृ. 134 से उद्धृत।
5. तद्भुजादतिवितीर्णसपर्याद्द्यु द्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः ।
   स्वः सहस्थितिसुशिक्षितया तान्दानपारमितयैव वदान्यान्।। नै. 5/11
6. बौद्ध धर्म दर्शन - आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. 184

से खूब सीखी है, क्योंकि वे स्वर्ग में इन्द्र के साथ रहते हैं। नैषध में अन्य प्रसंग में भी दानशीलता का विवरण माना जा सकता है।[1] नल द्वारा हंस को सुशील मानने[2] में शील पारमिता का प्रसंग तथा नल की देवार्चना प्रसंग में ध्यान, पारमिता के प्रसंग माने जा सकते हैं किन्तु नैष्धकार ने प्रत्यक्ष रूप से उनका विवरण नैषध में नहीं दिया है।

आस्तिक दर्शन

न्याय- वैशेषिक दर्शनः

"नैषधीयचरितम्" में आस्तिक दर्शनों के अर्न्तगत परिगणित न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के विवरण भी प्रभूत मात्रा में पिरोये गये हैं। ये दोनों दर्शन समानतंत्री मानें जाते हैं, क्योंकि ये आपस में परस्पर सम्बद्ध हैं, या यह कहें कि इन दोनों दर्शनों की मान्यताएँ या विशेषताएँ समान हैं, केवल पदार्थों के विषय में इनमें भिन्नता दिखायी पड़ती है। वैशेषिक दर्शन में जहाँ तत्त्वमीमांसा का प्रधान्य है, वहीं न्याय में तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा का प्राधान्य है। श्रीहर्ष ने बौद्धों एवं नैयायिकों की तर्कशैली अपनाकर ही उनका खण्डन किया, जिसका विवरण उनके ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य में प्राप्त होता है। श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्ती होते हुए भी सम्पूर्ण दर्शनों में गति रखते थे, न्याय दर्शन में तो उनकी अप्रतिम गति थी, जैसा कि उनके कथन "धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः"[3] से जाहिर होता है प्राचीन न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम (अक्षपाद) हैं,[4] जिनका प्रमुख ग्रंथ न्यायूसत्र है। न्यायदर्शन को तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या, वादविद्या, तथा आन्वीक्षिकी एवं न्यायशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। श्रीहर्ष सरस्वती के दांतो को 'तर्कशास्त्र' की संज्ञा देते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार तर्कों के बिना वाद (शास्त्रार्थ) की शक्ति नहीं होती ("वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः") स्वपक्ष स्थापन, और परपक्षखण्डन नहीं होता तथा प्रतिवादी गुणी विद्वत्समूह की युक्तियों का खण्डन भी नहीं हो सकता, उसी प्रकार सरस्वती के मुख से भी दांतों के बिना भाषण, काषायादि गुण युक्त सुपारी का खण्डन तथा ताम्बूलचर्वण नहीं हो सकता था।[5] स्पष्ट है कि जिस प्रकार मुख की शोभा दंतपंक्तियों से है उसी प्रकार न्यायदर्शन तर्कों से ही सम्पुष्ट एवं महिमामण्डित होता है क्योंकि सम्यक्तया अविज्ञात अर्थ में कारणोपक्ति द्वारा उसके तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करना तर्क कहलाता है।[6] इस प्रकार तर्कों का इस दर्शन में महनीय स्थान है। वाद-प्रतिवाद तर्कों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, इस तथ्य का भी नैषधकार ने सरस्वती के ओष्ठ वर्णन प्रसंग में विवरण दिया है। यथा -

---

1. अयं दरिद्रो भवितेति वैधर्सी लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जागृतीम्।
   मृजां न शक्रेऽल्पित कल्पपादपः प्रणीय दारिद्रय दरिद्रतां नलः।। नै. 1/15, एवं 3/25
2. नै. 2/51
3. नै० प्रशस्ति श्लोक -4
4. भारतीय दर्शन का इतिहास - एस0एन0 दास गुप्त पृ० 318
   – गौतम के अन्य नाम अक्षचरण एवं मोघातिथि भी हैं - यथा
   योऽक्षपादिमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरंम्। तस्य वात्स्यान इदं भाष्य जातमर्वयत्।। न्याय भाष्य
   – यदक्षपादः प्रवरों मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद्। कुतार्किकाज्ञार्निवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः।। न्यायवार्तिक
   – अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते यदर्थ वार्तिकारम्भः। न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका।
   – मेघातिथिर्महा प्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः। विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यक्तिक्रमम् ।। महाभारत शान्तिपर्व
   – मामवीयं धर्मशास्त्रं माहेश्वर योगशास्त्रम्। वार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं मेघातिथेर्न्यायशास्त्रम् ।। भास प्रतिमानाटक
5. तर्का रदा यद्वदनस्य तर्क्या वादेऽस्य शक्तिः क्व तथाऽन्यथा तैः।
   पत्रं क्व दातुं गुणशालिपूगं क्व वादतः खण्डयितुं प्रभुत्त्ववम्?।। नै० 10/83
6. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थकारणोपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। न्याय सूत्र 1/1/40

अवैमि वादिप्रतिवादिगाढस्वपक्षरागेण विराजमाने । ते पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे रदच्छदौ भूतवती यदीयौ ।।[1]

न्याय दर्शन में सोलह पदार्थों की परिगणना की गयी है एवं इन पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष (अपवर्ग) की प्राप्ति सम्भव बतलायी गयी है। वे पदार्थ हैं प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयय, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्त्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान।[2] साथ ही वात्स्यायन ने इन सोलह पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीन उपाय बतलाया है, उद्देश अर्थात् नामोल्लेख, लक्षण या असाधारण धर्म, और परीक्षा अर्थात् उन पदार्थों के लक्षणों की उपयुक्तता एवं अनुपयुक्ता का विचार करना।[3] नैषधकार ने न्याय के इन सोलह पदार्थों की तुलना सरस्वती के सोलह-सोलह वाली दोनों दन्तपंक्तियों से करते हुए उन्हें आन्वीक्षिकी विद्य के समान माना है जो नाम निर्देश (सोलह पदार्थों का नाम के द्वारा वर्णन करना) तथा लक्षण निर्देश (प्रत्येक पदार्थ का पुनः लक्षण द्वारा वर्णन करना) द्वारा दोहराये हुए प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों से युक्त है तथा मुमुक्षु लोग जिसका अभ्यास करते हैं।[4]

नैषधीयचरितम् में न्यायदर्शन के अपवर्ग (मोक्ष) का भी वर्णन सत्रहवें सर्ग में कलिप्रतिनिधि द्वारा न्याय दर्शन एवं उसके प्रणेता महर्षि गौतम के उपहास रूप में वर्णित मिलता है, वह देवों से कहता है कि जिसने चैतन्यवालों (सचेतन मनुष्यों) को पाषाणावस्थारूप जड़ मुक्ति का प्रतिपादन करने के लिये न्याय दर्शन लिखा है, उस गौतम मुनि को तुम स्वयं विचार कर जैसा जानते हो वह सचमुच वैसा ही (गौतमः प्रकृष्ट बैल) है।[5]

न्याय वैशेषिक दर्शन में अपवर्ग (मोक्ष) विशुद्ध बौद्धिक एवं तार्किक रूप में वर्णित मिलता है। मोक्ष के साधक को श्रवण मनन, निदिध्यासन द्वारा न्याय वैशेषिक के ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा के पदार्थों का सम्यक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए क्योंकि दुःख निवृत्ति रूप अपवर्ग तत्त्वज्ञान के द्वारा ही सम्भव है।[6] अर्थात् दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति ही न्याय दर्शन में अपवर्ग या मोक्ष कहलाता है।[7] जबकि श्रीधर ने अपनी न्यायकन्दली में कहा है कि वैशेषिक के अनुसार आत्मा के ज्ञान आदि नौ विशेष गुणों का उच्छेद ही मोक्ष है। मीमांसक तथा श्रीधर जैसे न्याय-वैशेषिक के विद्वान् ज्ञानकर्म समुच्चय को भी मुक्ति का साधन मानते

---

1. नै० 10/88
2. प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयवतर्क निर्णय-वाद जल्पवितण्डाहेत्त्वाभासच्छल जाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः - न्यायसूत्र 1/1/1
3. त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः - उद्देशः, लक्षणं, परीक्षाचेति। तत्रनामधेयेन पदार्थ मात्रस्याभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षि तस्य "यथालक्षणमुपपद्यते न वा" इति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा। न्या0सू0 1/1/3, प्रमाण प्रकरणम् पर वा0भा0
4. उद्देशपर्वण्ययि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैं।
   आन्वीक्षिकीं यद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः।। नै० 10/82
5. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्। गौतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः।। नै. 17/75
6. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः - न्या0 सू0 1/1/2
7. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः .... न्याय सूत्र 1/1/22
   - ऋणक्लेशप्रवृत्यनुबन्धादपवर्गाभावः। वही 4/1/59।
   - सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावदपवर्ग। वही, 4/1+63।
   - मोक्षोऽपवर्गः। स चैकविंशति प्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। सोऽयमेकविंशति प्रभेदभिन्नदुःखहा निर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते। तर्कभाषा पृ. 260-261
   - (मोक्षः) चरम दुःख वंस तर्कदीपिका, (मोक्षः) आत्यन्तिको दुःखाभावः न्ययवार्तिक,
   - न्या0 वार्तिक- 1/1/3, पृ० 25, न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, 1/1/2, पृ. 95, 96
   - तस्मादनिष्टनिवृत्तिरात्यन्तिकी निश्रेयसम्-उदयन, किरणावली, बनारस प्रकाशन पृ० 8
   - आत्यन्तिकदुःखानिवृत्तिलक्षणः पाषाणसदृशो मोक्षो भवतीति वैशेषिकमतम् - प्रण्पञ्चहृदय- षड्वर्गप्रकरण, पृ० 65, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, 1915
   - न्यायकन्दली प्रकासक, संस्कृत विश्व विद्यालय वाराणसी पृ. 610। अशेष विशेषगुणोच्छेदो मोक्षः

हैं। वात्स्यायन नें शान्तदशा को मोक्ष माना है जिसमें सभी उपाधियों एवं अनुभवों का अभाव रहता है।[1] साथ ही इस अवस्था में आत्यन्तिक दुःखाभाव के अतिरिक्त किसी नित्य सुख का अनुभव नहीं होता है।[2] क्योंकि न्यायवैशेषिक दर्शन में सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, कर्तृत्व इत्यादि सभी धर्म आत्मा के आकस्मिक धर्म माने गये हैं अतः मोक्षावस्था में आत्मा इन सब का त्याग कर देती है।[3] एवं शान्त तथा निर्विकार हो जाती है। उस अवस्था में न सुख रहता है न दुःख। चैतन्य तथा ज्ञान भी तिरोहित हो जाता है क्योंकि आत्मा के सुख दुःख ज्ञान आदि समस्त धर्म शरीर सापेक्ष है, इस प्रकार अपवर्गावस्था में आत्मा की स्थिति गाढ़ सुषुप्तावस्था, जड़, या पाषाणवत् संज्ञाशून्य हो जाती है।[4] आचार्य जयन्तभट्ट का भी मानना है कि (न्याय वैशेषिक में) अपवर्ग आत्मा की वह निष्क्रिय शान्त अवस्था है, जिसमें वह अपनी विकारहीन नैसर्गिकपवित्रता को प्राप्त करती है, जिसमें किसी प्रकार के ज्ञान, आनन्द, सुख, दुख, संकल्प आदि का स्थान नहीं रह जाता है।।[5] किन्तु आत्मा का अचेतन रूप में मानना एवं मोक्ष को आनन्द रहित तथा संज्ञाशून्य मानना बौद्धिक तो हो सकता है, परन्तु आध्यात्मिक तो कदापि नहीं। श्रीहर्ष तो कट्टर अद्वैतवेदान्ती थे, तब फिर वह श्रुतियों से प्रतिपादित आत्मा की स्थिति के विरूप प्रतिपादन को कैसे सह सकते थे, फिर मोक्ष जो परमानन्द की अवस्थासदृश वेदान्त में प्रतिपादित है, उसे संज्ञाशून्य मानना उनके गले नहीं उतरा, और उन्होंने अपनी नैयायिकों के प्रति विरोध रखने की भावना को नैषध में कलिप्रतिनिधि मुखेन रख ही दी एवं कहा कि जिस प्रकार पाषाणखण्ड अचेतन, संज्ञाशून्य, एवं निर्विकार होता है, ठीक उसी प्रकार इन नैयायिकों का यह अपवर्ग भी है एवं ऐसे सिद्धान्त के प्रणेता को मूर्ख ही समझना चाहिए, परन्तु समीक्षतः यदि हम देखें तो यही प्रतीत होता है कि न्यायवैशेषिको के अनुसार अपवर्गावस्था में आत्मा चैतन्य एवं आनन्द से शून्य केवल सत्ता में रहती है, इसे हम मोक्ष के सम्प्रत्यय के विकास की प्रथम अवस्था मान सकते हैं। मध्वाचार्य ने भी कहा है कि न्याय वैशेषिक शास्त्र को मोक्षानुपयोग भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह शास्त्र दुःख के आत्यन्तिक निवृत्ति का प्रयोजक है।[6] अपवर्ग की प्राप्ति के लिए ईश्वर का चिन्तन मनन भी आवश्यक है।[7] कुछ आचार्य अपवर्ग में नित्यसुख की प्राप्ति मानते हैं जैसा कि परवर्ती नैयायिक भासर्वज्ञ मानते है।[8] परन्तु वात्स्यायन, उद्योतकर, श्रीधर जयन्तभट्ट आदि आचार्यों ने इस मत का

---

1. शान्तः खल्वयं सर्वविप्रयोगः सर्वोपरमोऽपवर्गः न्या0 सू0 1/1/2 पर वात्स्यायन भाष्य
2. न्याय सू0 1/1/22 वा0 भाष्य।
3. विशेष गुणोच्छेदेहि सति आत्मनः स्वरूपेणावस्थानम् न्यायकंदली।
4. Nyaya Manjari- English translation-by Janki Vallabh Battacharyaya-voll, I, P- 15-20
5. दुःखेन वियोगोऽपवर्ग।.... आत्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिरपवर्गो न सावधिका। को....हि नाम शिलाशकलकल्पम-पगतसकलसुखसंवदनसम्पदमात्मानमुपपादयितुं यतते.....अतश्च संसारान्मोक्षः श्रेयान् यत्रायमियानतिदुःख-प्रबलन्धोऽवलुप्यते। वरमियतः कादाचित्की सुखकणिकात्यक्ता। न तस्या कृते दुःखभार इयानूढ इति। तस्मात्र सुखोपभोगात्मको मोक्षः। न्यायमञ्जरी-नवममाह्निकम्-अपवर्गनिरूपणम्, पृ० 499-533 एवं संस्कृत गद्यालोक- 13वाँ गद्यांश संकलनकर्ता, इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1985 द्वितीय संस्करण
6. न चास्य पुरुषार्थौपयिकत्वं नास्तीत्याशङ्कनीयं दुःखात्यन्तोच्छेदापरपपर्यायनिःश्रेयसरूपत्वेन परम पुरुषार्थत्वात् सर्व0द0स0, पृ० 199
   - तत्त्वज्ञानादुःखात्यन्तोच्छेदलक्षणं निःश्रेयसं भवतीत समानतन्त्रेऽपि प्रतिपादतिम् - सर्व0 द0स0, पृ 200
7. द्रष्टव्य प0ध0 सं. पृ. 18, एवं न्याय कु0 प्र0; पृ० 12
   तस्मात् परिशेषात् परमेश्वरानुग्रहवशाच्छ्रवणादिक्रमेणात्मतत्वसाक्षात्कारवतः पौरुषधौरेयस्य दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी निःश्रेयसमिति निरवद्यम्। 1/237 सर्व द. सं.- पृ. 211
   - परमेश्वर साक्षात्कारश्च श्रवणमननभावनाभिर्भावनीयः। यदा ह आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।। सर्व द. सं. पृ. 186
8. द्रष्टव्य न्याय भूषण- पृ.- ५९५
   - सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार ने यह मत रखा है कि (न्याय के अनुसार) मोक्ष दशा में विषयरहित आनन्द की अनुभूति होती है किन्तु वैशेषिक मत के अनुसार नहीं यथा-
   न्याय मत- नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते पृ० 28 श्लोक 45 वैशेषिक मत करणोपरमेत्वात्मापाषाण वदस्थितः। दुःखसाध्यसुखोच्छेदो दुःखोच्छेदवदेवनः। पृ० 23, सर्वसिद्धान्तसंग्रह, शवबहादुर एम. रंगाचार्य द्वारा प्रकाशित मद्रास, 1909 ई0
   - नित्यानन्द प्रतिपादक श्रुतिरात्यन्तिके दुःखवियोगे भवतीतियुक्तमितिभावः। वाचस्पति न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका 1/1/1, के-एस.एस. पृ. 241

निराकरण किया है।[1] उद्योतकर ने तो अपवर्ग या निःश्रेयस को अपर एवं पर निःश्रेयस के रूप में विभक्त किया है।[2] इनके मत में अपरनिःश्रेयस जीवन्मुक्ति तथा परनिःश्रेयस को विदेह मुक्ति कहा जा सकता है। दीर्घकाल तक अविच्छिन्न रूप में श्रद्धा के साथ बद्धमूल तत्त्वसाक्षात्कार से मिथ्या ज्ञान के निवृत्त हो जाने पर, जब तत्काल साधक की अग्रिम प्रवृत्ति रुक जाती है तब वह जीवन्मुक्ति प्राप्त करता है,[3] एवं जब प्रतिरोधक कर्म के उपभोग से प्रारब्ध एवं संचित कर्मों का अन्त हो जाता है, तब साधक का शरीर आदि के साथ सदैव के लिए सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, वह स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है, यह परनिःश्रेयस या विदेहमुक्ति कहलाता है।[4] सांख्य योग में मुक्त पुरुष विशुद्ध चैतन्य का अनुभव करता है। वह सर्वज्ञ है, परन्तु आनन्द का अनुभव वह नहीं कर सकता, इसे मोक्ष के सम्प्रत्यय की दूसरी अवस्था कह सकते हैं, तथा वेदान्त में वर्णित मोक्षावस्था में आत्मा स्वयं ब्रह्म से अभिन्न हो जाती है, यह मोक्ष की सर्वोच्च अवस्था कही जा सकती है।

न्याय दर्शन में ईश्वर सर्वज्ञ, संख्या परमाणु आदि गुणों से युक्त धर्मज्ञान समाधि सम्पत्ति से युक्त, जीवात्मा से भिन्न, अणिमा आदि आठों ऐश्वर्यों से सम्पन्न, संकल्पवान, कृपालु, जगनिर्माणकर्ता एवं आप्तपुरुष सदृश माना गया है[5] परन्तु श्रीहर्ष ने कलिप्रतिनिधि मुखेन उनके ईश्वर का उपहास करवाया है, वह लिखते हैं कि यदि उनके (नैयायिकों के) ईश्वर सर्वज्ञ, कृपालु तथा सफलवचन वाले हैं, तो केवल वाणी व्यय से (एवमस्तु कहकर) हम प्रार्थियों को क्यों कृतार्थ नहीं करते? या हमारी इच्छाएं पूर्ण क्यों नहीं करते।[6]

न्याय दर्शन ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में वस्तुवादी[7] है क्योंकि यह ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध मानता है। बिना ज्ञेय पदार्थ या विषय के, ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता "ना चाविषया काचिदुपलब्धिः" और ज्ञान का कार्य ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करना है (अर्थप्रकाशो बुद्धिः) तथा ज्ञान भी, प्रमेय होने के कारण घटपदादि के समान ज्ञानान्तरवेद्य है। (ज्ञानमपि ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् पटादिवत्)। समस्त व्यवहारों के कारणभूत गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं, वह दो प्रकार का होती है स्मृति और अनुभव।[8] संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति[9] कहते हैं तथा स्मृति भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं[10] यह दो प्रकार का होता है, यथार्थ और अयथार्थ। किसी वस्तु का जो वह है, उसी रूप में ज्ञान यथार्थ

---

1. न्या0 भाष्य 1/1/12, 28 इस पर न्यायवार्तिककार तात्पर्यटीकाकार, न्या. मञ्जरीकार का मत तथा न्याय कन्दली पृ. 690 दृष्टन्य है।
2. न्यायवार्तिक, 1/1/2, पृ० 23
3. तात्पर्य टीका 1/1/2, पृ० 71
4. तात्पर्य टीका 1/1/2, पृ० 72
5. गुणविशिष्टमात्मान्तरम् ईश्वरः, तस्यात्मकल्पात्कल्पान्तरानुपपत्तिः। अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम्। संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति। एवं च स्वकृताभ्यासगमस्य लोपेन निर्माणप्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम्। आप्तकल्पश्चायम्। यथापिताऽपत्यानाम् तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्।.....आगमाच्च दृष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञाता, ईश्वर इति। न्यायसूत्र 4/1/21 पर वात्स्यायन भाष्य, पृ. 284
   - तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव-तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, 1934 पृ० 31
   - तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् वैशेषिक सूत्र 1/3, एवं 10/2/9
6. देवश्चेदस्ति सर्वज्ञः करूणाभागबन्ध्यवाक्।।
7. तत्किं वाग्व्ययमात्रान्नः कृतार्थयति नार्थिनः। नै. 17/77
8. विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य- Indian Idealism-chapt. III, P. 114-174. The chief currents of contemporary Philosophy- Prof. D.M. Datta.
9. सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञाम् (सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानम् बुद्धिः) सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्च तर्कसंग्रह पृ. 28-29
10. संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः-यथार्थोऽयथार्थश्च। तर्कसंग्रह पृ. 28-29

अनुभव है। उदाहरणार्थ रजत में यह रजत ही है" इस तरह की विवक्षा या ज्ञान होना। इसे प्रमा कहते हैं और किसी वस्तु का, जो वह नहीं है, उस रूप में ज्ञान अयथार्थ अनुभव है, जैसे सीपी में "यह रजत है" यह ज्ञान होना। इसे ही अप्रमा कहते हैं। यथार्थ ज्ञान या प्रमा चार प्रकार की होती है, प्रत्यक्ष अनुमिति, उपमिति और शब्दज्ञान, जो चार प्रमाणों यथा- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द से क्रमशः उत्पन्न होती है। वहीं अयार्थज्ञान या अप्रमा तीन प्रकार की होती है संशय विपर्यय और तर्क।[1] न्याय दर्शन के उपर्युक्त यथार्थज्ञान एवं अयथार्थ ज्ञान का संदर्भ नैषध में सत्रहवें सर्ग में कलि देव संवाद प्रकरण में मिलता है जहाँ इन्द्र कलि को समझाते हुए कहते हैं कि अत्यन्त विनम्रशील दमयन्ती उसी प्रकार अकारण वैर करने वाले आप जैसे लोगों से पीड़नीय नहीं है जिस प्रकार अज्ञान विरोधी प्रभाज्ञान (यथार्थज्ञान) निष्फल और अयथार्थ वस्तु की प्रतीति कराने वाले भ्रम ज्ञानों से बाधित होने के योग्य नहीं होता।[2] पूर्व में वर्णित स्मृति का भी वर्णन श्रीहर्ष ने हंस नल संवाद में किया है जहाँ हंस दमयन्ती से कहता है कि राजन्! तुम्हारे इस असीम सौन्दर्य ने आज मेरे उस पूर्व संस्कार को पुनः प्रबुद्ध कर दिया है जिससे चिर अवलोकित होने पर भी वह सुहासिनी (दमयन्ती) पुनः मेरे स्मृति पथ पर आ गयी।[3] स्पष्ट है कि स्मृति संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान रूपा होती है।[4] वैसे श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य में न्याय वैवैषिक के प्रमाणवाद का उन्हीं की शैली में विस्तार से खण्डन किया है[5] एवं यह माना है कि प्रमेयमात्र ही सद्सदविलक्षण होने के कारण लक्षणशून्य एवं अनिवर्चनीय है।[6] वह स्वयं कहते हैं कि उनके खण्डनों की सार्वपथीनता निर्बाध है तथा विषयान्तर में भी उनका यथेच्छ योजन किया जा सकता है। श्रीहर्ष ने सगर्व कहा भी है "लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम्।[7] प्रो. एस.एन. दास गुप्त का इस संदर्भ में कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि यदि श्रीहर्ष के खण्डन, न्याय लक्षणों की भाषा की अपेक्षा उनके विचारों पर अधिक प्रहार करते, तो उत्तरकालीन नव्य नैयायिकों को (श्रीहर्ष के खण्डनों से बचने के लिए) वाग्जाल बुनने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। अतः श्रीहर्ष प्रथम महान दार्शनिक हैं, जिन पर परोक्षरीति से नव्यन्याय की भाषा शैली के विकास का उततरदायित्व है।[8]

नैषधीयचरितम् में न्याय के प्रामाण्यवाद[9] का संकेत भी श्रीहर्ष ने दिया है। न्याय परतः प्रमाण्यवाद एवं परतः अप्रामाण्यवाद को मानता है। इसके अनुसार पहले ज्ञान उत्पन्न होता है, तदनन्तर ज्ञान में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों बाहर से आते हैं। अतः इस रूप में न्यादर्शन को प्रमा के स्वभाव के विषय में

---

1. तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। यथा रजते "इदं रजतम्" इति ज्ञानम्। सैव प्रमोच्यते। तद् भाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः (यथा शुक्तौ "इदं रजतम्" इति ज्ञानम्। सैवाप्रमेत्युच्यते। यथार्थानुभवश्चतुर्विधः, प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशब्द भेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।... अयथार्थानुभवस्त्रिविधः संशयविपर्ययतर्कभेदात्। एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध नानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः यथा स्थार्णुवा पुरुषो वा। मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा, शुक्तौ रजतमिति। व्यापारोपेण व्यापकारोस्तर्कः। यथा "यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्। तर्कसंग्रह पृ. 29-31, 58-60।
2. सा विनीतमा भैमी व्यर्थानर्थग्रहैरहो । कथं भवद्विधैर्बाध्या प्रमितिविभ्रमैरिव ।। नै. 17/145
3. अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविवोधनस्य मे ।
   चिरमप्यवलोकिताद्य सा स्मृतिमारूढ़वती शुचिस्मिता ।। नै. 2/43
4. संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः तर्कसंग्रह, पृ. 28
5. खण्डनखण्डरखाद्य - पृ. 122-436
6. मेयस्वभावानुगामिनीयमनिर्वचनीयता-वही पृ-32
7. वही पृ. 2
8. A History of Indian Philophy-Volu-II, P. 146.
9. प्रामाण्यवाद के विशिष्ट विवरण हेतु द्रष्टव्य- Interoduction- Knowledge and the Methods of Knowledge (Prama and Pramana. The six ways of Knowing by Prof. D.M. Datta P- 19...28

वस्तुवादी होने के साथ-साथ यथार्थता के व्यावहारिक परीक्षण के विषय में उपयोगितावादी या प्रवृत्तिसाफल्यवादी भी माना जा सकता है। प्रमा चार प्रकार की, होती है, क्योंकि न्याय दर्शन चार प्रमाण।[1] (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान) स्वीकार करता है। प्रमा में प्रयुक्त प्रत्यक्ष एवं प्रमा का विवरण श्रीहर्ष के नल के दौत्य वर्णन प्रसंग मे प्राप्त होता है जिसमें श्रीहर्ष लिखते हैं कि कुण्डिनपुर में दमयन्ती के महल में सब सखियाँ एवं दमयन्ती नल का दृष्टि से पान करने लगी[2] परन्तु नल के नेत्रों की किरणें दमयन्ती को देखने के उद्देश्य से अपांग तक भी न पहुँची थी कि मदनबाण उस सुन्दरी के प्रत्येक अंग में सम्पूर्णतया प्रविष्ट हो गया।[3] यहाँ नैषधकार इन्द्रिय सन्निकर्ष का विवरण प्रत्यक्ष प्रमाण के परिप्रेक्ष्य में रख रहे हैं एवं महर्षि गौतम का भी यह मानना है कि इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, जो कि अशाब्द हो, व्यभिचार शून्य,हो तथा विशेष्यविशेषणभावावगाही हो।[4]

न्याय दर्शन में प्रत्यक्षज्ञान का कारणभूत इन्द्रिय और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध छः प्रकार का होता है, स्वयं प्रत्यक्षज्ञान भी छः प्रकार का होता है, प्राणज, रासन, चाक्षुस श्रौत या श्रावण, त्वाच्च और मानस। स्मरणीय है कि न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद क्रमशः लौकिक प्रत्यक्ष एवं अलौकिक प्रत्यक्ष होते हैं। अलौकिकप्रत्यक्ष के तीन भेद क्रमशः सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण एवं योगज तथा लौकिक प्रत्यक्ष के दो भेद बाह्य तथा मानस, या दूसरी दृष्टि से निर्विकल्पक (प्रत्यक्ष का अविकसित रूप) सविकल्पक (प्रत्यक्ष का विकसित रूप) तथा इन दोनों प्रत्यक्षों के बीच एक और प्रत्यक्ष होता है जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। न्याय दर्शन में लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण के अंगीभूत षड्विध सन्निकर्ष या षोढा सन्निकर्ष के द्वारा विषयों का ग्रहण बुद्धि एवं मन से ही होता है।[5] इस तथ्य का संकेत दौत्य वर्णन प्रसंग में देवों के कथन का वर्णन करने वाले नल के कथन में मिलता है कि प्रत्येक रात्रि में स्वप्न में तुम्हें (दमयन्ती को) पाकर ये आंखे तुम्हारी सुषमा में, ये कान तुम्हारे गान रूप सुधासागर में, त्वचा तुम्हारे देहकुसुम की सुकुमारता में, नासिका तुम्हारे निःश्वास की सुगन्ध में, जिह्वा तुम्हारे अधररस में तथा चित्त तुम्हारे चरित्र में निमग्न हो जाते हैं।

---

1. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। न्या.सू. 1/1/3
2. अथाद्भुतेनास्तनिमेषमुद्रमुन्निद्रलोमानममुं युवानम् ।
   दृशा पपुस्ताः सुदृशः समस्ताः सुता च भीमस्य महीमघोनः ।। नै. 8/1
3. अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत् ।
   स्माराशुगः भ्रुवि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज ।। नै. 8/3
4. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्- न्या. सू. 1/1/4
   प्रत्यक्ष ज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। -इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं-तर्कसंग्रह, पृ. 36
   तस्मादशाब्दमर्थज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति-न्या. सू. 1/1/4 पर वा.भा.
5. साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विधा सविकल्पक निर्विकल्पक भेदात्। तस्याः करणं त्रिविधम् (कदाचित् इन्द्रियं, कदाचित् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदादित् च ज्ञानम्। तर्क भाषा, पृ. 46.
   - अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाविकल्पिका। करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षश्च षड्विधः । तर्क भाषा पृ. 58
     प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे।
     घ्राणजादि प्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम्।। न्यायकारिकावली- 52, न्यायसिभुक्ता0 धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृ. 20
   - प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः-संयोगः संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति। तर्कसंग्रह, पृ. 38।
   - स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसोलिङ्गानि। तेषु सत्स्वियमपि-युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्-न्या. सू. 1/1/16 एवं द्रष्टव्य वात्स्यायन भाष्य।
   - ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्-गंगेश उपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, पृ. 52
   - बुद्धयादिषटकं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। अदृष्ट भावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणा।। कारिकानली, प्रत्यक्ष खण्ड, पृ० 63

इस कारण हे कृशांगी, हमारे किसी भी इन्द्रिय रूप मृग से तुम्हारा जाल अतिक्रमण नहीं किया गया है।[1] आचार्य मल्लिनाथ का कथन भी उपर्युक्त तथ्य की सिद्धि भी सहायक है।[2] न्यायसूत्रकार द्वारा सन्निकर्ष का वृहद्विवरण भी इस सन्दर्भ की समीचीनता की पुष्टि करता है।[3]

श्रीहर्ष ने न्यायदर्शन के हेत्वाभास का विवरण भी देवकलि संवाद में दिया है। हेत्त्वाभास न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों में से एक है। हेत्वाभास उस हेतु को कहते हैं कि जो वस्तुतः हेतु नहीं है किन्तु हेतु जैसा ही प्रतीत होता है जैसा कि हेत्वाभास के अर्थ से स्पष्ट है। (हेतु का आभास होना) गौतम ऋषि का भी मानना है कि हेतु लक्षण न घटने से वस्तुतः जो अहेतु हो, परन्तु हेतु सादृश्य से जिनका हेतु की तरह आभास (प्रतीत) होता हो, वे हेत्वाभास कहलाता है। दुष्ट हेतु से भी अनुमान में हेत्वाभास दोष आ सकता है, अतः सामान्यतः अनुमान के दोषों को हेत्वाभास कह लिया जाता है। सत् हेतु में पाँच गुण होते हैं पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व विपक्षाऽसत्व, असत्प्रतिक्षत्व और अबधित्त्व व। इनमें से किसी भी गुण की त्रुटि होने पर वह हेतु, हेतु न रहकर हेत्वाभास बन जाता है। (हेतुवद् आभासन्ते, न तु हेतवः इति हेत्वाभासाः) हेत्त्वाभास पाँच प्रकार का होता है, सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरण सम या सत्प्रतिपक्ष, साध्यसम असिद्ध और कालातीत या बाधित।[4] इनमें सत्प्रतिपक्ष या प्रकरणसम हेत्वाभास का विवरण नैषध में प्राप्त होता है, जहाँ सत्रहवें सर्ग में ईश्वर की सत्ता सिद्धि मे दिये गये नैयायिकों के तर्को के खण्डन में कलिप्रतिनिधि कहता है कि "तर्क की प्रकृति अस्थिर होने के कारण क्या कोई ऐसामत है, जो आपस में एक दूसरे के विरुद्ध होकर शक्ति में समान होने से, सत्प्रतिपक्ष के समान अप्रामाणिक न हो।[5] ध्यातव्य है कि जिस हेतु के साध्य का अभाव दूसरे हेतु द्वारा सिद्ध किया जा सके, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। यह दोष तब होता है जब एक अनुमान का कोई दूसरा प्रतिपक्षी अनुमान संभव हो। जैसे : (१) शब्द नित्य है क्योंकि यह आकाश की भाँति अदृश्य है।[6] (२) शब्द अनित्य है क्योंकि यह घट की भाँति एक कार्य है। उपर्युक्त उदाहरण में द्वितीय अनुमान प्रथम अनुमान के निगमन को खंडित कर दे रहा है। प्रथम अनुमान में हेतु अदृश्य के द्वारा शब्द की नित्यता सिद्ध की गयी है, किन्तु द्वितीय अनुमान में हेतु कार्य के द्वारा उसकी अनित्यता सिद्ध की गयी

---

1. स्वप्नेन प्रापितायाः प्रतिरजनि तव श्रीषु मग्नः कटाक्षः श्रोत्रे गीतामृताब्धौ त्वगपि ननु तनूमञ्जरीसौकुमार्ये ।
   नासा श्वासाधिवासेऽधरमधुनि रसज्ञा चरित्रेषुचित्तं, तन्नस्तन्वङ्गि! कैश्चिन्न करणहरिणैर्वागुरा लंघितासि ।। नै. 8/106
2. अत्र चतुर्थपादार्थस्य पूर्वषड्वाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थ हेतुकं काव्यलिङ्गं तच्च करणहरिणैरित्यादिरूपकेण संकीर्यते। नै. 8/106 मल्लिनाथ
3. द्रष्टव्य- न्याय सूत्र 3/1/34....47
4. सव्यभिचाराविरुद्ध प्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्त्वाभासः। न्या0 सू0 1/2/4
   - अनैकान्तिकः सव्यभिचारः। वही 1/2/5
   - सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः। वही 1/2/6
   - यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः। वही 1/2/7
   - साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः। वही 1/2/8
   - कालात्यापदिष्टः कालातीतः न्या0सू0 1/2/9, एवं 1/2/4-9 तक वात्स्यायन भाष्य भी द्रष्टव्य.
   - सव्यभिचार विरुद्धः सत्प्रतिपक्षासिद्ध बाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः - तर्कसंग्रह पृ० 49.
5. तर्काप्रतिष्ठया साम्यादन्योन्यस्य व्यतिघ्नताम् ।
   ना प्रामाण्यं मतानां स्यात्केषां सत्प्रतिपक्षवत् ।। नै० 17/79
6. ....सोऽमं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतस्य निर्णयाय न प्रकल्पते। न्या.सू. 1/2/7,वा0भा0
   - उभय साधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः न्या.सू. 5/1/16, एवं वा0 भा0 भी द्रष्टव्य।
   - प्रकरणसमस्तु स एष यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। यथा- शब्दोऽनित्योनित्यधर्मरहितत्वात्, शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वादिति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते। तर्कभाषा, व्याख्याकार, बद्रीनाथ शुक्ल, पृ. 122 एवं आचार्य विश्वेश्वर, पृ. 94-95
   - यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं सत्प्रतिपक्षः। यथा-शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववद इति, शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवदिति। तर्कसंग्रह, पृ.52

है। दूसरे अनुमान का हेतु सही है इसलिए इसके द्वारा पूर्व अनुमान का हेतु खंडित हो जाता है, अतः पहले अनुमान में सत्यप्रतिपक्ष का दोष है परन्तु यहाँ दोनों बली है, इस कारण एक का भी प्रामाण्य मान्य नहीं है।

नैषधीयचरितम् गें न्यायवैशेषिक के कार्य कारणवाद का विशिष्ट एवं मनोरञ्जक शैली में दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में विवरण देखने को मिलता है। इस संदर्भ में ये दर्शन असत्कार्यवादी या आरम्भवादी माने जाते हैं क्योंकि इनके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता। कार्य की सत्ता का आरम्भ उसकी उत्पत्ति के साथ ही होता है।[1] कारण कार्य का अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववृत्ति होता है अर्थात् कारण उसे कहते हैं जो नियत रूपसे कार्य के पहले (पूर्वभावी) हो, एवं जिसकी सत्ता अनावश्यक एवं अन्यथासिद्ध न हो तथा कार्य उसे कहते हैं जो नियत रूप से कारण के बाद (पश्चाद्भावी) में हो तथा जिसकी सत्ता अनावश्यक एवं अनन्यथासिद्ध न हो। कारण कार्य के इस सम्बन्ध का विवरण नैषधकार ने दमयन्ती की प्रेम विकलता के वर्णन में किया है, जहाँ वह लिखते हैं कि दमयन्ती ने कामिनी मर्यादा विरोधी उस अधीरता (चंचलता) को हंस गमन से ही सीखा होगा, क्योंकि जो जिसके बाद बिना किसी व्यवधान के होता है, वह उसी से सम्पन्न माना जाता है।[2] कारण तीन प्रकार के होते हैं- समवायिकारण, असमवायि कारण तथा निमित्त कारण। समवायिकारण कारण द्रव्य रूप होता है, जिससे कार्य उत्पन्न होता है, एवं यह कार्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है और उससे इसको पृथक् नहीं किया जा सकता जैसे घड़े का समवायिकारण मिट्टी तथा कपड़े का समकायिकारण तन्तु है। इस प्रकार समवायि कारण उपादान कारण रूप में ही ग्रहीत होता है।[3]

स्मरणीय है कि समवायिकारण को सांख्य वेदान्त आदि में उपादान ही कहा जाता है। असमवायिकारण सदा गुण या कर्म रूप में होते हैं, अर्थात् असमवायि कारण समवायिकारण (उपादान कारण) में समवाय सम्बन्ध[4] से रहते हुए कार्योत्पत्ति में सहायक होने से कारण कहा जाता है।

---

1. अनन्यासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्- उदयनाचार्य, न्यायकुसुमाञ्जलि, 4/1/19...पृथिव्यां रूपरसगन्धस्पर्शाः.... कारणगुणपूर्वका इति रूपाश्रयस्य घटादैर्यत्समवायिकारणं कपालादि तद्गुणपूर्वकाः। तथा च कपालरूपं कारणैकार्थसमवायप्रत्यासत्याघटरूपाद्यसमवायिकारणम् एवं रसादपि- वै. सू. 7/1/6 पर उपस्कार
   - कारणं त्रिविधं समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते, तत् समवायिकारणम्। यथा - तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः। तर्क संग्रह, पृ.34
   - कारणभावात्कार्यभावः वै. सू. 4/1/3
   - रूपादीनां कारणैः सद्भावात् कार्यं सद्भावः। कारणगुणपूर्वका हि कार्यगुणाभवन्तिघट-पदादौ तथादर्शनात्- वै.सू. 4/1/3 पर उपस्कार
   - उत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणात् उत्पद्यन्ते। न्या.सू. 3/1/25 पर वा0भा0
   - स्थाल्यादिषु च तुल्यजातीयानामेककार्यारम्भ दर्शनाद् भिन्नजातीयनामेककार्यारम्भानुपपत्तिः-न्या.सू. 3/1/31 वा0भा0
   - कारणमिति ज्ञानेतरे कार्यनियतपूर्ववर्तित्तातीयवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्तवम्, विवक्षितम्। वै.सू. 1/1/8 पर उपस्कार
   - अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्-तर्क भाषा. पृ. 21
   - कार्य मितिप्रागभावप्रतियोगिवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम्। वै. सू. 1/1/8 पर उपस्कार
2. ध्रुवमधीलवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतवेगतः।
   स्थितिविरोधकरीं द्वयणुकोदरीं तदुदितः स हि यो यदनन्तरः। नै. 4/3
3. यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्। यथा तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्........। तेनानन्थासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्।... तच्च कारणं त्रिविधम्। समवायि-असमवायि निमित्तभेदात्। तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम्। यतस्तन्तुष्वेव समवेतो जायते, न तुर्यादिषु।.... तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवाय, ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ।... तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः। अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते।। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। अतस्तन्तुरेव समवायिकारणं पटस्य न तु तुर्यादि। पटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणं, घटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्। तर्क भाषा. पृ. 19-38
4. नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्ध वृत्तिः। यतोद्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते, तावयुतसिद्धौ। यथा- अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति। तर्क संग्रह- पृ.75
   तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः-तर्कभाषा, पृ. 36

जैसे-तन्तुसंयोग, जो तन्तुओं (समवायि कारण) में समवाय सम्बन्ध से रहता है पट का असमवायि कारण है, और तन्तु इस पट के समवायि कारण हैं, परन्तु तन्तुरूप पटरूप का असमवायि कारण है।[1] इस प्रकार कार्य और उसका असमवायिकारण दोनों ही समवायिकारण में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, परन्तु निमित्त कारण उक्त दोनों कारणों से भिन्न होता है। यह द्रव्य, गुण या कर्म किसी भी रूप में हो सकताहै। तर्कभाषाकार का कहना है कि जो न समवायिकारण है, न ही असमवायिकारण किन्तु फिर भी जो कारण है, अर्थात् जिसमें कारण का लक्षण अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्'' घट जाता है वह निमित्त कारण कहलाता है, जैसे वेम आदि पट का निमित्त कारण है।[2] उपर्युक्त कारणवाद की चर्चा नैषधकार ने अनेक स्थलों में की है। दमयन्ती के शरीरांगों में कुचों के वर्णन की चारुता में श्रीहर्ष (हंस नल से कहता है) लिखते हैं कि संभवतः (कुम्हार के चाक को) घुमाने का गुण कलश में अपने निमित्त कारण दण्ड से उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह कलश उस (दमयन्ती) का विशाल स्तनद्वय होता हुआ प्रभा प्रवाह समूह (प्रभा प्रवाह रूप चाक या प्रभा प्रवाह से चकवा पक्षी)[3] का भ्रम (भ्रान्ति, पक्षान्तर में भ्रमण) को उत्पन्न करता है।[4] अवधेय है कि न्याय वैशेषिक दर्शन की मान्यतानुसार समवायिकारण का गुण कार्य में आता है, यथा मृत्पिण्ड का गुण कलश में। किन्तु निमित्त कारण का गुण कार्य में नहीं आता, जैसे कि दण्ड, चक्र, चीवरादि का गुण कलश रूप कार्य में नहीं आता, परन्तु यहाँ श्रीहर्ष ने अपनी वर्णन चारुता दिखलाने के लिए सब कुछ न्याय दर्शन के विपरीत ही दिखा डाला, इससे जहाँ यह प्रतीत होता है कि इस रूप में वह न्यायदर्शन की या तो आलोचना करना चाह रहे हैं, और या तो उन्हें उनका यह सिद्धान्त मान्य नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त वर्णन में कुम्हार के चाक के घुमाने का अपने निमित्त कारणभूत दण्ड का गुण कार्यरूप कलश में आ गया है, इस कारण से वह कलश दमयन्ती के विशाल स्तनद्वय रूप होकर प्रभासमूह से कुम्हार के चाक का भ्रम कराता है, अर्थात् दमयन्ती के कलशतुल्य विशाल स्तनों की कान्ति समूह को देखकर मनुष्य नीचे ऊपर घूमने लगता है, चकरा जाता है। पक्षान्तर में यहाँ यह भी अर्थ निकलता है कि वह प्रभा प्रवाह में चकवा (सामुद्रिक शास्त्रानुसार चकवा पक्षी सुन्दर कुच के उदाहरण माने जाते हैं) का भ्रम करता है, अर्थात् उक्तरूप स्तनों को देखकर ये चकवापक्षी (दमयन्ती के कुच उनसे सुन्दर होने के कारण) प्रवाह में घूम रहे हैं, ऐसी अनुभूति होने से, भ्रम के कारण सभी मनुष्य आश्चर्य से चकित हो जाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंग में दमयन्ती के कुचकलश का निमित्त कारण कुलालचक्र का भ्रम कार्यभूत दमयन्ती के कुचकलश में द्रष्टव्य है। नैषध के प्राचीन टीकाकार नारायण एवं नरहरि जहाँ यहां निमित्त कारण का

---

1. यत्समवायिकारण प्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम्। तन्तुसंयोगस्य गुणस्य, पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु, समवेतत्वेन समवायिकरणे प्रत्यासन्नत्वात्। अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणात्वाच्च एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम्। तर्कभाषा पृ. 36, 37
   –कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्। यथा तन्तु संयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य। तर्क संग्रह, पृ. 34
   विशेष- डॉ0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने नैषधपरिशीलन, पृ. 354 में दण्ड, चक्र सूत्र आदि को असमवायिकारण माना है, जो उनकी भ्रान्ति या अज्ञानता का परिचायक है, क्योंकि असमवायिकारण गुण, या कर्म (क्रिया) ही होता है, जैसे-तन्तु संयोग पट का एवं तन्तु रूप पट रूप का असमवायिकरण है।
2. यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणम्। अथ च कारणं तन्निमित्तकारणम्। यथा- वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्। तर्कभाषा, पृ० 39
   तदुभयभिन्नकारणं निमित्तकारणम् यथा- तुरीवेमादिकं पटस्य। तर्क संग्रह पृ. 34
3. चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः। ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि।। इति विश्वः
4. कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः। स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत्।। नै. 2/32

प्रसंग मानते है,[1] वहीं मल्लिनाथ समवायिकारण का प्रसंग रखते हैं।[2] चाण्डूपण्डित दण्ड को असमवायिकारण मानते हुए असमवायि एवं निमित्त दोनों को असमवायिकारण में सम्मिलित करना चाहा है,[3] जो कि न्याय वैशेषिक दर्शन की मान्यता के विपरीत है। हाँ, उपर्युक्त प्रसंग में यथार्थ रूप में निमित्त कारण का एवं आलंकारिक रूप में समवायिकारण का प्रसंग उपस्थित मिलता है, असमवायिकारण का तो बिल्कुल ही नहीं।

नैषध में कार्य तथा समवायिकारण के गुणों के विवरण की चर्चा हंस दमयन्ती संवाद में भी द्रष्टव्य है जहाँ हंस दमयन्ती से अपने रूप समृद्धि का कारण बताते हुए कहता है कि हम हंसों ने स्वर्ग गंगा की स्वर्णकमलिनियों के मृणालाग्र खाने के कारण उस भोजन के अनुरूप ही रूप सम्पत्ति का अर्जन किया है, क्योंकि कार्य अपने गुणों को अपने कारण से ही प्राप्त करता है।[4] दूतरूपधारी नल के कथन में भी समवायिकारण का संदर्भ देखने को मिलता है, जहाँ वह सोचते हैं कि दमयन्ती ने मानो स्तन रूप कलश बनाने वाले यौवन रूप कुम्भकार का उपयोगी सारा उपकरण धारण कर रखा है, क्योंकि यदि देखा जाये तो, रोमावलियाँ चक्रदण्ड है, उसके गुण ही सूत हैं, तथा लावण्य ही जल रूप है।[5] इसी प्रसंग का विवरण नल की वीरता के विवरण में,[6] राजा वपुष्मान 'के वर्णन[7] तथा राजा पृथु के वर्णन[8] प्रसंग में भी द्रष्टव्य है। साथ ही न्यायवैशेषिक में प्रसिद्ध उदाहरण 'घट' का विवरण भी श्रीहर्ष ने दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में किया है, जिसका संदर्भ आज भी सुरक्षित है।[9] नारायण का कथन है कि ''ख्यातस्य प्रसिद्धस्य घटस्य न्यायशास्त्रदिषु'' यत्कृतकं तदनित्यं, यथा घटः'' इति, यन्नित्यं न तदकृतकमपि न यथा घटः'' इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निदर्शनत्वं दृष्टान्तत्वमजनिजातम्। प्रसिद्धस्य हि दृष्टान्तत्वम्।[10]

न्याय दर्शन में मन की सत्ता के विषय में वर्णन मिलता है कि ''मन अणु है, तथा एक है। मन धर्मसमुच्चय रूप तभी सिद्ध होता है जब हम ज्ञानायोगपद्य सिद्धान्त मानते हैं, अन्यथा मन के महत होने

---

1. हे राजन्! चक्रभ्रमं करोत्येवंशीलश्चक्रभ्रमकारी तस्य भावश्चक्रभ्रमकारितातल्लक्षणो गुणः स्वभावः (यः) कलसे घटे दृश्यते स निजस्य स्वस्य घटस्य हेतुर्निमित्तकारणं दण्डस्तस्याज्जातः किमु? समवायिकारण गुणः कार्ये गुणमारभते, न निमित्तगुणः। अत्र तु निमित्तगुणः कार्ये गुणमारभत इति असंभाव्यमेतत्त्वया कुत्र चिद्दिष्टिमिति प्रश्नार्थः किमु मया तु दृष्टः। ....तुङ्गत्वेन कान्तिमत्वेन च तत्कुचौ घटचक्रवाकतुल्याविति भावः। निजः सहजश्चासौ हेतुश्च। समवायिकारणमिति यावत्। तादृशो न भवतीति अनिजहेतुर्निमित्तकारणं। तादृशादण्डाज्जातः किमु इत्युत्प्रेक्षा, आक्षेपा वा। नै. 2/32 नारायण
   – अन्यत्र समवायिकारणगतादगुणात् कार्यगुणोत्पत्तिः अत्र निमित्तकारणाददण्डादपि गुणोत्पत्तिराशङ्क्यते। नै. 2/32 नरहरि
2. अत्र समवायिकारणगुणा रूपादयः कार्ये संक्रामन्ति न निमित्तगुणाः। नै. 2/32 मल्लिनाथ
3. निमित्तकारण सहकारिकारणस्य च द्वयस्याप्यसमवायित्तवात्।
   अत्र घटे चक्रभ्रमकारिता लक्षणौ गुणो दृश्यते स च असमवायिकारणदण्डाजातः।नै. 2/32 चाण्डू पण्डित
4. स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः।
   अन्नानुरूपां तनुरूप ऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते।। नै. 3/17
5. रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणं च लावण्यजलं च बाला।
   तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुर्बिभर्ति शङ्के सहकारिचक्रम्।। नै. 7/90
6. यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
   हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलङ्कषत्वव्यसनं तदीयम्।। नै. 3/39
7. तां भारती पुनरभाषत नन्वमुष्मिन्काशीरपङ्कनिभग्नजनानुरागे।
   श्रीखण्डलेपमयदिग्जयकीर्तिराजिराजद्भुजे भज महीभुजि भैमि! भावम्।। नै. 11/72
8. पूजाविधौ मखभुजामुपयोगिनो ये विद्वत्कराः कमलनिर्मलकान्तिभाजः। लक्ष्मीमनेन दधतेऽनुदिनं वितीर्णैस्ते हाटकैः स्फुटवराटकगौरगर्भाः।। नै. 11/101
9. एतत्कुचस्पर्द्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम्। तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः।। नै. 7/75
10. नै. 7/75 नारायण

पर एक ही समय में अनेक इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने पर अनेक ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे, चूंकि ऐसा होता नहीं है, अतः सिद्ध है कि मन अणु तथा एक है।[1] श्रीहर्ष ने न्याय दर्शन के इस तथ्य की संगति नल के अश्वों के विवरण प्रसंग में की है जिसमें वर्णन मिलता है कि नल के अश्वों द्वारा उड़ायी गयी धूलि इस प्रकार प्रतीत होती थी मानो लोगों के मन परमाणु रूप धारण करके उस अश्व से वेगातिशय सीखने आये हुए हैं।[2] नारायण भी उपर्युक्त संदर्भ में लिखते हैं ''अणुपरिमाणं मनः इति तार्किकाः[3] उपर्युक्त तथ्य की नैषध में संगति अन्यत्र भी प्राप्त होती है, यथा हंस द्वारा नल के अश्वों की वेगशीलता के विवरण में, कि वह पंखहीन गरुण हैं, दृष्टिगोचर पवन हैं, तथा अणु परिमाण से भिन्न (विशाल) मन हैं, उन अश्वों ने भला कौन सी दिशा को पार नहीं किया है? क्योंकि अणु प्रमाण मन ही सब दिशाओ को शीघ्र पार करने में समर्थ है।[4] आचार्य मल्लिनाथ के कथन से इस तथ्य की स्पष्टता परिलक्षित होती है। यथा- अनणुप्रमाणैः अणुपरिमाणं मनः इति तार्किकाः तद्विपरीतैर्महापरिणैर्मनोभिर्वैनतेयादिसमानवेगैरित्यर्थः।''[5] साथ ही नारद द्वारा इन्द्र से दमयन्ती के पुरुष विशेष (नल) के अनुराग वर्णन में भी मन के परमाणु रूप का सन्दर्भ श्रीहर्ष ने रखा है जहाँ वह लिखते हैं कि दमयन्ती ने उस प्रिय (नल) को अपने परमाणु रूप मन की लज्जा रूपी गुफा में प्रसुप्त सिंह की भांति छिपाकर रखा है।[6] इसलिए तुम्हारे (इन्द्र के) पूछने पर भी मै उस युवक का नाम योग बल से भी बता पाने में असमर्थ हूँ, क्योंकि वह युवक दमयन्ती के परमाणु परिमाण वाले मन के भीतर रहने से उस मन से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से अज्ञेय है। आचार्यमल्लिनाथ के कथन से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि मिलती है।[7] दमयन्ती के प्रेम विकलता के विवरण में भी नैषधकार ने नैयायिकों के मन को परमाणु रूप मानने की अभीप्सा का प्रतिपादन किया है।[8]

वैशेषिक दर्शन को श्रीहर्ष ने औलूक्य दर्शन मानने की स्वयं की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन किया है।[9] न्याय के साथ-साथ वैशेषिक दर्शन की मान्यताएँ उन्हें अभीप्सित नहीं थीं, क्योंकि वह अद्वैतवेदान्त के समर्थक थे, इस कारण यह कहा जा सकता है कि उन्होंने वैशेषिक दर्शन की निन्दात्मक या आलोचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए ही औलूक्य दर्शन कहा। इस दर्शन के प्रवर्तक आचार्य महर्षि कणाद हैं,

---

1. ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः तथा यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु- न्या.सू. 3/2/56 तथा 3/2/59
   अणु मन एकं चेति धर्मसमुच्चयः, ज्ञानायौगपद्यात्। महत्त्वे मनसः सर्वेन्द्रियसंयोगाद् युगपद्विषयग्रहणं स्यादिति। न्या.सू. 3/2/59 पर वात्स्यायन भाष्य।
2. अजस्रभूमीतटकुट्टिनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः । रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः।। नै. 1/59
3. नै. 1/59 में नारायण
4. विनापतत्रं विनतातनूजैः समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः। मनोभिरासीदनुप्रमाणैर्न लङ्घिता दिक्कतमा तदश्वैः ।। नै. 3/37
5. नै. 3/37.. मल्लिनाथ
6. यत्पथावधिरणः परमः सा योगिरधीरपि न पश्यति यस्मता। बालयानिजमनः परमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमैनम्।। नै. 5/29
7. बालया निजमन एव परमाणुः, अणुपरिमाणं मनः इति सूत्रणात्।
   तस्मिन् ह्रीरेव दरी गुहा तच्छयहरीकृतं, तद्गतसिंहीकृतम्, एनं युवानं, यस्मान्नपश्यति तस्मान्न कथ्यत इति पूर्वेणान्वयः। योगि बुद्धेरपि परमाणु स्वरूप ग्राहित्वमेव नान्तःप्रवेशे शक्तिरित्यज्ञानादकथनं, न कपटात्। सा तु मन्दाक्षमन्थरतया न कथयतीत्यर्थः नै. 5/29 मल्लिनाथ एवं 5/29 में नारायणी टीका भी द्रष्टव्य
8. विधिरनंशमभेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत्। अपि स वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुभिर्व्यदलिष्यदसावपि।। नै. 4/88
   – विधिः अणुपरिमाणत्वान्निरंशं निरवयम् अत एवभेद्यं भेत्तुमशक्यं जनमनोऽवेक्ष्य खलु निश्चितं ते लक्षं वेध्यमकल्पयद्व्यरचयत्। नै. 4/88 में नारायण
9. ध्वान्तस्य वामोरु! विचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे ।
   औलूक्यमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्वनिरूपणाय ।। नै. 22/35

जिन्हें कणभुक्, कणभक्ष, कणव्रत, काश्यप एवं औलूक[1] नाम से भी जाना जाता है। वैशेषिक[2] नाम दिये जाने में अनेक मतों का विवरण मिलता है[3] किन्तु बहुमत मान्यतानुसार विशेष नाम के पदार्थ की नवीन कल्पना के कारण ही इस दर्शन को वैशेषिक नाम दिया गया है।[4] ध्यातव्य है कि जहाँ न्याय दर्शन में 16

---

1. श्रीनारायण मिश्र ने वैशेषिक सूत्र की प्रशस्तपाद भाष्य की भूमिका पृ. 8,9 में महर्षि कणाद को उलूक'' मानने के विविध मतों का उल्लेख किया है वे निम्नलिखित हैं-
   (अ)डॉ. उई द्वारा प्रस्तुत आर्यदेव के शतशास्त्र के व्याख्याकार चीनी विद्वान् चित्सान के अनुसार कणाद का नाम उलूक इसलिए पड़ा कि ये दिन में ग्रंथ रचना करते थे और रात में उलूक के समान जीविकोपार्जन करते थे- Ui-Vaisheshik Phi- P-3.
   (ब) व्योमशिवाचार्य किसी कारण का उल्लेख किये बिना ही कणाद का नाम उलूक बतलाते हैं। यथा- अन्ये तु धर्मैः सह धर्मिणः उद्देश. कृतः। केनेति बिना पक्षिणाः उलूकेन। व्योमवती, पृ. 114
   (स) जैन विद्वान् राजशेखर ने अनुसार 'उलूक' रूपधारी भगवान शंकर के द्वारा इस शास्त्र का उपदेश कणाद को मिला हैं। यथा- मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणं पदार्थषटकम् उपदिदेश (राजेशेखर) (न्याय लीलावती- भूमिका पृ.2 में उद्धृत) इस दृष्टि से कणाद तथा इनके दर्शन को औलूक कहा जाता है।
   (द) मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वैशेषिक सूत्रवृत्ति (2/1/12) में इन्हें उलूकं वेषधारी कहा गया है।
   (य) "वाचस्पत्यम्" कणाद को उलूक ऋषि की सन्तान मानकर औलूक्य कहने के पक्ष में है, एवं जैनाचार्य अभयदेवसूरि ने इसी तथ्य का अनुमोदन सम्मति तर्क की व्याख्या में किया है यथा- एतदेवोक्तं भगवता परमर्षिणा औलूक्येन, पृ. 140
   (र) नैषधीयचरितम् के प्राचीन व्याख्याकार नारायणभट्ट उलूक को कणाद का पर्याय मात्र मानते हैं। यथा- नैशेषिकमपि उलूकापरनाम्ना कणादमुनिनाप्रोक्तमित्यौलूकं दर्शनम्। नै. 22/35
2. द्वित्वे च पाक जोत्पत्ती विभागे च विभागजे। यस्य न स्खलितो बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः।। माधवाचार्य सर्व०द०सं० 1/2
3. प्रशस्तपादभाष्य-श्रीदुर्गाधर झा ने भूमिका, पृ. 1, 2 में वैशेषिक नाम सम्मत छः प्रकार की अभिव्यक्तियाँ में की हैं एवं द्रष्टव्य प्रशस्तपाद भाष्यम्- वैशेषिक सूत्रव्याख्याकार, श्रीनारायण मिश्र, पृ. 7-9
   - कणान् अत्तीति कणादः तमिति। विशिष्टाऽऽहारनिमित्तसंज्ञोपदर्शनेन असच्चोद्यनिरासः। तच्च-कणान् वा भक्षयेत् कामं य (मा) हिषाणि दधीनि च। इत्यादि युक्तिसिद्धम्, आचार्य व्योमशिव, व्योमवती, पृ 20 (छ) चौखम्भा प्रकाशन
   - कणादमिति तस्य कापोतीं वृत्तिमनुष्ठितः रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताऽऽहारनिमित्ता संज्ञा। अतएव "निरवकाशः कणान् वा भक्षयतु इति (तत्र तत्र) उपालम्भः तत्रभवताम्। श्रीधाराचार्य, न्यायकन्दली, पृ. 4, सं.वि.वि., वाराणसी
   - कणान् परमाणून् अत्ति सिद्धान्तत्वेन आत्मसात्करोतीति कणादः-Ui-vaisheshika Philosophy, (चौखम्बा प्रकाशन) पृ. 6
   - पदार्थधर्मसंग्रह (प्रशस्तपादभाष्य) तथा किरणावली में कश्यप गोत्र में इनकी उत्पत्ति होने के कारण काश्यप कहा गया है।
   - परमाणुवाद के आधार पर इस सम्प्रदाय तथा इसके आचार्यों को पैलव (पीलु - परमाणु) कहा गयाहै।- पैलुकेन कणादशिष्येण, धर्मोत्तराचार्य न्यायबिन्दु टीका, (चौखम्बा प्रकाशन) पृ. 88
4. डॉ उई में चीनी विद्वान् की एक परम्परा के अनुसार विशिष्ट उपदेष्टा कणाद के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण तथा सांख्यशास्त्र से विशिष्टतर होने के कारण इस सम्प्रदाय को वैशेषिक नाम देने का विवरण दिया है Ui-Vaisheshik Philosophy, P. 4, 9.
   - वैशेषिकदर्शन के अर्वाचीन भाष्यकार चन्द्रकान्त "अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्त्वों के व्याख्यान से ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक मानते हैं- यथा- "यदिदं वैशेषिकं नाम शास्त्रमारब्धं तत्खलु तन्त्रान्तरात् विशेषस्यार्थस्य अभिधानात्" चन्द्रकान्तभाष्य (गुजराती प्रेस) पृ. 5
   - मणिभद्रसूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय की व्याख्या में नैयायिकों की अपेक्षा द्रव्यगुणादितत्त्व को लेकर कणाद के सिद्धान्तों के उत्कर्ष के कारण ही इसे वैशेषिक माना है। यथा-नैयायिकेभ्यो द्रव्यगुणादिसामान्या विशिष्टमिति वैशेषिकम्'' षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति। पृ० 5
   - न्यायकोशकार द्वारा भी विशेष नाम के नवीन पदार्थ की कल्पना के कारण इस दर्शन को वैशेषिक नाम दिया गया है, ''शास्त्ररूपार्थे वैशेषिकशब्दव्युत्पत्तिः विशेषं पदार्थ भेदमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः-न्यायकोश
   - श्रीवल्लभ ने अपनी ''न्यायलीलावती'' में ''श्लाघ्या विशेषस्थितिः'' कहकर, संभव है इसी तथ्य (विशेष को पदार्थ मानने की) का संकेत किया हो। न्यायलीलावती, श्लोक-2
   - उदयनाचार्य ने किरणावली में तत्त्वनिश्चयपूर्वक व्यवहार करने वालों को वैशेषिक कहा है। यथा-विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्वनिश्चयः तेन व्यवहरतीत्यर्थः। किरणावली (एशियाटिक सोसायटी) पृ. 613
   - नारायणभट्ट (नैषध के प्राचीन टीकाकार) ने द्रव्य गुण आदि पदार्थों को विशेष मानते हुए इन पदार्थों के तत्त्वज्ञ होने के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक बतलाया है-नै. 22/35
   - राधाकृष्णन ने (Indian Philosophy, II Volu, P-176), भारतीय दर्शन (अनुवादक -नन्दकिशोरगोभिल) द्वितीय भाग, पृ 151 में विशेष (पदार्थ) के कारण वैशेषिक नाम देने के समर्थक हैं, एवं मूर्धन्य विद्वान् उई (Ui-Vaisheshik Philosophy-P-7) तथा महामहोपाध्याय कालीपद तर्काचार्य उपर्युक्त मत के समर्थक हैं।
   - डॉ0 श्रीनारायण मिश्र ने वैशेषिक नाम देने की निम्नलिखित अभिव्यक्तियों का प्रतिपादन किया है। यथा- विशेषाभ्यां व्यवच्छेदकाभ्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां (चतुर्थी) प्रभावतीति वैशेषिकं शास्त्रं, वैशेषिकश्च दार्शनिकः अथवा विशेषाभ्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां व्यवच्छेदकाभ्यां (तृतीया) व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शनं, वैशेषिकश्च दार्शनिकः। जिसमें उन्होंने व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शन को वैशेषिक की उपर्युक्त परिभाषा माना है, जो यथार्थ भी है एवं विशेष की परिभाषा-विशिष्यते सर्वतो व्यवच्छिद्यते येनः सः विशेषः'' भी उचित है! -द्रष्टव्य प्रशस्तपादभाष्य, वैशेषिक सूत्र व्याख्याकार, श्रीनारायण मिश्र, पृ.11

पदार्थों को मान्यता मिली है, वहीं वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थों को स्वीकार किया गया है, वे हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव[1] द्रव्य वह है जो गुण तथा कर्म का आश्रय हो और अपने कार्य का समवायि कारण हो।[2] द्रव्य नौ प्रकार के हैं- पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, नामक पंचमहाभूत तथा काल, दिक्, आत्मा और मन।[3]

अवधेय है कि वैशेषिक दर्शन न्याय से प्राचीन दर्शन है, एवं न्याय दर्शन ने प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक के सातों पदार्थों को समाहित माना है। वैशेषिक दर्शन सम्बन्धीं गवेषणा नैषधकार के नल दमयन्ती द्वारा किये गये सन्ध्यावर्णन प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है जहाँ नल दमयन्ती से कहते हैं कि प्रिये! इस तमस के विषय में मुझे वैशेषिकों का सिद्धान्त अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है, क्योंकि वे ही तमस् के निरूपण में समर्थ हैं, एवं वैशेषिक दर्शन को औलूक दर्शन भी तो कहते हैं और बिना उलूक के तमस् का उचित निरूपण कौन कर सकता है?[4] ध्यातव्य है कि वैशेषिक दर्शन में तम भाव स्वरूप है? या अभावस्वरूप? ऐसासन्देह होने पर ''तेजों का अभाव ही तम है'' एतदर्थक'' भासामभाव एव तमः'' इस सूत्र के (अविरोध) समर्थन या साहाय्य के लिए व्योमशिवाचार्य[5] ने छैः पदार्थों के वैधर्म्य से अभाव रूप तम को युक्तियुक्त माना, किन्तु श्रीधराचार्य ने अपनी न्यायकन्दली में तमस् को द्रव्य न मानकर आरोपित भूरूप ही अंधकार हैं'' ऐसा निश्चय कर तेजो के अभाव में वास्तविक रूप से अंधकार का ज्ञान होने से तेज का अभाव (तेजोभाव) ही तम है ऐसा कहकर उक्त सूत्र के विरोध का परिहार किया है,[6] परन्तु उदनाचार्य ने अपने ग्रंथ किरणावली में तमस् तेजस् का अभाव है, यह सिद्ध कर श्रीधराचार्य के मत का खण्डन किया है। उनका मानना है कि सामान्य, विशेष, समवाय, क्रिया, गुण, दिक्, काल, मन आत्मा, आकाश, तथा वायु में कहीं भी तम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।[7] अनन्तर वेदान्तदेशिक (वेंकटनाथ) ने भी श्रीधराचार्य के मत का खण्डन किया है।[8] उपर्युक्त संदर्भ का आशय है कि जैसे उलूक पक्षी अंधकार में घटपटादि की विशिष्टता

---

1. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् वैशेषिक दर्शन 1/1/4
   प्रमेयेषु अपवर्ग (दुःखाभावरूपः) एव मूर्धाभिषिक्तः -न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका (चौखम्भा प्रकाशन), पृ. 35
   तद्भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः वैशेषिक दर्शन- 5/2/18
   - वस्तुतो मोक्षस्याभावरूपतया सोऽभ्यर्हितः -वर्धमान न्यायलीलावती प्रकाश, (चौखम्बा प्रकाशन) पृ. 16
   - अभावश्च वक्तव्यः निश्रेयसोपयोगित्वात्-न्यायलीलावती- पृ. 16
   - षण्ठामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वानि, प्र. पाद भाष्य, पृ-41
2. क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्- वै.सू. 1/1/15
3. पृथिव्यापतेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मनइति द्रव्याणि। वैशेषिक दर्शन 1/1/5
4. नै. 22/35
5. यच्चेदभागमान्माधुर्य शैत्यं वा छायायास्तदप्युपचारात्। व्योमवती प्रशस्तपादभाष्य सहित (C.S.S, N. 316, P-47)
6. आरम्भानुपपत्तेः नीलिमामात्रप्रतीतेश्च द्रव्यमिदं न भवतीति ब्रूमः। तर्हि भासामभाव एवायं प्रतीयते। न, तस्य नीलाकारेण प्रतिभासनायोगात् (न्यायकंदली)
   – तस्मात् रूपविशेषोऽयं अत्यन्ततेजोऽभावे सति सर्वतः समारोपितस्तम इति प्रतीयते।....अभाव पक्षे च भावधर्माध्यारोपो दुरुपवादःतदुरुक्तम् ''न च भासामभावस्य तमस्तत्वं वृद्धसंमतम्। छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः।।
   दूरासन्नप्रदीपार्चिर्महदल्पचलाचला देहानुवर्तिनी छाया न वस्तुत्वाद्विना भवेत्।। हाण्डिकी, पृ.504, एवं अनिरुद्ध की सांख्यसूत्रवृत्ति 1/56 पर भी द्रष्टव्य। इस पर अनिरुद्ध का मत है ''रूपविशेषोऽयं यत्रावरकमस्ति तत्रारोप्य गृह्यते'' अनिरुद्ध तमस् को अभाव रूप न मानकर गुण या द्रव्य रूप मानते हैं।
7. तमो नीलं न तु नीलिमा तम इति। न चारोपितेन वास्तवेन वा नीलिम्ना तमोबुद्धिव्यपदेशौ समानार्थौ..... न चायमचाक्षुषः प्रत्ययः तदनुविधानस्यानन्यथा सिद्धत्वात्। किरणावली, पृ. 15..17 (बनारस प्रकाशन)
   – उपर्युक्त तथ्य चित्सुख के तत्त्वप्रदीप, पृ. 28 में भी द्रष्टव्य हैं-(N.S. Ed., 1931)
   पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि- वै. सू. 1/1/5
8. वेंकटदेशिक कृत न्यायसिद्धांजन, रामानुज स्कूल द्वारा प्रकाशित, पंडित भाग-23, एवं उनके ग्रंथ न्यायपरिशुद्धि (चौखम्बा प्रकाश, पृ. 506) पर भी द्रष्टव्य यथा-एतेन वियति विततानां सूक्ष्माणां पृथिव्यवयवानां कृष्णो गुणस्तम इति पक्षोऽपि निरस्तः -गुणमात्रतया च कस्याप्यनुलम्भात्।

बता सकता है, वैसे ही कणाद का औलूकदर्शन भी तमस् तत्व के निरूपण में समर्थ हो सकता है (या अंधकार में उलूक ही देख सकता है) अन्य कोई नहीं। स्मरणीय है कि तम के विषय में जहाँ कणाद की अभिमति'' द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः, तेजसो द्रव्यान्तरेणावरच्च है,[1] वहीं कुमारिल मतानुयायी मीमांसक एवं वेदान्ती तम को द्रव्य मानते हैं एवं प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक तम को रूपदर्शन का अभाव ~~;हेमदबम वि जीम ट्येवद वि ब्सवसनतद्ध~~मानते हैं।[2] परन्तु उपर्युक्त संदर्भ में नैषधकार श्रीधर के साथ-साथ उदयनाचार्य से अधिक प्रभावित दिखते हैं।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य वह है जो गुण तथा कर्म का आश्रय हो, और अपने कार्य का समवायी कारण हो,[3] एवं गुण वह पदार्थ हैं जो किसी द्रव्य में रहते हैं, परन्तु उसमें स्वयं कोई गुण नहीं रहते, अपितु उनमें द्रव्य का ही गुण हो सकता है, अर्थात् गुण अपनी सत्ता के लिए किसी द्रव्य पर आश्रित रहते हैं, तथा किसी भी पदार्थ के वह समवायिकारण नहीं होते, क्योंकि गुण मूर्त रूप नहीं होते। अतः गुण द्रव्य के असमवायिकारण ही होते हैं।[4] वैशेषिक के गुण पदार्थ के विवरण का संकेत नैषध में इक्वीसवें सर्ग में नल दमयन्ती वार्तालाप में नल द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन में मिलता है, जहाँ वह कहते हैं कि पीला, वर्ण का गुण है, वह तुम्हारे शरीर पर वर्तमान है (अर्थात् तुम सुवर्णा हो), इस कारण अत्यन्तमधुर है, सुवर्ण इसी रंग को धारण करता है, इस कारण उसे कौन सुवर्ण नहीं कहता? यहाँ नैषधकार पीले वर्ण को सुवर्ण पदार्थ (द्रव्य) का आश्रयी गुण मानते हैं।[5] महर्षि कणाद ने १७ गुणों का उल्लेख किया है, जिनमें प्रशस्तपाद ने ७ और जोड़कर गुणों की संख्या २४ मानी है[6] वे हैं, रूप, रस, गंध,स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, शब्द, धर्म तथा अधर्म। उपर्युक्त प्रसंग में श्रीहर्ष ने द्रव्यत्व का प्रसंग रखना चाहा है।

नैषधीयचरितम् में वैशेषिक के सात पदार्थों में सामान्य एवं विशेष पदार्थों की चर्चा सन्ध्यावर्णन प्रसंग में दमयन्ती के कथन से प्राप्त होती है जब वह नल से कहती है कि ''भगवान सूर्य की प्राची में यात्रा करने वाली किरणों ने उस दिशा के स्वामी इन्द्र देव को भलीभाँति देखा है, और शीघ्र ही वे आपको भी देखेंगी। वे किरणें सामान्य विशेष का विचार करने में तथा सदसत् का विवेक करने में बड़ी पटु हैं, अतः इन्द्र और आप के सौन्दर्य के तारतम्य का वे उचित विवेचन करेंगी।[7] वैशेषिक दर्शन में सामान्य को नित्य,

---

1. वै. सू. 5/2/19, 120।
2. रूपदर्शनाभावः -विवरणप्रमेयसंग्रह (V.S.S., P-10) एवं सर्वमत संग्रह (T.S.S. P-31)
   – आलोकज्ञानाभावः सर्वदर्शनसंग्रह (प्रभाकरमत)
   – पद्मनाम कृत प्रशस्तपादभाष्य की सेतु टीका (C.S.S. NO. 316, P.36) पर भी तम पर विचार द्रष्टव्य हैं।
   – वेदान्त मत के समर्थक चित्सुख, विवरणप्रमेय संग्रह एवं न्यायसिद्धाजन ग्रंथ हैं।
   – तम पर विशेष विवरण द्रष्टव्य हण्डिकी, P- 503, 505, 509, 512.
3. क्रियागुणवत् समवायि कारणमिति द्रव्य लक्षणम्- वै. सू. 1/1/15
4. द्रव्याश्रयय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण लक्षणम्। वै.सू. 1/1!16
   – रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम्। प्रशस्त पा.भा., कारणं त्वसमवायिनो गुणाः 5/2/24
   – अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणः निष्क्रियाः गुणाः भाषा परिच्छेद
5. पीतोवर्णगुणः सचातिमधुरः कायेऽपि तेऽयं यथा। यं बिभ्रत्कनकं सुवर्णमिति कैरादृत्य नोत्कीर्त्यते का वर्णान्तरवर्णना धवलिमा राजैव रूपेषु यस्तद्योगादपि यावदेति रजतं दुर्वर्णतादुर्यशः।। नै. 21/151
6. रूपरसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्या परिमाणानि पृथकत्त्वं, संयोगविभागौ परत्वापरत्त्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाः गुणाः। वै. सू. 1/1/6 तथा मुक्तावली कारिका 86, एवं द्रष्टव्य प्रशस्तपादभाष्य श्रीनारायणमिश्र, पृ. 13-15
7. प्रथमककुभः पान्थत्वेन स्फुटेक्षितवृत्तहाण्यनुपदमिह द्रक्ष्यति त्वां महांसि महस्यतेः। पटिमवहनादूहापोहक्षमाणि वितन्वतामहह युवयोस्तावल्लक्ष्मीविवेचन चातुरीम्।। नै. 19/26

एक और अनेकानुगत माना गया है। इसे जाति भी कहते हैं,[1] इनके मत में सभी मनुष्यों में अनुगत रहने वाला मनुष्यत्व ही सामान्य है। यह द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहता है।[2] स्मरणीय है कि वस्तुवादी होने के कारण न्याय वैशेषिक जहाँ सामान्य की वस्तुगत सत्ता स्वीकार करता है, वहीं बौद्ध अपोहवाद सामान्य की सत्ता न मानते हुए उसे कल्पना मात्र या नाम मात्र में स्वीकार करते हैं तथा, जैन और अद्वैत वेदान्त दर्शन सामान्य की सत्ता व्यक्तियों के अतिरक्त और उनसे भिन्न नहीं मानता, साथ ही कल्पना मात्र भी नहीं मानता, जबकि आधुनिक दार्शनिक (वस्तुवादी) बर्टेन रसेल का मानना है कि सामान्य एक नित्य कालातीत पदार्थ है जो अनेक विषयों में व्याप्त रह सकता है।[3] विशेष के विषय वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि जो द्रव्य निरवयव होने के कारण नित्य हैं, उनके विशिष्ट व्यक्तित्त्व को ही विशेष कहा जाता है। प्रत्येक नित्य द्रव्य में, परमाणु, आत्मा और मन में, आकाश, काल और दिक् में अपना विशेष होता है, जो उसे अन्य द्रव्यों से भिन्न करता है। इस प्रकार जिन नित्य द्रव्यों में किसी प्रकार का भेद करना संभव न हो, उन द्रव्यों में भेद करने के लिए विशेष नामक पदार्थ की कल्पना वैशेषिक दर्शन में की गयी है। यह ''विशेष'' स्वभावतः व्यावर्तक होता है[4] अर्थात् एक नित्य द्रव्य में रहने वाला विशेष उसे अन्य नित्य द्रव्यो से भिन्न करता है साथ ही एक विशेष दूसरे विशेष से स्वतः भिन्न भी होता है। यदि विशेष को स्वतोव्यावर्तक नहीं माना जाय, तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा।[5] उपर्युक्त प्रसंग में नैषधकार ने नल एवं इन्द्र के सौन्दर्य विवरण को अलग-अलग, एवं उनकी विशिष्ट विशेषताओं को अलग-अलग बताने के लिए सामान्य विशेष का प्रसंग रखा है, जिनका गवेषणा विधा में महनीय स्थान भी है।

न्याय वैशेषिक वर्णन में परमाणुओं का अप्रतिम महत्व है। ये नित्य अनन्त निखयन, स्वभाव से निष्क्रिय परस्पर भिन्न एवं जगत के उपादान कारण के रूप में वैशेषिक दर्शन को अभीष्ट हैं।[6] बाह्यार्थवादी ये दोनों दर्शन परमाणुओं से ही सृष्टि एवं संहार की प्रक्रिया को संचालित मानते हैं, जो ईश्वर (महेश्वर) के संकल्पों से ही सम्पन्न होता। प्रलय के विषय में इनकी मान्यता है कि, पृथ्वी जल तेज और वायु, जिनकों दोनो दर्शन कार्य रूप में मानते हैं प्रलयावस्था में सभी कार्य द्रव्यों का नाश हो जाता है, परन्तु फिर भी वे परमाणु रूप में आकाश में रहते हैं, इस अवस्था में जीवात्माओं का अदृष्ट फल देने से विमुख हो जाता है।[7] सृष्टि के विषय में इनकी मान्यता है कि जब महेश्वर में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है, तब

---

1. जातिरेवाऽऽकृतिं प्राह व्यक्तिर्विज्ञायते तया सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धि निबन्धकम्।। श्लोकवार्तिक-3
2. नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम् द्रव्यगुणकर्मवृत्ति।
   तर्कसंग्रह पृ-70 नित्यत्त्वे सति अनेकसमवेतत्त्वम् तथा अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुभूतो नित्य धर्म सामान्यः, वही पृ. 71
   द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्-वै0सू0 1/1/18
   -द्रव्याणां द्रव्यं कार्य्यं सामान्यम्-वै0सू0 1/1/23, एवं वै0सू0 1/2/3....16 भी द्रष्टव्य
   द्रष्टव्य तर्क भाषा, पृ०-28,87, एवं Outlines of Jainism-J.L. Jani, P-115, वेदान्त- परिभाषा-अध्याय-1, तर्कामृत अध्याय-1, भाषापरिच्छेदमुक्तावली, पृ.8, 14, 15, पदार्थ धर्म संग्रह, पृ. 164, न्यायलीलावती, पृ. 80-81।
3. Problems of Philosophy- Bertrand Russel, Chapt.IX.
4. नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः तर्कसंग्रह- पृ. 73,स्वतो व्यावर्तकत्वं विशेषत्वम्, अन्त्यत्वे सति नित्यद्रव्य वृत्तित्वंविशेषत्वम्, स्वतोव्यावर्तकत्वं विशेषत्वम्। तर्क संग्रह- पृ. 74 एवं 75 पर भी द्रष्टव्य
5. नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषास्त्वनन्ता एव। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः-तर्कभाषा, पृ० 248, तकीमृत अध्याय-1, पदार्थधर्म संग्रह, पृ०-168। भाषापरिच्छेदमुक्तावली-10 पर भी द्रष्टव्य
6. **विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य-** तर्कभाषा, पृ० 182-83 न्या0 भा0 4/2/16,20 मुक्ता, कारि 36-37, सेतु टीका पृ 218, **व्योमवती**, पृ० 224, न्या0वा0 4/2/25 न्या0कन्दली पृ० 262-263, वै0सू0 7/1/18-22, न्या0 सू0 4/2/17
7. यदा संहरार्था तदा तदनुरोधात् अदृष्टानां वृत्तिनिरोध औदासीन्यलक्षणो जायते। यदा त्वसौ सृष्ट्यर्था भवेत्तदा वृत्तिलाभः स्वकार्यजननं प्रति व्यापारो भवति। न्यायकन्दली- गंगानाथ झा ग्रंथमाला पृ० 128 एवं विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य-पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० 122-131, वै0सू0 4/2/1......5 न्या0 कन्दली पृ० 80...129, व्योमवती पृ० 300-301, तर्कभाषा-पृ० 185, किरणावली, पृ० 310-313,

जीवात्माओं के अदृष्ट जो कुण्ठित रूप में जीवात्माओं में विद्यमान रहते हैं, फल देने के लिए उन्मुख हो उठते हैं, इस प्रक्रिया में उन्मुख अदृष्ट, जीवात्मा और परमाणुओं के संयोग से पहले वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, इससे दो दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुओं की उत्पत्ति होती है, फिर सब द्वयणुकों में परस्वर क्रिया प्रतिक्रिया से तीन-तीन द्वयणुकों से त्रयणुक, चार-चार त्रपणुकों से चतुरणुक, एवं पांच-पांच चतुरणुकों से एक-एक पंचाणुक की उत्पत्ति होती, इसी परम्परा से बढ़ते बढ़ते एक महावायु की उत्पत्ति होती, एवं इसी रीति से क्रमशः जल, पृथ्वी और तेज नाम महाभूतों की उत्पत्ति भी होती है। इन महाभूतों के उत्पन्न हो जाने पर महेश्वर के संकल्प से एक अण्ड की उत्पत्ति होती है, जिसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है, इसमें तेज के परमाणु उपादान कारण एवं पृथ्वी के परमाणु निमित्त कारण रूप में रहते हैं, फिर ब्रह्मा (ईश्वर) जीवात्माओं के अदृष्टों के अनुरूप असंख्य प्राणियों एवं उनके भोग सामग्री का निर्माण करता है।[1] एवं उनके कर्मों के अनुसार उन्हें फल भी देता है।

न्याय वैशेषिक सम्मत सृष्टि की संगति का विवरण नैषध में दमयन्ती से विदा लेते हुए हंस के कथन में उपलब्ध होता है, जिसमें वह दमयन्ती से कहते हैं, कि अब तुम दोनों का परस्पर संगम हो, तुम दोनों के मन अपनी-अपनी विलास कलाओं को व्यक्त करते हुए सुशोभित हो, एवं परस्पर संयोग के कारण उसी तरह कामदेव की रचना में प्रवृत्त हों, जैसे दो परमाणु द्वयणुक उत्पन्न करते है।[2] स्पष्ट है कि यहाँ हंस नल तथा दमयन्ती के दो परमाणु रूप मनो (अणु परिमाणं मनः) के मिलने से एक नई सृष्टि का पुनः निर्माण करता दिखता है। आचार्य नारायण भी यहाँ वैशेषिकों के सृष्टि सिद्धान्त रखने के श्रीहर्ष के विवरण को रखते हुए नल दमयन्ती के मन को एक होने का भाव उपर्युक्त संदर्भ में मानते हैं। स्मरणीय है कि न्याय वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के परमाणुवाद में पर्याप्त सम्यता है क्योंकि वे भी परमाणुओं के विभिन्न संयोग से शरीर की उत्पत्ति तथा इनके वियोग से नाश मानते हैं, किन्तु दोनों की इस मान्यता में गुणात्मक एवं परिणामात्मक' अन्तर भी है, क्योंकि जहाँ न्यायवैशेषिक के अनुसार परमाणु में गति अदृष्ट के कारण होती है एवं अदृष्ट भी ईश्वराधीन[3] हैं वहीं पाश्चात्यों के मत में परमाणुओं का संयोग यन्त्रवत एवं संयोग विभाग के कारण परमाणुओं में आन्तरिक गति होती, एवं डिमाक्रिट्स ने तो ईश्वर को भी परमाणु निर्मित माना है[4] और यदि अन्तर या वैषम्य की ही बात की जाय तो स्वयं न्याय एवं वैशेषिक दोनों में, परमाणुवाद के संदर्भ में अन्तर दिखायी पड़ता है, क्योंकि जहाँ वैशेषिक दर्शन पीलुपाकी कहा जाता है क्योंकि वह परमाणुओं में ही पाक क्रिया (Chemical action) स्वीकार करता है, अवयवी में नहीं, वहीं न्यायदर्शन परमाणुओं एवं उसके अवयव अवयवी (द्वयणुक आदि) में भी पाक क्रिया स्वीकार करता है, इसीलिए इन्हें पिठरपाकी कहा जाता है।[5]

---

1. तस्मिंश्चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणां सकलभुवनसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनयुङ्क्ते। स च महेश्वरेण विनयुक्तो ब्रह्मा अतिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्राणिनां कर्म विपाकं विदित्वा कर्मानुरूपज्ञानभोगायुषः सुतान प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षि पितृगणान् मुखबाहूरुपादतश्चतुरो वर्णानंयानि च उच्चावचानि भूतानि च सृष्टयाऽऽशयानुरूपैर्धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्यः संयोजयतीति । वैशेषिक दर्शन भाष्य, गंगानाथझा, ग्रंथ माला पृ० 130, न्याय कन्दली पृ० 48-54, एवं द्रष्टव्य वै. सू0 2/1/25, तर्कभाषा- व्याख्याकार, बद्रीनाथ शुक्ल, पृ० 240..244 भारतीयदर्शन, उमेशमिश्र पृ० 232...234, भारतीय दर्शन-एन, के. देवराज, पृ० 308-311, 360,....368 भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ० 335.....337
2. अन्योन्यसङ्गभवशादधुनाविभातांतस्यापितेऽपिमनसीविकसद् विलासे।
   स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्वयणुककृत परमाणुयुग्मम् ।। नै० 3/125
3. किं भूतं परमाणयुग्मम्? मनसिजस्य कामस्य तनुं शरीरं पुनः सृष्टंप्रवृत्तम्! अत एवादौ द्वयणुकं करोति द्वयणुक्कृत। सक्रियाभ्यां द्वाभ्यां परमाणुभ्यामेकं द्वयणुमारभ्यते एवं क्रमेण महत्कार्यमारभ्यते इति सिद्धान्तः ततश्च युवयोरेव मनोद्वयेन कर्तुं शक्यते नान्येति भाव5। नै० 3/125 नारायण
4. द्रष्टव्य, History of Phiosophy- Frank Thili/- P- 48
5. विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य- भारतीय दर्शन, देवराज - पृ० 310

न्याय दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया एवं ईश्वर के अस्तित्व के विवेचन में ''अदृष्ट'' का महनीय योगदान है। अदृष्ट का विवरण भी नैषधकार ने इन्द्र कलि संवाद में इन्द्र द्वारा कलि को समझाने में रखा है, जहाँ इन्द्र कलि को नल से शत्रुता छोड़ देने की सलाह देते हैं, और कहते हैं कि अदृष्ट (देश, काल, ईश्वरेच्छा) आदि तुम्हारे अधीन नहीं हैं, क्योंकि तुम कार्य साधक द्रष्ट सामग्री को ही जुटा सकते हो, अदृष्ट (सामग्री) को नहीं। यदि नल दमयन्ती के भाग्य में दुःख नहीं लिखा होगा, तो तुम व्यर्थ में पाप के भागी बनोगे और यदि दुख ही लिखा होगा तो तुम्हारे उद्योग नहीं करने से भी होगा ही, किन्तु उसमें निमित्त बनने से तुम्हें दोष का भागी होना पड़ेगा। इस रूप में नैषधकार ईश्वर के अस्तित्व का भी प्रतिपादन करना चाह रहे हैं, क्योंकि न्याय दर्शन आगम प्रमाण से ईश्वर की सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करता है।[1] उनके मत में ईश्वर इस जगत का निमित्तकारण, ज्ञान, इच्छा, यत्न आदि गुणों से युक्त, नित्यमुक्त सर्वज्ञ, जीवात्माओं के अदृष्टों का उद्बोधन करने वाला सर्वशक्ति सम्पन्न आत्मा है[2] एवं अदृष्ट, जीवात्माओं के कर्म और फल के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है तथा पुण्य तथा पाप को ही अदृष्ट कहते हैं,[3] तथा इसी अदृष्ट के द्वारा कर्मफल का उदय होता है, और ईश्वर उस अदृष्ट का नियन्ता है। आचार्य मल्लिनाथ एवं नारायण के कथन भी अदृष्ट के सन्दर्भ की उपर्युक्त संदर्भ में पुष्टि करते दिखते हैं।[4]

वास्तव में जिसे देखा नहीं जा सकता, उसे हम अदृष्ट शब्द से अभिहित कर लेते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार संसार में सम्पादित होने वाले प्रत्येक कार्य अदृष्ट के द्वारा ही निष्पन्न होते हैं, जैसा कि महर्षि कणाद के कथन से निगमित किया जा सकता है।[5] उनकी यह भी मान्यता है कि विहित कर्मों के अनुष्ठान से धर्म तथा उसके नहीं करने से अथवा निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से अधर्म उत्पन्न होता है।[6] अनुमान से अदृष्ट की सिद्धि तो हो सकती ही है, परन्तु उदयनाचार्य ने जागतिक वैचित्र्य एवं सांसारिक व्यवहार की क्रियाओं के द्वारा भी अदृष्ट को सिद्ध करने का प्रयास किया है[7] उनकी भी मान्यता है कि अदृष्ट के कारण ही भोग का प्रत्यात्मनियमत्त्व उत्पन्न होता है, अन्यथा किसी एक व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्म का फल अन्य व्यक्ति को मिलने लगता। साथ ही एक ही परिवार के दो व्यक्तियों में एक को दुःख एवं दूसरे को सुख मिलना भी इसी के कारण होता है और यह अदृष्ट के कारण ही होता है। फलतः हम कह सकते हैं कि न्याय शास्त्र के अनुसार कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट का निमित्तकारणत्व, वैचित्र्य और विश्ववृत्तित्व हेतुओं से उसकी सिद्धि तथा भोग के प्रत्यात्मनियमत्व के कारण अदृष्ट का जीवनिष्ठत्व उत्पन्न होता है।

---

1. करिष्येऽवश्यमित्युक्तिः करिष्यन्नकप दुष्यसि। दृष्टादृष्टा हि नायत्ताः कार्यीया हेतवस्तव।। नै. 17/147
2. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्योविश्वविदव्ययः।। न्या०कु0 5/1
   तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्- वै०सू० 1/1/ एवं 10/2/9 न्या०कु० 1/1, न्या० वार्तिक - 4/1/21, पृ० 459-60, न्या०कं० पृ. 141
3. भारतीय दर्शन - आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. 205
4. वृद्धाच्छः दृष्टादृष्टा लक्षितालक्षिताः,हेतवः कारणानि, दण्डचीवरादयो दृष्टहेतवः, कालकर्मेश्वरेच्छादयोऽदृष्टा हेतवः इत्यर्थः तव ते, आयत्ताः अधीनाः, न किन्तु तत्कार्योत्पादिका सामग्री कालवशाददृष्टवशाच्च स्वयमेव सम्पाद्यते, न तु त्वया सम्पादयितुं शक्या, तथा च करिष्येऽवश्यमित्युक्त्वा पापकार्येऽकृेऽपि मनसि तच्चिन्तथया मुखे तदुच्चारणेन च भवद्विधानां पातकं जातमिति भावः। नै. 17/146 मल्लिनाथ एवं द्रष्टव्य 17/147 नारायण
5. वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारित्वम्- वै.सू. 5/2/7
6. अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्य गुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय- वै०सू० 6/2/2, न्याय०कु 1/7
7. विफलाविश्ववृत्तिर्नो न दुःखकफलापि वा। दृष्टलाभफलानापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः।। नया0 कु. 1/8 एवं 1/8 का गद्यखण्ड भी द्रष्टव्य

अवधेय है कि सांख्य दर्शन जहाँ अदृष्ट की कल्पना को अपेक्षित नहीं समझता, क्योंकि उसके अनुसार महत्तत्त्व आदि पदार्थ से सांसारिक वैचित्र्य उत्पन्न हो सकते हैं, वहीं मीमांसकों के "अपूर्व" और न्याय वैशेषिकों अदृश्ट में बहुत कुछ साम्य दिखायी पड़ता है "स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत् "श्रुतिवाक्य से हम यह निगमित कर सकते हैं कि यागसम्पादन तथा स्वर्ग प्राप्ति के मध्य एक अपूर्वात्मक व्यापार की परिकल्पना होती है, एवं यही स्थिति नैयायिकों के अदृष्ट की भी है। ये दोनों एक जैसे प्रतीत तो होते हैं, परन्तु यथार्थ में अदृष्ट व्यापक है एवं अपूर्व व्याप्य। अदृष्ट जहाँ कार्यमात्र के प्रति निमित्त कारण होता है, वहीं अपूर्व नहीं क्योंकि अपूर्व केवल मन्त्र के द्वारा अनुष्ठान से उत्पन्न होता है। प्रायश्चित से जहाँ अदृष्ट का नाश होता है, वहीं अपूर्व में ऐसा कुछ नहीं होता। हाँ, भोगनाश्यत्व दोनों में है, किन्तु जहाँ अपूर्व भोग्य, यागोपकरण तथा जीव में रहता है,[1] वहीं अदृष्ट केवल जीवनिष्ठ माना गया है, जो जड़ रूप है एवं ईश्वरेच्छा से चलायमान होता है। अतः प्रत्यक्षाविषयत्त्व तथा अनुभवगम्यत्त्व से जहाँ दोनों समान हैं, वहीं अपूर्व संस्कार विशेष होने से, एवं अदृष्ट धर्माधर्मरूप होने से एक दूसरे से पृथक भी हैं। नैषधकार ने उपर्युक्त प्रसंग में जो अदृष्ट की संगति दिखायी है, उससे यह प्रतीत होता है कि वह अदृष्ट (पाप पुण्य) से अत्यधिक प्रभावित थे। श्रीहर्ष के साथ-साथ महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण[2] एवं महाभारत आदि काव्यों में भी नैयायिक सम्मत अदृष्ट का विवरण मिलता है। महर्षि व्यास लिखते हैं कि -

पौरुषं दैवसम्पत्या काले फलति पार्थिव ।
त्रयमेतन्मनुष्याणां पिण्डितं स्यात् फलावहम् ॥

न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर अशरीरी भाव से सृष्टि करता है।[3] वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद तथा उनके अनुयायी भी ईश्वर को अशरीरी मानते हैं।[4] श्रीहर्ष ने इस तथ्य की संगति कलिप्रतिनिधि द्वारा कामदेव के वर्णन प्रसंग में की है, जिसमें कलिप्रतिनिधि कहता है कि यह कामदेव, मानों बुद्ध की स्पर्धा से, लोकजित होने का भाव धारण करता है, और जगत में मानो ईश्वर की स्पर्धा से, अशरीरी होकर कर्त्ता बनता है।[5] उपर्युक्त तथ्य के स्पष्टीकरण में यह कहा जा सकता है कि शिवजी की नेत्राग्नि में भस्म हो जाने के कारण शरीर रहित अर्थात् अनङ्ग (कामदेव) ही इस लोक में (शरीर रहित) शिवजी का कर्तत्त्व है, एवं जिस प्रकार नैयायिकों के मत से अशरीरी शिवजी ही लोक के द्रष्टा या सृष्टिकर्ता हैं, उसी प्रकार यह कामदेव भी मानों उन शिवजी के साथ स्पर्द्धा करता हुआ अशरीरी (अनंग) होकर इस संसार में कामियों के मनोविकार या मैथुन द्वारा सब लोगों के प्रति कर्तत्त्व धारण कर रहा है।[6] इस संदर्भ में कलिप्रतिनिधि ने नैयायिकों द्वारा मान्य ईश्वर की अवधारणा का खण्डन करना चाहा है। ध्यातव्य है कि

---

1. तस्मात् फले प्रवृतस्य यागादेः शक्तिमात्रकम्। उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक्।। श्लोकवार्तिक, चोदनासूत्र, श्लोक-1199
2. यद्चिन्त्यं तु तद्दैवं भतेष्वपि न हन्यते। व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितोहि विपर्ययः कश्चदैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान यस्य नु ग्रहणं किंचित् कर्मणोऽन्यन्न दृश्यते।।
   -सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ। सस्य किञ्चित्तयाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्।। रामायण 2/22/20...22
3. इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। सहि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत्। न चैवमुपपद्यते। न ह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं, मृदादिवैलक्षण्यात्। ब्र0 सू0 2/2/39 पर शा.भा. न्या. सू.. 3/2/63, 4/1/18, एवं वा.भा. दृष्टव्य।
4. व्योमशिवाचार्य व्योमवर्ती- पृ. 304,-305, श्रीधराचार्य-न्याय कन्दली-पृ. 138-139
5. बिभर्ति लोकजिद्भावं बुद्धस्य स्पर्द्धयेव यः। यस्येशतुलयेवात्र कर्तृत्वमशरीरिणः।। नै. 17/16
6. यस्य स्मरस्य ईश तुलया इव ईश्वरसाम्यापेक्षया इवेत्यर्थः। देहदाहकारीश्वरस्पर्द्धयेवेति यावत्, शरीरं न भवतीति अशरीरि तस्य अशरीरिणः दग्धदेहत्वाद् अनङ्गस्य सतः, अत्र लोके, कर्तृत्वम् एकत्र-जेतृत्वम्, अन्यत्र स्रष्टत्वम् उपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानादिमत्वादेवेश्वरस्य कर्त्तृत्वं शरीरमतन्त्रमिति तार्किकाः। नै. 17/16 मल्लिनाथ -यथा
   - अशरीरिण एवेश्वरस्य कर्तृत्वमिति न्यायविदः, तथा अयमप्यनङ्ग एव सन् कार्यकारीत्यर्थः। जिनमहेशाभ्यां जितोऽपि लोकजित्त्वेनाशरीरकर्तृत्वेन च यः पुनस्ताभ्यां समः। नै. 17/16 नारायण

अधिकांश नैयायिकों[1] एवं वैशेषिक विद्वानों के साथ प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट[2] ने भी ईश्वर रूप में भगवान शिव की वन्दना की है। बोधिचर्यावतारपञ्चिका[3] में न्याय के ईश्वर विवरण प्रसंग में जहाँ शंकर ही ईश्वर के रूप में वर्णित मिलते हैं, वहीं न्यायसार के प्रणेता भासर्वज्ञ ने शिव तथा परमेश्वर को एक बताते हुए शिवदर्शन से ही मोक्षप्राप्ति मिलने का सन्दर्भ भी रखते हैं।[4]

सांख्य दर्शन

आस्तिक दर्शनों में सांख्य दर्शन भी परिगणित है। महर्षि कपिल मुनि इस दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं।[5]व्यास के वाक्य "सांख्यं वै मोक्षदर्शनम्" से इस दर्शन की महनीयता का पता भी चलता है। यह

---

1. शास्त्रेषु नैयायिकाः सदाशिवभक्तत्वाच्छैवा इत्युच्यन्ते, तेन नैयायिकशासनशैवमाख्यायते। हरिभद्रकृत षडदर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ. 51, एशियाटिक सोसाइटी प्रकाशन वर्ष 1904
   - चूणामणी कृतविधुर्षलयीकृतवासुकिः। भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डव पण्डितः।। श्रीविश्वनाथ न्याय पञ्चानन मुक्तावली-1
   - शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः।। उदयनाचार्य, न्याय. कुसुमाञ्जलि 4/4 उत्तरार्द्ध
   - निधायहृदि विश्वेशं विधायगुरुवन्दनम्, अन्नमभट्ट-तर्कसंग्रह-1
   - तेन स्यान्मुदितो हिमाचल सुतावामार्धदेहः शिवः, तर्कसंग्रहदीपिका के भास्करोदया नाम की टीका के टीकाकार लक्ष्मीनृसिंह
   - तस्मै नमः सहजदीर्घकृपानुबन्ध लब्धत्रितत्वतनवे पुरुषोत्तमाय। वल्लभाचार्य न्ययलीलावती
   - प्रणम्य शम्भुं जगतः पति परं समस्ततत्वार्थविदं स्वभावतः। भासर्वज्ञ न्यायसार
   - मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथ शिरोमणि, तत्त्वचिन्तामणि, के दीधिति नाम की टीका के टीकाकार
   - गुणातीतोऽमीशस्त्रिगुणसचिवस्त्रय क्षरमयः। तत्त्वचिन्तामणि, गंगेश उपाध्याय
   - संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखसमहेतौ फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः।न्यायवार्तिक- उद्योतकर
   - नमामि धर्मविज्ञान वैराग्यैश्वर्यशालिने- न्याय दर्शन (गौतम- वात्स्यायन भाष्य)
   - योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम्। प्रशस्तपादाचार्य, प्रशस्तपाद भाष्य, ग्रंथ के अंत से उद्धृत
2. विशुद्धविज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे। श्रेयः प्राप्ति निमित्ताय नमः सोमार्थधारिणे।। श्लोकवार्तिक। 1/1/1
   - विश्वेश्वरं महादेवं स्तुतिपूर्वं नमस्यति। न्याय रत्नाकर, प्रथम श्लोक का उत्तरार्द्ध
3. ईश्वर इति शंकरस्याख्या। बोधिचर्यावतारपंजिका- पृ. 544
4. एको रुद्रो न द्वितीययायतस्थे य इमाल्लोकानीशतईशनीधिरित्याद्यागमाच्चेति।
   नयायसार, आगम परिच्छेद, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, पृ. 125
   – एवमेतानि योगाङ्गानि मुमुक्षुणा सर्वेषु ब्रह्मादिस्थानेष्वनेकप्रकारदुःख भावमानयानभिरतिसंज्ञितं परं वैराग्यं महेश्वरे च परां भक्तिमाश्रित्यात्यन्ताभियोगेनसेवितव्यानि। ततोऽचिरेणैव कालेन भगवन्तमनौपम्यस्वभावभावं शिवमवितथं प्रत्यक्षतः पश्यति। तं द्रष्ट्वा निरतिशयं श्रेयः प्राप्नोति। तथा चोक्तं-
   यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदाशिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।।
   तमेव विदित्वातिमृत्युमेति इत्यादि च। तस्माच्छिवसन्देशनादेव मोक्ष इति। वही. पृ. 140-141
5. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन द्वितीय भाग, पृ० 219-220
   एभिः सम्यक् प्रयुक्तैर्हि प्रीयन्ते देवताःक्षितौ। निर्माणमेतद् युष्माकं प्रवृत्तिगुणकल्पितम्।
   मयाकृतं सुरश्रेष्ठा यावत्कल्पक्षयादिह। चिन्तयध्वं लोकहितं यथाधीकारमीश्वराः।
   मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः कृतुः। वशिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हिते।।
   एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिता। प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः।।
   अयं क्रियायतां पन्था व्यक्तीभूतः सनातनः। अनरुिद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः।।
   सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः। सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः।।
   सप्तैते मानसा प्रोक्ता ऋषयो ब्राह्मणः सुताः। स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्मास्थिताः।।
   एते योगविदो मुख्याः सांख्य ज्ञान विशारदाः। आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ।। महा0भा0 12/340/67...74
   - सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः पुरातनः । हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।। श्वे0 उप0 5/2
   - कपिलोऽग्रज इति पुरावचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा व्यपदिश्यते। श्वे0उप0 5/2 पर शा0भा0
   - रामायण -1/4..41,
   - भागवत पुराण 2/7/3, 3/24/36
   - सांख्यप्रवचनभाष्य - 6/70
   - कपिलोनाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः स्वयंम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्य योगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते। स एवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः । तत्व वैशारदी 1/25
   - कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः।। महा0 11/3/65
   पञ्चमो कपिलोनाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् । प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिश्चयम्।। श्रीमद्भागवत 1/3/11
   - गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।। गीता 10/26

प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व मानता है एवं इन्हीं के परस्पर सम्बन्ध से जगत के आविर्भाव को संभव बताता है। न्याय वैशेषिक एवं बौद्धों के असत्कार्यवाद के विरुद्ध सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद मानता है, जो इस दर्शन का मूल (आधार) सिद्धान्त है उनकी मान्यता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। जहाँ वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों, वैशेषिकों, नैयायिकों एवं वेदान्तियों के कार्यकारण सिद्धान्त का खण्डन किया है[1] वहीं ईश्वर कृष्ण ने सत्कार्यवाद के पक्ष में यथार्थ तथ्यों का साक्ष्य भी रखा है।[2] सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद या कार्यकारणवाद पर उसका प्रकृतिवाद भी निर्भर है क्योंकि प्रकृति की सिद्धि कारण के रुप में उसके कार्यों द्वारा होती है। सत्कार्यवाद के दो रूप होते हैं। प्रथम परिणामवाद, जिसके अनुसार कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है कारण का वास्तव में रूपान्तरित हो जाना जैसे दूध का परिणाम दही बनना, परिणामवाद है, सांख्य दर्शन को यही मत अर्थात् परिणामवाद (प्रकृति परिणामवाद) ही मान्य है, द्वितीय रूप, विवर्तवाद की मान्यता है कि कारण में जो विकार या रूपान्तर दिखायी पड़ता है, वह यथार्थ नहीं बल्कि आभासमात्र है, जैसे रस्सी में सर्प का आभास होना, इसमे कार्य की प्रतीति होती है, यह मत अद्वैत वेदान्त का है, जिनकी मान्यता है कि कार्यकारण का यथार्थ रूपान्तर नहीं, बल्कि विवर्त (आभास) मात्र है। सांख्य के सत्कार्यवाद को नैषध में विविध प्रसंगों में श्रीहर्ष ने सम्पुटित किया है यथा हंस द्वारा दमयन्ती से अपने रूप सम्पत्ति को प्राप्त करने में,[3] हंस द्वारा दमयन्ती संवाद में कारण में कार्य का लय हो जाने के संकेत में,[4] गाय के शुद्ध घृत वर्णन में कारणगतगुण का कार्य में होना, उचित मानने में[5] सांख्य दर्शन के अभीप्सित मत का, कि कार्य कारण में जन्य जनक भेद नहीं होता, अर्थात् कारण कार्य में अभिन्नता होती है, तथा कार्य कारण के अन्दर विद्यमान रहता है तथा कार्य व्यापार, जो कारण में पहले से तिरोहित था, आविर्भूत मात्र कर देता है।[6] एवं बीज रूप में कारण में कार्य की सत्ता होने से वह सत् भी होता है, की संगति भी नैषध महाकाव्य में नल एवं याचक बने देवगणों के संवाद में देखने को मिलती है, जहाँ नल देवताओं से कहते हैं कि "जन्य जनक अर्थात् कार्यकारण में भेद नहीं होता, और यह जन शरीर अन्न (भक्ष्य पदार्थ) से उत्पन्न है, यह दोनों कथन सत्य है। अमृत को खाने वाले आप लोगों के शरीर को देखकर मेरी दृष्टि अमृत में निमग्न हो रही है।[7] उपर्युक्त प्रसंग में अमृत कारण तथा इन्द्रादि देवों का शरीर अमृत भक्षण करके उत्पन्न होने से कार्य रूप में रखने की अभीप्सा नैषधकार ने व्यक्त की है।[8] उपर्युक्त तथ्य का अर्थात् कारण में ही कार्य का लय होता है, सांख्य दर्शन की इस मान्यता का विवरण श्रीहर्ष ने नल द्वारा परशुरामावतार की स्तुति में, भी किया है, जिसमें नल कहते हैं कि प्रभो! सृष्टि करते

---

1. सांख्य कारिका -3 की वृत्ति, एवं द्रष्टव्य सांख्य तत्त्वकौमुदी व्याख्याकार रमाशंकर भट्टाचार्य पृ 27.......32
2. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। सांख्यकारिका, 9 एवं सांख्य तत्त्वकौमुदी, वही पृ० 75....88
3. स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते।। नै० 3/17
4. सत्त्वसु तत्स्वेतमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्रलेखास्तन्निर्गतास्तं प्रविशन्तु भूयः ।। नै० 3/123
5. यदादि हेतुः सुरभिः समुद्भवे भवेद्यदाज्यं सुरभिर्ध्रुवं ततः ।
वधूभिरेभ्यः प्रवितीर्य पायसं तदोघकुल्यातटसैकतं कृतम्।। नै० 16/70
6. तत्त्वकौमुदी का ---------- 9
7. नास्ति जन्यजनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादां दृङ्निमज्जनमुपैति सुधायाम्।। नै० 5/94
8. जन्यजनकयोः कार्यकारणयोर्व्यतिभेदो नास्ति, कार्यं स्वोपादानादभिन्नमित्यर्थः। जनदेहः अन्नजनितः भुक्ताहारपरिणामश्चेत्येतदुभयं सत्यमित्यर्थः। कुतः, अमृतमदन्तीत्यमृतादाः।....जनदेहानामन्नजन्यत्वे तद्वदेव युष्माद्देहानामपि तथात्वे कथमेतत्सुधाकार्यकारित्वं न स्यादित्यर्थः। नै० 5/94 मल्लिनाथ

हुए ब्रह्मरूप तुम्हारे ही बाहुद्वय से जो क्षत्रिय जाति उत्पन्न हुई, उस क्षत्रिय जाति के लय (नाश) के लिए परशुराम शरीरधारी आपके बाहुद्वय विजयी हों।[1] यहाँ नैषधकार कारण रूपी भुजाओं में कार्यरूपी क्षत्रिय जाति का लय मानते हैं, जो ऋग्वेद के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत्।[2] एवं तैत्तरीय संहिता के "स मुखतस्त्रि वृतं निरमिमीत्"[3] तथा महाभारत के वाक्य, "अपनी-अपनी उत्पत्ति के कारण में सभी का शमन होता है,[4] की संगति सांख्य के सिद्धान्त, "नाशः कारणालयः (कारण में कार्य का लय होना ही नाश हैं) से की है, परन्तु अद्वैत वेदान्त, जो जाति को नित्य मानता है, उनके मत में यहाँ क्षत्रिय जाति का आविर्भाव एवं तिरोभाव ही समझना तर्कसंगत होगा।[5] साथ ही सांख्यों के प्रकृतिपरिणामवाद का संदर्भ नैषध में इक्वीसवें सर्ग में शुक सौन्दर्य वर्णन में प्राप्त होता है, जहाँ श्रीहर्ष अभिहित करते हैं कि पके हुए (लाल रंग के) विम्बफल खाने के परिणाम स्वरूप लालचोंच वाले तथा कच्चे फल (आम) खाने के परिणामस्वरूप योग्य (हरे-हरे) पंखो वाले सौन्दर्य राशि के समान शुक को (पिजड़ें को) कर कमल में धारण करती हुई कोई एक सखी (भोजन कर चुकीं, तथा संगति सभा जाती हुई) दमयन्ती के पीछे चली।[6] इस विवरण में नैषधकार द्वारा 'कारणगत गुण को कार्य में आने से लाल बिम्ब फल को खाने से उनके परिणाम योग्य (कीर की) चोंच को लाल रंग का, तथा हरे फल के खाने को उसके परिणाम के योग्य पंखों को हरे रंग का होने में, सांख्यों के प्रकृतिपरिणाम (सत्कार्यवाद) का संकेत माना जा सकता है।[7] परिणाम का अर्थ सांख्य दार्शनिकों के मत में एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व के रूप में वास्तविक परिवर्तन है, अर्थात्, अवस्थित (स्वरूपतः स्थिर या अक्षुण्ण) द्रव्य के एक धर्म की निवृत्ति (तिरोधान) और दूसरे धर्म के प्रादुर्भाव (प्रकट होने) का नाम ही परिणाम है।[8] चूँकि सांख्य का कार्यकारण सिद्धान्त मूलतत्त्व प्रकृति पर आधारित है, इसलिए इनके कार्यकारण सिद्धान्त को प्रकृतिपरिणाम कहा जाता है। आचार्य शङ्कराचार्य ने भी सत्कार्यवाद का सुन्दर निरूपण वृहदाराण्यक भाष्य में किया है,[9] जब कि न्याय वैशेषिकों के असत्कार्यवाद का खण्डन।[10]

---

1. क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवनं सृजतः प्राक्।
   जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थमुचितौ विजयेताम्।। नै० 21/65
2. ऋ0सं0 8/4/18
3. तै0 सं0 7/1/1/4
4. अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति।। महा0 शान्तिपर्व 56/24
5. नाशः कारणालयः इति साङ्ख्यादिसिद्धान्तात् कार्यंहि कारणे एव लीनं भवतीति सर्वत्र दर्शनाच्च कार्यभूतां क्षत्रजातिं प्रति तव भुजयोरेव कारणतात् क्षत्रजातेस्तव भुजयोरेव लीनत्वस्यौचित्यादिति भावः। नै० 21/63 मल्लिनाथ
   –तस्याः क्षत्रजातेर्लयार्थ क्षयार्थं जामदग्न्यवपुषस्तव तौ (यौ) भुजौ उचितौ, कारणे कार्यलयस्यौचित्यात्। नै० 21/65 नारायण
6. तामन्वगादशितबिम्बविद्याकचञ्चों, स्पष्टं शलाटुपरिणत्युचितच्छदस्य।
   कीरस्य काऽपि करवारिरुहे वहन्ती सौन्दर्यपुञ्जमिव पञ्जरमेकमाली।।नै० 21/22
7. परिणते परिणामस्य, उचितौ योग्यौ, नीलौ इति यावत्।। नै० 21/108 मल्लि0
   – तस्य परिणतिरतिनीलता तस्या उचितास्तद्योग्या अतिनीलश्च्छदाः प्रक्षा यस्य, अपक्वानि श्यामानि भक्षितानि फलान्तराणि बिम्बीफलान्येव वा यदीयच्छदाकारेण परिणतानीति यावत्-नै० 21/122 नारायण
8. जहद् धर्मान्तरं पूर्वमुपादातें यदा परम्। तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणाम सः उच्चये।। युक्तदीपिकाः सां. का.-16
   – परिणामो नामावस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तिः धर्मान्तर प्रवृत्तिश्चा-युक्तदीपिका, का0 9
   – सांख्य का यह मत कि कारण अपने आप को कार्य के रूप में निरन्तर परिणत करता रहता है, परिणामवाद कहा जाता है। वेदान्तियों का मत विवर्तवाद कहा जाता है, क्योंकि वे मानते हैं कि कारण सदा वही रहता है, उमसें जो कार्य दिखायी देते हैं वे केवल नाम और रूप के मिथ्या आभास हैं- माया मात्र हैं। एस.एन. दास गुप्ता-भारतीय दर्शन का इतिहास पृ० 264
9. द्रष्टव्य-वृहदारण्यक उप0 भास्य-1/2/1
10. द्रष्टव्य- ब्रह्मसूत्र शां0 भाष्य- 2/1/18

सांख्य दर्शन में प्रकृति त्रिगुणात्मिका, चेतन, परिणामशालिनी एवं समस्त जगत का मूल कारण है[1] एवं तीनों गुणों सत्त्व, रज, तथा तम की साम्यावस्था ही प्रकृति है।[2] आस्तिक दर्शन होने के कारण इस दर्शन की यह भी मान्यता है कि स्वर्गादि प्राप्तिजनित सुख त्रैगुणिक हैं। प्रत्येक सुखभोग भोक्ताजीव को अवश्य ही भोगान्त में अवसन्न कर देता है, और वह स्वयं भी दुःखोत्पत्ति का द्वारभूत हो जाता है। इस प्रकार यज्ञादि कर्मों में जो हिंसारूप तामसभाव है, उसके द्वारा उत्पन्न फल के भोग करने के साथ-साथ जो सात्विक भाव है. उसके फल का भी भोग, जीव (मनुष्य) को करना पड़ेगा [3] सांख्यों के उपर्युक्त तथ्य का संकेत नैषध महाकाव्य में चन्द्र वर्णन प्रसंग में चन्द्रमा के विषय में दमयन्ती के उद्‌गारों में मिलता है, जहाँ वह नल से कहती है कि यह सुधांशु जिसका सम्पूर्ण वैभव ही देवों का भोग्य बनता है, वास्तव में साक्षात् यज्ञ रूप ही है, और जिस प्रकर सर्वतोविशुद्ध होते हुए भी यज्ञ में पशुहिंसा एक मलिनता सी होती है, उसी प्रकार इस चन्द्र का कलङ्क उसकी मलिनता बनी है।[4] स्मरणीय है कि न्याय वैशेषिक की तरह सांख्य एवं योग दर्शन भी वस्तुवादी हैं, दोनों दर्शन मिलकर एक पूर्ण दर्शन बनते है[5] क्योंकि जहाँ सांख्य बौद्धिक तत्त्व चिन्तन की पृष्ठभूमि निर्मित करता है, वहीं योग उसे प्राप्त करने की क्रिया या साधना प्रदान करता है। गीता में भी सांख्य को ज्ञान एवं योग को कर्म रूप माना गया है।[6] सांख्य एवं योग की तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा की समान है[7] क्योंकि सांख्यों के २५ तत्त्वों, एवं प्रमाणत्रय (प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द) को योग उसी रूप से स्वीकार करता है अन्तर[8] सिर्फ इतना है कि योग सांख्य के २५ तत्वों के

---

1. मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतमः सप्त।
   षोऽशकस्तु विकारो न प्रकृतिन। विकृतिर्न विकृतिः पुरूषः।। सांख्यकारिकाः-3
   - त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानस्य तद्विपरीतस्तथा च पुमा।। वही कारिका-11 – तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। श्वे0 उप0 6/13
     सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।
     यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। गीता 5/4,5
     प्रीत्यप्रीते विषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणा। सा0का0 12
     सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टामुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरुवरणकमेव हि तम0 प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः। वही कारि0 13
     भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य।।वही का0-16
   - कारणमस्त्यव्यक्तम्.....का0 16, सांख्य तत्त्वकौमुदी
2. गुणाना साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतिरिति उच्यते विचारोत्पादकत्वात्, अविद्या ज्ञानविरोधत्वात् माया सृष्टिकरणत्वात्- सांख्यप्रवचन भाष्य
3. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।। सांख्यकारिका-2 एवं तत्त्वकौमुदी पृ० 17-21 भी द्रष्टव्य।
4. इज्येव देवव्रजभोज्यऋद्धिः शुद्धा सुधादीधितिमण्डलीयम्।
   हिंसा यथा सैव तथाऽङ्गमेषा कलंकमेकं मलिनं बिभर्ति।। नै० 22/74
   - अस्मिञ्शिशौ न स्थित एव रङ्कुर्यूनि प्रियाभिर्विहितोपदाऽयम्।
     आरण्यसन्देश इवौषधीभिरङ्के स शङ्के विधुना न्यधायि।। नै० 22/76
   - शुद्धाया मालिन्ययोगस्या नौचित्यादित्यर्थः शुद्धस्यापि श्रौतधर्मस्य सांख्यैर्दोषारोपणान्मालिन्यं मुधैवेत्यर्थः। नै०22/74, नारायण एवं मल्लिनाथ।
5. प्रत्यिप्राति विषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योन्याभिवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणा।। सां0का0 -12
   सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरुवरणकमेव हि तयः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तः। वही कारि0-13
6. लोकेऽस्मिन द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। गीता 3/3
7. सांख्य एवं योग समान विद्या के प्रतिपादक शास्त्र हैं। सांख्य अध्यात्म विद्या का सैद्धान्तिक रूप (विवेक ज्ञान से कैवल्य प्राप्ति मानने के कारण) है, योग उसका (विवेक ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है) व्यावहारिक रूप है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों दर्शनों की ज्ञानमीमांसा, कर्ममीमांसा, प्रमाणमीमांसा, सृष्टिमीमांसा, तत्वमीमांसा, संसारमीमांसा तथा कैवल्य मीमांसा तुल्य है। एम0के देवराज भारतीय दर्शन- पृ० 406
8. तत्त्वमीमांसा के अनेक सिद्धान्तों पर साम्य होने पर भी सांख्य और योग में महान अन्तर है। सांख्य स्फोटवाद का खण्डन करता है, परन्तु योग मण्डन करता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 285

अतिरिक्त ईश्वर[1] की भी सत्ता स्वीकार करता है, शायद इसीलिए योग को सेश्वरसांख्य भी कहते हैं। जहाँ तक सांख्य दर्शन की बात है, तो महाभारत, गीता आदि ग्रंथों में सांख्य दर्शन का जो स्वरूप मिलता है, वह ईश्वरवादी माना जा सकता है[2] किन्तु ईश्वर कृष्ण के समय में सांख्य का (शास्त्रीय) स्वरूप निरीश्वरवादी हो गया, जो कि जैन, एवं बौद्ध दर्शन के प्रभाव का परिणाम माना जा सकता है किन्तु बाद के सांख्याचार्यों यथा- विज्ञानभिक्षु आदि ने सांख्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया परन्तु योग दर्शन के ईश्वर को उसी रूप में सांख्य द्वारा न अपनाना, दोनों को सेश्वर सांख्य (योग) और निरीश्वर सांख्य (सांख्य) रूप में विभेदित तो करता ही है।[3]

योग दर्शनः

"नैषधीयचरितम्" में योग दर्शन की विषय सामग्री प्रभूतरूप में उपलब्ध है। अन्याय प्रसङ्ग स्थलों के साथ-साथ नल कृत देवार्चना विवरण में योग दर्शन की नैषधकार ने इस रूप में विषयवस्तु प्रतिपादति की है, मानो वह योगशास्त्र का सहारा लेकर इस ग्रंथ को लिख रहे हों। हंस एवं दमयन्ती संवाद में नैषधकार ने हंस मुखेन कहलवाया है कि विरंचि के अनेक मुखों द्वारा प्रतिपादित योगशास्त्र के श्रवण से मेरे कर्ण पूर्णपूत हों चुके हैं, इसलिए मैं (हंस) अपने निर्दोष हृदय में जिस बात को धारण करता हूँ, वह दूसरे तक नहीं जाने पाती।[4] महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है, चूँकि चित्तवृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) का निरोध समाधि में होता है, अतः योग को समाधि भी कहते हैं।[5] योगदर्शन के अनुसार शरीर, इन्द्रिय और चित्त की शुद्धि के लिए अष्टांग योग अर्थात् यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह), नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि द्वारा ही होती है।[6] साधक (योगी) योग क्रिया काल में शान्त तथा मौन रहता है, एवं योगपट्ट (ऊर्ध्ववस्त्र रूप में) भी धारण करता है,[7] इस तथ्य का संकेत भी श्रीहर्ष ने कुण्डिनपुरी के वर्णन में किया है, वे लिखते हैं कि जब निशीथ वेला में कुछ क्षण के लिए नगरी में नीरवता होती है, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह नगरी प्राकार (चार दीवारी) पंक्ति का योगवस्त्र धारण कर मणिभवनरूपी किसी विशुद्ध अन्तर्जोति की उपासाना कर रही है।[8]

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार ध्येय वस्तु के ज्ञान की एकतानता का नाम ध्यान है[9] अर्थात् ध्येयवस्तु में जब साधक की चित्तवृत्तियाँ निरन्तर एकाकार रूप से प्रवाहित हों, तब साधक की इस स्थिति को ध्यान कहते हैं। ध्यान की स्थिति में साधक को ध्याता, ध्येय, और ध्यान की अलग-अलग रूप से प्रतीति होती रहती है जब कि समाधि की स्थिति में साधक के चित्त की ध्येय वस्तु में विक्षेपरहित एकाग्रता रहती है,

---

1. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः यो-सू. 1/24
2. एवं षड्विंशकं प्राहु शारीरमिह मानवाः सांख्य सांख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यये।। मत्स्य पु० 4/28
3. तत्त्ववैशारदीन 4/3 योग वार्तिक, 1/24, प्रवचनभाष्य 5/1-2, दास गुप्ता, भारतीय दर्शन, पृ० 265
4. वार्तापि नासत्यपि सान्यमेति योगादरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे।
   विरञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्ण कर्णः।। नै० 3/44
5. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः, तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगासूत्र – योगः समाधिः योगभाष्य 1/1
6. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांङ्गानि। यो. सू. 2/29
   – मैत्रायणी उपनिषदं में योग के छै अंग बताये गये हैं यथा- प्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणतर्कसमाधिषडंग इत्युच्यते योगः।। मैत्रा0 उप0 6/8
7. अन्ययापि योगिन्या क्षणमौनिन्या आश्रितयोगपट्टया च निर्मलमविद्यादिदोष रहितं किमपि वाङ्मनसयोरविषयम् अबाह्यमाभ्यन्तरमात्मलक्षणं ज्योतीरात्रौ पूज्यते, विषयीक्रियत इत्यर्थः। नै० 2/78 नारायण
8. क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया । मणिवेश्यमयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिर बाह्यमिज्यते।। नै० 2/78
9. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्- यो. सू. 3/2
   – तस्मिन्देश ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।। यो0सू0 3/2 पर भाष्य

तथा साधक का ध्यान ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है। सम्पूर्ण बाह्यविषयों से साधक का पूर्ण रूप से अलगाव, समाधि की अवस्था में ही होता है अर्थात् समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी में ध्याता तथा ध्यान ध्येकार हो जाते हैं एवं केवल ध्येय ही शेष बचता है। समाधि एवं ध्यान की इस स्थिति का संकेत हंस एवं दमयन्ती वार्तालाप प्रसंग में मिलता है जहाँ हंस दमयन्ती से कहता है कि दमयन्ती, पुण्य से आज तुम्हें प्राप्त करके, तुम में ध्यान (मन) लगाने वाले नल की, अमृततुल्य प्राप्त करने वाली बाह्येन्द्रियाँ, जो अब तक तप के कारण उपवास करती थीं, आज अपने देवत्त्व को चरितार्थ करें।[1]

महर्षि पतञ्जलि ने समाधि के दो प्रकार गिनाये हैं, सम्प्रज्ञात समाधि, तथा असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि (सम्यक् ज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन् इति सम्प्रज्ञातः) में साधक (योगी) को ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है किन्तु ध्याता तथा ध्यान दोनों ध्येयाकार हो जाते हैं, इनकी ध्येय से पृथक् अनुभूति नहीं होती।[2] यह चतुर्विधा होती है-सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित,[3]या वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, तथा अस्मितानुगत चार भेद सम्प्रज्ञात योग के होते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि, सवितर्क समापत्ति एवं सविकल्पक समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि का विवरण भावनावश हुए नलकृत विष्णु की प्रार्थना में द्रष्टव्य होता है, जहाँ नल भावना में विष्णु का साक्षात्कार करके भक्ति के उद्रेक में प्रेम तथा भक्ति के योग्य (नृत्य, गीत) आदि का आचरण करने लगे।[4] यहाँ नैषधकार द्वारा साकार ईश्वर की स्तुति करने में ध्येय तथा ध्यानकर्ता के भावयुक्त साकार ध्यान को सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। श्रीमद्भागवत् में भी कहा गया है कि-

श्रण्वन्सुभद्राणिरथाङ्गपांणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गातानि नामानि तदर्थकानि गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ।।

असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त सर्वथा निरुद्ध हो जाता है एवं ध्येय वस्तु का ज्ञान भी नहीं रहता तथा ध्याता, ध्येय, ध्यान की त्रिपुटी का अनिवर्चनीय तत्त्व में विलय हो जाता हैं। असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज एवं[5] निर्वितर्कसमापत्ति एवं वेदान्त में निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। व्यास भाष्य के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि या योग दो प्रकार का होता है, भवप्रत्यय एवं उपाय प्रत्यय।[6] उपाय प्रत्यय समाधि में प्रकृतिलीन व्यक्तियों के समान विदेह देवता की लीन रहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि का संकेत श्रीहर्ष ने विष्णु अवतार के वर्णन में किया है जहाँ वह लिखते हैं कि जीव को अनन्त काल तक कर्मफल का भोग करना पड़ता है, एवं मुक्ति आपके पावन ध्यान द्वारा समाधि से ही सुलभ हो सकती है, क्योंकि उस

---

1. त्वद्वद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासिव्रतिनां तपोभिः।
   त्वामद्य लब्ध्वामृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु। नै० 3/101
2. यस्त्वेकाग्रे चेतसि समुद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्म बन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। योग भाष्य 1/1
   – ता एव सबीज समाधिः। योग सूत्र 1/46-
   तेषुगृहीतृग्रहणग्राह्येषु स्थितस्य धारितस्य ध्यानपरिपाक वशादपहतरजस्तमोमलस्य चित्तसत्वस्य या तदंजनता तदाकारता सा समापत्तिः सम्प्रज्ञात लक्षणो योग उच्ये। योग सूत्र 1/46 पर वाचस्पति, तत्त्ववैशारदी।
3. वितर्कविचारानन्दाऽस्मिताप्रमानुगमात्संप्रज्ञातः। योः सू. समाधिपाद-17।
4. इत्युदीर्य स हरिं प्रति सम्प्रज्ञातबासितततमः समपादि।
   भावनाबल विलोकितविष्णौ प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिष्णुः।। नै० 21/118
   – सम्प्रज्ञातेन तदाख्येन साकारध्यानेन हेतुना, वासिततमः अतिशयेन सञ्जातभावनः सन् अत्यर्थं तन्मयः सन्नित्यर्थः।
   नै 21/104 मल्लिनाथ एवं द्रष्टव्य- 21/118 नारायण की टिप्पणी।
5. तस्यापि सन्निरोधे वा निरोधान्निर्बीजः समाधिः। यो0सू0 - समाधिपाद - 51
6. यो0 सू0 1/19, 20

(असम्प्रज्ञात) समाधि में वह शक्ति है, जिससे सम्पूर्ण कर्मबन्धन टूट जाते हैं।[1] स्मरणीय है कि सम्पूर्ण कर्मबन्धनों से पूर्ण रूप से अलगाव असम्प्रज्ञात समाधि में ही होता है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्ति निरोध होने पर यदि चित्त अविद्या में लीन हो जाय तो यह अवस्था प्रकृति लय, भवप्रत्यय (अज्ञानावस्था जड़ समाधि) कहलाती है। यह यथार्थ में समाधि नहीं, वरन्, अज्ञानावस्था ही है, हाँ वृत्तिनिरोध के कारण इस स्थिति को उपचारवश, असम्प्रज्ञात समाधि कह दिया जाता है, परन्तु वास्तविक असम्प्रज्ञात समाधि तो उपायप्रत्यय ही है, अर्थात् जब शुद्ध ज्ञान या प्रज्ञा के उदय से अविद्या का नाश हो जाता है एवं वृत्तियों तथा संस्कारों का सर्वथा निरोध हो जाता है, और द्रष्टा या साधक की अपने स्वरूप (परमात्मा या नित्य विशुद्ध चैतन्य) में प्रतिष्ठा हो जाती है, उस समय विशुद्ध चैतन्य मात्र रहता है, जो द्रष्टा पुरुष का "यथार्थ स्वरूप" है। श्री हर्ष ने उपर्युक्त प्रसंग में असम्प्रज्ञात समाधि एवं मोक्ष दोनों का संकेत देना चाहा है।[2] योग दर्शन का भी चरम लक्ष्य (स्वरूपावस्थान कैवल्य) मोक्ष है। असम्प्रज्ञात समाधि का संकेत दमयंती की सखियों के हंस के दर्शन प्रसंग में[3] तथा नैषधकार की स्वयं की अभिव्यक्ति "यः साक्षात् कुरुते समाधिषु पर ब्रह्म प्रमोदार्णवम्" में माना जा सकता है, परन्तु यदि नैषधकार की स्वयं की अभिव्यक्ति में असम्प्रज्ञात समाधि का प्रसंग माना जाये, तो उन्होंने जो बाद में खण्डनखण्डखाद्य ग्रंथ एवं ईश्वराभिसन्धि ग्रंथ लिखे, वह आचार्य मम्मट के शब्दों में (काव्यं यशसे") तथा शिवेतरक्षतये" से भले ही तर्कसंगत ठहरें, किन्तु ऐसा प्रसंग असम्प्रज्ञात समाधि के परिप्रेक्ष्य में सटीक नहीं बैठता, साथ ही सम्प्रज्ञात समाधि में भी उतना सटीक तो नहीं ठहरता, क्योंकि इस समाधि का साधक मुक्त पुरुष हो जाना है फिर उसके लिए सांसारिक विषयों में अनुरक्ति होना, तो तर्कसंगत नहीं हैं, हाँ समाज हित में यदि उनके ग्रंथ रचना को रखा जाय तो और बात होगी। नैषधकार की स्वयं की अभिव्यक्ति को यदि केवल आत्मश्लाघा माना जाय तो शायद उचित होगा। लेकिन एक बात और अवश्य कहनी होगी, कि नैषधकार भी योग साधना जरूर करते रहे होंगे[4] और महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योगाङ्ग के अनुष्ठान से अशुद्धि क्षय होने से विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान दीप्ति होती रहती है।[5] अतः यह कहा जा सकता है कि इसी ज्ञानदीप्ति एवं कवि स्वभाव के आधार पर उन्होंने ऐसी अभिव्यक्ति की होगी।

योग दर्शन के अनुसार प्रसंख्यान या विवेकज ज्ञान में भी विराग युक्त होने पर सर्वथा विवेकख्याति होने से धर्ममेघ समाधि उत्पन्न होती है, उससे क्लेश कर्म की निवृत्ति होने पर भी विद्वान् जीवित रहते हुए भी सांसारिक विषयों से विमुक्त रहते हैं, एवं ऐसे कुशल योगी पूर्व संस्कारवश कोई काम नहीं करते हैं।[6] अर्थात् मुक्त पुरुष संसारी नहीं होता, एवं संसारी (व्यावहारिक गतिविधियों में लिप्त) व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। योग दर्शन के इस तथ्य का संकेत भी नैषधकार ने चमत्कारिक शैली दमयन्ती की नल दर्शन के समय की दशा निरूपण में किया है कि (अलभ्य) नल दर्शन से आनन्द परिपूर्ण होकर तथा

---

1. प्राग्वैरुदगुदग्भवगुम्फान्मुक्तियुक्तिविहताविह तावत्। नापरः स्फुरति कस्यचनापि त्वत्समाधिमवधूय समाधिः।। नै० 21/103
2. उक्तरीत्यिा यद्यपि मुक्तिविहतिस्तथापि तव ध्यानादिद्वाराप्राप्तपरमात्मरूपसाक्षात्कारेणैव प्राचीनतत्तज्जन्मार्जितकर्मणां समुन्मूलनादिदानीमन्यकर्मारम्भें प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयान्नैष्कर्म्ये सम्पन्ने युक्तिर्गुण्यत एवेति सर्वेषामपि वादिनां त्वत्समाधिरेव सिद्धान्त इत्यर्थः। मुक्ति हेतुस्त्वमेवेतिभावः। नै० 21/03 नारायण
3. नैत्राणिक वैदर्भसुतासखीनां विभुक्ततन्तद्विषयग्रहाणि। प्रायुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम्।। नै० 3/3
4. किन्तु यः समाधिषु अष्टाङ्गयोगेषु ध्यानेषु वा विषये प्रमोदार्णवं परमानन्द स्वरूपं वरं वागाद्यागोचरं ब्रह्म साक्षात्कुरते। नै० 22/153 नारायण
5. योगाङ्गानुष्ठानदशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। यो0सू0 2/28
6. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेधर्ममेघ समाधिः, लतः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। योग सू0 4/29,30
   - जीवन्नेव विद्वान विमुक्तो भवति। यो सू0 4/30 भाष्य से उद्धृत
   - कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिन। त0 वै0 - पृ० 67

अत्यन्त अनिर्वनीय मोह (अज्ञान, या किंकर्त्तव्यमूढता, अथवा अतिशय सुरक्षित अन्तःपुर में नल कैसे आ गये, वे नहीं है क्या? (इत्यादिभ्रम वाली इस दमयन्ती ने ब्रह्मतुल्य नलदर्शन जन्य आनन्द से) मुक्त तथा (मोक्ष या भ्रम होने से) संसारी की अवस्थाओं से शुद्ध उल्लास या मधुर द्विविधि स्वाद का अनुभव कर रही थी।[1] उपर्युक्त प्रसंग में श्रीहर्ष ने मुक्त एवं संसारी दोनों ही व्यक्तियों की स्थितियों का एक साथ संगम, दमयन्ती की मनोदशा के वर्णन में किया है, जो उनकी दार्शनिकता एवं काव्यचारुता के नैपुण्य का सूचक है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार सिद्धियाँ, जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि इन पांच उष्पाओं से उत्पन्न होती है।[2] ईश्वर की अष्ट सिद्धियाँ जो भूत जय से उत्पन्न होती है, उन सिद्धियों को संयम एवं योगाभ्यास के बल से योगासिद्ध व्यक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं वे सिद्धियां हैं अणिमा लघिमा, महिमा प्राप्ति[3] प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व, यत्रकामावशायित्त्व।[4] उपर्युक्त अष्टसिद्धियों का विवरण नल द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन में द्रष्टव्य है जहाँ नल दमयन्ती से कहते हैं सुन्दरि! तुम्हारी कटि में अणिमा (कृशता) है, नितम्ब तथा स्तनों में गरिमा (गुरुता) एवं महिमा (स्थूलता) है, चित्त में वशित्व (जितेन्द्रियता या पतिव्रत्य) है, मुस्कार में लघिमा (अल्पता) है, मेरे (नल के) ऊपर (तुम्हारा) ईशित्त्व (अधिकार) है, माधर्यादि युक्त भाषण करने से रमणीय हो, (पूर्वादि) चारों दिशाओं तथा (आग्नेयादि चारो) विदिशाओं में यश (सौन्दर्य प्रसिद्धि) से कामावसाय रूप सिद्धि अर्थात् इच्छानुसार अनवरुद्ध प्रखरगति (स्वेच्छा प्रखर) प्राप्त कर चुकी हो, शायद इसी कारण से तुम्हारी रचना करके ईश्वर ने अपनी शिल्पभूत तुम्हारे लिए आठों विभूतियों (सिद्धियों) को दे दिया है।[5] श्रीहर्ष ने अणिया नामक सिद्धि या विभूति की चर्चा हंस दमयन्ती के वार्तालाप प्रसंग में[6] तथा दमयन्ती स्वयंवर से वापस लौटते हुए देवताओं के वर्णन प्रसंग में भी की है, जहाँ श्रीहर्ष लिखते हैं कि जाते-जाते दूर पहुँचे देवताओं की अणिमा (नामकसिद्धि) ऐसी स्पष्ट मालूम होती थी, मानो वह उनके अष्टगुणों के ऐश्वर्य से पृथक हो गई हो।[7]

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार बन्धकारण[8] का शैथिल्य एवं प्रचार संवेदन होने पर चित्त का पर शरीर में आवेश सिद्ध होता है, अर्थात् सिद्ध योगी दूसरे के शरीर में भी प्रवेश कर सकता है।[9] महर्षि व्यास

---

1. तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा । सा मुक्तंसंसारिदशासाभ्यां द्विस्वादभुल्लासमभुङ्मिष्टम्।। नै० 8/15
2. जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजास्सिद्धयः । यो0 सू0 कैवल्यवाद - 1
3. स्थूसंयमजयाच्चतस्रः सिद्धयो भवन्तीति -त0 वै0 पृ० 369
   एताश्चतस्रः स्थूलसंयमसिद्धयः - यो0वा0, पृ० 369
4. – ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च। यो0 सू0 3/45
   – तत्राणिमा भवत्यणुः लघिमा लघुर्भवति, महिमामहान् भवति, प्राप्तिरङ्गल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसं, प्राकाम्यमिच्छानभिघातो भूमावुन्मंज्जति निमज्जति यथोदके, वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवति अवश्यचान्येषाम्, ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहा नामीष्टे। यत्र कामावसायित्वं सत्यसंकलपस्ता यथा संकल्पस्थता भूतप्रकृतीनामवस्थानं न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति, कस्माद् अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु संकल्पादिति, एतान्यष्टा वैश्वर्याणि। यो0 सू0 3/45 भाष्य
5. मध्ये बद्धाणिमा यत्सगरिममहिमश्रोणिवक्षोजयुग्मा जाग्रेच्चेतोवशित्वा स्मितधृतलघिमा मां प्रतीशित्वमेषि।
   सूक्तौ प्राकाम्यरम्या दिशि विदिशि यशोलब्धकामावसाया भूतीरष्टावपीशस्तददित मुदितः स्वस्य शिल्पाय तुभ्यम्।। नै० 21/159
   – अणिमादौ, गुणवचनत्वादिमनिच्। वश इन्द्रियाणां स्वाधीनत्वम् तदस्यास्तीति वशी, तद्भावो वशित्वं जितेन्द्रित्वम्। ईशनमीशऐश्वर्यं तदस्यास्तीति तद्भावः। नै० 21/159 नारायण
   – यथा सन्तुष्टो हि पित्रादिः अपत्यादिभयः स्वकीयमैश्वर्यादिकं प्रददाति, तथेश्वरेण सन्तुष्टेन स्वकीयम् "अणिमा महिमा, गरिमा, लघिमा, वशित्वमीशित्वं प्राकाम्यं कामावसायिता च" इत्येवमष्टविधमैवश्चर्यं तुभ्यं दत्तम् अन्यथा एतत् सर्वं त्वयि कथं स्यादिति भावः। नै० 21/145 मल्लिनाथ
6. ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये। तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम्।। नै० 3/64
7. क्रमाद्दवीयसां तेषां तदानीं समदृश्यत। स्पष्टमष्टगुणैश्वर्य्यात् पर्यवस्यान्निवाणिमा।। नै० 17/5
8. मनसो धर्माधर्मवशादेव शरीरे या प्रतिष्ठा ज्ञानहेतुः सम्बन्धविशेषः, स बन्ध इत्यर्थः। यो. ना., पृ० 355
9. बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्चचित्तस्य पर शरीरावेशः। यो0 सू0 3/38

ने भी लिखा है कि कर्मबन्धक्षय तथा नाड़ी मार्ग में स्वचित्त का संचार होने पर योगी चित्त को अपने शरीर से निकालकर दूसरे शरीर पर निक्षेप कर सकते हैं।[1] भोजराज ने भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि अपने ग्रंथ राजमार्तण्डवृत्ति में किया है।[2] श्रीहर्ष ने योग दर्शन के उपर्युक्त तथ्य का संकेत दूतरूप धारी नल के वर्णन में किया है, जहाँ वह लिखते हैं कि वियोगी होते हुए भी योगी की भाँति वह राजा (नल) अदृश्य होकर दूसरे के पुर (शरीर, नगर कुण्डिनपुर) में प्रवेश करके मणिजरित भूमियों में अपने प्रतिबिम्ब रूप कार्यसमूह का विस्तार करते हुए सुशोभित थे।[3] इसके अतिरिक्त दमयन्ती के कथन में भी कि मेरा पति कई रूप धारण कर मुझसे परिहास तो नहीं कर रहा है, "में योग दर्शन का पुट माना जा सकता है।"[4]

पूर्व मीमांसा या मीमांसा दर्शन

नैषधीयचरितम्' में पूर्वमीमांसा दर्शन की विषयवस्तु के सन्दर्भ भी अत्यधिक रूप से श्रीहर्ष ने पिरोया है। मीमांसा शास्त्र का साहित्य बहुत विस्तृत है।[5] स्वयं नैषधकार ने इस दर्शन की व्यापकता एवं महत्ता का विवरण इन्द्रनारदसंवाद में देते हुए लिखा है कि विष्णु ने तो विश्वरूप धारण किया है, अतः उनका जैमिनि रूप होना भी उचित है। यज्ञभोग करने वाले देवताओं के विग्रह (युद्ध तथा शरीर) को न चाहने वाले विष्णु ने (सम्पूर्ण दैत्यों का सुदर्शन चक्र से नाश करके जैमिनिरूप से देवताओं को मन्त्रात्मक सिद्ध करके) मेरा वज्र ही व्यर्थ कर दिया है।[6], ध्यातव्य है कि जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा के अनुसार मन्त्र ही सब कुछ हैं, वे ही देवता हैं, अलग देवताओं की कोई सत्ता पूर्वमीमांसा शास्त्र नहीं मानता। उपर्युक्त संदर्भ में श्रीहर्ष ने जैमिनिमुनि के प्रति बहुमान प्रकट किया है। संक्षेप में पूर्व मीमांसा दर्शन, वस्तुवादी, बाह्यार्थसत्तावादी, या बाह्यार्थवादी, बहुवादी[7], अनेकेश्वरवादी (बहुदेववादी) स्वतः प्रामाण्य एवं परतः अप्रामाण्यवादी, जगत की व्यावहारिक सत्ता को मानने के साथ-साथ, निःश्रेयस या मोक्ष (स्वर्गकामो यजेत, प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्ष, आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदः मोक्षः) मानने वाला, कर्मकाण्डवादी, अनेकात्मवादी (परन्तु आत्मा को विभु रूप में स्वीकार करने वाला), भ्रम के विषय में विपरीतख्यातिवादी (कुमारिल) एवं अख्यातिवादी (प्रभाकर) तथा पाश्चात्य दार्शनिक शब्दावली में मनोवैज्ञानिक सुखवादी प्रवृत्ति का समर्थ है। साथ ही आचरण की शुद्धता पर भी यह दर्शन जोर देता है।[8] और यदि पूरे मीमांसा मत को एक शब्द में व्यक्त किया जाये तो उस शुद्ध इन्द्रियानुभववाद की संज्ञा देना अभीप्सित लगता है।[9] वैसे तो पूर्वमीमांसा दर्शन अत्यधिक प्राचीन दर्शन है, क्योंकि इनके विवरण धर्मसूत्र[10] जैसे प्राचीन ग्रंथों में मिलने के साथ-साथ

---

1. कर्मबन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निकृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति। निक्षिप्तंचित्तं चेन्द्रियाण्यनु पतन्ति यथा मधकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनु निविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति। योः सू. 3/38 पर व्यास भाष्य।
2. चित्तस्य च योऽसौ प्रकारो हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विजयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी, अनया चित्तं वहति, इयञ्च रसप्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति। स्वपरशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति तदा परकीयं शरीरं मृतं जीवच्छरीरं वा चित्तसञ्चारद्वारेण प्रविशति। रा0मा0वृ0- पृ० 75
3. भवन्नदृश्यः प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन्मणिकुट्टिमेषु। पुरं परस्य प्रविशन्वियोगी योगीव चित्तं स रराज राजा।। नै० 6/46
4. किं वा तनोति मयि नैषध एव काय व्यूहं विहाय परिहासमसौ विलासी।
विज्ञान वैभवभृतः किमुतस्य विद्या सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव ।। नै० 16/43।
5. द्रष्टव्य, मीमांसा कुसुमाञ्जलि (क्रिटिकल बिब्लिओग्राफी आफ पूर्णमीमांसा) उमेश मिश्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित
6. विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये। विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनि न निनाय।। नै० 5/39
7. विलक्षणस्वभावत्यात्, भावानाम्। शास्त्रदीपिका, पृ० 102
8. आचारहीन न पुनन्ति वेदाः। वेदान्तसूत्रभाष्य 3/1/10 से उद्धृत
9. यथां संदृश्यते तथा श्लोकवार्तिक। श्लोक 29. पृ० 552
10. Karma-Mimansa, A.B. Keith, P. 2

पतञ्जलि[1] (१५० ई०पू०) महाभाष्य में भी इस दर्शन का उल्लेख मिलता है लेकिन महर्षि जैमिनिकृत मीमांसासूत्र[2] या जैमिनि सूत्र ही इस दर्शन का प्राचीन एवं सर्वांगपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ में बादरायण, बादरि, ऐतिशायन, कार्ष्णाजिनि, लावुकायन, कामुकायन, आत्रेय, तथा आलेखन आदि आठ आचार्यों एवं उनके मतों का उल्लेख मिलता है, किन्तु आपिशालि, उपवर्ष[3], बौधायन, भवदास,[4] हरि,[5] भर्तृमित्र[6] आदि अन्य मीमांसा के प्राचीन आचार्य हैं, जिनके मत विभिन्न ग्रंथो में उद्धृत मिलते हैं। परन्तु इस ग्रंथ पर समस्त परवर्ती लेखों का आधार शबरमुनि[7] (प्रथम शदी ई०पू०) का भाष्य हैं जो जैमिनि ग्रंथ के प्राचीन भाष्यकार माने जाते हैं। शबर स्वामी के बाद पूर्व मीमांसा के इतिहास में तीन आचार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं, कुमारिलभट्ट (६०० ई० इनके मत को भाट्ट मत कहा जाता है), प्रभाकर मिश्र (६५० ई० इनके मत को प्रभाकर मत या गुरु मत कहा जाता है, मुरारिमिश्र[8] (११वीं शताब्दी, के मत को मिश्रमत कहा जाता है)। इसके अतिरिक्त, भवदेव, पार्थसारथिमिश्र, मण्डनमिश्र, आपदेव, सालिकनाथ मिश्र एवं खण्डदेव तथा डॉ० गंगानाथ झा भी मीमांसादर्शन के महनीय विद्वान् माने जाते हैं।

षड् आस्तिक दर्शनों में मीमांसा दर्शन का सर्वोपरि स्थान माना जा सकता है क्योंकि इसमें वैदिक वाक्यों को पूर्णतः प्रमाण माना गया है। वेद के दो भाग हैं. कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड), पूर्व अर्थात् कर्मकाण्ड के विवेचन करने वाले को पूर्वमीमांसा या मीमांसा (दर्शन) कहा जाता है तथा उत्तर या पश्चात् भाग, ज्ञानकाण्ड के विवेचन करने वाले को उत्तर मीमांसा या वेदान्त दर्शन कहा जाता है। उत्तरमीमांसा की विवेचना आगे की जायेगी, उपर्युक्त प्रसंग में पूर्वमीमांसा दर्शन की विवेचना ही समीचीन है। पूर्वमीमांसा दर्शन में वैदिक कर्मकाण्डों के साथ वैदिक मंत्रों की यागपरक व्याख्या उपस्थित मिलती है। वेदों का प्रतिपाद्य विषय धर्म है, जिसके लिए वह यज्ञ आदि का विधान करता है। मीमांसकों का भी मुख्य विषय धर्म है,[9] और वह कर्म (यागादि) को ही धर्म का लक्षण मानते हैं।[10] उनके अनुसार धर्म का अर्थ

---

1. महाभाष्य- 4/1/14
2. डॉ0 राधाकृष्णन जैमिनिसूत्र का समय चौथी शताब्दी ई0पू0 रखने की वकालत करते हैं (भारतीय दर्शन, प्रभाग, पृ० 332, 323), जबकि हिरियन्ता महोदय 200 ई0 (भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ 299), आचार्य बलदेव उपाध्याय 300 ई0पू0 जैमिनि का समय मानते हैं (भारतीय दर्शन पृ० 310), जबकि एस.एन. दास गुप्ता महोदय 200 ई0पू0 (भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ० 378)
3. शावरभाष्य 1/1/5
4. श्लोक वार्तिक 1/63
5. शास्त्रदीपिका 10/2/59, 60
6. काशिका, पृ० 10, न्याय रत्नात्कर, 10
7. प्रभाकर स्कूल आफ पूर्वमीमांसा, गंगानाथ झा, पृ० 6-7
   - शबरस्वामी का समय भारतीय विद्वान् राधाकृष्णन गंगानाथ झा से सहमत होते हुए प्रथम शताब्दी मानते हैं। भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० 323), वहीं हिरियन्ना महादेय, 400 ई. (भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 300), आचार्य बलदेव उपाध्याय, 200 ई0 (भारतीय दर्शन, पृ० 311), उमेश मिश्र 400 ई0 से पूर्व (भारतीय दर्शन, पृ० 242), तथा एस.एन. दास गुप्त महोदय, डॉ0 गंगानाथ झा से सहमत होते हुए प्रथम शताब्दी (57 ई0पू0 के आसपास) मानते हैं जब कि स्वामी द्वारिका दास शास्त्री ई0पू0 तीसरी शताब्दी मानते हैं यथा (अतः स शबरस्वामीति नाम्ना लोके विख्यातोऽभूत्। अयम् ईशातः पूर्व तृतीय शताब्द्यां भारत भूमिमलञ्चकारं इति ऐतिवविदः प्रमाणयन्ति (श्लोकवार्तिक, प्रास्ताविकम्, पृ० 9) एवं जैकोबी 200-500 ई0 के बीच तथा कीथ 400 ई0 शबरस्वामी का काल मानते हैं!
8. मुरारि मिश्र के मतों का संग्रह एवं पुस्तकों के प्रकाशन का प्रथम गौरव "उमेश मिश्र" को प्राप्त है द्रष्टव्य मुरारेस्तृतीयः पन्थाः-उमेश मिश्र, पञ्चम, ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, लाहौर
9. धर्माख्यं विषयं वस्तु मीमांसायाः प्रयोजनम्। श्लोकवार्तिक-11
10. अथातो धर्म जिज्ञासा। मीमांसा सूत्र-1/1/1
    - चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। मीमांसा सूत्र-1/1/2
    - आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्-वही 1/2/1
    - चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकवचनमाहुः- शाबरभाष्य
    - चोदनाचोपदेशाच्च विधिश्चैकार्थवाचिनः-श्लोकवार्तिक
    - यागादिरेव धर्मः। शास्त्रदीपिका-पृ० 25.
    - देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः। न्यायमालाविस्तर 4/2/27/8

वैदिक यज्ञों का पालन है। लौगाक्षिभास्कर कहते हैं "यागादिरेव धर्मः वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थः। जैमिनिमुनि के प्रथम सूत्र" अथातो धर्म जिज्ञासा" से भी स्पष्ट है कि मीमांसा दर्शन का प्रधान विषय धर्म ही है, तथा स्वर्गकामो यजेत, से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसक यज्ञ को ही धर्म मानते हैं, एवं स्वर्गादि प्राप्ति ही धर्म का प्रयोजन है, जैसा कि श्रीभास्कर कहते हैं. वेदप्रतिपाद्यो प्रयोजनवदर्थो धर्म" तथा वेदोऽखिलोधर्ममूलम् से वेदों की महनीयता का भी पता चलता है। मीमांसा दर्शन में कर्म का तात्पर्य वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों से है, और कर्मकाण्ड तो मीमांसा दर्शन का सार ही है (कर्मेति मीमांसका)। परन्तु यहां यह तथ्य अवगम्य है कि अन्य दर्शनों में जो स्थान ईश्वर का है, वही इस दर्शन में कर्म का है। कर्म सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानने के कारण इस दर्शन को कर्ममीमांसा भी कहा जाता है। यह दर्शन ईश्वर के प्रयोजन की कोई आवश्यकता नहीं समझते, लेकिन कस्मै देवाय हविषा विधेम् इत्यादि वैदिक वाक्यों से स्पष्ट है कि यह अदृश्य ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं, भले ही वह मंत्र रूप में ही मानते हो। मीमांसक कर्म एवं कर्मफल के बीच अपूर्व नामक शक्ति को मानते हैं, जो यागादि कर्म करने से उत्पन्न होती है, एवं वही कर्मफल का निर्णायक भी होती है। यह दर्शन वेदों में प्रतिपादित तीन प्रकार के कर्मों यथा-नित्य, नैमित्तिक, प्रतिसिद्ध और काम्य को विधि अनुसार अपनाने की वकालत भी करता हैं। स्वयं नैषधकार ने वेद विहित, कर्मों, धर्मों एवं यज्ञों का विवरण नैषध में प्रभूत मात्रा में दिये हैं।[1] रही वेदों के प्रभेदों की बात, तो श्रीहर्ष ने इस तथ्य का संकेत भी सरस्वती के सौन्दर्य वर्णन में दिया है, जहाँ वह लिखते हैं कि सुन्दर वस्त्र से आच्छादित, उस सरस्वती के मांसल एवं सुन्दर उरुयुगल, परमत (न्याय नैशेषिक आदि के मत) को खण्डन करने वाली कर्मार्थक (कर्मकाण्ड) एवं ब्रह्मार्थक (ब्रह्मकाण्ड) रूप दो भागों में विभक्त मीमांसा से बनाये गये थे।[2] यहाँ नैषधकार ने पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दोनों को वेद का अंग स्वीकार किया है अन्तर सिर्फ इतना है कि जहाँ पूर्वमीमांसा कर्मकाण्ड के प्रतिपादन पर जोर देता है, वही उत्तरमीमांसा (वेदान्त या ब्रह्मकाण्ड) ब्रह्मचिन्तन एवं ज्ञानप्राप्ति (ऋते ज्ञानान्मुक्तिः) पर जोर देता है। नैषध के चन्द्रकला हिन्दी एवं संस्कृत व्याख्याकार ने उपर्युक्त तथ्यों को निम्न भावों में समेटा है।

सुन्दरवसनाच्दादितमूर्वोर्युगलं गिरां देव्याः । ब्रह्मार्थकर्मार्थद्वयोत्तरपूर्वमीमांसा दैवविरचितम् ।।

स्पष्ट है कि मीमांसा वेदस्वरूपा है, शायद इसीलिए हर्ष ने वेद के कर्मकाण्ड एवं ब्रह्मकाण्ड दो विभागों में स्थित मीमांसा को परमत (न्याय वैशैषिक आदि सिद्धान्तों के) खण्डन करने वाला तथा पुष्ट (दूसरे से अखण्डनीय, पक्षान्तर में उत्तम वस्त्र से आच्छादित होने से सुन्दर एवं मांसल सरस्वती देवी की दोनों जंघाओं को बनाया है, रूप में होने की अभिव्यक्ति की है।)[3]

कुमारिलभट्ट[4] के विवरणानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन पूर्वमीमांसा दर्शन नास्तिक रहा होगा। जबकि कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक के मंगलारण में वैदिक यज्ञ पुरुषों के रूप में भगवान शिव की वन्दना की है।[5] साथ ही उन्होंने यह भी अभिहित किया है कि यह शास्त्र जिसे वेद कहा जाता है जो शब्दों के रूप में ब्रह्म है, एक सर्वोपरि आत्मा का स्थापित किया हुआ है।[6] जिससे यह स्पष्ट होता है परवर्ती

---

1. द्रष्टव्य-इसी शोध प्रबन्ध के धर्मशास्त्र एवं वेद वेदांग नामक अध्याय
2. ब्रह्मार्थकर्मार्थक वेदभेदात् द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्मदेहम्।
   चक्रे पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम्।। नै० 10/81
3. ताभ्यां ब्रह्मकाण्डकर्मकाण्डाभ्यां, यो वेदस्य भेदः द्वैविध्यं तस्माद्धेतोः द्विधा विधाय पूर्वोत्तरमीमांसारूपेण द्विविधं, स्थितया प्रतिष्ठितया मीमांसया द्वैविध्यया चक्रे कृतमिति गम्योत्प्रेक्षा। नै० 10/81 मल्लिनाथ
   – उत्तरमीमांसया पूर्वमीमांसया चोरुयुग्मं रचितमित्यर्थः। नै-10/81 नारायण
4. प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता। तामास्तिकपथे कर्त्तुमयं यत्नः कृतो मया। श्लोक वार्तिक 1/1/10
5. विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे। श्रेयः प्राप्ति निमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे।। वही 1/1/1
6. शब्द ब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते। तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना।। तन्त्रवार्तिक, पृ० 719

मीमांसकों ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, चाहे उसे शब्दब्रह्म के रूप में माना जाय अथवा यज्ञ पुरुष के रूप में रखा जाया या मन्त्र रूप देवता की आकृति में माना जाय। आपदेव एवं लौगाक्षिभास्कर भी समस्त कार्यों के फल को ईश्वर में समर्पण कर देने की बात स्वीकार कर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते दिखते हैं।[1] प्रभाकर भी वैदिक वाक्यों से प्रमाणित किये गये ईश्वर को मानते है।, अनुभवगम्य ईश्वर को नीं, यही स्थिति प्रभाकर विजय के कर्ता की भी है।[2] मैक्समूलर के साथ-साथ पशुपतिनाथ शास्त्री का भी मानना है कि मीमांसकों ने ईश्वर के सृष्टिकर्ता रूप के विरुद्ध जो आपत्तियाँ की हैं, (कि उसमें क्रूरता पक्षपात आदि का दोष लग जाता है) उससे मीमांसा दर्शन निरीश्वरवादी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जैमिनि भी ईश्वर के पुरस्कारों का वितरण करने वाले रूप का तो खण्डन करते हैं, किन्तु ईश्वर के सृष्टि का सृष्टा होने का निषेध नहीं करते।[3] रही धर्म, अधर्म के आरोपण की बात, तो धर्म और अधर्म गुण रूप होने के कारण, अन्य आत्माओं में भले समवाय सम्बन्ध से रहें, किन्तु ईश्वर में नहीं रह सकते।[4] कुमारिल नैयायिकों के तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने, एवं वेदों को ईश्वर की कृति मानने की आलोचना करते हुए वेद को सृष्टि से पूर्ववर्ती मानते हैं।[5] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मीमांसा दर्शन देवों को स्थूल रूप में नहीं, अपितु मन्त्र रूप या यज्ञपुरुष में स्वीकार करता हैं। नैषधकार ने पूर्वमीमांसा दर्शन [6]के इसी मन्त्र रूप ईश्वरवाद का सन्दर्भ इन्द्र नारद संवाद के साथ-साथ स्वयंवर के अन्त में इन्द्रदेव द्वारा नल को कपटहित दौत्यकर्म के फलरूप में वरदान में दिया है जहाँ इन्द्र नल से कहते हैं कि "नल प्रत्यक्ष दिखायी पड़ने वाली मूर्ति धारण करके तुम्हारे यज्ञो मे दी हुई आहुतियों को हम ग्रहण करेंगे, क्योंकि साक्षात् रूप से हमारे द्वारा यज्ञों का उपभोग न देखकर (मीमांसकादि) विद्वानों का मन्त्ररूपात्मक देवताओं के अतिरिक्त हमारी सत्ता में भी सन्देह बना रहता है।[7] इस प्रकार यहाँ श्रीहर्ष ने मीमांसको के ईश्वर को मन्त्ररूप, अशरीरी, होने के साथ-साथ उनकी बहुदेववादी मान्यता का प्रतिपादन किया है।[8] जिसका खण्डन शंकराचार्य एवं रामानुज ने किया है क्योंकि रामानुज का मानना है कि ईश्वर का साकार रूप ही लोक जीवन में व्यवहरित नर नारियों की उपासना एवं भक्ति भावना के लिए युक्तियुक्त हो सकता है[9] परन्तु नैषधकार ने कुशद्वीपाधिपति के प्रसंग में मीमांसकों द्वारा ईश्वर के साकार रूप (शंकर) को न मानने की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन भी किया है[10] जब कि कुमारिल भट्ट ने श्लोक

---

1. ईश्वरार्पण बुद्धया क्रियामाणस्तु निःश्रेयसहेतुः, न च तदर्पणबुद्धयानुष्ठाने प्रभाणाभावः। "यत्करोषि यदश्नासीति" भगवद्गीतास्मृतेदेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाणस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्। मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ० 197, एवं द्रष्टव्य- अर्थसंग्रह, पृ० 196
2. एवं चानुमानिकत्वमेवेश्वस्य निराकृतम्, नेश्वरोऽपि निराकृतः। अत एव न प्रभाकरगुरुभिरीश्वरनिरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां क्रियत इत्यभिप्रेतम्-प्रभाकर विजय, पृ० 82
3. The six systems of Indian Philosophy-Maxmuller-chap, V., Introdution to the Purva Mimamsa, P.N. Sastri, P.3.
4. Prabhakar school of Purva Mimamsa-G.N. Jha, P.-80-87
5. श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार सूत्र 44-72, 14-116 एवं चोदनासूत्र 142।
6. नै० 5/39
7. प्रत्यक्षलक्ष्यामवलम्ब्य मूर्तिं हुतानि यज्ञेषु तवोपभोक्ष्ये। संशेरतेऽस्माभिरवीक्ष्य भुक्तं भखं हि मन्त्राधिकदेवभावे।। नै०4/73
8. मन्त्रादधिके देवेषु भावे विश्वासे सति। "मन्त्रमयी देवता" इत्येतत्पक्षापेक्षया प्रत्यक्षायां देवतायामधिकस्य मनोविश्वासस्य युक्त्वादित्यर्थः। अस्माभिरिति बहुबचनं देवतान्तराभिप्रायम्। नै० 14/73 नारायण
   - "अशरीरी देवता" इति मीमांसकाः, तत्संदेहनिवृत्यर्थं ते विग्रहं दर्शयिष्यामि, तेन भवतस्तादृशसंशयनिरासरूपलाभो भविष्यतीति भावः।। नै० 14/70 मल्लिननाथ
9. अत एव न देवता भूतं च। साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः। ब्रह्मसूत्र 1/3/27, 28 पर शांकरभाष्य एवं श्रीभाष्य द्रष्टव्य
10. वैदैर्वचोभिरखिलैः कृतकीर्तिरत्ने हेतं विनैवधृतनित्यपरार्थयत्नै ।
    मीमांसयैव भगवत्यमृतांशुमालौ तस्मिन्महीभुजितयानुमतिर्न भेजे ।। नै० 11/64

वार्तिक में शिव वन्दना की है, इससे यह प्रतीत होता है कि यहाँ श्रीहर्ष ने प्राचीन मीमांसा की विषयवस्तु को नैषध में जगह दी है। स्मरणीय है कि जहाँ मण्डन मिश्र,[1] वाचस्पति,[2] वात्स्यायन आदि ने ईश्वर की सत्ता का प्रतिषेध किया वहीं वैशेषिक के पार्थसारथिमिश्र[3] के साथ-साथ उदयन ने ईश्वर की सत्ता मानते हुए उसे भव या शिव नाम दिया है एवं मीमांसाको के ईश्वर विषयक मत का खण्डन भी किया है।[4] परन्तु नैयायिकों ने भी मीमांसको (कुमारिल) के ईश्वर विषयक मत का उल्लेख करते हुए उन्हें नास्तिक सिरोमणि की संज्ञा दी है।[5] सर्वमतसंग्रहकार के मत में मीमांसक न तो नैययिकों के ईश्वर विषयक मत को स्वीकार करते हैं न उपनिषदों के।[6]

मीमांसा दर्शन नैयायिकों के समान ईश्वर को न तो निमित्त कारण रूप में मानता है[7] और न ही वेदान्तियों के समान कर्म फल दाता रूप में[8] लेकिन जैमिनि धर्म या यज्ञ रूपी कर्म से ही फल प्राप्ति

---

1. न तावत् युगपदसंख्येयस्थावरादिलक्षणकार्यदर्शनादखिलविषयनित्यविज्ञानमात्रशाली षड्गुणः ईश्वरः सेद्धुमर्हति। मण्डनमिश्र, विधिविवेक- बनारस प्रकाश पृ० 216
2. विधि विवेक- न्यायकणिका टीका (वाचस्पतिमिश्र) बनारस प्रकाशप भदृन, पृ० 210
   - लब्धपरिपाकाऽदृष्टवत् क्षेत्रज्ञसंयोगादेव क्षित्यादि लक्षणकार्योत्पत्तावेकस्यापीश्वरस्यानुमाने तुल्यैवाऽनवस्थेत्यर्थः-विधिविवेक पर न्यायकणिका टीका, पृ० 233, बनारस प्रकाशन
   स्वार्थेपरानुग्रहे वा दुःखोत्तरसर्गदर्शनात् प्रयोजनाभावनिराकृतापि चैतन्यमात्रसिद्धिः स्यात्
   मण्डनमिश्र विधि विवेक, पृ० 222, जबकि वाचस्पति मिश्र ईश्वर को परानुग्रहस्वभाववाला भी बताते हैं वाचस्पति मिश्र-तात्पर्य टीका, पृ० 597, काथी संस्कृत सिरीज
3. वैशेषिक भी ईश्वर को शिव रूप मानते हैं किन्तु मीमांसक उनके मत को स्वीकार नहीं करते। द्रष्टव्य-श्लोक वार्तिक-सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लोक 66 में पार्थसारथि की व्याख्या
   विश्वेश्वर का मत है कि मीमांसक ईश्वर (शिव) के साकार रूप को नहीं मानते यथा-मीमांसका हीश्वरस्य विग्रहवत्त्वं नाङ्गीकुर्वन्ति। यही मान्यता पार्थसारथि मिश्र की भी है यथा-सोमस्य अर्ध स्थानं ग्रहचमसादि तद्धारिणे इति यज्ञपक्षेऽपि संगच्छते न्याय सू0 4/119-20 पर वा0भा0
   - मिथ्याशुक्ल रचित (12वीं शताब्दी के) लाटकमेलका में वर्णित शिव के स्वरूप का भी मीमांसकों द्वारा मान्य शिव रूप से विरोध दिखायी पड़ता है, क्योंकि इस नाटक में शिव कापालिक रूप में वर्णित हैं यथा- कोणस्थोऽपि पुरस्कृतोऽपि यजुषा गौरी भुजङ्गों मया। हव्याशाविकलः कपालिकधिया निष्कासितेः धूर्जटिः। द्वितीय अंक
4. उदयनाचार्य-न्यायकुसुमाञ्जलि-स्तवक-5, पृ० 76-77, चौखम्ब प्रकाशन
5. तदुक्तं भट्टाचार्यैः पयोजनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत्।। अत्रोच्यते। नास्तिकशिरोमणे तावदीर्ष्याकषायिते चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान्। माधवाचार्य कृत-सर्वदर्शन संग्रह, पृ० 255 पूना प्रकाशन
6. अथ तैस्तार्किकाभिमत ईश्वर एव निरस्तो नोपनिषदभिमतः क्षेत्रज्ञस्वरूप इतिचेत। तन्न कर्मैव देहिनामिष्टानिष्टफलदं नेश्वर'' इति वदतां वेदस्य धर्मैकनिष्ठतां चाभ्युपगच्छतां क्षेत्रज्ञस्वरूपस्येश्वरस्याकिञ्चित्करत्वात् प्रमाणप्रतिपन्नत्वाभावाच्च सर्वमतसंग्रह, प्रभाकरमीमांसा, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज-6
7. द्रष्टव्य न्या. कु.-5/1, ईश्वरः कारणम्, पुरुषकर्माफल्य दर्शनात्, न्या. सू. 4/1/19, तत्कारितत्वादहेतुः। 4/1/21
   - पराधीनपुरुषस्य कर्मफलाराधनम् इति, यदधीनं ईश्वरः। तस्यादीश्वरः कारणमिति। न्या.सू. 4/1/19 पर वा0 भा0
   - पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृहणाति, फलाय, पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति। न्या. सू. 4/1/21 पर वा. भाष्य
   - अतः परं प्रावादुकानां दर्शनान्युपन्यस्य कानिचित् प्रतिर्षिध्यन्ते, कानिचिदुपगम्यन्ते इति-उद्योतकर, न्या. वा 4/1/19
   - कारुणिकोऽप्ययं वस्तुस्वभावमनुविधीयमानो धर्माधर्मसहकारी जगद्वैचित्र्यं विधन्ते। वाचस्पतिमिश्र, तात्पर्य टीका, काशी, सं0 ग्रं, सि., पृ० 596
   - विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य, न्यायशास्त्रीय ईश्वरवाद-डॉ. किशोरनाथ झा, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1978
8. सापेक्षोहीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्-धर्माधर्भापेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्मा्धर्माधर्मापेक्षा विषया सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद द्रष्टव्यः- ब्र0 सू. 2/1/34 पर शांकर भाष्य।
   - एव जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्येषां शुभाशुभं विदध्यादिति श्लिष्यते। ननु कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव, जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे करोत्येव जीवः, कुर्वन्तं हि तमीश्वरं कारयति। ब्र0सू0 2/3/42 पर शांकर भाष्य
   - फलमत ईश्वरादभवितुर्महति वही। 3/2/38 पर शां0 भा0
   - श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे। वहीं 3/2/39 पर शां0 भा0
   - ईश्वरवस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम्- वही 3/2/40 शां0 भा0
   - वादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं न मन्यते.....धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्त्वे नेश्वरे हेतुव्यपदिश्यते, फलस्य च दातृत्वेन....... सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति। वही 3/2/41 एवं 2/3/42- 3/2/41 वेदान्तसूत्र पर भामती टीका भी द्रष्टव्य

मिलने का विधान करते हैं, उनके अनुसार यज्ञ से ही तत्तत्फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नहीं।[1] मीमांसकों नैयायिकों के सृष्टि को ईश्वरेच्छा या निमित्तकारणरूपता तथा वेदान्तियों के कर्मफलदाता रूप को अस्वीकार किया है, क्योकि मीमांसको के मतानुसार अपूर्व[2] के द्वारा ही जीव के कर्मो का फल सञ्चित होता रहता है जिससे जन्म तथा मरण का क्रम चलता रहता है। अतएव मीमांसक जीवों के कर्मों के फलदाता रूप में ईश्वर का निषेध करते हैं।[3] अपूर्व का मीमांसा दर्शन में जो स्थान है वहीं न्याय में अदृष्ट का है। किन्तु प्रसिद्ध नैयायिकों उद्योतकर वापस्पतिमिश्र. वात्स्यायन तथा अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य ने भी मीमांसको के अपूर्व को मान्यता न देकर ईश्वराधीन कर्मो एवं उनकी अदृश्य शक्ति को मान्यता देने के साथ-साथ, कर्मफलदाता रूप में भी ईश्वर को मान्यता दी है।[4] जबकि कुमारिल भट्ट का मानना हैं कि यदि जगत या सृष्टि का कारण ईश्वरेच्छा है, तब तो कर्म की कल्पना करना ही व्यर्थ है, और तब तो मनुष्य को होने वाले धर्माधर्म (पापपुण्य) के अनुभव भी ईश्वरेच्छा से ही होने चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि वह कर्म द्वारा ही धर्माधर्म एवं जगत की व्यावहारिकता की अनुभूति करता है।[5] नैयायिकों, वेदान्तियों एवं मीमांसकों की ईश्वर एवं कर्म सम्बन्धी विवेचना की संगति दमयन्ती के कथन में मिलती है, इन्द्रदूती द्वारा इन्द्र को वरण करने की प्रार्थना पर दमयन्ती की सखी कुछ बोलना ही चाहती थी, किन्तु दमयन्ती ने उसे बीच में रोककर कहा कि सखियों जब मानव बुद्धि अनादिकाल से प्रवाहित इस जन्ममरण की परम्परा के कारण भूत स्वयं के ही शुभाशुभ कर्मों के अधीन है, या ईश्वर के वशीभूत, तब फिर मानव (दमयन्ती), अपने किसी कार्य में कैसे उत्तरदायी ठहराया जा सकता? वह जो कुछ भी कर्म करता है, या तो ईश्वरेच्छा वश करता है या कर्मवश। अतः तुम लोग मेरे विषय में कुछ मत बोलो क्योंकि भाग्य कुछ नहीं है, ऐसा कहनेवाला व्यक्ति भी मुख श्रम रूप कर्म को भोगता है, अर्थात् कहने वाले का मुख तो

---

1. धर्मो जैमिनिरत एव- ब्र0 सू0 3/2/40
   – जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते। वही शां0भा0
2. यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिद्धयति। सूक्ष्म शक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवाप जायते।तन्त्रवार्तिक पृ० 395
3. लब्धपरिपाकादृष्टवत् क्षेत्रज्ञसंयोगादेव क्षित्यादि लक्षणकार्योत्पत्यावेकस्यापीश्वरस्यानुमाने तुल्यैवानवस्थेत्यर्थः। विधि विवेकः न्यायकणिका टीका, पृ० 223
   – कस्यचिद्धेतुमात्रत्वं यद्यधिष्ठातृतेष्यते। कर्मभिः सर्वजीवानां तत्सिद्धेः सिद्धसाधनम्। इच्छापूर्वकपक्षेऽपि तत्पूर्वत्वेन कर्मणाम्। इच्छानन्तरसिद्धिस्तु दृष्टान्तेऽपि न विद्यते।। श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहारः, श्लोक 75, 76, पृ० 467, 468
4. बुद्धिमत कारणाधिष्ठिताः परमाणवः कर्माणि च प्रवर्तन्त इति। न्याय0 वार्तिक पृ० 460
   नास्य पारमार्थिकं रूपमाश्रित्यतच्चिन्त्यते किन्तु सांख्यावद्वारिकम् वेदान्त सूत्र 3/2/38 भामती टीका
   – अपूर्वस्य चेतनस्य काष्ठलोष्ट समस्य चेतने नाप्रवर्तितस्य प्रवृत्यनुपपत्तेः। ब0 सू0 -3/2/38 पर शां0 भा0, परन्तु शंकराचार्य के मत में कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था अपूर्व कहलाती है-यथा- न चाप्युत्पाद्य किमपि अपूर्वम्, कर्मविनश्यत्, कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति, अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था, फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वनामास्तीति तर्क्यते। ब्र0 सू0 3/2/40 शां0 भा0
   – कारुणिकोप्ययं वस्तुस्वभावमनुविधीयमानो धर्माधर्मसहकारी जगद्वैचित्र्यं विघत्ते। वाचस्पति, तात्पर्य टीका- पृ० 596
   – जैमिनि सूत्र के व्याख्याता शबरस्वामी के अनुसार मीमांसाशास्त्र निरीश्वरवादी है। वह न ईश्वर को मानता है और न जगत के सर्ग और प्रलय को । इस अंश में वह जैन मत के बहुत समीप है, किन्तु कुछ व्याख्याता (या परवर्ती मीमांसक) मीमांसाशास्त्र को ईश्वरवादी, और उसमें जगत के सर्ग और प्रलय को स्वीकार करते हैं। शाबर भाष्य के मतानुयायियों में भाट्टमत, गुरुमत एवं मिश्र मत प्रसिद्ध हैं और ये अपने-अपने ढंग से शाबरभाष्य की व्याख्या करते हुए, उसकी कठोर आलोचना भी करते हैं। द्रष्टव्य- जैमिनीय मीमांसा भाष्यम्, प्रथम भाग, व्याख्याकार-युधिष्ठिर मीमांसक, भूमिका-पृ०5
   – पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृहणाति फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति। न्या.सू. 4/1/21
5. ईश्वरेच्छा यदीष्येत सैव स्याल्लोककारणम्। ईश्वरेच्छावशित्वे हि निष्फला कर्म कल्पना।। श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहारः- श्लोक,72
   – स्वाधीनत्वाच्च धर्मादेस्तेन क्लेशो न युज्यते। तद्वशेन प्रवृत्तौ वा व्यतिरेकः प्रसज्यते।। वही श्लोक-83

दुःखता ही है, लेकिन उसका कुछ फल नहीं निकलता[1] यहाँ नैषधकार ने उपर्युक्त तथ्य के साथ-साथ इस तथ्य का भी वर्णन किया है कर्मों (अपूर्व या अदृष्ट) का फल भोग अवश्यमेव प्राप्त होता है।[2]

मीमांसा दर्शन में वेदों का प्रामाण्य निर्धारण करने के लिए प्रमा, प्रमाण एवं प्रामाण्य का भी विशद विवेचन मिलता है। इस दर्शन के अनुसार प्रमा या यथार्थज्ञान अज्ञाततत्त्व का अर्थज्ञान कराने वाला, दूसरे प्रमाणों से अबाधित एवं निर्दोष ज्ञान है, और ऐसे अनधिगत अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला करण प्रमाण है।[3] स्मृति तथा संशय आदि को यह दर्शन प्रमा नहीं मानता। वास्तव में प्रमा या यथार्थ ज्ञान के कारण को प्रमाण कहा जाता है, किन्तु नैयायिक जहाँ प्रमा के अत्यन्त साधक (साधकतम्) को प्रमाण मानते हैं, वहीं मीमांसक अनधिगतार्थ ज्ञापक को प्रमाण कहते हैं।[4] परन्तु स्मरणीय तथ्य यह है कि मीमांसा दर्शन प्रमा एवं प्रमाण दोनों को एक रूप में स्वीकार करता हैं। मीमांसा दर्शन में प्रमाणों की संख्या वैसे तो छैः मानी गयी है प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, एवं अभाव या अनुपलब्धि[5] परन्तु इनमें जहाँ जैमिनि प्रथम तीन प्रमाण ही मानते हैं, वहीं प्रभाकर प्रथम पांच प्रमाण मानते हैं, अनुपलब्धि को प्रभाकर मीमांसा में स्वीकार नहीं किया गया है, तथा कुमारिल भट्ट (भाट्ट मीमांसक) छैः प्रमाण स्वीकार करते हैं जैसा कि उत्तरमीमांसा या वेदान्त स्वीकार करता है। अर्थापत्ति को मीमांसा दर्शन के दोनों प्रधान दार्शनिक कुमारिल एवं प्रभाकर स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। शवरमुनि के शब्दों में "दृष्ट या श्रुत अर्थ की उपपत्ति जिस अर्थ के अभाव में न हो सके, उस अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं [6] अर्थात् अर्थोपपत्ति हेतु अर्थान्तर की कल्पना ही अर्थापत्ति कहलाता है। यथा - जीवित देवदत्त घर में नहीं है, इस वाक्य के दो तथ्यों उसके जीवित होने तथा घर में न होने में जो असंगति या विरोधाभास की अनुभूति होती है, उसका निराकरण "देवदत्त दिन में भेजन नहीं करता फिर भी मोटा है", उसके मोटापे की कल्पना रात्रि के भोजन से कर ली जाती है और यहीं अर्थान्तर कल्पना ही अर्थापत्ति कहलाती है। नैषधीयचरितम् में अर्थापत्ति प्रमाण की संगति कलिप्रतिनिधि के तथ्यों[7] का खण्डन करते हुए इन्द्र के कथन में देखने को मिलती है, जहाँ इन्द्र कहते हैं कि हे नास्तिकों पति सहवास के होने पर भी गर्भ आदि का धारण होना अनिश्चित होने से आक्षिप्त (अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध) कर्म (धर्माधर्मरूप जन्मान्तरीय अदृष्ट) तुम लोगों के मर्म (हृदय) का भेदन क्यों नहीं करता।[8] नैषध के प्राचीन टीकाकार आचार्य मल्लिनाथ एवं नारायण भी उपर्युक्त संदर्भ में अर्थापत्ति प्रमाण के साथ-साथ न्याय के अदृष्ट के विवरण देने के नैषधकार के विवरण की पुष्टि करते हैं।[9] अर्थापत्ति प्रमाण दो प्रकार का होता है- (१) दृष्टार्थापत्ति (२) श्रुतार्थापत्ति।

---

1. अनादिधाविस्वपरम्परायाः हेतुस्रजस्स्रोतसि वेश्वरे वा।
   आयन्तधीरेषजनस्त्वदार्याः! किमीदृशः (पर्यनुयुज्म कार्यः) पर्यनुयोगयोग्यः।। नै० 6/102
   – नित्यं नियत्या परवत्यशेषे कः संविदानोऽप्यनुयोगयोग्यः।
   अचेतना सा च न वाचमर्हेद्वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते।। नै० 6/103
2. पर्यभूद्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह तेन सदा तम्। पर्यभूत् खलु करैर्द्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते।। नै० 5/6
3. कारणदोषबाधकरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्। शास्त्रदीपिका, 1/1/2, पृ० 45
4. प्रमाणकरणमेवात्र प्रमाण तर्कपक्षवत्। प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमेवात्र विद्यते।। मानमेयोदय, पृ०2
5 प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमितिस्तथा। अर्थापत्तिरवाश्च षट्प्रमाणानि मादृशाम्।। मानमेयोदय, पृ०7
6. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थ कल्पना। शाबर भाष्य 1/1/5,
   – विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य, The six ways of Knowing - D.M. Datta, Book. V, P. 235 ..... 246, शास्त्रदीपिका, पृ० 76.........83, प्रकरणपंचिका, पृ० 113........118.
7. मृते कर्मफलोर्मयः – नै० 17/53
8. सत्येव पतियोगादौ गर्भादेरध्रुवोदयात्। अक्षिप्तं नास्तिकाः कर्म न किं मर्म भिनत्ति वः ।। नै० 17/89
9. आक्षिप्तम् अर्थापत्तिसिद्धम्, अर्थापत्तिप्रमाणसिद्धं स्त्रीपुरुष सहवाससादिरू पदृष्टकारणक लापसद्भावेऽपि गर्भोदयादिरुपकार्यस्य कादाचित्कत्वं धर्माधर्मरूपादृष्टकारणं विनाऽनुपपन्नम् इत्यनुपपत्तिज्ञानरूपादर्थापत्तिप्रमाणात प्रमितिमित्यर्थः।... एतेनैव अदृष्टमस्तीति बोधव्यम् इति भावः। नै० 17/88, मल्लिनाथ
   – तस्माल्लोकप्रवादपारम्पर्यादर्थापत्तिरदृष्टं कारणान्तरमङ्गीकरणीयम्।। नै० 17/89, नारायण

द्वितीय उदाहरण दृष्टार्थापत्ति का है। श्रुतार्थापत्ति दो प्रकार का होता है। अभिधानानुपपत्ति, एवं अभिहितानुपपत्ति। श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण जीवित देवदत्त का घर में न होना है। जहाँ एक वाक्य के एक देश का श्रवण होने पर उसके अन्वयाभिधान की अनुपपत्ति हो वहाँ अभिधानानुपपत्ति होती है जैसे "द्वारं", पद को सुनकर'' पिधेहि या अनावृतं ''पद का व्यवहार आवश्यक होता है, एवं ''विश्वजितं यजेत को सुनकर स्वर्गकामो'' पद का अध्याहार कर लिया जाता है। अभिहितानुपपत्ति वहाँ होती है जहाँ वाक्य से अवगत अर्थ अनुपपन्न होने के कारण अर्थान्तर की कल्पना करनी हो। यथा - स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत् में स्वर्ग साधनत्व अवगत हो रहा है, एवं यहाँ योग के क्षणिक होने से उसमें अवगत स्वर्ग साधनता अनुपपन्न होने से मध्यवर्ती "अपूर्व" की कल्पना की जाती है। नैषध के उपर्युक्त संदर्भ में दृष्टार्थापत्ति का प्रसंग माना जा सकता है।

मीमांसा दर्शन की ज्ञानमीमांसा (प्रामाण्यवाद) का अप्रतिम महत्व है। यह दर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करता है। मीमांसा दर्शन वेद को नित्य, अपौरूषेय तथा स्वतः प्रमाण मानता है। साथ ही वह वेद को मनुष्य या ईश्वर किसी की भी रचना नहीं मानता, उसके मत में वेद अनादिकाल से गुरुशिष्य परम्परा से अखण्ड रूप से सुरक्षित चले आ रहे हैं।[1] वेदों की अपौरुषेयता एवं प्रामाणिकता का प्रतिपादन विभिन्न सन्दर्भ स्थलों में श्रीहर्ष ने भी किया है।[2] रही प्रामाण्य निर्धारण की बात, तो दार्शनिक शब्दावली में यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं, और प्रमा में रहने वाला धर्म ही प्रामाण्य या प्रमात्व कहलाता है, एवं यथार्थ अनुभव में न रहने वाला धर्म अप्रामाण्य कहलाता है। प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के विषय में विभिन्न दर्शन अलग-अलग मत के प्रतिपादक हैं[3] जिसमें मीमांसा दर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः अप्रामाण्यवाद को स्वीकार करता है, जब कि नैयायिकों के अनुसार प्रामाण्य परतः, अप्रामाण्य परतः, सांख्यों के अनुसार, प्रामाण्य स्वतः, अप्रामाण्य स्वतः, तथा बौद्धों के अनुसार प्रामाण्य स्वतः, एवं अप्रामाण्य परतः स्वीकार किया जाता है। चूँकि मीमांसक विद्वान् वेद की सार्थकता अज्ञात रहस्य के प्रतिपादन में मानते हैं[4] एवं उनके लिये वेद ही प्रमाण हैं, इसलिये उनकी ज्ञानमीमांसा स्वतः प्रामाण्यवाद कहलाती है[5] जिसके अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः प्रकाश्य होता है, उसे प्रमाणित करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इनके मत में ज्ञान का प्रामाण्य उसके कारण सामग्री में ही विद्यमान रहता है एवं ज्ञान उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है। यथा- प्रामाण्यं स्वतः उत्पद्यते, प्रामाण्यं स्वतः ज्ञायते च।'' इस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः होती है। श्रीहर्ष ने मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद का प्रसंग दमयन्ती के विरह में पीड़ित नल के कथन में किया है, जहाँ नल हंस को इस स्थिति से उबारने के

---

1. जैमिनि सूत्र 1/1/27........32
2. मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।
   निशोऽपि सोमेतरकान्तशंकामोंकारमग्रेसरमस्य कुर्याः ।। नै० 3/75
   – मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कःस किं तत्फलवाचि मूकः।
     अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु.।। नै० 3/78
   – वेदोऽपि देयकीयाज्ञा........ नै० 17/59
   – वेदस्य भागं मन्यध्व नै० 17/60, आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमेतदर्थानाम् इत्याशयः।
   – श्रुतिं श्रद्दत्थ - नै० 17/61
   – को हि वेदास्त्यमुन्मिष्वा लोक इत्याह या श्रुतिः नै० 17/62, कोहि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा "इति दिक्ष्वतीकाशान्करोति" इत्यादिर्या श्रुतिः।
   – लोकत्रयीं त्रयीनेत्रां वज्रवीर्यस्फुरत्करे। नै० 17/85
3. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः।।
   प्रथमं परतः प्रामाण्यं वेदवादिनः। प्रामाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।। मध्वाचार्य, सर्वदर्शन संगंह, पृ० 557
4. 'अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत्' इति न्यायविदः - मीमांसा भाष्य, विधिनिरूपण
5. श्लोक कार्तिक, 2/1/1

लिये अपना अवलम्ब बनने को कहता है, साथ ही यह भी कहता है कि स्वतः इस कर्म के लिये उद्यत आपको लगाना मेरा पिष्टपेषण मात्र है, क्योंकि ज्ञान के प्रमाण के समान सज्जन स्वयमेव (बिना किसी की प्रेरणा किये ही परोपकारी होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे यथार्थज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।[1] आचार्य मल्लिनाथ भी उपर्युक्त संदर्भ में मीमांसकों के स्वतः प्रमाण्यवाद का संदर्भ रखते हुए कहते हैं कि स्वतः प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः। हि यस्माद् ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता याथार्थ्यं यथा प्रामाण्यमिव स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिव गृह्यतां जाता मनीषा स्वत एव मानमिति मीमांसकाः। सतां परार्थता परार्थप्रवृत्तिः स्वत एव न तु परतः।[2]

~~नास्यायम की भी यही सम्मति है।~~[3] कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर[4] दोनों बाह्यार्थवादी हैं, एवं दोनों के मत में ज्ञान स्वतः प्रकाशित होता है, लेकिन कुमारिल जहाँ अनुभूति या स्मृति को प्रमाण नहीं मानते[5] वहीं प्रभाकर स्मृति को अनुभूति से भिन्न मानता है।[6] मीमांसकों के अनुसार अप्रामाण्य परतः होता है, क्योंकि यथार्थज्ञान तो स्वयं सिद्ध होता है, परन्तु जब यथार्थ ज्ञान के उत्पादक कारणों में यदि दोष दिखलायी पढ़जाये, तो हमें पूर्व निश्चय को छोड़ देना पड़ता है और हम अपने पूर्व ज्ञान को अयथार्थ या अप्रामाणिक कहने लगते हैं स्पष्ट है कि ज्ञान के उत्पादक कारणों के दोषपूर्ण रहने पर ही ज्ञान की अयथार्थता होती है इसे सिद्ध करने के लिये हमें अनुमान के रूप में बाह्य साधन को ग्रहण करना पड़ता है, यही मीमांसा का परतः प्रामाण्यवाद कहलाता है। प्रामाण्यवाद के संदर्भ में नैयायिकों एवं मीमांसकों में बल विरोध की स्थिति दिखायी पड़ती है, जब कि दोनों अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करते हैं, लेकिन स्वतः प्रामाण्यवाद में नैयायिकों का मानना है ज्ञान होने पर भी उसकी यथार्थता को हमें अनुमान से जानना पड़ता है अतः प्रमाण्य परतः' होता है न कि स्वतः[7] जब कि मीमांसक असकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि फिर अनुमान की यर्थाथता के लियेदूसरे अनुमान की एवं दूसरे अनुमान की यथार्थता के लिए तीसरे अनुमान की शरण लेनी पड़ेगी, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा, अतः स्वतः प्रामाण्य ही दोष रहित होने से स्वीकरणीय है।[8] यदि स्वतःप्रामाण्य वाद की भी सूक्ष्ममीमांसा कीजाये, तो जहाँ प्रभाकर इसमें त्रिपुटीप्रत्यक्ष की संगति करते दिखते हैं,[9] वहाँ कुमारिल ज्ञाततावाद की[10], तथा मुरारिमिश्र न्याय दर्शन से प्रभावित दिखते हैं, उनके अनुसार ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण में इन्द्रिय संयोग के अनन्तर उत्पन्न होने वाला अनुव्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रामाण्य का उत्पादक होता है।[11] तीनों विद्वानों के विचारों के समीक्षोपरान्त

---

1. अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः। स्वतः एव सतां परार्थता ग्रहणानां द्वि यथा यथार्थता।। नै० 2/61
2. नै० 2/61, मल्लिनाथ
3. यथा ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता प्रामाण्यं स्वत एवं। ज्ञानं स्वतः प्रमाणमिति मीमांसकाः। यद्वा, गृह्यते ज्ञायतोऽर्थो यैस्तानि शब्दास्तेषां यथार्थतानुगतार्थता स्वत एव। 'वृक्ष' शब्दोच्चारणमात्रे मूलशाखापत्रादि प्रत्यक्षमिव स्फुरति यथा तथा सतो नाम मात्रे गृहीते तेषां परोपकारित्वं स्फुरत्येव। नै० 2/61, नारायण
4. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते।। श्लोकवार्तिक 2/47
   - तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धाः प्रमाणता – वहीं 2/53
   - तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति। ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाण पतीयताम्।। वही 2/80
   - स्वतः एव यदुपपद्यते न तत्र परापेक्षा युक्ता। मेयानां मातुश्च स्वतः प्रकाशो नोपपद्यत इति युक्ता तयोः परापेक्षा। मितौ च काचिदनुपपत्तिर्नास्तीति स्वयं प्रकाशैव मितिः। प्रकरणपञ्चिका, पृ० 57
5. प्रकरणपञ्जिका, पृ० 42, 43, 127
6. शास्त्रदीपिका, पृ० 45
7. न्यायकन्दली, पृ० 91
8. शास्त्रदीपिका, पृ० 213–214
9. तन्त्ररहस्य, पृ० 5...8, प्रकरणपञ्जिका, पृ० 38-53 शास्त्रदीपिका, पृ० 213-214, न्यायकन्दली, पृ० 91
10. न्यायरत्नमाला, पृ० 31-35, शास्त्रदीपिका पृ० 97........106, मानमेयोदय, पृ० 1-6
11. मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रहः इति मुरारिमिश्राः - वर्धमान, कुसुमाञ्जलि प्रकाश, पृ० 219

मथुरानाथ तर्क वागीश का मानना है, प्रभाकर का प्रामाण्यवाद (स्वतः प्रामाण्यवाद या त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद) ही सर्वश्रेष्ठ है।[1]

मीमांसा दर्शन में यथार्थ ज्ञान के विवरण के साथ-साथ (अयथार्थानुभव) मिथ्याज्ञान या भ्रम का विवेचन भी प्राप्त होता है। भ्रम विवेचन के संदर्भ में जहाँ प्राचीन सांख्य एवं रामानुज सत्ख्यातिवाद के, न्याय अन्यथाख्यातिवाद के, उत्तरसांख्य तथा जैन दर्शन सदसत्ख्याति के, बौद्ध विज्ञानवाद विज्ञानख्यातिवाद (आत्मख्यातिवाद), शून्यवादी दार्शनिक शून्यताख्यातिवाद (असत्ख्यातिवाद) एवं अद्वैत वेदान्ती अनिवर्चनीयख्यातिवाद के पोषक हैं, वहीं मीमांसा दर्शन के भ्रम सम्बन्धी निरूपण में दो मत हैं,प्रथम कुमारिल भट्ट जिनका भ्रम सम्बन्धी विवेचन विपरीत ख्यातिवाद कहलाता है, क्योंकि उनके मत में भ्रम भेदग्रह या अज्ञान मात्र नहीं है, अपितु विपरीतग्रहण या या अन्यथाग्रहण या मिथ्याज्ञान है एवं मीमांसक व्याधिकरणधर्म - तादात्म्य प्रतीति को ही भ्रान्ति या भ्रम कहते हैं।[2] यथा - शुक्ति में रजत का ज्ञान, दोनों के अंशों को मिलाने से होता है जब कि दोनों अलग-अलग स्थानों पर सत् हैं, परन्तु दोनों को एक मान लेने की दशा में भ्रम या विपर्यय के कारण विपरीत विषय का यथार्थ अनुभव होने लगता है[3] जब कि प्रभाकर, कुमारिल के विपरीत भ्रम को एक ज्ञान न मानकर, दो ज्ञानों अर्थात प्रत्यक्ष एवं स्मृति का योग मानते हैं। यथा- "इदं रजतम्" में यदि इदं अंश प्रत्यक्ष जन्य है जबकि रजतम्- स्मृतिजन्य, परन्तु स्मृति प्रमोष के कारण विवेकाग्रह होता है[4] एवं इसके कारण ही हमें "इदं रजतम्" की प्रतीति होती है, परन्तु विवेकाग्रह (दोनों में भेद न कर पाने का सामर्थ्य) के आभाव में हमें भ्रम होता है, वस्तुतः भ्रम की सत्ता नहीं होती, यह तो ज्ञान का अभाव या अख्याति है। प्रभाकर का भ्रम सम्बन्धी यह मत अख्यातिवाद कहलाता है। वह भ्रम या विपर्यय की सत्ता भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसके मत में ज्ञान मात्र ही यथार्थ होता है, भ्रम तो अज्ञान मात्र है।[5] प्रभाकर के अख्यातिवाद सिद्धान्त की संगति दमयन्ती के अन्तःपुर में नल की उपस्थिति वर्णनप्रसंग में द्रष्टव्य होती है, जहाँ नल सर्वत्र दमयन्ती को ही भ्रांतिवश देखते थे, एवं दमयन्ती भी प्रेमविह्वलता के कारण सर्वत्र नल के दर्शन कर रही थी, दोनों एक दूसरे के समीप न होते हुए भी भ्रान्ति या कल्पित रूप को सत्य समझते हुए एक दूसरे का (कल्पना में) आलिंगन भी कर रहे थे।[6] नैषधकार ने उन दोनों के आलिंगन को प्रभाकर के अख्यातिवाद के आधार पर रखना चाहा है[7] एवं चाण्डू पण्डित ने प्रभाकर मत के अनुसार इस संदर्भ की विशद् व्याख्या की भी है।[8]

---

1. स्वतः स्वाश्रयजनकसामग्रीतः। स्वं प्रमात्वम्। एतच्च गुरूमते।
   परतः तदन्यसामग्रीतः, एतच्च मिश्रमत भट्टमतन्यायमतेषु।। चिन्तामणिरहस्य, पृ० 117
2. शा.दी. – पाथसारथि मिश्र - तर्कपाद, पृ० 57
3. यादृशं हि ज्ञानस्य स्वरूपं तादृशमेवाहर्थेऽध्यारोपयतीति यावत् -श्लोकवार्तिक 2/85 पर भाष्य एवं द्रष्टव्य पृ० 242 ..246
– सर्वत्र संसर्गमात्रमसदेयावभासते, संसगिर्णस्तु सन्त एवं सेयं विपरीतख्यातिरित्युच्यते मीमांसकैः शास्त्रदीपिका, पृ० 58
4. ऋजुविमला , पृ० 19-20
5. रजतमिदमिति नैकं ज्ञानम्, किन्तु द्वे एते विज्ञाने। तत्र रजतमितिस्मरणं तस्याननुभवरूपत्वान्न प्रामाण्यप्रसंगः। इदमिति विज्ञानमनुभवरूपं प्रमाणमिष्यत एव। भ्रान्तिरूपता चात्र रजतज्ञानस्य स्मरणरूपस्यैव ग्रहणव्यवहारप्रवर्तकतया व्यवहारकाले विसंवादकत्वात्। प्रकरणपंञ्जिका, पृ० 43 एवं द्रष्टव्य, तन्त्र रहस्य पृ० 2.....5, नयविवेक, पृ० 86.....93, श्लोकवार्तिक, पृ० 242.....246, शास्त्रदीपिका, पृ० 58-59
6. विशद व्याख्या हेतु द्रष्टव्य नै० 6/51, नारायण एवं मल्लिनाथ की टिप्पणी
7. अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपिदेशे।
   आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते।। नै० 6/51
8. अयमर्थः .... तत्पूर्वमन्यत्र नले न क्वापि सत्यालिङ्गनमनुभूतं गृहीतम्। दमयन्त्या च सखीभिः सहालिङ्गनमनुभवगृहीतम्। तदेवेदम् अध्युषित देशेस्मृतम्। अतोन्योन्यालिङ्गनग्रहणज्ञानं चोभयमपि तथ्यमेव न तु मिथ्या। अतस्तथ्यो मिथः परिष्वङ्गः स्मरण ज्ञानस्य अबाधितत्वात् इति मीमांसकैक देशिनां प्राभाकरणामाशयः। अतोन्योन्यपरस्परमिश्रशब्दानामपौनरुक्त्यम्। अन्योन्यशब्दः एकः पूर्वानुभूताश्लेषवाची। अपरः परस्पर शब्दः पुरोवर्तिनि देशे स्मरणज्ञान वाचकः। तृतीय अपरवादिनां सम्प्रतिपन्नाम् अलीकतां भ्रान्तिसंज्ञामनूद्य ग्रहणस्मरण ज्ञानयोरेकत्रमेलकः चतुर्थोमिथः शब्दः प्राभाकरसिद्धान्तसिद्धां प्रतिज्ञां प्रतिपादयति। अतः सर्वप्रकारेण तथ्यं मिथस्तौपरषिस्वजाते। नै० 6/51 चाण्डू पण्डित

उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शन

श्री हर्ष ने उत्तरमीमांसा दर्शन की विषयवस्तु को भी नैषध में जगह दी है, एवं सरस्वती के रूप वर्णन प्रसंग में ब्रह्मकाण्ड के रूप में उसे मान्यता भी दी है।[1] वैसे तो नैषधकार ने लगभग सम्पूर्ण दर्शनों की विषयवस्तु को अपने इस महाकाव्य में विवेचन का विषय बनाया है, किन्तु वास्तव में वह अद्वैतवेदान्त दर्शन के समर्थक थे, एवं नैषध में उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक विष्णु के दत्तात्रेय रूप का वर्णन भी किया है[2] साथ ही अद्वैत वेदान्त के मण्डन के लिए उन्होंने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रंथ भी लिखा है जिसमें न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन का विशेष रूप से खण्डन वर्णित मिलता है एवं इसी कड़ी में उनका अंतिम अप्राप्य ग्रंथ ईश्वराभिसन्धि भी माना जा सकता है। बहुत कुछ संभव है कि उनके पिता श्रीहीर, जो अद्वैतवेदान्त के ख्यातिलब्ध मनीषी थे, उदयनाचार्य नामक नैयायिक से पराजित होने पर अपनी जीवनलीला ही समाप्त कर ली, शायद इसीलिए सम्पूर्ण दर्शनों के आधिकारिक विद्वान् होने के बावजूद भी श्रीहर्ष ने अद्वैत वेदान्त के मण्डन की ही राह चुनी हो। प्रख्यात समालोचकों एवं संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञों की सम्मति में भी वे (अद्वैत) दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित घोषित किये गये हैं।[3] वैसे वेदान्त दर्शन के मूल आधार प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता एवं उपनिषद्) के ग्रंथ हैं। इनमें उपनिषदें मुख्य है, और शेष दो उन्हीं पर आधारित माने जाते हैं। उपनिषदों में जहाँ सांख्यादि द्वैतपरक दर्शनों के बीज सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं, वहीं वेदान्त दर्शन के बीज भी उपनिषदों में प्राप्त होते हैं इसीलिए शंकराचार्य ने अनेक स्थलों पर इसे औपनिषद् दर्शन की संज्ञा भी प्रदान की है जिनमें वेदान्त शब्द ही सर्वप्राचीन माना जाता है।[4] उपनिषद् ऐकात्मवाद के पोषक हैं। महर्षि वादरायण ने उपनिषदों के सिद्धान्तों को सूत्र बद्धकर ब्रह्मसूत्र की रचना[5] की, जिसे भिक्षु सूत्र, वेदान्तसूत्र, शारीरक सूत्र, शारीरक मीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। उत्तरमीमांसा में उपनिषत्प्रतिपाद्य जीव और ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन, जगत की स्थिति, एवं मोक्ष आदि पर सूक्ष्मरूप से दृष्टि डाली गयी है उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शन उपनिषदों को ही प्रमाण रूप से

---

1. ब्रह्मार्थकर्मार्थक वेद भेदात् द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्यदेहम्।। नै० 10/81 पूर्वार्द्ध
2. सन्तमद्वयमयेऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोर्जनबीजम्। नौमियोगजयितानघसंज्ञं त्वामलर्कभवमोहितमोर्कम्।। नै० 21/93
3. He was a logician and Philosopher and the Idea of those sciences are often imported in to his discriptions-M. Krishnemachariar-History of classical sanskrit Literature, Para-75
   — He was also author of other works, includings the khandanakhandakhadhya in which he establishes the reasonableness of the vedanta by showing that all attempts at obtainiong certainty are fall acioनै० A.B. Keith- A History of sanskrit Literature, P-140.
   — He was probably also a logician and Philosopher, and wrote the vedantic treatise Khandana-Khanda- Khadhya, for, apart from the mention of the work (Vi-113) and of His labours in the science of logic (x-137) in two epilogue- stanza, the Naisadha carita itself passes in review a number of philosophical doctrines including those of the Budhists, Jaines and carvakas. S.N. Das Gupta & S.K. Day H.S.L. P-326.
   – सर्वशास्त्रावगाहिबुद्धिरयं सिद्धहस्तकविस्तर्कंकलायामप्यतितरां निष्णात आसीत्। यथा च तस्य खण्डनखण्डखाद्याभिधाद् ग्रन्थरत्नाद् विज्ञायते-सन्दर्भोऽयं वादिजनविजिगीषूणांमत्यन्तहितावहितया तर्कप्रबन्धान्तरवैलक्षण्येन च परां ख्याति प्राप।- द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, संस्कृत साहित्य विमर्शः पृ० 468
   – श्रीहर्ष का दार्शनिक ज्ञान नितान्त प्रौढ़ तथा उच्चकोटि का है। संस्कृत साहित्य में श्रीहर्ष में कवित्व तथा दार्शनिकता का, प्रतिभा तथा पाण्डित्य का मंजुल सम्मिलन है। नाना दर्शनों के विषय में उनका ज्ञान चतुरस्र था। वे अद्वैतवेदान्त के प्रौढ़ आचार्य हैं, जिनका खण्डनखण्डखाद्य, नव्य न्याय की शास्त्रीय शैली में लिखा गया अद्वैत वेदान्त का चूड़ान्त ग्रंथ है। श्रीहर्ष का दार्शनिक दृष्टिकोणपूर्ण अद्वैती है। -आचार्य बलदेव उपाध्याय, सं.सा.का इति., पृ० 230
4. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः-मुण्डक उप. 3/2/5
   – वेदान्ते परमं गुह्यम्-श्वेता.उप. 6/22
   – यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः। महानारायण. उप. 10/8
5. वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम् शारीरक भाष्य, 1/1/2

स्वीकार करता है।[1] वेदों के अंतिम भाग (उपनिषद्) में वेद (ज्ञान) का अन्त अर्थात्, पराकाष्ठा या चरमोत्कर्ष होने के कारण, या वेद के दो भागो कर्मकाण्ड एवं ज्ञान काण्ड में उत्तर भाग अर्थात्, ज्ञान काण्ड की पराकाष्ठा मानने के कारण उत्तरमीमांसा को वेदान्त भी कहा जाता है। विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी विचारधाराओं[2] या सिद्धान्तदृष्टियों,से वेदान्त की जो मीमांसा की है, उनके परिणाम स्वरूप प्रमुख रूप से निम्नलिखित शाखायें सामने आयीं, वे हैं- शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, वल्लभ का शुद्धादैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, चैतन्य महाप्रभु का अचिन्त्यभेदाभेदवाद।[3] आचार्य सुरेश्वर की तो यहाँ तक मान्यता है कि सभी शास्त्रों की प्रवृत्ति आत्मज्ञान को प्रकट करने के लिए है, अतः आत्मविद्या या वेदान्त ही सभी शास्त्रों का प्रयोजन है[4] साथ ही जीव और ब्रह्म की एकता रूप प्रमेय का प्रतिपादन, तथा मोक्ष वेदान्त का अंतिम ध्येय है।[5]

नैषधकार ने उपनिषदों में वर्णित विषय सामग्री का विवरण राजकुमारों के बीच स्वयंवर सभा में आयी हुई दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में दमयन्ती को उपनिषद् (विद्या) के समान, दृष्टिगोचर होने में दिया है।[6] वे लिखते हैं कि जिस प्रकार परम रहस्यमयी और शुभ अंगों से युक्त उपनिषद् (विद्या) पृथ्वी,जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, तथा मन एवं नित्य पदार्थ, सामान्य (जाति) विशेष, तथा समवाय, और पञ्च संख्या युक्त कर्म तथा गुणों का निषेध करके अवाङ्मनसगोचर, चैतन्य-घन, असीम आनन्दमय, परमपुरुष (परब्रह्म) रूपी एक मात्र अद्वैत तत्त्व को लक्ष्य करके उसका प्रतिपादन करती है, एवं इस रूप में वह ब्रह्मपरक ही स्वयं को प्रदर्शित करती है, उसी प्रकार नल में गूढ़ प्रीति रखने वाली तथा सुन्दर अंगों वाली उस दमयन्ती ने भी, चित्त में (दमयन्ती) विवाह की आशा लेकर, स्वयंवर में पधारने वाले, तेजस्वी, अनुपम, गुणशाली असंख्य नरेन्द्रों एवं देवताओं का निराकरण करके अवर्णनीय रूप वाले

---

1. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्तसार, पृ० 39
2. त्रयीसांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति, प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
   रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनाना पथजुषां, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।। पुष्पदन्त, महिम्न स्तोत्र-7
3. वेदान्त के प्रमुख ग्रंथ, बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर अपने मतों के प्रतिपादनार्थ जो भाष्य लिखे हैं, उनमें उपलब्ध भाष्य निम्नलिखित हैं-
   1. शंकराचार्य-कृत शारीरक भाष्य (अद्वैतवाद का प्रवर्तन)
   2. भास्कराचार्य कृत भास्कर भाष्य (भेदाभेदवाद का प्रवर्तन)
   3. रामानुजाचार्यकृत श्रीभाष्य (विशिष्टाद्वैतवाद का प्रवर्तन)
   4. मध्वाचार्यकृत पूर्णप्रज्ञभाष्य (द्वैतवाद का प्रवर्तन)
   5. निम्बार्काचार्यकृत वेदान्तपारिजात भाष्य (दैताद्वैतवाद का प्रवर्तन)
   6. श्रीकण्ठ कृत शैव भाष्य (शैवविशिष्टाद्वैतवाद का प्रवर्तन)
   7. श्रीपतिकृत- श्रीकरभाष्य (वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद का प्रवर्तन)
   8. वल्लभाचार्यकृत अणुभाष्य (शुद्धाद्वैतवाद का प्रवर्तन)
   9. विज्ञानभिक्षुकृत गोविन्दभाष्य (अचिन्त्यभेदाभेदवाद का प्रवर्तन)
   10. वलदेव स्वामीकृत गोविन्दभाष्य (अचिन्त्यभेदाभेदवाद का प्रवर्तन)
   11. रामानन्द कृत आनन्दभाष्य (रामब्रह्मवाद का प्रवर्तन)
4. यदर्थं सर्वशास्त्राणां प्रवृत्तिरतिविस्तरा। आत्मज्ञानावतारार्थः सर्वशास्त्रसमुद्यमः।। सुरेश्वर, वृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक1/4/405
   – अपि वात्स्यायनादीनां कामशास्त्राणां मुक्तिहेतुता। प्रामाण्यमविरुद्धं स्यादैकात्म्यज्ञानजन्मने।।
   प्रवर्तमानः पुरुषः शास्त्रोद्दीपित वर्त्मना। प्रवृत्तिविषयं दृष्टं दृष्ट्वाऽतो विनिवर्तते।। वही 1/4/408, 409
5. विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्। सम्बन्धस्तु तदैक्य प्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावलक्षणः। प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादिश्रुतेः, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मुण्ड उप. 3/2/9)" इत्यादि श्रुतेश्च। वेदान्तसार, पृ० 64
6. सानन्तानाप्य तेजःसखनिखिलमरुत्पार्थिवान्दिष्टभाजश्चित्तेनाशाजुषस्तान्सममसमगुणान् मुञ्चती गूढभावा।
   पारेवाग्विर्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः।। नै० 11/129
   – विशिष्ट विवरण हेतु द्रष्टव्य-नै० 11/129 नारायणी एवं मल्लिनाथी टीका

ज्ञान सागर, परमोत्साह सम्पत्र एकमात्र नल, को ही अपने प्रणय का लक्ष्य बनाया और उसी में अपनी प्रीति निष्ठा प्रदर्शित की। अतः वह भीमपुत्री दमयन्ती उपनिषद् के समान थी। छान्दोग्योपनिषद् में आत्मा के वास्तविक स्वरूप के निरूपण में सनत्कुमार भी नारद से कहते हैं कि यह आत्मा सारे भौतिक पदार्थों तथा मानसिक कार्यकलापों से परे है, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, आप, तेजस्, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण आदि में सबसे उत्कृष्ट आत्मा ही है, इन सबकी सत्ता आत्मा से ही है, क्योंकि आत्मा सर्वव्यापी है।[1] शायद इसीलिए इस संदर्भ में नैषधकार ने अन्य तत्त्वों का निराकरण तो किया है, किन्तु आत्म तत्त्व का नहीं एवं उपर्युक्त प्रसंग की मीमांसोपरान्त यह कहा जा सकता है कि यहाँ श्रीहर्ष ने नल को ब्रह्म रूप में, एवं दमयन्ती को आत्मा, (जीवात्मा) रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है तथा ब्रह्म की सभी विशेषताओं[2] को नल में आरोपित भी किया है। साथ ही जिस प्रकार सम्पूर्ण उपनिषदों में ब्रह्मात्मैक्य (ऐकात्म) का प्रतिपादन मिलता है, [3] ठीक उसी तरह नैषधकार यह बताना चाह रहे हैं कि अन्य नरेशों या देवों के वरण को अस्वीकार कर दमयन्ती (आत्मा या जीव रूप) नल (ब्रह्मरूप) को ही वरण करना चाह रही थी। दमयन्ती की मधुरवाणी के वर्णन में, तथा नल के कथन में भी श्रीहर्ष ने उपनिषदों को अद्वैत का प्रतिपादनकर्ता बताया है।[4] साथ ही अद्वैत प्रतिपादक महावाक्यों-यथा तत्त्वमसि (छा. उप. ६/८/७), स वा एष महानज आत्मा (वृ० उप. ४/४/२५)[5], एकमेवाद्वितायं ब्रह्म (छा. उ. ६/२/१), नेहनानास्ति किंचन (वृ. उप. ४/४/१९)[6], के विवरण भी नैषधकार ने कलि वर्णन प्रसंग में दिया है, जहाँ कलि प्रतिनिधि अपने सिद्धान्तों के मण्डन में इन महावाक्यों का उपहास एवं खण्डन करता है। साथ ही नल की देवार्चना प्रसंग में उनके द्वारा की गयी शिव के साथ-साथ[7] विष्णु वन्दना में भी "सर्वं खलु इदं ब्रह्म (छा. उप. ३/१४/१) की अवधारणा (जो कि रामानुजाचार्य के शब्दों में "सर्वं विष्णुमयं जगत" है) का उल्लेख करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं कि युक्तियुक्त अनेक प्रकार की बाधाओं तथा विरोध से पदार्थ भेदाश्रित

---

1. विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य-छान्दोग्योपनिषद् अध्याय-7
2. विशिष्ट विवरण हेतु द्रष्टव्य0 जन्माद्यस्य यतः- ब्र.सू. 1/1/2, तत्तु समन्वयात् ब्र.सू. 1/1/4 एवं इन पर शां0 भा0
   - अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्। आत्मानमखिलाधारंमाश्रयेऽभीष्ठ सिद्धये।। वेदान्तसार-1
   - अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहित.........न तदश्नाति कश्चन्। बृ. उ. 3/8/8
   - नेति-नेति.... बृ.उ. 2/3/6
   - सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । तै. उप. 2/1/1
   - आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्-तै. उप. 3/6/1
   - यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञास्व तद् ब्रह्मेति।तै0उप0 3/1/1
   - यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनाना सह। तै0 उप. 2/3/1
   - आनन्दरूपममृतं यद् विभाति। मुण्ड. उप. 2/2/7, एवं 2/2/10 भी द्रष्टव्य
   - येन्मनसा न मनुते येनार्हुमतो मतम्। केन उप0 1/4/5, श्वेता उप. 6/14
   - नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा- कठो0 2/3/12
   - तमेव भान्तं अनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति- कठो0 2/2/15
3. तत्त्वमसि (श्वेतकेतो) -छान्दो उप. 6/8/7।
   - सदैव सोम्येदमग्र आसीदिमेवाद्वितीयम्-छा. उप. 6/2/1
   - ऐक्यावधारणद्वैत प्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्। पंचदशी. 2/21 उत्तरार्द्ध
   - एष उ ह्येव सर्वे देवाः। वृह .उप. 1/4/6
   - अहं ब्रह्मास्मि-बृहदा. उप. 1/4/10
   - अयमात्मा ब्रह्म- माण्डू0-2
4. प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा काचिद्द्विजेनोपनिषत्पिकेन। अस्याः किमस्याद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजातरुभ्यः।।नै० 7/48
5. जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ। त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहो श्रुत्यादि धूर्तया।। नै० 17/54
6. एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्ते निमज्जतः। क्रः श्रौतस्यात्मनो भीरो! भारः स्याद्दुरितेन ते।। नै० 17/56
7. केयमर्धभवता भवतोहे मायिना ननु भवः सकलस्त्वम्। शेषतामपि भजन्तमशेषं वेद वेदनयनो हि जनस्त्वाम्।। नै० 21/102

(भेदयुक्त) नहीं होते, किन्तु तुम्हारी (विष्णु की) चेष्टा के विजृम्भित से वस्तु भेदाश्रित होते हैं, यही तात्त्विक सिद्धान्त हैं[1] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "तत्त्वमसि" या "सर्वं विष्णुमयं जगत्", अर्थात् "सर्व खलु इदं ब्रह्म," आदि श्रुतिवचन या महावाक्यों के अनुसार घट पदादि पदार्थों में वास्तविक विचार से कोई भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु (व्यावहारिक जगत में) आपकी (विष्णु या ब्रह्म की) इच्छा (माया या चित शक्ति) के विलास से (एक चन्द्र होते हुए भी अविद्यावश) दो चन्द्रमा के समान भेद प्रतीति होती है। अतएव श्रवणमननादि क्रम से आपका साक्षात्कार होने पर एक मात्र आप ही सम्पूर्ण जगत्स्वरूप दिखायी पड़ते हैं, आपसे भिन्न किसी पदार्थ का भेदज्ञान नहीं होता। प्रसंगतः तो नैषधकार यहाँ विष्णु के अवतार का वर्णन कर रहे हैं, जैसा कि रामानुज भी मानते हैं कि ईश्वर एक है किन्तु आपने भक्तों पर अनुग्रह करने के कारण वे स्वयं को पाँच रूपों में प्रकट करते हैं, अन्तर्यामी, पर, व्यूह विभव और अर्चावतार, जिसमें यहाँ अन्तर्यामी, पर, एवं विभव जैसे रूपों की कल्पना रामानुज के मतानुसार मानी जा सकती है एवं जगत की विभिन्नता की प्रतीति भी नारायण की लीला रूप में मानी जा सकती है, किन्तु नल के इस कथन से कि "आपकी इच्छा से ही समस्त वस्तुओं की सत्ता में पृथकता की प्रतीति होती है, इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष रामानुज के मत का नहीं, अपितु शंकराचार्य के मत "ब्रह्म की इच्छित शक्ति माया या अविद्या है", का ही उल्लेख यहाँ करना चाह रहे हैं, क्योंकि रामानुज तो ईश्वर को चिदचिद् विशिष्ट मानते हैं जिसमें चित् और अचित् दोनों नित्य और परस्पर स्वतंत्र द्रव्य है, ईश्वर दोनों का नियन्ता है।[2] यदि तत्त्वमसि जैसे महावाक्य की शंकराचार्य एवं रामानुज के अनुसार विवेचना की जाये तो शंकराचार्य के मत में जहाँ तत्त्वमसि में 'तत्' पद, परब्रह्म को सूचित करता है, जो अधिष्ठानभूत तत्त्व है, 'त्वम्' पद जीव को सूचित करता है, जो साक्षी और अविद्या का मिश्रण है, एवं 'असि' पद से दोनों के पूर्ण तादात्म्य (ऐकात्म) का प्रतिपादन होता है, इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार यह महावाक्य जीव के आरोपित जीवत्त्व का निषेध करके उसके ब्रह्मस्वरूप का पुनर्विधान करता है (कि तुम ब्रह्म हो या जीव ब्रह्म ही है) अर्थात् मोक्ष की दशा में वह जीव और ब्रह्म के स्वरूपैक्य का प्रतिपादन करते हैं।[3] वहीं रामानुज के मतानुसार त्वम् पद का तात्पर्य है" अचिद्विशिष्टजीवशरीरक ब्रह्म, अर्थात् देहेन्द्रियान्तःकरण विशिष्ट जीव रूपी शरीर में अन्तर्यामी आत्मभूत ब्रह्म, तथा 'तत्' पद का तात्पर्य है- सर्वज्ञ सत्यसंकल्प जगत्कारण ब्रह्म जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्य है, अर्थात् कर्त्ता, धर्त्ता, हर्ता, नियन्ता परब्रह्म या ईश्वर है[4] अतः रामानुज के मत में इस महावाक्य का अर्थ जीव का अन्तर्यामी ईश्वर, और जगत्कारण ईश्वर दोनों है, क्योंकि जो ईश्वर जीव रूपी शरीरका आत्मा है वही ईश्वर जगत रूपी शरीर का भी आत्मा है, और जीव की अलग से सत्ता मानने के कारण रामानुज जीव और ब्रह्म का स्वरूपैक्य नहीं मानते, बल्कि मोक्ष दशा में वह ब्रह्मसायुज्य मानते हैं।

---

1. वस्तु वास्तु घटते न भिदानां यौक्तनैकविधवाधविरोधैः। तत्त्वदीहितविजृम्भिततत्तद्भेदमेतदिति तत्त्वनिरुक्तैः।। नै० 21/107
   वस्तुविश्वमुदरे तव दृष्ट्वा बाह्यवत् किल मृकण्डुतनूजः। स्वं विमिश्रमुभयं न विविञ्चन् निर्ययौ स कतमस्त्वमवैषि।। नै० 21/108
   – विशिष्ट विवरण हेतु दृष्टव्य- नै० 21/107-108 नारायण, एवं नै० 21/93, 94. मल्लिनाथ की टिप्पणियाँ
2. त्रितयं ब्रह्ममेतत्— श्वे. उप. 1/12
3. तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं त्वं, पदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे-शारीरक भाष्य 4/1/2
4. तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति। तत्समानाधिकरणं त्वं पदञ्च अचिद्विशिष्टजीव शरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति-श्रीभाष्य-पृ० 80

वेदान्त दर्शन में मोक्ष निरूपण अत्यन्त विशिष्ट रूप से विवर्णित है। आचार्य शंकराचार्य के मत में मोक्ष नित्य, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा या ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है। जब जीव की आत्मज्ञान द्वारा अविद्या निवृत्ति हो जाती है,[1] तो जीव नित्य, शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। शांकर वेदान्त में मोक्ष के तीन लक्षण वर्णित मिलते हैं, मोक्ष अविद्या निवृत्ति है, मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्मसाक्षात्कार है, एवं मोक्ष नित्य अशरीरत्व है।[2] शंकराचार्य के मत में मोक्ष पारमार्थिक सत् है, कूटस्थनित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सम्पूर्ण विकारों से रहित है, नित्यतृप्त है, निरवयव है, स्वयंज्योतिस्वभाव है। यह धर्म और अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मों से तथा (सुख, दुख, रूपी) उनके कार्यों से अस्पृष्ट है, यह कालत्रयाधीत है, यही अशरीरत्व मोक्ष कहलाता है,[3] परन्तु साधन चतुष्ट्य अर्थात् नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादिषट्कसम्पत्ति और मुमुक्षत्व सम्पन्न व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी बन सकता है[4] एवं ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकता है। श्रीहर्ष ने वेदान्त दर्शन के मोक्ष या ब्रह्मसाक्षात्कार पद्धति की संगति नैषध में अनेक प्रसंगों में की है। यथा- दमयन्ती के उपवन में हंस को दमयनती की सखियों द्वारा हंस को (ब्रह्म रूप में देखने के वर्णन में) देखने के वर्णन में, जहाँ वर्णन मिलता है कि दमयन्ती की सखियों के नेत्र अन्य विषयों का ग्रहण छोड़कर अवर्णनीय सौन्दर्य वाले हंस पर जा पड़े जैसे योगियों के चित्त सांसारिक विषयों को छोड़कर अवर्णनीय तथा अद्वितीय परमात्मा (ब्रह्म) पर जाते हैं।[5] साथ ही दमयनती भी उस समय हंस को पकड़ने के लिए, (पक्षान्तर में ब्रह्म दर्शन के लिए) शरीर निश्चल करके इस प्रकार खड़ी रही, जैसे अपने शरीर में, स्थित तथा मनु आदि से निरन्तर ध्यान किये गये परमात्मा को आदरपूर्वक ग्रहण करने के लिए योगी की मानोवृत्ति निश्चल हो जाती है।[6] अन्यत्र नारद द्वारा आकाशमार्ग से इन्द्रपुरी पहुँचने के वर्णन में श्रीहर्ष लिखते हैं कि "मध्य में विशाल आकाश का अतिक्रमण करके नारद इन्द्र के भवन में इस भाँति पहुँचे, जैसे यति, अनादि संसार समुद्र को पार करके, आनन्द की राशि सुन्दर ब्रह्म को प्राप्त करता है।[7] यहाँ पर श्रीहर्ष ने "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् (तै०उ० २/४) की संगति भी की है तथा आचार्य मल्लिनाथ ने उपर्युक्त प्रसंग में श्रीहर्ष के वेदान्त समन्वित तथ्य की पुष्टि भी की है।[8]

ऋग्वेद[9] के साथ-साथ वृहदारण्यकोपनिषद[10] में वर्णन मिलता है कि आत्मज्ञान होने पर योगी या साधक आत्मा तथा प्रकृति को विवेक द्वारा जान लेता है। इस तथ्य की संगति भी श्रीहर्ष ने दौत्यप्रसंग में नल की स्थिति के निरूपण में की है, जहाँ नल दमयनती के करुणविलाप को सुनकर भावोद्रेक में स्वयं को प्रकट कर प्रकृत दशा (देवदूत रूप छोड़कर नल रूप में) में आते हैं, तत्क्षण ऐसी अनुभूति हुई कि जैसे

---

1. मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्-शां0 भा0 1/1/4
2. अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः, ब्रह्मभावश्च मोक्षः, नित्यमशरीरत्वं मोक्षाख्यम्, वही 1/1/4
3. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं व्योमवत्, सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिस्वभावं, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण, कालत्रयं च, नोपावर्तते, तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्- शां0 भा0 1/1/4
4. साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविराग शमादिषट्क सम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि।....प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च. प्रहीण दोषाय यथोक्तकारिणे गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सकलं मुमुक्षवे (उपदेश साहस्री 16/72) एवं वैदान्तसार- पृ० 53-54
5. नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि। प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम्।। नै० 3/3
6. हंसं तनौ सन्निहितं चरुतं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्। ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे।। नै० 3/4
7. स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायक निकेतनाप। सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव।। नै० 5/8
8. स मुनिः, अगाधं वियदन्तर्नभोऽभ्यन्तरं व्यतीत्य नाकनामक निकेतनम् इन्द्रभवनं, यती योगी अनादिं भवसिन्धुं संसाराब्धिं, सम्प्रतीर्य शर्मभरचारु परमानन्दसुन्दरं, ब्रह्म परमात्मानमिव प्राप। नै० 5/8 में मल्लिनाथ
9. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षी वा ऋषिरस्मि विप्रा.। ऋ. 4/3/26/1, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित, सन् 1856
10. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः। अहं कृत्समार्जुनेयं सृजेऽहं कविरुशनाःपश्यतामा (वृ. उप. 1/4/10) इत्यादि वासुदेव ऋषिवदित्यर्थः। एवं द्रष्टव्य वृ. उ. 2/4/5

कोई मुनि आत्म ज्ञान प्राप्त कर अपने प्रकाश स्वरूप (परमात्मा) को तथा प्रकृति को अलग-अलग रूप से जान लेता है, उसी प्रकार नल को भी प्रबोध (दूत एवं नल की पृथकता को बता देने का) प्रबोध होने पर, पुनः वह उसी रूप (दूतरूप) में आकर दूतोचित वचन बोलने लगे।[1] स्मरणीय है कि साधनचतुष्ट्य सम्पन्न साधक योग आदि के द्वारा संसार के आवागमन को दूर करने के समर्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है या योगी अपने को स्वप्रकाश सच्चिदानन्द स्वरूप ''अहं ब्रह्मास्मि'' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा जान लेता है, और वैसा जानते हुए भी पूर्व संस्कारों से या प्राप्त ब्रह्मज्ञान से सत्त्वादि गुण्त्रयरूप एवं संसारोत्पादिनी अनादि अविद्या को पृथग्भूत जानकर ''मैं पहले मनुष्य था'' इत्यादि भी जानता है, और इस प्रकार आत्मा तथा प्रकृति को विवेक के द्वारा जानकर बातें करता है। ठीक इसी स्थिति का निरूपण श्रीहर्ष ने नल की स्थिति में दोहरायी है, एवं जैसा वेदान्त में जीवन्मुक्त व्यक्ति की स्थिति होती है, उसी स्थिति का आरोपण नैषधकार ने नल में किया है।

श्रीहर्ष ने वेदान्तदर्शन की उस मान्यता का भी विवरण, नल द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन में किया है कि ईश्वर ही भक्त को पापकर्म करने से रोकता है।[2] साथ ही इस तथ्य को भी उद्घाटित किया है कि परमात्म ज्ञान होने पर किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं होती[3] एवं परमात्म ज्ञानानन्तर मोक्ष के प्रदाता ईश्वर ही हैं।[4] विष्णु को संसार रचयिता एवं परब्रह्म रूप में[5] मानते हुए तथा उन्हीं के ध्ययानानन्तर कर्मक्षयपूर्वक मुक्ति प्राप्ति होने में ईश्वर को मोक्ष का कारण भी माना हैं।[6] नैषधीयचरितम् में उपलब्ध उपर्युक्त तथ्यों की संगति रामानुज वेदान्त एवं गीता में प्रतिपादित विषयवस्तु से की जा सकती है[7] क्योंकि रामानुज के अनुसार परज्ञान और पराभक्ति एक ही है, और यही मोक्ष का कारण है। निम्बकाचार्य,[8] एवं मध्वाचार्य[9] भी रामानुज से उपर्युक्त मत में सहमत हैं साथ ही पुष्टिमार्ग के वल्लभाचार्य भी मानते हैं, भवगद् भक्ति से ही मुक्ति संभव है।[10]

---

1. मुनिर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसावबुध्यत।
   अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयासृजद्गिरः।। नै० 9/121
   – यथा मुनिर्योगलब्धात्मतत्वावबोधोऽपि वासनावशात् बाह्यमनुसन्धते तथा नलोऽपि प्रकटितात्मा पुनः संस्कारवशात् दूत्यमेवान्नुसरन्नुवाचेत्यर्थः। नै० 9/121 मल्लिनाथ
   – मुनिरप्यात्मानं प्रकृतिं च विवेकेन ज्ञात्वा युक्तः सन् वागादिव्यवहारान्सृजति मुञ्चतीति केचित्। नै० 9/121 नारायण
2. पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात्प्रमाणमास्ते यदघेऽति धावत्।
   तच्चिन्ति चित्तं परमेश्वरस्तु भक्तस्य हृष्यरुणो रुणाद्धि।। नै० 8/77
3. मुधार्पितं मूर्धसु रत्नमेभिर्यन्नाम तानि स्वयमेत एव। स्वतः प्रकाशो परमात्मबोधे बोधान्तरं न स्फुरणार्थमर्थ्यम्।।नै० 10/63
4. धर्मबीजसलिला सरिदङ्घ्रावर्थमूलमुरसि स्फुरति श्रीः। कामदैवतमपि प्रसवस्ते ब्रह्म मुक्तिदमसि स्वयमेव।।नै० 21/110
5. विश्वरूप! कृत विश्व! कियत् ते वैभवाद्भुतमणौ हृदि कुर्वे।
   हेम नह्यति कियन्निजचीरे काञ्चनाद्रिमधिगत्य दरिद्रः।। नै० 21/117
6. प्राग्वैरुदगुदग्भवगुम्फान्मुक्तियुक्ति विहताविह तावत्। नापरः स्फुरति कस्यचनापि त्वत्समाधिमवधूय समाधिः।। नै० 21/103
7. 'सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिस्यामि मा शुचः। गीता 18/66
   – श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। भागवत् 7/5/23, एवं 6/11/26, 7/7/52
   – भवतु मम परस्मिन् शेमुखी भक्तिरूपा-श्रीभाष्य मंगलाचरण।
   साक्षात्काररूपा ध्रुवा स्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते-वही
   – अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता। प्रेमलक्षण भक्तेऽस्तु परिणाम स एव।। नरहरि स्वामी, बोधसार 32/10
8. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम।
   व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेय कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।। दशश्लोकी. 4 एवं द्रष्टव्य श्लोक, 1, 5
9. ज्ञानपूर्वपरस्नेहो नित्यो भक्तिरितीर्यते। -महाभारत तात्पर्य निर्णय पृ० 1/107
10. ध्यानं चेतरतिरस्कारपूर्वकं भगवद्विषयाऽखण्डस्मृतिः-मध्वसिद्धान्तसार, पृ० 139
   – माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
   – स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।। तत्वार्थदीप, पृ० 65

ब्रह्मसाक्षात्कार से उत्पन्न ब्रह्मानन्दानुभूति का वर्णन भी श्रीहर्ष ने नल द्वारा दमयन्ती के प्रथम दर्शन में साहित्यरसप्रसविनी विधा में किया है, वे लिखते हैं कि नल ने दमयन्ती के रोमाग्र या रोमावलियों को देखने पर अद्वैतब्रह्मानन्द का आनन्द प्राप्त किया, अनन्तर उसके सर्वांगों को देखने के बाद तो ब्रह्मानन्द से अधिक (कामदेवजन्य आनन्द या मदनानन्द) आनन्द प्राप्त किया।[1] वेदान्तदर्शन में वर्णन मिलता है कि ब्रह्मसाक्षात्कारोपरान्त व्यक्ति जीवन्मुक्त रूप में विचरण कर सकता है,[2] किन्तु व्यावहारिक विषयों में उसकी अनुरक्ति नहीं होती। इस तथ्य की संगति श्रीहर्ष ने दमयन्ती के अन्तःपुर में नल की उपस्थिति को देखकर दमयनती की स्थिति के निरूपण में की है, वे अभिहित करते है कि उस (नल को देखने के) समय (नल के अलभ्य दर्शन लाभ से) आनन्दस्वरूपा तथा अत्यन्त अनिर्वचनीय मोह[3] (अज्ञान या किंकर्त्तव्यमूढ़ता, अथवा अत्यन्तसुरक्षित अन्तःपुर में नल कैसे आ गये, वे नहीं हैं क्या? इत्यादि भ्रम) वाली उस दमयन्ती ने (ब्रह्मतुल्य नलदर्शन जन्य आनन्द से) मुक्त (जीवन्मुक्त) तथा (मोह या भ्रम होने से) संसारी की अवस्थाओं से शुद्ध उल्लास या मधुर द्विविध (मुक्त तथा संसारी व्यक्ति की अनुभूतियों का) स्वाद प्राप्त किया।[4] यहाँ नैषधकार ने जीवन्मुक्त तथा संसारी व्यक्ति दोनों की विशेषताओं या अवस्थाओं का चित्रण कर यह बताना चाहा है कि मुक्त व्यक्ति संसारी नहीं होता, एवं संसारी रहता हुआ व्यक्ति मुक्त भी नहीं होता, किन्तु दमयन्ती ने एक साथ दोनों ही अवस्थाओं का आनन्द प्राप्त, किया यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है।

नैषधकार के साथ विविध कविपण्डितों ने मुक्ति का विवेचन किया है।[5] परन्तु ध्यातव्य तथ्य यह है कि कोई ज्ञान (विवेक) से इसकी प्राप्ति मानते हैं, तो कोई कर्म से, तो कोई भक्ति से और शायद यही

---

1. ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमोदं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः। यथौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैतमुदं तथासौ।। नै० 7/3
2. मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम् अत्र ब्रह्म समश्नुते। इहैव तदाप्नोति।....
   तस्मान् मिथ्या प्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवितोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। शां0 भा0 1/1/4
   - अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छा0 उप0 8/12/1
   - अथायम् अशरीरोऽमृतः ब्रह्मैव-बृहदा. उप. 4/4/7
   - देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत स्वरूपम्।
     देवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।। भागवत 11/13/36
3. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिको नो।
   साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।। विवेकचूड़ामणि-111
   - दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया-गीता 7/14,
   - अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। श्वे0 उप0 4/5, एवं 1/3 भी द्रष्टव्य
   - मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्-श्वे. उप0 4/10
   - सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां माया विद्ये च ते मते-पंचदशी, 1/16
   - माया बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः। अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेधा। पंचदशी 1/17
   - तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा। ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।। पंचदशी-6/130
   - एवं द्रष्टव्य - वृहदारण्यकवार्तिक, श्लोक 181, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते- ऋ0 6/47/10
4. तत्कालमानन्दमयीं भवन्तीं भवत्तरा अनिवर्चनीय मोहा।
   सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्या द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्तमिष्टम्।। नै० 8/15
5. इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।
   यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया सत्काव्यधर्मात्कृतं, पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति।। सौन्दरनंद-18/63
   - साधुऽना तव बन्धे मोक्षे च प्रभावति-मेघदूत- 61, एवं 19 भी द्रष्टव्य
   - धुर्याणां च धुरो मोक्षम्। रघुवंश - 17/19, एवं 10/84
   - लब्धमोक्षा शुकादयः रघुवंश 17/20
   - कु. 3/31, गीता 5/28, 18/30, भर्तृ0 2/62,
   - ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां, स्त्री शूद्र हूण शबरा अपि पापजीवाः।
     यद्यद्भुतक्रमपरायणशील शिक्षाः स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ।। भागवत 2/7/46
   - यदत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
     तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म न स्याद्, वर्षे हरिर्यद भजतां शं तनोति।। वही 5/19/28 एवं 5/19/21
   - तुलनीय कबीर विचार में मुक्ति का स्वरूप यथा-
     तन प्रारब्धि को साथ है, परखि स्मरण न्यार। आसक्ति सबै निर्मूलकरि, आप आप ही प्यार।।
     कारण कारज तत्त्व नहिं, सनमुख जीव के होय। विदेह मुक्ति है जीव की, परख प्रकाश सदोय।। मुक्तिद्वार-निवृत्ति साहस शतक, साखी, 103, 104
   - पारख को प्रकाश जहँ शुद्ध स्वरूप स्वदेश। मन वाणी को अंत तहँ, आप आप ही शेष।। वही 130
   - साथ ही आचार्य मम्मट द्वारा काव्यानंद से मोक्ष प्राप्ति मानना एवं ओशो रजनीश द्वारा "सम्भोग से समाधि" ग्रंथ में कामानन्द को ही मोक्ष या असम्प्रज्ञात समाधि बताना, धार्मिक दृष्टि से नितांत असंगत है, किन्तु तार्किक दृष्टि से कहाँ तक न्याय संगत है, विद्वज्जन ही प्रमाण हैं।

कारण है कि मुक्ति के भी कई स्वरूप या कह लें, प्रभेद दर्शनशास्त्र में स्वीकृत किये गये हैं। जहाँ चार्वाक "मरणमेवापवर्गः" रूप में इसकी परिकल्पना करता है, वहीं बौद्ध निर्वाण या बोधि रूप में, सांख्य विवेकख्याति रूप में, योग असम्प्रज्ञात समाधिरूप में, न्याय प्रमाणमीमांसोपरान्त तत्त्वज्ञान रूप में, वैशेषिक धर्म वैधर्म्य के ज्ञान के द्वारा तत्त्वज्ञान रूप में, मीमांसा कर्म (यागादि) फल के समाप्त्यानन्तर शरीर के पूर्ण रूप से निरोध[1] या सुखदुःखाभाव स्थिति या (पार्थसारथि के शब्दों में) प्रपंच सम्बन्ध विलय रूप में, शंकराचार्य आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान (ऋतेज्ञानान्मुक्तिः) में एवं रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि आचार्य ईश्वरप्रणिपत्ति रूप में मोक्ष की स्थिति स्वीकार करते हैं[2] फिर भी उनकी मान्यताओं में काफी वैषम्य है। वेदान्त दर्शन में मुक्ति को दो अवस्थाओं से स्वीकार किया जाता है, जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति प्राप्त व्यक्ति का शरीर प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति तक बना रहता है किन्तु इस अवधि में नवीन कर्मसंचय नहीं होता, एवं प्रारब्ध कर्मो की समाप्ति होने पर जीवन्मुक्त का देहपात हो जाता है, एवं यही विदेहमुक्ति कहलाती है। जीवन्मुक्त व्यक्ति का विवरण नैषध में दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन के साथ-साथ[3], चन्द्र वर्णन प्रसंग में नल के कथन में मिलता है, जहाँ वह कहते हैं कि हे दमयन्ती! गुरुपत्नी गमन करने पर भी वह चन्द्रमा पतित न हुआ, क्योंकि स्वयं प्रकाशमान (पक्षान्तर में परमात्म रूप प्रकाश को प्राप्त आत्मवादी ब्रह्मज्ञानी) तथा तेजो रूप शरीर या पूर्णता को पाये हुए (जीवन्मुक्त) लोग धर्माधर्म के कारणभूत कार्यारम्भ के बन्धन में नहीं पड़ते हैं।[4] विदेहमुक्ति का वर्णन, नैषध में कलिप्रतिनिधि द्वारा वेदान्तियों द्वारा मान्य मोक्ष की अवधारणा के खण्डन में प्राप्त होता है, जहाँ वह कहता है कि जब तक मनुष्य संसार में हैं, तब तक उसे जीव रूप अपनी, तथा ब्रह्म की भावनाओं का पृथक् भाव होता है, किन्तु मुक्ति (विदेहमुक्ति) मिलने पर अकेला ब्रह्म ही शेष रह जाता है, इस प्रकार अपनी सत्ता का उच्छेद कर इन वेदान्तियों ने मुक्ति की अवधारणाा प्रतिपादित कर अपना उपहास ही कराया है।[5] अद्वैत- वेदान्त दर्शन की मान्यतानुसार मुक्तिदशा में जीवात्मस्वरूप प्रपंच और अनादि अविद्या विलास भावना से रहित परब्रह्म का अविद्यादि प्रपंचजनित जीवात्म रूप भेद मिट जाता है, और एक मात्र ब्रह्म ही रह जाता है। परब्रह्म आकाश के समान है, और जीवात्मा घटाकाश के समान, जिस प्रकार घट से आवृत आकाश घट के न रहने पर मुक्त हो आकाशमात्र में अभिन्न हो जाता है, उसी प्रकार देहावरण से मुक्त जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है[6] परन्तु रामानुज का मानना है कि मुक्तावस्थाा में जीवात्मा का ब्रह्म से स्वरूपैक्य नहीं होता, केवल साम्य होता है। रामानुज, विदेहमुक्ति तो स्वीकार करते हैं किन्तु शांकर वेदान्त द्वारा मान्य जीवन्मुक्ति स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनका मानना है कि जब तक शरीर है, तब तक कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नहीं हो सकता, साथ ही मुक्त जीव[7] का ब्रह्म में विलय नहीं होता क्योंकि अविद्या तथा कर्म की निवृत्ति हो जाने पर भी जीवात्मा का स्वरूप नाश नहीं होता, उसकी सत्ता बनी रहती है, क्योंकि वह नित्य तत्त्व है, हाँ मुक्त जीव ईश्वर का शुद्ध अंग बनकर ईश्वर (ब्रह्म) के समान हो जाता है, इस प्रकार वह ईश्वरीय ज्ञान एवं आनन्द का अनुभव भी करता है। एवं इस रूप में वह ब्रह्म प्रकार या ब्रह्म समान सिद्ध होता है, यही

---

1. The Prabhakara School of Purva Mimamra-G.N. Jha-P-84.
2. मोक्ष के विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन में मोक्षचिन्तन एक तुलनात्मक अध्ययन-डॉ. अशोक कुमार लाड, म0प्र0 हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण-1973
3. गुरोरपीमां भणदोष्ठकण्ठं निरुक्तिगर्वच्छिदया विनेतुम्।
   श्रमः स्मरस्यैव भवं विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाया।। नै० 10/132
4. नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान्गुरोर्यातवतोऽपि पातः।
   प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान्नघ्नन्ति न घ्नन्तिमदेहमाप्तान्।। नै० 22/118
5. स्वं च ब्रह्मच संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम्। इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवैदग्धी वेदवादिनाम्।। नै० 17/74
6. नित्यशुद्धब्रह्मस्यरूपत्वान्मोक्षस्य- शा0 भा0 1/1/4
   विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य - ब्र0स0 1/1/4 पर शा0भा0, एवं 10/73 मल्लिनाथी एवं 10/74 नारायणी टीका
7. नापि साधनानुष्ठानेन निरस्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भव अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनन्यत्वासम्भवात्। श्रीभाष्य। 1/1/1
   एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च। सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते। स.द.सं.- पृ० 47

रामानुज द्वारा मान्य सामुज्यमुक्ति है मध्वाचार्य सायुज्य मुक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, जब कि इसमें भी तारतम्य बना रहता है। जैसा कि मध्वाचार्य (सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः) मध्वगीताभाष्य में वर्णन मिलता है कि "मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अपि। तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः।। यह मुक्ति शास्त्रों में वर्णित मुक्ति के चतुर्विध रूपों सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य में से एक है। नैषध में सायुज्य मुक्ति का विवरण काशीनरेश के वर्णन प्रसंग में नैषधकार ने सरस्वती मुखेन दिया है, जहाँ सरस्वती काशी नगरी को मुक्ति नगरी[1] में अभिहित करते हुए (काशी नरेश को वरण करने के संदर्भ में) कहती है कि हे दमयन्ती, जिस प्रकार अस् धातु भूतकाल के कहने में समर्थ अद्यतन विभक्ति (लुङ्गलकार) को प्राप्त कर भूभाव (अस्तेर्भूः पा.सू० २/४/५२) से भू आदेश को प्राप्त करता है, उसी प्रकार इस नगरी में पहुँचकर संसारी जीव शिवजी के सायुज्य को प्राप्त करते हैं, अर्थात् वाराणसी में शरीर त्याग करने पर शिवजी प्राणी को श्रेष्ठ तारकमंत्र का उपदेश देते हैं, जिससे प्राणी सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है[2] एवं इच्छानुसार सुखोपभोग करते हुए प्राणान्त के समय पार्वती और शिव के (अर्धनारीश्वर रूप) साथ पूर्ण एकता को प्राप्त होते हैं।[3] नारायण एवं मल्लिनाथ के मत से यहाँ श्रीहर्ष ने सायुज्य मुक्ति का विवरण दिया है।[4] रामानुजाचार्य चार प्रकार की मुक्ति[5] स्वीकार करते हैं सानिध्य (जीवात्मा, परमात्मा के समीप निवास करता है), सालोक्य (जीवात्मा, परमात्मा विष्णु के लोक में निवास करता है), सायुज्य (जीवात्मा एवं परमात्मा का सम्बन्ध हो जाता है,) एवं सारूप्य (जीवात्मा भी परमात्मा के प्रकार का हो जाता है) मध्वाचार्य भी रामानुज सदृश मुक्ति भोग चार प्रकार का मानते हैं, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य । नैषधकार ने सालोक्य मुक्ति की संगति स्वयंवरपूर्व का दमयन्ती का श्रृंगार करते समय सखियों द्वारा उन्हें रूप दर्शन हेतु दर्पण दिखाने के प्रसंग में की है। वे लिखते हैं कि दो सखियों द्वारा दिखलाये गये दो दर्पणों में दमयन्ती का मुख (बिम्बरूप मुख) एक (पक्षान्तर में मुख्य) है, तथा दूसरे (प्रतिबिम्ब रूप) बहुत कमल हैं, अर्थात् ब्रह्मरूप मुख के उपमान कमल अनेक हैं, जिन्हें लोग हिम (शिशिर ऋतुपक्षान्तर में केदार आदि तीर्थ के बर्फ) में नष्ट होकर (पक्षान्तर में मुक्ति प्राप्त कर) रात्रियों में समाधियों (मुकुलित होने, पक्षान्तर में परमात्मा का दर्शन आदि उपायों) से उसकी (दमयन्ती पक्षान्तर में परमात्मा की) सालोक्य (सौन्दर्य, पक्षान्तर में सालोक्य मुक्ति) को प्राप्त हुए के समान देखते हैं ।[6] आशयार्थ यह है कि जिस प्रकार योगिजन बदरीनाथ, केदारनाथ आदि हिम क्षेत्रों में तपश्चर्या आदि अनेक ईशदर्शनोपायों द्वारा शरीर त्याग कर सालोक्य मुक्ति प्राप्त करते हैं, और भगवान के लीलाधाम में प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी तरह कमल भी शीत (पाले) में नष्ट हो जाते हैं लेकिन ऐसा लगता है कि शीत (पाले) में शरीर त्याग करने वाले कमल मुक्ति कामी योगी हैं, जिन्होंने दमयन्ती मुख रूप ब्रह्म का प्राप्ति के लिए देह त्याग किया है। परन्तु

---

1. वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
   तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः, स्वर्गात्परं पदमुदेतु मुदे तु कीद्वक्।। नै० 11/116
2. सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्या ।
   भूताभिधानपटुमद्यतनीभवाप्य, भीमोद्भवे! भवति भावमिवास्तिधातुः।। नै० 11/117
3. निर्विश्य निर्विरति काशिनिवास भोगान्निर्माय नर्म च मिथो मिथुनं यथेच्छम्।
   गौरीगिरीशघटनाधिकमेकभावं शर्मोर्मिकञ्चुकितमञ्चति पञ्चतायाम्।। नै० 11/118
4. देहान्ते देवः परं तारकं ब्रह्मोपदिशतीति भवाब्धियादसश्च भवसायुज्यं युक्तम्।। नै० 11/117 नारायण
   – भवस्य ईश्वरस्य सयुजोभावः सायुज्यं तादात्म्यं ऋच्छति गच्छति। नै० 11/117 मल्लिनाथ
   – स्वर्गादिसुखपरित्यागं ध्यानादियोगं च विना काशीनिवासमात्रेण परमानन्द रूप ब्रह्मसामुज्यं भवति। तस्मात् सर्वाभिलाषसिद्ध्यर्थमेनं वृणीष्वेतिभावः। नै० 11/118 नारायण
   – अन्यत्र सन्यासादिक्लेशान्मुक्तिः, इह भोगपूर्वकदेहत्यागादेव मुक्तिरिति भावः।। नै० 11/118 मल्लिनाथ
5. अथ कर्मणा सम्बन्धस्य परं ज्योतिरूपसंपद्यं बन्धनिधत्तिरूपामुक्तिः। श्रीभाष्य 4/4/2
6. कियालियुग्मार्पितदर्पणद्वये तदास्यमेकं बहु चान्यदम्बुजम्।
   हिमेषु निर्वाप्य निशासमाधिभिस्तदास्यसालोक्यमितं व्यलोक्यत।। नै० 15/52

स्मरणीय है कि यहाँ श्रीहर्ष ने शीत में निशा समाधि द्वारा कमलों को दमयन्ती मुख रूप ब्रह्म (ईश्वर) के सालोक्य पाने का वर्णन दमयन्ती के मुख को कमलो से श्रेष्ठ बताने के सन्दर्भ से किया है।[1]

ब्रह्म या आत्मा ही अद्वैतवेदान्त के अनुसार परम तत्त्व है। यह सर्वथा निष्प्रपंच एवं चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। "अययात्मा पर ब्रह्म", एवं "सर्व खलु इदं ब्रह्म" जैसे वाक्यों से यह भी सिद्ध है कि आत्मा या ब्रह्म एक ही हैं। स्मरणीय तथ्य यह है कि अमरकोष में बुद्ध को भी अद्वयवादी कहा गया है (अद्वयवादी विनायकः) एवं शंकराचार्य के परम गुरु गौडपाद ने भी आत्मा को अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, नास्तिनास्ति इन चार कोटियों से परे माना है अर्थात् उनके मत में आत्मा न सत् है न असत् है न सत् असत् उभयात्मक है और न सत् असत् से विलक्षण है।[2] इसी तथ्य को नागार्जुन ने भी माना है।[3] रही, अद्वैत तत्त्व की बात तो जिस तरह शंकराचार्य का ब्रह्म या आत्मा है, इसी तरह बौद्ध दर्शन में विज्ञानवादियों एवं शून्यवादियों का विज्ञान या शून्य नामक तत्त्व या पदार्थ है।[4] शंकराचार्य से पूववर्ती जैनाचार्य समन्तभद्र ने भी अद्वैतमत का उल्लेख किया है[5] तथा शाक्त एवं शैवागम विचारधाराओं में भी अद्वैत मत के प्राधान्य के विवरण उनकी विचारधाराओं में द्रष्टव्य हैं। इसी अद्वैत तत्त्व को लेकर कुछ विद्वानों ने "मायावादं असच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च" रूप में शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह डाला, एवं भास्कर ने भी इसी कारण शंकराचार्य के प्रति आक्षेप किया है,[6] किन्तु लगता है कि शंकराचार्य पर उपर्युक्त आक्षेप पूर्वाग्रह वश ही किये गये हैं, जो निराधार हैं, क्योंकि अपने-अपने दृष्टिकोण से परमतत्त्व का प्रतिपादन करने में सभी विचारधारा के विद्वान स्वतंत्र हैं। स्वयं नैषधकार ने, जो अद्वैतवेदान्त के अधिकारी विद्वान् हैं, ने नैषध में एक ही स्थल पर अद्वैत एवं बौद्ध समर्थित आत्म तत्त्व की गवेषणा नल के स्वयंवर प्रसंग में की है, जहाँ नल रूपधारी चार देवों एवं स्वयं नल ने अर्थात् पाँच व्यक्तियों में अन्तिम मुख्य नल ही वास्तविक नल हैं, ऐसा "अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः"[7] से जान लिया, किन्तु उन पर श्रद्धा नहीं की, उसी प्रकार चार नलों के होने पर पांचवे नल अर्थात्, नल को भी यह सन्देह रहा कि क्या इनके (देवताओं के) होने पर मुझे यह (दमयन्ती) वरण करेगी?[8] यदि प्रत्येक दर्शन की आत्मा

---

1. आलोकेन दर्शनेन सह वर्तते इति सालोकं तस्यभावः सालोक्यम् आलोकनीयत्वं रम्यत्वम् इति यावत्, तदाननसालोक्यं तदाननसमानालोकत्वं सालोक्यरूपमुक्तिञ्च निर्वाणकाले यां देवतां ध्यायन्ति तत्त्वसालोक्यं लभन्ते इत्यागमः। भैमीमुखस्य दर्पणस्थप्रतिबिम्बानाञ्च परस्परसानिध्यात् दर्पणस्थ प्रतिबिम्बानि किं शिशिरर्त्तुपुनष्टानि तन्मुखसदृशानि तत्समीपस्थानि पद्मानि इति लोकैरुप्रेक्षितमिति भावः।। नै० 15/52 मल्लिनाथ
2. अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति ना पुनः। चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष वालिशः।।
   कौट्यश्चतस्र एतासु ग्रहैर्यासां सदावृतः। भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्।। गौडपादकारिका अलातशान्तिप्रकरण, 4/83, 84
3. न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।। माध्यमिक कारिका
4. द्रष्टव्य ब्र0 सू0 1/1/2, 1/1/4 एवं उसी पर शा0 आ0
   – असत् सत् सदसत् सर्वं संकल्पादेव नान्यतः।
   कल्पं सदसच्चैवमिह सत्यं किमुच्यताम्।। योगवाशिष्ठ, स्थितिप्रकरण 53/45
   – न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन्।। बोधिचर्यावतार पृ० 357
   – स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
   दसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।। गौडपादकारिका, अलातशान्तिप्रकरण।
5. अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्धयते-आप्तमीमांसा, पृ० 24
6. विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति।
   ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्ता वेदितव्याः। भास्करभाष्य 2/2/29
7. किरात. 14/35
8. प्राप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटि मात्रे।
   श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानाममद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः।। नै० 13/36
   – विशिष्ट विवरण हेतु द्रष्टव्य नै० 13/36 नारायण टीका, 13/35 मल्लिनाथी टीका

सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन किया जाय, तो जहाँ सद्वादी सांख्यमतानुयायी प्रत्येक शरीर में भिन्न शुद्धज्ञान स्वभाव वाले बहुत आत्माओं (पुरुष रूप में) मानते हैं, वहीं असद्वादी नैयायिक प्रत्येक शरीर में भिन्न, सर्वव्यापक ज्ञानादि नौव विशेष गुणों से युक्त आत्मा को मानते हैं, सदसद्विलक्षणवादी आर्हत (जैन) प्रत्येक शरीर में भिन्न शरीर के बराबर प्रमाण वाले संकोच तथा विस्तार करने वाले बहुत आत्पाओं को मानते हैं, एवं असद्वादी बौद्ध प्रत्येक शरीर में भिन्न क्षणिक ज्ञान, सन्तान रूप अनेक आत्माओं को मानते हैं इस प्रकार सत्, असत्, दसत्, सदद्विलक्षण चारपक्ष अद्वैत की मान्यताओं के खिलाफ हैं, क्योंकि वेदान्त मत में ब्रह्म या आत्मा एक हीतत्त्व है, जो अद्वैतरूप में है। उपर्युक्त सन्दर्भ में ईशानदेव ने बौद्धों के मत की प्रासंङ्गिकता मानी है[1] जब कि शंकराचार्य रचित भाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि[2] ने यहाँ पर क्रमशः वैशेषिक, विज्ञानवादी बौद्ध दिगम्बर जैन, तथा शून्यवादी बौद्धो का मत बतलाया है। दमयन्ती का पांचों नलों में सन्देह होना, तो व्यावहारिक दृष्टि से तर्कसंगत है, एवं इसी व्यावहारिक अनुभूति का प्रतिपादन भी नैषधकार ने किया है किन्तु अंतिम नल (वास्तविक नल) में दमयन्ती की प्रीति होने का विवरण कर, एवं अनन्तर उसी का वरण करने में, नैषधकार ने यह दिखाना चाहा है कि तत्वज्ञानी ही आत्म तत्व के विषय में जान सकते हैं, लौकिक प्राणी नहीं। साथ ही उन्होंने वेदान्त में वर्णित आत्म तत्त्व के विषय में होने वाली जागतिक प्राणियों के अनुभूतियों का भी इस प्रसंग में वर्णन करना चाहा है। न्याय जैसे वेदान्त के मुख्यप्रतिपक्षी का यह आरोप है कि वेदान्त आत्म (ब्रह्म) तत्त्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मानते हुए उसे अज्ञेय क्यों मानता है?[3] इसके उत्तर में वेदान्तियों का मत है कि ब्रह्म का बुद्धि द्वारा अज्ञेय होने का ज्ञान वस्तुतः ब्रह्म का ज्ञान नहीं है, अपितु ब्रह्म विषयक अज्ञान का ज्ञान है, जिसका बुद्धि को अपनी सीमा का अपने ही अज्ञान का ज्ञान होता है। स्वयं श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य में माध्यमिकों एवं नैयायिकों, द्वारा मान्य आत्म तत्त्व में विसंगति बताते हुए एवं उनका खण्डन कर[4] यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म ही अद्वितीय परमार्थ सत है, स्वात्मसिद्ध है।[5] अतः केवल अद्वैत वेदान्त ही, जिसे श्रीहर्ष ने भी स्वप्रकाश विज्ञानवाद की संज्ञा दी है, विशुद्ध विज्ञानवाद है, जो केवल स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध नित्य आत्म चैतन्य को एक मात्र परमार्थ सत् मानता है। चित्सुखाचार्य भी मानते हैं कि प्रपञ्च के व्यावहारिक सत्यता की प्रतीति आत्म तत्त्व पर अध्यस्त होने से होती है, वास्तव में आत्म तत्त्व ही सत्य या परमार्थ है।[6]

अद्वैत दर्शन के माया सिद्धान्त या मायावाद की विशिष्ट भूमिका की महनीयता व्यावहारिक जन जीवन की दैनन्दिनी में देखी जा सकती है। वेदान्त दर्शन में माया, अविद्या, अज्ञान, अध्य
विवर्त, भ्रम, सदसदनिर्वचनीयता, आदि शब्दों का प्रयोग पर्याय रूप में होता है। नैषधकार ने

---

1. यद्वा अद्वैततत्त्वे बौद्मते यथालोकः श्रद्धां न दधाति। कीदृशे पञ्चमकोटि मात्रे, यदुक्तम् चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाविदुः। पक्षचतुष्टये तां मुक्तिं न प्रयच अद्वैतवादिनश्च बौद्धाः। यदुक्तम् अद्वयवादी जिन..... इति) नैषधचरित हाण्डिकी, पृ० 451 से उद्धृत
2. प्रमातादेहातिव्यतिरिक्तोऽस्तीत्यादौ वैशेषिकादिपक्षः। देहादिव्यतिरिक्तोऽपिनासौ बुद्धेव्यतिरिच्यते क्षां आत्मत्वादिति द्वितीयो विज्ञानवादिपक्षः। तृतीयो दिगम्बरपक्षः। चतुर्थे तु शून्यवादिपक्षे शून्यस्यात्यन्तिकत्व नैषधचरित, हाण्डिकी, पृ० 530 से उद्धृत
3. तत्त्वे द्वित्रिचतुष्कोटिव्युदासेन यथायथम्। निरुच्यमाने निर्लज्जैरनिर्वाच्यत्वमुच्यते।। वेंकटनाथ. न्यायसिद्धा:
4. खण्डनखण्डखाद्य, पृ 21....61
5. तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिवर्चनीयः ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितिम्। वही, पृ० 34
   — एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यदगणयतः क्वचित्। आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु।। वही. पृ० 4
6. द्रश्यप्रपञ्चस्य स्वतः परतश्चासिद्धेः दृगात्मनि अध्यस्ततयैव सिद्धिरिति सिद्धं मिथ्यात्वम् तत्त्वपदीपिका, प
   — वस्तुतोऽसत्यस्यैव यावद् वाधं लौकिकवैदिकव्यवहाराङ्गतया सत्यत्वेन व्यवहारात्। वही पृ० 43
7. अध्यासो नाम स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। ब्र0 सू0 1/1/1 पर शा.भा0, अन्यस्य अन्यधर्मावभासता-वही., "अतस्मिन् तद्बुद्धिरिति" वहीं.
   — असर्पभूतायां रज्जौ सर्यारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः-वेदान्तसार- पृ० 71
   — अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः-गीता-5/15, नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः- वही 7

के विवरण कई प्रसंगों में दिये हैं। यथा-दमयन्ती द्वारा स्वयंवर प्रसंग में पांच नलों में एक का वरण करने में,[1] इन्द्र द्वारा कलि को नल से विरोध त्यागने में[2] एवं चन्द्रवर्णन प्रसंग में।[3] माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है, अनादि तथा भावरूप एवं सदसदनिर्वचनीय भी है। इसकी दो शक्तियाँ होती हैं आवरण एवं विक्षेप। आवरण शक्ति प्रमाता की बुद्धि को ढकलेती है एवं आत्मा में भेदबुद्धि को उत्पन्न कर संसार का कारण बनती है, अर्थात् आवरण शक्ति का कार्य है किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का आवरण करना, तथा विक्षेप शक्ति का कार्य है उसे दूसरे रूप में प्रकट करना।[4] यथा रज्जु में सर्प का ज्ञान, तो तत्क्षण यथार्थ प्रतीत होता है जब कि प्रकाश (ज्ञान) के होने पर उसका बाध हो जाता है, ठीक इसी स्थिति का निरूपण करते हुए श्रीहर्ष ने इन्द्रमुखेन कहलवाया है कि जिस प्रकार रजत में शुक्ति का ज्ञान रूप विशिष्ट भ्रमप्रमा (ज्ञान) को बाधित नहीं कर सकता, उसी प्रकार अतिशय विनम्र दमयन्ती को भी तुम पीड़ित नहीं कर सकते। साथ ही चन्द्रवर्णन प्रसंग में उन्होंने माना है कि भ्रम या अविद्या का विनाश तो अवश्यम्भावी है, परन्तु यह सच है कि अज्ञानी (मूर्ख) व्यक्तियों के भ्रम को अवश्य दूर नहीं किया जा सकता।[5] अद्वैत दर्शन की भी यह मान्यता है कि आत्मा में संसारित्व अविद्या से आरोपित है, जबकि आत्मा संसारी नहीं, फिर भी इसी के कारण आत्मा रूपी धर्मी में "यह मैं हूँ", ऐसी अनात्म बुद्धि होती है, इसी के कारण संसार भी चल रहा है किन्तु जिस दिन या जिस समय अविद्या का निवारण तत्त्वज्ञान या विवेकज्ञान से हो जाता है, उसी दिन या उसी समय व्यक्ति को जीवन्मुक्ति, तत्पश्चात् विदेहमुक्ति प्राप्त हो जाती है, एवं इसी ब्रह्मात्मैकत्त्व ज्ञान प्राप्ति के लिए सभी वेदान्तों का आरम्भ होता है।[6]

वेदान्त दर्शन में पञ्चीकरण सिद्धान्त के प्रसंग में स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर का विवरण प्राप्त होता है।[7] सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर भी कहते है,[8] जो सत्रह अवयवों अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियों पाँच कर्मेन्द्रियों, पंच प्राणों तथा बुद्धि एवं मन से युक्त होता है।[9] शंकराचार्य के साथ-साथ विद्यारण्य[10] स्वामी ने

---

1. अस्तिद्विचन्द्रमतिररित जनस्य तत्र भ्रान्तौ दृगन्तचिपिटीकरणादिरादिः।
   स्वच्छोपसर्पणमपि प्रतिभाऽभिमाने भेदभ्रमे पुनरमीषु न मे निमित्तम्।। नै० 13/42
2. सा विनीतमा भैमी व्यर्थानर्थग्रहैरहो। कथं भवद्विधैबाध्या प्रमितिर्विभ्रमैरिव।। नै० 17/144
3. इन्दुं मुखाद्वहुतृणं तव यद् गृणन्ति नैनं मृगस्त्यजति तन्मृगतृष्णयेव।
   अत्येति मोहमहिमा न हिमांशु बिम्बलक्ष्मी विडम्बिमुखि/ वित्तिषु पाशवीषु।। नै० 22/135
4. अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्।....विक्षेपशक्तिलिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत। वेदान्तसार पृ० 91-92, एवं 94, 97
5. अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढ़स्य तमसा विवेकाभावाद् वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा।
   ततोऽनर्थव्रतो निपतति समादातुरधिकस्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः श्रृणु सखे।। विवेकचूड़ामणि,श्लोक-140
   – माया बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः। अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।। पंचदशी 1/17
   – बुद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः। गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्।। श्रीमद्भागवत 11/11/1
6. अत्यन्त विविक्तयोर्धर्मर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य ''अहमिदम्, ममेदम्, इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः.... एवमयमनादिरन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्ययरूपः कृर्तत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। ब्र.सू. 1/1/1 पर शा0 भा0
7. पंचदशी- 1/27
8. सूक्ष्मशरीराणि सप्तृदशावयवानि लिङ्गशरीराणि।
   अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसो कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं चेति। वेदान्तसार, पृ० 101
   – लिङ्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि, लिङ्गानि च तानि शरीराणि चेति लिङ्गशरीराणि।
9. बुद्धीन्द्रियाणि खलु पञ्च तथापराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च।
   प्राणादिपञ्चकमथो नियदादिकं च कामश्च कर्मश्च तयः पुनरष्टमीपूः।। वृ. उ. 4/3/2 पर शा0 भा0
10. बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते।। पंचदर्शी 1/23
    – तुलनीय- सांख्य दर्शन भी सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व तो स्वीकार करता है, किन्तु वह इसमें अठारह अवयव मानता है। यथा-
    पूर्वोत्पन्नामसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्।। सांख्यकारिका-40, एवं उसकी तत्त्वकौमुदी, व्याख्या, दृष्टव्य- पृ० 250-257
    – महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मान्नपर्यन्तम्- सांख्यतत्त्व कौमुदी

भी लिङ्ग शरीर की रचना के विधान का वर्णन किया है। सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत तीन कोश वित्तानमयकोश, मनोमय कोश, और प्राणमय कोश होते है, जिसमें बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियों सहित विज्ञानमयकोश, मन ज्ञानेन्द्रियों सहित मनोमयकोश, एवं पञ्चवायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमय कोश बनाती हैं। इनमें विज्ञानमय कोश ज्ञान शक्ति से युक्त होने के कारण कर्ता रूप है, मनोमपकोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण करण रूप है, एवं प्राणमय कोश क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण कार्य रूप है।[1] इसमें करण की प्रधानता वृहदारण्यक उपनिषद् के साथ-साथ शंकराचार्य ने भी स्वीकार की है, जिसमें उन्होंने मन को ही लिङ्ग शरीर के रूप में स्वीकार किया है।[2] वेदान्त सम्मत उपर्युक्त तथ्यों की संगति का संकेत विरहव्यथिता दमयन्ती के करूण रोदन प्रसंग में माना जा सकता है, जहाँ दमयन्ती देवदूत बने नल के इन्द्रादि देवताओं के वरण पर जोर डालने पर कहती है कि हाय! ये क्षण नहीं, वरन् क्षण रूप से युग बीत रहे हैं, कहाँ (कब) तक वेदना सहन करूँ? मृत्यु भी तो नहीं आती, क्योंकि यह स्पष्ट है कि मेरा प्रिय भीतर (विज्ञानमयकोश), से मुझे नहीं छोड़ता, मन (मनोमयकोश) मेरे प्रिय को नहीं छोड़ता और मेरे प्राण (प्राणमय कोश) मन को नहीं छोड़ते।[3] वृहदारण्यक उपनिषद में वर्णन मिलता है कि मरण के समय सर्वप्रथम आत्मा शरीर से निकलता है, तदनन्तर प्राण एवं फिर सारी इन्द्रियों के निकलने पर (स्थूल) शरीर व्यर्थ (मृत) हो जाता है।[4] आचार्य नारायण भी उपर्युक्त संदर्भ में वेदान्तसम्मत की पुष्टि करते हैं।[5]

शंकराचार्य जगत की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं, केवल पारमार्थिक रूप से जगत का निषेध करते हैं, इस रूप में वह जगत की व्यावहारिक गतिविधियों को भी व्यावहारिक स्तर तक सत्य मानते हैं[6] क्योंकि व्यवहार का मिथ्यात्त्व पारमार्थिक ब्रह्मात्मता के अनुभव से विदित होता है, इसके पूर्व नहीं, इस रूप में ब्रह्मात्मात्मैक्य के पूर्व सभी जगद् व्यवहार सत्य हैं, जिस प्रकार जाग्रतावस्था के पूर्व सुषुप्तावस्था के स्वप्न व्यवहार तत्क्षण सत्य ही प्रतीत होतें हैं।[7] शायद इसीलिए स्वप्न में देखा हुआ सिंहनाद पारमार्थिक रूप से असत् तो होता है किन्तु स्वप्न देखने वाला भयभीत हो जाता है, एवं स्वप्नकृत सहवास असत् होने पर भी वास्तविक स्खलन करा ही देता है।[8] वृहदारण्यकोपनिषद् में भी वर्णन मिलता है कि जिस तरह जाग्रतावस्था में आत्मा अदृष्टवश सुखदुःख आदि भोगों को भोगता है उसी तरह स्वप्नावस्था में भी स्वप्नकाल के विषयों का भोग कर पुनः पूर्व (स्थूल) शरीर में प्रविष्ट हो जाता है,[9] आचार्य शंकर की भी मान्यता है कि स्वयम्प्रकाश आत्मा इन्द्रियों के उपरत हो जाने पर स्वप्न देखा करता है।[10] वेदान्त दर्शन सम्मत उपर्युक्त तथ्य की संगति दमयन्ती की स्थिति निरूपण प्रसंग में नैषधकार ने की है। चारणों द्वारा नल की प्रशंसा भर दमयन्ती ने सुनी थी, उन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखा नहीं था, फिर भी वह दमयन्ती

---

1. वेदान्तसार, पृ० 10[illegible]-109
2. कामः संकल्पो विचिकित्सा- अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति। वृ0 उप0 1/5/3
   – लिङ्गमनः, मनः प्रधानत्वात् लिङ्गस्य मनः लिङ्गमित्युच्यते। वृ. उ. 4/4/6 पर शा0 भा0
3. अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत्सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे।
   स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न काय वायवः।। नै० 9/94
4. तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्ति। वृ.उ. 4/4/2
5. द्रष्टव्य 9/94 नारायणी टीका
6. प्रागब्रह्मात्मता प्रतिबोधात् उपपन्न सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। ब्र.सू. 2/1/14 पर शा0 भा0
7. सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः। स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्। वही0
8. बौद्ध दर्शन और वेदान्त- डॉ. चन्द्रधाशर्मा, पृ० 204
9. प्राणेनरक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयते मृतो यत्र काम हिरण्मयः पुरुष एक हंसः।वृ. उ. 4/3/12
10. उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान पश्यति वृ0 उ0 4/3/12 पर शा0भा0

नल को पति रूप में प्रत्येक रात्रि में देखती थी, क्योंकि स्वप्न अदृष्ट वस्तु को भी भाग्य से दृष्टिगोचर करा ही देता है। दमयन्ती की निद्रा (स्वप्नावस्था) ने, बन्द हुए नेत्रों से तथा बाहर की इन्द्रियों के विषय न ग्रहण करने के कारण अशक्त हुए मन से भी छिपाकर कभी न देखे गये नल को, बड़े रहस्य की तरह उसे (नल रूप दर्शन कराया)[1] दिखाया। इस प्रकार नैषधकार ने भी, शंकराचार्य जैसे मनीषियों के मत को माना, कि यथार्थ में भले स्वप्नादि व्यावहारिक क्रियाओं की सत्ता न हो, लेकिन व्यावहारिक रूप से उसकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त संदर्भ में अदृष्ट शब्द के प्रयोग से नैषधकार मीमांसकों से,[2] एवं अदृष्टवश स्वप्न विवरण देने के प्रसंग में वैशेषिक दर्शन से प्रभावित दिखते हैं।[3]

1. मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
   अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्। नै० 1/39
   – निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाहेन्द्रियमौनमुद्रितात्।
   अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः।। नै० 1/40
2. तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः नै० 1/39 मल्लिनाथ
   – अदृष्टमिति- सुप्तिः स्वप्नः कदाचिददृष्टमप्यर्थं वस्तु अदृष्टवैभवाद्धर्माधर्मसामर्थ्याज्जनदर्शनातिथिं जनदर्शनगोचरं करोति। यदृष्टं दृश्यते स्वप्नेऽननुभूतं कदापि न, इति न्यायेन जन्मान्तरस्थानान्तरानुभूतं समुत्पन्नसंस्कारमस्मिञ्जन्मन्यदृष्टमप्यर्थं धर्माधर्माविव दर्शयत इति भावः।
   चित्रादौ- नलदर्शने सत्यपि साक्षात्तद्दर्शनाभावददृष्ट त्वोक्तिर्युक्त ।
   साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने तस्य स्याद्दर्शनं त्रिधा- नै० 1/39 नारायण।।
   – अदर्शनं चात्र मनसो बाहेन्द्रियमौनमुद्रितदिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्य मेव। नै० 1/40 मल्लिनाथ, एवं विस्तृत विवेचन हेतु नै० 1/40 नारायणयी टीका भी द्रष्टव्य
3. यदा बुद्धिपूर्वादात्मन...। तत्र त्रिविधम्, संस्कारपाटवाद्धातुदोषादृष्टाच्च।.....(अदृष्टात्) यत्स्वयमनुभूतेष्वननुभूतेषु वा प्रसिद्धेष्वप्रसिद्धार्थेषु, वा यच्छुकभावेदकं गजारोहणच्छत्रलाभादि तत्सर्वं संस्कारधर्माभ्यां भवति, विपरीतं च तैलाभ्यञ्जनखरोष्ट्रारोहणादि तत्सर्वमधर्मसंस्काराभ्यां भवति। अत्यन्ताप्रसिद्धार्थेष्वदृष्टादेवेति। स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भवति, तथाप्यतीतस्य ज्ञानप्रबन्धस्य प्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेवेति भवत्येषा चतुर्विधाऽविद्येति। वैशेषिक सूत्र 17 पर प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० 149-152

तृतीय अध्याय

नैषध में व्याकरणात्मक संदर्भ

व्याकरणशास्त्र

मानव के अन्तस्थल में उमड़े भावों, विचारों एवं संवेदनाओं को व्यक्त करने का माध्यम भाषा ही रही है, एवं आज भी है, भले ही भावों के अभिव्यंजन में भाषाओं की विविधता देखी जाती है। भाषा और विचार के तारतम्य को सुष्ठरूप या सौशब्द प्रदानकर्ता व्याकरण है। विद्वानों ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा- "व्याक्रियन्ते व्युत्पादन्ते शब्दाः येन"[1] (वि+आ+कृ+ल्युट् के योग से व्याकरण शब्द की निष्पत्ति होती है)। अर्थात् जिस शास्त्र से शब्दों का व्याख्यान एवं व्युत्पादन हो, उसे व्याकरण शास्त्र कहते हैं। यह शब्दों की व्युत्पत्ति एवं व्याख्यान तक ही सीमित है, इसलिए इसको शब्दानुशासन, पदशास्त्र या शब्द शास्त्र भी कहते हैं, शायद इसीलिए वैयाकरणों को शाब्दिक भी कहा जाता है। व्याकरणशास्त्र का ध्येय या उद्देश्य शब्द साधुत्व का प्रतिपादन है तथा इसका कार्य शब्दानुशासन है, शब्द शासन नहीं। शायद तभी वैयाकरणों के बारे में कहा जाता है- "अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यते वैयाकरणाः"। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, प्रातिशाख्य आदि सभी प्राचीन ग्रंथो में व्याकरणिक विश्लेषण का प्रसङ्ग, उनके अध्ययन में सौकर्य हेतु, पद विभाग करने में द्रष्टव्य है।[2] वैसे तो व्याकरण की गणना वेदाङ्ग के अन्तर्गत[3] भी की जाती है, परन्तु वैदिक ऋचाओं को विभक्त करने में उपलब्ध पदों एवं पदों में प्रयुक्त प्रकृति, प्रत्यय, सन्धि, समास, आगम, लोप, वर्णविकार के विवेचन में (नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात, अर्थात्) निरुक्त का भी योगदान रहता है इस प्रकार "शास्त्रं हि शास्त्रान्तरानुबन्धि" इस उक्ति के अनुसार व्याकरण शास्त्र का अन्य शास्त्रों से भी महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

ऋक्तंत्र में वर्णन मिलता है कि व्याकरणशास्त्र के ज्ञान को ब्रह्मा ने वृहस्पति से कहा, वृहस्पति ने इन्द्र से तथा इन्द्र से भरद्वाज, भरद्वाज से ऋषियों एवं ऋषियों से वही ज्ञान परम्परा ब्राह्मणों को मिली।[4] इस दृष्टि से व्याकरणशास्त्र के आदिम वक्ता ब्रह्मा, वृहस्पति, इन्द्र, भारद्वाज, आदि ऋषि एवं ब्राह्मण हुए। निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने 8 शाब्दिक आचार्यों का उल्लेख किया है।[5] वे आठ संभवतः वोपदेवकृत कविकल्पद्रुम में वर्णित, इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर, एवं जैनेन्द्र आदि ही थे।[6] इनके अतिरिक्त भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका, तथा भास्कराचार्य की

---

1. संस्कृत हिन्दी कोश- वी0एस0 आप्टे, पृ० 988
2. यं सहांसि सहसा सहन्ते - ऋ0- 6/66/9
   धान्यमसि धिनुहि देवान्- यजु0 1/20
   येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुमते सदा- साम0उप0 5/2/8/5
   तीर्थैस्तरन्तिः अथर्व- 18/4/8
3. छन्दः पादौ 'तु' वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। पाणिनीय शिक्षा-श्लोक41, 42
   ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। महाभाष्य, पस्पश आह्निक, पृ० 15 पर उद्धृत।
4. व्याकरण शास्त्र का इतिहास युधिष्ठर मीमांसक- पृ० 67, ऋक्तंत्र 1/4
   ऐतरेय ब्रा0 8/26, कामसूत्र 1/17, अष्टांग हृदय, पृ० 18 (निर्णय सागरप्रेस) महाभारत 1/1/1, तै0सं0 6/4/7 तथा सायण, का ऋग्भाष्य उपोद्घात-भाग। पृ० 26 (पूना संस्करण)
5. निरुक्त विवृति- दुर्गाचार्य - पृ०- 74-78
6. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः। पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।।
   यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्। पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ।। महाभारत टीका- देवबोध।

लीलावती में भी आठ वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है।[1] देवनन्दी ने सात[2], जबकि रामायण[3], गीतासार इत्यादि में 9 एवं काशिकावृत्ति में[4] केवल 5 वैयाकरणों का वर्णन प्राप्त होता है। परन्तु व्याकरण की इस सुदीर्घ परम्परा के महनीय आचार्य पाणिनि ही रहे, वैसे पाणिनि पूर्व 23 वैयाकरणों का वर्णन मिलता है[5], परन्तु व्याकरण का सारा अस्तित्व अष्टाध्यायी में ही सिमट कर रह गया। बाद में कात्यायन एवं पतंजलि ने व्याकरणशास्त्र में वार्तिक एवं भाष्यलिखकर व्याकरणिक ज्ञान को प्रतिष्ठा प्रदान किया जिसमें भर्तृहरि के वाक्यपदीय का भी यथेष्ट योगदान है। प्रसिद्ध काव्यमनीषी, सहृदय चक्रवर्ती आनन्दवर्धन (92 शताब्दी) ने जहाँ मीमांसकों का खण्डन किया, वहीं वैयाकरणो को प्रथम विद्वान् की पद्वी से भी अलंकृत किया।[6] स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र व्याकरण से अत्यधिक प्रभावित था और शायद यही कारण था कि प्रसिद्ध महाकाव्यकारों ने अपने-अपने महनीय ग्रंथों में व्याकरण तंत्र का भी यथेष्ट रूप से प्रतिपादन किया, उनमें कालिदास,[7] अश्वघोष[8], भारवि,[9] भट्टि[10] माघ,[11] एवं श्री हर्ष प्रमुख हैं। पंचतंत्र[12] एवं अग्निपुराण[13] में भी व्याकरणशास्त्र सम्मत विवरण मिलता है। "नैषधीयचरितम्" में प्राप्त व्याकरणिक सन्दर्भों से यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष अपने पूर्व महाकवियों से प्रभावित थे एवं उन्होंने भी उसी परम्परा का निर्वहन किया है जो उन्हें अपने पूर्व महाकवियों से मिली थी।

महाकाव्यकारों की परम्परा का अर्थात् अपने महाकाव्यों में शब्दसाधुत्व या व्याकरणत्व प्रतिपादन की परम्परा को श्रीहर्ष ने भी बखूबी निभाया है। उन्होंने तो अपने काव्य के बारे में स्पष्ट रूप से घोषणा ही कर दी थी, कि "मैंने (श्रीहर्ष ने) जान-बूझकर इसमें व्याकरणात्मक गुत्थियाँ संजोयी हैं, जिससे कोई पण्डितम्मन्य खल अवज्ञा पूर्वक इस ग्रंथ को न पलट सके।[14] श्रीहर्ष के उपर्युक्त कथन की पुष्टि का नैषध के प्राचीन टीकाकारों यथा – चाण्डू पंडित, विद्याधर, मल्लिनाथ एवं नारायण की टीकाओं के अध्ययन से पता चलता है जहाँ उन्होंने ग्रंथ की टीका में पदे-पदे व्याकरण की गुत्थियों को सुलझाया है। विद्याधर ने उनकी व्याकरण विषयक बहुज्ञता का वर्णन करते हुए कि कहा कि-

---

1. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पी०वी०काणे- पृ०- 49, फुटनोट 1,2
2. जैन साहित्य और इतिहास - पृ० 160।
3. रामायण- उत्तरकाण्ड 36/47
4. काशिकावृत्ति 4/2/60।
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास- बहादुर चंद छाबड़ा- पृ०- 620।
6. प्रथयो हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ध्वन्या लोक, पृ० 138।
7. रघु वंश 15/7,9
8. सौन्दरनन्द - 1/44, 45, 47, 49, 50, 51, 56, 2/10, 15, 22, 26, 44, 6/34 बुद्धचिरत - 2/16, 33, 35, 44, 8/25
9. किरात - 1/44, 13/19, 15/14, 16, 38
10. भट्टिकाव्य (रामबध) 1/3, 13/28, 39, 22/33, 34, 35
11. शिशुपाल बध - 1/47, 2/14, 72, 95, 112, 19/66, 84, 98, 100, 102, 103, 108, 114, 5/28, 10/15, 16/80
12. सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान् प्रियान् पाणिनेः। पंचतंत्र 2/33।
13. अग्निपुराण- 349-361 अध्याय तक। वक्ष्ये व्याकरणं सारं सिद्धशब्दस्वरूपकम्। कात्यायन विबोधाय बालानां बोधनाय च। प्रत्याहारादिकाः संज्ञा शास्त्र संव्यवहारगाः।। अग्निपुराण 349/1।
14. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया, प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु ।। श्रद्धाराद्धगुरूश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय,- त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ।। नै० कविप्रशस्ति- श्लोक- 3

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो,
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यास्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्यं स्युंः स्फुरितार्थदीप विहता ज्ञानान्धकाराण्यसौ,
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः ।।[1]

व्याकरणशास्त्र में विभक्ति, कारक, शब्दरूप, धातुरूप, लिंगनिर्धारण, सन्धि, समास, प्रकृति, प्रत्यय, संज्ञा, आदेश, काल लकार आदि का विस्तृत विवेचन किया जाता है। नैषधकार ने भी इन शब्दों की अनेकार्थकता का लाभ उठाते हुए अपने बौद्धिक कलाबाजी का सुन्दर प्रदर्शन करते हुए व्याकरणशास्त्र की मीमांसा नैषध महाकाव्य में की है।

व्याकरण तंत्र में विभक्तियों का अप्रतिम स्थान है। विभक्तियाँ व प्रकार की होती हैं, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी एवं सप्तमी एवं इनमें एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन का निर्धारण क्रमशः सु, औ, जस् इत्यादि सुप् प्रत्ययों से किया जाता है। नैषध में हंस दमयन्ती के सम्मुख जब नल की प्रशंसा करता है, तब श्लेष बल से उपर्युक्त तथ्य का प्रसंग उपस्थित होता है।

हंस कहता है कि यदि सज्जनों (महापुरुषों) को श्रेणियों में विभाजित किया जाय तो वह (नल) ही प्रथम व्यक्ति होगा, जो अपने पराक्रम के विलासों से बहुत से शत्रुस्थानों को वश में करने में समर्थ है।[2] पक्षान्तर में यदि (सुप्-तिङ् रूप) साधु विभक्तियों का विचार किया जाय तो प्रथमा नाम से प्रसिद्ध (वह विभक्ति) होगी, जो सु, औ, जस्, (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) के विलासों से बहुत से 'नाम' प्रातिपदिक, आदि पदों को सिद्ध करने के लिए समर्थ है। स्मरणीय है कि व्याकरणशास्त्र में प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण वचन मात्रे प्रथमा[3] से नियमानुसार सभी विभक्तियों में से किसी विभक्ति विशेष की प्राप्ति नहीं रहने पर प्रातिपदिकार्थ' में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग सामान्यतः होता है। अतएव वह प्रथमा विभक्ति ही सु, औ, जस् रूप प्रत्ययों के विसर्ग लोप, वृद्धि, दीर्घ आदि कार्यों के विलास से 'प्रातिपदिक' पद को सिद्ध करने में समर्थ होती है एवं यदि एकबचन आदि विभक्तियों में साधु विभक्तियों का विचार किया जाय, तो सु, औ, जस् के बीच में प्रथमा (पहली) विभक्ति अर्थात् 'सु' विभक्ति होगी, जो अपने विसर्ग लोपादिरूप बल के विलासों से प्रातिपदिक पद को सिद्ध करने के लिए समर्थ है। 'अपदं न प्रयुञ्जीत्' एकवचनमुत्सर्गतः'' अर्थात् अपद (साधुत्व हीन) शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि- एकवचन का प्रयोग स्वभावतः (किसी विभक्ति विशेष की आकांक्षा नहीं रहने पर भी स्वतः ही) किया जाता है। इस प्रकार सु, औ, जस्, विभक्तियों में पहली सु विभक्ति सभी प्रातिपदिक पदों को सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ है, वैसे ही नल अपने असंख्य शत्रुओं को अपने पराक्रम से अधीन करने में सर्वथा समर्थ हैं।

व्याकरणतंत्र में तृतीया विभक्ति का एक नियम है कि "जितने समय तक (कालावधि पर्यन्त) या जितनी दूरी में कोई कार्य सम्पन्न होता है उस (समय एवं दूरी वाचक शब्द) में तृतीया विभक्ति होती है।"[4] नैषध में चार्वाक एवं देवताओं के वार्तालाप प्रसङ्ग में शब्दच्छल द्वारा चार्वाक इस सूत्र को अपने मत के समर्थन में व्यक्त करते हुए कहता है कि- उभयी प्रकृति अर्थात् स्त्री-पुरुष रूप में व्यक्त प्रकृति

---

1. 0.1 Ms. No.9, Folio - 2780 एवं जानी Appendex- 10/2.
2. क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया। या स्वौजसां साधयि तुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहुस्यात्।। – नै० 3/23।
3. पा०सू० 2/3/46।
4. अपवर्गे तृतीयां - पा०सू० 2/3/6।

काम अर्थात् तृतीय पुरुषार्थ (मैथुन) में आशक्त हों,[1] यह अपवर्गे तृतीया अर्थात् स्त्री पुरुषातिरिक्त तृतीया प्रकृति[2] (नपुंसक) अपवर्ग अर्थात् मोक्षाशक्त हों, ऐसा पाणिनि ऋषि को भी अभिप्रेत है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि- "अपवर्गे तृतीया" ऐसा कहते हुए पाणिनि मुनि का भी "स्त्री पुरुष काम (मैथुन रूप तृतीय पुरुषार्थ) में आशक्त होवें, ऐसा मत है। यद्यपि उक्त पाणिनि सूत्र का अभिप्राय यह है कि फलप्राप्ति द्योत्य रहने पर काल तथा मार्ग के अत्यन्त संयोग में तृतीया विभक्ति होती है जैसे- अहनाऽनुवाकोऽधीतः, क्रोशेनानुवाकोऽधीतः" तथापि नैषधकार का चार्वाक नामक पात्र जो कलि का प्रतिनिधि है, शब्दच्छल से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हुआ उक्त सूत्र का अर्थ करता है कि "तृतीया प्रकृतिः शण्ढः क्लीबः षण्डो नपुंसकम्" से तृतीया प्रकृति अर्थात् नपुंसक व्यक्ति (काम में असमर्थ होने के कारण) मोक्ष में आशक्त हों (ऐसा देवताओं के लिए कहता है) और शेष उभयी प्रकृति अर्थात् स्त्रीपुरुष हमेशा कामाशक्त रहें" ऐसा मेरे (चार्वाक के) आचार्य का नहीं, अपितु तुम लोगों के सर्वमान्य पाणिनि का मत है। यहाँ "अपि' शब्द से यह ध्वनित होता है ("अथ च धर्मार्थकाममोक्षाः स्युः") कि– मोक्ष अर्थात् अपवर्ग के अव्यवहित पूर्व "काम' का कथन होने से "तृतीय प्रकृति' वाले अर्थात् नपुंसक व्यक्ति मोक्ष का और शेष दो प्रकृति स्त्रीपुरुष कामसेवन करें, यह पाणिनि का भी मत है। यहां पर नैषधकार ने चार्वाकमुखेन पाणिनि के सूत्र अपवर्गे तृतीया की प्रकारान्तर से व्याख्या करवायी है।

व्याकरणशास्त्र में छैः प्रकार के कारकों का वर्णन मिलता है। वे हैं-कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण। सम्प्रदान कारक[3] का वर्णन करते हुए नैषधकार कहते हैं कि लाखों वृक्ष संसार में है, परन्तु प्रशंसनीय कल्पवृक्ष ही है जो केवल अमृतभोगी देवों को ही अपना फल देता है।[4] अपादान कारक अलगाव अर्थ में होता है।[5] इसका वर्णन देवकलि वार्तालाप प्रसङ्ग में मिलता है, जहाँ देवतागण कलि से कहते हैं कि "त्रैलोक्य में सुन्दर युवकों के गर्व को नष्ट करने वाला वह स्वयंवर समाप्त हो चुका है, क्योंकि हम लोग वहीं से आ रहे हैं।[6] ध्यातव्य है कि उपर्युक्त प्रसङ्ग में श्रीहर्ष ने कारकों के नाम की विवक्षा रखकर व्याकरणशास्त्र के इस अंगभूत तत्त्व (कारक) की मीमांसा रखने की चेष्टा की है।

व्याकरणशास्त्र में स्वर तीन प्रकार के माने जाते हैं, उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित।[7] वैतालिकों ने नल दमयन्ती को शय्यापरित्याग करने के लिए अपने प्रशंसापरक वाक्यों में कहा कि "रवि की प्रभातकालीन किरणों रूपी ऋचाओं के ओंकारों पर स्पष्ट और निर्मल अनुस्वार विन्दु लगाने के लिए आकाश में कोई तारों को चुनता जा रहा है और उन्हीं ऋचाओं के ऊपर "उदात्त स्वर'[8] के चिन्ह की रेखाएँ बनाने के लिए ही चन्द्रमण्डल से निःसन्देह किरणें चुन ली गयी है।[9] उदात्त स्वर का विवरण देवों

---

1. उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतम् । अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ।। नै० 17/68
2. तृतीया प्रकृतिः शण्ढः क्लीबः षण्डो नपुंसकम्। अमरकोश - 2/6/39
3. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्- अष्टा 1/4/32
4. किं न द्रुमा जगति जाग्रति लक्षसंख्यास्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः ।
   स्तुत्यस्तु कल्पविटपी फलसम्प्रदानं कुर्वन्स एष विबुधानमृतैकवृत्तीन् ।। नै० 11/125
5. ध्रुवमपायेऽपादानम्- अष्टा0 1/4/24, अपादाने 'पंचमी' 2/3/28
6. अतिवृत्तः स वृत्तान्तस्त्रिजगद्युवगर्वनुत् । आगच्छातामपादानं स स्वयंवर एव नः।। नै० 17/118
7. उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः । पा0 सू0 1/2/29-----31
8. उच्चैरुदात्तः, पा0सू0 1/2/29
9. रविरुचिर्ऋचामोङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुतां, गमयितुममुरुच्चीयन्ते विहायसि तारकाः।
   स्वर विरचनायासमुच्चैरुदात्तलयाऽऽहृताः, शिशिरमहसो विम्बादस्मादसंशरमंशवः।। नै० 19/7

द्वारा नल को दूत बनाने की अभ्यर्थना में भी दृष्टव्य है।[1] महाकवि माघ ने भी ध्दात्त स्वर का विवरण देते हुए लिखा कि – सामान्यतया वैदिक व्याकरण में अन्य स्वरों को सभा त का एक पद में एक ही उदान्त स्वर शेष बचता है। यथा –

तदीशितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा । निहन्त्यरीनेकपदे यः उदान्तः स्वरानिव ।।[2]

ध्यातव्य है कि इसमें "अनुदान्तं पदमेकवर्जम् (पा०सू० 6/1/58) इति परिभाषाबलाच्चेति भावः" दृष्टव्य है। महाकवि माघ ने इस तथ्य का भी वर्णन किया है कि वर्णमाला के 'क' आदि वर्णों पर सम्पूर्ण वाङ्मय उसी तहर आश्रित है जिस तरह स,र,ग,म, आदि सप्त स्वरों पर सम्पूर्ण संगीतशास्त्र।[3] इसके साथ साथ माघ में अष्टाध्यायी (1/1) के महत्व का विवरण समुपस्थापित करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सूत्र (माहेश्वर सूत्र) के अविरूद्ध पद (कृदन्त, तद्धितान्त, समस्त आदि पद) तथा न्यास (काशिकावृत्ति का व्याख्यान ग्रंथ) है, जिसमें ऐसी सुन्दर वृत्ति काशिका सूत्रों के व्याख्यानात्मक ग्रंथ वाली तथा श्रेष्ठ निबन्धन (पंतजजि मुनि प्रणीत महाभाष्य ग्रन्थावली) भी शब्द विद्या (व्याकरणशास्त्र), स्पश (व्याकरण के प्रयोजन को निर्दिष्ट करने वाला भाष्य पस्पश नामक आह्निक) के बिना नहीं सुशोभित होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण गुणों से युक्त राजनीति भी गुप्तचरों की नियुक्ति से शून्य होने पर शोभा नहीं देती।[4]

स्मरणीय है, कि महर्षि पतंजलि ने अष्टाध्यायी सूत्र के स्वरचित महाभाष्य में "रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्" कहते है, अर्थात लोप आगम, तथा वर्ण मे विकारों का ज्ञाता ही वेद का रक्षण कर सकता है क्योंकि यज्ञ में मंत्रो की विभक्तियों (ऊह) का कर्मकाण्ड की प्रक्रिया के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है, तथा आगम (वेद) स्वयं व्याकरण के अध्ययन पर आग्रह रखता है और शब्दों का लघु उपाय से ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है, एवं मन्त्रों के उच्चारण ही कर सकता है। इसीलिए पस्पश आह्निक के न जानने से लोगों की "अनुसूत्र पदन्यासः सद्वृत्ति ही नही होती एवं उसके बिना व्याकरण सुशोभित भी नहीं होता। इस प्रकार सातवी शताब्दी के संस्कृत वाङ्मय के अनर्घरत्न माघ, जिन्होंने शिशुपालबध महाकाव्य में कालिदास के काव्य सौन्दर्य, भारवि के अर्थगौरव एवं भट्टि से व्याकरण पाटव का अनुकरण कर इस काव्य को उपर्युक्त तीनों महाकवियों से श्रेष्ठ ग्रंथ रचित करने की उद्योग किया, एवं जिनके काव्य के विषय में माघे सन्ति त्रयो (उपमा, अर्थगौरव, एवं पदलालित्य) गुणाः एवं मेघे माघे गतं वयः" जैसी उक्तियाँ प्रचलित हैं, ने शिशुपाल वध में काव्य शास्त्रीय सन्दर्भो के साथ साथ व्याकरण शास्त्रीय[5] पक्षों के वर्णन में अपने बौद्धिक व्यायाम की अपूर्व चातुरी दिखायी है। नैषधकार भी उन्हीं का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं।

---

1. इष्टं नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याद्य स्वराह्नादिनी, धर्मार्था सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम् ।
त्वत्कीर्तिः पुनती पुनस्त्रिभुवनं शुभ्राद्वयादेशनाद् । द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु ।। नै० 5/135
2. शिशु बध0 2/95
3. वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव । अनन्ता वाङ्मस्याहो गेयस्येव विचित्रता ।। शिशु, ब0 2/72
4. अनुसूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना । शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ।। शिशु0 2/112
5. सटाच्छटाभिन्नघनेन विभ्रता नृसिंह ! सैंहीमतनुं तनुं त्वया ।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरूरोर्विदारं प्रतिचस्करे नखैः ।। शिशु0 1/47
- ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा । ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ।। शिशु0 2/14
- सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि, जक्षुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूनाः ।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्वदोष प्रवादममृजन्नगनिम्नगानाम् ।। वही 5/28
- सन्तमेव चिरमप्रकृतत्वादप्रकाशितमदिद्युतदङ्गे । विभ्रमं मधुमदः प्रमदानां धातुलीनमुपसर्ग इवार्थम् ।। वही 10/15
- परितः प्रमिताक्षरापि सर्वं विषयं व्याप्तवती गता प्रतिष्ठाम्।। वही 16/80

शब्दशास्त्र में प्रयुक्त आदेशों का भी नैषधकार ने वर्णन नैषध में किया है।[1] आदेश (किसी वर्ण या शब्द के स्थान पर किया गया अन्य वर्ण या शब्द) स्थानी के (जिसके स्थान पर किया जाता है उसके) तुल्य होता है, किन्तु पाणिनि का कथन है कि स्थानी के किसी अल् (वर्ण) के आश्रय से यदि कोई (व्याकरण सम्बन्धी) विधान करना हो तो उस आदेश को स्थानिवद्भाव प्राप्त नहीं होता।[2] श्रीहर्ष स्वयंवर प्रसङ्ग में नल रूपधारी इन्द्र के प्रति व्यक्त वाक्यों में उपर्युक्त सूत्र की व्यञ्जना निर्धारित करते हुए कहते हैं कि-

> स्वं नैषधादेशमहो ! विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन् ।
> किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तादृक् कृतव्याकरणः पुनः सः?[3]

अर्थात् इन्द्र ने अपने को नल का आदेश (दमयन्ती के परिहार वचन को अन्यथा (अप्सराओं से सम्बद्ध अभिप्राय रहते हुए भी मानवोचित) अर्थ बतलाकर, पाठान्तर में दमयन्ती के प्रति नल को दूत बनाकर भेजना भी व्यर्थ होने पर) कार्य (दमयन्ती प्राप्ति) के लिए नलभिन्न नहीं होता हुआ अर्थात् नल होता हुआ, तथा वैसा (दमयन्ती विषयक अनुराग के अधीन होकर विपरीत) व्याख्यान करता हुआ स्थानी (जिसके स्थान पर आदेश होता है, वह स्थानी कहलाता है) के समान दुष्टभाव (परस्त्री विषयक चाह) को क्यों धारण किया है? पक्षान्तर में, व्याकरण (ऐन्द्र व्याकरण को बनाने वाला यह इन्द्र (नलरूप को धारण कर) नैषधादेश होकर अल् (अल् नामक वर्ण समूह के प्रत्येक अक्षर का बोधक प्रत्याहार विशेष) से अभिन्न "अल' कार्य के लिए दुष्ट (स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ के विरूद्ध) स्थानिवद्भाव, (देवत्व छोड़कर मनुष्यत्व) को क्यों धारण किया? ऐसा करना (इन्द्र जैसे) प्रसिद्ध वैयाकरण के लिए उचित नहीं था। क्योंकि व्याकरण में "नहो धः"[4] से "ध' आदेश होने पर अल् प्रत्याहार सम्बन्धी कार्य में स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ से स्थानिवद् कार्य का निषेध होता है, एवं स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ सूत्र से अलाश्रित कार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध होने पर भी पथिमथ्यृभुक्षामात्[5] सूत्र से अल् करने पर स्थानिवद्भाव से आये हुए हलत्व का "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्"[6] से सु का लोप नहीं होता है, किन्तु (वैयाकरण) इन्द्र ने वहाँ पर भी स्थानिवद्भाव, किया है, यह आश्चर्य का विषय है। नैषधकार

---

1. दयोदयश्चेतसि चेत्तवाभूदलंकुरु द्यां विफलो विलम्बः ।
   भुवः स्वरादेशमथाचरामो भूमौ धृतिं यासि यदि स्वभूमौ ।। नै08/96
2. स्थानिवदादेशोऽनलविधौ- पा0सू0 1/1/56
3. नै0 10/136
4. नहो धः 1/8/2/34, नहो हस्य धः रयाज्झलि पदान्ते च। उपानत् उपानद्। उपानहौ। उपानहः। उपनद्भ्याम्। उपानत्सु।। उत्पूर्वात्ष्णिह प्रीत्यावित्यस्मादृत्विगादिना क्विन्। निपातनाद्दलोपषत्वे। क्विन्नत्वात्कुत्वेन हस्य घः। जश्त्वचर्त्वे। उष्णिक् उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिहः। उष्णिग्भ्याम्। उष्णिक्षु। द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युषु। गीः। गिरौ। गिरः। चतुरश्चतस्रादेशः। चतस्रः 21 चतसृणाम्। किमः कादेशे दाप्। का। के। काः। सर्ववित्। सिद्धान्तकौमुदी सूत्र, 590, पृ.122 एवं नहो धः। द इत्येव तु नोक्तं, तथा हि सति नद्धमित्यत्र रदाभ्याम्-4024, इति नत्वं स्यात् झषस्तथोः-3047' इति च न स्यात्। नहो हस्येति। हो ढः 447 इत्यतोऽनुवृत्तेः 'अलोऽन्त्यस्य 66' इत्यनेन वा हस्यैवादेश इति भावः "झलो झलि 3048" पदस्य 539' स्कोः संयोगाद्योरन्ते च 516" इत्यतो झलपदान्तग्रहणान्यनुवर्तन्ते तदाह-झलीत्यादि। झलि परतः पदान्ते वा विद्यमानस्येत्यर्थः।। उपानदिति। उपपूर्वान्नहेः संपादित्वालिपि "नहिवृत्ति 1489" इति पूर्वपदस्य दीर्घः, सोर्हल्ङ्यादिलोपे धत्वं जश्त्वचर्त्वे। अत्रेदं बोध्यम् सुष्ठु अनड्वाहो यस्यामिति बहुब्रीहौ स्वनड्वानिति पुवदेव रूपम्। केचित्तु गौरादिङीषं कृत्वा निगरणे" गृ शब्दे इत्यस्माद्वा क्विप् "ऋत इद्धातोः 3183" इतीत्वे रपरत्वम्। र्वोरुपधायाः दीर्घः 580' इति दीर्घः।। पूरिति। पृ पालनपूरणयोः उदोष्ठ्यपूर्वस्य 3312" इत्युत्वम्।। चतस्र इति। इह चतुरडुहोः-455, इत्याम्र भवति, परत्वादामं बाधित्वा चतस्रादेशे कृते सकृद्गतिन्यायेन पुनरुतस्याप्रवृत्तेः। चतसृणामिति। न तिसृचतसृ 418' इति न दीर्घः। सर्वावदिति। तेन तुल्यम्-2409" इति वतिः। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे-1053' इति पुंवद्भावः।
   सिद्धान्त कौमुदी, सूत्र 590 तत्वबोधिनी व्याख्या, पृ0 122-123 । पा0 सू0 8/2/34
5. पा0 सू0 6/1/85
6. पा0 सू0 6/1/68

द्वारा वर्णित पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र की यदि दमयन्ती स्वयंबर प्रसङग के साथ-साथ सम्पूर्ण वस्तुस्थिति पर ध्यान दिया जाय, तो उसके अनेक पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। इन्द्र नल रूप धारण कर दमयन्ती को प्राप्त करना चाहता है। यहाँ इन्द्र को स्वयं नल का रूप ग्रहण कर नल के स्वभाव (परस्त्री-विषयक चाह या कपट युक्त अन्यथा अर्थ करने का अभाव) का भी ग्रहण करना उचित था, किन्तु इन्द्र ने नलादेश होकर (नल का रूप धारण कर) भी अपने कहे हुए वाक्य के मनोगत वास्तविक अर्थ को छिपाकर अन्यथा अर्थ कहना इन्द्रत्वावस्था में रहने के समान दुष्ट भाव को प्रकट करता है। दूसरा, ना (मनुष्य) नल एवं विद्वान भी उस प्रकार अन्यथा अर्थ का स्थानी (इन्द्र पद) के समान क्यों दुष्ट भाव धारण किया? क्योंकि इन्द्र का यज्ञ तप आदि में विघ्न डालने से दुष्ट स्वभाव होना तो कथञ्चित उचित हो सकता है, परन्तु मनुष्य नल एवं विद्वान् होकर भी काम के लिए इन्द्र स्वभाव को नहीं छोड़ना और अपनी बात को अन्यथा समझना उचित नहीं हैं। यहाँ व्याकरणिक संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि विद्वान तथा वैयाकरण होते हुए भी इन्द्र ने 'ध' आदेश (नहो धः पा0सू0 8/2/34 से) करके 'अल्' प्रत्याहार' सम्बन्धी कार्य में स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (या0सू0 1/1/56) से स्थानिवत् कार्य का निषेध होने पर भी स्थानिवद्भाव नहीं किया क्या? अथात् अवश्य ही किया। स्थानिवत् सूत्र से अलाश्रित कार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध होने पर भी 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (पा०सू० 6/1/85) सूत्र से अल् करने पर स्थानिवद्भाव से आये हुए हल्त्व का आश्रय कर- ''हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' (पा०सू० 6/1/68) से 'सु' लोप नहीं होता है, किन्तु उक्त प्रसंग में महावैयाकरण इन्द्र ने वहाँ पर भी स्थानिवद्भाव किया है। इसके अतिरिक्त यहाँ इस तथ्य का भी स्पष्टीकरण होता है कि अपने को नैषधादेश (नल के स्थान पर) करके स्वकार्य सिद्धि प्राप्ति हेतु इन्द्र ने विशिष्ट आकृति देवत्व को छोड़कर मनुष्य नल की आकृति धारण करने के साथ-साथ दुष्ट स्थानिवद्भाव को क्यों धारण किया अर्थात् देवभाव को छोड़कर मनुष्य भाव क्यों ग्रहण किया, यह अतीव आश्चर्य का विषय है।[1]

व्याकरणशास्त्र में पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक शब्दशास्त्रवित् थे, परन्तु उनमें मुख्य रूप से आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन, इन्द्र, काशकृत्स्न, पौष्करसादि, 'भागुरि, माध्यन्दिनि, वैयाघ्रपद्य, गौतम एवं व्याडि थे[2] परन्तु पाणिनि ने उपर्युक्त में से दस वैयाकरणों यथा- आपिशलि, काश्यप, गाार्ग्य, गालब, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन,

---

1. नै010/136 मल्लिनाथी व्याख्या, एवं नारायणी व्याख्या भी द्रष्टव्य है। – स्वामिति। इन्द्रस्याप्यसङगतव्यवहारादिवेषादे अहो शब्दः। स इन्द्रः कर्य्यस्य दमयन्ती प्राप्ति रूपस्य उद्देश्यस्य हेतोः स्वम् आत्मानम्, नैषधस्य नलस्य आदेशो रूपारोपो यस्मिन् तं नैषधादेशं विधाय नलरूपं कृत्वेत्यर्थः नलो ना नलरूपो मनुष्यः सन् भवन्नपि, पुनः पश्चात्, तादृक् पूर्वश्लोकस्य मर्त्योचितं कृतं व्याकरणं व्याख्यानं येन स तथोक्तो भवन् किं कथम् स्थानं प्रसङगोऽयास्तीति स्थानी पूर्वरूप इन्द्राकार इत्यर्थः स इवेति स्थानिवत्, दुष्टं निन्दितम् भावम् अभिप्रायम्, अधन्त विहितवान्। तथा च इन्द्रः खलु परप्रतापरणाकुशल इति तदाकारत्वे सत्येव मर्त्योचितव्याख्यानेन नलप्रतारण्ग युज्यते, किन्तु सदाशयनलाकारत्वे नेति तदभिप्रायो दुष्ट एवेति भावः।
पक्षान्तरे तु एष ना प्रधानपुरूषः कृतं व्याकरणं ऐन्द्रव्याकरणं येन सः अतएव नाना बहुविधानां शब्दानामयमिति लानो बहुविधशब्दोपदेशस्तं नाति ददातीति नानलः तादृक् सन्नपि तथाविधो विद्वान् भवन्नपि स इन्द्रः, कार्य्यस्य ''नद्धः'' इत्यादि प्रयोगसिद्धिरूपोद्देश्यस्य हेतोः धादेशं ''नहेर्धः'' इत्यनेन धकारादेशम् विधाय, पुनर्दुष्टं निन्दितम्, स्थानिवद्भावं प्राक्तनहकारवद्भावम्, किं कथम्, अधन्त विहितवान्, अहो आश्चर्यम्। तथा च 'नहेर्धः इत्यनेन हकारादेशं विधाय पुनः स्थानिवद्भावे कृते धान्तत्वाभावात् ''घढधमेभ्यस्ततोर्धोऽधः'' इति क्तप्रत्ययतकारस्य धकारो भवितुं नार्हति। अतः स्थानिवद्ीावस्य दुष्टत्वम्। स च तेन कृतः अतएव च तथाविधविदुषस्तदाश्चर्य्यमेवेति भावः। अत्र द्वितीयार्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरेव। नै010/136 जयन्ती टीका।

2. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास- बलदेव उपाध्याय, पृ0 383, एवं संस्कृत- व्याकरण का उद्भव और विकास- डॉ0 सत्यकाम वर्मा, पृ0 104-122

शाकल्य, सेनक एवं स्फोटायन का ही उल्लेख किया है।[1] अलबरूनी ने कुछ प्राचीन व्याकरण ग्रंथों एवं ग्रन्थकारों की सूची दी है, उनमें 8 ग्रंथों का विवरण मिलता है,[2] इसी प्रकार वोप्पदेव के गिनाये हुए आठ आचार्यों में इन्द्र का नाम मिलता है।[3] कथासरित्सागर के अनुसार तो ऐन्द्र व्याकरण प्राचीनकाल में ही नष्ट हो चुका था। महाभारत के टीकाकार देवबोध ने पाणिनि की अपेक्षा ऐन्द्र व्याकरण के परिमाण को बहुत ही अधिक एवं विशाल बतलाया है।[4] श्रीहर्ष ने ऐन्द्र व्याकरण का सन्दर्भ देकर यह दिखाना चाहा है कि वह पाणिनि से पूर्ववर्ती प्रचलित इस व्याकरण से भी परिचित थे परन्तु व्याकरणशस्त्र में मुनित्रयों (पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि) के ग्रंथों को ही आज अध्ययन अध्यापन का विषय बनाया जाता है। पाणिनि ने सूत्रों की रचना की, उनकी व्याख्या कात्यायन (वररूचि) ने वार्तिक लिखकर की, एवं वार्तिकों को और अधिक स्पष्ट करने के लिए पतंजलि ने महाभाष्य की रचना की। इस तथ्य का विवरण श्रीहर्ष नैषध में कुण्डिनपुरी वर्णन प्रसंङ्ग में रखते हुए कहते हैं कि – खाई के मण्डल के बहाने से मण्डलाकार रेखा को प्राप्त कराई गयी शत्रुओं के आक्रमण से बाहर ऐसी कुण्डिनपुरी नगरी दूसरे के ज्ञान का अविषय दुर्बोध, शेषनाग से कथित भाष्य की फक्किका (विनष्ट ग्रन्थ भाग) के सदृश थी।[5] अमरकोश के अनुसार "कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवा काकोदरः फणी", यहाँ पर फणी, पाणिनि की अष्टाध्यायी के महाभाष्यकार शेषनाग के अवतार पतञ्जलि मुनि का ही सन्दर्भ नैषधकार ने रखना चाहा है। सूत्र की व्याख्या को भाष्य कहते हैं। पतञ्जलिमुनि के बारे में ऐसी जनश्रुति है कि वे पर्दे के पीछे शेषनाग का अवतार ग्रहण कर अपने एक हजार शिष्यों को पाणिनि व्याकरण पर व्याख्यान दे रहे थे, उसमें किसी एक शिष्य ने जिज्ञासावश पर्दा हटा कर देखा तब पर्दा हटते ही शेषनाग के हजारफणों के तेज से सभी शिष्य जल गये, परन्तु उनमें एक शिष्य बीच में ही उठकर शौच के लिए चला गया था, वह जितना सुन पाया था, उतना ही भाष्य रूप में सुरक्षित है। उसे भी पतंजलि ने शाप दिया था कि तुम तब तक नरराक्षस रूप वृक्ष में निवास करोगे जब तक तुम अपने ज्ञान को किसी को समर्पित न कर दो, उन्होंने पेड़ के पत्तो में लिख-लिखकर महाभाष्य को संग्रहीत किया, एवं एक ब्राह्मण को उचित पात्र जानकर उसे दे दिया, परन्तु वह ब्राह्मण जब उन भाष्य रचित पत्रों को लेकर जा रहा था, तो पेड़ के नीचे सोने पर कुछ पत्तों को बकरी ने खा लिया, स्पष्ट है कि जिस प्रकार पाणिनि के कुछ सूत्रांश भाष्य की दृष्टि से दुर्ज्ञेय है, उसी प्रकार खाईं से कुण्डलाकार घिरी हुई वह कुण्डिनपुरी नगरी भी शत्रुओं से दुर्जेय (अजेय) है एवं सामान्य जन के लिए दुर्बोध।[6]

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास- बहादुर चंद छावड़ा- पृ- 626
2. इन्द्ररचित ऐन्द्रव्याकरण, बौद्धभिक्षुचन्द्रकृत चान्द्र व्याकरण, शाकटायन वंशीय शाकट रचित शाकटायन व्याकरण, पाणिनिकृत पाणिनीयव्याकरण, शर्ववर्मन्कृत कातंत्र व्याकरण, शशि देव कृत शशिदेव वृत्ति, दुर्गविवृत्ति एवं उग्रभूति रचित शिष्यहितावृत्ति। अलबरूनी का भारत, पृ0 40, एवं संस्कृत साहित्य का इति0 छावड़ा पृ 632
3. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
   पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।। संस्कृतशास्त्रों का इतिहास- बलदेव उपाध्याय पृ0 391 से उद्धृत ।
4. यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
   पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ।। वही पृ0 391 एवं सत्यकामवर्मा, पृ 65
5. परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
   फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ।। नै0 2/95
6. ...फणिभाषिता शेषोक्ता भाष्यस्य फक्किका ग्रन्थस्तद्वद्विषमा दुर्ग्रहा शेषव्यतिरिक्तेन ज्ञातुमशक्या। यथा- भाष्यफक्किका वररूचिना कुण्डलितेति प्रसिद्धः। नै0 2/95 नारायणी टीका
   – फणिभाषितभाष्यफक्किका पतञ्जलिप्रणीत महाभाष्यस्थः कुण्डलिग्रन्थः। अत नगर्याः कुण्डलिग्रन्थत्वेनोत्प्रेक्षा। सा च परिघावलयच्छलेन इत्यपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जकाप्रयोगादगम्या। नै0 2/95 मल्लिनाथ टीका

श्रीहर्ष व्याकरणशास्त्र के अन्तर्गत विवेचित शब्दरूपों एवं धातुरूपों का भी नैषध में वर्णन किया है। अस्मद् और युस्मद् शब्द रूपों की नलदमयन्ती वार्तालाप प्रसङ्ग में चर्चा करते हुए नल कहते हैं–

वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयानुपूर्व्या समकेति केति च ।
क्षमे समक्षव्यवहारभावयोः पदे विधातुं खलु युस्मदस्मदी ।।[1]

किम् शब्द के बारे में बैतालिकों द्वारा राजा नल के शैय्यापरित्याग प्रसङ्ग में वर्णन मिलता है जहाँ भावार्थ रूप में वे कहते हैं कि राजन् कौवे तथा कोयल बोलने लगे हैं, अतएव आप शीघ्र निद्रा परित्याग कीजिए[2] – अर्थात् इस प्रातः काल में "कौ-कौ" कहता हुआ कौवा पाणिनीय महाभाष्य में "तातङ्' के स्थानी कौन-कौन है? ऐसा प्रश्न करता है और कोकिल "तुहि, तुहि" कहकर उत्तर देती है। ध्यातव्य है कि पाणिनीय महाभाष्य में "तुह्योस्तातङाशिष्यन्तरस्याम्"[3] से तातङ् के स्थान में तु और हि आदेश होते हैं, इसलिए तातङ् के स्थानी "तु', और हि कहे जाते हैं।

धातु रूपों की चर्चा काशी नरेश के वर्णन में श्लेषचमत्कार से नैषधकार ने किया है जहाँ नल दमयन्ती से कहते हैं कि जिस प्रकार अस् धातु (अस्-भुवि-अदादि परस्मैपद संज्ञक धातु) "भूत' काल के कहने में समर्थ अद्यतन विभक्ति (लुङ् लकार) को प्राप्त कर भू-भाव अर्थात् अस्तेर्भूः[4] से "भू' आदेश को प्राप्त करता है अर्थात पाणिनीय व्याकरणानुसार आर्धधातुक प्रत्यय के कार्यकाल में अस् धातु को भू आदेश होता है । उसी प्रकार काशी नगरी में पहुँचकर संसार के समस्त जीव शिव सायुज्य को प्राप्त करते है ।[5] व्याकरण में दा और धा की तरह रूप वाली (दाप्, दैप् को छोड़कर) धातुओं की "घु' संज्ञा की जाती है।[6] वैतालिकों (वन्दीजनों) द्वारा नल को जगाये जाने की वेला में ऐसे तथ्यों का प्रतिपादन श्लेष बल से मिलता है, जहां वे कहते है कि कबूतर भी मानो शब्दशास्त्र का ज्ञाता है, क्योंकि शब्दों को साधते समय उसने जो प्रभूत खड़िया (चाक) इस्तेमाल की उसके कारण उसके कण्ठ में अब भी सफेद निशान बने मिलते हैं, परन्तु लगता है दैव वश उसका सारा पढ़ा पाठ भूल गया है, केवल "दाधाध्वदाप्" से होने वाली "घु' संज्ञा ही याद है, एवं प्रातःकाल उठकर वह उसी "घु' संज्ञा को घोख (गुनगुना) रहा है एवं अध्ययन जन्मपूर्वसंस्कार से शिर कंपा रहा है।[7] व्याकरण में घु संज्ञा होने से फिर अनेक कार्य होते हैं, जैसे ध्वसोरेद्धावभ्यास लोपश्च[8] द्वारा एत्व और अभ्यास लोप होता है जिससे "एधि' निष्पन्न होता है, और "देहि' बनता है तथा – "घुमास्थागापाजहातिसां हलि'[9] से आकार को ईकार होता है और अध्यगीष्ट निष्पन्न होता है।

नैषधकार के पूर्ववर्ती महाकवियों ने भी अपने महनीय काव्यों में व्याकरणशास्त्र से सम्बन्धित तथ्यों का पल्लवन किया है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग में व्याकरण सम्बन्धी[10] संकेत

---

1. नै० 9/9
2. इह किमुषास पृच्छाशंसि किं शब्दरूप प्रतिनियमितवाचा वायसेनैष पृष्टः।
   भण फणिभवशास्त्रे तातङ्स्थानिनौ काविति विहित तुहीवागुत्तरः कोकिलोभूत्।। नै० 19/60
3. पा० सू० 7/1/35
4. पा० सू० 2/4/52
5. सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः ।
   भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य भीमोद्भवे ! भवतिभावमिवास्तिधातुः ।। नै० 11/117
6. दाधाध्वदाप्- पा0सू0 1/1/20
7. दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत् कोऽप्यधीती कपोतः, कण्ठे शब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषाऽनुयातः ।
   सर्वं विस्मृत्य दैवात् स्मृतिमुषसि गतां घोषयन् यो घुसंज्ञां, प्राक्संस्कारेण सम्प्रत्यपि धुवति शिरः पट्टिकापाठनेन ।। नै० 19/61
8. अष्टाध्यायी 6/4/119।
9. अष्टाध्यायी 6/4/66।
10. यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः । अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ।। रघुवंश 15/7

देते हुए लिखा कि ''यद्यपि शत्रुघ्न अकेले ही शत्रुसेना (लवणासुर की सेना) को परास्त कर सकते थे, लेकिन फिर भी राम के आदेश से उनकी सेना उसी प्रकार उनके पीछे लगी रही जिस प्रकार इङ्ग धातु के पीछे अधि उपसर्ग हमेशा लगा रहता है।[1] क्योंकि व्याकरणशास्त्र का नियम है ''इङ् इकौ अधि उपसर्ग न व्यभिचररतः। यहाँ इङ् धातु अध्ययनार्थक एवं इक् धातु स्मरणार्थक है। अश्वघोष ने तो अपने ग्रंथ सौन्दरनन्द एवं बुद्धचरित में व्याकरण का ऐसा संगुम्फन[2] किया है मानो वह अपने काव्य के बहाने व्याकरण की भी शिक्षा जनमानस को देना चाह रहे हों। यथा-

प्रणताननुजग्राह विजग्राह कुलद्विषः । आपन्नान् परिजग्राह, निजग्राहास्थितान पथि ।।[3]
यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित् कैश्चिन्न मीयते । काले निमीयते सोमो न चाकाले प्रमीयते ।।[4]

उपर्युक्त संदर्भ में 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्रनीयते'' का स्पष्ट परिपाक द्रष्टव्य है। साथ ही एक ही श्लोक में लिट् के बारह रूपों का प्रयोग उनके वैदुष्य का परिमापक माना जा सकता है।[5]

महाकवि भारवि ने भी अपने महाकाव्य ''किरातार्जुनीयम्'' में व्याकरणतंत्र में प्रचलित पदावलियों[6] का प्रयोग करते हुए। व्याकरण की पारिभाषिक उपमाओं का विवेचन कर काव्य एवं व्याकरण में अभिन्न सम्बन्ध स्थापना को महत्व दिया है। जैसे वह कहते हैं कि धुञ् कम्पने धातु और क्त प्रत्यय में दोनों प्रकृति प्रत्यय मिलकर कम्पित रूप अर्थ का बोधन करते हैं। उन दोनों के बीच में धातु का अनुबन्ध 'क' (नष्ट) होने के लिए आता है, ठहरता नहीं है, उसी प्रकार शिव और अर्जुन के बीच में वह सूकर नष्ट होने के लिए पड़ गया।[7] स्पष्ट है कि भारवि की अर्थ गाम्भीर्य पदावली के कारण ही आचार्य मल्लिनाथ ने उनके महाकाव्य की उपमा ''नारिकेलफल'' से दी, जो ऊपर से (व्याकरण एवं अर्थ गाम्भीर्य आदि के कारण) कठोर एवं अन्दर कोमल ओर सरस होता है।[8]

नैषधकार के पूर्ववर्ती महाकवि भट्टि ने अपने महाकाव्य ''रावणबध'' में व्याकरण एवं काव्य का ऐसा मणिकाञ्चन संयोग सृजा है कि यह काव्य उन्हीं के नाम से (भट्टिकाव्य) जाना जाने लगा। यह तथ्य अवधेय है कि महाकाव्यकारों में केवल भट्टि को ही व्याकरणशास्त्र की कठिनाइयों को दूर करते हुए काव्य के द्वारा व्याकरण सिखाने का श्रेय प्राप्त है। इस ग्रंथ की रचना उन्होंने अपने आश्रयदाता वल्लभी के श्रीधर सेन की प्रार्थना पर उन्हें संस्कृत व्याकरण अलंकार शास्त्र, तथा प्राकृत का ज्ञान देने के लिए की थी। उन्होनें स्वयं इस महाकाव्य की भाषा की व्युत्पत्ति के प्रतिपादक के रूप में प्रशंसा भी की है।[9] भट्टिकाव्य चार भागों में विभक्त है एवं प्रत्येक भाग में भट्टि ने व्याकरणशास्त्र की क्रमशः

---

1. रामादेशानुगता सेना तस्यार्थसिद्धये। पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्।। रघु0 15/9
2. सौन्दर 1/44,-56,2/10,22,26-44, बुद्ध चरित 2/16, 33, 35, 44, 8/25
3. सौन्दर- 2/10
4. वही 1/15
5. रूरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ, व भ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ ।
   चकार रोषं विचकार माल्यं, चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम् ।। सौन्दर 6/34
6. विधाय रक्षान्परितः परेतरानाड्किताकारमुपैति शङ्कितः ।
   क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ।। किरात0 1/15 में शास् का द्विकर्मक प्रयोग, अनुजीविसात्कृताः में देयेत्रा च'' पा0सू0 5/4/55 से सात् प्रत्यय की सन्निधि द्रष्टव्य है।
7. त स भवस्य भवक्षयैकहेतोः सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहार्थम् ।
   रिपुराप पराभवाय मध्यं प्रकृतिप्रत्यययोरिवानुबन्धः ।। किरात0 13/19 एवं 15/14, 16, 38
8. नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद् विभज्यते ।
   स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ।। मल्लिनाथ
9. दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्। हस्तामर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते।। भट्टि काव्य 22/33

व्याख्या की है। यथा-प्रथम भाग प्रकीर्णकाण्ड में कृत प्रत्ययों का वर्णन् द्वितीय भाग अधिकार काण्ड में लुङ्, कृत, षत्व, णत्व, कारक, आत्मने पद आदि का विवेचन, तृतीय भाग प्रसन्नकाण्ड में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के साथ-साथ माधुर्य समन्वित भावों का विवरण, एवं चौथे भाग तिङ्न्तकाण्ड में)14 से 22 नौ सर्गों में) क्रमशः नौ लकारों यथा-लिट्, लुङ्, लृट्, लङ्, लट्, लिङ्, लोट्, लृङ्, और लुट् लकारों का प्रयोग वैशिष्ट्य तो इनकी गवेष्णात्मक शैली का मानदण्ड ही कहा जा सकता है। यथा-

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनपारीत् सममंस्त बन्धून ।
व्यजेष्ट षडवर्गमरंस्त नीतौ समूलधातं न्यवधीदरीश्च ।।[1]

में लुङ्ङ्लकार का प्रयोग उनकी व्याकरणतंत्र में गहरी पैठ का द्योतक है। भट्टिकाव्य में भाषा सम अर्थात् संस्कृत और पाकृत दोनों भाषाओं पर उनके अधिकार का उदाहरण दोनों भाषाओं में उनकी यथेष्ट गति की कहानी कहता है।[2] रावणबध के तेरहवें सर्ग में समुद्र पारकर लंका पहुँचने में वानरों के आनन्द समन्वित होने पर उनके उछलने कूदने का वर्णन महाकवि भट्टि ने केवल क्रिया पदों में ही किया।[3] जो व्याकरणशास्त्र के साथ-साथ काव्यशास्त्र में उनके अप्रतिम वैदुष्य का परिचायक है। अपने पूर्ववर्ती ख्यातिलब्धमनीषी एवं व्याकरणशास्त्र के मर्मज्ञ पण्डित भट्टि से नैषधकार का प्रभावित होना स्वाभाविक है। परन्तु महाकवि भट्टि एवं श्रीहर्ष में एक महान अन्तर भी देखने को मिलता है कि जहाँ नैषधकार ने काव्य को क्लिष्ट रूप प्रदान करने के लिए उसमें व्याकरणादि ग्रंथियों का संगुम्फन किया है वहीं भट्टि ने व्याकरणशास्त्र की कठिनाइयों को दूर करते हुए अपने काव्य का सृजन किया है।

व्याकरण शास्त्र में लिङ्ग तीन माने गये हैं, पुल्लिंग, स्त्रीलिंग एवं नपुंसक लिंग। पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग की चर्चा करते हुए नैषधकार कहते है- "दमयन्ती द्वारा ज्योतिष्मान् राजा को अस्वीकार करने पर शिविकावाहक स्त्रीभाव से चलित पादवाली (स्पष्ट न कहकर पैर के अंगुष्ठ को चलाकर आगे बढ़ने का संकेत करने वाली) इस तन्वी (दमयन्ती) को उस राजा के पास से हटाकर, दूसरे राजकुमार के पास उसी प्रकार ले गये, जिस प्रकार याचक विचार कर अर्थात् मालूम कर, स्त्रीत्व से चालित पदवाली "याच्ञा" को निर्धन व्यक्ति से हटाकर धनिक व्यक्ति के पास ले जाता है।[4] यह तो जाहिर सी बात है कि याच्ञा शब्द स्त्रीलिंग है, अतः स्त्रीसुलभ स्वभाव से इधर-उधर दौड़ने वाली है चाहे जिस किसी से भी याचक याचना कर लेता है एवं "यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षोयङ्[5] से सिद्ध होने वाले प्रयोगों में केवल याच्ञापद ही स्त्रीलिङ्ग है, अन्य सभी" यज्ञः यत्नः, विश्नः, प्रश्नः और रक्ष्णः' शब्द पुल्लिंग ही हैं। अतएव यह स्त्रीत्व (स्त्रीलिंग) में आने वाला यह याच्ञा पद है। जब याचक को मालूम हो जाता है कि यह (अमुक) व्यक्ति निर्धन है तो उससे याचना न कर धनिकों के पास याचना करता है। तीनों लिंगों की चर्चा एक साथ नैषध में नैषधकार ने अन्य प्रसङ्ग में भी की है।[6]

---

1. भट्टिकाव्य- 1/3
2. चलकिसलयसविलासं चारुमहीकमलरेणुपिञ्जरवसुधम् ।
   सकुसुमकेसरवाणं लवङ्गतरुरूणवल्लरीवरहासम् ।। भट्टिकाव्य 13/39
3. भेमु-र्ववल्गु-र्ननृतु-र्जजक्षु-र्जगुः समुत्पुप्लुविरे निषेदुः । आस्फोटयांचक्रुरभिप्रणेदूरेजु-र्ननन्दु-र्विययुः समीयुः ।। 13/28
4. तस्मादिमां नरपतेरपनीय तन्वीं राजन्यमन्यमथ जन्मजनः स निन्ये ।
   स्त्रीभावधावितपदामभिमृश्य याच्ञामर्थी निवर्त्यविधनादिव वित्तवित्तम्।। नै० 11/65
5. पा० सू० 3/3/90
6. नै० 17/70

शब्द शास्त्र में सन्धियों एवं छन्दों इत्यादि के विधान का भी विवरण मिलता है। प्रमुखतया छन्द दो प्रकार के होते हैं- मात्रिक एवं वर्णिक। श्लोकार्द्ध में विराम लगाना चाहिए, इत्यादि का विवरण श्रीहर्ष ने सरस्वती वर्णन प्रसङ्ग में देते हुए कहा कि "सरस्वती की दोनों भुजाएँ मात्राओं के तथा वर्णों के भेद से दो तरह के छंद थे तथा हर भुजा के बीच में दो हिस्सों के जोड़ (सन्धि) का चिह्न था जो श्लोक के आधे भाग की बीच विश्रान्ति का सूचक था।[1] नैषधकार ने विभिन्न प्रकार के छन्दों को नैषध में अपनाया है, तथा नल ने भी विभिन्न छंदों से युक्त स्तुति रूप पुष्पगुच्छों से देवताओं की आराधना की। यथा-

वैशद्यहृद्यैर्म्रदिमाभिरामैरामोदिभिस्तान्थ जातिजातैः ।
आनर्च गीत्यन्वितषट्पदैः सा स्तवप्रसूनस्तबकैर्नवीनैः ।।[2]

व्याकरणशास्त्र में स्वरितेनाधिकारः"[3] से अधिकृतत्वम् अर्थ लिया जाता है अर्थात् व्याकरण में स्वरितत्वयुक्त शब्द अधिकृत होता है, इसका वर्णन करते हुए नल कहते हैं कि हे दमयन्ति! देवताओं के अनुग्रह से ही मनुष्य मनुष्यभाव को छोड़कर देवभाव को प्राप्त कर लेता है। सिद्ध पारे को स्पर्श करके स्वर्ण बने लोहे को भला फिर लौह निर्मित वस्तुओं में रखना क्या इष्ट होगा? अर्थात् नहीं।[4] षण्णाम् शब्द का कलिप्रसङ्ग में नैषधकार ने वर्णन कर व्याकरण के गूढ़ सूत्रों से भी जनसामान्य को परिचित कराने का प्रयास किया है। कलि के निषध देश जाने की प्रतिज्ञा पर इन्द्र कहते हैं वहाँ जाकर नल और दमयन्ती के मध्य (उनमें शत्रुता कराके भी) तुम उसी प्रकार प्रविष्ट नहीं हो सकते, जिस प्रकार "षण्णाम्" शब्द के वर्ण मध्य विसन्धि अवस्था में उच्चरित "उ' वर्ण सहसा (ण रूप में विकृत हुए बिना) नहीं प्रविष्ट होता।[5] अथवा जैसे "षण्णाम् में ड वर्ण ण रूप में विकृत होकर प्रविष्ट हो सकता है वैसे ही तू (कलि) भी रूप परिवर्तन करके ही नल दमयन्ती के मध्य प्रवेश पा सकेगा (परन्तु ऐसा असम्भव है)। पाणिनीय व्याकरणानुसार "षट्' शब्द का षष्ठी बहुबचन में "षण्णाम्' रूप बनता है। यहाँ षट्+आम्, इस स्थिति में षट्चतुर्भ्यश्च[6] सूत्र से नुट् का आगम होता है। षट्+न्+आम्, इस अवस्था में "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने[7] से षट् की पद संज्ञा तत्पश्चात् झलां जशोऽन्ते[8] से झल् 'ट्' का जश् 'ड्' होना अपेक्षित था, किन्तु "न पदान्ताट्टोरनाम्"[9] से उसका निषेध हुआ परन्तु अनाम्नवतिनगरीणाम् इति वाच्यम् वार्तिक से पुनर्निषेध होने पर डकार हो जाता है। षड्+नाम्- "ष्टुनाष्टुः"[10] से नाम के नकार को "ण' होता है, षड्+णाम्-, इस अवस्था में "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा"[11] से विकल्प से षड् के डकार को भी णकार हो जाता है, **जिससे षण्णाम् एवं षड्नाम् ये दो वैकल्पिक रूप सिद्ध होते हैं।** परन्तु "वाऽवसाने[12] से अन्तिम झल् को

---

1. जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूत् यदीयम् ।
   श्लोकार्द्धविश्रान्तिमयीभविष्णु पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यम् ।। नै० 10/77
2. नै० 14/6
3. पा0 सू0 1/3/11
4. अनुग्रहादेव दिवौकसां नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम् ।
   अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ।। नै० 9/42
5. गत्वान्तरा नलं भैमीं नाकस्मात्वं प्रवेक्ष्यसि । षण्णां चक्रमसंयुक्तं पठ्यमानं डकारवत् ।। नै० 17/151
6. अष्टा0 7/1/55
7. अष्टा 1/4/17
8. अष्टा 8/2/38
9. अष्टा 4/8/42
10. अस्था 8/4/41
11. अष्टा 8/4/45
12. अष्टा 8/4/56

चर् आदेश प्राप्त होता है, इससे षड् का षट् भी विकल्प से प्राप्त हुआ, तो एक और रूप षट्णाम् बना। कहने का आशय यह है कि पाठांतर में डकारवत् के स्थान पर टकारवत् भी है अर्थात पाठान्तर का अर्थ करते समय डकार के स्थान में वही स्थिति मानी जानी चाहिए जो डकार की है। स्पष्ट है कि जैसे टकार और डकार षण्णाम् में अकस्मात् बिना रूप बदले, बिना विकृत हुए प्रवेश नहीं पा सकते, वैसे ही कलि भी नलदमयन्ती के मध्य (बिना विकृत हुए) प्रवेश नहीं पा सकेगा।

गुण, दीर्घ भाव प्रत्यय और कृत्प्रत्ययों का वर्णन श्रीहर्ष ने सरस्वती के सौन्दर्य वर्णन में किया है, जहाँ वह अभिहित करते हैं कि सरस्वती की मेखला (करधनी) लड़ियों की दीर्घता को धारण करते हुए, शिञ्जित शब्दों (आवाज, ध्वनि) को करती हुई गुण, दीर्घ भाव, कृत् आदि शब्द परम्पराओं को साधने वाले व्याकरण शास्त्र से बनी थी।[1] अर्थात् पट्टसूत्र की लम्बाई से किये गये (पक्षान्तर में गुण, दीर्घ, भाव प्रत्यय और कृत प्रत्ययों के) विस्तार को धारण करती हुई, तथा शब्द परम्परा को व्यक्त करने वाली अर्थात् बजने वाली (पक्षान्तर में राम, पाक आदि शब्द समूह को सिद्ध करने वाली) जिस (सरस्वती) की करधनी (कटिभूषण काञ्ची) व्याकरण (वेदाङ्गभूत मुख स्थानीय, ग्रंथ विशेष) से बनायी गयी थी। ध्यातव्य है कि देवेन्द्रः, देवाद्यान आदि पदों में "आद्गुणः"[2] से गुण भाव, दैत्यादि, श्रीशः, इत्यादि पदों में अकः सवर्णे दीर्घः[3] "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः"[4] आदिसूत्र से भाव में प्रत्यय और कर्त्तव्य, करणीय, आदि पदों में "तव्यत्तव्यानीयरः"[5] आदि सूत्रों से तव्य एवं तव्यत् आदि कृत् संज्ञक प्रत्यय व्याकरण शास्त्रानुसार होते है, तथा वह व्याकरणशास्त्र राम, कृष्ण, नन्दन, गमन, आदि शब्दों की रचना (सिद्धि) भी करता है। अवधेय है कि "मुखं व्याकरणं स्मृतम्" के अनुसार व्याकरण को वेदों का मुख माना गया है अतएव उसका (प्रसङ्गतः करधनी का भी) शब्द करना अर्थात् बोलना (आवाज करना) उचित ही है।

श्रीहर्ष लौकिक जीवन में व्यवहरित सभी प्रकार की गतिविधियों के जानकार थे। व्याकरणशास्त्र जैसे गम्भीर एवं प्रौढ़ शास्त्र जिसे कि घमंड था, कि जो वह शब्द सिद्ध (बनोयगा) करेगा, लोक को उसी को अपनाना पड़ेगा, श्रीहर्ष ने मान्यता नहीं दी, बल्कि उन्होंने भाष्यकार (पतंजलि) से अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए कहा कि लोक व्यवहार की मुहर वाला शब्द ही व्यवहार्य भी है एवं उचित भी। सामान्यतः सभी वैयाकरणों को भाष्यकार की यह सम्मति सर्वमान्य है। महाकवि श्रीहर्ष ने तो व्याकरणशास्त्र तथा लोक के इस तारतम्य को दिखलाकर लोक को व्याकरणशास्त्र से अधिक महत्वशाली माना है। व्याकरण से बढ़कर लोक प्रामाण्य अधिक है, इस तथ्य का वह नैषध में प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि "यह (शब्द व्यवहार करने वाला) लोक व्याकरण (अथवा लक्षणा से व्याकरणविदों) के (प्रकृति प्रत्यय के विभाजनपूर्वक शब्द विवेचन मैं ही करता हूँ ऐसे) अभिमान को नष्ट करने के लिए समर्थ है, क्योंकि यह चन्द्रमा "शश' है, इसका वह (शशः अस्ति अस्य)[6] शशी (चन्द्रमा बोधक) कहलाता है, एवं चन्द्रमा के लिए शशी का प्रयोग उचित है, परन्तु तदनुरूप मृग (मृगः अस्तिअस्य) है, इसका वह

---

1. असंशयं सा गुणदीर्घभाव-कृतां दधाना विततिं यदीया ।
   विधायिका शब्दपरम्पराणां किञ्चारचि व्याकरणेन काञ्ची ।। नै० 10/78
2. अष्टा 6/1/87
3. अष्टा 6/1/10
4. अष्टा 3/4/69
5. अष्टा 3/1/96
6. शशोऽस्यातीति मतुबर्थे ''अतइनिठनौ- अष्टा 5/2/115

मृगी नहीं कहलाता, अर्थात् वह मृग का बोधक न होकर मृग की पत्नी का बोधक हो जायेगा, जिसका प्रयोग लोकबाह्य होने से अग्राह्य होगा।[1] स्पष्ट है कि जिस प्रकार चन्द्रमा को "शश' वाला होने से शशी शशी कहा जाता है, उसी प्रकार मृग वाला होने पर भी मृगी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मृगी मृग का पर्याय न होकर, मृग पत्नी का सूचक है। साथ ही इसमें अतिव्याप्ति[2] एवं अव्याप्ति[3] दोष आने से व्याकरणमूलक लोक प्रयोग होने का नियम नहीं है, परन्तु कृत-तद्धित समास भी उसमें नियामक हैं इसलिए कहा जा सकता है कि लोक प्रयोग का अनुगामी व्याकरण होता है। व्याकरण का अनुगामी लोक प्रयोग नहीं होता।

श्रीहर्ष अपने ढंग के अनूठे कविपण्डित थे। उन्होंने नैषध में अनेकों नए शब्दों को गढ़ा (बनाया) है। जैसे - भूजानि (1/2 राजा), सूननायक (18/129 कामदेव), अप्रततिचर (18/129 पहले से अज्ञात), अधिगामुका (18/129 जानने वाली), हसस्पृशम् (18/130 हंसते हुए), साथ ही उन्होंने अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग अपने इस महाकाव्य में किया है- यथा-अगदंकारः (4/116 वैद्य), अकूपार (12/18 समुद्र), चिपिटः (22/85 चपटा), श्यैनपाता (19/12 मृगया), मिहिकारुचम् (19/35 चन्द्रमा), इंगाल (1/9 अंगारा), विरूद (11/37 प्रताप), धोरणि (15/49 परम्परा) । परन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने प्रमाद (असावधानी) वश एकाध स्थल पर व्याकरणसम्मत नियमों का अतिक्रमण भी किया है। जैसे सोलहवें सर्ग के निम्न श्लोक में-

इति द्विकृत्वः शुचिमृष्टभोजिनां दिनानि तेषां कतिचिन्मुदा ययुः ।
द्विरष्टसंवत्सरवारसुन्दरीपरीष्टिभिस्तुष्टिमुपेयुषा निशि ।।[4]

यहाँ द्विकृत्वः की जगह द्विः होना चाहिए। यद्यपि व्याकरण शास्त्र में सामान्य नियम है कि "संख्यायाः क्रियाभ्यां वृत्तिगणने कृत्वसुच्" किन्तु इसका अपवाद (या इससे विशेष) नियम भी है। "द्वि त्रि चतुर्भ्यः सुच्, इसलिए द्विकृत्वः में सुच् प्रत्यय ही लगना चाहिए, न कि कृत्वसुच्' क्योंकि सामान्य की प्रसक्ति विशेष को छोड़कर होती है, किन्तु यहाँ पर नैषधकार ने अपवाद के स्थान पर सामान्य नियम की प्रसक्ति की है।

हालांकि नैषधकार इस नियम से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने "द्विरष्टसंवत्सर" में इस नियम का परिपालन किया है जबकि द्विकृत्व में उल्लंघन, अतः यहाँ प्रमादजन्य दोष कहा जा सकता है न कि अज्ञानजन्य दोष, अथवा हम इसको च्युति संस्कृति दोष के अन्तर्गत रख सकते हैं। इसी बात को नारायण ने भी अपनी टीका में इस रूप में कहा है- "द्विरष्ट इतिवत्सुचः कृत्वसुचो- बाधकत्वात् "द्विः इति प्राप्ते इत्यत्र अपवाद विषये क्वचिदुत्सर्ग स्यापि समावेशाः" इति परिभाषया यथाकथंचित्परिहर्तव्यम्"।[5] इसी तरह का च्युति संस्कृति दोष का उदाहरण कठोपनिषद् के शाङ्करभाष्य में भी देखने को मिलता है,

---

1. भङ्क्तुं प्रभर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः ।
शशो यदस्यास्ति शशि ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीतिनोक्तः ।। नै० 22/82
2. अलक्ष्ये लक्षणगमनमतिव्याप्तिः" लक्ष्ये लक्षणागमनमव्याप्तिः इति ज्ञेयम्- मल्लिनाथ नै० 22/82
3. तदुक्तं भगवत्पतञ्जलिनामहाभाष्ये- "नहि लक्षणेन पदकारा अनुवर्तनीयाः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्तनीयम्।" इति । अत्र लक्ष्णं व्याकरणसूत्रादिकम्, पदकारा लोके पदप्रयोक्तारो जना इति बोध्यम्। नै० 22/82 मल्लिनाथी व्याख्या में उद्धृत पादटिप्पणी।
– तस्मादतिव्याप्त्यादि दोषाद् व्याकरणमूल एव लोकप्रयोग इतिनियमो न युक्तः, किन्तु कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकम् । लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणप्रवृत्ति नतु लक्षणमुद्दिश्य लक्ष्यप्रवृत्तिरिति। तस्मात् प्रयोगमूलं व्याकरणं इति व्याकरणाल्लोक एव प्रयोगे बलीयानीति भावः। नै० 22/82, मल्लिनाथ एवं नारायण की टिप्पणी।
4. नै० 16/112
5. नै० 16/112 नारायणी टीका में उद्धृत।

जहाँ शङ्कराचार्य ने "त्रिणचिकेतः त्रिभिरेत्यसन्धिं"[1] श्लोक के भाष्य में "त्रिणाचिकेततस्त्रिःकृत्वो नाचिकेत्तोऽग्निश्चितो येन सत्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा।" में त्रिकृत्वः शब्द का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि नैषध सर्वथा दोषों से असम्पृक्त महाकाव्य हो, ऐसा नहीं है, नैषध ही क्यों, अन्य महाकाव्य भी दोषों से सर्वथा शून्य नही है और यह जाहिर सी बात है कि किञ्चित् दोषों से काव्य की कमनीयता नष्ट नहीं हो जाती। आचार्य विश्वनाथ का भी कथन है कि "नहि कीटानुवेधादयो रत्नत्स्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः।"[2]

परन्तु आचार्य दण्डी का यह कथन भी अवधेय है कि जिस प्रकार सुन्दर शरीर केवल एक मात्र स्वित्र (कुष्ठ) दोष (रोग) के कारण विरूप हो जाता है, उसी प्रकार अलंकृत काव्य भी एक दोष की स्थिति में भी दूषित हो जाता है। यथा-

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन । स्यादवपुः सुन्दरमपि स्वित्रेणेकैन दुर्भगम् ।।[3]

एवं आचार्य भामह का कथन है कि काव्य निर्माता काव्य रचकर चाहे कीर्ति प्राप्त कर पाये या न कर पाये, किन्तु मनीषियों ने दोषपूर्ण काव्य के निर्माण को साक्षात् मृत्यु कहा है।[4] तथा वाग्भट्ट ने तो दोषरहित काव्य को कीर्ति तथा स्वर्गादि अभीष्टों का साधक माना है[5] और भोज ने तो स्पष्ट रूप से अपने ग्रंथ सरस्वतीकण्ठाभरण में कहा है कि पदों, वाक्यों एवं वाक्यार्थों के दोष को जो कवि हेय अर्थात त्याज्य रूप में जानता है, वही निर्दोष काव्य का निर्माण कर सकता है।[6] एवं इस क्षेत्र में व्याकरणशास्त्र ही काव्यशास्त्रियों का दिशा निर्देश करता है, क्योंकि व्याकरणशास्त्र केवल पद विच्छेद विधायक ही नहीं अपितु वह सोचने की उस पद्धति का निर्माता भी है, जो विश्लेषण एवं संश्लेषण दोनों करती चलती है। स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र पर व्याकरणशास्त्र का अप्रतिम प्रभाव रहता है, शायद तभी काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने शब्दविद्या (व्याकरणशास्त्र) को सभी विद्याओं का मूल कहा है एवं उपनिषदों में भी वर्णन मिलता है कि शब्द ब्रह्म में निष्णात साधक परब्रह्म को प्राप्त करता है।[7] विभिन्न विद्वानों के साथ-साथ[8] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरणशास्त्र की प्रशंसा करते हुए तो यहां तक कह दिया कि "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः। स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।[9]

---

1. त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
   ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ।। कठोपनिषद् 1/1/17
2. सा0 द0- पृ० 15
3. काव्यादर्श - 1/7
4. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् । विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ।।
   अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा । कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ।। काव्यालंकार- 1/11, 12
5. अदुष्टमेव तत्कीर्त्यै स्वर्गसोपान पङ्क्तये । परिहार्या नतो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ।। वाग्भटालंकार 2/5
6. एवं पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च यः कविः। दोषान् हेयतया वेत्ति स काव्यं कतुर्महर्ति ।। सरस्वतीकण्ठाभरण 1/58
7. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्द ब्रह्मणी निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।। मैत्र्युपनिषद् 232/24
8. शब्दब्रह्म पदेकं यच्चैतन्यञ्च सर्वभूतानाम् ।
   यत्परिणामस्त्रिभुवनम् अखिलमिदं जयति सावाणी ।। अथर्ववेद की भूमिका में सायणाचार्य।
   शब्दार्थसम्बन्धनिमित्ततत्त्वं वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून् ।
   साधुप्रयोगानुमिताँश्च शिष्टान्न वेद यो व्याकरणं न वेद ।। भर्तृहरि वा0पा0 1/12
   नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम् । शब्दरत्नं स्वयङ्गम्यमलङ्कर्तुमयं जनः ।।
   तस्य चाधिगमे यत्नः कार्य काव्यं विधित्सता । परप्रत्ययतोयत्तु क्रियते तेन का रतिः ।। भामह-का0लं0 7/3-4
   इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानमपि सर्वथा । वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।। दण्डी-काव्यादर्श 1/3
   सर्वाथानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते । तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ।। व्यास-महाभारत उद्योगपर्व 45/61
   नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह । आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बतीजयम् ।। राजशेखर।
9. महाभाष्य - तृतीय, पृ० 58

चतुर्थ अध्याय

नैषध महाकाव्य में काव्यशास्त्रीय संदर्भ

काव्य शास्त्र

वास्तव में चिन्तनशीलता के साथ-साथ विवेकशीलता का गुण मानव को ही प्रकृति प्रदत्त है। मानव का हृदय जब विशिष्ट परिस्थितिजन्य अलौकिक भावानुभूति से परिपूर्ण होता है, तब उसके हृदय से काव्य का प्रस्फुटन होता है।[1] कवि की चिन्तन, मनन, भावुक प्रवृत्ति एवं कल्पना शक्ति जब वस्तुस्थिति को शब्द जाल का तानाबाना पहनाकर आदर्शरूप दे देती है, उसे ही हम 'काव्य' शब्द से अभिहित करते हैं। काव्य की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने विविध रूपों में दी है।[2] परन्तु यथार्थता के आलोक में पण्डित राजजगन्नाथ की परिभाषा ही सटीक लगती है कि "रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है।"[3] काव्यशास्त्र का तात्पर्य काव्य के नियम विधान या उसके शासन से है, शास्त्र इसलिये शास्त्र माना जाता है, क्योंकि वह शासन करता है, कवियों को शास्त्रीय नियमों में बांधने का प्रयास करता है, यद्यपि कवि निरंकुश होता है जैसा कि "ईशावास्योपनिषद्" में कहा गया है "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" अर्थात् कवि अपने जगत का स्वतंत्र सम्राट होता है। अग्निपुराणकार भी कहते हैं "अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथावै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।[4] "और यह तो सर्वविदित तथ्य है कि काव्यमनीषियों की रचनाएं ईश्वर की सृष्टि की तरह कभी जीर्ण भी नहीं होती "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।" आचार्य मम्मट भी सारस्वत कवि भारती की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैक मयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितमादधती भारती कवेर्जयति ।।

परन्तु फिर भी काव्य सृजन काल में वह सारस्वत कवि भी काव्य शास्त्रीय नियम विधान का अतिक्रमण तो कर सकता है, लेकिन वह काव्यशास्त्रीय नियम विधानों को जानने के कारण किञ्चित्‌रूपेण उन सीमाओं में आबद्ध भी रहता है, और शायद तभी उसका काव्य रमणीयरूप ले पाता है।

---

1. मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
   यत् क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। रामा बाल - 2/15,
2. – शब्दार्थो सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा-भामह-काव्याद. 1/10
   – तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।
   शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।। - दण्डी-काव्याद. 1/10
   – काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। – वामन – का०सू० वृत्ति0. 1/1
   – ननु शब्दार्थौ काव्यम् – रूद्रट काव्यालं 2/1 एवं पृ० 17
   – शब्दार्थो सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।। – कुन्तक - वक्रो. जी. 1/7
   – अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थो काव्यम्-हेमचन्द्र- काव्यानु. पृ० 16
   – शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम् - वाग्भट-बाग्भटालं - पृ० 14
   – गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ- विद्यानाथ प्रतापरूद्रयशोभूषण, पृ० 42
   – शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विवुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः। विद्याघर एकावली, 1/13
   – तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृतिः पुनः क्वापि - मम्मट-का०प्र० 1/4
   – वाक्यं रसात्मकं काव्यम् - विश्वनाथ - सा०द०, I परिच्छेद. पृ० 23
   – निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा - चन्द्रालोक
   – सालंकारसानेक वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् - अलंकारशेखर 1/7
   – संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (काव्यम्) - अग्निपुराण - 337/6
   – शब्दार्थशरीरं ताबत् काव्यम् - आनन्दवर्धन - ध्वन्या०, पृ० 17
3. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् - जगन्नाथ, र.गं., पृ० 9
4. अग्निपुराण, 339/10

काव्य या साहित्य का मूल्यांकन करने वाला या साहित्य सौन्दर्य की परख करने वाला शास्त्र (विद्या) काव्यशास्त्र कहलाता है।[1] इसे अलंकारशास्त्र, साहित्य शास्त्र, आलोचनाशास्त्र, साहित्य विद्या, त्रियाकल्प आदि नामों से भी जाना जाता है। काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में इसके लिये काव्यालंकार शब्द भी प्रचलित था, तभी तो तत्कालीन आचार्यों ने इसी नाम से अपने-अपने ग्रंथों का नामांकन किया था यथा- भामह कृत काव्यालंकार, उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह, वामनकृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति तथा रूद्रट का काव्यालंकार। कालान्तर में यही अलंकारशास्त्र[2] मध्ययुग तक साहित्य शास्त्र के नाम से जाना गया। राजशेखर ने काव्यशास्त्र को साहित्यविद्या नाम दिया।[3] रूय्यक रचित साहित्यमीमांसा एवं विश्वनाथ का साहित्यदर्पण इसी के उदाहरण हैं। काव्यशास्त्र के उपर्युक्त नामों में 'क्रियाकल्प' सर्वाधिक प्राचीन है। इसका विवरण वात्स्यायनकृत कामसूत्र के चौंसठ कलाओं में एक होने में आया है, साथ ही ललितविस्तर में क्रियाकल्प की व्याख्या करते हुए 'जयमंगलार्क' ने इसे "क्रियाकल्प काव्यकरण विधि"[4] कहा है। वाल्मीकि ने रामायण में क्रियाकल्प तथा काव्यविद् शब्दों का विवरण दिया है जो काव्यशास्त्री के परिचायक हैं। रामायण में काव्यविद् शब्द सहृदय जन के लिये एवं क्रियाकल्पविद्, काव्यशास्त्री या आलोचक के लिए प्रयुक्त हुआ है यथा– "क्रियाकल्प विदश्चैव तथा काव्यविदोजनान्"। इस प्रकार काव्य शास्त्र के लिये प्रयुक्त 'क्रियाकल्प' शब्द सबसे प्राचीन सिद्ध होता है। संस्कृत साहित्य की उपलब्ध पुस्तकों के गहनाध्ययननान्तर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जब काव्य शास्त्र की अनेकों विचार विधियों का निर्माण हुआ, तो अलंकारशास्त्र में उसकी वृहद् काया न समा पायी, फलतः साहित्यशास्त्र एक शास्त्र विशेष न होकर अनेक शास्त्रों एवं अनेक विचारधाराओं का एकीभूत रूप ही सिद्ध होता है: एवं संस्कृत के अधिकांश विद्वान् उसे साहित्यशास्त्र या अलंकार शास्त्र नाम न देकर 'काव्यशास्त्र' नाम देना अधिक वैज्ञानिक समझते हैं।[5]

वस्तुतः काव्यशास्त्र काव्यनुसारी है, क्योंकि काव्य ही लक्ष्य है एवं काव्य शास्त्र लक्षण। महाकवि माघ ने काव्यशास्त्रीय अभिकथन करते हुए कहा "शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वान् अपेक्षते।" स्पष्ट है कि संस्कृत काव्यशास्त्र काव्याङ्गों की विधि व्यवस्थाओं का विवेचन एवं मूल्यांकन करने वाला शास्त्र है, इसमें काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, गुण, दोष, प्रवृत्ति, प्रयोजन, उसकी विभिन्न समस्याओं एवं विचारविभेदों का वैज्ञानिक निरूपण देखने को मिलता है।[6] राजशेखर ने काव्यशास्त्र के विषय में विवरण देते हुए लिखा है कि भगवान शंकर ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को दीक्षित किया एवं ब्रह्मा ने अपने मानस जात अठारह शिष्यों को उसका उपदेश दिया। इन मानस जात अठारह शिष्यों ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को अठारह अधिकरणों में विभक्त कर प्रत्येक अभिकरण पर एक-एक ग्रंथ लिखा।[7] ये ग्रंथ तो अप्राप्य है किन्तु इससे यह तथ्य तो स्पष्ट हो ही जाता है कि काव्यशास्त्र के आदि वक्ता भगवान शंकर या ब्रह्मा थे। प्रायः सभी काव्यमनीषी भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र को काव्यशास्त्र का प्राचीनतम ग्रंथ मानते हैं। क्योंकि इसमें काव्यशास्त्र के प्रमुख अङ्गों यथा रस, रीति, गुण, दोष, अलंकार, तथा नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विशद वर्णन मिलता है। इस

---

1. भारतीय साहित्य शास्त्र कोश, पृ० 427
2. यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्र छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्र उच्यते। प्रतापरूद्रीय टीका।
3. पंचमीसाहित्य विद्या इति यायावरीयः - का०मी० पृ० 4
4. रामायण, उत्तरकांड – 94/7
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास - गैरोला - पृ० 939
6. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भागीरथ मिश्र, पृ० 4,5
7. तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेता, यमकं यमः, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषमुत्तथ्यः, उभयालंकारिकं कुवेरः, वैनोदिकं कामदेवः रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नंदिकेश्वरः, दोषाधिकरणधिषणः, गुणैपादानिकमुपमन्युः, औषनिषदिकं कुचुमारः।- का०मी०, अध्याय - 1

प्रकार आज से लगभग दो हजार वर्षों की काव्यशास्त्रीय परम्परा में नंदिकेश्वर[1], भरत, मेधाविन, भट्टि, भामह, कालिदास, दण्डी, उद्भट, वामन, रूद्रट, भारवि, माघ, आनन्धवर्धन, राजशेखर, धनञ्जय, धनिक, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, भोजराज, मम्मट, रुय्यक, मंखक, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचन्द्र, श्रीहर्ष, जयदेव, विश्वनाथ, भानुदत्त अप्पयदीक्षित, एवं जगन्नाथ आदि प्रसिद्ध विद्वान् आते हैं। जिसमें श्रीहर्ष बारहवीं शताब्दी के प्रतिष्ठित काव्यमनीषी एवं सुप्रसिद्ध दार्शनिक थे।

श्रीहर्ष के समय बरहवीं शताब्धी तक काव्यशास्त्र चिन्तन का परिपाक दृढ़मूल हो चुका था। नौंवी शताब्दी के आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनि सिद्धांत, काव्यशास्त्र में अभिनवगुप्त तथा मम्मट जैसे आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित हो चका था। इस ध्वनि सिद्धांत ने एक प्रकार से काव्यशास्त्र के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन कर दिया था, क्योंकि उनके पूर्व गुणालंकार का प्रस्थान ही मान्य था एवं काव्य के समस्त सौन्दर्य का व्याख्यान गुण और अलंकारों के माध्यम से ही होता था। आठवीं शताब्दी के आचार्य वामन द्वारा रीति सिद्धांत प्रवर्तित हो चुका था, किन्तु वह रीति सिद्धान्त भी एक प्रकार से गुणों पर आधारित था। उपनागरिका आदि वृत्तियाँ भी अनुप्रास की जाति में हुई थी। यह सब गुणालंकार का प्रस्थान एक प्रकार से काव्य के वाच्यार्थ का ही मूल्यांकन करने वाला प्रस्थान था किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने, जो स्वयं कवि भी थे और अभिनवगुप्त की दृष्टि में सहृदयचक्रवर्ती भी, को ऐसी प्रतिति हुई कि अभी तक काव्यशास्त्र में काव्य के अन्तश्चमत्कार का मूल्यांकन नहीं हो पाया, यही काव्य का अन्तश्चमत्कारी पक्ष है प्रतीयमान अर्थ, जिसे हम ध्वन्यमान अर्थ भी कह सकते हैं। काव्य में गुण, दोष, रीति, वृत्ति, अलंकार और रस का समुचित स्थान ध्वनिकार ने ही सर्वप्रथम निर्धारित किया। तब से यह ध्वनि सिद्धान्त और ध्वनि सम्प्रदाय काव्यशास्त्रियों में सर्वाधिक लोकप्रिय रहा। यद्यपि आचार्या कुन्तक ने ध्वनि सिद्धान्त के समानान्तर वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रवर्तन किया था तथापि उसके अनुयायी अधिक न हो सके, जब कि आचार्य कुन्तक काव्य चमत्कार के अद्भुत दृष्टा थे एवं उन्होंने वक्रोक्ति जीवित जैसे ग्रन्थरत्न का प्रणयन कर काव्यशास्त्र को एक नया चिन्तन प्रदान किया था। कुन्तक के ही समकालीन आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त का प्रणयन कर कर काव्यशास्त्रविदों को निर्दोष काव्य रचना करने को प्रेरित किया इस प्रकार भरत से लेकर श्रीहर्ष के पूर्व तक संस्कृत काव्यशास्त्र में रस रीति (गुण), अलंकार ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य इन छैः काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का पल्लवन एवं परिवर्धन हो चुका था। श्रीहर्ष से परवर्ती काल में कुछ विद्वानों ने चमत्कार सिद्धान्त (चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वेश्वर का) एवं कुछ ने उत्कर्ष सिद्धान्त की भी परिकल्पना की, किन्तु इन सिद्धान्तों की प्रमुखता के विषय में बहुत से काव्यशास्त्रीय मर्मज्ञ सहमत नहीं है, साथ ही नैषधमहाकाव्य से परवर्ती होने के कारण भी यहाँ विवेचन का विषय नहीं बनाये जा सकते। एक ओर मधुसूदन सरस्वती[2] जैसे काव्यशास्त्र के अर्वाचीन विद्वान् ने नौ काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, तो अलंकार सर्वस्व के प्रचीन टीकाकार समुद्रबन्ध[3] ने पाँच सिद्धान्तों को ही मान्यता प्रदान की

---

1. राजशेखर ने भरत को रस के बदले रूपक का प्रामाणिक आचार्य एवं नंदिकेश्वर को रस सिद्धांत के मूल व्याख्याता के रूप में निर्दिष्ट किया है।– सं०सा. का इतिहास, एस.के.डे. खण्ड-I, पृ० 1,2,19
2. काव्य (साहित्य) शास्त्र के नौ तत्त्व है- रसप्रस्थान, अलंकार प्रस्थान, रीति, (मार्ग या वृत्ति) प्रस्थान, ध्वनि प्रस्थान, ध्वनिध्वंसक प्रस्थान, ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भावक प्रस्थान, वक्रोक्ति प्रस्थान, औचित्य प्रस्थान, एवं नवीन (उत्कर्ष) प्रस्थान। –साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों का आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन, पृ० 9....30
3. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन, वेति त्रयः पक्षाः। आद्येप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्! द्वितीयेपि भणिति वैचित्र्येण भोगकृतत्वेन वेति द्वैविध्यम्।। इति पंचसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरंगी कृतः द्वितीयों वामनेन, तृतीयों वक्रोक्ति जीवतिकारेण, चतुर्थों भट्टनायकेन, पंचमो-आनन्दवर्धनेन। –अलंकार सर्वस्व समुद्रबन्धकृत टीका

परन्तु भोजराज[1] जैसे अधिकांश काव्यमनीषी काव्यशास्त्र के उपर्युक्त छः सिद्धान्तों को ही प्रमुख मानते हैं एवं नैषधीयचरित, में भी उपर्युक्त छहों सिद्धोन्तों का परिपाक देखने को मिलता है।

रस सिद्धान्तः-

रस सिद्धान्त काव्यशास्त्र का प्राचीनतम सिद्धान्त माना जाता है। नैषधकार इस सिद्धान्त से अत्यधिक प्रभावित थें। उन्होंने स्वयं यह अभिकथन किया कि उन्होंने श्रृंगार रस से मनोरम इस महाकाव्य की रचना की है, एवं उनका यह महाकाव्य श्रृंगार रूपी अमृत बरसाने वाला चन्द्रमा है।[2] उनके द्वारा की गयी ग्रन्थप्रशस्ति वचनों से भी उनकी रस सिद्धान्त में असीम दक्षता का अनुमान सहजरूप में लगाया जा सकता है। जहाँ वे कहते हैं कि मेरे इस महाकाव्य की रसलहरी में वही सहृदय गोता लगाकर काव्यानन्द की प्राप्तिकर सकेगा जो गुरू परम्परा से इसका अध्ययन करेगा।[3] यह महाकाव्य अमृतरस की (अतिशय सरस होने से) वर्षा करने वाला है।[4] जिस प्रकार सुन्दर नवयौवनसम्पन्ना युवती युवकों के मन को आकर्षित कर सकती है, शिशुओं के मन को नहीं, उसी प्रकार यह ग्रंथ भी विद्वानों के हृदय में ही अमृतरस टपकायेगा न कि अल्पज्ञ व्यक्तियों के।[5] हृदय में काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपनी विदग्धता की अहंमन्यता की स्थापना करते हुए श्रीहर्ष ने कहा कि सूक्ति रचना में (जड़) कविगण अपने पद जोड़ा करें और उनमें ऊपरी अलंकार,ध्वनि एवं रसादि गुण लाने का भी प्रयत्न किया करें, किन्तु क्षीरसागर के समान वह श्रीहर्ष नाम का ही लोकोत्तर कवि है, जिसके वाणी प्रवाह में परमानन्ददायी अमृतरस की प्राप्ति होती है।[6] यहाँ आनन्ददायी अमृतरस से उनका तात्पर्य काव्यरस से ही है, क्योंकि काव्यरस को उनके पूर्ववर्ती आचार्य ब्रह्मानन्दसहोदर भी कह चुके है और पंडितराज जगन्नाथ ने तो ''रसो वै सः'' इस श्रुति वाक्य की पूर्ण संगति दिखाते हुए ''भग्नावर्णाचिदेव रसः'' कहकर रस की विशुद्ध आनन्दरूपता को प्रतिपादित किया है। श्रीहर्ष ने भी कथारस (काव्यरस) को अमृतरस[7] से श्रेष्ठ एवं अपनी वाणी को रस-क्षालना या काव्यरसपरिष्कारिका कहा है।[8]

रसविदों ने रसानुभूति को ऐन्द्रिय मानसिक आनन्द माना है, परन्तु वास्तव में काव्यानंद की रसानुभूति तो कल्पना जगत का आनन्द है, जो सभी प्रकार के लौकिक एवं आध्यात्मिक आनन्दों से भिन्न एक विलक्षण प्रकार का निरपेक्ष आनन्द है। वैयाकरणो ने रस (रस + अच्) शब्द की व्युत्पत्ति विविध रूपों में की है यथा- रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, रस्यते अनेन इति रसः, रसति रसयति वा रसः, रसनं रसः

---

1. काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
   काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्।। स०क० 2/139
   – रस सम्प्रदाय भरत, अलंकार सम्प्रदाय - भामह, दण्डी, रीति सम्प्रदाय वामन, ध्वनि सम्प्रदाय आनन्दवर्धन, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, कुन्तक, औचित्य सम्प्रदाय - क्षेमेन्द्र।
2. श्रृङ्गारामृतशीतगावयदेकादशस्तन्महा काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्जवलः ।। नै० 11/130 उत्तरार्द्ध
3. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्लान्मया प्राज्ञं मन्यमना हठेन पठिती मास्खिलः खेलतु ।
   श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढ़ग्रन्थिः सभासादय त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ।। नै० प्रशस्ति-3
4. यत्काव्यं मधुवर्षि .... नै० प्रशस्ति - 4
5. यथायूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी, कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ।
   मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयपि सुधीभूय सुधियः, किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः।। नै० प्रशस्ति - 1
6. दिशि दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वतीं, तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्ध्वनिडम्बराम्।
   स परमपरः क्षीरोदन्वान् यदीपमुदीर्यते, मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम्।। नै० प्रशस्ति - 2
7. रसैः कथा यस्य सुधावधीरणी नलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः ।
   सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ।। नै० 1/2
8. पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा ।
   कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ।। नै० 1/3

आस्वादः। इस प्रकार रस मुख्यतः आस्वादन के अर्थ को सूचित करता है, अभिप्राय यह है कि जिसके द्वारा भावों का आस्वादन हो, उसे रस कहते हैं। भरत एवं अग्निपुराणकार रस को काव्य की आत्मा या काव्य शरीर का प्राण मानते हैं।[1] रसों की प्राचीनता इसी से स्पष्ट है कि इसका वर्णन वेदों, उपनिषदों तथा पुराण मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, गीता में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त मिलता है।[2] संस्कृत काव्यविदों यथा भामह, रुद्रट, आनन्दवर्धन, दण्डी, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, भर्तृहरि, शूद्रक, मम्मट, राजशेखर आदि में भी रस का काव्य एवं काव्यभिन्न अर्थो में वर्णन कर इसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है।[3] नैषधकार ने भी उसी काव्य परम्परा का अनुपालन करते हुए नैषधमहाकाव्य में रसों की अन्विति कर अपने महाकाव्य को सरस बनाने के साथ-साथ काव्य शास्त्र में रसों की व्यापक महनीयता का प्रतिपादन किया है। स्मरणीय है कि भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में रसों का विस्तार से विवेचन तो अवश्य किया है किन्तु वह रस को काव्य या नाट्य की आत्मा नहीं मानते तथापि "इतिवृत्तंतु काव्यस्य शरीरं परिकीतिर्तम्" कहकर उन्होंने काव्यपुरुष की कल्पना की थी एवं कथावस्तु को काव्य का शरीर भी माना था। इससे हम सहजतया अनुमान लगा सकते हैं कि उनको भी रस काव्य की आत्मा रूप में अभिप्रेत रहा होगा। उनके परवर्ती अलंकारिकों ने गुणालंकार को ही काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व मानने के कारण रस को या तो गुण रूप

---

1. नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तत। इति ना०शा० षष्ठ अध्याय. पृ० 92, एवं ना०शा० 6/37
   वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। पृथकप्रयत्ननिर्वर्त्यं वाग्वक्त्रिम्णि रसाद् वपुः ॥ अग्निपुराण 337/33
2. रसेन समगंस्महि - ऋ० 1/23/23 (जलसार का बोधक)
   जम्भे रसस्य वाबृधे - ऋ० 1/37/5 (गोदुग्धवाचक)
   परिदाय रसं दुहे - ऋ० 1/105/2
   मध्वो रसो सुगमस्ति - ऋ० 5/43/4
   सोम इन्द्रियो रसः ऋ० 8/3/20
   धन्जयः पर्वते कृत्व्यो रसो विप्रः कवि काव्यन - ऋ० 9/84/5
   रसं ह्येवायं लब्ध्यानन्दी भवति - तै०उ० 2/7
   रसो वै सः - तै०उ०
   ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्यसर्वमिदं रसः - महा. 12/240/9
   अनेन नूनं वेदानां कृतमाहरणं रसात् - वही 12/367/67
   यष्टव्यं पशुभिर्मुख्यैरथो बीजै रसैरिति - वही 14/91/21
   मयः कूपरसेऽक्षिपत् - भाग०पु० 7/10/59 60
   वाण्यां च छन्दांसि रसे जलेशम् - वही 8/20/27
   जितं सर्वं जिते रसे - वही 11/8/21
   रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते, गीता 2/59
   सोमो भूत्वा रसात्मकः - वही 15/13
   ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः - मनु० 1/78
3. न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र - कु० 1/7
   ददौ रसान् पङ्कजरेणुगन्धि - कु० 3/37
   रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः कु० 5/22
   सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रवि - रघु० 1/18
   मनोबबन्धान्यरसान् विलङ्घ्य सा - वही 3/4
   चिरातसुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ - वही 3/26
   इष्टे वस्तुन्यपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति, उ. मेघ 55
   प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते - वि. 2/21
   आनन्दानि हृदयैकरसायनानि, मालवि. 6/8
   परायत्तः प्रीते कथमिव रसं वेत्तु पुरुष ....। मुद्रा 2/177
   जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः - नीतिश 24
   विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः उ०रा० 1/39
   मनश्च रसायनानि - उ०रा० 1/37
   सांसारिकेषु च सुखेषु वयं रसज्ञाः - उ०रा० 2/22
   प्रसरति रसो निर्वतिघनः - उ०रा० 6/11

में स्वीकार किया या अलंकार रूप में। काव्यशास्त्र में रस को आत्मा के रूप में स्वीकार करने वाले सर्वप्रथम आचार्य आनन्दवर्धन ही थे जैसा कि उनकी अधोलिखित कारिका से सुस्पष्ट है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।

इसके अनन्तर अभिनवगुप्त ने भी स्पष्ट रूप से कहा- "वस्तुतः रस एवं काव्यस्य आत्मा आचार्य भट्ट नायक[1] ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को रसास्वाद के प्रसंग में उतारकर रस प्रतीति में अलौकिकता प्रदान की। उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त काव्य में दो व्यापार माने, भावना व्यापार और भोग-व्यापार। उनके मत में भावना व्यापार से विभाव, अनुभाव संचारी भाव तथा स्थायीभाव का साधारणीकरण होता है और भोग व्यापर से प्रमाता को रस का भोग होता है, जो ब्रह्मानंद तुल्य होता है। बाद में आचार्य मम्मट[2] ने भी रस को ब्रह्मानंद सहोदर माना था। भरममुनि ने बाद में रस की व्याख्या एवं उसकी प्रक्रिया[3] का विवरण देते हुए कहा कि "विभावानुभवव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः।" अर्थात् विभावानुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में भावों को परिपक्वास्था को 'रस' कहते हैं। विभाव, अनुभाव, संचारीभाव का स्थायीभाव से किस प्रकार का सम्बन्ध है, तथा रस की प्रतीति किंस्वरूपिणी है, इन दो समस्याओं को लेकर रससिद्धान्त के व्याख्याताओं में मतभेद रहा है, परन्तु उसकी यहाँ विस्तार से चर्चा करना अप्रासंगिक होगा। रामायण में वाल्मीकि ने छैः, रसों को मान्यता दी,[4] परन्तु भरत[5] दण्डी एवं मम्मट ने आठ रसों को प्रधान माना। उद्भट ने शांत रस सहित 9 रस माने,[6] रुद्रट ने प्रेयान रस को बढ़ाकर 10 रस, जबकि उनके समकालीन रुद्रभट्ट ने अपने ग्रंथ श्रृंगारतिलक में 9 रस ही माने, अभिनवगुप्त ने लौल्यरस को स्थान देकर 11 रस एवं धनंजय ने काव्य के लिए 9 एवं नाट्य के लिए 8 रसों (शांत को अभिनेव समझकर खंडनकर) को उपयुक्त माना। भोज प्रेयान्, शांत उदात्त और उद्धत आदि अनेक रसों के भेद मानते है।[7] विश्वनाथ ने वत्सल रस, रामचन्द्रगुणचन्द्र ने लौल्य एवं स्नेह रसों के अतिरिक्त व्यसन, दुःख और सुख को भी रस का स्वरूप प्रदान किया। अग्निपुराण में 9 एवं हरिपाल के

---

1. तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वेलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोह संकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादि विलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधावैचित्र्यबलादद्रुतिविस्तारविकाससलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानंदमयनिजसंविद्विश्रांतिलक्षणेन परब्रह्मास्वादविधेन भोगेन परं भुज्यते ---------- । अभिनव भारती, भाग,1, पृ० 277
2. सत्त्वोद्रेकादखंडस्व प्रकाशानन्द चिन्मयः । वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।
   लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः । स्वाकारावदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।। - सा०द० 3/2, 3
3. यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिद्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वतन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह रस इति कः पदार्थः? उच्यते। आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जानां रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्सत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः, हर्षादींश्चाधिगच्छति तस्मान्नाट्यरसाः। ना. सा. , षष्ठ अध्याय, पृ० 93
4. रसैः श्रृङ.गारकरूण हास्यवीरभयानकैः । राद्रादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतद् गायताम् ।। रामायण - 1/4/9
5. श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। वीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।। ना०शा० 6/16, एवं का०प्र० 4/29
6. श्रृंगारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानकाः । वीभत्सादभुतशांताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः।। काव्यालं, सारसंग्रह 4/4
7. Bhoja is a mnist and pluralist combined regarding.this question of the number of Rasas. Fundamentally, Rasa is only one to him and that is, Ahankara or Srngara or Abhiman. The Number of Rasas - V. Raghavan, p. 119
   - ययं तु श्रृंगरमेव रसनाद्रसमामनामः - श्रृंगारप्रकाश - 1/6
   - रसोऽभिमानोऽहंकारः श्रृंगार इति गीयते ।
     योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ।। स.क. 5/1
   - न च अष्टावेवेति नियमः, यतः शांतं प्रेयांसं उद्धतं ऊर्जस्विनं च केचिद्रसमाचक्षते।
     तन्मूलाश्च किल नायकानां धीरशांत-धीरललितधीरोद्धतधीरोदान्तव्यपदेशः ।। The Number of Rasas - p. 122

संगीत सुधाकर में तेरह रस माने गये है।[1] उनके ब्राह्य, संभोग और विप्रलम्भ ये तीन नवीन रस हैं अभिनवगुप्त ने जहाँ शांत रस को सर्वश्रेष्ठ, मोक्ष रूप एवं चरमपुरुषार्थ का साधक माना वहीं दशरूपककार ने नाट्य में शान्त रस का निषेध करते हुए कहा कि नाट्य अभिनेय काव्य होता है, और शान्तरस, जिसमें राग-द्वेष या सुख दुःख की कुछ अनुभूति नहीं होती, अभिनेय नहीं हो सकता[2] यदि सभी रसों की ध्यान से मीमांसा की जाय, तो ये सभी भरत कृत आठ रसों में ही परिगणित हो जाते है[3] वे आठ रस हैं, श्रृंङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत जिनके स्थायिभाव क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, तथा विस्मय कहलाते है।[4]

नैषधकार को श्रृंगार रस[5] सर्वांगरूपेण अभीष्ट है। श्रृंगार रस के दोनों भेद संभोग श्रृंगार एवं विप्रलम्भ श्रृंगार उन्हें अभिप्रेत हैं। संभोग श्रृंगार वहाँ होता है जहाँ नायक नायिका आदि के सुखद व्यापारों यथा- परस्पर दर्शन, आलिंगन, अधरपान, चुम्बन या प्रेमालाप आदि का वर्णन होता है[6] एवं विप्रलम्भ श्रृंगार वहाँ होता है जहाँनायक नायिका में वियोग या विरह की अवस्था का वर्णन मिलता है।[7] नैषध में दोनों भेदों का विवरण नलदमयंती प्रेमालाप, नल, हंस एवं दमयन्ती वार्ता में उपलब्ध मिलता है। श्रृंगार रस की शास्त्रीय मीमांसा करते हुए बारात वर्णन प्रसंग में नैषधकार लिखते हैं मधुर, आम्ल, लवण आदि षड्रस व्यञ्जन बारातियों को उतना संतोष नहीं दे सका जितना कि युवतियों की भावभंगिमाओं से समुत्पन्न बढ़ता हुआ श्रृंगार नामक सातवें (भोज्य पदार्थ) रस न उन्हें सन्तुष्ट किया। यथा-

न षड्विधः षिड्गजनस्य भोजने तथा यथा यौवतिविभ्रमोद्भवः।
अपार श्रृंगारमयः समुन्मिन्भृशं रसस्तोषमधत्त सप्तमः ।।[8]

ध्यातव्य है कि नैषधकार का यह विवरण भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र का अनुगामी है।[9] नैषधकार ने चक्रवाक युगल पक्षियों को विप्रलम्भ श्रृंगार का उचित उदाहरण मानते हुए[10] कहते है कि नल एवं दमयन्ती दोनों एक दूसरे के वियोग में अत्यधिक व्यथित थे परन्तु इससे उनमें और अधिक प्रीतिसौख्यता की अभिवृद्धि हो रही थी ठीक वैसे ही जैसे अधिक तेल डालने पर दोपशिखा पहिले कुछ मंद पड़ती है, परन्तु पुनः द्विगुणित प्रकाशमान हो उठती है। यथा-

परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भः ।
स्नेहादिदानादिव दीपिकार्चिर्निमिष्य किंचिदद्विगुणं दिदीपे ।।[11]

---

1. श्रृंगारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानकाः ।। वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः ।
लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भातिनीरसा ।। अग्नि० पु० 339/8,9
श्रृंगारोहास्यनामा च वीभत्सः करुणस्तथा । वीरोभयानकाह्वानो रौद्राख्योऽद्भुतसंज्ञकः ।।
शांतो ब्रह्माभिधः पश्चात् वात्सल्याख्यमतः परम्। संभोगो विप्रलम्भः स्याद्रसास्त्वेते त्रयोदशः।।-संगीत सुधाकर, अध्याय 4
2. शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दशरूपक 4/35
3. It is not necessary to have a separate Rasa as Maya which is only the common name of All the eight mundane Rasas of Pravriti. - The Number of Rasas - V. Raghavan - p. 139
4. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा । जुगुप्साविस्मश्चेति स्थायिभीवाः प्रकीर्तिताः ।। ना०शा० 6/18
5. अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी । व्यभिचार्य्यादिसामान्यात् श्रृंगार इति गीयते ।। अग्नि 339/4
6. तत्र श्रृंगारस्य द्वौ भेदौ-सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।
तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाऽधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद एव गम्यते ।। का०प्र० चतुर्थ उल्लास, पृ० 84
7. अपरस्तु अभिलाष विरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुकपंचविधः। का०प्र० पृ० 85
8. नै० 16/109
9. ना०शा० षष्ठ अध्याय, पृ० 93
10. अभिलपतिपतिं प्रति स्म भैमी सदय! विलोक्य कोकयोरवस्थाम् ।
मय हृदयमिमौ च भिदन्तीं हा क इव विलोक्य नरोन रोदिताम् ।। नै० 21/145 एवं 146, 147, 148, 161
11. नै० 6/55

नारायण यहां संयोगपूर्ण विप्रभम्भ श्रृंगार मानते है।[1] श्रृंगार रस को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए श्रीहर्ष ने इस रस को महासागर की संज्ञा प्रदान की जहाँ स्वयंवर स्थल मेंआयी दमयन्ती के वर्णन में वह कहते हैं कि ऐसा प्रतीत हो रहा है कि सौन्दर्य तथा विभ्रम कौशल की विधि रूप यह लक्ष्मी (दमयन्ती) श्रृंगार रूपी रस के महासागर से उत्पन्न हुई है। यथा -

रसस्य श्रृंगार इति श्रुतस्य क्व नाम जागर्तिमहानुदन्वान् ।
कस्मादुदत्थादियमन्यथा श्रीर्लावण्यवैदग्ध्यनिधिः पयोधेः ।।[2]

इस प्रकार श्रीहर्ष कृत श्रृंगारस के उपर्युक्त वर्णन अग्निपुराणकार[3] नाट्यशास्त्र[4] एवं आचार्य मम्मट के वर्णनों से साम्य रखते हैं। जहाँ मम्मट श्रृंगाररस के बारे में कहते है "हृदमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक चमत्कारी श्रृंगारादिको रसः।"

श्रीहर्ष ने चार प्रसंगों में हास्य रस का विवरण दिया है यथा- दमयन्ती द्वारा हंसानुगमन करते समय सखियों द्वारा हंसने में, बारात भोजन वर्णन प्रसंग में एवं कलि वार्तालाप तथा राजाओं के वर्णन प्रसंग विशेषकर कीकटनरेश तथा कलिंगाधिपति के वर्णन में। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हास्य रस उन्हें शास्त्रीय रूप से अभिप्रेत नहीं था, हाँ करुण रस उन्हें शास्त्रीय रूप से अभिप्रेत था, क्योंकि हंस विलाप एवं दमयन्ती विलाप का नैषधकार ने इतनी सजीव चित्रण किया है कि सामान्य जनमानस भी उनके कारुणिक वर्णन पढ़कर शोकाभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।[5] दमयन्ती को तो करुणरस की नदी के रूप में चित्रित कर श्रीहर्ष ने इस रस की रसमयता एवं विशालता का ही प्रतिपादन किया है। यथा-

भूभृद्भिर्लम्भिताऽसौ करुणरसनदीमूर्तिमद्देवतात्त्वं
तातेनाभ्यर्थ्ययोग्याः सपदिनिजसखीदार्पयामासतेभ्यः ।
वैदर्भ्यास्तेऽप्यलाभात्कृतगमनमनः प्राणवाञ्छां विजध्नुः
संख्या संशिक्ष्य विद्याः सततधृतवयस्यानुकाराभिराभिः ।।[6]

संस्कृत काव्यशास्त्र में करुणरस का अप्रतिम स्थान है। रामायण की रचना का मूल तो करुण रस ही था। महाकवि कालिकृत मेघदूत में यक्षिणी विलाप, रघुवंश में अजविलाप तथा भवभूति के उत्तररामचरितम् में राम एवं सीता के विलाप वर्णनप्रसंग में भी करुण रस का परिपाक दृष्टव्य है। लगता है श्रीहर्ष ने अपने पूर्ववर्ती महाकवियों की परम्परा का अनुपालन करते हुए करुण रस की शास्त्रीय मीमांसा नैषध में की है, तथा नैषध में प्राप्त करुण रस के सम्पूर्ण विवरणों के अध्यमनान्तर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इस रस की मीमांसा करने में अपने पूर्ववर्ती कवियों को पीछे छोड़ दिया है, दमयन्ती को करुणरस की नदी मानने में शायद उनका संकेत इसी तरफ ही था। नैषधकार के विवरणों से यह भी

---

1. अप्राप्तौ सत्यां विप्रञ्म्भस्तादृक् दुःसहो न, यथा संयोगपूर्वको वियोग इति भावः । नै० 6/55 नारायणी टीका
2. नै० 10/115
3. श्रृंगारीचेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् । स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ।।
न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः । भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति ।। अग्नि० पु० 339/11,12
4. सच स्त्री पुरुष हेतुकउत्तमयुव प्रकृतिः। तस्य द्वे अधिष्ठाने–संभोगः विप्रलम्भश्च (तत्र संभोगस्तावद् ऋतुमाल्यानुलेपनालंकारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
तस्य नयनचातुरीभ्रूक्षेपकटाक्षसंचारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः व्यभिचारिणस्रासालस्योग्रजुगुप्सावर्जम् । विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविव्वोकव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ।।
ना०शा०, षष्ठ अध्याय, पृ० 96
5. नै० 1/134 — 142, 9/87 — 100
6. नै० 14/97

ध्वनित होता है कि इष्ट विनाश या स्वदुःख स्थिति में करुण क्रन्दन में ही करुण रस की विद्यमानता दृष्टिगोचर होती है।[1] रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत रस के किञ्चित् विवरण राजाओं के वर्णन प्रसंग एवं कलिप्रसंग में दृष्टव्य होते है, परन्तु नैषधकार को ये शास्त्रीय रूप से अभिप्रेत नहीं थे। हाँ, साहित्यिक अध्ययन की परम्परा में उन्होंने इन रसों के विवरणों का उल्लेख अवश्य किया है नैषधकर की निम्न उक्तियाँ भी रस सिद्धान्त में उनकी अप्रतिम गति की सूचक है-

एतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः - नै. प्रशस्ति - 3
यत्काव्यं मधुवर्षि --- नै. प्रशस्ति - 4
श्रृंगारभंग्यामहाकाव्ये चारूणि नैषधीयचरिते - नै. 1/145
श्रृंगारामृतशीतगावयमगादेकादशतन्महाकाव्ये ---- नै. 11/130
अण्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ --- नै. 20/162
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः।
किमस्यानाम स्यादरसपुरूरुशानादरभरैः ।। नै. 22/150 उत्तरार्द्ध

रीति एवं गुण सिद्धान्त :- नैषधकार ने काव्यशास्त्र के इस सिद्धान्त के सन्दर्भ भी नैषध महाकाव्य में दिये हैं। वह रीतियों में वैदर्भी रीति को ही प्रमुख एवं उसके उदार गुणों को प्रधान मानते हुए हंसमुखेन अभिहित करते हैं कि हे वैदर्भी (दमयन्ती)! तुम धन्य हो, क्योंकि तुमने औदार्यादि गुणों से राजा नल को आकृष्ट कर लिया है। चन्द्रिका (चांदनी) की इससे बढ़कर क्या प्रशंसा होगी कि वह अतिशय गम्भीर समुद्र को भी चंचल (उत्तरल) कर देती है। दूसरे शब्दों में श्लेषबल से यह कहा जा सकता है कि वैदर्भी रीति ही है जिसने नैषध जैसे- गम्भीर काव्य को भी लोगों को अध्ययन के लिए समाकृष्ट कर लिया है। यथा -

धन्यासि वैदर्भि! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत् नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।।[2]

नारायण कहते हैं कि धन्यासि वैदर्भि – समाकृष्यत् नैषधोऽपि इत्यनेनास्मिन्ग्रन्थे ग्रन्थकृता वैदर्भीरीतिरादृतेति ध्वन्यते । मल्लिनाथ का कथन हैं धन्येति! हे वैदर्भि ! भैमि ! वैदर्भीरीतिरपि गम्यते । धनं लब्धा धन्या असि कृतार्थासीत्यर्थः। धनगणंलब्धेति यत्प्रत्ययः। कुतः? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टैर्गुणैर्लावण्यादिभिरन्यत्रश्लषैः प्रसादादिभिः पाशैश्चेति गम्यते, नैषधो नलोऽपि तादृक् धीरोऽपीतिभावः। समाकृष्यत् सम्यगाकृष्टो वशीकृत इति भावः। एतेन वैदर्भीत्यादिविशेषणाद् गुणैभावुकमिवेत्युपमालंकारो युज्यते --।[3] स्पष्ट है कि नैषधकार को वैदर्भी रीति ही अभीष्ट है। ध्यातव्य है कि मनीषीगण, जिस शैली विधा का मार्ग का आश्रय लेकर काव्य सृजन करते हैं वही प्रणाली ही संस्कृत वाङ्मय में 'रीति' कही जाती है। रीति की निष्पत्ति रीङ् गतौ या रीङ् स्रवणो धातु से क्तिन् प्रत्यय के संयोग से होती है। जिसकी व्युत्पत्ति "रियन्ते परम्परया गच्छन्ति अनया इति रीतिः" की जा सकती है। ऋग्वेदादि ग्रंथो[4] में इसका विवरण मिलने से इसकी प्राचीनता भी सिद्ध होती है। आचार्य वामन रीति

---

1. इष्टनाशादिभिच्चेतोवैक्लव्यं शोक उच्यते। का प्र. चतुर्थ उल्वास, व्याख्याकार सत्यव्रत सिंह पृ० 91
2. नै० 3/116
3. नै० 3/116 नारायण एवं मल्लिनाथ
4. महीविरीतिः शवसासरत पृ०थक् - ऋ० 1/28/14
   वातेवाजुर्यानद्येवरीतिः - ऋ० 2/39/5
   रीतिं गिरामृतवृष्टिकरीं तदीयाम्-भामिनीविलास. 3/19
   पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः - Mahamudgara-2
   तामस्य रीतिः परशोरिव - ऋ० 5/48/5

सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए रीति की परिभाषा गुण विशिष्ट पद रचना रूप में,[1] आनन्दवर्धन ने पदसंघटना के रूप में,[2] राजशेखर ने वचन विन्यास क्रम के रूप में,[3] विश्वनाथ ने रीति को पदसंघटना बताकर काव्य में उसका स्थान अंगस्थान विशेषवत् के रूप में रखकर [4] एवं अग्निपुराणकार ने वाग्विद्या के परिज्ञान के अर्थ के रूप में दी है।[5] भामह ने रीति के दो प्रकार, वैदर्भी एवं गौडी, दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग करते हुए वैदर्भ मार्ग एवं गौडमार्ग,[6] वामन ने रीति के तीन भेद, वैदर्भी, गौडी, एवं पांचाली, रूद्रट ने 4, वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली एवं लाटी, राजशेखर ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली एवं मागधी आनन्दवर्धन ने 3, एवं भोज ने 6 रीतियों वैदर्भी, पांचाली, लाटी, गोड़ी, अवन्तिका एवं मागधी का उल्लेख किया।[7] भरत ने रीति के लिए प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग करते हुए चार प्रवृत्तियों, आवंती, दाक्षिणात्य, पांचाली तथा उर्धमागधी को स्थान दिया[8] एवं वाण ने भौगोलिक विभाजनानुसार 4 रीतियों उदीच्या, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य एवं गौड़ी को मान्यता दी[9] जबकि कुन्तक ने कविस्वभाव के आधार पर रीति को मार्ग शब्द से अभिहित करते हुए तीन भेद किये, सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम।[10] हालांकि शारदातनय ने देशभेद प्रतिवचन, प्रतिपुरुष तथा उनकी अवान्तर भेदों सहित रीति के 105 भेदों का वर्णन किया[11] लेकिन आचार्य वामन कृत रीतियों के तीन भेद ही उचित एवं तर्क संगत कहे जा सकते है। क्योंकि आचार्य मम्मट (जो वृत्ति को ही रीति मानते है) ध्वनिवादी आचार्य, एवं आचार्य कुन्तक ने भी तीन रीतियों को ही मान्यता प्रदान की है परन्तु यह तथ्य भी स्मरणीय है कि श्रीहर्ष के परवर्ती जगन्नाथ आदि विद्वान चार रीतियों को ही प्रधान मानते हैं। यथा –

> सा पुनः स्याच्चतुर्विधा। वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका मता-जगन्नाथ, रसगं-पृ. 117
> रीतिरात्मा काव्यस्य कथ्यते सा चतुर्विधा - अमृतानंद योगी अलंकारसारसंग्रह, 5/1

वैदर्भी रीति को विशेषताओं की चर्चा सोलहवें सर्ग में नैषधकार ने की है जहाँ देवताओं के साथ स्वर्गप्रस्थान करती हुई सरस्वती नल से कहती है कि हे राजसिरोमणि (राजाओं में तिलक रूप) मैं (सरस्वती) रूप लावण्यदि गुणों की आधार (जगत में) नारी अर्थात उत्तम स्त्री से विख्यात, मन में (नलविषयक) अनुराग रस से पूर्ण विदर्भकुमारी (दमयन्ती) को तुम्हारे (नल के) कण्ठमध्य आलिंगनादि विलासक्रीड़ा के निमित्त तुम्हारे ही वंश और श्लेषमाधुर्यादि गुणों की आधारभूता, पांचाली आदि रीतियों में

---

1. रीतिरात्मा काव्यस्य - का०सू० वृ0 1/1/1
   विशिष्टापदरचनारीतिः। विशेषोगुणात्मा।- का०सू० वृ0 1/2/7,8
2. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता, तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्.घटनोदिता ।
   गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यसनक्ति सा । रसान्–तन्नियमो हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ।। ध्वन्या0 3/5,6
   अस्फुट स्फुरितं काव्यतत्त्वतेतद् यथोदितम् । अशक्नुवद्भिव्याकर्तुं रीतयः संप्रवर्तिताः ।। ध्वन्या0 3/47
3. का०मी० - अध्याय -3
4. पदसंघटनारीतिरंगसंस्थानविशेषवत् - सा०द० 9/1
5. वाग्विद्या संप्रतिज्ञाने रीतिः सापिचतुर्विधा - अग्नि० पु० 340/1
   अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ। काव्यादर्श0 1/40
6. इतिमार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्। तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कवि स्थिताः ।। वही 1/101
7. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्यमार्ग इति स्मृतः ।
   रींगताविति धातोः साा व्युत्पत्तया रीति रूच्यते ।। स०क० 2/51, एवं 52 —– 58,
8. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभिः । आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी ।। ना०शा० 13/32
   प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।।
9. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् । उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ।
   नवोऽर्थे, जातिरग्राम्या श्लोषोऽक्लिष्टः स्फुटोरसः विकटाक्षरबंधश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ।। हर्षचरित-प्रस्तावना 1/7,8
10. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थान हेतवः । सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।। व०जी० 1/4
11. प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति ।
    आनत्यात् संक्षिप्य प्रोक्ताः कविभिः चतुर्विधेत्येषा तासु पंचोत्तरशतं विधाः प्रोक्ता मनीषिभिः ।। भावप्रकाशन

प्रसिद्ध, रचनामध्य में नवश्रृंगारादि रसों से परिपूर्ण वैदर्भीरीति को तुम्हारे चरित (नैषधीयचरित) के कवि के कण्ठमध्य श्लेषालंकार और वक्रोक्ति विलास समग्र ज्ञान से पूर्ण प्रतिदिन (सदैव) अधिकाधिक संरचित करती रहूँगी। यथा-

गुणानामास्थानीं नृपतिलकनारीतिविदितां रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं परीरम्भक्रीड़ाचरणशरणामन्वहमहम् ।।[1]

अवधेय है कि सरस्वती का यह आशीर्वचन नल के प्रति दमयन्ती की अनुकूलता से सम्बद्ध तो है ही, नलचरित काव्य नैषधीयचरित के कवि श्रीहर्ष के लिए भी है। जहाँ नल को आशीर्वाद है कि संसार की श्रेष्ठ नारी रूप, सौन्दर्यादि गुणों से ओतप्रोत, पतिव्रता, अनुरागमयी (वैदर्भी) उसके साथ निरन्तर रसमयी प्रणयक्रीड़ाओं में अनुरक्त रहे, वहीं कवि श्रीहर्ष को भी आशीवर्चन है कि उसकी काव्य रचना सदा श्लेषमाधुर्यादि गुणों से पूर्ण रहे एवं नवरसमयी वैदर्भीरीति से समन्वित हो। इस विवरण से यह संकेत मिलता है कि कवि को वैदर्भी रीतिपरक काव्य ही अभीप्सित है। नारायण ने भी प्रथम चरण के नारीतिविदिताम् का पदच्छेद न रीति विदिताम् करके वैदर्भी रीति का संकेत किया है।[2] एवं मल्लिनाथ महोदय का भी यही मन्तव्य है यथा- नृपतिलक! हे नृपश्रेष्ठ! गुणानां रूप लावण्यादीनां, श्लेषप्रसादादीनाञ्च, आस्थानीम्, नारी उत्तमस्त्री, इति विदितां, विश्रुताम्, अन्यत्र रीतिषु गौडीपाञ्चाल्यादिषु विदिता प्रसिद्धा। ...... साऽपि न भवतीति तां नारीतिविदितां रीतिषु विदितामित्यर्थः । ...... अन्तः मनसि श्लोकमध्येच रसस्फीतां रसेन नलविषयकानुरागेण, स्फीतां परिपूर्णाम, अन्यत्र-श्रृंगारादिरसाढ्यां, श्रृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः इत्यमरः। वैदर्भी दमयन्ती, वैदर्भरीतिञ्च, यथासङ्ख्यं तव च नलस्य च, तव वृत्ते च चरित्र विषये च, कवितुः वर्णयितुः श्रीहर्षादिकवेरित्यर्थः।[3]

"श्रृंगाररस के साथ-साथ वैदर्भी रीति करुणरसोप्रेत भी होती है आचार्य रुद्रट का मत[4] नैषधकार को भी अभीष्ट है, जहाँ श्लेषबल से उनके निम्न विवरण में इसका संकेत मिलता है। यथा -

भूभृद्भिर्लम्भिताऽसौ करुणरसनदीमूर्तिमद्देवतात्वं
तातेनाभ्यर्थ्य योग्याः सपदि निजसखीर्दापयामास तेभ्यः ।
वैदर्भ्यास्तेऽप्यलाभत्कृतगमनमनः प्राणवाञ्छां विजघ्नुः
सख्याः संशिक्ष्य विद्याः सततधृत्वयस्यानुकाराभिराभिः।।[5]

---

1. नै० 14/91
2. हे नृपतिलक राजश्रेष्ठ नल! अहं वैदर्भी भैमीम्। अथ च वैदर्भीसंज्ञां रीतिमल्पपदसमासमसमा सं वा रचनाविशेष क्रमेण तव च नलस्य तव च वृत्ते त्वतसंबन्धिनि चरित्रे विषये कवितुः काव्यकरणोद्युक्तस्य श्रीहर्षादेश्चाधिकण्ठं कण्टेऽन्वहं सदा पररिम्भस्यालिङ्नस्य चुम्बनादि विलासस्य यदाचरणं करणं तदेव शरणं जीवनोपायो यस्या एवंभताम्।.........किंभूताम्? गणानां सौन्दर्ययातिव्रत्यादिनाम्। अथ च श्लेषप्रसादादीनाम्। आस्थानी सभारूपापवस्थिति भूताम्। तथा नारी इति स्त्री विदितां नारी चेत, तर्हि भैम्येव नान्येति प्रसिद्धाम्। अथ च रीतिषु पाञ्चालयादिरीतिषु मध्येऽतिप्रसिद्धामिति यावत्। तथा-तवान्तः हृदये रसेन स्वीय सौभाग्येन नलविषयानुरागेण स्वस्मिन्नलानुरागेण वा स्फीतामतिपुष्टाम्। अथ च - अन्तः श्लोकमध्ये रसैः श्रृङ्रादिभिः परिपुष्टाम्। एवंभूतां भैयीं त्वत्कण्ठालिङ्नपरां त्वच्चरण शरणां त्वदेकवश्यां प्रत्यहमहं करिष्यामि। वैदर्भीमेव रमणीयां रोतिमवलम्ब्य त्वच्चरितवर्णयितुश्च कण्ठे एवंभूतां वैदर्भी रीतिमधिंक च रचयिष्यामि। **वैदर्भीमेव** रमणीयां रीतिमवलम्ब्य त्वच्चरिवर्णको यथाभवति तथाऽहं करिष्यामिती भावः। एतदपि वरदानम्। नर् इति संबुद्ध्यन्तं पृ०थक्कृत्य राजश्रेष्ठनः पुरुष इति संबोध्य पातिव्रत्यादिरीत्या विदितां पाञ्चाल्यादिरीतिषु च विदितामिति वा। नै० 14/91 नारायणी व्याख्या
3. नै० 14/91 मल्लिनाथी व्याख्या
4. वैदर्भीपाञ्चाल्यासौ प्रेयसि करूणे भयानकाद्भुतयोः। लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्यात् यथौचित्यम् ।। काव्यालं 15/20
5. नै० 14/97

स्मरणीय है कि श्रीहर्ष ने जहाँ वैदर्भी रीति के उदार गुणो की प्रशंसा की वहीं आचार्य भामह ने इसमें तीन गुण मानें ओज, प्रसाद एवं माधुर्व, जबकि आचार्य दण्डी ने इसमें 10 गुणों का संगुम्फन किया श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति एवं समाधि[1] परन्तु आचार्य वामन ने कहा कि वैदर्भी रीति में समग्र गुण होते हैं[2] अर्थात इसमें समग्र गुणें की स्फुट रूप में विद्यमानता रहती है। इस रीति में सानुनासिक वर्ण कोमल वर्ण तथा असमस्त पद प्रयुक्त होते हैं एवं इसका व्यवहार श्रृंगार, करुण एवं शान्त रसों में होता है। यह रीति दोषों की मात्रा से रहित, समग्र गुणों से युक्त तथा वीणा के स्वरों के समान मधुर होती है। यथा –

अस्पृष्टाः दोषमात्राभिः समग्रगुण गुम्फिता । विपञ्चीस्वर सौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते ।।
सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने । अस्ति तत्र विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ।।[3]

आचार्य दण्डी वैदर्भी रीति कोकुलाङ्गना की संज्ञा से विभूषित करते हुए कहते हैं कि –

गौडीया गणिका तुल्या वैदर्भी चकुलाङ्गना । अनेन पौरस्त्यदाक्षिणात्यरूपेण मार्गा ।।

भोज इस रीति में श्लेषादि गुणों का संगुम्फन मानते हैं यथा –

तत्रसमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता । विपञ्चीस्वर सौभाग्या वैदर्भी रीति रिष्यते ।।[4]

आचार्य विश्वनाथ ने इस रीति में तीन तत्त्वों को मुख्य माना माधुर्य गुण व्यंजक वर्ण ललित पद अल्पसमास का अभाव। यथा-

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचनाललितात्मिका । अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीति रिष्यते ।।[5]

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने वैदर्भी रीति को प्रमुख रीति मानते हुए[6] निम्न उदाहरण दिया जो श्रृंगार रसोपेत है –

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्या ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ।।[7]

नैषधकार ने गौडी रीति के विषय में तो प्रत्यक्षतः कुछ नहीं कहा लेकिन नैषध में वैदर्भी रीति के साथ-साथ गौडीरीति को भी नैषधकार ने अपनाया है, क्योंकि इस महाकाव्य के तेरहवें सर्ग में पंचनली प्रंसग एवं सन्ध्या वर्णन, इक्कीसवें एवं बाइसवें सर्ग में इस रीति के दर्शन मिलते हैं। इसकी पुष्टि नैषध के प्राचीन टीकाकार गदाधर की श्रीहर्ष विषयक निम्न प्रशस्ति से भी होती है यथा-

यद्वक्त्रस्थसरस्वती श्रुतिवचः शास्त्रेऽभवत्खण्डनं
काव्येनैषधमुष्णरश्मिशशिनी जागीयते यद्युगम् ।
स्फूर्जत्स्फीति विपक्षपक्षदलनस्पद्धिष्णु विद्वद्भटै-
र्विद्यासंयति हर्षमिश्र इडितो गौडेरगौडैर्गुणैः ।।[8]

---

1. श्लेषः प्रसादः समतामाधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ।।
   इति वैदर्भ्यमार्गस्य प्राणाः दश गुणा स्मृताः। एषां विपर्ययो प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।। काव्यादर्श 1/41,42
2. विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या। समग्रगुणा वैदर्भी - का०सू० वृत्ति 1/2/10
3. का०सू० वृत्ति - 1/2/11
4. स०क० 2/53
5. सा०द० 9/2
6. केषाचिदेता वैदर्भी प्रमुखो रीतियों मताः - का०प्र० 9/87
7. का०प्र० - अष्टम उल्लास, उदाहरण - 347
8. O.I. MS - No 1353, st. 2 एवं जानी Appendix 10 पृ० 45

आचार्य वामन के मत में गौडी रीति में ओज एवं कांति गुणों का समावेश रहता है।[1] जिसके कारण इसमें ओजस्विता विद्यमान रहती है। आचार्य रूद्रट का भी यही मत है एवं उन्होंने इसे रौद्र रस में उपयोगी माना।[2] भोज भी इस रीति में कांति एवं ओज गुण मानते हैं यथा -

समस्तात्युद्भटपदाभोजः कान्तिगुणान्वितम् ।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीति विचक्षणाः ।।[3]

आचार्य दण्डी तो गौडी रीति को वैदर्भी रीति के दशों गुणों से रहित बताते हैं, परन्तु आचार्य भामह का कथन है कि वैदर्भी रीति यदि अपनी सीमा का अतिक्रमण करे तो वह भी अवांछनीय हो सकती है एवं गौडी अपनी सीमा में रहकर (काव्यगुणों से युक्त होने पर) सर्वथा प्रशंसनीय बन जाती है यथा -

अपुष्टार्थमवक्रोक्तिप्रसन्नमृजुकोमलम् । भिन्नं ज्ञेयमिवेदं तु केवल श्रुतिपेशलम् ।।
अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याम्यमनाकुलम् । गौडीयमपि साधीयः, वैदर्भमपि नान्यथा ।।[4]

राजशेखर के अनुसार गौडी रीति में अनुप्रासयुक्त दीर्घसमास, तथा योग वृत्तिपरम्परागर्भ वचन का समावेश होता है। ध्वनिवादी आचार्यों तथा वामन के मत में गौडी में ओजोगुण की प्रधानता रहती है। पाञ्चाली रीति में ओजोगुण एवं कांति गुणों का अभाव परन्तु माधुर्य सौकुमार्य गुणों एवं लघुसमासों की अनिवार्यता रहती है, अर्थात इसमें सामान्य गुणों का संतुलन होता है जबकि लाटीयारीति मध्यम समासों वाली एवं रौद्र रस में प्रयुक्त होती है।

नैषधकार गुण सिद्धान्त से भी प्रभावित थे। सरस्वती के नल को दिये गये आशीर्वचन विवरण से इसकी पुष्टि भी होती है, जहाँ सरस्वती कहती है कि मैं प्रसाद, माधुर्यादि गुणों से युक्त रीति रूप में विख्यात, श्रृंगारादि रसों से सिक्त तथा श्लेषादि अलंकार चमत्कारों का निधान वैदर्भी रीति को आपके चरितकाव्य रचनेवाले (श्रीहर्षादि) कवियों के कण्ठ मेंसदा निवास कराऊँगी।[5] आचार्य वामन ने भी कहा था कि रीति पदों की विशिष्टरचना है, एवं रचना में यह विशेषता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। स्पष्ट है कि रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसीलिए रीति सिद्धान्त को गुण सिद्धान्त के नाम से भी जाना जाता है। आचार्य दण्डी ने गुणों के द्वारा ही वैदर्भी एवं गौडी रीति में विभेद का स्पष्ट प्रतिपादन किया। उन्होने भरत[6] सम्मत 10 गुणों को वैदर्भी रीति का प्राण माना एवं गौडी को उनसे रहित । आचार्य वामन ने गुण और अलंकारों के भेद को पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हुए गुणों को शब्दगत (10 शब्दगुण) तथा अर्थगत (10 अर्थगुण) मानकर उनकी संख्या द्विगुणित (20) कर दी है। वामन ने भी 10 गुणों को वैदर्भी रीति के लिए आवश्यक माना, जबकि गौडी के लिये ओज और कान्ति की एवं पाञ्चाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद गुण को आवश्यक माना। उनका कथन है कि काव्य शोभा के उत्पादक धर्म गुण हैं और उसके अतिशय (वृद्धि) करने वाले अलंकार के उनके एवं आचार्य मम्मट के मत में गुण काव्य के

---

1. ओजः कांतिमती गौडीया - का०सू० वृ0 1/2/12
2. पांचाली लाटीया गौडीया चेतिनामतोऽभिहिताः । लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ।।
   द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच सप्त का यावत् । शब्दा समासकंतो भवति सथाशक्ति गौडीया ।। काव्यालंकार 2/4,5
3. स०क० 2/55
4. काव्यालंकार 1/34,35
5. नै० 14/91
6. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ।। ना0 श0 16/96

नित्य धर्म है एवं अलंकार अनित्य धर्म।[1] आचार्य आनन्दवर्धन ने भी रीति को रसोपकारिणी तथा रसाभिव्यक्ति का साधन मानते हुए गुण को उसका अन्तरंग तत्त्व एवं समास को बाह्यमूलाधार बताते हुए ध्वनि की स्फुट रूप में रहने की अभिव्यक्ति की[2] अर्थात उन्होनें भी गुण को रीति का अन्तरंग तत्त्व माना। आचार्य रुद्रट ने भी रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन, गुण को रीति का अन्तरंग एवं समासादि को बाह्य तत्त्व माना जबकि भोज एवं राजशेखर ने रीति का मूलाधार गुण एवं समासादि को माना। भोज ने श्रृंगारप्रकाश में 48 गुण (भेदप्रभेद से 72 गुण) मानें[3] एवं उनके मत में गुणविहीन अलंकार युक्त काव्य आनन्दरहित हैं यथा –

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ।।

जबकि अग्निपुराणकार ने 18 गणों[4] का वर्णन करते हुए कहा कि गुणाभाव में अलंकार युक्त काव्य भी आनन्दप्रद नहीं होता।[5] आचार्य आनन्दवर्धन मम्मट एवं विश्वनाथ गुण को रस का मुख्य धर्म मानने के साथ साथ गौणरूप में गुणों को शब्दार्थ के भी धर्म माना है। उनके मत में आत्मा के शौर्यादि गुणों के समान रस के उत्कर्षधायक एवं अपरिहार्य धर्म, गुण हैं एवं काव्य में इनकी स्थिति अचल होती है।[6] परन्तु इनमें आचार्य मम्मट ने लौकिक गुण एवं अलंकार में भेद की स्थिति स्वीकार की।[7] जबकि उद्भट गुण एवं अलंकार में कोई भेद नहीं मानते।[8] लेकिन काव्यशास्त्रीय परम्परा की श्रृंखला के अन्तिम कड़ी के आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ गुण को रस का धर्म मानते हुए शब्द और अर्थ से गुणों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध की बात भी स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण तथ्यों को समटेने पर गुण सिद्धान्त के विषय में दो प्रकार की मान्यताएँ मानी जा सकती है, प्रथम प्राचीन आलंकारिकों (भरत एवं दण्डी) की दसगुण वाद की मान्यता एवं द्वितीय परवर्ती आलंकारिकों की त्रिगुणवाद की मान्यता। त्रिगुणवाद के प्रथम प्रवर्तक आचार्य भामह थें। इन्होंने माधुर्य, ओजस् एवं प्रसाद इन तीन गुणों को ही काव्य में स्थान दिया। नवीं शताब्दी के आचार्य आनन्दवर्धन से लेकर सोलहवीं शताब्दी के आचार्य पडितराज जगन्नाथ तक, अर्थात मम्मट विश्वनाथ आदि ने भी गुणत्रयवाद को मान्यता दी एवं काव्य शास्त्र में इन तीन गुणों को ही प्रतिष्ठा दिलायी। नैषधकार के विवरणों से भी त्रिगुणवाद की मान्यता का संकेत मिलता है।

श्रीहर्ष ने त्रिगुण वाद की शास्त्रीय मीमांसा तो नैषध में नहीं कि ये गुण कहाँ मिलते हैं इनकी क्या उपयोगिता है? परन्तु उन्होनें शब्दतः इन गुणों का आख्यान कर इनका वर्णन नैषध में अवश्य किया हैं।

---

1. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः पूर्वेनित्याः । तददतिशय हेत्वस्त्वलंकारः ।। का०सू० वृ0 3/1/1, 2, 3
   उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽंगद्वारेण जातुचित् । हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। का०प्र० 8/67
2. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा । ध्वन्या० 3/6
   तमर्थमवलम्बवन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
   अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः विज्ञेयाः कटकादिवत् ।। ध्वन्या0 2/6
3. स०क० 1/60 – 65
4. शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं सः स तदगुणः । श्लेषो लालित्यगाम्भीर्य्यमुदारता ।। अग्नि०पु० 346/5 एवं 6... 20
5. अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् । वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम् ।। अग्नि० पु० 346/1
6. ये रसस्याङ्गिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयेः गुणाः।। का०प्र० 8/66,ध्व०2/6,सा०द० 8/1
7. समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदाः ।
   ओज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्यास्थितिरितिगड्ढलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः ।। का०प्र० 8/67, वृत्ति।
8. का०प्र० व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर पृ० 378

यथा – नैषधीयचरितम् के छठे सर्ग में दमयन्ती द्वारा देवदूतियों को दिये गये प्रत्युत्तर में श्लेषबल से माधुर्यगुण का संकेत मिलता हैं यथा-

तपः फलत्वेन हरेः कृपेयमिमं तपस्येव जनं नियुङ्क्ते ।
भवत्युपायं प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमधैर्य सर्जि ।।[1]

आचार्य भामह ने श्रुतिसुभगता और समासों के विरल प्रयोग को माधुर्य माना है।[2] आचार्य दण्डी ने रस युक्त वर्णरचना को माधुर्य गुण की संज्ञा दी[3] एवं आचार्य वामन ने समास रहित पदों से युक्त रचना को माधुर्य गुण की संज्ञा दी तथा उक्ति वैचित्रय को भी माधुर्य गुण माना।[4] रसध्वनिवादी आचार्यो आनन्दवर्धन मम्मट एवं विश्वनाथ ने चित्त को द्रवित कर देने वाले ह्लाद को माधुर्य गुण माना है।[5] नैषधकार ने नल वर्णन प्रसंग में[6] ओजो गुण का संकेत किया है। आचार्य दण्डी के अनुसार ओजो गुण में समास बाहुल्य रहता है, एवं वह गद्य काव्य का प्राण है।[7] दण्डी ओज को शब्दगुण मानते हैं। जब कि आचार्य वामन के मत में गाढबन्धता या रचना की गाढता ही ओज गुण है, एवं उन्होंने अर्थ की प्रौढ़ि को भी ओजोगुण कहा है।[8] मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य चित्त के विस्ताररूप दीपत्त्व को ओजगुण मानते हैं। इसमें पदरचना समासबहुल एवं औद्धत्त्वपूर्ण होती है।[9] उनके मत में परम्पराप्राप्त श्लेष, समाधि उदारता और प्रसाद गुण, ओज में गुण में ही अन्तुर्भुक्त हो जाते हैं।[10] ऐसा प्रतीत होता है कि नैषधकार भी मम्मट आदि आचार्यों के मत से सहमत हैं क्योंकि उन्होनें प्रसाद गुण का शब्दतः नाम नैषध में नहीं लिया। आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्य वामन एवं भामह ने प्रसाद गुण को मान्यता प्रदान की। वामन ने रचना की शिथिलता एवं अर्थ की स्पष्टता को प्रसाद गुण माना[11] जब कि भामह के मत में जिसका अर्थ विद्वानों से लेकर स्त्रियों और बच्चों तक की समझ में आ जाय, वही प्रसाद (गुण) है यथा -

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधशः । समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ।।
केचिदोजोऽनिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि । यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका ।।
श्रव्यं नास्तिसमस्तार्थ काव्यं मधुरमिष्यते । आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ।।[12]

---

1. नै० 6/93
2. श्रव्यं नास्तिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते - काव्यालं 2/3
3. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः । येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ।। काव्यादर्श0 1/51
4. पृ०थक्पदत्तवं माधुर्यम् - का०लं०सू० 3/1/21
उक्ति वैचित्र्यं माधुर्यम् - का०लं०सू० 3/2/10
5. श्रृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् । माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ।। ध्वन्या० 2/8
- आह्लादकत्त्वं माधुर्यं श्रृंगारेदुतिकारणम् । करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।। का०प्र० 8/68
- मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू । अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।। का०प्र० 8/74
- चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते । - सा०द० 8/2
6. तदोजस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेतिचित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदाविधिः कुण्डलनां विधोरपि ।। नै० 1/14
7. ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम् । पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ।। काव्यादर्श 1/80
8. गाढबन्धत्वमोजः - का०सू० वृ0 3/1/5
अर्थस्यप्रौढिरोजः - वही 3/2/2
9. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते। .... तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी। - सा०द० 8/4,7
10. श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ।।
- गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते । माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्दितम् ।। स०द० 8/9,10
11. शैथिल्यं प्रसादः - का०सू० वृ0 3/1/6
- अर्थवैमल्यं प्रसादः : वही - 3/2/3
12. काव्यालं० 2/1, 2, 3

अलङ्कार सिद्धान्त –

नैषधीयचरितम् में अलङ्कार सिद्धान्त के कुछ सन्दर्भ देखने को मिलते हैं। अलङ्कारों के बीजतत्त्व वेद, उपनिषद्, अष्टाध्यायी एवं ब्राह्मण ग्रंथों[1] में मिलने के साथ-साथ पूर्व में काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र अभिहित किये जाने से भी अलंकार की प्राचीनता की पुष्टि होती है। श्रीहर्ष ने अलंकार शब्द के लिए अलंकृत या अलंकृति[2] शब्द का प्रयोग किया है, जिससे उनके ऊपर ऋगवेद के प्रभाव का आकलन किया जा सकता है, क्योंकि ऋगवेद में अलंकार के लिए 'अरंकृति शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] वैयाकरणों ने अलंकार की व्युत्पत्ति, अलंकरणम् अलंकारः, अलंकृतिः अलंकारः, अलं क्रियते अनेन इति अलंकार (अलम् + कृ + घञ्),[4] विविध रूपों में की है। विभिन्न काव्यशास्त्रीय मर्मज्ञों[5] की अलंकार सम्बन्धी परिभाषाओं का सार यह है कि जो काव्य को अलंकृत करे, वही अलंकार है। जिसप्रकार लोक में कुण्डलहारादि विविध आभूषणों से अलंकृत ललनाओं का सौन्दर्य निखर उठता है, ठीक उसी तरह विभिन्न अलंकारों से मण्डित कविताकामिनी भी शोभायमान होकर निखर उठती है। वास्तव में काव्यसृजनकाल में कवियों के अन्तर्मन में भावों के संचरित होने पर सहजतया ही अलंकारों का समावेश हो जाता है, क्योंकि प्रायः सभी प्रतिभावना कवि अपने काव्य को श्रेष्ठतम रूप देने की अभीप्सा रखकर ही काव्यसृजन में प्रवृत्त होते हैं, उसी श्रृंखला में हम नैषधकार को भी रख सकते हैं। अलंकारों का क्रमिक एवं व्यवस्थित विवेचन काव्यशास्त्रीय रूप में भामहकृत काव्यालंकार में मिलता हैं। राजानक रुय्यक ने तो इन्हें अलंकार सिद्धान्त का प्राचीनतम आचार्य घोषित करते हुए इन्हें अलंकारप्रजापति एवं चिरन्तन आलंकारिक की पद्वी से भी समलंकृत किया है।[6]

अलंकारों के अन्तर्गत उपमा अलंकार का सन्दर्भ नैषधकार ने नल द्वारा हंस को पकड़ लेने के पश्चात हुई घटनाओं के वर्णनक्रम में समुपस्थाप्रित किया है जहाँ वह कहते है कि उस सुन्दरपक्षी से रहित सरोवर को त्यागकर तीरस्थ राजहंसमण्डली चली जाने लगी, उस समय ऐसा लग रहा था मानो सरोवर की शोभा ही चली जा रही हो । यथा –

---

1. वाय वायाहि दर्शते मे शौभा अरंकृता - ऋ० 1/2/1
   - का ते अस्त्यरंकृति सूक्तैः - ऋ० 7/29/3
   - वसनेन अलङ्कारेणेति संस्कुर्वन्ति - छा0 उ0 8/8/5
   - अलङ्कृञ् - अष्टा० 3/2/136
2. वदनालंकृतिमात्रमक्षिणी नै० 2/55
   - अलंकृतासन्नमहीविभागैरयं — नै० 8/89
   - अलंकृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गी — नै० 10/108
3. वाय वायाहि दर्शते मे शौभा अरकृता - ऋ० 1/2/1
   - का ते अस्त्यरंकृति सूक्तैः - ऋ० 7/29/3
4. भावे घञ् - अष्टा० 3/3/18
5. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारन् प्रचक्षते - दण्डी, काव्यादर्श 2/1
   - काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। का०सू० वृ0 1/1!1,2
   - अंगाश्रितास्त्वलंकारः मन्तव्याकटकादिवत्। आनन्दवर्धन - ध्वन्या० 2/6
   - हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। मम्मट का०प्र० 8/67
   - काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः । पं. रा. जगन्नाथ-रसगंगाधर
   - शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः । रसादीनुपकुर्वर्कन्तोड लंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ।। विश्वनाथ, सा०द० 10/1
   - उपकारत्वात् अलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः । ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतेः ।। राजशेखर, काव्यमीमांसा।
6. इह तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारतयालंकारापक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।
   - अलंकार सर्वस्व, पृ० 3

पतत्रिणा तद्र चिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भारुहनूपुरोपमा चुकूजकूले कलंहसमण्डली ।।[1]

यहाँ कवि के मत में हंसों के शब्द ही उसी (सरोवर के) शोभा के चरणकमलों के नूपुर शब्द थे। आचार्य मल्लिनाथ कहते हैं "उपमा शब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावना लक्षक इत्यवधेयम्। एवं नारायण का मन्तव्य है" तत् पल्वलमल्पसरः प्रविहाय त्यक्त्वा प्रयान्त्या गच्छन्त्या श्रियः शोभायाः शब्दच्छलेन चलन्ती ये पदाम्भोरुहे चरणकमले तयोवर्तमानौ नूपुरौ तदुपमा तत्तुल्या। ----- तस्या नूपुरतुल्यत्तवं वा।[2] काव्यशास्त्र में अलंकारों के प्रमुख तीन भेद होते हैं। शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार अर्थालंकार के अन्तर्गत आते हैं एवं जो अलंकार किसी शब्द विशेष के पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी तिरोहित नहीं होते, वरन् अर्थगत सौन्दर्य का पोषण करते हैं, वह अर्थालंकार कहलाते हैं। भरतमुनि के मत में काव्यबन्धों में जहाँ सादृश्य केआधार पर किसी वस्तु की किसी अन्य वस्तु से तुलना की जाती है वहाँ उपमा अलंकार होता है। यह उपमा वर्ण, आकृति तथा गुण के सादृश्य के आधार पर सम्भव होती है, एवं यह 4 प्रकार से दी जा सकती हैं एक की एक से एक की अनेक से, अनेक से एकी की, एवं अनेक से अनेक की।[3] प्रायः सभी काव्यमनीषियों से उपमा अलंकार की अपनी परिभाषाओं[4] के वर्णन में उपमा अलंकार के चार प्रमुख अंगों उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा उपमा वाचक शब्द यथा- इव, सदृश, इत्यादि का प्रयोग किया है। श्रीहर्ष ने भी उपमा[5] के साथ उसके प्रमुख अंगो का यथास्थान वर्णन कर उपमा अलंकार के शास्त्रीय पक्ष को उजागर किया है।

---

1. नै० 1/127
2. नै० 1/127, मल्लिनाथ एवं नारायण की टिप्पणी
3. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते । उपमा नाम सा ज्ञेया गुणःकृतिसमाश्रयाः ।।
   एकस्यैकेन सा कार्या ह्यनेकेनाथवा पुनः । अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा ।। ना०शा० 16/44, 45
4. - यद्असद् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म - निरुक्त 3/3/14
   - विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः । उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ।। भामह - काव्यालं० - 2/30
   - यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते । उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते ।। दण्डी- काव्यादर्श 2/14
   - यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः । मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत्।। उद्भट-काव्या सारसं-1/15
   - उपमानोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा - वामन का०सू० वृ0 4/2/1
   - स्तुतिनिंदातत्त्वाख्याख्यानेषु - वही 4/2/7
   - उभयोः समानेमेकं गुणादिसिद्धं भवेद्यथैकत्र । अर्थेन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा ।। रुद्रट-काव्यालं - 8/4
   - साधर्म्य उपमा भेदे । उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समाननेन धर्मेण सम्बन्धः उपमा - मम्मट का०प्र० 10/87 एवं वृत्ति, पृ० 544
   - विवक्षितपरिस्पंद मनोहारित्वद्धिये, वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा ।
     तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात् इवादिरपि विच्छित्यायत्रवक्ति क्रियापदम् ।। कुन्तक- वक्रो0 जी0 3/32,32
   - तत्प्रसिद्ध्यनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः । भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मताः ।। भोज- स०क० 8/3
   - उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा । साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः भेदप्राधान्यं व्यतिरेकवत् । अभेदप्राधान्यं रूपकवत् । द्वयोस्तुल्यत्वं यथा स्याम् । यदाहुः किञ्चित् कश्चिच्च् विशेषः स विशदः सदृशतायाः ।।- रुय्यक अलं0 सर्व0, पृ० 21, 22
   - साम्यं वाच्यं वैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः । विश्वनाथ, सा०द० 10/14
   - उपमा यत्र सादृश्य लक्ष्मीरुल्लसतिद्वयोः । जयदेव - चन्द्रलोक 5/11
   - स्वतः सिद्धेनभिन्नेनसम्मतेन च धर्मतः। साम्यं अव्येन वर्णस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ।। विद्यानाथ प्रतापद्रयशोभूषण पृ०254
   - उपमिति क्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा ।
     अलंकारभूतोपमालक्षणत्वं तदेवादुष्टाव्यंग्यत्व विशेषितम् ।। अप्पय्यदीक्षित - चित्रमीमांसा पृ० 20
   - उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः। — यत्रोपमानोपमेययोः सहृदयाह्लादकत्वेन चारुसादृश्यमुद्भुमतयोल्लसति व्यंग्यमर्यादां विना स्पष्टं प्रकाशते तत्रोपमालंकारः-अप्पय्यदीक्षित - कुवलयानंद, पृ० 7
   - सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमामिति सौन्दर्यचमत्कृत्याधायकत्वम् । चमत्कृतिरानंदविशेषः सहृदयप्रमाणकः पं. जगन्नाथ रस गंगा, पृ० 204
5. त्वयैकसत्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्यं न मनः कंथचन् ।
   हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरूपिताः ।। नै० 9/55
   सरोरुहं तस्य दृशैव निर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।
   कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ।। नै० 1/24

नैषधीयचरितम् में उपमान की चर्चा करते हुए नैषधकार कहते हैं –

सत्येव साम्ये सदृशादशेषाद् गुणान्तरेणोच्चकृषे यदङ्गैः ।
अस्यास्ततः स्यात्तुलनापि नाम वस्तुत्वमीषाम्पमापमानः ।।[1]

देवदूत बने नल स्वयं अदृश्य रूप में रहते हुए दमयन्ती को देखकर उसकी सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहते हैंकि इसके (दमयन्ती के) अंग सभी समान वस्तुओं से सादृश्य रहने पर भी किसी न किसी अन्य गुण के कारण उत्कृष्ट हो गये हैं। अतः इनकी समानता तो अन्य पदार्थो में किसी प्रकार सम्भव हो सकती है, किन्तु इन अंगो (दमयन्ती के अंगों) की उपमा के लिए किसी अन्य को उपमान बनाना तो इनका अपमान करना होगा।[2] स्पष्ट है कि यहाँ नैषधकार की दृष्टि में दमयन्ती के अंगों का कोई भी उपमान विद्यमान नहीं हैं क्योंकि साधारण धर्मत्वेन प्रसिद्ध पदार्थ ही उपमान होता हैं और ऐसा कोई उपमान नहीं हैं जिसमें सौन्दर्य रूप साधारण धर्म दमयन्ती के अंगों की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यमण्डित हो परन्तु मनीषी कवि चमत्कापूर्ण ढंग से उपमेय उपमान की परिभाषा भी बदल देते हैं जैसा कि श्रीहर्ष ने भी यहाँ किया है जहाँ वह कहते हैं कि (बारात आगमन के समय) कुण्डिनपुरवासी प्रजा भी अलंकारों से सुशोभित थी, सारे भवन सुन्दर चित्रों से दीप्तिमान हो रहे थें कुण्डिपुर की भूमि मणिजटित हो रही थी। इस प्रकार अब तक स्वर्ग उपमान था भूलोक उपमेय, परन्तु अब (असीम सौन्दर्यसज्जा से) भूलोक ही उपमान बन रहा था। यथा -

विभूषणैः कञ्चुकिता बभुः प्रजा विचित्रचित्रैः स्नपितत्विषो गृहाः ।
बभूव तस्मिन्मणिकुट्टिमैः पुरे वपुः स्वमुर्व्या परिवर्तितोपमम् ।।[3]

इस संदर्भ में नारायण का अभिमत है "तस्मिन्पुरे प्रजाः पौरा जानपदाश्च विभूशणैरलंकारैः काञ्चुकिता नानारत्नकान्तिच्छादितसर्वावयवाः सन्तो वभुः शुशुभिरे । तथा वर्णमात्रकल्पितेषु निर्जीवेष्वपि रूपकेशु जीवद्भ्रमापादनादिचमत्कारकरणाद्विचित्रचित्रै राश्चर्यकारिभिः कुड्यलिखितनानावर्णरूपकैः स्नपितत्विष उज्ज्वलीकृतदीप्तयोः गृहाः बभुः। एवं जंगमस्थावररूपान्यतया तथा मणिकुट्टिमैश्च मणिबद्धभूमिभिः कृत्त्वा उर्व्याः स्वं सहजं मृन्मयं वपुः केनापि ब्रह्मादिना परिवर्तिता उपमा यस्यतद्रूपान्तरं

---

1. नै० 7/14
2. यत् अंगैर्भैम्या अंगैर्मुखाद्यवयवैरर्थाद्गुणान्तरेण वृत्तत्वादिना गुणेन चन्द्रादिना, समं साम्ये सत्येव सदृशात्कविसमये मुखादेः सदृशत्वेनोपमानत्वेनाभिमताच्चन्द्रादेरशेषात्सकलाद्वस्तुनः सकाशाद्गुणान्तरेण केनचिद्गुणान्तरेणान्येन गुणेन कृत्वा यद्यस्माद्, उच्चकृषे उत्कृष्टैर्जातम्। ततस्मादर्थात् अस्याः अंगैः कृत्त्वा सदृशस्य चन्द्रादेर्वस्तुनस्तुलनापि समीकरणमपि तैः सह साम्यं या स्यान्नाम। कविसमये सर्वत्रोपमानस्याधिक्यम्, उपमेयस्य च न्यूनत्वं प्रसिद्धम्। तथा चान्यत्र रमणीमुखाद्यपेक्षया चन्द्रदेराधिक्यादुपमानत्वम्, मुखादेश्च न्यूनत्वादुपमेयत्वं घटते। आस्यास्तु मुखं यद्यपि वर्तुलत्वेन चन्द्रेण समानं तथापि चन्द्रपेक्षयाऽधिकामृतयुक्तत्वेनाधिकगौरत्वेन कलंकाभावेन च चन्द्रादधिकम्। नेत्रे अप्याकारेण नीलिम्ना च यद्यपि नीलोत्पलदलेन समाने तथापि नीलोत्पलदलस्य कटाक्षविक्षेपादिराहित्येन स्वस्य तत्साहित्येन नीलोप्तलदलापेक्षयाधिके। एवमोष्ठादेरपिकेनचिद्गुणेन साम्ये सत्येव गुणान्रेण वन्धूकाद्यपेक्षयाधिक्यं दृष्टव्यम्। - तथा च चन्द्राद्ययाधिक्येनैतदीयवदनाद्यंगानामुपमानत्वम्। चन्द्रदेश्चैतदीयवदनाद्यपेक्षया न्यूनत्वेनोपमेयत्वमिति चन्द्रो भैमीमुखसदृशः नीलोत्पलं च भैमीनयनसदृशमिति एवं सदृशस्य चन्द्रादेर्भैमीवदनादिना समीकरणं साम्यं वा भवेदपि भैमीवदनादेरुपममानत्वं चन्द्रदेश्चोपमेयत्वं युक्तमेवेत्यर्थः। अभीषामेतदीयानामंगानां तु पुनर्वस्तु चन्द्रादिलक्षणमुपमा उपमानं अपमानो धिक्कार एव, अर्थादमीषामेव, हीनस्योपमानत्वाभावात्, अधिकस्योपमेयत्वाभावादिति भावः। यत उच्चकृषे ततोहेतोरस्या भैम्यास्तुलनापि स्थान्नाम। साम्यं विनोत्कर्षो न सिध्यतीति साम्यमप्यस्तु नाम, वस्तु तु परमार्थस्तु अमीषामंगानामुपमानं तिस्कार इति वा। नै० 7/14 नारायण
   · तथा हि वस्तुतः परमार्थतस्तु अमीषामंगानामुपमा तुलना तस्या अवमानोऽपमानः उत्कृष्टानामसमानैः सह समातपादनमवमान एवेत्यर्थः। । नै० 7/14 मल्लिनाथ
3. नै० 15/15

प्रापितमिव बभूव। पातालस्य रम्यतरत्वात्पातालमुपरि जातमिवेत्यर्थ इत्युत्प्रेक्षा। परिवर्तिता विनिमयिता उपमा उपमानं स्वर्गादि येन। उपमानत्वेन प्रसिद्धस्य स्वर्गस्योपमेयत्वं कृतम्। स्वयं च तस्योपमानं जातमित्यर्थ इति वा।[1] उपमेय, उपमान एवं उपमाता की चर्चा करते हुए श्रीहर्ष नलमुखेन (दमयन्ती सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में) अभिहित करते हैं कि सुन्दर चन्द्र आदि उपमान पदार्थों ने दमयन्ती के मुख आदि अंग (उपमेय) से जैसे-जैसे अपकर्षों को प्राप्त किया, वैसे, वैसे वे नाचने लगे, क्योंकि उपमा देने वाला कवि (उपमाता) उत्कृष्ट दमयन्ती के मुख आदि अंग की उन्हीं चन्द्र आदि पदार्थों को महत्त्व देंगे। यथा-

> भव्यानि हानीरगुरेतदङ्गाद्यथा यथानर्ति तथा तथा तैः ।
> अस्याधिकस्योपमयोपमाता दाता प्रतिष्ठां खलु तेभ्य एवं ।।[2]

इस प्रसंग में मल्लिनाथ का कथन है ''अधिकस्योत्कृष्टस्यास्य भैम्यङ्गस्योपमया उपमानीकरणेन। अथवा गत्यन्तराभावात् तैरेव तुलनया तेषामेवोपमानीकरणेनेत्यर्थः। तेभ्यश्चन्द्रादिभ्य एव प्रतिष्ठां दाता दास्यति। तथा च यथा कथंचित् प्रतिष्ठालङ्कारे उपमेयत्वेन वा, उपमायामुपमानत्वेन वा कविप्रसादाच्चन्द्रादीनां पुनः प्रतिष्ठा भविष्यति इत्यनर्तीत्यर्थः।[3] एवं नारायण के मत में भी यहाँ उपमा के अंगों के शास्त्रीय पक्ष का नैषधकार ने विवेचन उपस्थित किया है।[4] उपमा अलंकार के प्रमुख अंगों उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा उपमा वाचक शब्दों को निम्न रूप से समझा जा सकता है -''कमलमिव मुखं सुन्दरम्।'' इस वाक्य में मुख उपमेय है, चन्द्रमा उपमान है सौन्दर्य साधारण धर्म है, तथा समान (इव) उपमा वाचक शब्द है।[5]

आचार्य पाणिनि ने भी ''उपमानानि सामान्यवचनैः[6] के माध्यम से उपमान शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है एवं आचार्य पतंजलि ने उपमान तथा उपमेय के बीच भेदाभेद सम्बन्ध की परिगणना की है।[7] महर्षि पतञ्जलि के इसी अभिप्राय को अलंकारसर्वस्वकार ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि सदृशता का वह विषय है, जहाँ कुछ उभयनिष्ठ सामान्य धर्म हों एवं कुछ विशिष्ट घर्म ।[8] पतंजलि मुनि का अभिमत है कि अनिर्ज्ञात अर्थ के ज्ञान के लिए उपमान का प्रयोग होता है यदि उपमेय के धर्म ज्ञात न रहें तो भी

---

1. नै० 15/15 नारायण
2. नै० 7/16
3. नै० 7/16 मल्लिनाथ
4. भव्यानि शोभमानानि चन्द्रादीनि वस्तूनि एतस्या वदनाद्यंगात् सकाशात् यथा यथा येन येन प्रकारेण यावद् यावद् हानीरपकर्षान् अगुः प्रापुः तैश्चन्द्रादिभिस्तथा तथा तावत्तावत् अनर्ति नृत्तम्। अपकर्षप्रापवपि कथं नृत्तमत आह-खलु यस्मादधिकस्योत्कृष्टस्य (अस्य) एतदीयांगस्य उपमया साम्येन उपमाता कविर्न्यूनेभ्योऽपि तेभ्यश्यन्द्रादिभ्य एव प्रतिष्ठां माहात्म्यं दाता दास्यति। भैमीमुखसदृशश्चन्द्रादिरिति वर्ण्यमानास्तदुपमेयताप्रतिष्ठाप्राप्त्या अधिकानि भैम्यंगान्यस्माकमुपमानानि वयं धन्या इति उत्तमोऽस्माकं प्रतियोगीत्यानन्देन नृत्यन्तीति भावः। भैमीमुखं किंवदिति पृ०ष्टे चन्द्रस्य न्यूनत्वेऽप्यन्यस्योपमानस्याभावाच्चन्द्रवदित्येव वक्तव्यं स्यात्। एवं नयनादवपि द्रष्टव्यम् - नै० 7/16 नारायण
5. उप समीपे मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्ता उपमेयं कर्म) अनया इति उपमा। पंकजादिपदवत् योगरूढ़िमिदम् उपमापदम्। साधारण धर्मत्तवेन प्रसिद्धः पदार्थः उपमानम् । साधरणधर्मवत्तया वर्णनीयः पदार्थः उपमेयम्। उभयत्र (उपमाने उपमेये च) संगतो धर्मः साधारणधर्मः इवादियथादिपदानि उपमावाचकानि। प्रो. लक्ष्मीकांत दीक्षित- अलंकारमंजूषा, पृ०14
उपमाने उपमेये च संगतोधर्मः साधारणो धर्मः। यथा कमलमिव मनोज्ञं मुखमित्यत्र मनोज्ञत्वधर्मसम्बन्धात्तद्वत्तया प्रसिद्धेन कमलेन सह मुखमुपमीयते इति - मनोज्ञत्वं साधारणो धर्मः। का०प्र० नागेश्वरी टीका
- द्वयोः समानो यो धर्म उपमानोपययोः ।
समास उपमानानां शब्दैस्तदभधीयते ।। वा०प० 3, वृत्तिसमुद्देश. पृ० 362, एवं 365, 368, 371
6. अष्टा० 2/1/55
7. कानिपुनरुपमाानि? किं यदोवोपमानं तदेवोपमेयमाहोस्विदन्यदेवोपमानमन्यदुपमेयम्? किं चातः? यदि यदोवोपमानं तदेवोपमेयं, क इहोपमार्थः 'गौरिव गौरिति'? अथान्यदेवोपमानमन्यदुपमेयं क इहोपमार्थः-'गौरिवाश्व' इति। एवं तर्हि यत् किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषस्तत्रोपमानोपमेये भवतः।—मानं हि नामानिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयतेअग्निज्ञातार्थं ज्ञास्यामिति''। तत्सामीप्ये यन्नात्यन्तायमिमीते तदुपमान ''गौरिवगवय'' इति। गौर्निज्ञातो, गवयोऽनिर्ज्ञातः। म०भा० 2/1/55
8. यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः। अलं. सर्व. पृ० 31

उपमान के ज्ञात धर्मों से उनका ज्ञान हो जाता हैं । भर्तृहरि भी पंतजलि के अनुरूप ही उपमेय एवं उपमान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि मान वह जिससे अनिर्ज्ञात वस्तु का पूरी तरह ज्ञान हो सके जैसे प्रस्थ पल आदि मापक साधनों से किसी मेय वस्तु का मान पूर्ण एवं निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है।[1] उपमान से अनिर्ज्ञात वस्तु के समान धर्मों का पूर्ण रूप से ज्ञान भले न हो सके, किन्तु फिर भी उपमान उसके ज्ञान का माध्यम बनता है। इसीलिए वस्तु या द्रव्य के निर्ज्ञात तथ्य का ज्ञान उपमान के द्वारा कराया जाता है[2] एवं इससे उपमेय का स्वरूप भी स्वतः स्पष्ट हो ही जाता है। नैषधकार ने भी दमयन्ती के अंगों के लिए जिन-जिन उपमानों की चर्चा की[3] साथ ही कुण्डिनपुर नगरी को स्वर्ग का उपमान बनाया उससे स्पष्ट हो जाता है कि दमयन्ती अनुपम सुन्दरीललना एवं कुण्डिनपुर नगरी भी (बारात आगमन काल में साज सज्जा के कारण) परम रमणीय बन गयी थी।

आचार्य भरत[4] ने उपमा के 4, दण्डी ने 35[5] भेदों का वर्णन किया जबकि मम्मट ने उपमा अलंकार के दो भेद स्वीकार किये हैं। - पूर्णोपमा एवं लुप्तोपमा। पूर्णपमा में उपमा के चारों तत्त्वों का ग्रहण होता है एवं लुप्तोपमा में कुछ तत्त्वों का लोप रहता है। परन्तु परवर्ती आलंकारिकों में विश्वनाथ ने, जो नैषधकार के परवर्ती विद्वान् है उन्होनें उपमा के 25 या 27 भेद माने हैं जबकि नागोजिभट्ट जैसे कुछ प्रमुख विद्वान् उपमा के अन्य भेदों के प्रति अपनी असहमति प्रकट की है।[6] एवं नैषधकार भी उपमा के अन्य भेदों की शास्त्रीय मीमांसा के विवरण में मौन है। लेकिन फिर भी उपमा के अनेक भेदों का विवरण अलंकार शास्त्रीय ग्रंथों में देखने को मिलता है, एवं कवियों के द्वारा विवेचन का विषय भी बनाया गया है।

उपमा अलंकार अलंकारों में सबसे प्राचीन अलंकार माना जाता है। ऋग्वेद,[7] निरुक्त,[8] अष्टाध्यायी,[9] रामायण,[10] महाभारत[11] में इसका वर्णन मिलने से इसकी प्राचीनता की पुष्टि होती है। काव्यशास्त्र का आदि ग्रंथ माने जाने वाले भरतमुनिकृत[12] नाटशास्त्र में वर्णित चार अलंकारों में 'उपमा' का नाम सर्वप्रथम मिलता है। महाकवियों की परम्परा में अश्वघोष[13], कालिदास,[14] एवं माघ[15] तथा भारवि[16]

1. अनिर्ज्ञातस्य निर्ज्ञातं येन तन्मानमुच्यते । प्रस्थादि तेन मेयात्मा साकल्येनावधार्यते ॥ वा०प० वृत्ति समुद्देश, पृ० 360
2. अनिर्ज्ञातं प्रसिद्धेन येन तद्धर्म गम्यते । साकल्येनापरिज्ञानादुपमानं तदुच्यते ॥ वही पृ० 361
3. नै० 7/3 109
4. ना०शा० 16/44
5. काव्यादर्श 2/14 51
6. वस्तुतोऽयं पूर्णालुप्ताविभागो शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलपरत्वात् अत्र शास्त्रे न व्युत्पाद्यतामर्हतीति- का०प्र० त्रागेश्वरी टीका
7. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
   जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हृदेव निरिणीते अप्सः ॥ ऋ1/124/7
8. अथात उपमा यदेतत् सदृशमिति गार्ग्यः -निरुक्त 3/3/14
   यथेति कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, वदिति सिद्धोपमा- वही 3/4/18
9. उपमानाश्च - अष्टा० 5/4/137, उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे - अष्टा० 2/1/56, उपमानादाचारे - अष्टा० 3/1/10, तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् - अष्टा०2/3/72
10. नीलमेघाश्रिता विद्युतस्फुरन्ती प्रतिभाति मे ।
    स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी ॥ रामा. 4/28/12 एवं 4/1/13, 5/5/4, 4/3/48
11. पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत् मूलच्छेदं न कारयेत् । मालाकारइवारामे न यथाऽङ्गारकारकः ॥ महा. उधोग 34/18
12. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा । काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ ना०शा० 16/43
13. अश्वघोष-सौ०नं० 1/53, 3/39, 4/42, 8/20
14. कालिदास-कु० सं० 1/28, 3/54,67, 4/30, 5/82, 9/38
    रघु० 1/1, 11, 46, 2/2, 20, 16, 6/67, 12/35, 13/60, 14/84, 15/7, 17/1
15. माघ शिशु 2/87, 91, 11/40
16. भारवि किरात0 2/31,33 13/15,19,20,33, 14/42, 17/2........9

आदि ने भी उसी काव्यशास्त्रीय परम्परा का अनुपालन करते हुए उपमा अलंकार की मीमांसा नैषध में की है।

श्रीहर्ष ने पञ्चनली प्रसंग में शब्दालंकार के अन्तर्गत आनेवाले अनुप्रास अलंकार के विलास की मीमांसा अभिहित की है। स्मरणीय है कि जो अलंकार किसी शब्द विशेष के रहने पर रहते हैं लेकिन उस शब्द के पर्यायवाची शब्द रखने पर तिरोहित हो जाते हैं, वह शब्दालंकार कहलाते हैं। इसके अन्तर्गत अनुप्रास, यमक एवं शब्द श्लेष आदि प्रमुख अलंकार आते हैं । नैषधीयचरितम् के तेरहवें सर्ग के पंचनली प्रसंग वर्णन में, चारों देवों इन्द्र, अग्नि, वरूण एवं यम द्वारा नल रूप धारण करने पर, साथ ही स्वयं राजा नल के स्वयंवर सभा में उपस्थित होने पर पांच नल दमयन्ति को दृष्टिगोचर हुए। राजकुमारी दमयन्ती के सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि वह किसे वास्तविक नल समझकर उसको वरमाला पहनाये? वह मन ही मन सोचने लगती है कि यदि सरस्वती को वरमाला दे दूँ और कहूँ की आप ही इसे वास्तविक नल को पहना दीजिये, तो वह देवताओं की शत्रु बन जायेगी और यदि यह कहूँ कि जो वास्तविक नल हो वह खुद आकर मेरी वरमाला स्वीकार करें, तो ऐसा कहने में लज्जा परित्याग करने के कारण लोगों द्वारा मेरा उपहास होगा। इस प्रकार सोच में डूबी दमयन्ती, अपने मन में विचार करती हुई पुनः सोचती है कि अन्य नलों के समान रूपधारी यह पाँचवँ (अन्तिम) नल ही न जाने क्यों मुझे भावविभोर (स्नेह सुधा सं सिक्त) कर रहा है। अर्थात् इन प्रथम चार नलों को छोड़कर यह पाँचवां नल मुझे रुचिकर लग रहा है। इस कारण यह सत्य नल प्रतीत होता है।[1] अथवा प्रथम तथा चरम (पहले तथा अन्त वाले) शब्दों के अक्षरों में समानता रहने पर भी 'चरम' (अन्तवाले) शब्द में अनुप्रास (छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास आदि अलंकार) चमत्कार स्फुरित होता है। यथा-

इतरनलतुलाभागेषु शेषः सुधाभिः स्नपयति मम चेतो नैषधः कस्य हेतोः ।
प्रथमचरमयोर्वा शब्दयोर्वर्णसख्ये विलसति चरमेऽनुप्रासभासां विलासः ।।[2]

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अन्तिम चरण में प्रास,भास एवं विलास में अनुप्रास अलंकार का चमत्कार स्फुरित होता है, उसी प्रकार इन पाँच नलों के तुल्य रूप होने पर भी, पाँचवानल ही दमयन्ती के चित्त को चमत्कृत कर रहा है। नैषध के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने भी नैषधकार के इस विवरण में अनुप्रास विलास के वर्णन की पुष्टि की है।[3] नारायण भी मल्लिनाथ से सहमत दिखते हैं। इस प्रसंग में उनकी व्याख्यात्मक टिप्पणी का वर्णन भी समीचीन ही होगा वह कहते है "इतरेश्चतुर्भिर्नलैस्तुलां साम्यं भजत इति भाग्, एष शेषः सुधाभिरमृतैः स्नपयति आप्लुतमिव करोति। रूपसाम्ये

---

1. इस विवरण से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि नैषधकार महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वर्णित निम्न कथन से प्रभावित हैं- असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः।। अभि०शा० 1/22
2. नै० 13/54
3. एषु पञ्चसु मध्ये, इतरेषां चतुर्णा, नलानां तुलाभाक् सादृश्यभाक्, शेषः पञ्चमः, नैषधः कस्य हेतोः केनापि कारणेन, ममचेतः सुधाभिः स्नपयति, सतांहि सन्तेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः"इति न्यायादनेनैन सत्यनलेन भाव्यमिति मन्ये इति भावः। सत्यनलत्वप्रमापिकामहैतुकीं मनः प्रीतिं दृष्टान्तेन द्रढयति प्रथमेति। प्रथमचरमयोः पूर्वोत्तरमयोः पूर्वोत्तरयोः द्वयोः, शब्दयोः वर्णसख्ये अक्षरसाम्ये सत्यपि चरमे उत्तरे शब्दे, अनुप्रासो वर्णावृत्तिलक्षणः छेकानुप्रासादिशब्दालंकारः, तस्यभासां शोभानां, यिलासो वा चमत्कारिता एव, "वा स्यात् विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये" "इत्यमरः विलसति स्फुरति, तथा च अनुप्रासस्थले अन्तिमशब्दे वर्णसाम्यं यथा चमत्कारविधायकं भवति, तद्वदन्तिमे नैषध नलसाम्यमेव मम चेतसः परमप्रीतिसम्पादकं भवति, न त्वत्र सत्यत्वं प्रयोजकं, यतः सर्वे एव समानरूपा इतिभावः। अनुप्रासानां तादृशत्वे दृष्टान्तस्तु अलंकारग्रन्थे स्फुट एव, अथवा अस्यैव श्लोकस्य चरमचरणे विलस विलासः प्रासभास इति शब्दचतुष्टयेऽपि सम्भवति, अथवा प्रथमशब्दप्रयोगान्तरं चरम शब्दे प्रयुक्ते एव तत्रानुप्रासः सम्भवति, यथा वा अत्रैवानुप्रासभासां विलास इत्यत्र सर्वसकाराश्रयत्वे अनुप्रासस्यान्तिमसकारे स्फुरणम्, एवमन्तिमबुद्धौ विपरिवर्त्तमानत्वान्नलत्वाभिमानमात्रम्, एतावता अयमेवति निश्चयो युक्त इति भावः। नै० 13/54 मल्लिनाथ।

सत्यप्येष एव मम मनसे यतो रोचते, तस्मादयमेव सत्यनलो भविष्यतीत्याशयः। सत्यनलत्वज्ञापकं निरुपाधिकपरमप्रेमसंवादं दृष्टान्तेन प्रथयति प्रथमेति। वाऽथवा युक्तमेतत्। प्रथमचरमयोरादिमान्त्ययोः शब्दयोर्वर्णैरक्षरैः सख्ये मैत्रयां सम्यामपि चरमे पाश्चात्ये शब्देऽनुप्रासाभासां छेकानुप्रासवृत्यनुप्रासलाटानुप्रासाख्य शब्दालंकारकान्तीनां विलास, उल्लाश्चमत्कारो विलसति विशेषेण शोभते। वर्णसाम्ये सत्यपि प्रथमस्यानायासगतत्वात्, द्वितीयस्तु सदृशस्य पश्चाद्भूरिप्रयत्नसाध्यत्वाचरमे यद्यनुप्रासत्वं स्फुरति, तथापि द्वितीय साहित्ये प्रथमेऽपि यथानुप्रासत्वमस्ति तथा सुन्दरान्तरविच्छेदेन पश्चादवलोक्यमानतयैव पञ्चमश्चेतसे रोचते, नत्वत्र सत्यत्वं प्रयोजकम्, अतः सर्वेऽपि तुल्या एवेति भावः। अत्रायमेव श्लोको दृष्टान्तः। अत्रत्ययोरेव प्रथमचरमशब्दर्वर्णसाम्ये सत्यपि चरमे चरम शब्द एवानुप्रासातिशयः न प्रथम शब्दे। प्रथम इत्युक्ते नानुप्रासः। प्रथमचरमयोरित्युक्ते तु चरम एवानुप्रासातिशयो दृश्यते न तथा प्रथम इत्यर्थ इति वा। यद्वा आद्यपादचतुर्थपादयोर्वर्णसाम्येसत्यपि चरमे चतुर्थपादेऽनुप्रासभासां विलासो विलसति। उभयोरनुप्रासत्वे सत्यपि चतुर्थेऽनुप्रासभासां विलास इत्युक्तेस्तत्रैवानुप्रासत्त्वम् न तु प्रथमे।[1] आचार्य मल्लिनाथ एवं नारायण की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार वर्णों के सादृश्य रहने पर अनुप्रास अलंकार होता है उसी प्रकार (पाँच नलों में) रूपाकृति समान होने के कारण नैषधकार ने अनुप्रास अलंकार के विलासों की मीमांसा (दमयन्तीमुखात्) की है।

अनुप्रास अलंकार की मीमांसा सर्वप्रथम भामह ने की थी। उनके मत में समान रूप वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं।[2] तदनन्तर अनेकों काव्यविदों ने अपने अपने ढंग से अनुप्रास का विवेचन किया[3] परन्तु उनमें आचार्य मम्मट ने सबसे भिन्न पद्धति का आश्रय लेते हुए वर्णसाम्य तथा रसानुकुलवर्णनिबन्धन का प्राधान्य स्थापित करते हुए अनुप्रास की परिभाषा देते हुए कहा, "वर्णसाम्यम् अनुप्रासः।" स्वरवैसादृश्येपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम्। रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः।[4] उन्होंने अनुप्रास के दो भेद किये-वर्णानुप्रास एवं शब्दानुप्रास, इन्हें क्रमशः निरर्थकवर्णानुप्रास एवं सार्थकवर्णनुप्रास भी कहते हैं। मम्मट ने वर्णानुप्रास के अन्तर्गत छेकानुप्रास एवं वृत्यानुप्रास का समावेश किया एवं शब्दानुप्रास

---

1. नै० 13/54 नारायण
2. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते । - काव्यालं० 2/5
   नानार्थवन्तोऽनुप्रासा न चाप्यसदृशाक्षराः । युक्त्यानया मध्यमया जायन्ते चारवो गिरः ॥ काव्यालं० 2/7
3. वर्णवृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च । पूर्वानुभवसंस्कार बोधिनी यद्यदूरता ॥ दण्डी - काव्यादर्श 1/55
   इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम् । न तु रामामुखम्भोजसदृशश्चन्द्रमा इति ॥ वही 1/58
   - सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु । पृ०थक् पृ०थगनुप्रासममुशंति कवयः सदा ॥ उद्भट- का०सा०सं० 1/7
   - शेषः सरूपोऽनुप्रासः । पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थाननियतं तद्विधमक्षरं च शेषः।
   सरूपोऽन्येन प्रयुक्तेन तुल्यपोऽनुप्रासः। अनुल्वणोवर्णानुप्रासः श्रेयान्। उल्वणस्तु न श्रेयः । वामन -का०सू० वृ0 1/2/8
   - एकद्वित्रांतरित व्यंजनम विवक्षितस्वरं बहुशः। आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः ॥ रूद्रट - काव्या० 2/18
   - आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिदूरान्तरस्थिता । अलंकारः स विद्वभिरनुप्रासः प्रदर्श्यते ॥ भोज-स.क. 2/70
   - व्यंजनस्यावृत्तिनुप्रासः। हेमचन्द, शब्दानुशासन, पृ० 295
   - अलंकारप्रस्तावे केवलस्वरपौनरुत्यमचारुत्वान्न गण्यते। रूय्यक- अलं०स० पृ० 16
   - अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।
   स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्रयाभावान्न गणितम्।
   रसाद्यनुगततत्त्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः ॥ विश्वनाथ सा०द० 10/3 एवं वृत्ति
   - एकेन द्वितैर्वा व्यञ्जनैरन्तरितं व्यवहितं अथवा निरन्तरं अविवक्षितस्वरं यद् व्यञ्जनं बहुशो बहून वारान् आवर्त्यते ततोऽनुप्रास इति। आचार्य नेमिसाधु (रुद्रटालंकार टीका)
   - तुल्याः श्रुतिः श्रवणं येषां तथाभूतानाम् अक्षराणाम् आवृत्तिः पुनः पुनः आवर्तनम् उच्चारणमित्यर्थः। स्फुरद्गुण स्फुरन्तो माधुर्यादयो गुणा यत्रतथा भूतः सोऽनुप्रासः। वाग्भटालंकार टीका
4. का०प्र० 9/79 एवं वृत्ति

के अन्तर्गत लाटानुप्रास माना पुनः लाटानुप्रास के दो भेद पदगत एवं नामगत किये। पदगत के दो भेद अनेक पदगत एवं एकपदगत तथा नामगत के तीन भेद समासासमासमगत् एक समासगत, एवं विभिन्नसमासगत माने। इस प्रकार शब्दानुप्रास के पाँच भेदों को मम्मट ने अभिहित किया।[1] ध्यातव्य है कि नैषधकार ने पंचनली प्रसंग में जिस अनुप्रास अलंकार के विलास की चर्चा की है उससे यही प्रतीत होता है संभवतः उनका आशय शब्दानुप्रास की ओर ही था।

काव्यशास्त्र में श्लेष अलंकार की गणना शब्दालंकार (शब्दश्लेष) एवं अर्थालंकार (अथश्लेष) दोनों में की जाती है। जहाँ शब्द का परिवर्तन होते ही वाक्य का वैचित्र्य या चमत्कार समाप्त हो जाय, वहाँ शब्दालंकार, एवं जहाँ शब्द के पर्यायवाची शब्द रखने पर भी वैचित्र्य नष्ट न हो वहाँ अर्थालंकार माना जाता है अर्थात् पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक भाव ही इन अलंकारों के शब्दगत अथवा अर्थगत होने में परमनियामक तत्त्व है। श्रीहर्ष ने चमत्कारात्मक शैली में शब्दश्लेष अलंकार की भी मीमांसा नैषध में की है जहाँ हंस दमयन्ती के कथन के प्रत्युत्तर में कहता है कि-

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति ।
आश्लेषि न श्लेष कवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम् ।।[2]

अर्थात् श्लेष कवि की भाँति (श्लेषपण्डिता)[3] तुमसे उच्चारण किये गये द्विजरापणिग्रहाभिलाषं[4] "चेतो नलंकामयते"[5] के दोनों अर्थे को क्या सुधी ने नहीं समझा हैं? अर्थात् मैं (हंस) आपके कथन को अच्छी तरह समझ गया हूँ यद्यपि तुमने स्पष्ट न कहकर श्लेष द्वारा अपना मनोरथ बतलाया है तथापि तुम नल को चाहती हूँ ऐसा तुम्हारे कथन के अभिप्राय (नलवरण) को मैने (हंस) ने समझ ही लिया है। यहाँ नैषधकार ने दमयन्ती को श्लेष कवि की संज्ञाप्रदान की है, क्योंकि उसने स्पष्टतया यह न कहकर कि मै नल से विवाह करना चाहती हूँ या मेरा चित्त नल को चाहता है बल्कि द्वयार्थक शब्दों को रखकर भी अपना मन्तव्य हंस के सामने रखा है। श्लेष अलंकार की प्रथम मीमांसा आचार्य भामह ने की थी। उनके मत में यदि गुण, क्रिया एवं नाम के कारण उपमेय का उपमान के साथ तादात्म्य या अभेद स्थापन हो तो श्लेष अलंकार कहलाता है।[6] भरतमुनि ने श्लेष को अलंकार में स्थान न देकर गुणों में इसका निर्धारित किया

---

1. का०प्र० 9/79 82
2. नै० 3/69
3. श्लेषकवेः श्लेषभङ्गया कथयित्र्याः श्लिष्टशब्दप्रयोक्त्र्या इत्यर्थः। नै० 3/69 मल्लिनाथ
   - हे भैमि! श्लेषकवेः पूर्वं राजकर्तृके पाणिग्रहणे मम वाञ्छेति, अनन्तरं मम मनो नलमभिलष्यतीति च श्लिष्टकवित्वकारिण्याः भवत्यास्तव क्रमेण — "का नाम बाला" (नै०3/59) चेतो लङ्कामयते (नै० 3/67) इत्यादेः श्लोकद्वयस्यार्थोऽभिप्रायः सुधिया विदुषापि केनचिन्नाश्लेषि नाज्ञायि, मन्दप्रज्ञेन मया नाज्ञायीति किं वाच्यम्। अथ च विदुषा श्लेषादिवर्णने पटुना मया नाज्ञायि किम्? अपितु ज्ञात एव, किमर्थं गोपायसीति भावः ।। नै० 3/69 नारायण
4. मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ।
   का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ।। नै० 3/59
5. इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
   चेतो नलंकामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ।। नै० 3/67
6. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते। गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ।
   लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु । इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ।। काव्यालं० 3/14,15

एवं भरत के मत में अभीष्ट अर्थ समूह के द्वारा परस्पर अनुबद्ध पदों की श्लिष्टता को श्लेष कहते हैं।[1] विभिन्न विद्वानों की सारणि में[2] आचार्य मम्मट भी श्लेष की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि श्लेष वह अलंकार है जिसमें अर्थभेद के कारण परस्पर भिन्न शब्द भी उच्चारण सारूप्य के कारण एक रूप प्रतीत हुआ करते हैं। यह अक्षरों के सारूप्य के कारण आठ प्रकार का हुआ करता है[3] उपर्युक्त सभी विद्वानों की श्लेषसम्बन्धी मीमांसा के अध्ययन से यह संसूचना मिलती है कि नैषधकार आचार्य दण्डी से अधिक प्रभावित दिखते हैं क्योंकि उन्होंने भी यह माना है कि श्लिष्ट पदों (अनेकार्थक वाची पदों) से अनेक अर्थो का अभिधान होने पर शब्द श्लेष की निष्पत्ति होती है एवं दमयन्ती हंस वार्तालाप प्रसंग में इसका आख्यान भी किया है। साथ ही शब्दश्लेष में प्रयुक्त श्लिष्टपदों की सरणि का भी उन्होनें दमयन्ती स्वयंवर प्रसंग में यथेष्ट प्रतिपादन भी किया है, जहाँ दमयन्ती सरस्वती की वाग्रचना की प्रशस्ति करती हुई कहती है कि

सा भङ्गिरस्याः खलु वाचिकाऽपि यद्भारती मूर्तिमतीयमेव ।
श्लिष्टं निगद्यादृत वासवादीन्विशिष्य में नैषधमप्यवादीत् ।।
जग्रन्थ सेयं मदनुग्रहेण वचः स्रजः स्पष्टयितुं चतस्रः ।
दृे ते नलं तक्षयितुं क्षमेते ममैव मोहोऽयमहो महीयान् ।।
श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्या कवित्त्वशक्तेः खलु ते विलासा ।
भूपाललीलाः किल लोकपालाः समाविशन्ति व्यतिमेदिनोऽपि ।।[4]

---

1. ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानुपरस्परम् । श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते ।।
विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटं चैव स्वभावतः । स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत्परिकीर्तितम् ।। ना०शा० 16/98,99
2. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः । तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ।। दण्डी काव्यादर्श 2/310
- एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छाया चैव विभ्रताम्। स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ।।
अलंकारान्तरगतां प्रतिभा जनयत्पदैः । द्विविधैरर्थ शब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम् ।। उद्भट का0सा0सं0 4/9,10
- स च धर्मेषु तंत्रप्रयोगो श्लेषः। उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्ददरूपेषु तत्तवारोपः।। वामन का०सू०वृत्ति 4/3/7
- वक्तुं समर्थमर्थ सुश्लिष्टाक्लिष्ट विविधपदसन्धि । युगपदनेकं वाक्य यत्र विधीयते स श्लेषः।।
वर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्यय विभक्ति वचनानाम् । अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानाऽष्टधामवति ।। रुद्रट काव्यालं० 4/1,2
यत्रैक मनैकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् । अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ।। वही 10/1
- एकरूपेण वाक्येन द्वयोर्भणनमर्थयोः । तंत्रेण यत्सशब्दज्ञैः श्लेष इत्यभिशब्दितः ।। भोज0स०क० 2/68
श्लेषोऽनेकार्थकथनं पदैनैकेन कथ्यते । पदक्रियाकारकैः स्याद्भिन्नाभिन्नैः स षड्विधः ।। वही 4/58
- विशेष्यसमायि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः।
केवलं विशेषणसाम्यं समासोक्तवुक्तम् । विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते।। रुय्यक अलं0स0 पृ०121
- खण्डश्लेषः पदस्तोमस्तस्यैव पृ०थगर्थता । अर्थश्लेषोऽर्थमात्रस्य यद्यनेकार्थ संश्रयः ।। जयदेव-चंद्रालोक 5/63,64,65
- श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधानेश्लेष इष्यते, विश्वनाथ, सा०द० 10/11
शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् । वही 10/57
- नानार्थ संश्रयः श्लेषो वण्यावर्ण्योभयाश्रितः। अप्पय्यदीक्षित कुवलं पृ० 64
अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः - वही पृ० 98
- श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः। तच्चद्वेधा। अनेनधर्मपुरस्कारेणैकधर्मपुस्कारेण च। आद्यं द्वेधा । .... चेति त्रिविधः श्लेषः। प0 रा0, जगन्नाथ रसगंगा-पृ० 523
- उभय विशेष्यान्वितयोरेकेनप्रोक्तिरर्थयोः श्लेषः । अयं च श्लेषो द्विधा सभंगोऽभंगश्च । अभिन्नानुपूर्वीकशब्दप्रतिसन्धान बोध्यार्थान्तरकत्त्वं सभंगत्वम्। समानानुपूर्वीकशब्दप्रतिसन्धानबोध्यार्थान्तरकत्वमभंगत्वम्।
आद्यश्चाष्टधावर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनभेदात्। विश्वेश्वर पंडित, -अलंकार कौस्तुभ - पृ० 241, 242
3. वाच्यभेदेन भिन्ना यत् युगपदभाषणस्पृ०शः । श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ।। का०प्र० 9/84
अर्थभेदेन शब्दभेदः इति दर्शने काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यत् युगपदुच्चारणेन श्लिषन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुते स श्लेषः। स च वर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानां भेदादष्टधा। का०प्र० 9/84 वृत्ति - श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्। का०प्र० 10/96
4. नै० 14/14,15,16

यहाँ दमयन्ती का कथन है कि सरस्वती की श्लेषयुक्त वाणी नें उसे (दमयन्ती) को पाँच नलों में वास्तविक नल को इंगित किया था।[1] एवं वचनमालाओं यथा- "नामग्राहं मया नलमुदीरितम्, नले सहजरागभरात् एवं महीमहेन्द्रः नलमुदीरितं" से भी वास्तविक नल को जान लेने की पदावलियों का आख्यान किया था लेकिन मैं (दमयन्ती) श्लिष्ट वाक्यों एवं उनके कवित्त्व शक्ति के विलास को नहीं समझ पायी, यह आश्चर्य का विषय है। यहाँश्रीहर्ष नें दमयन्ती के मुख से सरस्वती को भी श्लेष पण्डिता की उपाधि से समलंकृत किया है। कवि की कवित्त्व शक्ति के कारण नलभिन्न इन्द्रादि देवता भी नल की आकृति धारण करने के कारण श्लोकों में श्लेषशक्ति के द्वारा (नलरूप में) मूर्तिमान होकर दिखायी पड़ते हैं। नलरूपधारी देवों एवं नल का वर्णन नैषधकार ने श्लेषगुणसम्पन्नपदावली में इतनी कुशलता से किया है कि चौंसठ कलाओं में प्रवीण दमयन्ती भी यथार्थ एवं अयथार्थ नल में भेद न कर सकी, यह कवि की अप्रतिम कवित्त्व शक्ति का प्रमाण कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यहाँ परस्पर में आकृति, कर्म स्थानादि के कारण भिन्न भी इन्द्रादि चारों देवता, लोकपाल अंश द्वारा राजा नल बनकर एक हो रहें हैं अतः लोकपालों का अंश होने में नल के लिए ही प्रयुक्त किये गये सरस्वती देवी के वचन श्लेष को कहते हैं। नैषधीयचरितम् के प्राचीन टीकाकारों मल्लिनाथ एवं नारायण का भी यही अभिमत है।[2]

---

1. अत्याजिलब्धविजयप्रसरस्त्वया किं विज्ञायते रूचिपदं न महमिहेन्द्रः ।
प्रत्यर्थिदानवशता हितचेष्टयासौ जीमूतवाहनधियं न करोति कस्य ।। नै० 13/28
येनामुना बहुविगाढसुरेश्वराध्वराज्याभिषेकविकसन्महसा बभूवे ।
आवर्जनं तमनु ते ननु ! साधु नामग्राहं मया नलमुदीरितमेवमत्र ।। नै० 13/29
यच्चण्डिमारणविधिव्यसनं च तत्त्वं बुद्ध्वाशयाश्रितममुष्य च दक्षिणत्वम् ।
सैषा नले सहजरागभरादमुष्मिन्नात्मानमर्पपितुमर्हसि धर्मराजे ।। नै० 13/30
त्वं याऽर्थिनी किल नले न शुभायतस्याः क्व स्यान्निजार्पणममुष्य चतुष्टये ते ।
इन्द्रानलार्यमततनूजपयः पतीनां प्राप्यैकरूप्यमिह संसदि दीप्यमाने ।। नै० 13/33
देवः पतिर्विदुषि! नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ।। नै० 13/34

2. ... श्लिष्टं श्लिष्टार्थं यथा तथा निगद्य उक्त्वा, वासवादीन् इन्द्रादीन्, आदृत आदृतवती, तानेव उपाचरदेवेत्यर्थः। अथ च नैषधं नलमपि मे मह्यम् विशिष्य इन्द्रादिभ्यो विशेषं कृत्वा अवादीत् किन्तु अहमेव न वेद्मीति भावः। नै० 14/14 मल्लिनाथ
- यत् श्लिष्टमुभयसंबद्धं वचो निगद्यास्पष्टमुक्त्वा वासवादीनादृत गौरवेणावर्णयत्।..... यत् अत्याजि (नै० 13/28,29,30,33,34) इत्यादि श्लोकचतुष्टयेन मे मह्यं वा नैषधमप्यवादीत्। सर्वलोकपालांशस्य नलस्यैव वर्णनं युक्तमीति भावः। नै० 14/14 नारायण
- अत्याजीत्यादिश्लोकचतुष्टयं नलमेवाचष्टे, किन्तु भंङ्ग्या इन्द्रादिचतुष्टयमपि स्पृ०शतीत्याह, श्लिष्यन्तीति। अमुष्याः देव्याः, अमू वाचः अत्याजीत्यादयो गाथाः श्लिष्यन्ति नलमिवेन्द्रादीनपि स्पृ०शन्ति इति यत् ते तच्छलेषणमित्यर्थः विधेयीभूतविलासस्य प्राधान्यात्तलिंग संख्यानिर्देशः कवित्वशक्तेः काव्यरचनानैपुण्यस्य, विलासाः विकासाः खलु कवित्वधर्मोऽयं यदन्यपरेणापि शब्देन श्लेषभंग्या अर्थान्तरप्रत्यायनम्, अलंकारत्वान्न तु तात्पर्यमिति भावः। तथा च श्लेषमहिम्ना तेषां नलसारूप्याच्च तत्परत्वभ्रान्तिरित्याह भूपालस्य नलस्य लीला इव लीला येषां ते तद्रूपधारिणः लोकपालाः व्यतिभेदिनः नलात् भेदवन्तोऽपि समाविशन्ति श्रोतृबुद्धौ लगन्ति किल, ततो ममैवायं व्यामोह इतिभावः। नै० 14/16 मल्लिनाथ

अमुष्याः देव्या अमूः पूर्वोक्ता वाचः यदनेकार्थतया श्लिष्यन्ति, श्लेषं भजन्ते खलु निश्चितं कवित्त्वशक्तेः काव्यनिर्माणसहप्रतिभायाः विलासा विजृम्भणानि कवित्त्वशक्तिं विना श्लेषवचोरचना निर्मातुमशक्येत्यर्थः। किल यस्माद्व्यतिभेदिनोऽपि परस्परापेक्षया नलापेक्षया वा विशेषेण सहस्रनेत्रत्वादिनाऽतितरां भिन्ना अप्यमी लोकपाला भूपालस्य नलस्य लीला विलासान्समाविशन्त्यनुभवन्ति नलाकारं बिभ्रति। अथ च, नलवर्णकेषु श्लोकेषु मूर्तीभूय प्रतिष्ठा एव दृश्यन्त इत्यर्थः। अतः श्लेषवशान्मम भ्रमोऽभूदितिभावः। श्लेषवशान्नललीलाः सन्तो लोकपाला गाथाः समाविशन्तीति वा। अन्योन्यं भिन्ना अपि लोकपाला नललीला सन्तोऽशेन नृपत्त्वं प्राप्ताः सन्तः किल एकीभवन्ति। अतो नलस्यैव लोकपालांशतया तत्र प्रयुक्तानि देवीवचांसि श्लेषं वदन्तीति कवित्त्वशक्ति विलासा एव । नै० 14/16 नारायण

ध्वनि सिद्धान्त :

काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त का भी अप्रतिम महत्त्व है। इसके प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन (9वी शताब्दी) थे। स्पष्ट है कि नैषधकार के समय तक ध्वनिसिद्धान्त प्रतिष्ठित हो चुका था, एवं श्रीहर्ष भी ध्वनिकार से प्रभावित थे, क्योंकि उन्होंने प्रकारान्तर से ध्वनि सिद्धान्त का सङ्केत अनेक स्थलों पर किया है। आचार्य आनन्नवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में प्रतीयमान अर्थ (ध्वन्यमान अर्थ) का वाच्यार्थ से पार्थक्य दिखाते हुए विधि से निषेध, निषेध से विधि तथा अनुभय रूप प्रतीयमान अर्थ की सत्ता सिद्ध की है। कभी वाच्यार्थ विधि रूप और व्यंग्यार्थ निषेध रूप होता है, और कभी वाच्यार्थ निषेध रूप तथा व्यंग्यार्थ विधिरूप में भी प्राप्त होता है, इसी प्रसंग को नैषधकार ने एक नये संदर्भ में अधोलिखित रूप में उपस्थित किया है–

निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलुवाचि वक्रता ।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारी वदनं तदाकरः।।[1]

दूतकर्म का निर्वाह करते हुए नल, दमयन्ती को इन्द्रादि देवताओं का वरण करने के लिये प्रेरित करता है, किन्तु दमयन्ती नल के अतिरिक्त किसी देवता को भी वरण नहीं करना चाहती। इस प्रकार देवताओं का निषेध उसका पार्यन्तिक अर्थ है, किन्तु नल चमत्कारपूर्ण ढंग से दमयन्ती से कहता है कि मुझे तुम्हारा देवताओं का निषेध करना, उनको स्वीकार करना ही लगता है, अर्थात तुम्हारा निषेध तो वाच्यार्थ मात्र है, और विधि रूप अर्थ तुम्हें पार्यन्तिक रूप से अभिप्रेत है। इस प्रकार तुम्हारा कथन वाणी में वक्रता लाता है, और यह तुम्हें शोभा भी देता है। इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष आनन्दवर्धन के साथ-साथ भोज से भी प्रभावित हैं।[2] यहाँ पर नैषधकार ने 'वक्रता' शब्द के द्वारा आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त की ओर भी संकेत किया है, किन्तु उस सिद्धान्त का विवेचन आगे किया जायेगा। मल्लिनाथ एवं नारायण ने भी यहाँ श्रीहर्ष के ध्वनि सम्बन्धी मीमांसा की पुष्टि की है।[3] इस प्रसंग में नैषधकार को वस्तुध्वनि ही अभिप्रेत हैं। उत्कलनरेश के वर्णन में भी श्रीहर्ष ने वस्तुध्वनि का निर्देश किया है[4]। यथा–

नृपः कराभ्यामुदतोलयन्निजे नृपानयं यान्पततः पतद्वये ।
तदीयचूडाकुरुबिन्दरश्मिभिः स्फुटेयमेतत्करपादरञ्जना ।।[5]

किन्तु ध्वनियाँ तो तीन प्रकार की होती हैं, रसध्वनि, वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि। इनमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ एवं प्रधान है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन टीका में कहा है "वस्तुतः रस एवं काव्यस्य आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु रसं प्रति पर्यवस्येते।" अर्थात् वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि का पर्यवसान रसध्वनि

---

1. नै० 9/50
2. तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये, सौभाग्यमेव गुणसंपदि वल्लभस्य ।
   लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः श्रृंगार एवं हृदि मानवतो जनस्य ।। श्रृंगार प्रकाश, पृ० 163, डॉ० राघवन
3. विदग्धनारीवदनं सूक्तिचतुरस्त्रीमुखं तदाकरस्तस्य ध्वनेरुत्पत्तिस्थानमित्यर्थान्तरन्यासः। ततः स्थूणानिखननन्यायेन विधिमेव द्रढयितु मेतन्निषेधनाटकमिति निषेधेन विधिरेव व्यजत इति भावः– नै० 9/50, मल्लिनाथ
   – खलु यस्मात् यस्य ध्वनेः ध्वनिसंज्ञकस्योत्तमकाव्यस्य इदं निषेधविधिरूपं किल प्रसिद्धं विजृम्भितं विलासितम्, तस्य आकरः खनिः उत्पत्तिस्थानं विदग्धनारीवदनं चतुरवनितामुखम्। वक्रोक्त्यादि ध्वनिविलसितं वक्तुं विदग्धा नार्येव जानाति, न त्वन्या।............नै० 9/50, नारायण
4. स्वाभाविककरपादरागे राजकिरीटमाणिक्यमयूखरञ्जनत्वोप्रेक्षणेनास्यानेकराजविजयित्वं व्यज्येते, इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः। नै० 12/80, मल्लिनाथ
5. नै० 12/80

में होता है। ध्यातव्य है कि भरतमुनि के पश्चात् रस विवेचना की परम्परा शदियों तक अवरूद्ध रही। कालान्तर में नौवीं शताब्दी में ध्वनि सिद्धान्त के अभ्युदय होने पर रस सिद्धान्त के अभ्युदय होने पर रस सिद्धान्त के स्वरूप में भी कुछ परिमार्जन हुआ। ध्वनि सिद्धान्त के उदय के पूर्व तक प्रमुख पांच आचार्य आते हैं– भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट एवं वामन। प्रथम तीन अलंकारवादी हैं एवं इन्होंने रस को अलंकार सिद्धान्त के अन्तर्गत मानने का पक्ष रखा, जब कि रुद्रट ने रस सिद्धान्त के साथ-साथ अलंकार सिद्धान्त को भी मान्यता दी, लेकिन वामन ने रीति सिद्धान्त को ही प्रमुख माना। आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन कर रससिद्धान्त को बल प्रदान किया, जिसमें अलंकार सिद्धान्त को हानि पहुँची।[1] आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त का स्रोत वैयाकरणों के स्फोट सिद्धन्त को माना।[2] वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहते हैं। भर्तृहरि ने भी अपने वाक्यपदीय में लिखा है कि वर्णों या शब्दों के संयोग वियोग से जो स्फोट जनित होता है, उसी शब्दज शब्द को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।[3] साहित्य में ध्वनि (ध्वन् + इन) उस विशेषता को कहते हैं, जो काव्य में शब्दों के नियत अर्थों के योग से सूचित होने वाले अर्थ की अपेक्षा प्रसङ्ग से निकलने वाले अर्थ (Hidden meaning, Hint or implied meaning) में होती है।[4] महाकवि ड्राइडन की उक्ति "More is meant than meets the ear." ध्वनि की ही प्रकारान्तर से संसूचना है। इसका अक्षरार्थ है कि जितना श्रवण होता है, उससे अधिक अर्थ में कवि का तात्पर्य होता है।

काव्य शास्त्रियों ने वैयाकरणों के आधार पर ध्वनि शब्द को पाँच अर्थों में प्रयुक्त किया है– व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यंग्य (रस, वस्तु अलंकार) व्यंजना व्यापार तथा व्यंग्य प्रधान काव्य। ध्वनति यः सः व्यंजकः शब्दः ध्वनिः, या ध्वनति, ध्वनयति वा यः सः व्यंजकः अर्थः ध्वनिः। ध्वन्यते इति ध्वनिः के आधार पर रस, वस्तु, अलंकार तीनों ही ध्वनित होने के कारण ध्वनि हैं। जिस शक्ति या (व्यंजना) व्यापार के द्वारा ध्वनि की निष्पत्ति होती है, उसे भी ध्वनि अभिहित किया जाता है, तथा व्यंग्य प्रधान काव्य के संदर्भ में यह कहा जाता है कि उस काव्य को ध्वनि की संज्ञा दी जाती है जिसमें वस्तु, अलंकार तथा रस ध्वनित हों "ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः"। आचार्य अभिनवगुप्त भी ध्वनि को पञ्चार्थी मानते हैं।[5] स्पष्ट है कि जिस काव्य में संदर्भ का ध्वन्यर्थ, अभिहित अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक हो या जहाँ मुख्यार्थ ध्वन्यार्थ के अधीन हो वह काव्य ध्वनि (काव्य) कहलाता है। जहाँ आचार्य आनन्दवर्धन वाच्य से अधिक उत्कर्षक व्यंग्य को 'ध्वनि' कहते हैं,[6] वहाँ आचार्य मम्मट वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में, अधिक चमत्कार (चारुता)

---

1. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् । रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ।। ध्वन्या, 3/62
2. यत्रार्थः शब्दो वा नमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थो । व्यंक्तः काव्यविशेषः ध्वनिरीति सूरिभिः कथितः ।। ध्वन्या, 1/13
   सूरिभिः कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमेहि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।। ध्वन्या 1/13 वृत्ति।
3. यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते। स स्फोटः शब्दजः शब्दोध्वनिरित्युच्यते बुधैः ।। वाक्यपदीय-1
   – स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते- वाक्यपदीय-2
   – लोके प्रतीतपदार्थकः ध्वनिः शब्दः - महाभारत
   – एवं तर्हि स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः - वही 1/2/70
   – ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते । अल्पो महांश्च केषांचिदुभय तत् स्वभावतः ।। महाभारत
   – ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः। ध्वनति व्यंग्यार्थं प्रकाशयति इति ध्वनिः।। का०प्र०, प्रथम उल्लास
4. The First and best of the three main division of Kavya or Poetry, in which the implied or suggested sense of a passage is more striking that the expressed sense, or where the expressed sense is made subordinats to the suggested sense. V.S. Apte - The Cractical Sanskrit English Dictionery, P . 871
5. पंचधाऽपि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्रयितो यस्ययस्मै इति। - ध्वन्यालोकलोचन, पृ० 141 से 142
6. चारुत्वोत्कर्षनिबंधनाहि वाच्यव्यंग्योः प्राधान्यविवक्षा - ध्वन्या- 1/13 वृत्ति

होने को 'ध्वनि' की संज्ञा देते हैं,[1] एवं श्रीहर्ष के परवर्ती आचार्य विश्वनाथ वाच्य से अधिक चमत्कारी व्यंग्य को 'ध्वनि' मानते हुए उसे ही उत्तम काव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं।[2] स्मरणीय है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि विरोधी तीन मतों अभाववादी, भाक्तवादी (भक्तिवादी), एवं अलक्षणीयतावादी मतों का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया कि उनके पूर्व ही काव्यात्मभूत ध्वनि तत्त्व का विवेचन एवं विश्लेषण प्रारम्भ हो चुका था। उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र, भामह, के काव्यालंकार, उद्भटकृत काव्यालंकार, रुद्रटरचित काव्यालंकार तथा वामन कृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के आधार पर उपर्युक्त तीनों मतों का विवरण दिया, एवं इन्हें अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक में 'तस्याभावं भाक्तं' तथा 'वाचां स्थितमविषये' शब्दों द्वारा अभिहित करते हुए इनका खण्डन कर ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की।[3] उन्होंने ध्वनियों के 36 भेद मानें।[4] इन्हीं भेदों की परिगणना करते हुए अभिनवगुप्त ने इनकी संख्या 7420 मानते हैं जब कि 284 संकीर्ण भेद X 35 शुद्ध भेद का गुणनफल 9940 होता है।[5] परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन के सच्चे अनुयायी मम्मट ने ध्वनि के प्रमुख 51 भेद माने हैं।[6] लेकिन सभी भेदों, प्रभेदों को मिलाकर ध्वनियों की संख्या 10455 तक पहुँच जाती है।[7] ध्वनियों के एक प्रमुख भेद रसध्वनि का संकेत नैषधकार करते हुए कहते हैं–

तत्कर्णौ भारती दूनौ विराहाद्भीमजागिराम् ।
अध्वनि ध्वनिभिर्वैणैरनुकल्पैर्व्यनोदयत् ॥[8]

अर्थात् स्वयंवर पश्चात् देवताओं के स्वर्गगमन काल में मार्ग में दमयन्ती की कण्ठध्वनि देवताओं को अप्राप्य थी, किन्तु सरस्वती देवी ने अपनी वीणा की (श्रृंगारसोपेत) रसध्वनि से देवताओं का मनोविनोद किया। देवतागण दमयन्ती की अभ्यर्थना से प्रसन्न होकर, नल दमयन्ती दोनों को वरदान देने के पश्चात् स्वर्ग लोक जा रहे थे, अतएव वह प्रेमप्रफुल्लित थे, इसलिए तत्क्षण उन्हें श्रृंगाररस समन्वित ध्वनि ही अभिप्रेत रही होगी, क्योंकि उनका ध्येय (गन्तव्य) प्रियापेक्षी भी था। नारायण का कथन है "मार्गेऽनुकल्पैर्भैमीवाण्याः सकाशान्यूनैर्वैणैर्वीणासंबन्धिभिर्ध्वनिभिव्यनोदयत्सुखिनौ चकार। मुख्याभावेऽनुकल्पोऽपि कार्यार्थमङ्गीक्रियते।"[9] आचार्य मम्मट भी रसध्वनि को ध्वनि का एक भेद मानते हैं, क्योंकि असंलक्ष्यक्रमता रूप साधारण धर्म के कारण इसकी एकभेदता सिद्ध हो जाती है।[10] सहृदय चक्रवर्ती आनन्दवर्धन के अनुयायी अभिनवगुप्त के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के उचित संयोजन द्वारा व्यक्त हुए रति आदि स्थायीभाव की चर्वणा से प्रयुक्त आस्वादप्रकर्ष को रसध्वनि कहा जाता है।[11] चूँकि स्थायी भाव अन्य सभी भावों में प्रधान होता है एवं अन्य व्यभिचारी भाव उसका अभिभाव नहीं कर सकते,[12] अतएव

---

1. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधैः कथितः। का०प्र० 1/4
2. वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। सा०द०, 4/1
3. ध्वन्या0 1/1 एवं 1/17 वृत्ति
4. सगुणीभूतव्यंग्यैः सालंकारैः सह प्रभेदै स्वैः । संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥ ध्वन्या, 3/43
5. लोचन, पृ०-501, 502 एवं ध्वनि सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय- उनकी मान्यताएँ, पृ० 162
6. भेदास्तदेकपंचाशत् - का०प्र० पृ० 185
7. भारतीय साहित्यशास्त्र कोश पृ० 589
8. नै० 17/12
9. नै० 17/12, नारायण
10. रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते असंलक्ष्यक्रमत्वं तु सामान्यमाश्रित्य रसाध्वनिभेद एक एव गण्यते। का०प्र० पृ० 148
11. रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपन्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः। ध्वन्या0 II उद्योत, लोचनटीका, पृ० 179
12. परानभिभाव्यो मनोविकारो वा सकलप्रधानोविकारो व स्थायिभावः। रसतरंगिणी, पृ० 11

स्थाई भाव की प्रधानता के कारण तच्चर्वणारूप रसध्वनि का भी अन्य भाव ध्वनि की अपेक्षा प्राधान्य सिद्ध होता है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त भावध्वनि आदि को रसध्वनि का निष्यन्दरूप मानते हैं।[1]

नैषधकार ध्वनि सिद्धान्त के एक अन्य भेद पदध्वनि का सङ्केत नैषध महाकव्य के उन्नीसवें सर्ग में किया है जहाँ वह कहते हैं–

निशि दशमितामालिङ्गन्त्यां विबोधविधित्सुभिः र्निषिधवसुधामीनाङ्कस्य प्रियाऽङ्कमुपेयुषः ।
श्रुतिमधुपदस्रग्वैदग्धीविभावित भाविक स्फुटरशभृशाभ्यक्ता वैतालिकैर्जगिरे गिरः ।।[2]

अर्थात् प्रातःकाल वैतालिक गणों ने कर्णप्रिय पदसमूह के चातुर्य से व्यंजित (श्रृंगारादि) रस के प्रकाशित होने से अतिशयसिक्त अर्थात् सरसवचनों से राजा नल एवं दमयन्ती को जगाने के लिये श्रुतिप्रियमधुर पद (रचना) गान प्रारम्भ किया। मल्लिनाथ का कथन है "श्रुतिमधुपदस्रजां श्रुतौ कर्णे, मधूनां मधुराणाम्, पदानां सुप्तिङ्न्तशब्दानां, या स्रक् माला पंक्तिरित्यर्थः। तासां या वैदग्धी रचनाचातुर्यम्, कौशिक्यादिवृत्तिसम्पत्तिरिति यावत्। तथा विभाविताः व्यञ्जिताः भावः स्थायिप्रभृतयः अस्य सन्तीति भाविकः रसबोधकविभावादिचतुर्विधभाववान्। अतएव स्फुटः अभिव्यक्तः संवेद्यतां प्राप्तः इत्यर्थः। रसः श्रृंगारादि रसेव सः स्नेहाद्रवः तेन भृशम् अत्यर्थम् अभ्यक्ताः म्रक्षिताः स्निग्धीकृतः इत्यर्थः। रसभरिताः इति यावत्, गिरः वक्ष्यमाणगीतवाचः जगिरे गीयन्ते स्म[3] नारायण के मत में भी नैषधकार के इस प्रसंग में पदध्वनि का सङ्केत मिलता है।[4] पदध्वनि सम्बन्धी एक अन्य उदाहरण देते हुए नैषधकार लिखते हैं–

चशशतचतुर्वेदीशाखाविवर्तनभूर्तयः सविधमधुनाऽलंकुर्वन्ति ध्रुवं रविरश्मयः ।
वदनकुहरेष्वध्येतृणामयं तदुदञ्चति श्रुतिपदमयस्तेषामेव प्रतिध्वनिरध्वनि ।।[5]

नल एवं दमयन्ती को प्रातःकाल होने पर निद्रापरित्याग करने के लिये वैतालिकगण कह रहे हैं कि प्रातः काल वेदपाठियों के मुखरूपी गुहा में अतात्त्विक विवर्तित वेदशाखाओं के सुप्तिङादिरूप पद समूह ही सूर्य किरण रूप होकर ऋचाओं की रास्ते की पदध्वनि ही प्रतिध्वनि ही वेदपाठ के रूप में सुनायी पड़ रही है अर्थात् सूर्योदय हो गया, वेदपाठी वेदाध्ययन करने लगे, अतएव आप (नल एवं दमयन्ती) निद्रा त्याग कीजिए। यहां नारायण का मन्तव्य है– "तत्तस्मायदयमध्येतृणां वेदं पठतां वदनलक्षणेषु सूर्यकराणामेव श्रुतिपदमयो वेदपदरूपः प्रतिध्वनिः प्रतिशब्दो ध्वनिः गगनउदञ्चत्यूर्ध्वं प्रसरति।"[6] आचार्य मल्लिनाथ के मत से भी इस प्रसंग में पदध्वनि होने की संसूचना मिलती है।[7] इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त व्याकरणशास्त्र से अधिक प्रभावित दिखता है। स्वयं आननदर्धन ने वैयाकरणें को प्रथम विद्वान् माना था एवं उन्होंने यह भी

---

1. रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रमृतयो निष्यन्दा आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृ०थग्यव्यवस्थाप्यते।- ध्वन्या, ॥ उद्योत, लोचनटीका, पृ० 179
2. नै० 19/1
3. नै० 19/1, मल्लिनाथ
4. कीदृश्यो गिरः? श्रोतृणां श्रुत्योः श्रवणयोर्मधु अमृतरूपाऽतिमधुरा पदस्रक्सुप्तिङ्न्तपदमाला तस्या वैदग्ध्या वक्रोत्यादिरचनाचातुर्येण विभाविता ध्वनिवृत्या व्यञ्जनाव्यापारेण प्रकाशिता भाविका रत्यादिस्थायिव्यभिचारिसहचारिरूपैर्भावैर्युक्ता, ज्ञापिता इति यावत। तादृशाः स्फुटाः प्रसन्नतरत्वेन बालि शैरपि प्रतीता ये रसाः श्रृगारादयस्तैर्भृशं नितरामभ्यक्ताः सर्वतः सिक्ताः। नै० 19/1, नारायण
5. नै० 19/10
6. नै० 19/10, नारायणी व्याख्या
7. तेषां रश्मीनामेव, अयं श्रूयमाणः, श्रुतिपदमयः वेदाक्षरात्मकः प्रतिध्वनिः प्रतिशब्दः रविरश्मी तवलम्ब्य अत्रागतः सूर्यलोकीयवेदध्वनेः प्रतिशब्दः इत्यर्थः। अध्येतृणाम् अत्रत्यवेदपाठकानां जनानां, वदनकुहरेषु मुखदरीषु तथा अध्वनि शब्दगुणमये आकाशमार्गे न, उदञ्चति उद्गच्छति। "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते" इत्यादि श्रुत्त्वा रविरश्मयः श्रुतिपदमया एव, सूर्यलोकवासिभिरपि, इदानीं वेदा अधीयन्ते, "द्वितीये च तथा भागे वेदाभ्यासो विधीयते" इति दक्षवचनात् इदानीं मर्त्यानां वेदाध्येतृणां मुखविवरेषु योऽयं ध्वनिरुद्गच्छति स पुनः सूर्यलोकवासिनां वेदाध्ययनस्य रविरश्मीनवलम्ब्य, आगतः प्रतिध्वनिरिव प्रतिभातीति भावः। नै 19/10, मल्लिनाथी व्याख्या

माना कि उनके स्फोट सिद्धान्त के वह ऋणी हैं। साथ ही वह यह भी कहते हैं कि परिनिश्चित, अपभ्रंशरहित शब्दों का स्वरूप ज्ञानपूर्वक प्रयोग करने वाले वैयाकरण विद्वानों के सिद्धान्तों को आधार मानकर ही मेरा ध्वनि सिद्धान्त पल्लवित हुआ है, अतः उनके साथ मेरा कोई विरोध नहीं है।[1] आचार्य मम्मट ने भी आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुए ध्वनिव्यवहार को व्याकरणमूलक अभिहित किया है।[2] अवधेय है कि आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को भी स्वीकार किया था कि वामनादि रीति आचार्यों ने इस ध्वनि सिद्धान्त को अस्फुट रूप (कुछ-कुछ या धुंधले रूप में) समझा था,[3] परन्तु ध्वन्यालोकार के मत में पूर्व में प्रसिद्ध, रस, गुण एक रीति सिद्धान्तों का पर्यवसान ध्वनि सिद्धान्त (रसध्वनि) में हो जाता है।[4] यथा– एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णति काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भीगौडीपांचाली चेतिरीतयः प्रवर्तिताः। रीतिलक्षण विद्यायिनां हि काव्यतत्त्वमेतद् स्फुटतया मनाक्स्फुरितमासादिति लक्ष्यते तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येनरीतिलक्षणेन न किञ्चित्।

शब्दतत्त्वाश्रया काश्चिदर्थतत्वयुजोऽपराः । वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन काव्यलक्षणे ।। 3/47

अस्मिन् व्यंग्यव्यंजकभावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धाः उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रयावृत्तयो याश्चार्थतत्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः समग्रीतिपदवीमवतरन्ति। अन्यथा तु तासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीयनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्त्वम्। एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः।[5] उपर्युक्त विवेचन की मीमांसा के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि नैषधकार ने ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत वस्तुध्वनि, रसध्वनि एवं पद ध्वनि का संकेत इस महतीय ग्रंथ में किया है। श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती महाकवियों कालिदास एवं भवभूति आदि ने भी अपने-अपने महाकाव्यों में ध्वनि सिद्धान्त के भेदों यथा– शब्दध्वनि एवं रसध्वनि का उल्लेख किया है।[6] वाल्मीकिकृत रामायण का "न स संकुचितः पंथा येन बाली हतो गतः" तथा महाभारत का प्रसिद्ध "गृध्रगोमायु संवाद" भी ध्वनि के सुन्दर प्रसङ्ग कहे जा सकते हैं।

वक्रोक्ति सिद्धान्त –

'नैषधीयचरितम्' में काव्यशास्त्र में प्रतिपादित वक्रोक्ति सिद्धान्त के भी संदर्भ यत्र तत्र देखने को मिलते हैं। उनके पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण माना है क्योंकि चमत्कार वक्रकथन के बिना असम्भव है। यथा–

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थोविभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।[7]

---

1. परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रंह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति किं तैः सह विरोधाविरोधौ चिन्त्येते। ध्वन्या, III उद्योत, पृ० 481
2. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः। का०प्र० 1/4
3. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्। अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ।। ध्वन्या० 3/46
4. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थ शब्दयोः । औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ।। ध्वन्या० 3/33
   व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान्वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कौशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयोश्चोपनागरिकाद्याः। वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संनिवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्य चच्छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवितभूता। इति वृत्तादि तु शरीरभूतमेव। –ध्वन्या III उद्येत, पृ० 401
5. –ध्वन्या III, उद्योत, पृ० 517
6. श्रोत्राभिराममध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः। ययावनुद्घातसुखेनमार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन।। रघु० 2/72
   भूर्जेशु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः। गङ्गाशीकारिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ।। रघु - 4/73
   उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
   अरमत मधुराणि तत्र श्रृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्लानि ।। रघु० 9/71
   आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् । रघु० 16/13
   – अथ कोऽयमिन्द्रमणिमेचकच्छविर्ध्वनिनैव बद्धपुलकं करोति माम् ।
   नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षण बद्धकुड्मलकदम्बडम्बरम् ।। उ०रा० 6/ 7
7. काव्यालं० – 2/85

'राघवपाण्डवीयम्' के रचयिता कविराज पण्डित (12वीं शताब्दी) ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि सुबन्धु, बाणभट्ट और स्वयं वह वक्रोक्ति मार्ग में निपुण हैं, चौथा नहीं[1] परन्तु वक्रोक्ति को शास्त्रीय दृष्टि से व्यापक रूप में एक सम्प्रदाय बनाने का श्रेय आचार्य कुन्तक (11वीं शताब्दी) को ही जाता है। कुन्तक निश्चित ही नैषधकार के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि वे भोज और अभिनवगुप्त के लगभग समकालीन हैं। वक्रोक्ति का सामान्य अर्थ वक्र उक्ति (Craaked Vaice) या विषय को घुमा फिरा कर किया गया कथन है, अर्थात साधारण लागों के कथन से भिन्न, अलौकिक चमत्कार से युक्त कथन ही वक्रोक्ति है। कुन्तक ने वैदग्ध्य भंगी भणिति को ही 'वक्रोक्ति' कहा है।[2] यह सामान्य अभिधा से हटकर विचित्रा अभिधा है एवं यह स्वभावोक्तिमय कथन तो विल्कुल ही नहीं है। कुन्तक की षड्विधा (वर्णविन्यास पद्पूर्वार्द्ध, पदपरार्ध, (प्रत्यय) वाक्य प्रकरण, प्रबन्ध) वक्रोक्ति के अन्तर्गत आनन्दवर्धन की सभी ध्वनियों का अन्तर्भाव हो जाता है, यद्यपि उन्होंने आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त का कहीं भी खण्डन नहीं किया है किन्तु अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त के द्वारा एक समानान्तर चमत्कार पक्ष्ज्ञ को उजागर करके मानो उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त को निरवकाश ही कर दिया है। वस्तुतः कथन प्रकार (अभिधान शैली) में चमत्कार खोजने वाले आचार्य कुन्तक ही हैं, और कथ्य (व्यंग्य) में चमत्कार देखने वाले आनन्दवर्धन हैं। नैषधकार दोनों ही आचार्यों के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं, एवं उन्होंने नैषधमहाकाव्य में दोनों का यत्र-तत्र संदर्भ भी प्रस्तुत किया है।

'वक्रोक्ति' की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने[3] विविधरूपों में की है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नैषधकार आचार्य कुन्तक से ही अधिक प्रभावित हैं। नवें सर्ग में देवदूत बने नल दमयन्ती को चारों देवताओं

---

1. सुबन्धुबाणभट्टश्च कविराज इतित्रयः। वक्रोक्तिमार्ग निपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा राघवपाण्डवीयम्- 1/41
2. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते - वक्रोक्ति जीवितम् 1/10
   वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरोकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी- वैदग्ध्यभंगीमणितिः। विदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रै वाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। वही 1/10 वृत्ति
   वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । वैदग्ध्यं कविकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः।। व०जी०1/11
3. वक्ता तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरतः । वचनं यत्पदभंगैज्ञेया सा श्लेष वक्रोक्तिः ।।
   विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषो भवति । अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः ।। -रूद्रट-काव्यालं 2/14, 16
   - यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते । श्लेषेण काक्वा वाज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथाद्विधा ।। मम्मट- का०प्र० 9/78
   - अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथायोजनं वक्रोक्तिः। रूय्यक-अलं०सं० पृ० 77 एवं 219
   - युक्तं वक्रस्वाभावोक्त या सर्वमेवैतदिष्यते। भामह-काव्या० - 1/30, एवं 2/84,85,86
   - वाचां वक्रार्थं शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते। वही-5/ 66 एवं 6/28
   - श्लेषो सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। वही 2/363
   - भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।। दण्डी०का०दर्श० 2/363
   - वक्राः स्वभावमधुराः स्निग्धाः शंसन्त्यो रागमुल्बणम्। दृशो दूत्यश्च कर्वन्ति कान्ताभिः प्रेषिाः प्रियान्।। का०दर्श०/316
   - सदृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। वामन- का०सू० 4/3/8
   - यद्वक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्। वक्रं यदर्थवादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः। भोज०श्रृं०प्र० 9/6
   - भोज वक्रोक्ति को सर्वालंकाररूपा भी मानते हैं यथा- 'इत्येतदपि सर्वालंकारसाधारणं लक्षणं अनुसर्तव्यम्। अस्मिन् सति सर्वालंकारजातयो वक्रोक्त्याभिधानवाच्या भवन्ति। वही, 9/6 की वृत्ति
   - वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम्- अप्पदीक्षित-कुवलायनंद - पृ० 259
   - शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य हि वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमिति। -अभिनवगुप्त, ध्वन्या, लो.लो.पृ० 208
   - अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि। अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा।। विश्वनाथ, सा०द० 10/9
   - "A figure of speech consisting in the use of evasive speech or reply, either by means of a pun, or by on affected change of tone." V.S. Apte. the cratical Sanskrit English Dictionary III Vol. P. 1378
   - श्री पी.वी. काणे 'वक्रोक्ति' को क्रीणाडाप के अर्थ में उपयुक्त मानते हैं। सं०का.इति. - काणे, पृ० 471
   - राजशेखर ने 'वक्रोक्ति' का निरूपण नहीं किया। 'काकु', जिसे आलंकारिकों ने वक्रोक्ति का एक भेद माना है, राजशेखर ने अलंकार्य कहा है, अलंकार नहीं। यथा- 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम' इति रूद्रटः। अभिप्रायवान्पाठधर्मः काकुः, स कथमलंकारी स्यात्, इति यायावरभिः का. मीमांसा, पृ० 78
   - सा पत्युः प्रथमेऽपराधसमये सख्योपदेरीयः विना । नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्ति संसूचनम्।। अमरूकशतक-29
   - रूद्रट, ममय्ट वाग्भट्ट, वाग्भट्टद्वितीय, विश्वनाथ तथा केशवमिश्र ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार, तथा वामन जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित ने अर्थालंकार, जब कि मम्मट ने सर्वालंकार रूप में स्वीकार किया है।
   - उक्तिप्रत्युक्तिमद् वाक्यं वाकोवाक्यं द्विधैव तत्। वरजुंवक्रोक्तिभेदेन तत्राद्यं सहजं वचः।।
   सा प्रश्नपूर्विका प्रश्नपूर्वकेति द्विद्या भवेत्। वक्रोक्तिस्तु भवेद् भङ्ग्या काकुस्तेन कृता द्विधा।। अग्नि०पु० 342/32-33
   - द्रष्टव्य हेमचन्द्र काव्यानुशासन, पृ० 332, 333, जयदेव - चन्द्रालोक 5/111, विद्यानाथ-प्रतापरुद्रीय, पृ० 296/97, विद्याधर-एकावली 8/71, केशवमिश्र- अलंकारशेखर 10/1 तथा पृ० 27

में से किसी एक को वरण करने का निवेदन करते हैं किन्तु दमयन्ती नल के अतिरिक्त किसी अन्य को पतिरूप में स्वीकार करने को तैयार ही न थी, एवं नल की पतिरूप में प्राप्ति न होने पर वह प्राणोत्सर्ग करने को भी उद्यत हो जाती है, तब नल दमयन्ती से वक्रोक्ति युक्त कथन करते हुए कहते हैं-

निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचि वक्रता।
विजृम्भितं यस्य किलध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः ॥[1]

नल दमयन्ती से कहते हैं कि अच्छा मैं समझ गया कि जो तुम देवताओं के वरण का निषेध कर रही हो, वास्तव में निषेधमुखेन यह तुम्हारी (देव वरण की) स्वीकृति ही है अर्थात् तुम इन्द्रादि देवताओं को ही स्वीकार कर रही हो, इस तरह की तुम्हारे वचनों में वक्रोक्ति व्यंग्योक्ति उचित भी है, क्योंकि ध्वनिरूप काव्य के यह विधिनिषेध, विलास रूप हैं एवं विदग्धाओं (चतुरस्त्रियों) के मुख ही उसके आकर होते हैं, अर्थात् चतुर स्त्रियों के मुख से ही उत्तम प्रकार की वक्रोक्ति वचन देखे जाते हैं। आचार्य मल्लिनाथ का कथन भी श्रीहर्ष के उपर्युक्त विवरण में वक्रोक्ति विलास की प्रासङ्गिकगता एवं समीचीनता को पुष्ट करता है।[2] साथ ही नारायण भी मल्लिनाथ के कथन से सहमत दिखते हैं। यथा- "अथवा इन्द्रादीन्न वृणे इति एष ते तव निषेधो वेषो रूपं यस्यैतादृशो विधिरेव। न वृणे इति यथाश्रुतार्थग्राहिणा मया पूर्वं न ज्ञातः, इदानीं वृणे इति विधिरेव ज्ञातः। लौकिक वचनरीतिरप्येवम्। निषेधं विधिप्रतीतः कथमित्यत। आह-खलु यस्मात् तवैव वाचि वक्रता युक्ता। वक्रोक्तिस्त्वद्वचनविषयैव युक्तेत्यर्थः।"............. वक्रोत्यादिध्वनिविलसितं वक्तुं विदग्धा नार्येव जानाति, न त्वन्या त्वादृशी वक्रोक्त्यादि वक्तुं चतुरा ना (अ) स्तीत्यर्थः। ......विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषो भवति। अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः॥ इति, "वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्य प्रियस्यान्तिकम्" इत्यत्र स्नाननिषेधे स्नानविधिः प्रियोपसरणविधौ तन्निषेध इति। तथा प्राणेश! विज्ञप्तिरियं मदीया तत्रैव नेया दिवसाः कियन्तः। संप्रत्ययोग्यस्थितिरेष देशः कला यदिन्दोरपि तापयन्ति॥" इति। तत्रैव दिवसा नेयाः, नात्रागन्तव्यमिति निषेधो व्यज्यते, स निषेधोऽपि भङ्ग्या आगमनविधिरेव। यतस्तया आत्मनो भर्तविरहासहत्त्वं भङ्ग्या सूचितमिति निषेधवेषो विधिर्ज्ञातव्यः।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि नारायण ने वक्रोक्ति को लौकिक रीति की संज्ञा दी। आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति के दो भेद माने हैं, श्लेष वक्रोक्ति एव काकु वक्रोक्ति[4] उन्होंने श्लेषवक्रोक्ति का निम्नलिखित उदाहरण दिया–

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान्।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विद्यातुं कुतः॥

एवं – अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता। त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित्॥

मम्मट द्वारा उद्धृत काकु वक्रोक्ति का उदाहरण निम्न रूप में है–

गुरूजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ ॥[5]

---

1. नै० 9/50
2. हे विदग्धे! अथवा तव एष इन्द्रादिनिषेधो निषेधवेषो निषेधाकारो विधिरङ्गीकार एवं। तथा हि-वाचि वचने वक्रता वक्रोक्तिचातुरी व्यंग्योक्तिचातुरीति यावत्। सा तवैव युक्ता खलु। कुतः, इदं वक्रं वाक्यं वञ्चनाचातुभि यस्य ध्वनेर्व्यञ्जकवृत्तेर्विजृम्तिं विजम्भणं। विदग्धनारीवदनं सूक्तिचतुरस्त्रीमुखं तदाकरस्तस्य ध्वनेरुत्पत्तिस्थानमित्यर्थान्तरन्यासः। ततः स्थूणानिखननन्यायेन विधिमेव द्रढयितुमेतन्निषेधनाटकमिति निषेधेन विधिरेव व्यज्यत इति भावः। नै० 9/50, मल्लिनाथ
3. नै० 9/50, नारायण
4. यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते। श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ का०प्र० 9/78
5. का०प्र०, पृ० 492, 493

श्रीहर्ष ने भी वक्रोक्ति के दोनों भेदों को मान्यता देकर उनका वर्णन नैषध में कथनक के प्रसङ्गानुसार किया है।[1] वक्रोक्ति काव्य के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन में भी अपनायी जाती है, एवं हास परिहास के क्षणों में इसका अद्वितीय योगदान रहता है।[2] आचार्य रुद्रट ने श्लेष वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए कहा–

वक्त्रा यदन्यथोक्तं व्याचष्टे वाऽन्यथा तदुत्तरदः ।
वचनं यत्पदभंगैर्ज्ञेया सा श्लेष वक्रोक्तिः ।।

नैषधकार नल एवं दमयन्ती दोनों को व्यवहार निपुण बताते हुए कहते हैं कि वे लोग व्यवहार में इसलिये निपुण थे, क्योंकि वे दोनों 'वक्रोक्ति' अभिधान से परिचित थे। वक्रोक्ति पूर्ण सरस्वती तो नलकण्ठ का आलिंगन करके रसपरिपूर्ण ही थी। यथा–

अलं सजन्धर्मविद्यौ विधाता रुणद्धि मौनस्यमिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ।।[3]

नल तो वाक्पटुता में वृहस्पतिसदृश थे।[4] दमयन्ती के साथ-साथ उसकी सखियाँ भी वक्रोक्ति अभिधा से परिचित थीं। मिथिलानरेश के वर्णन प्रसङ्ग में, सखियों के वक्रोक्ति व्यंग्य के साथ पूछने पर कि क्या हम लोग इन महाराज की प्रशंसा में कोई विघ्न कर रही हैं, दमयन्ती ने व्यंग्यात्मक मुस्कान से अपनी अस्वीकृति की अभिव्यक्ति की। यथा–

सृजामि किं विघ्नमिदं नृपस्तुतावितीङ्गितैः पृच्छति तां सखीजने ।
स्मिताय वक्त्रं यदवक्रयद्वधूस्तदेव वैमुख्यमलक्षि तन्नृपे ।।[5]

नैषधकार के पूर्ववर्ती महाकवि भी यथा- बाण कालिदास, माघ, एवं हर्ष इत्यादि भी वक्रोक्ति अभिधा से परिचित थे।[6] नैषधकार वक्रोक्ति की नयी विधाओं से परिचित होने के साथ-साथ किञ्चित् अंश में मेघदूत के कथानक से प्रभावित दिखते हैं, जहाँ नल वियोग में दमयन्ती कहती है–

---

1. अम्बुनः शम्बरत्वेन मायैवाविरभूदियम् । यत्पटावृतमाप्यङ्गमनयोः कथयत्यदः ।। नै० 20/130
   वाससो वाम्बरत्वेन दृश्यतेयमुपागमत् । चारुहारमणिश्रेणितारवीक्षणलक्षणाः ।। नै० 20/131
   मद्विरोधितयोर्वाचि न श्रद्धातव्यमेतयोः। अभ्यषिञ्चदिमे मायामिथ्यासिंहासने विधिः ।। नै० 20/135
   अहो! नामत्रपाकं ते जातरूपमिदं मुखम् ।
   नातितापार्जनेऽपि स्यादितो दुर्वर्णनिर्गम :।। नै० 20/141 एवं नै० 13/28-30, 14/14,16, 3/69, 9/93
2. द्रष्टव्य लोक एवं काव्य में वक्रोक्ति शोधकर्ता का ही शोधपत्र, सम्मेलन पत्रिका, पौष फाल्गुन शक 1918
   The Examples of slesavakrokti are met with in IV, 102............109. Thus the influence of vakrokti school is seen on our poet.— Jani, P. 244
   लालित्यममरस्येह श्रीहर्षस्येव वक्रिमा । नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम्।। नयचन्द्रसूरि, रम्भामंजरी, 18
3. नै० 3/30
4. स भिन्नमर्मापि तदार्तिकाकुभिः स्वदूतधर्मान्न विस्तुमैहत।
   शनैरशंसन्निभृतं विनिश्वसन्विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः।। नै० 9/73
5. नै० 12/68
6. बालेन्दुवक्त्राण्यविकाशभावाद्बभुः फ्लाशान्यतिलोहितानि ।
   सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ।। कु० 3/29
   – वक्रः पन्था यदपि भवता प्रस्थितस्योत्ताराशां- पूर्वमेघ-29
   – प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः ।
     गूढसूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः ।। शिशु. 2/12
   – किमतैवक्रभणितैः, रत्नावली, द्वितीय अंक
   – वक्रोक्ति निपुणेनाख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण........। कादम्बरी पूर्व, पृ० 178
   – सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना ।
     नो जानाति स विभ्रमांग वलना वक्रोक्ति संसूचकम् ।। अमरूकशतक-23

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनं तु दक्षिणम् ।
दिशापि मद्भष्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधिः।।[1]

अवधेय है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने रस, रीति, अलंकार, आदि काव्यसिद्धान्तों का पर्यवसान ध्वनि सिद्धान्त में करते हुए, ध्वनि सिद्धान्त को व्यापक काव्यचिन्तन का स्वरूप प्रदान कर दिया था, किन्तु इस सिद्धान्त के विरोध में कुन्तक ने प्रत्यक्ष रूप से ध्वनि सिद्धान्त की आलोचना नहीं की, हाँ आचार्य महिममट्ट ने समस्त ध्वनि भेदों का अन्तर्भाव अनुमान में करते हुए प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ को अनुमेय सिद्ध किया एवं शास्त्रादि के प्रसिद्ध मार्ग के अतिरिक्त वैचित्य या चमत्कार प्रतिपादन में वक्रोक्ति माना।[2] साथ ही कुन्तक ने भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत ध्वनि के समस्त भेदों का अन्तर्भाव करते हुए वक्रोक्ति को कवि कौशल रूप एवं काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार किया।[3] आचार्य आनन्दवर्धन ने यदि "उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" से शब्दार्थ को ध्वनि रूप दिया तो आचार्य कुन्तक ने शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धयतिरेकि में वक्रोक्ति का रूप माना, परन्तु कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का खण्डन, उनके समकालीन आचार्य महिमभट्ट ने करते हुए कहा कि शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के प्रयोग से विलक्षण जिस वैचित्र्य रूप वक्रता को कुन्तक काव्य का जीवित रूप मानते हैं वह समीचीन नहीं लगता, क्योंकि प्रसिद्ध व्यवहार व्यतिरेकित्त्व का पर्यवसान शब्द अर्थ के औचित्यमात्र में होगा, या प्रसिद्ध वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान की अभिव्यक्ति में। महिम भट्ट यह भी मानते हैं कि कुन्तक ने वक्रोक्ति के जो भेद, प्रभेद किये हैं, वह ध्वनि के ही हैं, इस रूप में कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त ध्वनि सिद्धान्त से अभिन्न सिद्ध होता है।[4] इस प्रकार महिमभट्ट वक्रोक्ति को ध्वनि का ही प्रकारान्तर मानते हुए वक्रोक्ति का अन्तर्भाव अनुमिति में करते हैं। साथ ही यह तथ्य भी स्मरणीय है कि आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने वक्रोक्ति का खण्डन करते हुए इसे केवल अलंकार का ही एक प्रकार माना है।[5] ध्यातव्य है कि आचार्य कुन्तक ने भी औचित्य के भी समादर भाव रखते हुए उनके किञ्चित् अभाव को भी सहृदय की आह्लादकता में बाधक माना है।[6] उन्हें भी काव्य के सौन्दर्य को अक्षुण्य रखने में औचित्य की भूमिका अनिवार्य तत्त्व के रूप में अभिप्रेत थी।

औचित्य सिद्धान्त –

नैषधकार ने औचित्य सिद्धान्त के विवरण का सङ्केत भी ग्रन्थ में कुछ स्थलों पर किया है। वास्तव में औचित्य (उचित्+ष्यञ् यलोपे ङीष्) का आदर्श जिस प्रकार लोकजीवन की विविध प्रणालियों या

---

1. नै० 9/93
2. प्रसिद्धमार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्य-सिद्धये। अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ।। व्यक्तिविवेक 1/66
3. शब्दाथौ सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनी । वक्रो. जी. 1/7
   शास्त्रादि प्रसिद्धः शब्दार्थोपनिबन्ध व्यतिरोकि । वही वृत्ति,
   – प्रसिद्ध प्रस्थानातिरेकिणा वैचित्र्येण । अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि ।। वक्रो. जी. 1/18
     प्रस्थित प्रस्थान व्यतिरोकि वैचित्र्यम्। वही वृत्ति
   – चतुवर्गफलास्वाद मप्यतिक्रम्यतद्विदाम् । काव्यामृत रसेनान्तश्चमत्कारो, वितन्यते ।। व०जी० 1/5
   – शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि । बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।। व०जी० 1/10
   – निरन्तर रसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः । गिरः कवीनां जीवन्ति न कथा मात्रमाश्रिताः ।। व०जी० 4/11
4. तेनध्वनिवदेषापिवक्रोक्तिरनुमानिकम्। व्यक्ति विवेक 1/70
5. एतेन "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम् वक्रोक्तेरलंकाररूपत्वात्। सा०द० 1/2 की वृत्ति, विमला टीका, पृ० 16
6. उचिताभिधानजीवितत्वात् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लाद कारित्वहानिः। व०जी० 1/57 की वृत्ति।

क्रियाओं में अपने महत्त्व का प्रतिपादन करता दिखता है, ठीक उसी तरह काव्य को महान बनाने के लिये उसके प्रत्येक अंग, पद, वाक्य, रस, रीति, अलंकारादि में भी औचित्य का होना परमावश्यक है। वैसे तो औचित्य सिद्धान्त की स्थापना आचार्य क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी) में की थी, लेकिन औचित्य के आद्य उद्भावक भरतमुनि ही हैं जिन्होंने अभिनयावसर में पात्रों के वेश, भूषा निर्धारण, पाठ्य आदि में औचित्य तत्त्व का अनुसंधान किया था, वह औचित्य या अनुरूपता को रस का सहायक मानते हैं।[1] भरत की भांति आचार्य भामह भी औचित्य का नियामक लोक स्वभाव को मानते हैं।[2] उनके मत में असाधु पदार्थ भी साधु आश्रय का प्राप्त कर उसी प्रकार सुशोभित होता है, जिस प्रकार रमणी के आंख में काजल[3] भरत, भामह के अतिरिक्त दण्डी, आनन्दवर्धन, रुद्रट, अभिनवगुप्त, कुन्तक, भोज, अग्निपुराणकार, एवं महिमभट्ट आदि काव्य शास्त्र के विधि काव्यमनीषियों ने औचित्य की परिभाषा विभिन्न रूपों में करते हुए इसे अपने काव्य का विषय बनाया है[4] परन्तु औचित्य को काव्य शास्त्रीय या सिद्धान्त रूप देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है, जो कि औचित्य को काव्य का जीवितरूप मानते हैं इनके मत में औचित्य ही रस का जीवनभूत है, प्राण है, जो जिसके सदृश हो, जिससे मेल मिले, उसे उचित कहते हैं एवं उचित का भाव ही औचित्य है।[5] उन्होंने अपने ग्रंथ औचित्यविचारचर्चा में औचित्य के 27 भेदों का वर्णन

---

1. अदेशजो हि वेषस्तु न शोशां जनयिष्यति ।
   मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥ ना.शा. 21/71, एवं 1/109, 14/68, 24/214, 26/113, 115, 35/1
2. युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक। कावयालं, 1/21
3. सन्निवेश विशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते । नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले सृजाभिव ॥
   किञ्चित् आश्रयसौन्दर्यात् धत्तेशोभामसाध्वपि । कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ॥ काव्यालं, 1/54, 55
4. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् । उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीर्थी विगाहते ॥ दण्डी-काव्यादर्श, 4/179
   - गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा । रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥ आनन्वर्धन, ध्वन्या, 3/6
   - एताः प्रयत्नादधिगम्यसम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
     मिश्राः कवीन्द्ररघनाल्पदीर्घाः कार्यामुहुश्चैव गृहतिमुक्ताः ॥ रूद्रट-काव्या, 2/32
   - तथाहि अचेतनं शवशरीरं कुण्उलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्य अभावात्। पतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्य अनौचित्यात्-अभिनवगुप्त लोचन, पृ० 75 (निर्णय सागर प्रकाशन)
   - औचित्यनिबन्धनं रसभावादिमुक्त्वा नान्यद् किञ्चिदास्ति, इति तदेवान्तर्भाति मुख्यं जीवितम् इत्यभुपागन्तव्यम्। लोचन, पृ० 208
   - औचित्यवतीजीवितमितिचेत्, औचित्यनिबन्धनं रसभावादिमुक्त्वानान्यत् किञ्चिदस्तीति तदेवांत भोसि मुख्यं जीवित मित्यभ्युपगन्तव्यं न तुसा। - अभिनवगुप्त, पृ० 260
   - व्यवहारपरिस्पंदसौन्दर्य व्यवहारिभिः। सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥ कुन्तक, व०जी०, 1/4 एवं 1/35,53,54
   - औचित्यं वस्तुनः स्वभावोत्कर्षः - वही 2/26
   - उचिताभिधानजीवितत्त्वात् वाक्यस्याप्येक देशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लाद कारित्वहानिः - व०जी० 1/57, वृत्ति
   - व्यक्त्यनुचितार्थं यत् पदमाहुस्तदेव तत् - जयदेव, चन्द्रालोक 2/5
   - तत्र संस्कृतमित्यादिर्भारती जातिरिष्यते। सा त्वौचित्यादिभिर्वाचामलंकाराय जायते॥ भोज. स.क., 2/6
   - तदाभाषा अनौचित्य प्रवर्तिताः - मम्मट- का०प्र० 4/49 एवं 8/77, 3/247
   - अग्निपुराणकार ने औचित्य को शब्दार्थालंकार माना है किन्तु उनका मन्तव्य भी औचित्य सिद्धान्त के निकट है। यथा– यथा वस्तु तथा रीतिर्यथा वृत्तिस्थता रसः। ऊर्जस्विमृदुसन्दर्भादौचित्यमुपजायते ॥ - अग्निपुराण 345/5
   - महिमभट्ट औचित्य को काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व मानते हैं, तथा रसप्रतीति को औचित्य का फल मानते हैं यथा- 'तस्य (औचित्यस्य) काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्य सिद्धस्य पृ०थगुपादान वैयर्थ्यात्।......रसात्मकं च काव्यमिति कुतस्तत्रानौचित्य संस्पर्शः संभाव्यते, यन्निरासार्थमित्थं काव्यलक्षणमाचक्षीरन् विचक्षणम्मन्याः॥ व्यक्तिविवेक 2/126
   - एतस्य (औचित्यस्य) विवक्षित रसादि प्रतीति विघ्नविधायित्त्वं नाम सामान्यलक्षणम्। व्यक्ति विवेक, 2/152
   - अनौचित्यप्रवृतत्त्वे आभासो वयोः – विश्वनाथ, सा०द० 3/247
5. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे । रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ औ०वि०च०का०, 3
   - उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्ययत् । उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥ वही कारिका, 7
   - काव्यस्यामलंकारैः किं मिथ्याजनितैर्गुणैः । यस्यजीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥
   - अलंकारास्त्वलंकारा गुण एवं गुणाः सदा । औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥
   - उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः। औचित्यादच्युतानित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥ औ०वि०च० 4,5,6, कारिका

किया[1] एवं यह अभिहित किया कि औचित्य के अभाव में न तो अलंकार ही शोभावर्धक होते हैं और न गुण ही।[2] वास्तव में आचार्य क्षेमेन्द्र ध्वनिकार से ही प्रभावित दिखते हैं, क्योंकि आनन्दवर्धन ने भी रसौचित्य, प्रबन्धौचित्य, वाचकौचित्य, वृत्यौचित्य, संघटनौचित्य, वक्तृ औचित्य, विषयौचित्य, अलंकारौचित्य आदि का विवेचन कर औचित्य को प्रशंसात्मक अभिव्यक्ति दी थी, साथ ही वह अनौचित्य से बढ़कर रसभंग का दूसरा कारण नहीं मानते। उनके मत में औचित्य ही रस का परम रहस्य है[3] और क्षेमेन्द्र ने उन्हीं का अनुकरण करते हुए पद, वाक्य, प्रबन्ध, क्रिया आदि में औचित्य की सत्ता का प्रतिपादन किया है। नैषधकार आचार्य क्षेमेन्द्र के साथ-साथ आचार्य आनन्दवर्धन से भी प्रभावित दिखते हैं जहाँ औचित्य सिद्धान्त में प्रतिपादित गुणौचित्य का उत्कल नरेश के प्रसंग में निर्देश करते हुए वह कहते हैं कि इन्होंने शत्रुओं के अहंकारशील हृदय तथा न झुकने वाले कन्धों को जो खण्ड-खण्ड कर दिया, यह उदात्त गुणों वाले इनके लिये उचित ही था। यथा-

आत्मन्यस्य समुच्छ्रिकृतगुणस्याहोतारामौचिती यद्गात्रान्तरवर्जनादजनयद् भूजानिरेषद्विषाम् ।
भूयोऽहं क्रियते स्म येन च हृदा स्कन्धो न यश्चानमत्तन्मर्माणि दलं दलं समिदलं कर्मीण बाणव्रजः।।[4]

उपर्युक्त संदर्भ में श्रीहर्ष ने कथानकानुसार गुणों के औचित्य का सुन्दर निर्देशन अभिव्यक्त किया है। नैषधमहाकाव्य के प्राचीन टीकाकार मल्लिनाथ एवं नारायण का मन्तव्य भी गुणों के औचित्य की परिपुष्टि करता है।[5] आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि जब प्रस्तुत अर्थ के विषय के अनुरूप, माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों का विधान किया जाय, तो गुणौचित्य होगा।[6] भट्टनारायणकृत वेणीसंहार नाटक में अश्वत्थामा की निम्नगर्वोक्ति में भी गुणौचित्य का सन्दर्भ प्राप्त है।

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तकप्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः कुतोऽद्य समारांदधेरयमभूतपूर्वः पुरः।।

चन्द्रक कवि के निम्न वर्णन में भी गुणौचित्य का विधान समाहित है। यथा-

---

1. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे । क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते । तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि । काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ।। औ.वि.च. 8,9,10, कारिका
– एतेषु पदप्रभृतिषु स्थानेषु मर्मस्विवः काव्यस्य सकलशरीरव्यापिजीवितमौचित्यं स्फुटत्वेन स्फुरदवभाषते। औ०वि०च० 8,9,10 की वृत्ति
– इन 27 औचित्य स्थानों को 5 वर्गों में भी विभक्त किया जा सकता है- (A) मीमांसा दर्शन के विषय पद, वाक्य, प्रबन्ध (B) काव्य शास्त्र क विषय-गुण, अलंकार, रस (C) व्याकरण शास्त्र के विषय-क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग नियात, काल (D) लोक विषय- देश, कुल, व्रत (E) कवि सम्बन्धी-सत्त्व, तत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद। इन 27 स्थानों को हम चाहें किसी भी वर्ग में स्थान दें, परन्तु वे सब समष्टि रूप से काव्यशरीर के निर्वाहक हैं।
2. कंठे मेखलया नितम्बफलके तारेह हारेण वा पाणौ नूपुर बन्धनेन चरणे केयुरपाशेत वा ।
शौर्येण प्रणतेरियौ करूणया नायान्ति के हास्यताम् औचित्येन विना रूचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नोगुणः ।। ओ०वि०च० 6 की वृत्ति
3. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् । औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।। ध्वन्या, 3/9
4. नै० 12/83
5. आत्मनि स्वस्मिन्नेव, समुच्चितीकृतगुणस्य समाहृतसौन्दर्यादिनिखिलगुणस्य, अस्य राज्ञः औचिती.....आचित्यमेव।..... "अभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः" इत्युपसंख्यानात् द्विर्भावः यत् अजनयत् यद्दण्डनमरोदित्यर्थः, तदेतद्दण्ड्यमात्रदण्डनं राज्ञ उचितमाश्चर्यतरञ्चेत्यर्थः, अहंकारात् अनभ्रम् अरिं समूलघातं हन्त्यमिति भावः। नै० 12/83, मल्लिनाथ
-अपराधी हि राज्ञा दण्ड्यः। हृत्स्कन्धस्यैवापराधी नान्येषां तस्यैव दण्डं कृतवान्। नान्येषामित्यतितरामस्यौचितीत्यर्थः। अयं च सगुणः सदर्पाननम्रांश्च मारयति शरणागांस्तु रक्षतीति भावः। नै० 12/83 नारायण
6. प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान् गुणः ।
स्पन्दतींदुरिवानन्दं संभोगावसरोचितः ।। औ०वि०च०, कारिका-14

युद्धेषु भाग्यचपलेषु न में प्रतिज्ञा, दैवं नियच्छति जयञ्च पराजयञ्च ।
एषैव में रणगतस्य सदा प्रतिज्ञा, पश्यन्ति यन्न रिपवो जघनं हनानाम् ।।[1]

औचित्य सिद्धान्त के अन्तर्गत ही स्वभावौचित्य का निर्देश करते हुए उत्कल नरेश के परिचय वर्णन में श्रीहर्ष लिखते हैं–

यत्कस्यामपि भानुमान्न ककुभि स्थेमानमालाम्बते जातं यद्घनकाननैकशरणप्राप्तेन दावाग्निना ।
एषैतद्भुजतेजसा विचितयोस्तावन्तयोरौचिती धिक्तं वाडवमम्भसि द्विषि भिया येन प्रविष्टं पुनः ।।[2]

मल्लिनाथ का कथन है "एतस्य राज्ञः भुजतेजसा भुजप्रतापेन विजितयोः तयोर्भानुदावाग्न्योः औचिती तावत् औचित्यमेव" एवं नारायण की टिप्पणी है, "एतस्य भुजतेजसा विशेषेण जितयोस्तयोः सूर्यदावानलयोः तावन्निश्चितं एषा औचिती युक्ततरताः, भीतस्य व्याकुलता वनाश्रयणं च युक्तमित्यर्थः।"[3] स्वभावौचित्य सम्बन्धी नैषधकार के अन्य प्रसङ्ग भी[4] सर्वथा सिद्धान्त सम्मत ही हैं।

नैषधकार ने भावौचित्य का संकेत दौत्यवर्णन प्रसंग में किया है, जहाँ दमयन्ती देवदूत बने नल से कहती है कि "नल के समान सुन्दर एवं सज्जन तुमने भी, नहीं सुनाने योग्य (नल को पूर्व में ही मेरे द्वारा पतिरूप में वरण करने के बाद भी, अन्य पुरुष अर्थात् इन्द्रादि देवताओं के वरण करने का) को निवेदन कर, तुमने यमदौत्य का ही कर्म किया है क्योंकि मैंने (दमयन्ती) पूर्व ही नल का वरण कर लिया है, इसलिये अन्य पुरुष को वरण करने की बात तो दूर, मैं परपुरुषों (के वरण करने) का नामोच्चारण भी नहीं सुन सकती।" यथा–

विभिदता दुष्कृतिनीं ममश्रुतिं दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः ।
प्रयातजीवामिव मां प्रति स्फुटं कृतं त्वयाप्यन्तकदूततोचितम् ।।[5]

भावों के अनुरूप कथावस्तु का निरूपित होना ही भावौचित्य कहलाता है अर्थात् भावों का कथानकानुसार निरूपण ही भावौचित्य है। श्रीहर्ष ने भावौचित्य का संकेत बारात भोजन प्रसंग में अभिहित किया है, जहाँ कुशल मुग्धा अपने भावों को छिपाने की चतुराई करती हैं, किन्तु उसकी इस पहेली को बूझने में नायक भी संकेतों से अपने हृदय के स्नेह भावों को व्यक्त करता है। यथा–

विदग्धबालेङ्गितगुप्तिचातुरी प्रवह्लिकोत्पाटनपाटवे हृदः ।
निजस्य टीकां प्रबबन्ध कामुकः स्पृशद्भिराकूतशतैस्तदौचितीम् ।।[6]

आचार्य क्षेमेन्द ने अपनी मुनिमत मीमांसा में कालौचित्य के जो उदाहरण "योऽभूद्गोपशिशुः" एवं "नो दौर्जन्याद् विरमति जड़ो नापि दैन्याद् व्यरंसीत", आदि दिये, उन दोनों में उनकी दृष्टि काल के क्रियाकृत, भूत, वर्तमान, भविष्यत्, भेदों पर ही केन्द्रित दिखती है। नैषधकार ने भी कालौचित्य[7] का आंशिक

---

1. औ० वि० च० कारिका-14 की वृत्ति में उद्‌धृत्
2. नै० 12/81
3. नै० 12/81, मल्लिनाथ एवं नारायण
4. जगति तिमिरं मूर्च्छामब्जव्रजेऽपि चिकित्सतः पितुरिव निजाद्दस्रावस्मादधीत्य भिषज्यतः ।
अपि च शमनस्यासौ तातस्ततः किमु नौचिती यदयमदयः कह्लाराणामुदेत्यपमृत्यवे ।। नै० 19/50
क्षत्रिय जातिरुदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवनं सृजतः प्राक्। जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थमुचितौ विजयेताम्।। नै० 21/65
5. नै० 9/62
6. नै० 16/102
7. वृत्ते कर्मणि कुर्मः किं तदा नाभूम तत्र यत्। कालोचितमिदानीं नः श्रृणुतालोचितं पुनः।। नै० 17/137

रूपेण संकेत नैषधमहाकाव्य में कलिप्रसङ्ग में किया है। वास्तव में कथावस्तु की प्रासङ्गिकता तभी समीचीन कही जा सकती है जब कि कवि अवसरानुकूल (कालानुसार) अपने कथानक को भी गति प्रदान कर दे। आयार्य क्षेमेन्द्र के कथन "औचित्यरहितं वाक्यं सततं सम्मतं सताम्"[1] के अनुसार यह कहा जा सकता है कि औचित्य पूर्वक रचित वाक्य काव्य मर्मज्ञों को आकृष्ट करता है या उन्हें अभीष्ट होता है। प्रतिभौचित्य में कवि प्रतिभा के उचित प्रयोग से काव्य का चमत्कृत होना कहा गया है। दूसरे शब्दों में कवि प्रतिभा का आवरण प्राप्त कर ही काव्य सुन्दर रूप धारण करता है। नैषधकार द्वारा भी प्रतिभौचित्य एवं अभिप्रायौचित्य का एक साथ निदर्शन उनकी प्रतिभा का ही चमत्कार कहा जा सकता है। यथा–

आननस्य मम चेदनौचिती निर्दयं दर्शनदंशदायिनः ।
शोध्यते सुदति! वैरमस्य तत्किं त्वयावद विदश्य नाधरम् ।।[2]

उडुपरिषदः किं नार्हत्वं निशः किमुनौचिती पतिरिह न यद्दृष्टस्ताभ्यां गणेयरुचीगणः।
स्फुटमुडुपतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन श्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि द्रुतं बत न द्रुतम् ।।[3]

सावादि सुतनुस्तेन कोपस्ते नायमौचिती ।
त्वां प्राप यत्प्रसादेन प्रिये! तन्नाद्रियते तपः ।।[4]

महाकवि माघ ने भी प्रतिभौचित्य का प्रतिपादन अपने महाकाव्य "शिशुपालबधम्" में किया है जहाँ वह कहते हैं कि राजा को उचित है कि वह न तो सदा कठोर बना रहे और न मृदु, उसे समय को देखकर तेज और क्षमा का, पराक्रम और दया का अवलम्बन लेना चाहिए जो न तो सदा अकेले ओजोगुण का ही अपने काव्य में आश्रयण (निबन्धन) करता है और न प्रसाद का ही।[5] भोज का मन्तव्य भी कुछ इसी तरह का है।[6]

उपर्युक्त विवरणों से यह प्रतीत होता है कि नैषधकार काव्यशास्त्र के औचित्य सिद्धान्त से भी परिचित थे। आचार्य क्षेमेन्द्र निश्चित ही उनसे पूर्ववर्ती महाकवि हैं, अतः नैषधकार का उनसे प्रभावित होना स्वाभाविक भी है। नैषधमहाकाव्य की कथावस्तु भी रस, अलंकारादि के औचित्य की कसौटी पर खरी उतरती सिद्ध होती है क्योंकि भावादि के अनुकूल ही श्रीहर्ष ने अपने काव्य को गति प्रदान की है। औचित्य के भीतर रहकर ही रस, रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि अपने गौरव और मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं एवं औचित्य के मूलाधार पर ही इनके तत्त्वों की सत्ता प्रतिष्ठापित है। आचार्य क्षेमेन्द्र का भी कथन है कि औचित्य के बिना रस में न सरसता आ सकती है और न ध्वनि में महत्ता का उद्रेक समाहित हो सकता है। औचित्य के तथ्य पर ही काव्य के समग्र सिद्धान्त आश्रित हैं। यथा–

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः। गुणालङ्कृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः।।[7]

---

1. औ०वि० च० –कारिका- 12
2. नै० 18/135
3. नै० 19/19
4. नै० 20/14
5. तेजः क्षमा वा नैकन्तं कालज्ञस्य महीपतेः। नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः।। शिशु० 2/83
6. औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथमार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढ़िश्च शब्दार्थयोः। विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहिते रेतावदेवास्तु नः।। श्रृंगार प्रकाश, भाग-2, पृ०411
7. औ०वि०च० कारिका-11

आनन्दवर्धन का भी मत है कि शब्द और अर्थ का व्यवहार रसादि पोषक होने पर ही औचित्य सम्पन्न कहा जाता है[1] एवं यदि अनुचित रूप से रीतियाँ एवं वृत्तियाँ भी काव्य में निबद्ध की जाती है तो वह रसभंग का कारण बनती हैं। यथा– यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्तरप्रसिद्धानाम् उपनागरिकाद्यानां' वा यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुः।[2] इसीलिये उन्होंने औचित्य परक काव्यसृजन को कवि का मुख्य कर्म माना। यथा–

वाच्यानां वाचकानाञ्च यद् औचित्येन योजनम्। रसादि विषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः ।।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अनौचित्य को ही रस भंग का मूल कारण घोषित किया है। यथा–

अनौचित्यं तु रसभंगहेतुत्वात् परिहरणीयम्।[4] पाश्चात्य विद्वान् अरस्तू ने भी औचित्य के सन्दर्भ की प्रतिष्ठा स्थापन पर अपनी टिप्पणी देते हुए कहा- "The poet should remember to put the actual scenes of far as possible before his eyes...... He will divise what is appropriate and be least likely to overlook incongruates".[5]

वास्तव में औचित्य भारतीय काव्यशास्त्र का एक व्यवहारिक काव्यतत्त्व है, जिसकी प्रासङ्गिकता न केवल साहित्य (गद्य, पद्य, नाट्य) में बल्कि जीवन में भी विद्यमान है। देखा जाय तो, औचित्य व्यावहारिक मीमांसा का एक गूढ तत्त्व है, जो स्वयं काव्यशास्त्र के किसी सिद्धान्त का सृजन न करके, अनेक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में अन्तर्भूत होकर उनका संयमन, एकीकरण एवं दोष रहित बनाने का उपक्रम करता दिखता है, क्योंकि इसकी व्याप्ति रीति, रस, गुण, अलंकार आदि विविध काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में देखी जा सकती है। क्षेमेन्द्र के मत में रस सिद्ध औचित्य ही काव्य का प्राणतत्त्व है, एवं आनन्द वर्धन के मत में भी रस के अनुसार रीति का औचित्यपूर्ण नियोजन होने पर ही उसकी सफल अभिव्यक्ति सम्भव होती है। आचार्य कुन्तक ने भी वक्रोक्ति के विभिन्न रूपों के निरूपण में औचित्य का समावेश कर उसे महत्त्व प्रदान किया है। आलंकारिकों ने भी औचित्य को महत्त्व देते हुए, औचित्य को अलंकारों के अलंकारत्त्व का कारण माना है, क्योंकि उचित स्थान में प्रयुक्त होने पर ही अलंकार काव्य के शोभाधायक तत्त्व बनते हैं।

---

1. श्री कुप्पूस्वामी ने काव्यशास्त्र के सभी सिद्धान्तों को एक वृत्तचित्र द्वारा परिकाल्पित किया है, जिसमें उन्होंने दो वृत्तों एवं उनके अन्दर अलग-अलग त्रिकोणों की संरचना की। बड़े वृत्त की परिधि को उन्होंने औचित्य माना, एवं उसके अन्दर शीर्ष त्रिकोण को रस, एवं नीचे के कोणों को ध्वनि एवं अनुमिति माना। बड़े वृत्त के अन्दर छोटे वृत्त की परिधि को वक्रोक्ति माना, जिसके अन्दर स्थित त्रिकोण में शीर्ष कोण को रीतिएवं निचले दोनों कोणों को गुण एवं अलंकार माना। उनके मत में भीतरी वृत्त काव्य के वाह्य उपकरण तथा स्वरूप के विवेचन को रेखांकित करता है। – Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit – P. 27....30
2. श्रीहर्षो राजदत्तार्थनिष्पन्नविपुलसामग्रीकः काश्मीरानगमत्। सरस्वतीहस्ते पुस्तकं न्यास्थत्। सरस्वत्या दूरे क्षिप्तं तत्। श्रीहर्षेण कथितम्-'किं जरतीति विकलासि, यन्मदुक्तमपि प्रबन्धमितरप्रबन्धामिव मन्यसे? भारत्याह- भोः परमर्मभाषक! न स्मरसि, यदत्रोक्तं त्वया एकादशे सर्गे चतुषष्टितमे काव्ये–
   देवीपवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
   एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहणादनुगृहाण गणं गुणाणाम् ।।4।।
   एवं मां विष्णुपत्नीत्वेन प्रकाश्य लोके रूढं कन्यात्वं लुप्तनानसि? ततो मया पुस्तकं क्षिप्तम् ।
   याचको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः। योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगहेतवः ।।5।।
   इति वाग्देवी वाचं श्रुत्वा श्रीहर्षो वदति- किमर्थमेएकस्मिननवतारे नारायणं पतिं चक्रुषी। त्वं पुराणेष्वपि विष्णुपत्नीति पठ्यसे। ततः सत्ये किमिति कुप्यसि? कुपितैः किं छुट्यते कलङ्कात्? इति श्रुत्वा स्वयं गृहीत्वा पुस्तकं हस्ते धारितम्। ग्रन्थश्च श्लाघितः सभासमक्षम्।........प्रसृतं नैषधं लोके। - प्रबन्धकोशे- श्रीहर्षकविप्रबन्धः, पृ० 57-58
3. रसाद्यनुगुणत्त्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः। औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तगोद्विविधा स्मृताः।। ध्वन्या० 3/33
4. ध्वन्या०, उद्योत 03, पृ० 163
5. ध्वन्या० 3/32 -Sanskrit pactics - P. 61-62.

यद्यपि आधुनिक युग के दो विद्वानों श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री एवं डॉ० वेंकटराघवन ने औचित्य को स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त मानने का पक्ष रखा है, परन्तु अधिकांश विद्वान् उनके मत से सहमत नहीं हैं, क्योंकि यदि देखा जाय तो न तो इस सिद्धान्त की कोई पूर्ववर्ती परम्परा रही है, और न ही क्षेमेन्द्र के बाद किसी अन्य आचार्य ने इसका समर्थन ही किया है, एवं क्षेमेन्द्र ने तो आनन्दवर्धन के विचारों का ही पल्लवन कर औचित्य सिद्धान्त की नींव रखी थी, इस प्रकार औचित्य सिद्धान्त का पर्यवसान ध्वनि सिद्धान्त में ही हो जाता है किन्तु फिर भी सभी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के मीमांसक के[1] रूप में औचित्य सिद्धान्त का, काव्यशास्त्र के पल्लवन तथा परिवर्धन में अद्वितीय योगदान होने से काव्यशास्त्र में इसका अप्रतिम महत्त्व भी है, क्योंकि यह सिद्धान्त काव्यमनीषियों को दोषरहित काव्य प्रबन्ध की रचना की प्रेरणा तो अवश्य ही देता है। यही कारण है कि अन्य महाकाव्यकारों के साथ-साथ नैषधकार भी इस सिद्धान्त से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके, और नैषध महाकाव्य को काव्यशास्त्रीय दोषों से दूर रखा, इसका प्रमाण राजशेखर सूरि द्वारा रचित प्रबन्धकोश में उद्धृत श्रीहर्ष विषयक वर्णन है, जिसमें यह अभिहित किया गया है कि "कश्मीर में सरस्वती देवी एवं राजा माधवदेव ने इस ग्रंथ की निर्दोषता का प्रमाण पत्र श्रीहर्ष को दिया था।[2] तदनन्तर नैषधमहाकाव्य की प्रतिष्ठा संसार में स्थापित हुई। नैषध महाकाव्य एवं श्रीहर्ष विषयक विभिन्न विद्वानों की प्रशंसात्मक उक्तियों से भी नैषधकार एक विख्यात काव्य शास्त्रविद् एवं उनका यह ग्रंथ विविध काव्य सिद्धान्तों का समन्वित पुंज रूप गम्भीर काव्य रत्न सिद्ध होता है।[3] स्मरणीय है कि नैषध जैसे निर्दोष काव्य की काव्यशास्त्रीय मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में तो किसी भी समालोचक की दृष्टि नहीं गयी, किन्तु फिर भी कुछ विद्वानों ने कथावस्तु की सुसम्बद्धता एवं प्रवाह, भाषा शैली कल्पनाओं एवं उनमें जटित सूक्तियों तथा श्रीहर्ष के पाण्डित्य प्रदर्शन को लक्ष्य लेकर इस महाकाव्य को साधारण या निम्न महाकाव्य मानने की अभीप्सा व्यक्त की है। उनमें यदि डॉ० एस०एन० दास गुप्त और एस०के० डे ने नैषध की विषयवस्तु को प्रवाहहीन, असम्बद्ध एवं कृत्रिम कल्पनाओं से युक्त मानते हुए श्रीहर्ष की नैषध में पग-पग

---

1. रसाद्यनुगुणत्त्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः। औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तगोद्विविद्या स्मृताः।। ध्वन्या० 3/33
2. रसगंगाधर, पृ० १९५
3. श्रीहर्षात्कविराजतः कृतिरभूत् सा कापि लोकोत्तरा यस्याः खेलनभूर्मनीषिहृदयप्रासादशृङ्गस्थली ।
   नेपथ्यस्य विधिर्नवार्थघटना सख्यो रसव्यक्तयः शीलं शब्दनयः स्वयंवरपतिश्चैष स्वयं नैषधः ।। श्रीविश्वेश्वरभट्ट (T.C. III, pt, I.C.Pa. 3902
   - काव्ये नैषधनाम्नि धाम्नि सुबृहत्यर्थस्य मुक्ताऽवधे भावान् दूरनिगूहितान् कथमहं सर्वान् प्रमातुं क्षमः।
     एतस्मिन् द्युतिमन्ति सन्ति सुबहून्येतानि मध्ये भुवः। साकलेन लभेत कोऽपि खनिता वज्राणि वज्राकरे।। गदाधर (O.I.Ms, No. 1353, st. 3)
   - शब्दार्थोभयमूलशक्ति कलिता सद्वृतबन्धोज्ज्वला-
     नानातर्कशिफाच्छलच्छदवृता भावप्रसूनाङ्गया (वृता)
     श्रृंगारैकफला रसौघबिलसत्पक्वा जगज्जीविका
     श्रीहर्षोक्तिमयी महौषधिलता यस्येवि (?) कस्तं जयेत्।। विद्याश्रीधरदेव, (T.C. II pt. IC, P. 3945)
   - यः साहित्यरसामृताब्धिलहरी जालेषु खेलाचलो-
     यश्चात्यर्थगंभीर तर्क जलधेर्मांथे स मंथाचलः।
     मीमांसायुगसिन्धुतारणविधौ यः कर्णधारः परः
     केषामेष मनो विनोदयति न श्रीहर्षनामा कविः।। रामचन्द्रशेष (Tanjore 19, P- 2550)
   - अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो-
     वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्र्याण्यपि ।
     नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीप विहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
     व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः ।। विद्याधर (O.I. Ms. No.9, Folio 278)
   - टीकां यद्यपि सोपपत्तिरचनां विद्याधरो निर्ममे-
     श्रीहर्षस्य तथापि न त्यजति सा गंभीरतां भारती ।
     दिक्कूलंकषतां गतैर्जलधरैरुद्गृह्यमाणं मुहुः -
     पारावारमपारमम्बु किमिह स्याज्जानुमात्रं क्वचित्।। चाण्डू पण्डित (BORI, D13, P 480)

पर की गयी पाण्डित्य प्रदर्शन की आलोचना की[1] तो डॉ० एम० कृष्णमाचार्यर ने व्याकरणात्मक कमियों, भाषा की क्लिष्टता, कृत्रिम कल्पनाओं की अधिकता के कारण इसे सामान्य जन के समझ के परे बताया[2] एवं आधुनिक विद्वान् प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डे ने विषय वस्तु की प्रवाहहीनता, असम्बद्धता एवं सूक्तियों में विरोधी विचारों की अन्विति दिखलाते हुए इसे साधारण काव्य का या लघुचित्र काव्य मानते हुए नैषध को विरोधी विचारों, गर्वोक्तियों तथा चित्र विचित्र उक्तियों का ऐसा घना जंगल माना जिस जंगल के वृक्ष फूल और फल से हीन हैं एवं काव्य की तुलना दुर्भिक्ष के रेखांकन एवं सूखे वृक्ष से की।[3]

यह तो सच है कि नैषधकार की ग्रंथ एवं स्वयं के प्रति रचित किंचित् सूक्तियों में विरोधाभास का पुट सम्पृक्त है जैसे कि वह कहते हैं कि मैं समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार करता हूँ और राज्यसभा में उसे ही पान के दो बीड़े मिलते हैं। परन्तु जो परब्रह्म से साक्षात्कार कर रहा है उसे स्वयं के लिए पान के दो बीड़ो को प्राप्त करने का उल्लेख करना या तो असंगत है और या तो नैषधकार की अहंमन्यता का सूचक है कि केवल उसे ही पान के दो बीड़े राज्यसभा में आदर के रूप में मिलते थे, अन्य किसी को नहीं। उसी तरह जब वह कहते हैं कि उनके ही वाणी प्रवाह में परमानन्ददायी अमृत की प्राप्ति होती है, एवं उनकी काव्यवाणी विद्वानों के हृदय में अमृत बनकर आनन्ददायिनी होती है आदि में उन्होंने स्वयं की पाण्डित्य गर्वोक्ति का ही प्रदर्शन किया है[4] किन्तु अन्यत्र उनकी सूक्तियों में कहीं भी विरोधाभास नहीं दिखता। रही कृत्रिम कल्पनाओं की उड़ानों एवं विषयवस्तु के सुसम्बद्धता की बात, तो इस संदर्भ में यही कहना अभीप्सित प्रतीत होता है कि उपर्युक्त विद्वानों ने श्रीहर्ष के साथ न्याय नहीं किया है क्योंकि कल्पनाएँ मानसजात एवं लोक विहारिणी होती हैं, वश मन में कल्पना का संसार रचने की असीम क्षमता एवं कार्यानुरूप परिवेश होना चाहिए क्योंकि बिना परिवेश के सृजन सम्भव नहीं होता, और वैदुष्य सम्पन्न कवि के मन का परिवेश तो अनन्त होता है, अनेकानेक आयाम एवं अभिव्यक्तीकरण की सामर्थ्य उसके पास होती है, तथा नैयायिकों के कल्पनावितान से कहीं अधिक सूक्ष्म और विस्तृत कवि का कल्पना लोक होता है जो व्यावहारिकता की अनुभूति भी कराता है, फिर श्रीहर्ष जैसे कविपण्डित के लिए, जिन्हें राज्याश्रय मिलने के साथ-साथ त्रिपुरा देवी से असीम वैदुष्य का वरदान मिला हो, उसके लिए कल्पनाओं से रमणकरना, बुद्धि व्यायाम एवं स्वयं की वैदुष्यता का स्थापन ही होगा क्योंकि जिस प्रकार राग से ही पुरुष स्त्री से समागम करता है, चाहे स्त्री समागम योग्या हो या अयोग्य, परन्तु राग की प्रवृत्ति तो दोनों में एक सी ही होती है उसी प्रकार नैषधकार ने कल्पनाओं का जो सभागम नैषध में किया है, हो सकता है कि वह सामान्य जन के समझ के परे हों, लेकिन यह तो "नैषधं विद्वदौषधम्" जैसी उक्ति से स्पष्ट है कि यह काव्य विद्वानों या गुरु चरणों में बैठकर आनन्दपान करने वाले जिज्ञासुओं के लिए है। अवधेय तथ्य यह है कि जिस प्रकार गद्यकाव्य में कहाकवि बाण की कल्पनाओं की आज तक कोई भी विद्वान् समानता नहीं कर सका, उसी तरह काव्य साहित्य में नैषध में वर्णित कल्पनाओं को भी कोई विद्वान् लाँघ नहीं सका है।

---

1 ......Sriharsa not only shares but emphasises to an extreme degree, the worst artificialities of his tribe and no sound hearted, sound minded reader will ever include him in the small class of great poets. Dr. S.N. Das Gupta and S.K. Day. A History of Sanskrit Literature. Val I, P- 327----331

2. His vocabulary is extensive but the language lacks lucidity and the reader can rarely approach the poem with confidence. Sriharsa inaugurated a new model of poetic composition. He was a logician and philosopher and the ideas of those sciencs are oftet imported in to his discriptions. He has no particular regard for the artificial precepts of poetics and in many instances rhetoricians discover faults of composition. Hisnory of classical Sanskrit literature. P. 180-181

3. कवि और काव्य शास्त्र पृ० 65..... 91

4. नै० प्रशस्ति श्लोक 1..4

इस संदर्भ में वर्जिल एवं दांते के कथन श्रीहर्ष के ऊपर बिल्कुल सटीक बैठते हैं।[1] साथ ही यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि जो विशुद्ध मनोमयी सृष्टि (काव्य) है, उसमें कल्पना और ज्ञान इन दोनों के आयाम जुड़े ही रहते हैं एवं श्रीहर्ष ने इन दोनों तत्त्वों का समन्वय नैषध में किया है। साथ ही यह भी अवधेय तथ्य है कि क्रिया कर्ता के अधीन होती है, एवं ज्ञान विषय के अधीन होता है जैसा कि "ज्ञानं वस्तुतन्त्रम्" जैसे उक्ति से स्पष्ट है। इसलिए श्रीहर्ष ने जो अपनी प्रतिभा का चमत्कार इस महाकाव्य में दिखाया है उसकी प्रशंसा ही की जानी चाहिए। आचार्य आनन्दवर्धन भी कहते हैं कि प्रतिभा की अनन्तता होने पर कवि के लिए अपने निबन्धन हेतु काव्य अर्थ की कभी इति नही होने पाती।[2] बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति भी भाषा, कल्पना और ज्ञान के समन्वय पर बल देते हैं और मानते हैं कि कवि की कल्पना, क्रिया एवं ज्ञान में एक प्रकार सन्तुलन होता है एवं जहाँ भी ज्ञान होता है, वहाँ कल्पना का एक ततव अवश्य रूप से विद्यमान रहता है, अतः जो कल्पना का व्यापार है वह प्रत्येक ज्ञान के साथ जुड़ा रहता है क्योंकि भर्तृहरि ने भी कहा है "न सोऽस्तिप्रत्ययो लोको यः शब्दानुगमादृते" एवं "विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।" निःसन्देह कवि की सभी कल्पनाएँ पूर्णरूप से या यह कहलें निरंकुश रूप में स्वच्छन्द या स्वतंत्र होती है, क्योंकि वह अपने संसार का मालिक स्वयं होता है। (कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः)। पृथ्वी का हृदय अमृतमय तत्त्वों से भरा परा है ऐसी मान्यता अथर्ववेद में मिलती है यथा "हृदये नावृतममृतं पृथिव्याः" तब तो नैषधकार जैसे मनीषी कवि के श्रेष्ठ कल्पनाओं के विवरण उनके वैदुष्य के परिमापक ही होंगे न कि निदांपरक। अतएव उपर्युक्त समीक्षकों की आलोचना का कोई मतलब ही नहीं निकलता, हाँ यदि केवल आलोचना के लिए आलोचना करनी है, तब की बात और है, और ऐसी ही कुछ सम्मति उपर्युक्त समालोचकों के लिए मानी जानी चाहिए।

अगर कल्पनाओं को लक्ष्य लेकर आलोचना ही करनी है, तब तो इस परिधि में कालिदास भारवि, माघ, भवभूति आदि महाकवियों को भी समेटा जा सकता है, क्योंकि कालिदास ने भी मनगढ़न्त कल्पनाओं को अपने काव्य में जगह दी है। मेघदूत में वह कहते हैं अलकापुरी में विलास और वैभव का कल्पना लोक है, फर्श मणिनिर्मित, हर्म्यस्थल सितासितमणियों से जटित हैं। यक्ष बालाएँ कनकसिकता फेंक कर रत्नदीपों को बुझाती हैं पर वे बुझते नहीं, उनकी सुरतजनित अंग ग्लानि को दूर करने के लिए चन्द्र कान्ति मणियों से जलबिन्दु टपकते हैं एवं यक्ष की वापी में स्वर्णकमल खिलता है और उद्यान में इन्द्रनीलमणि निर्मित क्रीड़ाशैल हैं आदि आदि।[3] यही स्थिति कुमारसम्भव के दशम, चतुर्दश एवं पंचदश सर्ग में तथा रघुवंश के नवें, दशवें एवं ग्यारहवें सर्ग में देखी जा सकती है। भारवि के किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, दशम, द्वादश एवं पंचदश सर्ग तथा माघ के शिशुपालवधम् के चतुर्थ सर्ग (रैवतक वर्णन) षष्ठ सर्ग (ऋतु वर्णन), सप्तम सर्ग (वनविहार वर्णन), अष्टम सर्ग (जल बिहार वर्णन) आदि अनेकों सर्गों में कल्पनाओं की भरमार, जो कृत्रितमा से भरी पड़ी है, का वर्णन उपलब्ध होता है तब नैषधकार की ही क्यों आलोचना की गयी? यह विचारणीय तथ्य हैं। इस प्रश्न के समाधान में समीक्षकों की पूर्वाग्रही दृष्टि को प्रधान कारण माना जा सकता है। यही स्थिति नैषध की विषयवस्तु के प्रवाह एवं अन्य काव्यों के कथारस के प्रवाह में देखी जा सकती है, क्योंकि कवि की निगाह जिस वर्णन संदर्भ में जाती है, उसी में

---

1. They can do all because they think, they can. - Virgil
   Nobility generally express in all things the perfection of their abture. - Dante
2. न काव्यार्थ विरमोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः । ध्वनवा० 4/1,3
3. उत्तमेघ 1.............22 श्लोक

तब तक रमी रहती है, जब तक उसकी मेधाशक्ति को उस वर्णन संदर्भ के कुछ तथ्य मिलते रहते हैं। नैषधकार कोई उपन्यासकार नहीं थे कि पूर्व की विषयवस्तु से लगातार तारतम्य बनाये रहते, वह तो महाकाव्यकार थे, एवं तारतम्यता की बात महाकाव्यकार में घटित करना उनकी कवित्त्व शक्ति एवं सहज रचनाधर्म को तिरस्कृत करना ही होगा। आचार्यों ने भी साहित्य को सभी विद्याओं का निचोड़ कहा है यथा "पंचमी तु साहित्य विद्या, सा सर्वासां भाषानां निष्यन्दः" इस रूप में यदि नैषधकार ने साहित्य के अन्तर्गत वेदों, उपनिषदों एवं अन्य शास्त्रों की विषयवस्तु को पिरोया है, तब तो उनके काव्य को एक श्रेष्ठ काव्य ही माना जाना चाहिए।

साथ ही यहाँ यह भी कहना अभीप्सित होगा कि श्रीहर्ष ने अपनी कविता कान्ता की अभिव्यक्ति के लिए समग्रगुण गुम्फित ललिता वैदर्भी का आश्रय लेकर काव्यसृजन किया है जिससे उनकी ललित पद शय्या और शब्द शक्ति अत्यधिक श्लाध्य हो गयी है। काव्य शास्त्र के लगभग सभी सम्प्रदायों यथा रस रीति एवं गुण, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति तथा औचित्य के विवरण नैषध में वर्णित मिलते हैं। नैषध में काव्य सौन्दर्य पद-पद पर परिलक्षित होता है जिसकी परिगणना "नैषधे पद लालित्यं" उक्ति से भी किया जा सकता है। कहीं प्रसाद, कहीं ओज, और कहीं माधुर्य गुण, एवं तीनों की क्रमशः अन्विति पद लालित्य में सोने में सुहागे का काम करती है जिससे काव्य की लयात्मकता और संगीतात्मकता श्रुति सुखद तथा मनोभावों के लिए आह्लादक बन जाती है साथ ही सहृदय की हृदतंत्री को प्रभावित किये बिना नहीं रहती, जैसे हंस का दमयन्ती के प्रति कथन कि "अहो! शिशुत्त्वं तव खण्डित न स्मरस्य सख्या वयसाप्यनेन" एवं "तस्यैव वा यास्यासि किं हस्तं दृष्टं मनः केन विधेः प्रविश्य" तथा दमयन्ती का कथन "का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहा- भिलाषं कथयेदलज्जा।" आदि।

परन्तु उपर्युक्त विवरण के साथ साथ एक यथार्थ सत्य जो नैषध महाकाव्य के आलोडन विलोडन से मनमस्तिष्क में उट्टंकित हुए बिना नहीं रहता, वह यह कि वैदुष्य का व्यामोह श्रीहर्ष को स्थान स्थान पर खींच ही लेता है। शायद यही कारण है कि उन्होंने अपने नायक नल के वर्णन को गौण कर दिया एवं अपने वैदुष्य के वितान को विस्तृत। इस प्रकार परोक्ष रूप से उन्होंने स्वयं को ही नायक पद पर अभिषिक्त जैसा कर दिया है, इस तथ्य की पुष्टि में नैषध के सर्गान्त श्लोकों में उनके स्वयं के विवरण देने को भी प्रमाण रूप में रखा जा सकता है, जब कि काव्यपरम्परा में नायक के वर्णन को महत्ता देने की परम्परा रही है, परन्तु उन्होंने इस परम्परा का अनुपालन नहीं किया है एवं इस तथ्य को उन्होंने माना भी है कि वह कवियों द्वारा अदृष्ट मार्ग के पथिक हैं।[1] इस रूप में नैषधकार काव्यपरम्परा के उल्लंघन के दोषी माने जा सकते हैं, परन्तु यदि नैषधकार मम्मट एवं दण्डी से पूर्ववर्ती होते तो निश्चित ही वह उनके द्वारा निपुण कवि कर्म के नाते समादृत होते। जैसा कि आचार्य मम्मट मानते हैं कि "विगलितवेद्यान्तरमानन्दं यत्काव्यं लोकोत्तरावर्णना निपुणकविकर्म तत्।" तथा वैदुष्य की सम्पन्नता के कारण आचार्य दण्डी द्वारा भी श्रीहर्ष प्रशंसित होते, क्योंकि दण्डी भी काव्यादर्श में लिखते हैं कि -

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलुकीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्त्वेऽपि जनाः कृताश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ।।

---

1. तस्यागादयमष्टम कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महाकाव्ये। नै. 8/109

यदि कालिदास की कृतियों को 'पद्मिनी', भारवि की कृति को 'संखिनी', एवं माघ की कृति को 'चित्रिणी' को संज्ञा विद्वानों ने दी है, तो श्रीहर्ष की इस कृति को (विशालाकृति के कारण) "हस्तिनी" नायिका की संज्ञा दी जा सकती है।[1] कुछ विद्वानों ने यदि कालिदास के काव्य को "द्राक्षापाक", भारवि के काव्य को "नारिकेलपाक" की संज्ञा प्रदान की है, तो भामह के शब्दों में "नैषधीयचरितम्" महाकाव्य को 'कपित्थपाक' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है[2], परन्तु कुछ विद्वानों ने नैषध महाकाव्य को नैषधं विद्वदौषधम् कहा है अतः इसे औषधिपाक की संज्ञा भी दी जा सकती है, लेकिन वास्तव में इस महाकाव्य को 'अमृतपाक' की संज्ञा देना ही, समीचीन, न्यायसंगत एवं उपयुक्त होगा।[3] प्रो. सुशील कुमार डे ने भी नैषधमहाकाव्य में वर्णित अतिशयोक्ति परक कल्पनाओं की उड़ानों की आलोचना करते[4] हुए भी महाकाव्यों में अन्तिम महाकाव्य रत्न माना है।[5] नवीन कल्पनाओं का निरूपण तो असीम मेधाशक्ति की ही उपज होती है, एवं कवि तो कल्पना जगत का सम्राट होता है, इस रूप में नैषधकार एवं नैषधमहाकाव्य दोनों ही महनीय सिद्ध होते हैं।

1. ब्रह्मर्षि मुतप्पा शास्त्री एवं वेंकट सुब्रह्मण्यम शास्त्री, एवं श्री कुप्पू स्वामी शास्त्री का कथन - Foreward to the Naisadhakavayaratnam by K.L. Vajasary Sastri, P. 6-10
2. अग्रयमसुनिर्भेद्यं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्। काव्यं कपित्थमामं यत्केषाञ्चित्सदृशं यथा।। काव्या लं0 5/62
3. It is diffuse, descriptive, figurative often playful and occasionally interpersed with excellent remarks and moral reflections. – W. Yates (Asiatic Researches, Val. 20, P. 323)
4. Sriharsa no only Shares but emphasises to an extreme degree the worst artificiality's of his tribe, and no sound. Hearted, sound-minded reader will ever include him the small class of greet poets. Even a rhetorical writer. Sriharsa does not rank high, for his rhetoric or imagination, but because it is loved for its own sake. It indicates not only a tendancy towards the artificial, but an inability to achieve the Natural. — H.S.L.- S.K. Day, P. 330
5. The only Mahakavya which need detain us is the Naisadhacarita of Sriharsa, not so much for its intrinsic poetic merit as for the interesting evidence it affords of the type of enormously laboured metrical composition which was widely and enthusiastically favoured. The work is regarded as one of the five great Mahakavyas in Sanskrit, It is undoubtedly the lost master piece of industry and ingenuity that the mahakavya can Show but to class it with the masterpieces of Kalidas, Bharavi and even Magha is to betray an ignorance of the difference between poetry and its Counterfeit. H.S.L. - S.K. Dey. P. 325

पंचम अध्याय

नैषधीयचरितम् में कामशास्त्रीय सन्दर्भ

कामशास्त्र

भूमिका :-

भारतीय संस्कृति का मूल पुरूषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) है। इसमें त्रिवर्ग तो भारतीय संस्कृति का संवाहक तत्व ही है। त्रिवर्ग में धर्म, अर्थ एवं काम पुरूषार्थ की परिगणना की जाती है। कामशास्त्र में काम पुरूषार्थ ही प्रधान रूप में ग्राह्य है, परन्तु अर्थ की तरह काम भी धर्म पुरूषार्थ से नियंत्रित होने पर ही जीवनमूल्य बनता है । कामशास्त्र के मर्मज्ञ कामसूत्रकार वात्स्यायन ने त्रिवर्ग की सत्ता का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ के आरम्भ में ही इनकी वन्दना की है।[1] भारतीय संस्कृति और साहित्य में परम्परानुसार ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करना चाहिए इसीलिए इस शास्त्र में देवी देवताओं की वन्दना न करके ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय धर्म, अर्थ एवं काम की वन्दना वात्स्यायन ने की है क्योंकि इस शास्त्र में मूलरूप से धर्म, अर्थ एवं काम के आचरण का उपदेश दिया गया है। विश्व के मूल में काम को प्रथम माना गया है।[2] परन्तु जिस प्रकार धर्म और अर्थ ये दोनों पुरूषार्थ लोकस्थिति के मुख्य साधन होने से परम उपादेय हैं, उसी प्रकार काम पुरूषार्थ भी प्राणियों की लोक यात्रा अर्थात् जीवन निर्वाह एवं सन्तति संरक्षण का मुख्य साधन होने से अत्यन्त उपादेय है। "काम्यतेइति कामः"। इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषयों और इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला मानसिक आनन्द ही मुख्यतया काम कहलाता है।[3] इस प्रकार कामशास्त्र कामकला का विवेचन करने वाला प्रणयात्मक विज्ञान के साथ-साथ समाजशास्त्रीय विज्ञान भी है। जहाँ मधुसूदन सरस्वती अपनी कृति 'प्रस्थानभेद' में कामशास्त्र को आयुर्वेद के अन्तर्गत बतलाते हैं।[4] वहाँ वात्स्यायन ने काम को 'आहार' के समान तथा धर्म एवं अर्थ का फलभूत, तत्व माना।[5] अतएव कामशास्त्र का एक आदर्श समाज की स्थापना में अप्रतिम योगदान है।

नैषधीयचरित में कामशास्त्रीय चर्चा वृहद् रूप में मिलती है । इसमें उपलब्ध विवरणों से यह प्रकट होता है कि नैषधकार की इस शास्त्र के वर्णन में असीम अभिरूचि थी, तभी तो उन्होंने स्वयं कहा कि महाकवियों (व्यास, कालिदास इत्यादि) ने जिन कामविलासों की कल्पना नहीं की, और अब तक कुट्टनियों ने भी जिसकी शिक्षा नहीं पायी, मैं उसका भी वर्णन करने जा रहा हूँ।[6] नैषध में कामशास्त्रीय संदर्भों को देखकर ऐसी प्रतीति होती है, मानो वह कामशास्त्र का लघुरूप है, एवं यह तथ्य भी ध्वनित होता है, कि नैषधकार ने किसी कामशास्त्रीय ग्रंथ यथा कामसूत्र आदि को सामने रखकर नैषधीयचरित में नल एवं दमयन्ती की मनोदशा का उल्लेख किये हों। वैसे तो कामशास्त्र की विषयवस्तु के बीज, वेदों,

---

1. धर्मार्थकामेभ्योनमः - कामसूत्र 1/1/1
   शास्त्रे प्रकृतत्वात् - कामसूत्र 1/1/2
2. कामस्तदग्रे समवर्तताग्रे - ऋग्वेद, सृष्टि सूक्त, 10 मण्डल
   "कामस्तदग्रे समवर्तताधि। एवं कामो जसे प्रथमो। काम एव आदिदेवः" – अथर्ववेद 19/52/1
3. श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः/ स्पर्शविशेषविषयात्त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धफलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः। - कामसूत्र 1/1/11, 12
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास - डॉ0 ए0बी0 कीथ, अनुवादक मंगलदेवशास्त्री, पृ० 590
5. शरीरस्थिति हेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः। फलभूताश्च धर्मार्थयोः। कामसूत्र 1/2/37
6. तत्र सौधसुरभूधरे ययोराविरासुरथ कामकेलयः । ये महाकविरप्यवीक्षिताः पांसुलाभिरपि ये न शिक्षिताः ।। नै० 18/29

उपनिषदों, ब्राह्मण एवं पुराणों में ही उपलब्ध मिलते हैं।[1] किन्तु सामान्य जन के लिए नैषध में उल्लिखित कामशास्त्रीय विषय सामग्री ही उसे काम कला में पटु बना देगी ऐसा विश्वास है। धर्मशास्त्रों में जीवनकाल को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास एवं इन्हीं आश्रमों में क्रमानुसार विद्यार्जन एवं ब्रह्मचर्य संयमन, अर्थाजन ,धर्माजन तथा कामसेवन एवं वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम में धर्मार्जन एवं मोक्ष प्राप्ति प्रवृत्ति का विधान बताया गया है। मनुस्मृतिकार कहते हैं "परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ" इसी तथ्य का समर्थन करते हुए महाकवि कालिदास ने भी कहा है –

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ।।[2]

नैषधकार को भी धर्म, अर्थ एवं काम में समन्वय की बात अभीष्ट लगती है साथ ही साथ उन्होंने जोर देकर अर्थ एवं काम में धर्म का वर्चस्व स्वीकार किया। ग्रंथ के इक्कीसवें सर्ग में नल द्वारा स्नान, ध्यान, पूजातर्पण एवं देवार्चना तथा दमयन्ती द्वारा चौदहवें सर्ग में की गयी देवार्चना विवरण से श्रीहर्ष ने इस तथ्य की पुष्टि की है। पंचनली प्रसङ्ग में नल की प्राप्ति हेतु दमयन्ती ने देवताओं को प्रसन्न करने हेतु उनकी वन्दना की[3] एवं उन्हें कल्पवृक्ष की उपमा दी।[4] चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हेतु नल भगवान श्री विष्णु की वन्दना में कहते है कि- प्रभो! चारों पुरुषार्थ आपसे सुलभ है, क्योंकि धर्म का कारण पुण्यसलिला साक्षात् गङ्गा आपके चरणों में है, अर्थ का मूल साक्षात् लक्ष्मी आपके हृदय में ही रमण करती हैं, काम के

---

1. – तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्- छान्दो०उप० 6/2/3
   – यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु - यजुर्वेद ।
   – सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम् - वृ०उ० 2/4/11
   – आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति। तै०उ० 3/6
   – आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरूषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् इत्यग्रे व्यहरत् ततोऽहं नामाभवत्। वृ०उ० 1/4/1
   – धर्मविरूद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ् - गीता 7/11
   – पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः एकलोवेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यतिः। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, प्रथम अध्याय, 1 पाद पृ० 17
   – सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च-तै०उ० 2/6, छान्दोग्य उ0 3/2/3, ऐतरेय 1/3
   – आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नात्यकिंत्यन मिषत्। स ईक्षत, लोकान्नु सृजा इति' स इमाँल्लोकानसृजत, ऐत (1/1/1)
   – स ईक्षांचक्रे । स प्राणमसृजत – प्रश्न 6/3
   – शिवशक्तिसमायोगात् जायते सृष्टि कल्पना - अथर्ववेद 9/2/19
   – भूता वा वर्तमाना वा अनित्यावापि सर्वशः । कामात् सर्वे प्रवर्त्तन्ते, लीयन्ते बुद्धिमागता ।। सांख्य दर्शन
   – शक्ति शक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवमिदं जगत्। स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं स्त्रीपुंसात्मकमेव च। परमात्मा शिवः प्रोक्तः शिवा मायेति कथ्यते। पुरूषः परमेशानाः प्रकृतिः परमेश्वरी शंकरः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा माहेश्वरी ।। - शिवपुराण
   – यथा वै पुरूषः विषुवान् । तस्य यथा दीक्षोऽर्धः एवं पूर्वोऽर्द्ध विषुवतः। यथोत्तरार्द्धः एवमुत्तरोऽर्द्धोविषुवतः तस्मादुत्तर इत्याचक्षते प्रबाहुक्ज्ञतः शिर एव विषुवान् । विदल संहित इव वै पुरुषः । तद्धापि स्यूमेव मध्येशीर्ष्णो विज्ञायत इति
   – ऐ० ब्रा० 8/7/2/3 ।
   – अर्द्धमुहैतदात्मनो यन्मिथुनम्। यथा वै स मिथुनेन अथ सर्वोऽथ कृत्स्नः - वाजिश्रुतिः
   – श0ब्रा0 14/4/2/25, छा0उ 7/13
   – अथर्ववेद - 14/2/31 ——14/2/66 ।
2. – रघुवंश – 17/57
   – अनेन धर्मः सविशेषमद्य में त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि ।
   त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ।। कु० 5/38
3. अथाधिगन्तुं निषधेश्वरं सा प्रसाद नामाद्रियतामराणाम् ।
   यतः सुराणं सुरभिनृणां तु सा वेधसाऽसृज्यत कामधेनुः।। नै० 14/1 ।
4. प्रदक्षिणाप्रक्रमणालवालविलेपधूपावरणाम्बुसेकैः ।
   इष्टञ्च मृष्टञ्च फलं सुवाना देवाहि कल्पद्रुमकाननं नः ।। नै० 14/2 ।

अधिष्ठातृ देव कामदेव (यदुवंशी प्रद्युम्न) स्वयं आपके पुत्ररूप हैं और मोक्षदाता परब्रह्म रूप आप स्वयं है।[1] इस प्रकार धर्मार्थकाममोक्षरूप चारों पुरुषार्थ आप में निर्विरोध निवास करते हैं। अतएव आपकी सेवा से चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति सहज में ही हो जाती है । श्रीहर्ष काम पुरुषार्थ की अपेक्षा धर्मपुरुषार्थ की प्रधानता स्वीकार करते हैं, तभी तो वह नल के द्वारा विलास प्रवृत्त दमयन्ती को कहलवाते हैं, यदि तुम्हारे चित्त में कोई अवसाद न हो तो जिस तप से तुम्हें मैंने प्राप्त किया, वह तप कर लूँ।[2] "नल का अपनी पत्नी को सन्तुष्ट कर फिर धर्मार्जन में प्रवृत्त होना" ऐसे विवरण के उल्लेख से स्पष्ट है कि श्री हर्ष के साथ-साथ नल भी धर्मशास्त्र एवं कामशास्त्र ज्ञाता थे। वात्स्यायन को भी काम से श्रेष्ठ अर्थ एवं अर्थ से श्रेष्ठ धर्म अभीष्ठ है।[3] चाणक्य का कथन है "धर्मस्य मूलमर्थः अर्थस्य मूलं राज्यम्, राज्यमूल मिन्द्रियजयः", शायद इसीलिए वात्स्यायन ने अर्थ शास्त्र एवं कामशास्त्र के अध्ययन को पुरुषों के साथ स्त्रियों को भी करने की सलाह दी।[4] एवं वयानुकूल धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के आचरण का विधान किया।[5] महाभारत में भी कहा गया है –

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नहि कश्चिच्छृणोति माम् । धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

मनु ने भी कहा कि न मांस भक्षण में दोष है और न मैथुन करने में दोष है क्योंकि प्राणियों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है, हाँ निवृत्त हुआ जाये, तो महाफल (मोक्ष) मिलता है। परन्तु काम का बलान्नियंत्रण एवं अतिशय भोग ये दोनों प्रवृत्तियाँ उसी तरह हानिकर हैं जिस तरह कम खाने या न खाने व्यक्ति कमजोर हो जाता है एवं अधिक भोजन कर लेने पर अजीर्ण इत्यादि रोग पैदा हो जाते हैं । इसलिए शास्त्रनिर्देशित विधि ही मनुष्यों को अपनानी चाहिए।[6] मानव मन में उत्पन्न ईप्सा, समीहा, संकल्प, कामना, स्पृहा भी काम के वृहद रूप (अर्थ) है। काम (इच्छा संकल्प) द्वाराप्रेरित मनुष्य ही किसी कार्य को करने में प्रवृत्त होता है, अकामी (आलसी) नहीं। मीमांसाकार ने कहा भी है – "चोदनालक्षणो धर्मः", मनुस्मृतिकार का कथन भी इसी की पुष्टि करता है ।

---

1. धर्मबीज सलिला सरिदङ्घ्रवर्थमूलमुरसि स्फुरति श्रीः ।
   कामदैवतमपि प्रसवस्ते ब्रह्म भुक्तिदमसि स्वयमेव ।। नै० 21/110
2. इति व्याजाकृत्वालिषु चलितचित्तां सहचरी । स्वयं सोऽयं सायंतनविधिविधित्सुर्बहिरभूत् ।। नै० 21/162 उत्तरार्द्ध
   सावादि सुतनुस्तेन कोपस्ते नायमौचिती । त्वां प्रापं यत्प्रसादेन प्रिये! तन्नद्रिये तपः ।। नै० 20/14
3. एषां समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् – कामसूत्र 1/2/14
4. धर्मस्यालौकिकत्वात्तदभिदायकं शास्त्रयुक्तम् । उपायपूर्वकत्वादर्थसिद्धेः। उपायप्रतिपत्तिः शास्त्रात्।।–कामसूत्र 1/2/16
   संप्रयोगपराधीनत्वात् स्त्रीपुंसयोरु पायमपेक्षते – कामसूत्र 1/2/18
5. बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान्, कामं च यौवने, स्थविरे धर्ममोक्षं च, अनित्यत्वादायुषो यथोपवादं वा सेवेत्, ब्रह्मचर्यमेवत्वा विद्याग्रहणात् । – कामसूत्र 1/2/2 6
6. – द्वे धारे स्वतंत्ररूपत्वात् - मीमांसा धर्मपादसूत्र - 55
   – स्त्री धारा पुंधारामयी कैवल्याधिकारिणी - मीमांसा धर्मपादासूत्र - 56
   – न कामांश्चरेत्। धर्मार्थयोः प्रधानयोरेवमन्येषां न सतां प्रत्यनीकत्वात्।
   अनर्थजनसंससर्गमसद्व्यवसायमशौचमनायतिं चैते पुरुषस्य जनयन्ति । कामसूत्र 1/2/32
   – तानि सर्वाणि संयम्य युक्तमासीत् मत्परः । वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।
   ध्यायतो विषयापुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्कोधोऽभिधीयते ।।
   कोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रँशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणस्यति ।। गीता 2/61, 62, 63
   – एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपाचरन्नरः, इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते । – कामसूत्र 1/2/39
   किं स्यात्परत्रेत्याशङ्का कार्ये यस्मिन्नजायते । न चार्थघ्नं सुखंचेति शिष्टास्तत्र व्यवस्थिता ।।
   त्रिवर्गसाधकं यत् स्याद्द्वयोरेकस्य वा पुनः। कार्यं तदपि कुर्वीत, न त्वेकार्थं द्विबाधकम् - कामसूत्र 1/2/40
   – प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति? - गीता ।
   – यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ।। - गीता 16/23

अकामस्या कियाकाश्चिद् दृश्यते नहे कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चितकामस्य चेष्टितम् ॥

परन्तु यहाँ कामशास्त्र की चर्चा करना अभीष्ट होगा न कि समीहा इत्यादि का वर्णन क्योंकि वह इस सन्दर्भ में अप्रासङ्गिक है।

नैषधकार के कामशास्त्रीयसंदर्भों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने भरत का नाट्यशास्त्र, नागार्जुन का रतिशास्त्र, धनञ्जय का दशरूपक, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वेद, उपनिषद, सूत्रग्रन्थ, वात्स्यायन के कामसूत्र, कालिदास के रघुवंश एवं कुमारसम्भव तथा माघ के शिशुपालबध का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर उनकी विषयवस्तु के प्रतिपादन को अपना आधार बनाया है। कामशास्त्र के ग्रंथ एवं आचार्य प्रमुख रूप से निम्नवत् हैं- कामसूत्र पर शङ्कराचार्य एवं यशोधर की जयमंगल टीका, ज्योतिरीश्वर का पञ्चसायक, कोक्कोक का रतिरहस्य (12वीं शताब्दी), जयदेव का रतिमञ्जरी, कल्याणमल्ल का अनङ्गरङ्ग 16वीं शताब्दी), ग्रंथों में रतिकर, श्रृङ्गारमञ्जरीभाण, रसिकसर्वस्व, रतिनीतिमुकुल, रतिमन्मथ, रतिमित्र, रतिमुकुल, रतिविजय, रतिविलास, रतिसेन, वात्स्यायनसूत्रसार, वाग्भट्ट का श्रृङ्गारविलास, यामिनीपूर्णतिलका, यामिनीरंजन, यामिनीविनोदकथा, युवतीसम्भोगकार, श्रीशैल एवं कालीपाद तर्काचार्य का युगलांगलीय, बसन्ताभरण, अनङ्गतिलक, मदनमंजरी, रसविलास, पंचवाणविजय, यौननविलास, यौवनोल्लास, कामरत्न, मन्मथसंहिता, मनसिजसूत्र, कामप्रकाश, नागरवल्लभी, स्मरदीपिका आदि बहुमूल्य कामशास्त्रीय ग्रन्थ रत्न हैं।

कामशास्त्र पर अन्य शास्त्रों का प्रभाव :-

कामशास्त्र का सुचारु दाम्पत्य जीवन के निर्वाह में अप्रतिम महत्त्व है। यह शास्त्र धर्म, अर्थ, एवं काम पुरुषार्थों के सुचारू सम्पादन पर जोर देता है तथा यह भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है कि अर्थ एवं काम पर धर्म का नियंत्रण अवश्य होना चाहिए, साथ ही यह परस्त्रीगमन एवं विधवागमन का निषेध करता है, स्पष्ट है कि इसमें धर्मशास्त्र का प्रभाव परिलक्षित होता है।[1] कामशास्त्र का यह भी मत है कि पत्नी की शारीरिक सहनशीलता को ध्यान में रखकर रत में प्रवृत्त होना चाहिए, यह सामुद्रिकशास्त्र के अध्ययन से ही सम्भव है, क्योंकि सामुद्रिक शास्त्र का जानकार व्यक्ति किसी भी व्यक्ति की शरीराकृति को देखकर उसके बारे में अनुमान कर सकता है, अतः सामुद्रिक शास्त्र का भी कामशास्त्र पर प्रभाव नकारा नहीं जा सकता। वात्स्यायन ने कामशास्त्र के अंगभूत शास्त्रों के साथ-साथ धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र एवं इनके अंगभूतशास्त्रों को पढ़ने की सलाह पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी दी।[2] वह कहते हैं कि यौवनावस्था से पूर्व ही स्त्री को घर में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, एवं यदि विवाह हो गया हो, तो पति की अनुमति से ही उसे कामशास्त्र पढ़ना चाहिए।[3] क्योंकि धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति के बाद ही पुरुष लोक एवं परलोक में सुख प्राप्त करता है।[4] अत एव कामशास्त्र पर इन शास्त्रों के प्रभाव की सत्ता का प्रभाव अवश्यमेव पड़ता है। कामशास्त्र पुरुष एवं स्त्री दोनों को लौकिक

---

1. सत्यं वद, धर्मंचर, स्वाध्यायाम्माप्रमदः प्रजातन्तुं मा व्यच्छेत्सीः- तै०उ० 1/11/1
2. धर्मार्थाङ्ग विद्याकालाननुपरोधयन् कामसूत्रं तदङ्गविद्याश्च पुरुषोऽधीयति। - कामसूत्र 1/3/1
3. प्राग्यौवनात् स्त्री। प्रत्ताच पत्युरभिप्रायात् - कामसूत्र 1/3/2
4. शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यान्यानुबद्धं परस्परस्यानुपधातकं त्रिवर्ग सेवेत् । कामसूत्र 1/2/1
धर्ममर्थं च कामं च प्रत्ययं लोकमेव च । पश्यत्येतस्य तत्वज्ञो न च रागात्प्रवर्तते ॥ कामसूत्र 7/2/53
तदेत् ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना । विहितं लोकयात्राऽर्थं न रागार्थोऽस्य संविधिः ॥ कामसूत्र 7/2/57
रक्षन्धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां लोकवर्तिनीम् । अस्य शास्त्रस्य तत्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः ॥ कामसूत्र 7/2/58
तदेतत्कुशलो विद्वान्धर्मार्थाववलोकयन् । नातिरागात्मकः कामी प्रयुञ्जानः प्रसिद्धयति॥ कामसूत्र 7/2/59

जीवनाचरण का ज्ञान देने के साथ-साथ, मनुष्यों में किससे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, इसकी विधियों का ज्ञान भी कराता है, अतः नीतिशास्त्र का भी इस शास्त्र पर प्रभाव दिखता है, क्योंकि नीतिशास्त्र एवं व्यवहारशास्त्र के ज्ञान से ही व्यवहारपटुता होनी संभव है। कामशास्त्र पर काव्यशास्त्र एवं व्याकरणशास्त्र भी हासपरिहास क्षणों, पहेली एवं स्त्रियों को अपनी ओर आकर्षित करने में अपने प्रभावों की छाप मनुष्यों के ह्रदय में छोड़ते हैं। कामशास्त्र के महत्व एवं उसके साहित्य पर प्रभाव का विवेचन करते हुए कृष्णामाचारी कहते हैं –

"Kamasastra treats of Erotics in its most comprehensive signification. For purposes of literature, erotics are on the same level as poetics and may not improperly be called a branch of sahitya. The classification of heroes and heroines, the description of their qualities, the progress of their loves and the means of their union are all stated in works on poetics are erotics and these precepts are adopted and elaborated in the poetical and particularly the dramatic literature. Bhavabhuti, in his Maltimadhava, expressly says that his play in an illustration of kamasutra. Without a study of erotics, Sanskrit poetry can not be appreciated."[1]

नैषधीयचरितम् में कामशास्त्रीय संदर्भ एवं उनकी मीमांसा

दाम्पत्य जीवन के सफल निर्वाह में कामशास्त्र कितना सहायक बन सकता है, उन सभी स्थलों को स्पर्श करने का श्रीहर्ष ने प्रयत्न किया है। नैषधीयचरित में वेसे तो पूरे वाइस सर्गों में सभी में किसी न किसी रूप में कामशास्त्र की चर्चा श्रीहर्ष ने की है, परन्तु उसके प्रथम, द्वितीय, तृतीय, नवें, अठारहवें, उन्नीसवें, वीसवें, इक्कीसवें एवं बाइसवें सर्ग तो कामशास्त्र के लघुरूप ही कहे जा सकते हैं। श्रीहर्ष ने अपने इस ग्रंथ में कामसूत्र के प्रथम तीन अधिकरणों, साधारणाधिकरण, साम्प्रयोगिकाधिकरण एवं कन्यासम्प्रमुक्तकाधिकरण का पूर्वरूप से विवेचन, एवं भार्याधिकारिकाधिकरण से एक चारिणीवृत्तप्रकरण, पारदारिकाधिकरण से स्त्रीपुरुषशीलावस्थापन प्रकरण, परिचय (दूती द्वारा नायिका से नायक का) कारण प्रकरण, भावपरीक्षाप्रकरण (नायक या नायिका को प्राप्त करने के उपाय) एवं दूतीकर्म प्रकरण, वैशिक अधिकरण से अर्थादिविचारप्रकरण, का विवेचन यथावसर किया है। प्रो0 प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने यहाँ तक कह दिया कि नैषधीयचरित के श्रृङ्गारवर्णन सर्वथा परम्पराजुष्ट है, और उसके सम्भोग वर्णन तो जैसे कामसूत्र को सामने रखकर ही लिखे गये हैं फिर भी उनका उक्ति-चमत्कार, पूर्णतया मौलिक हैं।"[2] सम्पूर्ण रसों की अनुभूति संभोग' में ही होती है, शायद तभी श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ नैषधीयचरित को श्रृङ्गार रूपी अमृत की वर्षा करने वाला चन्द्रमा कहा है।[3]

श्रीहर्ष ने सामान्यजन जीवन को अपने ग्रंथ के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष प्राप्ति की विधाओं एवं उनके उचित अनुचित फल से परिचय कराने का प्रयास किया है। यदि उनके इस ग्रन्थ का अद्योपान्त ध्यान से अध्ययन किया जाय, तो निश्चय ही मानव को सफल जीवन निर्वाह की पद्धतियों को जानने के लिए अन्य ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, चाहे मनुस्मृति हो या महाभारत, वेद हों या पुराण, उपनिषद, हों या अर्थशास्त्र सभी की शिक्षाओं को सार रूप में उन्होंने अपने इस ग्रंथ में कामशास्त्रीय सदर्भों में स्थान दिया है। कामशास्त्र का तो उन्होंने इस रूप में प्रतिपादन किया है, मानों वह स्वयं के

1. History of classical Sanskrit literature - M-Krishnamachariar Para- 1065, P- 885.
2. वृहत्त्रयी- एक तुलनात्मक अध्ययन – पुरोवाक, पृ० 15-16
3. श्रङ्गारामृतशीतगौवयम् – नैषध-11/130
   यत्काव्यं मधुवर्षि – कविप्रशस्ति-4

गृहस्थ जीवन के अनुभवों से परिचित होने के अनन्तर इस ग्रंथ के सृजन में प्रवृत्त हुए हों। कामशास्त्र के ग्रंथ वात्स्यायन के कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के अन्तर्गत शास्त्र संग्रह प्रकरण, त्रिवर्ग प्रतिपत्ति प्रकरण, विद्यासमुद्देश्य प्रकरण, नागरकवृत्त प्रकरण, नायक सहायहूतीकर्म विमर्श प्रकरण आदि आते हैं। शास्त्रसंग्रह प्रकरण के अन्तर्गत तो मंगलाचरण "धर्मार्थकामेभ्योनमः" इत्यादि के बाद कामशास्त्र के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डाला गया है; इसका वर्णन तो नैषधीयचरित में नहीं मिलता, परन्तु इसके बाद के प्रकरणों की विषयवस्तु नैषध में प्रतिपादित है। जो निम्नलिखित है –

त्रिवर्गप्रतिपत्तिप्रकरण :-

श्रीहर्ष ने विभिन्न स्थलों में धर्म, अर्थ एवं काम की चर्चा की है, एवं यह स्पष्ट रूप से कहा कि इनमें आपस में समन्वय होना चाहिए, तथा अर्थ एवं काम में धर्म का वर्चस्व होना चाहिए। ग्रंथ के इक्वीसवें सर्ग में नल द्वारा स्नान, ध्यान, पूजा, तर्पण एवं देवार्चना तथा दमयंती द्वारा चौदहवें सर्ग में की गई देवार्चना विवरण से श्री हर्ष की इस विषय में दक्षता का पता चलता है। पंचनली प्रसंग में नल की प्राप्ति हेतु दमयन्ती ने देवताओं को प्रसन्न करने हेतु उनकी वंदना की क्योंकि देवता मानवों की अभिलाषा पूर्ण करने वाले कामधेनु सदृश हैं।[1] वात्स्यायन[2] का कथन है यद्यपि धर्म, अर्थ एवं काम दोनों से श्रेष्ठ होता है परन्तु तीनों का समान रूप से सेवन करने वाला पुरुष शतंजीवी होता है। नल द्वारा विलासप्रवृत्ता दमयन्ती को सन्तुष्ट कर तप (सन्ध्या में प्रवृत्त होना) करना एवं देवअर्चना के बाद भोजन ग्रहण करना धर्म को श्रेष्ठ मानना है।[3] श्रीहर्ष के विवरण से यह प्रतीत होता है कि नल एवं दमयन्ती दोनों ने शास्त्रीय ग्रंथों द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर पुरूषार्थों में समन्वय की स्थापना की, वात्स्यायन ने भी कहा है कि धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील पुरूष इस लोक तथा परलोक दोनों जगह सुख प्राप्त करता है।[4]

विद्यासमुद्देश वर्णनः-

श्रीहर्ष ने वात्स्यायन के मतानुसार कि " धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र तथा इनके अंगभूत शास्त्रों के अध्ययन के साथ ही पुरुष (एवं स्त्री) को कामशास्त्र के अंगीभूत शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए,[5] साथ ही कामसूत्र जैसे ग्रन्थों तथा व्यवहारनिपुण नागरिकों से कामशास्त्रीयशिक्षा प्राप्त की जानी चाहिए,[6] का अनुकरण किया है। नैषधीयचरित के बीसवें सर्ग में वर्णन आया है कि दमयन्ती को उसकी प्रिय सखी कला ने कामविज्ञान की शिक्षा दी थी, कला दमयंती से कहती है– "कामशास्त्र पढ़ाते समय मैंने तुम्हें जो

---

1. अथाधिगन्तुं निषधेश्वरं सा प्रसादनामाद्रियतामराणाम् । यतः सुराणां सुरभिनृणां तु सा वेधसाऽसृज्यत कामधेनुः ।।
 प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपावरणाम्बुसेकैः । इष्टञ्च मृष्टञ्च फलं सुवाना देवाहि कल्पद्रुमकाननं नः।। नै० 14/1,2 एवं 3 – 8
2. एषां समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् – कामसूत्र 1/2/14
 शतायुर्वै पुरुषो निभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यानुपघातकं सेवेत्। – कामसूत्र 1/2/1
3. नै० 21/7 .... 119 एवं 162 तथा 20/6, 14, 158।
4. कामसूत्र - 1/2/39, 40
5. धर्मार्थाङ्गविद्याकालाननुपरोधयन कामसूत्रं तदङ्गविद्याश्च पुरूषोऽधीयीत्। – कामसूत्र 1/3/9
 प्राग्यौवनात् स्त्री । प्रत्ता च यत्युरभिप्रायात् - कामसूत्र 1/3/2
 तस्माद्वैश्वासिकाज्जनाद्रहसि प्रयोगाञ्छास्त्रंभेकदेशं वा स्त्री गृह्णीयात् । - कामसूत्र 1/3/12
 अभ्यासप्रयोज्यांश्च चातुःषष्टिकान् योगान् कन्या रहस्यकाकिन्यभ्यसेत् ।
 आचार्यास्तु कन्यानां प्रवृत्तपुरूषसंप्रयोगा सहसंप्रवृद्धा धात्रेयिका । - कामसूत्र 1/3/13
 तथाभूता वा निरत्ययसम्भाषणा सखी। सवयाश्च मातृष्वसा। विस्रब्धा तत्स्थानीया वृद्धदासी।
 पूर्वसंस्सृष्टा वा भिक्षुकी। स्वसा च विश्वासपयोगात् - कामसूत्र 1/3/14
6. तं कामसूत्रान्नागरिक जनसमुवायाच्च प्रतिपद्येत- कामसूत्र - 1/2/13

विपरीत रति (दाम्पत्यव्यत्यय) बतायी थी, उसे करके भी तुम मुझसे छिपा रही हो।[1] स्पष्ट है कि दमयंती ने कामशास्त्र की शिक्षा अपनी सखी से ली थी। वात्स्यायन कहते है कि कन्या को चौंसठ कलाओं में दक्ष होना चाहिए।[2] श्रीहर्ष ने यह प्रतिपादित किया है कि दमयंती चौंसठ कलाओं की ज्ञाता थी। नल दमयन्ती की प्रशंसा में सातवें सर्ग में कहते हैं कि "जो सुन्दरी अपने यश, चरणों के अंगूठे के दो नख तथा मुख के रूप में चार चन्द्रों को धारण किये हुए है, उसमें चौंसठ कलाएँ क्यों न वास करें?[3] क्योंकि एक-एक पूर्णचन्द्र सोलह कलाओं वाला होता है, और भैंमी (दमयन्ती) तो समस्त कलाओं में प्रवीण हैं । चौंसठ कलाओं का वर्णन कामसूत्र में आया है।[4]

दमयंती के साथ-साथ नल भी चौंसठ कलाओं के मर्मज्ञ थे इसका नैषध में यथावसरवर्णन मिलता है, यथा- उदकघातः एवं ऐन्द्रिजालिकं का प्रयोग[5] तथा काव्यसमस्यापूरण प्रतिमाला प्रहेलिका विवरण[6] वाद्य एवं संगीत वीणाडमरूकवाद्य का प्रयोग[7] नृत्य[8] विशेषकच्देद्यम् का विवरण नैषधीयचरित के सम्पूर्ण सोलहवें सर्ग में, चित्रकला छठयें, नौवें सर्ग में चौंसठ कलाओं का नैषध में यथास्थान सङ्केत मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीहर्ष चौंसठ कलाओं के ज्ञाता थे, साथ ही नल भी, क्योंकि उन्होंने अपने गुणों के माध्यम से एवं दमयंती ने भी नल को अपनी उत्कृष्ट गुण सम्पन्नता के कारण एक दूसरे को आकर्षित किया था। वात्स्यायन ने भी कहा है कि - "वार्तालाप करने में निपुण, चाटुकार आदमी यदि कुशलकलाकार हो तो वह अप्रशंसनीय होते हुए भी स्त्रियों के चित्त को शीघ्र आकृष्ट कर लेता है।[9] साथ ही कलाओं का ज्ञान प्राप्त करने मात्र से सौभाग्य जाग उठता है।"[10]

नागरकवृत्तवर्णनः-

श्रीहर्ष ने नल का विवरण इस रूप में उपस्थापित किया है, मानों वह कामसूत्रानुसार ही ग्रंथ सृजन किये हों। वात्स्यायन ने यह अभिहित किया है कि – "मनुष्य को ब्रह्मचर्य व्रत रखते हुए विद्योपार्जन करना चाहिए, इसके बाद दान, विजय, व्यापार, तथा श्रम से धनोपार्जन पैत्रिक सम्पत्ति से या दोनों से

---

1. स्मरशास्त्रमधीयाना शिक्षितासि मयैव यम् । अगोपि सोऽपि कृत्वा किं दाम्पत्यव्यत्ययस्त्वया ॥ नै० 20/64
2. कामसूत्र 1/3/13
3. यशः पदांगुष्ठनखौ मुखं च विभर्ति पूर्णेन्दु चतुष्टयं या। कला चतुःषष्टिरूपैति वासं तस्यां कथं सुभ्रुवि नाम नास्याम्।। नै० 7/107
4. गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम, आलेख्यम्, विशेषकच्छेद्यम्, तण्डुलकसुनवलिविकाराः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनाङ्गरागः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकाघातः, चित्राश्च योगाः, माल्यग्रन्थनविकल्पाः, शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगाः, कर्णपत्रभङ्गनः, गन्धयुक्तिः, भूषणयोजम्, ऐन्द्रजालाः, कौचुमारश्चयोगाः, हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारकिया, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवानकर्माणि, सूत्रकीडा, वीणाडमरूकवाद्यांनि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगाः, पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावाननेत्रविकल्पाः, तक्षकर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, सुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादने, संवाहने केश मर्दने च कौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनम्, म्लेच्छितविकल्पाः, देशभाषाविज्ञानम्, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, सम्पाठ्यम्, मानसीकाव्यकिया, अभिधानकोशः, छन्दोविज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगाः, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषः, आकर्षक्रीड़ा, बालक्रीडनकानि, वैनयिकीज्ञानम्, वैजयिकीनाम् व्यायामिकीनाम्, च विद्यानाम् ज्ञानम् इति चतुः षष्टिरङ्गविद्याः। – कामसूत्र 1/3/15 ।
5. नै०- 20/124-130
6. नै० 4/101-190
7. 6/59, 65, 71, 15/16, 17, 18, 44, 7/48, 49, 50, 17/12, 8/64, 20/60, 10/74, 130, 21/120, 127, 128, 129, 152, 160, 22/57, 58, 106, ... 109
8. 11/6
9. नरः कलासु कुशलो वाचालश्चाटुकारकः । असंस्तुतोऽपि नारीणां चित्तमाश्वेव विन्दति ॥ – कामसूत्र 1/3/21
10. कलानां गृहणादेव सौभाग्यमुपजायते । – कामसूत्र 1/3/32 उत्तरार्द्ध ।

करके, विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए और नागरकों (रसिकों) की भांति आचरण करना चाहिए।[1] नल एवं दमयंती दोनों सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत ही थे, राजा के लिए धनार्जन तो एक सामान्य सी बात है।

भवनविन्यास –

श्रीहर्ष ने राजा नल के महल का बखूबी चित्रण किया है कि नल का राजप्रासाद सुमेरू से भी श्रेष्ठ था तथा उसका अन्तःकक्ष सुगन्धित द्रव्यों की भरमार से सुवासित था तथा वहाँ कामशर धूप से बनी बत्तियों वाले दीपक जल रहे थे। महल का फर्श (भूपृष्ठ) मणियों से जड़ा एवं कर्पूर जल से धुला था, नल की पुष्पमयीशय्या भूमिभाग के तिलक के समान थी। बहिःकक्ष में प्रासाद के निकट गृहवाटिका[2] एवं उनमें ऋतु के अनुकूल खिलने वाले पुष्पों का सौरभ, कहीं चित्रशाला, तो कहीं अभिनय गृह, शीतल जल के फौब्वारे, शयनकक्ष में खूंटियों पर बैठी हुई कामशास्त्रानुकूल उद्दीपक शब्द करने वाली अथवा कामशास्त्रपंडिता सारिकाएँ, मदनमत्त गौरवा (गौरैया) जोड़े, वीणावंशीवादन की मधुर ध्वनि से आप्यायित प्रकोष्ठ अन्तःकक्ष में रति एवं काम की प्राणप्रतिष्ठा की हुई दो प्रतिमाएँ रखी थी।[3] महल के द्वार पर किन्नरियों के गीत प्रासादभित्ति पर पुराणप्रसिद्ध कथाओं के चित्र एवं अन्य अनेक विधाओं से चित्रित महल की भित्तियाँ विद्यमान थीं।[4] ध्यातव्य है कि वात्स्यायन ने बहिः प्रकोष्ठ का जितना सजीव वर्णन किया है, उतना अन्तः प्रकोष्ठ का नहीं, परन्तु नैषधकार श्रीहर्ष ने अन्तःप्रकोष्ठ एवं बहि, प्रकोष्ठ दोनों का ऐसा सराबोर चित्रण किया है कि वैसी परिकल्पना एवं चित्रण अन्यत्र नहीं मिलता, हाँ कादम्बरी एवं मृच्छकटिकम् में अन्तःप्रकोष्ठ का चित्रण अवश्य मिलता है। मृच्छकटिक नाटक में जब शर्विलक नाम का चोर चारूदत्त के घर में चोरी के लिए घुसा तो देखा कि पूरा घर नाट्य गृह बना हुआ था कहीं पर वीणा मृदंग, दर्दुर, पणव आदि वाद्य टंगे हुए हैं, तो कहीं विविध प्रकार पुस्तकें सजी हुई हैं; कहीं चित्रफलक तो कहीं द्यूतफलक रखे हैं। वीणा को असमुद्रोत्पन्न रत्न कहते हुए मृच्छकटिक में इसकी बहुत प्रशंसा की गयी है यथा –

> उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या संकेतके चिरयति प्रवरोविनोदः ।
> संस्थापना प्रियतमाविरहातुराणाम्, रक्तस्य रागपरिवृद्धकरः प्रमोदः ।।

अभिलषितार्थ चिन्तामणि[5] से घर की बनावट एवं उनकी विशेषताओं तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्रम्[6] से अन्तःपुरचित्रण एवं अन्तःपुरवासी नारियों के गुणों का वर्णन, तथा वेदांत ग्रंथ पंचदशी[7] से कपड़े पर बनाये जाने वाले चित्रों यथा- धौत, मण्डित, लांछित और रंजित चार प्रकारों का वर्णन मिलता है।

---

1. गृहीतविद्यः प्रतिग्रहजयक्रयनिर्देशाधिगतैरर्थैरन्वयागतैरूभयैर्वा गार्हस्थ्यमधिगम्य नागरकवृत्तं वर्तेत्। – कामसूत्र 1/4/1
2. तत्रभवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिकावद्विभक्तकर्मकक्षं द्विवासगृहं कारयेत्। – कामसूत्र 1/4/3
3. बाह्ये वासगृहे सुश्लक्ष्णमुभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लोत्तरच्छदं शयनीयं स्यात्। प्रतिशय्यिका च । तस्यशिरोभागे कूर्चस्थानम् वेदिका च। तत्र रात्रिशेषमनुलेपनं माल्यं सिक्थकरण्डकं सौगन्धिकपुटिका मातुलुङ्गत्वचस्ताम्बूलानि च स्युः। भूमौ पतद्ग्रहः। नागदन्तावसक्ता वीणा। चित्रफलकम्। वर्तिकासमुद्गकः। यः कश्चित्पुस्तकः कुरण्टकमालाश्च। नातिदूरे भूमौ वृत्तास्तरणं समस्तकम्। आकर्षफलकं द्यूतफलकं च। तस्य बहिः क्रीडाशकुनिपञ्जराणि। एकान्ते च तक्षतक्षणस्थानमन्यासां च क्रीडानाम्। स्वास्तीर्णा प्रेङ्खादोला वृक्षवाटिकायां सप्रच्छाया। स्थण्डिलपीठिका च सकुसुमेति भवनविन्यासः। कामसूत्र 1/4/4
4. नै० 8/3—29
5. अभिलषितार्थ चिन्तामणि 3/134
6. विष्णुधर्मेतर पुराणा - चित्रसूत्रम् खण्ड 3/45 ——48
7. पंचदशी 6/1 —3

जब कि नैषधीयचरित में उपर्युक्त सभी विशेषताओं का वर्णन सोलहवें, अठारहवें एवं बीसवें सर्ग में उपलब्ध होता है।

दैनन्दिनी विवरण –

श्रीहर्ष ने राजा नल की दैनन्दिनी की भी चर्चा उन्नीसवें बीसवें इक्वीसवें एवं बाइसवें सर्ग में विस्तार से की है उसकी चर्चा में कासूत्र का प्रभाव भी परिलक्षित होता है क्योंकि वात्स्यायन ने भी इसकी विस्तार से चर्चा की है । नल ने प्रातःकाल स्नानकर अग्निहोत्र किया,[1] तदनन्तर मध्यान्हस्नान विधिविधान से अर्थात् चन्दनलेप इत्यादि लगाकर किया। श्रीहर्ष लिखते हैं कि उन्नतस्तनी सुन्दरियों ने सर्वप्रथम कर्पूर, अगुरू, कस्तूरी चंदन तथा कक्कोल के मिश्रितचूर्ण से बनें यज्ञ-प्रर्दम नामक द्रव्य से नल का कोमल मर्दन किया, फिर कस्तूरिकासुवासिततैल का उनके शिर पर मर्दन किया और अंत में कपूरचंदन के सुगन्धित जल से नल को स्नान कराया।[2] इसके बाद नल ने धवल वस्त्र पहनकर पूजादि कर्मों को सम्पन्न कर[3], मध्यान्ह भोजन ग्रहण किया। वात्स्यायन का भी यही मत है।[4] वराहमिहिर ने वृहत्संहिता में नागरक के दातून के बारे में[5] एवं केशों को हमेशा काला रखने[6] के बारे में तथा ताम्बूल के महत्व के बार में वर्णन किया है कि इससे मुख में कांति, सुगन्धि एवं माधुर्य आती है।[7] इसका विवरण दिया है। नैषधीयचरित में बाल संवारने का विवरण श्रीहर्ष ने दिया है कि केशों को कंघी से संवारकर बीच से मांग निकाली जाती थी, नैषधकार ने उसे डिफाल कहा।[8] बौधायन[9] गोभिल, और मनु[10] आदि धर्मशास्त्रकारों में हजामत बनवाने की व्यवस्था का विवरण अपने--अपने ग्रेथों में दिया है। गोभिल ने अपने गोभिलसूत्र में दाढ़ी,मूंछ, बाल, नख और बाल बनवाने एवं शिखा न बनवाने की बात कही- ''केशश्मश्रुलोमनखनि वापयति शिखावजर्नम्। श्रीहर्ष का विवरण भी वैदिक काल से साम्यत रखते हुए आज भी अपनी समीचीनता बनाते हुए है। आज भी स्नान के पहले शरीरमालिश एवं मांग संवारने की प्रथा एवं पूजा विधान प्रचलित है जैसा कि श्री हर्ष ने विवरण दिया है।

नैषधीयचरित में यह विवरण मिलता है कि महाराज नल ने देवपूजनोपरान्त भोजन किया[11] एवं दमयन्ती ने भी गोरी आदि देवताओं की पूजा के बाद पति के भोजनोपरांत भोजन किया ओर जब नल

---

1. नै० 20/6
2. यक्षकर्दममृदून्मृदिताङ्गं प्राकुरङ्गमदमीलितमौलिम् ।
   गन्धयार्भिरनुबन्धितभृङ्गैरङ्गना सिषिचुरुच्चकुचास्तम्।। नै० 21/7
3. नै० 21/8 -------- 119
4. स प्रातरुत्थाय कृतनियतकृत्यः गृहीतदन्तधावनः मात्रयानुलेपनं धूपं सृजमिति च गृहीत्वा, दत्वासिक्थकमलक्तकंर्च, द्रष्ट्वादर्शे मुखम् गृहीत मुखवासताम्बूलः कार्याण्यनुतिष्ठेत् - कामसूत्र 1/4/5
   - नित्यं स्नानम्। द्वितीयकमुत्सादनम्। तृतीयकः फेनकः, चतुर्थकमायुष्यम्। पञ्चमकं दशमकं वा प्रत्यायुष्यमित्यहीनम्। सातत्याच्च संवृतकक्षास्वेदापनोदः - कामसूत्र 1/4/6
5. वृहत्संहिता 77/32 -----34
6. वृहत्संहित 77/1, 11
7. वृहत्संहित 77/34, 35
8. विभज्य मेरूर्न यदर्थिसत्कृतो न सिन्धुरूत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
   अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालवद्धाश्चिकुराः शिरः स्थितम् ।। नै० 1/16
9. पर्वसु केशश्मश्रुलोभनखवापनम् - बौधायनस्मृति - 2/5/7
10. चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वोषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्।। मनुस्मृति 2/35 एवं अन्य स्थल में मनु0 2/2/9, 5/40, 6/52
11. नै० 21/120

महल में आये तो अलांकार भार से सविलास मन्दगति से उनके पास पहुँचकर आलिंगनोत्सुक उनकी गोद में बैठ गयी।[1] इसके बाद कोई सखी हाथ में पिंजड़े में बन्द तोता लिये, कोई कोकिल, कोई वीणा लिये आयी तथा संगीत वादन एवं मधुर गुंजन ने दम्पत्ति का मन मोह लिया। तोते ने अपनी वाणी से नल दम्पत्ति की प्रशंसा की, फिर नल एवं दमयन्ती की प्रेमालाप अन्त में सांयकाल नजदीक आने पर नल दमयन्ती को सखियों से क्रीड़ानंद करने को कहकर सांयं सन्ध्या के लिए चले गये। वात्स्यायन ने भोजनान्तर सोने का विधान किया, परन्तु श्रीहर्ष ने उसे स्वीकार न कर, दिवारति को रोकना चाहा जो शास्त्रानुकूल एवं स्वास्थ्यकारी भी है।[2] वात्स्यायन समर्थिति सायंकालीन गोष्ठी[3] की चर्चा श्रीहर्ष ने की, एवं रात्रि में नलदमयंती के प्रेमालाप का विवरण दिया है। श्रीहर्ष ने वात्स्यायन द्वारा वर्णित सामूहिक विनोदों यथा-घटानिबन्धन, गोष्ठीसमवाय, समापानक, उद्यानगमन एवं समवयस्क मित्रों के साथ खेल खेलने में केवल समापानक को छोड़कर सभी का वर्णन किया है।[4] समायानक सभ्य समाज में निन्दाचार के अन्तर्गत आता है, शायद श्रीहर्ष ने इसीकारण इसका विवरण नहीं दिया।

"दौत्यकर्म विमर्श विवरण"

सांसारिक जीवन में प्रायः देखा जाता है कि प्रेमी प्रेमिका के मामले में उनका सम्मिलन पत्र या दूत (पुरूष या स्त्री) के माध्यम से होता आया है । श्रीहर्ष ने इस परम्परा से हटकर मनुष्यों के साथ-साथ एक पक्षी (हंस) को भी नल एवं दमयंती को आपस में मिलाने का माध्यम बनाया। विधि की विडम्बना कहें, या श्रीहर्ष की वर्णन चारुता, जो नल दमयंती को हस्तगत करने के लिए स्वयं हंस को अपना दूत बताता है, वही नल, देवताओं के आग्रह, अनुनय एवं भय से स्वयं अपनी प्रेयसी को देवताओं को वरण करने के लिए देवताओं का दूत बनकर दमयन्ती के सम्मुख स्वयं को समुपस्थापित करता है। दमयंती तो हंस द्वारा वर्णित नल के गुणों से इतनी आकृष्ट थी कि वह मन ही मन नल को वरण करने का व्रत रख लेती है एवं इन्द्रादि देवताओं द्वारा भेजी गयी दूतियों को एवं स्वयं नल को इन्द्रादि देवताओं को वरण करने की बात पर फटकारती है। फलतः देवदूतियों एवं नल का दौत्यकर्म असफल हो जाता है, परन्तु हंस कृत दौत्यकर्म सफल हो जाता है, क्योंकि हंस तो उभयनिष्ठ दूत (नल एवं दमयन्ती का) था, जिससे उसका दौत्यकर्म सफल हुआ, स्मरणीय है कि नैषधकार इसके माध्यम से दो निष्कर्ष सामान्य मनुष्यों के लिए निकाले हैं जब दोनों तरफ से प्रेम की अग्नि प्रज्जवलित हो रही हो, अर्थात् जब लड़का-लड़की के प्रति, एवं लड़की लड़के के प्रति आसक्त हो तभी उनमें एक दूसरे के प्रति उद्दाम आशक्ति पैदा होती है, एवं दोनों एक दूसरे से मिलने के लिए लालायित हो उठते हैं तथा अपने उद्देश्य को पाने के लिए पत्र, दूत या स्वयं की पहल करते हैं। जैसा कि अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला को पाने के लिए स्वयं पहल की एवं मृच्छकटिक नाटक में वसन्तसेना ने चारूदत्त से प्रणय हेतु स्वयं पहल की। ध्यातव्य है कि श्रीहर्ष ने कामशास्त्रीय परम्परा "आदौवाच्यः स्त्रियारागः पश्चात् पुंसस्तदिङ्गितैः" का पालन करते हुए यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि सर्वप्रथम दमयन्ती अपने पिता भीम की राजसभा में भाटों एवं पंडितों द्वारा

---

1. भीमात्मजापि कृतदैवत भक्तिपूजा, पत्यौच भुक्तवति भुक्तवती ततोऽनु ।
तस्यांक मंकरिततत्परिरिप्समध्यः मध्यास्त भूषणभरातिभरालसांगी ॥ – नै० 21/121
2. भोजनानन्तरं शुकसारिकाप्रलापनव्यापाराः। लावककुक्कुटमेष युद्धानि तास्ताश्च कलाक्रीड़ाः। पीठमर्दविटविद्रषकायत्ता व्यापाराः। दिवा शय्या च। – कामसूत्र 1/4/8
3. गृहीत प्रसाधनस्यापराह्ने गोष्ठीविहारः – कामसूत्र 1/4/9 प्रदोषे च संगीतकानि। तदन्ते च प्रसाधिते वासगृहे संचारितसुरभिधूपे ससहायस्य शय्यायामभिसारिकाणां प्रतीक्षणम् - कामसूत्र 1/4/10
4. यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया - नै० 2/89 पूर्वार्द्ध

नल के गुण सुने एवं उस पर अनुरक्त हो गयी[1] तत्पश्चात नल भी हंस मुख से दमयंती के गुण सुनकर उस पर आसक्त हुए[2] इससे यह भी निष्कर्ष श्रीहर्ष ने निकाला है कि यदि सर्वप्रथम स्त्री-पुरूष पर मोहित हो, एवं बाद में पुरूष, तदनन्तर दोनों वैवाहिक सूत्र में बंधें, तभी वह प्रेम स्थिर एवं सफल होता है, अन्य परिस्थितियों में या तो प्रेम विफल होता है या वैवाहिक जीवन कष्टकमय एवं असफल हो जाता है। इस प्रसङ्ग में दूत का कार्य अप्रतिम महत्त्व रखता है।

श्रीहर्ष ने दौत्य कर्म एवं दूत की प्रशंसा अपने ग्रंथ के दूसरे, पाचवें, छठवें, सातवें, आठवें एवं नवें सर्ग में वर्णन कर प्रणय प्रसंङ्ग में दूत की अनिवार्यता सिद्ध की। वात्स्यायन ने दूत वर्णन में एक अध्याय ही लिखा था[3] एवं आचार्य कौटिल्य ने दौत्यकर्म सम्बन्धी अर्थशास्त्र में दूतप्रणिधि प्रकरण लिखा था । वत्स्यायन ने तीन प्रकार की नायिकाओं का चित्रण किया, कन्या, पुनर्भू एवं वेश्या[4] इसमें दमयन्ती कन्यानायिका है जिसका नल में पूर्वराग है। नैषध में दमयन्ती विवाह पूर्व कन्या एवं परकीया नायिका है एवं विवाहोपरान्त वही मुग्धा एवं स्वकीया नायिका रूप में दृष्टिगोचर होती है! कामसूत्रकार के अनुसार कन्या नायिका ही सर्वश्रेष्ठ है, महाभारत में कन्या के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है-

यस्मात् कामयते सर्वान् कमेर्धातोश्च भाविनि! तस्मात कन्येह सुश्रोणि! स्वतंत्रता वरवर्णिनि!

कामसूत्र के विवरण से स्पष्ट है कि वात्स्यायन के समय में कुमारी कन्याओं को अनुकूल वर चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। सभी तरूण सुन्दर एवं सुरूचिगुण सम्पन्ना कन्या की प्राप्ति की कामना पहले भी रखते थे, आज भी वही स्थिति है। श्रीहर्ष का हंस के माध्यम से नल एवं दमयंती को परिचित कराने का अभिप्राय कदाचित विवाह सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्व कन्या एवं वर को परस्पर प्रेम सम्बन्ध द्वारा एक दूसरे से परिचित कराना ही है । इसी तथ्य को यदि हम आज के जीवन प्रसङ्ग में देखें तो यही निष्कर्ष सामने आता है कि आज से करीब पचास वर्ष पूर्व जब विवाह छोटी उम्र में एवं द्विरागमन पांच या सात वर्ष पश्चात् होता था, उस अवधि अन्तराल में वर वधू एक दूसरे के गुण को सुनकर, एवं एक दूसरे को देखने की लालसा वश सहज ही स्वाभाविक प्रेम में बँध जाते थे, परन्तु आज इक्वीसवीं सदी में ''चटमंगनी पट व्याह'' एवं तदुपरि सम्भोग, में वरवधू एक दूसरे को समझ नहीं पाते, फलतः उनमें सहज प्रीति उत्पन्न नहीं हो पाती एवं धीरे-धीरे उनका जीवन आकर्षण (पहले किसी दूसरे में अनुरक्ति) एवं विकर्षण के द्वन्द्व में पिसता रहता है। श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ में वर्णित तथ्य के माध्यम से यह सन्देश दिया है कि विवाहपूर्व वरवधू को एक दूसरे को समझने की अवधि अवश्य देनी चाहिए। पहले प्रीति उत्पन्न करना, विश्वास पैदा करना एवं फिर विवाहबन्धन में बंधना वाभ्रव्य, चारायण, सुवर्णनाभ एवं वात्स्यायन के साथ श्रीहर्ष को भी अभीष्ट है। ऋग्वेद भी इसी का समर्थन करता है, जहाँ एक ब्रह्मचारी कुमारी अपने पतिविषयक भावों को स्पष्टरूपेण व्यक्त करती हुई कहती है कि मुझमें यह कामना हुई कि मैं अपने समान वर्ण, गुण वाले पति का वरण करूँ और उसके साथ शमन करूँ, उसे पति मानकर उसकी पत्नी बनकर रहूँ, अपना तन, मन

---

1. नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन्बहुशः श्रुतिं गते।
   विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाझैकवशंवदं मनः ।। नै० 1/33 नै० 1/34- - - 40
2. स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
   कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद्गुणोत्करम।। नै० 1/42, एवं नै० 1/43 - - - 52
3. नायकसहायदूतकर्मविमर्शप्रकरणम्- कामसूत्र 1/5/1 - - - 37/अन्त तक
4. तत्र नायिकास्त्रिस्रः कन्या पुनर्भूवेश्या च इति। कामसूत्र 1/5/3।

उसे अर्पित कर दूँ। हम दोनों गार्हस्थ जीवन की गाड़ी के दो चक्र बनकर उसे चलायें।"[1] ऐसी स्थिति में श्रीहर्ष का दमयन्ती (कन्या) को नायिका बनाना, विवाहपूर्व नायक से हंस के माध्यम से जुड़वाना परम्परागत उचित और न्यायसंगत ही है।

"दूत किसे बनाना चाहिए?" यह समस्या जब प्रेमीयुगल के मध्य आ खड़ी होती है, तो इसका समाधान करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि बचपन के मित्र, उपकृत व्यक्ति एवं गुण, शील, स्वभाव में जो अपने समान हो, सहपाठी जिससे कोई रहस्य न छिपाया गया हो, एवं जो एक ही धाय की गोद में पले,बढ़े हों, उन्हें स्नेहमित्र (दूत) बनाया जा सकता है।[2] साथ ऐसे व्यक्तियों को ही अपना दूत बनाना चाहिए जिनसे वंशपरम्परागत स्नेह सम्बन्ध चला आ रहा हो, जिनसे विवाद झगड़ा न होता हो, जिनका स्वभाव एवं चरित्र चंचल न हों, परस्पर एक दूसरे के वशीभूत हों, लोभी न हों, बहकाने में न आते हों, और रहस्यों को गुप्त रखते हों।[3] इसके अतिरिक्त वात्स्यायन ने धोबी, नाई, माली, गन्धी, सौरिक (सुरा विक्रेता) भिक्षुक, ग्वाला, तमोली, सुनार, पीठमर्द, विट एवं विदूषक को दूत बनाने की बात कही हैं।[4] परन्तु यदि उपर्युक्त, वर्णन का गंभीर विश्लेषण किया जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा विवरण राजनीति एवं समाजशास्त्रीय शास्त्रों, में ही संभव है। कामशास्त्र में तो जैसा वात्स्यायन का सुझाव है कि अन्तःपुर से सम्बन्ध रखने वाली स्त्रियाँ ही दौत्यकर्म में सफल होती हैं, अन्तःपुर से बाह्य रहने वाले व्यक्ति नहीं। दौत्यकर्मी के गुणों को वर्णन करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि जो व्यक्ति पुरूष और स्त्री दोनों के प्रति उदारभाव रखता हो, खासकर स्त्री का अधिकविश्वासपात्र हो वह दूतकर्म के लिए उपयुक्त होता है।[5] बातचीत में चतुराई, ठिठाई, संकेतों को समझना, नायिका किस समय बहकाई (अपने पक्ष में की जा सकती है) जा सकती है, इसका कालज्ञान, संकट या संशय उपस्थित होने पर शीघ्रनिश्चय करने वाली बुद्धि, लध्वी प्रतिपत्ति और कार्यसफलता के लिए तुरंत उपाय सोच लेना-ये दूत के अभीष्ट गुण हैं।[6] श्रीहर्ष ने वात्स्यायन के द्वारा कहे गये दूत की विशेषताओं को हंस में घटित किया है। राजा नल ने हंस के मुर्छित होने पर अपने आंसुओं से उसकी मूर्छा दूर की एवं उसे अपना मित्र माना तब हंस भी प्रसन्न होकर नल की भुजा पर बैठ गया, मानों बहुत दिनों से लालन-पालन के कारण वह राजा के ऊपर अत्यधिक विश्वास करने लगा हो।[7] राजा नल के किये हुए उपकार (बन्धनमुक्त करने) पर वह नल का प्रत्युपकार करना अपना परम कर्त्तव्य समझता है। वह नल से कहता है कि "मुझ जैसे किसी व्यक्ति को अपना सहायक (हाथ) बनाकर मंगलकारी दैव ही यह उपहार (दूत रूप में मुझे) आपको समर्पित कर रहा है।[8] अतः आप मेरी बात आप अवश्य सुनें, तदुपरान्त उसने भीमपुत्री, दमयंती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा कि वह त्रिकाल तथा त्रिलोक में अनन्यगुणवती, त्रिभुवन सुन्दरियों की सुन्दरता मद का दमन करने वाली, लक्ष्मीतुल्या सुन्दरकेशों एवं दीर्घ नेत्रों वाली, निष्कलंक मातृ एवं पितृकुलवाली बिम्बाफल के समान ओष्ठों वाली एवं चन्द्रमुखी, गौरवर्णा, सुन्दर भ्रू सम्पन्ना एवं अगाध लावण्यमयी देहधारिणी[9] एवं चरण कमलों

---

1. यमस्य मा यम्यं काम आगन् त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
   जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्या वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ऋग्वेद 10/10/7
2. सहपांसुक्रीडितमुपकारसम्बद्धं समानशीलव्यसनं सहाध्यायिनं यश्चास्य मर्माणि रहस्यानि च विद्यात्, यस्य चायं विद्याद्वा धात्रपत्यं सहसंवृद्धं मित्रम्। – कामसूत्र 1/5/32
3. पितृपैतामहमविसंवादकमदृष्टवैकृतं वश्यं ध्रुवमलोभशीलमपरिहार्यममन्त्रविस्रावीति मित्रसंपत्।–कामसूत्र 1/5/33
4. कामसूत्र 1/5/34
5. यदुभयोः साधरणभुभयत्रोदारं विशेषतो नायिकायाः सुविस्रब्धं वत्र दूतकर्म। कामसूत्र 1/5/35
6. पटुता धाष्ट्यर्यमिङ्गिताकारज्ञता प्रतारणकालज्ञता विषह्यबुद्धित्वं लध्वी प्रतिपत्तिः सोपाया चेति दूतगुणाः।–कामसूत्र 1/5/36
   अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।। नै० 2/55 पूर्वार्द्ध
7. पतंगश्चिरकाललालनादितिविश्रम्भमवापितो नु सः। अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः।। नै० 2/7
8. नै० - 212, 13
9. नै० 2/17 - - -38

वाली हैं'' ऐसा कहकर उसने नल के मन में दमयनती को पाने की कामेच्छा उत्पन्न की एवं कहा कि राजन् तुम्हारे परम सौन्दर्य को देखकर मुझे वह दमयंती जो अत्यन्त रूप सम्पन्नता है, उसकी याद आ गयी, क्योंकि उसे मैंने विभिन्न सरोवरों में अवगाहन (विचरण) काल में देखा था, हंस कहता है कि हे वीर! दमयंती के श्रृंङ्गार विलास तुम्हीं को पाकर अलंकृत होंगे। मणियों का हार (मणि शिरोमणि आप) युवती के ही स्तनों पर शोभावान होता है।[1] और यह प्रण करता है कि मैं दमयन्ती के सामने आपके गुणों का ऐसा बखान करूँगा कि वह सुन्दरी आपको अपने हृदय में इस प्रकार बसा लेगी कि उसे इन्द्रादि देवता भी उसके मन से आपको (नल को) नहीं हटा सकेंगें।[2] तत्पश्चात् राजा नल ने अपनी मन्मथवेदना को हंस से वर्णित किया[3] एवं कहा कि हंस! कामशर विद्ध मेरी मानसी वेदना के इस अगाध सागर में डूबने वाले मेरे लिए तुम पोत की भाँति आधार बनें हो, जाओ मित्र! तुम्हारा मार्ग मंगलकारी बनें, फिर शीघ्र यहीं (उपवन में मिलो! जाओं मेरे अभीष्ट को साधो, पक्षिराज! कभी-कभी (यथावसर) हमें भी याद कर लेना।[4]

हंस महाराज नल की सौख्यता प्राप्त कर उनका दूत बनकर जब कुण्डिनपुरी (महाराज भीम की राजधानी, एवं दमयंती का निवास स्थान) पहुँचता है, तो वह सर्वप्रथम दमयंती को अपनी तरफ आकर्षित कर उसके साथ बालक्रीड़ा जैसे कृत्य करता हुआ उससे वार्तालाप करता है।[5] हंस दमयंती से कहता है कि "मेरी गति (पृथ्वी के साथ-साथ) आकाश में भी है लेकिन तुम केवल पृथ्वी पर ही चल (रमण कर) सकती हो, फिर तनिक सोचों कि तुम मुझे कैसे पकड़ सकती हो? हे दमयंती! यह आश्चर्य ही है कि काम मित्र यौवन तो तुम में आ गया, परन्तु अभी तक तुम्हारा बचपना नहीं गया।[6] इसी बातचीत में वह नल की प्रशंसा दमयंती के सम्मुख करते हुए कहता है कि हम (हंस) उसके (नल के) भाग्य से बंधे है, क्योंकि वह महापुरुषो में अग्रगण्य, दानी, अप्रतिम सौन्दर्यशाली, संगीतज्ञ, उदारमना, वेदाध्यायी एवं कर्मकाण्डी, सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत, अश्वमर्मज्ञ, वीर, कामशास्त्रज्ञ, योगशास्त्र के जानकर, पाकशास्त्र के विशेषज्ञ हैं।[7] ऐसे व्यक्ति के लिए अन्य स्त्रियाँ रम्भादि अप्सराएँ भी योग्य नहीं हैं, जैसी तुम हो। इसलिए तुम्हें नल से विवाह करना चाहिए और संभव भी है कि तुम्हारा नल से पाणिग्रहण हो भी जाय क्योंकि अभी तक तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं हुआ है। तुम नल जैसे सुन्दर एवं गुणी व्यक्ति से इतर पुरूष के योग्य नहीं हो, एवं योग्य का योग्य से संगम होना ही चाहिए।[8] एक बार मैं (हंस) विधि विमान वहन करते समय ब्रह्माजी से नल के लिए योग्य वधू जानने की जिज्ञासा की थी, तो तुम्हारे नाम की ही ध्वनि मेरे कानों में पड़ी थी अब यदि तुम्हारा एवं नल का विवाह नहीं होता,तो ब्रह्माभी जनापवाद सागर को नहीं पारकर पायेंगे। ऐसे वाक्यों से हंस ने दमयंती के हृदय कुंज में नल को स्थायी रूप से निवासी बनाने का उद्योग किया, साथ ही यह भी कहा कि मैंने आपको बहुत परिश्रान्त किया, कहिए, मैं आपका कौन सा अभीष्ट सिद्ध कर सकता हूँ[9] ऐसा

---

1. त्वयिवीर! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल। तरूणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम्।। नै० 2/44
2. तदहं विदधे तथा-तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम्। हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथापनीयते ।। नै० 2/47
3. नै० 2/56 - - - - 60
4. तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ । भवपोत इवावलम्बनं विधिनाकस्मिक सृष्टसन्निधिः ।। नै० 2/60
   तव वर्त्मनि वर्तताां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।।अपि! साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ।। नै० 2/62
5. नै० 3/-5-14।
6. धार्य कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैक गत्या। अहो! शिशत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य संख्या वयसाप्यनेन।। नै० 3/15
7. नै० 3/20 - - - - 45
8. तन्नैषानूढतया दुरापं शर्म त्वयास्मत्कृत चाटुजन्म । रसालवन्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ।। नै० 3/46
   तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं मनः केन विधेः प्रविश्य। अजातपाणिग्रहणासि तावद्रूपस्वरूपातिशया श्रयश्च ।। नै० 3/47
   निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं परस्परं योग्य समागमाय।। नै०3/48
   वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणिर्न योगयोग्यासि नलेतरेण। संदर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ।। नै०3/49
9. नै० 3/50, 51

कह कर उसने राजकुमारी के मन की थाह लेनी चाहिए। वात्स्यायन ने भी कहा कि दूसरे की मानसिक स्थिति की थाह लेकर ही दूत को अपने कार्य साधने का प्रयास करना चाहिए। दमयंती हंस के वचनों का श्रवणपान कर स्वयं हंस से (निरपराधी होते हुए भी) स्वापराध की क्षमायाचना कर, हंस की प्रशंसा करते हुए कहा कि मुझे तुम्हें देखकर (नल के दूत) बहुत सुख मिला, परन्तु भला (मुझ जैसी नल में अनुरक्त) कौन ऐसी बालिका होगी जो स्वयं अपने विवाह की बात खुद करती होगी।[1] दमयंती के लज्जावश मौन धारण करने पर हंस ने दमयंती को सौन्दर्य की प्रशंसा कर कहा कि "अवाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि विद्यते यः"। फिर आप तो अत्यन्त गुणशालिनी, पंडिता एवं सौन्दर्यशालिनी हैं।

तदनन्तर दमयंती को विश्वास दिलाते हुए कहता है कि यदि आपका मन नल को पाना चाहता है, तो वह अवश्य प्राप्त करेगा, किन्तु यदि आप का निर्णय (नलवरण) का संदेहपूर्ण हो या[2] आप कहीं और अपना मन लगा चुकी हों तब तो महाराज नल से आपकी चर्चा करना मेरी मूर्खता होगी मुझे इस संदेह विषयक कार्य में न लगाओ। ऐसा कह कर हंस सम्पूर्ण रूप से दमयंती की बातें जानना चाहता है। वात्स्यायन ने भी कहा है कि दूत को अपनी पटुता से नायिका के शील, सङ्कोच, लज्जा को परखकर उसे अपने अनुसार कार्य करने (नायक, या नायिका में अनुरक्त करने का कार्य) करना चाहिए[3], परन्तु दमयंती के किसी में स्वयं की अनुरक्ति के नकारात्मक उत्तर से एवं नल के अतिरिक्त किसी से विवाह न करने एवं प्राण तक त्याग देने की[4] बात से हंस दमयन्ती की नल में असीम अनुरक्ति को जान लेता है साथ ही दमयन्ती के कथन कि "तुम्हीं (हंस ही) मुझे नल की प्राप्ति करा सकते हो"[5] से दमयन्ती की नल में अनुरश्रित की पुष्टि भी हो जाती है। इस प्रकार दमयंती ने पूर्ण रूप से हंस पर विश्वास कर उसे अपना दूत बनने एवं नल को स्वयं को वरण करने की प्रार्थना की,[6] स्पष्ट है कि हंस ने पहले दमयंती के सामने नल की प्रशंसा की तदनन्तर उसका विश्वास जीतकर सफल दौत्यकर्म निभाया, जो श्रीहर्ष की विदग्धता का परिचायक है। दमयंती भी कामशास्त्र पंडिता थी तभी तो वह हंस से कहती है कि उचित अवसर देखकर ही, अर्थात् जब राजा अन्तःपुर में रमणियों के संसर्ग में न हों, क्रोध में न हों अन्यकार्यरत न हों, तभी तुम राजा (नल) से मेरे कार्य (मुझे वरण करने का) का विज्ञापन करना, क्योंकि संभव उस समय प्रार्थित विषय को वह अनसुना कर दें, क्योंकि कार्य की असफलता की अपेक्षा विलम्ब से प्राप्त सफलता श्रेयस्कर होती है।[7] दमयंती के ऐसा कहने पर हंस ने पूर्ण रूप से उसे नल में आशक्त जानकर पुनः, जैसी दमयंती की (नल को पाने की तड़प एवं वियोग का दुख है) स्थिति उस समय थी, उसने दमयंती के वियोग में नल की स्थिति बखान की एवं कहा कि अब जब कामदेव ने पूर्व ही ऐसी योजना (आप दोनों को मिलाने की) तैयार की, तो अब मेरा कुछ करना शेष नहीं रह जाता।[8] दमयंती को पुनः धीरज बंधाते हुए हंस ने कहा कि राजा नल भी तुममें इस प्रकार आशक्त है कि वह (तुम्हारे वियोग में) उपवास कर रहे हैं एवं उनकी बाह्य इन्द्रियां कुछ काम नहीं कर पा रही हैं।[9] तुम्हें पाकर उन्हें अमृतपान

---

1. मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कष्ठपथं कथं सः ।
   का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ॥ नै० 3/59
2. इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी। चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषं ॥ नै० 3/67
3. कामसूत्र - 1/5/36
4. नै० 3/74 - - - -81
5. श्रुंत स दृष्टंश्च हरित्सु मोहाध्दयातः स नीरन्धितबुद्धिधाराम् ।
   ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययों वा हस्ते तवास्ते द्वयमेक शेषः ॥ नै० 3/82
6. नै० 3/83 — — — -96
7. विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयास्मिन्समयं समीक्ष्या ।
   आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बिसिद्धयोः कार्यस्य कार्यस्य शुभा विभाति ॥ नै० 3/96
8. नै० 3/100 ।
9. त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः त्वामद्य लब्ध्वामृततृप्तिभाजां स्वदेवभूयं चरितार्थमस्तु॥ नै० 3/101

का सुख मिलेगा। भित्ति पर चित्रित तुम्हारे चित्र को अपलक देखकर आंसू बहाने के कारण उनकी आंखे लाल हो जाती है; तुम नल की प्राण रूपा हो, तुम को लेकर (नल) वह नयी कल्पनाएँ बना-बनाकर लम्बी आहें भरता है, एकांत में वह तुम्हारा ही चिन्तन करता है, रात्रि में वह तुम्हारा ही स्वप्न देखता है एवं तुम्हें पाने के लिए चिन्तन करता रहता है, अतएव उन्होंने ही मुझे तुम्हारे पास भेजा है और तुम्हारे मन में नल के प्रेम को देखकर मैं धन्य हो गया। नल से तुम्हारा अखण्ड मिलन अवश्यमेव होगा, ईश्वर करें तुम दोनों सुरतक्रीड़ा में संलग्न होओ एवं परस्पर संगम (सम्भोग) से श्रेष्ठ संतति उत्पन्न करो, क्योंकि दोनो समान वर्णा हो।[1] तुम निष्कलंक कुलजाया हो, तुम्हारा (नल रूप) सिन्दूर अमर रहे, तुम्हारा मंगल हो ऐसी कामना करता हुआ, हंस सफल दौत्य निभाकर नल की राजधानी कुण्डिनपुर आया एवं राजा नल से दमयंती की स्थिति बताकर नल को संतुष्ट किया।[2] स्मरणीय है कि देवों की दूतियों ने समय एवं परिस्थिति का ध्यान किये बगैर दौत्यकर्म सम्पन्न करना चाहा एवं नल को बलात दूत बनाया गया इसलिए देवदूतियाँ एवं नल देवों के दौत्यकर्म में असफल रहे, जबकि हंस ने सम्पूर्ण परिस्थितियों को हृदयंगमकर अपना कार्य किया, इसलिए वह अपने उद्देश्य में सफल रहा। श्रीहर्ष द्वारा किये गये हंस कृत कृत्य में उनकी कामशास्त्र विदग्धता का आकलन परिपूर्ण रूप से सिद्ध होता है। श्री हर्ष द्वारा वर्णित विवरणों से स्पष्ट है कि नल मित्र बल के साथ-साथ आत्मबली है, जबकि इन्द्रादि देव नहीं इसीलिए वह दमयंती को पाने में सर्वथा असफल रहे, एवं नल सफल रहे। नैषध में वर्णित छठें, सातवें, आठवें एवं नवें सर्ग में वर्णित देवदूतियों एवं नल का दौत्यकर्म असफल रहा अतः असफल दौत्यकर्म विवेचन का विषय नहीं बनाया गया। वात्स्यायन का भी अभिमत है कि जो व्यक्ति आत्मबल एवं मित्रबल सम्पन्न होता है, जो नागरिक वृत्त में प्रवृत्त होता है एवं स्त्रियों के मनोभावों का पारखी तथा स्थान एवं समय की उपयोगिता को समझता है, वह अलभ्य स्त्री को भी बड़ी सरलता से प्राप्त कर लेता है।[3] स्मरणीय है कि हंस ने वात्स्यायन समर्थित विधि अपनाकर नल एवं दमयंती को आपस में मिलाकर अपनी पटुता सिद्ध की। श्री हर्ष ने नैषधीयचरित में जो नायक के गुण और वैशिष्ट्य बलतायें हैं, वे केवल अलभ्य स्त्रियों की प्राप्ति में ही सफलता नहीं दिलाते, बल्कि जीवन के हर क्षेत्र और कार्य व्यापार में श्रेय और विजय प्रदान करते हैं। अगर हम तथ्यों का विश्लेषण करें, तो पाते है कि आत्मवान वही है जो कायर नहीं है, मित्रवान वही है जो पवित्र हृदय हो, युक्त वही हो सकता है जो आभिजात्य गुण सम्पन्न हो, मनोभावों का पारखी वही हो सकता है, जिसमें समीक्षात्मक बुद्धि और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हो । स्पष्ट है कि व्यवहार कुशल व्यक्ति ही देशकालविद् हो सकता है। श्रीहर्ष कृत नल विषयक वर्णन से यही निष्कर्ष निकलता है उसका नायक नल लफंगा, छिछोरा मनचला नहीं बल्कि कुलीन, बुद्धिमान, लोकप्रिय, कलाकुशल, स्वाभिमान एवं आत्मनिष्ठ है, तभी तो उसने दमयंती को चाहते हुए भी राजा भीम से उसकी याचना नहीं किया।[4]

साम्प्रयोगिक विवरण

रतावस्थापन वर्णन

सुरत या सम्भोग को सम्प्रयोग कहते हैं। श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में नल एवं दमयन्ती के उद्दाम सम्भोग का वर्णन किया है। सम्भोग के अन्तर्गत रत व्यवस्थापन आलिङ्गन, चुम्बन, नखरदन, दशनच्छेदन, संवेशन, प्रहणन और सीत्कार वर्णन, पुरूषायित और पुरूषोपसृप्त, रतारम्भावसानिक विवरण एवं प्रणय कलह वर्णन मुख्य रूप में नैषधकार ने वर्णन किया है। सम्प्रयोग को सम्भोग, मैथुन क्रिया, रतावस्थापन

---

1. कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णतः शास्त्रतश्चानन्यपूर्वायां प्रयुज्यमानः पुत्रीयो यशस्यो लौकिकश्च भवति। – कामसूत्र 1/5/1
2. नै० 3/102 - - - 135
3. आत्मवान्मित्रवान्युक्तो भावसो देशकालवित् । अलभ्यामप्ययत्नेन स्त्रियं संसाधयेन्नरः।। कामसूत्र 1/5/37
4. स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयाम याचत् ।
   त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनोवरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्।। नै० 1/50

आदि नामों से भी अभिहित किया जा सकता है। कालिदास ने कहा है कि दो विभिन्न लिङ्गों की अन्विति जहाँ पर होती है वही सम्प्रयोग है।[1] वात्स्यायन ने कामसूत्र में यह वर्णित किया कि सम्भोग से पूर्व यदि नायक, नायिका (स्त्री, पुरूष) की श्रेणियों का ज्ञान हो जाय तो सम्भोग के क्रियान्वयन में ज्यादा आनन्दानुभूति मिलती है। नागरसर्वस्व में गुप्तेन्द्रियों की नाप दी गयी है,[2] वात्स्यायन ने गुप्तन्द्रियो की नाप के अनुसार कहा कि नायक तीन प्रकार के होते हैं शश, वृष एवं अश्व. एवं नायिका तीन तरह की होती है, मृगी, वडवा एवं हस्तिनी। रत सम, विषम, उच्चरत, उच्चतर, नीच, नीचतर छैः प्रकार के होते हैं। शश' का मृगी से, वृष का बड़वा से एवं अश्व का हस्तिनी से सम्भोग समरत कहलाता है। वात्स्यायन ने समरत को ही श्रेष्ठ माना है। धर्मशास्त्री एवं ज्योतिषी भी विवाह से पूर्व वरकन्या के गुणों का मिलान वर्ण, वश्य (स्वभाव), तारा, योनि, गृहमैत्री, गणमैत्री, वयवपु, भकूट (वर कन्या के आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का मिलान) के अनुसार करते हैं, एवं इसके माध्यम से वह वर कन्या की श्रेणियों का आकलन कर लेते हैं। वात्स्यास्यायन रतों के बारे में विशेष रूप से वर्णन किया है। कामसूत्रकार ने अन्त में यह निष्कर्ष निकाला कि लिंग और योनि के प्रमाण, सम्भोगकाल और मानसिक भाव से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के रत हैं। पुरूष एवं स्त्री, मन्दकामी, मध्यमकामी, एवं प्रचण्डकामी तीन कोटियों के होते हैं, उनमें सम्भोगकाल में मानसिक संवेग एवं काल परिस्थिति के अनुसार यदि रतों (सम्भोग) की गणना की जाये तो शायद अनगिनतरत हो जायेंगे।[3] इन विविध प्रकार के रतों में तर्क बुद्धि द्वारा विचार करके सम्भोगरत होना चाहिए। प्रथमरत में वीर्य स्खलित होने तक पुरूष का वेग बहुत अधिक रहता है, जिससे उसकी भोगेच्छा शीघ्र ही समाप्त हो जाती है, किन्तु दुबारा सम्भोगरत होने पर पुरुष देर तक ठहरता है। स्त्रियों की प्रवृत्ति इससे प्रतिकूल होती है। पहली बार स्त्रियों की कामाग्नि मंद गति से प्रज्जवलित होती है और बहुत देर तक ठहरती है दूसरी बार उतनी देर तक नहीं ठहरती, पुरूष और स्त्री के कामेच्छा में यह स्वाभाविक भेद होता है। स्त्रियों की कामाग्नि प्रज्जवलित करने वाली एवं उनको प्रिय लगने वाली वस्तुओं के बारे में महाकवि कालिदास एवं भारवि एवं माघ ने शिशिर एवं बसन्त ऋतु को ही श्रेष्ठमाना है। यथा –

"प्ररूढ़शाली क्षुचयावृतक्षितिं, क्वचित्स्थितक्रौञ्चनिनादराजितम् ।
प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरू ! कालं शिशिराह्वयं श्रृणु ।।" ऋतु संहार 5/1

"गृहीत ताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्र पङ्कजाः ।
प्रकामकालागुरूधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सकाः स्त्रियः ।।" वही 5/5

"कृतापराधान् बहुशोऽभि तर्जितान् सवेपथून् साध्वसलुप्तचेतसः।
निरीक्ष्य भर्तृन्सुरताभिलाषिणः स्त्रियोऽपराधान्समदा विसस्मरूः ।।" वही 5/6

"कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्प विनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः ।।" किरातार्जुनीयम्10/30

---

1. उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगाच्छैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य । रघुवंश 5/54
 रहसि स्त्रीसम्भोगे हि द्विविधः सम्प्रयोगो मिथा लीला विलासश्च। उज्ज्वलनीलमणि की टीका, पृ० 605।
2. परिणाहारोहाभ्यां षण्णवद्वादशाङ्गलैर्गुह्यैः। शशवृषभाश्वाः हरिणीबड़वेभिकानार्यः ।। नागर सर्वस्व 4/1
3. प्रमाण कालभावजानां संप्रयोगाणामेकैकस्य नवविधत्वात्तेषां व्यतिकरे सुरतसंख्या न शक्यते कर्तुम्। अतिबहुत्वात्। कामसूत्र 2/1/33
 – तेषु तर्कादुपचारान्प्रयोजयेदिति वात्स्यायनः। कामसूत्र 2/1/34
 – प्रथमरते चण्डवेगता शीघ्रकालता च पुरूषस्य, तद्विपरीतमुत्तरेषु।
 – योषितः पुनरेतदेव विपरीतम्। आ धातुक्षयात् । कामसूत्र 2/1/35

"कुसुमयन् फलिनीरलिनीरवैर्मदविका सिभिराहित हुङ्कृतिः ।
उपवनं निरभर्त्सयत प्रियावियुवतीयुर्वतीः शिशिरानिलः ।। शिशुपालवधम् 6/62
"शिशिरमासमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः ।
इति धियास्तरूषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान् प्रियाः ।। वही 6/65 ।

कामशास्त्र के सभी आचार्यों का यह मत है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा शीघ्र रति प्राप्त करती हैं, क्योंकि वह स्वभावतः कोमल हुआ करती है।[1] श्री हर्ष को इसका अभीष्ट ज्ञान था तभी तो उन्होंने यह वर्णन किया कि जब सम्भोगरत होने पर दमयंती जो अभी शैशव पार की थी, कोमलता के कारण अधिक देर तक स्तम्भन नहीं कर सकती थी, अतः नल ने जब देखा कि उसका स्खलन होने वाला है, तो अपने मणिजटित भूपृष्ठ पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब की ओर संकेत करते हुए कहा कि अरे वह कौन है? इस प्रकार दमयंती का ध्यान हटाकर उसकी बिन्दुच्युति को रोका।[2] एवं भय (किसी को उपस्थिति का) से कामवेग अपने आप कम हो गया तथा मन अस्थिर हो गया। जिससे सुरतोत्सव कुछ देर और चलता रहा। कामशास्त्र में भी कहा गया है "अन्यचित्ततया सभ्रमजनेन च भावबन्धं कुर्यात्" नल दमयन्ती सम्भोग के अनेक स्थलों में कामशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है यथा-

तत्क्षणावहितभावभावितद्वादशात्मसितदीधितिस्थितिः । स्वां प्रियामभिमतक्षणोंदया भावलाभलघुतां नुनोद सः ।।
स्वेन भावजनने स तु प्रियां बाहुमूल कुचनाभिचुम्बनैः । निर्ममे रतरहः समापनाशर्मसारसमसंविभागिनीम् ।।
विश्लथैरवयवैर्निमीलया लोमभिर्द्रुतमितैर्विनिद्रताम । सूचितं श्वसितसीत्कृतैश्च तो भावमक्रममध्यगच्छताम ।।[3]

नल कामशास्त्र से थे ही अतः उन्होंने (सूर्य, चन्द्र, सम्बन्धी) इड़ा पिङ्गला नाडियों के विधान द्वारा (एवं सभ्रम चित्त होकर) समय से पूर्व होने वाले अपने वीर्यपात (स्खलन) को रोक लिया। नल ने जब देखा कि काम भाव वेग चरम सीमा तक पहुँच गया और स्खलन का समय नजदीक आया, तो उन्होंने तत्क्षण प्रिया के बाहुमूल, स्तन तथा नाभि आदि का चुम्बन करते हुए उसे भी भाववेग की पराकाष्ठा पर पहुँचाते हुए अपने सुरत सुख का सहभागिनी बनाया। सुखान्त में दोनों के अङ्ग शिथिल हो गये, नेत्र मुँद गये, शीघ्रता से रोमांच हो आया, लम्बी श्वांसे चलने वाली, एवं सी-सी की ध्वनि होने लगी। इस रूप से दोनों ही एक साथ स्खलित हुए एवं आनन्द की चरम अनुभूति में डूब गये।[4] संभोगकाल में सीत्कार, विलास और उपसर्ग ये तीन क्रियाएँ हुआ करती है। वात्स्यायन ने भी स्पष्ट रूपेण कहा कि जब एक-एक ही सम दोनों की बिन्दुच्युति होती है, तभी सम्भोग का आनन्द दोनों को प्राप्त होता है, अगर किसी एक की बिन्दुच्युति दूसरे से पहले हो जाती है, तो उनमें से एक सम्भोग में सन्तुष्ट नहीं हो पाता, एवं दूसरे व्यक्ति (जो पहले स्खलित हो जाता है) से या तो घृणा करने लगता है या उससे परान्मुख होने लगता है, अतः प्रयास यही करना चाहिए कि दोनों एक साथ स्खलित हों इसके लिए अभ्यास एवं अपने यज्ञसहभागी की मनोदशा की जानकारी होनी अत्यन्त आवश्यक है, और यह कामशास्त्र के ग्रंथों के अध्ययन एवं उनकी विधियों को अपनाने से ही संभव है। वात्स्यायन ने भी सम्भोग की व्याख्या करते हुए कहा है कि पुरुषों के साथ संभोग करने से स्त्रियों की खुजली मिटती है, तथा चुम्बन, आलिंगनादि मैथुन क्रियाओं से मिलकर वही सम्भोग सुख कहलाती है।[5] कामशास्त्रीय आचार्य बाभ्रव्य का भी कथन है कि संभोग के अन्त में वीर्य

---

1. मृदुत्वादुपमृद्यत्वान्निसर्गाच्चैव योषितः। प्राप्नुवन्त्याशु ताः प्रीतिमित्याचार्या व्यवस्थिताः। कामसूत्र 2/1/37
2. वीक्ष्य भावमधिगन्तुमुत्सुकां पूर्वमच्छमणिकुट्टिमे मृदुम् । कोऽयमित्युदितसंभ्रमीकृतां स्वानुबिम्बमददर्शतैष ताम् ।। नै० 18/114
3. नै० 18/115 - - - 117
4. नै० 18/115, 116, 117
5. संयोगे योषितः पुंसा कण्डूतिरपनुद्यते। तच्चाभिमानसंसृष्टं सुखमित्यभिधीयते।। कामसूत्र 2/1/17

स्खलित होने पर ही पुरूष को संभोग सुख प्राप्त होता है किन्तु स्त्रियों को आरम्भ से ही सुखानुभूति होने लगती है और स्खलन हो जाने पर ठहरने की इच्छा होती है।[1] आचार्य पद्मश्री ने भी नागरसर्वस्व में सम्भोग से पूर्व तैयारी के बारे में विवरण दिया है। उन्होंने भी यह कहा कि समागम में पूर्ण सुखानुभूति प्राप्त करने के लिए समरत बहुत आवश्यक है, क्योंकि सम्भोग का सर्वोपरि उद्देश्य पति-पत्नी में आध्यात्मिक प्रीति और उदात्त भावनाओं को संजोना एवं उनका विकास है, जिस प्रकार संसार की इच्छाएँ लोकैषण, दारैषणा और वित्तैषणा तीन भागो में बंटी है, उसी प्रकार सम्भोग सुख तीन प्रकार के भावों पर निर्भर रहता है। (१) सन्तानोत्पत्ति, जननेन्द्रिय तथा काम सम्बन्धी समस्याओं के प्रति आदर्शभाव (२) उत्तरदायित्व का निर्वाह (३) एक दूसरे के प्रति श्रद्धा, उच्चभाव और हितकामना। रति या आपस में प्रीति होने से ही सफल होती है। कामशास्त्र पंडितो का मत है कि प्रीति चार प्रकार से उत्पन्न होती है, अभ्यास, विचार, स्मरण और विषयों से। इन्द्रियों के विषयों से होने वाली प्रीति का अनुभव तो सामान्यतः सभी लोगों को होता है, किन्तु इन्द्रिय विषयजन्य प्रीति (सम्भोग) प्रधान होने के कारण अन्य सभी प्रीतियाँ इसी के अन्तर्गत समाहित मानी जाती हैं।[2] अतः सम्भोग से पूर्व रति व्यवस्थापन में सहयोगी के मानसिक एवं शारीरिक स्तर का पूर्ण ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। वात्स्यायन ने भी ऐसा ही मत दिया है।[3] स्पष्ट है कि रतावस्थापनप्रीति विशेष का उन्नायक आधार है एवं श्रीहर्ष ने इसका विशिष्ट वर्णन नैषध के अठारहवें सर्ग में किया है।

आलिंङ्गन वर्णन :-

नैषधकार ने स्त्री पुरूष के आनन्दातिरेक में होने वाले आलिङ्गन पर भी अपनी दृष्टि डाली है। कामशास्त्र विद्वज्जनों ने सम्भोग के चौंसठ अंग बताये, एवं अन्य बहुत से आचार्यों ने सम्पूर्ण शास्त्रों के चौंसठ अंग बताये। सम्भव है कलाओं की संख्या इतनी ही होने के कारण कामशास्त्र को चौंसठ अंगों वाला माना जाता हो। बाभ्रवीय आदि आचार्यों का मत है कि आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत, संवेशन सीत्कृत, पुरूषायित (विपरति रति), औपरिष्टक (मुख मैथुन) इन आठ प्रकार के मैथुनों के पुनः आठ-आठ भेद होने से चौंसठ प्रकार के मैथुन हुए,[4] किन्तु वात्स्यायन ने इस तथ्य को नकारते हुए कहा कि इनमें से प्रत्येक के आठ-आठ भेद होते ही नहीं, किसी के कम होते है तो किसी के अधिक। उन्होंने प्रमुख रूप से आठ आलिंगन बताये, अविवाहित पुरूष एवं स्त्री के लिए स्पृष्टक, विद्धक, उद्घृष्टक और पीड़ितक,[5] एवं विवाहितों के लिए लतावेष्टितक, वृक्षाधिरूढ़क, तिलतण्डुलक एवं क्षीरनीरक ।[6] आचार्य सुवर्णनाभ ने चार प्रकार के अन्य आलिंगन बताये हैं- उरूपगूहन, जघनोपगूहन, स्तनालिंगन, एवं ललाटिका[7] नैषधकार में औपरिष्टक को छोड़कर शेष अन्य सम्भोग विधियों एवं आलिंगनों पर अपनी दृष्टि डाली है। औपरिष्टक आलिंगन नल दमयन्ती कथा प्रसङ्ग में सर्वथा अप्रासङ्गिक होने के कारण नैषधीय चरित में उपेक्षित रहा

1. सुरतान्ते सुखं पुसां स्त्रीणां तु सततं सुखम्। धातुक्षयनिमित्ता च विरामेच्छोपजायते।। कामसूत्र 2/1/22
2. प्रत्यक्षा लोकतः सिद्धा या प्रीतिविषयात्मिका। प्रधानफलवत्वात्सा तदर्थाश्चेतरा अपि ।। कामसूत्र 2/1/44
3. प्रीतीरेता पराभृश्य शास्त्रतः शास्त्रलक्षणाः। यो यथा वर्तते भावस्ततं तथैव प्रयोजयेत।। कामसूत्र 2/1/45
4. आलिंगन चुम्बन नखच्छेद्यदशनच्छेद्यसंवेशनसीत्कृत पुरूषायितौपरिष्टकानामष्टानामष्टधा विकल्पभेदादष्टावष्टकाश्चतुः षष्टिरिति बाभ्रबीयाः। कामसूत्र 2/2/4
5. तत्रसमागतयोः प्रीतिलिङ्गद्योतनार्थमालिङ्गनचतुष्टयम् । स्पृष्टकम्, विद्धकम्, उद्घृष्टकम् पीडितकम् इति ।। कामसूत्र 2/2/6
6. लतावेष्टितकं वृक्षाधिरूढकं तिलतण्डुलकं क्षीरनीकमिति चत्वारि संप्रयोगकाले। कामसूत्र 2/2/14
7. सुवर्णनाभस्य त्वधिकमेकाङ्गोपगूहनचतुष्टयम्। कामसूत्र 2/2/22

है। हालांकि आज पश्चिमी सभ्यता में यह आलिंगन महत्ता रखे हुए है कुछ आधुनिक भारतीयों ने भी इसे अपना रखा है, परन्तु इसका प्रचलन आंशिक लोगों में ही है, आज भी भारतीय संस्कृति में इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता।

कामशास्त्रीय नियम है, "आदौरतं बाह्यमिह प्रयोज्यं तत्रापि चालिङ्गनमेव पूर्वम्।" नैषधकार इसी नियम का परिपालन करते दिखते हैं। नैषधीयचरित में आलिंगनों के जो विवरण मिलते हैं[1] वह छठे सर्ग में जब नल देवदूत बनकर दमचन्ती प्रसाद में उपस्थित होते है, तथा वहां उनका रमणियों से सन्निकर्ष होता है बाद में ग्यारहवें एवं सोलहवें सर्ग में बारात भोजन प्रसंग में एवं अठाहरवें सर्ग में नल दमयन्ती के रमण के प्रसङ्ग में प्रमुखतया उल्लिखित हैं। वे निम्नलिखित हैं :–

(१) **स्पृष्टक** - वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा- "संमुखागतायां प्रयोज्यायामन्यापदेशेन गच्छतो गात्रेण मात्रस्य स्पर्शनं स्पृष्टकम्।"[2] उदाहरण -

यस्मिन्नलस्पृष्टकमेत्य हृष्टा भूयोऽपि तं देशमगान्मृगाक्षी ।
निपत्य तत्रास्य धरारजःस्थे पादे प्रसीदेति शनैरवादीत् ।। नै० 6/35
स तत्कुचस्पृष्टकचेष्टिदोर्लताचलद्दलाभव्यजनानिलाकुलः ।
अवाप नाननलजालश्रृङ्खलानिबद्धनीडोद्भवविभ्रमं युवा ।। नै० 16/63

आलिंगन समुखागतायां प्रयोज्यायामन्यापदेशेन गच्छतो गात्रेण गात्रस्य स्पर्शनं स्पृष्टकम्। 2/2/8

(२) **विद्धक** – वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा–"प्रयोज्यं स्थितमुपविष्टं वा विजने किंचिद् गृह्णाती पयोधरेण विद्धयेत्। नायकोऽपि तामवपीड्य गृह्णायादिति विद्धकम्।"[3] उदाहरण-

हतः कयाचित्पथि कन्दुकेन संघट्टय भिन्नः करजैकयापि ।
कयाचनानक्तः कुचकुंकुमेन संभुक्तकल्पः स बभूव ताभिः ।। नै० 6/29

(३) **उद्घृष्टक** – वात्स्यायन ने इस आलिंगन की दशा को बताते हुए कहा–"तमसि जनसंबाधे विजने वाथ शनकैर्गच्छतोर्नातिह्रस्वकालमुर्द्धषणं परस्परस्य गात्राणामुदघृष्टकम्।"[4] उदाहरण –

चतुष्पथे तं विनिमीलिताक्षं चतुर्दिगेताः सुखमग्रहीष्यन् ।
संघट्टय तस्मिन्भृशभीनिवृत्तास्ता एवं तद्वर्त्म न चेदटारयन् ।। नै० 6/27
संघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूषाहीरांकुरप्रोतदुकूलहारी ।
दिशानितम्बं परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापसन्तापभवापभूपः।। नै० 6/28

(४) **पीडितक** – वात्स्यायन ने इसके बार में कहा – "तदेव कुड्यसंदंशेन स्तम्भसंदंशेन वा स्फुटकमवपीडयेदिति पीडितकम्"[5] उदाहरण-

बाहुबल्लिपरिरम्भमण्डली या परस्परमपीडयत्तयोः ।
आस्त हेमनलिनीमृणालजः पाश एव हृदयेशयस्य सः ।। नै० 18/96

---

1. सन्निधावपि निजे निवेशितामालिभिः कुसुमशस्त्रशास्त्रवित्। आनयद्व्यवधिमानिव प्रियामङ्कपालिवलयेन सन्निधिम् ।। नै० 18/40 प्रागघुम्बदलिके ह्रियानतां तां क्रमाद्दरनतां कपोलयोः। तेन विश्वसितमानसां झटित्यानने स परिचुम्ब्य सिष्मिये ।। नै० 18/41
2. कामसूत्र 2/2/8
3. कामसूत्र 2/2/9
4. कामसूत्र- 2/2/11
5. कामसूत्र 2/2/12

श्री हर्ष ने उपर्युक्त आलिंगनों का विस्तार रूप से वर्णन छठे एवं सोलहवें सर्ग में किया है।[1] कामसूत्रकार ने विवाहोपरान्त लतावेष्टितक वृक्षाधिरूढ़क, तिलतण्डुलक और क्षीरनीरक जैसे आलिंगन अपनाने की बात की है। नैषधकार को भी यह आलिंगन सामान्य जन को अपनाने के लिए अभीष्ट दिखते हैं तभी उन्होंने इन आलिंगनों का भी वर्णन नौषधीयचरित में किया है।

(१) **लतावेष्टितक** – वात्स्यायन ने इस आलिंगन की व्याख्या करते हुए कहा– "लतेव शाल्माविष्टयन्ती चुम्बनार्थं मुखमवनमेत्। उद्धृत्य मन्दसीकृता तमाश्रिता वा किंचिद्रामणीयकं पश्येत्तल्लतावेष्टितकम्।"[2] उदाहरण-

पत्युरागिरिशमातरू क्रमात्स्वस्यचागिरिजमालतं वपुः ।
तस्य चाहमखिलं पतिव्रता क्रीडति स्म तपसा विधाय सा ।। नै० 18/83

(२) **वृक्षाधिरूढक**- वात्स्यायन इस आलिंगन का विवरण देते हुए कहते हैं–"चरणेन चरणमाक्रम्य द्वितायेनोरूदेशमाक्रमन्ती वेष्टयन्ती वा तत्पृष्ठसक्तैकबाहुद्वितीयेनांसमवनमयन्ती ईषन्मन्दसीत्कृतकूजिता चुम्ब नार्थं मेवाधिरोढुमिच्छेदिति वृक्षादिरूढकम्।"[3] वात्स्यायन ने इसे समागमपूर्व आलिंगन कहा।[4] उदाहरण-

क्रमोद्गता पीवरताधिजंघं वृक्षाधिरूढं विदुषी किमस्याः ।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ।। नै० 7/97
परस्य न स्प्रष्टुमिमामधिक्रिया प्रिया शिशः प्रांशुरसावितिब्रुवन् ।
रथे स भैमीं स्वयमध्यरूरुहन्न तत्किलाश्लिक्षदिमां जनेक्षितः ।। नै० 16/114।

(३) **तिलतण्डुलक**–कामसूत्रकार ने इस आलिंगन की दशा का वर्णन करते हुए कहा– "शयनगतावेवोरूव्यत्यासं भुजव्यत्यासं च संसर्गमिव घनं संस्वजैते तत्तिलतण्डुलकम्।"[5] उदाहरण-

मिश्रितोरू मिलिताधरं मिथः स्वप्नवीक्षित परस्पर क्रियम् ।
तौ ततोऽनु परिरम्भसम्पुटे पीडनां विदधतौ निदंद्रतुः ।। नै० 18/152

तद्यातायातरंहश्छलकलितरत श्रान्तिनिश्वास धारा जस्रव्यामिश्रभावस्फुटककथितमिथः प्राण भेदव्युदासम् ।
बालावक्षोजपत्रांकुरकरिमकरीमुद्रितोर्वीन्द्रवक्ष चिन्हाख्यातैकभावोभयहृदयमयाद्वन्द्वमानन्दनिद्राम् ।।" नै० 18/153

(४) **क्षीरनीरक (क्षीरजलक)** – वात्स्यायन ने इसके बारे में कहा– "रागान्धावनपेक्षितात्ययौ परस्परमनुविशत इवोत्सङ्गगतायामभिमुखोपविष्टायां शयने वेति क्षीरजलकम्"।[6] उदाहरण-

मेघातिथेस्त्वमुरसि स्फुर सृष्टं सौख्या साक्षाद्यथैव कमला यमलार्जुनारेः।। नै० 11/73 उत्तरार्द्ध
प्लक्षे महीयसि महीवलयातपत्रे तत्रेक्षिते खलु तवापि मतिर्भवित्री ।
खेलां विधातुमधिशाखविलम्बिदोला लोलाखिलाङ्गनताजनितानुरागे ।। नै० 11/74
एतद्यशोभिरखिलेऽबुनि सन्तुहंसा दुग्धीकृते तदुभयव्यतिभेदग्धाः ।
क्षीरं पयस्यपि पदे द्वयवाचिभूयं नानार्थकोषविषयोऽद्य मृषोग्घमस्तु ।। नै० 11/78।

---

1. नै० 6/30-53, नै० 16/51- - - 112
2. कामसूत्र 2/2/15
3. कामसूत्र 2/2/16
4. तदुमयं स्थितकर्म-कामसूत्र 2/2/17
5. कामसूत्र 2/2/18
6. कामसूत्र 2/2/19

वल्लभेन परिम्भपीडितौ प्रेयसी ह्वदि कुचाववापतुः ।
केलतीमदनयोरूपाश्रये तत्र वृत्तमिलितोपधानम् ।। नै० 18/97
शर्म किं हृदि हरेः प्रियार्पणं किं शिवार्धघटनं शिवस्यवा ।
कामये तव महेषुतन्वि! तं नन्वयं सरिदुदन्वदन्वयम् ।। नै० 18/145

वात्स्यायन ने उपर्युक्त दोनों आलिंगनों को रागकालीन बताया।[1] आचार्य सुवर्णनाम ने वात्स्यायन के आठ आलिंगनों के अतिरिक्त चार अन्य प्रकार के आलिंगन बताये हैं, उरूपगूहन, जघनोपगूहन स्तनालिंगन एवं ललाटिका आलिंगन। हालांकि ये चारों आलिंगन तिलण्डुलक एवं क्षीरजलक के अन्तर्गत समाहित हो सकते हैं लेकिन फिर भी श्रीहर्ष ने ललाटिका आलिंगन को छोड़कर अन्य तीन आलिंगनों का विवरण दिया है। स्मरणीय **है** कि ललाटिका आलिंगन को नैषधकार ने चुम्बन विधि की एक विधि मानी। यहाँ यह भी कहना परमावश्यक है कि श्रीहर्ष ने वात्स्यायन के साथ-साथ सुवर्णनाभ के मत का भी अनुसरण किया है।

(१) **उरूपगूहन** – कामसूत्र में इस आलिंगन के बारे में उल्लेख मिलता है कि– "तत्रोरूसन्दंशेनैकमूरूमूरूद्वयं वा सर्वप्राणं पीडयेदित्यूरूपगहनम्।"[2] उदाहरण-

सा शशाक परिरम्भदायिनी गाहितुं वृहदुरः प्रियस्य न ।
चक्षमे च स न भंगुरभ्रुवस्तुङ्गपीनकुचदूरतां गतम् ।। नै० 18/95

(२) **जघनोपगूहन** – सुवर्णनाभ ने इसके बारे में कहा– "जघनेन जघनमवपीड्य प्रकीर्यमाणकेशहस्ता न खदशनप्रहणनचुम्बनप्रयोजनाय तदुपरि लङ्.घयेत्तज्जघनोपगूहनम्।"[3]

(३) **स्तनालिंगन** – इसके बारे में सुवर्णनाम ने बताया –"स्तनाभ्यामुरः प्रविश्य तत्रैव भारमारोपयेदिति स्तनालिंगनम्।"[4]

(४) **ललाटिका** – सुवर्णनाभ इसआलिंगन की व्याख्या करते हुए कहते है कि – "मुखे मुखमासज्याक्षिणी अक्ष्णोर्ललाटेन ललाटमाहन्यात्सा ललाटिका।"[5] उपर्युक्त तीनों आलिंगन नैषध के श्लोक 18/95 तथा नैषध में वर्णित विपरी रति वर्णन[6] में घटित होते हैं। वैसे तो आलिंगन बहुविध हो सकते हैं, परन्तु मुख्य आलिंगन प्रमुख रूप से इन बारह आलिंगनों के अन्तर्गत आ जाते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि कामशास्त्र का (के विषय) ज्ञान (की आवश्यकता) उसी समय तक रहता है जब तक मनुष्य कामान्ध नहीं होता, एवं कामान्ध हो जाने पर तो कामशास्त्र और उसकी बताई हुई विधियों का अनुपालन तो शायद सामान्यजन द्वारा नहीं ही किया जाता हो,[7] परन्तु श्रीहर्ष के नायक नल एवं नायिका दमयन्ती यत्र तत्र सर्वत्र कामशास्त्रीय मर्यादाओं का पालन करते दिखते हैं।

---

1. तदुभयं रागकाले- कामसूत्र 2/2/20
2. कामसूत्र 2/2/23
3. कामसूत्र 2/2/24
4. कामसूत्र 2/2/25
5. कामसूत्र 2/2/26
6. नै० 20/64
7. शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः। रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रमः।। कामसूत्र 2/2/31

चुम्बन विवरण-

चुम्बन के प्रसंग में भी श्रीहर्ष ने कामशास्त्र की अभिज्ञता का परिचय दिया है। कामशास्त्रविदों ने सुरतोत्सव पूर्व प्राक्कीडा के साथ-साथ चुम्बन को अनिवार्य एवं मङ्गलाचरण जैसा माना है। शारीरिक विज्ञान का मत है चुम्बन, नखच्छत एवं दन्तक्षत जैसी प्राक्कीड़ाओं से स्त्री की जननेन्द्रिय सुखानुभूति के कारण ग्रन्थिगतक्षरण से आर्द्र हो जाया करती है, इसी कारण सुरतोत्सव में वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है। कामशास्त्रीय पंडित रतिरहस्यकार[1] का कथन है कि सुरतोत्सव पूर्व नायक नायिका को द्रवित करने का विधान अवश्य जान लेना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा की सोलह कलाएँ घटा बढ़ा करती है, उसी प्रकार कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष में स्त्री के सोलह अंगों में 'काम' बढ़ता और घटता रहता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि से लेकर पूर्णिमा तक काम स्त्री के क्रमशः अंगूठे, पॉव, जंघा, नाभि, छाती, स्तन, बाहुमूल, कण्ठ, ओठ, आँख, भौंह, और ललाट पर क्रमशः चढ़ता है और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से बायें भाग होकर क्रमशः मस्तक से नीचे उतरता है। इसलिए तिथि क्रमानुसार चुम्बन विधान अपनाना चाहिए। सुश्रुत ने काम को ईख में रस, एवं दूध में घी जैसे विद्यमाना माना एवं कहा कि संघर्षण (प्राक्कीड़ाओं) से काम द्रवित होता है।[2] वात्स्यायन ने चुम्बन स्थान एवं उनके अपनाने की सम्मति देते हुए कहा-

(A) ललाटालककपोलनयनवक्षः स्तनोष्ठान्तर्मुखेषु चुम्बनम् – कामसूत्र 2/3/4

(B) चुम्बन नखदशनच्छेद्यानां न पौर्वापर्यमस्ति । रागयोगात् प्राक्संयोगादेषां प्राधान्येन प्रयोगः। प्रहणनसीत्कृतयोश्च संप्रयोगे। – कामसूत्र 2/3/1

(C) सर्व सर्वत्र। रागस्यानपेक्षितत्वात्। इति वात्स्यायनः, 2/3/2

(D) तानि प्रथमरते नातिव्यक्तानि विश्रब्धिकायां विकल्पेन च प्रयुञ्जीत् । तथाभूतत्वाद्रागस्य। ततः परमतित्वरया विशेषवत्समुच्चयेन रागसंधुक्षणार्थम् ।।– कामसूत्र 2/3/3

(E) ऊरूसंधिबाहुनाभिमूलयोर्लाटानाम् – कामसूत्र 2/3/5

(F) रागवशाद्देशप्रवृत्तेश्च सन्ति तानि-तानि स्थानानि, न तु सर्वजनप्रयोज्यानीति वात्स्यायनः । – कामसूत्र 2/3/6

आचार्य पद्मश्री भी यही स्वीकार करते हैं कि देशभेद तथा स्वभावभेद से स्त्रियों को चुम्बन प्रिय हुआ करते है, इसलिए अपनी प्रकृति के अनुसार ही वे विलास करती हैं।[3] इन्होंने अपने ग्रंथ नागरसर्वस्व में चुम्बनों एवं आलिंगनों के भावों यथा हेला, विच्छिति, बिब्बोक, किलकिंचित, विभ्रम, लीला, विलास, हाव, विक्षेप, विकृत, मद, मोट्टायित, कुट्टमिति, मुग्धता, तपन और ललित इन सोलह भावों को सुरतोत्सव की भूमिका मानते हैं। नैषधीयचरित में उपलब्ध कामशास्त्रीय संदर्भों से स्पष्ट होता है कि नल एवं दमयन्ती ने स्वदेशप्रचलित (मालवाप्रदेश एवं महाराष्ट्र प्रदेश) कामरीतियों को अपनाया है जैसा कि कामसूत्र ग्रन्थादि में उपलब्ध मालवा एवं महाराष्ट्रीय स्त्रियों के कामविधानों के वर्णनों के साम्यता करने पर सिद्ध होता है। वात्स्यायन ने तरूणी द्वारा अपनाये जाने वाले चुम्बन को तीन प्रकार का माना है- निमित्तक, स्फुरितक एवं घट्टितक ।[4]

---

1. रतिरहस्य- चन्द्रकलाधिकार- द्वितीय परिच्छे।
2. सु०नि० 10/19/21
3. योषितां विषयसाम्यतः प्रियं चुम्बनं प्रकृतिकृत्यमिष्यते तत्र चैकविषये प्रयुज्यतेऽभीप्सितप्रकृतिसाम्यतस्तदा ।। नागरसर्वस्व 20/12
4. तद्यथा-निमित्तकं स्फुरितकं घट्टितकमिति त्रीणिकन्या चुम्बनानि। कामसूत्र 2/3/7

(१) **निमित्तक** – वात्स्यायन ने इसके बारे में कहा – "बलात्कारेण नियुक्ता मुखे मुखमाधत्ते न तु विचेष्टत इति निमित्तकम्।"[1] उदाहरण-

प्रातरात्मशयनाद्विनिर्यती सन्निरूध्य यदसाध्यमन्यदा ।
तन्मुखार्पणमुखं सुखं भुवो जम्भजित्क्षितिशचीमचीकरत ।। नै० 18/66

(२) **स्फुरितक** – वात्स्यायन ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा– "वदने प्रवेशितं चौष्ठं मनागणपत्रपावग्रहीतुमिच्छन्ती स्पन्दयति स्वमोष्ठं नोत्तरमुत्सहत इति स्फुरितकम्।"[2] उदाहरण-

स्वप्तुमाप्तशयनीययोस्तयोः स्वैरमाख्यतवचः प्रियांप्रियः ।
उत्सवैरधरदानपानजैः साग्तरायपदमन्तरान्तरा ।। नै० 18/142।

(३) **घट्टितक** – वात्स्यायन ने इस चुम्बन विधि को स्पष्ट करते हुए कहा– "ईषत्परिगृह्य विनिमीलितनयना करेण च तस्य नयनेअवच्छादयन्ती जिह्वाग्रेण घट्टयति इति घट्टितकम्"। नैषधीयचरित में उपलब्ध 18वें सर्ग के १४२वें श्लोक में घट्टितक चुम्बन की भी प्रतीति होती है। वात्स्यायन चार प्रकार के अन्य चुम्बन यथा सम, तिर्यक, उद्भ्रान्त अवपीड़ितक का विधान करते हैं, जिनका श्रीहर्ष ने भी वर्णन किया है, भले ही वह व्यंजना रूप में ही क्यों न किये हों।[3] आचार्य पद्मश्री ने विपीड़ित, भ्रमित, उल्लसितक, स्फुरितक संहतोष्ठ, वैकृतक, नतअंड चुम्बन प्रकारों को अपनाने की सलाह दी, तथा वात्स्यायन ने अन्य उत्तर,सम्पुटिक, सम, पीड़ित, अंचित एवं मृदु आदि चुम्बन प्रकारों को भी अपनाने का वर्णन किया, परन्तु श्रीहर्ष ने स्फुरितक, उल्लसितक मृदु एवं सम को छोड़कर किसी का वर्णन नहीं किया, क्योंकि नैषधकार की दृष्टि में वह उचित एवं मर्यादित नहीं थे, जैसा कि कामसूत्र में आये उनकी व्याख्या के अध्ययनान्तर स्पष्ट ही हो जाता है। वात्स्यायन ने चुम्बन अपनाने के बारे में कहा –

कृत प्रतिकृतं कुर्यात्ताडिते प्रतिताडितम्। करणेन च तेनैव चुम्बिते प्रतिचुम्बितम्।।[4]

महाकवि कालीदास ने भी चुम्बन का मनोहारी वर्णन किया है । यथा –

सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितंमुखमनेन नाहरत् ।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रूरोध सा ।।[5]

नैषधीयचरित में चुम्बन के अन्य प्रमुख उदाहरण –

क्षन्तुं मन्तुं दिनस्यास्य वयस्येयं व्यवस्यतात् ।
निशीव निशिधात्वर्थं यदाचरति नात्र नः ।। नै० 20/54

यच्चुम्बति नितम्बोरू यदालिङ्गति च स्तनौ ।
भुङ्क्ते गुणमयं तत्ते वासः शुभदशोचितम् ।। नै० 20/148

चुम्बनायकलितप्रियाकुचं वीरसेनसुतवक्त्रमण्डलम् ।
प्राप भर्तुममृतैः सुधांशुना सक्तहाटकघटेन मित्रताम् ।। नै० 18/105

वीक्ष्यपयुरधरं कृशोदरी बन्धुजीवमिव भृङ्गसङ्गतम् ।
मञ्जुलं नयनकज्जलैर्निजैः संवरीतुमशकत्स्मितं न सा ।। नै० 18/125

---

1. कामसूत्र – 2/3/8
2. कामसूत्र – 2/3/9
3. नै० 16/58 - - - 108, भोजन प्रसङ्ग में ।
4. कामसूत्र 2/3/32
5. कुमारसम्भव 8/14

अन्यदस्मि भवतीं न याचिता वारमेकमधरं धयामि ते ।
इत्यसिस्वददुपांशुकाकुवाक्सोपमर्दहठवृत्तिरेवतम् ॥ नै० 18/59

पीततावकमुखासवोऽधुना भृत्य एष निजकृत्यमर्हति ।
तत्करोमि भवदूरूमित्यसौ तत्र सन्यधित पाणिपल्लवम् ॥ नै० 18/60

कामशास्त्र में उल्लिखित पञ्चसायकों (पञ्चबाणों)[1] की चर्चा अथर्ववेद में मिलती है, वे हैं अकार, इकार, उकार, एकार व औकार। इन पञ्चसायकों का लक्ष्य स्त्रियों के हृदय, स्तन, आँखें, मस्तक एवं गुप्तेन्द्रिय होते हैं। इन अङ्गों के चुम्बन से भी कामिनियाँ कामविह्वल हो उठती है। श्रीहर्ष ने भी पञ्चसायकों का उल्लेख करते हुए अभिहित किया कि– "दौत्यकर्म में प्रवृत्त व्यक्ति को हंस द्वारा बताये गये लक्षणों से दमयन्ती ने नल ही समझा, जिससे मदनवाण उस सुन्दरी के शरीर में प्रविष्ट हो गये, साथ ही दमयन्ती को देखकर नल भी पञ्चसायकों से घायल हो गये। अर्थात् नल एवं दमयन्ती दोनों को पञ्चसायकों ने अपना निशाना बनाया।[2]

श्रीहर्ष के साथ-साथ उनके पूर्ववर्ती महाकवि कालिदास को भी सुरतोत्सव में चुम्बन अभीष्ट रहा है, तभी तो उन्होंने इसका अत्यन्त मनोहारी वर्णन अपने ग्रंथ कुमारसम्भव में किया है। यथा –

यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्रणपदं नखस्ययत् ।
यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत् ॥[3]

दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुरहस्तपल्लवा ।
शीतलेन निरवापयत् क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ॥[4]

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥[5]

घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दु मदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥[6]

स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः ।
दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात् ॥[7]

---

1. अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका ।
   नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणसायकाः ॥ संस्कृत हिन्दीकोश-वामनशिवराम आप्टे, पेज- 562
   सम्मोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा ।
   स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ॥ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुक पृ० 624
   – उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा भृथाः शयने स्वे । इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामित्वा हृदिं ॥
   – आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्प कुल्मलाम्। तां सुसनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥
   –या प्लीहानं शोषयति कामस्येषु सुसंनता । प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥
   – शुचा विद्धा व्योषया शुष्कस्याभि सर्प मा । मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥
   – आजामि त्वाजन्या परिमातुरथो पितुः । यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥
   – व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् । अथै नामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ अथर्ववेद काण्ड 3, सूक्त 25
2. अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्यमैमीमभिलस्य यावत् । स्मराशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज ॥ नै० 8/3
   यदक्रमं विक्रमशक्तिसाम्यादुपाचरद्द्वावपि पञ्चबाणः । कथं न वैमत्यमुष्य चक्रे शरैरनर्धार्धविभागभाग्भिः ॥ नै० 8/4
3. कुमारसम्भव 8/9
4. वही 8/19
5. वही 8/63
6. वही 8/80
7. वही 8/90

उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि चुम्बनों का कामयज्ञ में अप्रतिम योगदान है, एवं नैषधकार के वर्णन वेद, कामसूत्र एवं अपने पूर्ववर्ती महाकवियों से साम्य रखते हैं, परन्तु कही-कहीं पर उन्होंने इसका उद्दाम वर्णन भी किया है।[1]

''नखक्षत एवं दन्तक्षत विवरण''

नखक्षत विवरण-

कामशास्त्र में आलिंगन चुम्बन के साथ नखक्षत एवं दन्तक्षतों का विधान वर्णित मिलता है। स्पष्ट है कि सुरतोत्सव में इनकी भी महनीय भूमिका होती है। वात्स्यायन का कहना है- "नान्यत्पटुतरं किंचिदस्ति रागविवर्धनम्। नखदन्तसमुत्थानां कर्मणां गतयो यथा।।[2] रागवृद्धौ संघर्षात्मकं नखविलेखनम्।।[3] तस्य प्रथमसमागमे प्रवासप्रत्यागमने प्रवासगमने क्रुद्धप्रसन्नायां मत्तायां मत्तायां च प्रयोगः। न नित्यमचण्डवेगयोः।"[4] आचार्य सुवर्णनाभ का मत है- "प्रवृत्तरतिचक्राणां न निवासमस्थानं वा विद्यत इति सुवर्णनाभः।"[5] परन्तु वात्स्यायन नखक्षत के स्थान बताते हुए कहते हैं- "कक्षौ स्तनौ गलः पृष्ठं जघनमूरू च स्थानानि"[6] वात्स्यायन ने चिन्हों के अनुसार नखक्षत आठ प्रकार के माने है- "तदाच्छुरितकमर्धचन्द्रो मण्डलं रेखा व्याघ्रनखं मयूरपदकं शशप्लुतक मुत्पलपुत्रकमिति रूपतोऽष्टविकल्पनम्।"[7]

नैषधीयचरित में उपलब्ध नखक्षत वर्णन –

(१) **आच्छुरितक** – वात्स्यायन इसके बारे में कहते हैं – "तैः सुनियमितैर्हनुदेशे स्तनयोरधरे वा लघुकरणमनुद्गतलेखं स्पर्शमालजननाद्रोमाञ्चकरमन्ते सन्निपातवर्धमान शब्दमाच्छुरितकम्।"[8] उदाहरण –

कुचौ दोषोज्झितावस्याः पीड़ितौ ब्रणितौ त्वया ।
कथं दर्शयतामास्यं बृहन्तावावृतौ ह्रिया ।।[9]

(२) **अर्धचन्द्र-** कामसूत्रकार का कथन है- "ग्रीवायां स्तनपृष्ठे च वक्रो नखपदनिवेशोऽर्धचन्द्रकः"।[10] उदाहरण–

यौ कुरङ्मदकुङ्माञ्चितौ नीललोहितरूचौ वधूकुचौ ।
स प्रियोरसि तयोः स्वयं भुवोराचचार नखकिंशुकार्चनम् ।।[11]
वीक्ष्य वीक्ष्य करजस्य विभ्रमं प्रेयसार्जितमुरोजयोरियम् ।
कान्तमैक्षत हसस्पृशं कियत्कोपकुञ्चित विलोचनाञ्चला: ।।[12]
स्वापराधमलुपत्पयोधरे मत्करः सुरधनुष्करस्तव ।
सेवया व्यजनचालनाभुवा भूय एव चरणौ करोतु वा ।।[13]

---

1. प्रस्मृतं न त्वया तावद्यन्मोहनविमोहितः । अतृप्तोऽधरपानेषु रसनामपिबं तव ।। नै० 20/78
2. कामसूत्र- 2/4/31
3. कामसूत्र- 2/4/1
4. कामसूत्र - 2/4/2
5. कामसूत्र- 2/4/6
6. कामसूत्र- 2/4/5
7. कामसूत्र - 2/4/4
8. कामसूत्र – 2/4/12
9. नैषध – 20/49
10. कामसूत्र – 2/4/14
11. नै 18/101
12. नै० 18/130
13. नै० 18/134

त्वत्कुचार्द्रनखाङ्कस्य मुद्रामालिङ्गनोत्थिताम् ।
स्मरेः स्वहृदि यत्समेरसखीः शिल्पं तवाब्रवम् ।।[1]

तत्कुचै नखमारोप्य चमत्कूर्वंस्तयोक्षितः ।
सोऽवादीत्तां हृदिस्थं ते किं मामभिनदे ज्ञ्न ।।[2]

वात्स्यायन ने उपर्युक्त वर्णित आठ नखक्षतों यथा- मण्डल रेखा (प्रयोग), व्याघ्रनख, मयूरपदक, शशप्लुतक, उत्पलपत्रक आदि का वर्णन भी विशेष रूप से किया।[3] प्रयोग नखक्षत का वर्णन करते हुए श्री हर्ष लिखते हैं कि दमयन्ती के दोनों जंघाओं पर नल के नखों के कोमलचिन्ह[4] इस प्रकार सुन्दर लगते थे मानो दो स्वर्ण स्तम्भों पर रति और मदन की विजयप्रशस्ति लिखी गयी हो।[5] नखक्षत दोनों (पति-पत्नी) के द्वारा किया जाना चाहिए, ऐसा विवरण जो नैषधकार ने दिया है,[6] वह सर्वथा कामशास्त्र सम्मत ही दिखता है।[7] श्रृगांर के प्रसंग में दन्तक्षत एवं नखक्षत की प्राचीन परम्परा रही है, तभी तो महाकवि कालिदास ने भी नखक्षतों का वर्णन कर इनकी उपादेयता पर अपनी मुहर लगा दी। यथा-

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ।।[8]

क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ।।[9]

ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः ।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीप्रियतमामवारयत् ।।[10]

यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्रणपदं नखस्य यत् ।
यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत् ।।[11]

श्रीहर्ष ने वात्स्यायन द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करते हुए ही काव्य सृजन किया है, क्योंकि वह प्रकाण्ड शास्त्रज्ञ जो थे। उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट है कि आलिंगन चुम्बन के साथ-साथ नखक्षत एवं दन्तक्षत कामसंवेग बढ़ाने वाली मनुष्यों द्वारा अपनायी जाने वाली क्रियाएँ हैं, एवं इन क्रियाओं के अपनाने से ही सुरत क्रियाओं में असीम आनन्द की अनुभूति होती है। महर्षि वात्स्यायन ने जिन स्थानों पर नखक्षत एवं दन्तक्षत करने का विधान किया है, उन स्थानों को यौन विज्ञान में कामोत्तेजना का केन्द्र माना गया है, अगर यौन विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से भी देखा जाय, तो नखक्षत, दन्तक्षत आदि प्रेम क्रियाएँ (क्रीडाएँ) जीव विज्ञान से सम्बन्धित प्रक्रियाएं हैं, मनुष्यों के साथ-साथ पशु पक्षी भी इन क्रियाओं को अपनाते हैं, क्योंकि इस प्रक्रिया का आधार यौन उत्तेजना है। यौन मिलन के लिए यौन उत्तेजना

---

1. नै० 20/79
2. नै० 20/146
3. कामसूत्र - 2/4/15 - - - 21
4. मध्यमान्युभयभाञ्जि महाराष्ट्रकाणामिति- कामसूत्र 2/4/11
5. भीमजोरूयुगलं नलार्पितैः पाणिजस्य मृद्भिः पदैर्बभौ । तत्प्रशस्ति रतिकामयोर्जययस्तस्तम्भयुग्ममिव शातकुम्भजम् ।। नै० 18/98
6. याचनान्न ददतीं नखक्षतं तां विधाय कथयाऽन्यचेतसम् । वक्षसि न्यसितुमात्ततत्करः स्वं विभिद्य मुमुदे स तन्नखैः ।। नै० 18/72
7. कामसूत्र - 2/4/31
8. रघुवंश- 9/31
9. कुमारसंभव- 8/83
10. कुमारसंभव- 8/87
11. कुमारसंभव- 8/9

बढ़ते-बढ़ते जब पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, तभी नखक्षत, दन्तक्षत की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, चिकित्सा विज्ञान का अभिमत है कि स्त्रियों की त्वचा के ऊपरी भाग में कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनका सम्बन्ध डिम्बाशय से होता है, उन्हें कुछ दशाओं में हल्की और द्रुत उत्तेजना देने से केवल कामोद्रेक ही नहीं होता बल्कि सम्भोग की पूर्णावस्था उत्पन्न हो जाती है। इन अवयवों का संकुचन एवं प्रसारण अवरुद्ध हो जाने से स्त्रियों को मिरगी रोग पकड़ लिया करता है। इसलिए शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को सशक्त बनाये रखने के लिए स्त्रियों के कामोत्तेजना के केन्द्रों पर नखक्षत एवं दन्तक्षत करना आवश्यक एवं अपरिहार्य है, परन्तु ध्यान रहे ये नखक्षत एवं दत्तक्षत इतने तीव्रवेग में न किये जांय कि स्त्री या पुरूष घायल हो जांय, केवल मृदु दन्तक्षत एवं नखक्षत करने का विधान वात्स्यायन के साथ-साथ श्री हर्ष को भी अभीष्ट हैं, जो कि नैषधीयचरित के अध्ययन से स्पष्ट रूप में ध्वनित हाता है।

दन्तक्षत वर्णन-

श्री हर्ष जो कि आर्यावर्त प्रदेशीय थे, उन्होंने अपने नायक नल (निषधदेशीय) एवं नायिका दमयन्ती (विदर्भ देशीय) का चरित्र वर्णन किया है, जो वात्स्यायन द्वारा वर्णित महाराष्ट्रीय देश की रीतियों के अन्तर्गत समाहित है। बाण एवं कालिदास ने भी मालवविलासिनियों का वर्णन किया है। महाराष्ट्र देश की स्त्रियाँ चौंसठ कलाओं के प्रयोग में अनुराग रखती हैं, अश्लील गंदे और कड़वे वचन बोलती हैं तथा सम्भोग का प्रारम्भ बड़े जोश खरोश के साथ करती हैं।[1] नैषधकार ने नल दमयन्ती के कामोत्सव में किय जाने वाले जिन दन्तक्षतों का वर्णन किया है, वे कामशास्त्रीय मर्यादा के सर्वथा अनुकूल हैं। वात्स्यायन दन्तक्षतों के स्थानों एवं उनके भेदों का वर्णन करते हुए कहते हैं- "उत्तरौष्ठमन्तर्मुखंनयनमिति मुक्त्वा चुम्बनवद्दशनरदनस्थानानि।"[2] गूढ़कमुच्छूनकं बिन्दुबिन्दुमाला प्रवालमणिर्मणिमाला खण्डाभ्रकं बराहचर्वितकमिति दशनच्छेदनविकल्पाः"।[3] अर्थात् गूढ़क, उच्छूनक, बिन्दु, बिन्दुमाला, प्रवालमणि, मणिमाला, खण्डाभ्रक, एवं वराहचर्वित दन्तक्षत के ये आठ भेद होते हैं। इनके स्थानों का वर्णन करते हुए वात्स्यायन कहते हैं–"तदुभयं बिन्दुरधरमध्यइति।[4] ललाटे चोर्वोबिन्दुमाला। मण्डलमिव विषमकूटकयुक्तं खण्डाभ्रकं स्तनपृष्ठ एव"। संहताः प्रदीर्घाः बह्वयोः दशनपदराजयस्ताम्रान्तराला वराहचर्वितकम्। एतनपृष्ठ एव। विशेषकै कर्णपूरे पुष्पापीडे ताम्बूलपलाशे तमालपत्रे चेति प्रयोज्यागामिषु नखदशनच्छेद्यादीन्याभियोगिकानि।[5]

नैषधीयचरित में वर्णित नखक्षतों का विवरण –

(1) गूढ़क उच्छूनक-

आशीविषेण रदनच्छददंशदानमेतेन ते पुनरनर्थतया न गण्यम् ।
बाधां विधातुमधरे हि नतावकीने पीयूषसारघटिते घटितेऽस्यशक्तिः ।।[6]
नखेन कृत्वाधरसन्निभां निमाद्युवा मृदुव्यंजनमांसफालिकाम् ।
ददंश दन्तैः प्रशशंस तद्रसं विहस्य पश्यन्परिवेषिकाधरम् ।।[7]

---

1. सकलचतुः षष्टिप्रयोगरागिण्योऽश्लीलपरुषवाक्यप्रियाः शयने च सुरभसोपक्रमामहाराष्ट्रिकाः। – कामसूत्र 2/5/29
परिष्वङ्चुम्बननखदन्तचूषणप्रधानाः क्षतवर्जिताः प्रहणनसाध्या मालव्यआभीर्यश्च। – कामसूत्र 2/5/24
2. कामसूत्र - 2/5/1
3. कामसूत्र 2/5/4
4. कामसूत्र 2/5/7
5. कामसूत्र 2/5/15 -, - -18
6. नै० 11/20
7. नै० 16/82 एवं 95

(2) प्रबालमणि, मणिमाला-

चुम्बितं न मुखमाचकर्ष यत्पत्युरन्तरमृतं व वर्ष तत् ।
सा नुनोद न भुजं तदर्पितं तेन तस्य किमभून्नतर्पितम् । नै० 18/70

ईक्षितोपदिशतीव नर्तितुं तत्क्षणोदितमुदं मनोभुवम् ।
कान्तदन्तपरिपीडिताधरा पाणिधूननमियं वितन्वती ।। नै० 18/84

आननस्य मम चेदिनौचिती निर्दयं दशनदंशदायिनः ।
शोध्यते सुदति! वैरमस्य तत्किं त्वया वद विदश्यनाधरम् ।। नै० 18/135

(3) बिन्दु, बिन्दुमाला-

निशि दष्टाधरायापि सैषां मह्यं न रूष्यतु । क्वफलं दशते बिम्बीलता कीराय कुप्यति ।। नै० 20/57

(4) खण्डाभ्रक, वराहचर्वितक-

त्वत्कुचार्द्रनखाङ्कस्य मुद्रामालिङ्गनोत्थिताम् ।
स्मरेः स्वहृदि यत्समेरसखीः शिल्पं तवाब्रवम् ।। नै० 20/79

राजा नल दमयन्ती की सखियों के सामने रात हुए समागम की बातें बता-बता कर हास परिहास का आनन्द लेते हुए कहते हैं कि रात में इन्होंने सारी लाज ताक पर रख दी थी, अब पता नहीं किससे शरमा रही हैं?[1] क्रमशः रात्रिकालीन कामोत्सव विवरण देते हुए[2] सभी को आनन्द मग्न कर दिया है। वात्स्यायन ने भी उपर्युक्त कार्य को करने का विधान किया।[3] समागमावसर में किये गये कार्यों की गणना अपराध में नहीं की जाती बल्कि इससे स्त्रियाँ हर्षोत्फुल्ल हो कामयज्ञ में समर्पण भाव से तल्लीन होती हैं, जैसा कि श्रीहर्ष को भी अभिप्रेत है।[4]

महाकवि कालिदास ने भी नखक्षतों का विवरण दिया है। यथा-

दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुरहस्तपल्लवा ।
शीतलेन निरवापयत् क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ।।[5]

उपर्युक्त दन्तक्षतों के सन्दर्भ के अतिरिक्त नैषधीयचरित में राजाओं के वर्णन प्रसङ्ग में भोजनावसर एवं बीसवें सर्ग में नलदमयंती हास परिहास प्रसङ्ग में मिलते हैं, परन्तु कामसूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "देशसात्म्याच्च योषित उपचरेत्।[6] अर्थात् अपने देश या प्रदेश की रीति के अनुसार ही आलिंगन, चुम्बन नखक्षत और दन्तक्षत करने चाहिए परन्तु आचार्य सुवर्णनाम ने कहा कि देश रीति से अपनी प्रकृति और रूचि श्रेष्ठ होती है, इसलिए अपनी रूचि के अनुसार चुम्बन, आलिंगन, नखक्षत,

---

1. लज्जितानि जितान्येव मयि क्रीडितयाऽनया। प्रत्यावृतानि तत्तानि पृच्छ सम्प्रति कं प्रति।। नै० 20/56
2. नै० 20/58 - - 156
3. दिवापि जनसंबाधे नायकेन प्रदर्शितम्। उद्दिश्य स्वकृतं चिन्हं हसेदन्यैरलक्षिता ।।
   विकूणयन्तीव मुखं कुत्सयन्तीव नायकम्। स्वगात्रस्थानि चिह्नानि सासूयेव प्रदर्शयेत् ।। कामसूत्र 2/5/41, 42
4. आगः शतं विदधतोऽपि समिद्धकामा नाधीयतेपरूषमक्षरमस्य वामाः ।
   चान्द्री न तत्र हरमौलिशया लुरेकाऽनध्यायहेतुतिथिकेतुरपैतिलेखा ।। नै० 11/92
   रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यतं सा प्रभातसमये सखीजनम् नाकरोदपकुतूहलं हिया शंसितुं तु हृदयेन त त्वरे।
   दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
   प्रेक्ष्य बिम्बमुपबिम्बमात्मनः कानि-कानि न चकार लज्जया ।। कुमार 18/10, 11
5. कुमारसंभव- 8/18
6. कामसूत्र - 2/5/20

दन्तक्षत करने चाहिए। देशाचार के बन्धन में बंधे रहना बुद्धिमानी नहीं है।[1] परन्तु समय बीतने के साथ-साथ वात्स्यायन द्वारा बतायी गयी आलिंगनादि विधियाँ भी एक देश की दूसरे देशों द्वारा अपनायी जाने लगी हैं, आज यह स्पष्ट कर पाना कि ये समागम विधियाँ इस देश की है या दूसरे देश की शायद मुश्किल ही होगा, क्योंकि जब एक देश की स्त्री विवाहोपरान्त दूसरे देश (स्थान) में जाती है, तो वह जहाँ जाती है, वहाँ की कामक्रीडा विधि के साथ-साथ वह अपने देश में प्रचलित विधि को भी सम्भोगावसर में अपनाती है, फिर कालिदास ने भी कहा है कि - "भिन्नरूचिर्हि लोकः" अतः सम्भोग की विधियाँ, भी यदि अगणित हों तो उसमें आश्चर्य की कोई बात शायद नहीं होगी, केवल इसमें जो मुख्य तत्व हैं, वे हैं आपस में विश्वास प्रेम एवं समर्पण। ये तीनों तत्त्व पति-पत्नी को दाम्पत्य बन्धन में हमेशा से बांधते आये है, बांधे रखें हैं, एवं आगे भी बांधे रखेंगे। अतएव, स्त्री एवं पुरूष को चाहिए, इन तीन तत्वों को हमेशा हृदयंगम किये रहें। वात्स्यायन ने भी कहा है कि- "परस्पर प्रेम रखते हुए और एक दूसरे के प्रति लज्जा का भाव रखते हुए स्त्री-पुरूष की प्रीति सौ वर्ष से कम नहीं होती।"[2]

श्रीहर्ष इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहते हैं, पति-पत्नी को एक दूसरे के प्रति निष्ठा, विश्वास एवं मैत्री रखनी चाहिए। वह कीर मुखेन कहलवाते हैं कि "जैसे पार्वती भगवान शंकर की गोद में विराजमान होकर सुशोभित होती हैं, उसी तरह आप (दमयंती) भी नल की गोद में सुशोभित हो, क्योंकि आप तो इस जन्म के साथ-साथ जन्मान्तरों में भी सती थीं[3] और नल ने भी दमयन्ती को वचन दिया कि वह जीवन में उसे कभी नहीं छोड़ेंगे।"[4]

साम्प्रयोगिक विधि (आसन) वर्णन –

वात्स्यायन ने संवेशन विधि प्रकरण में नायक एवं नायिकाओं के द्वारा प्रयुक्त विधियों (आसनों) का विशिष्ट रूप में वर्णन किया है वे निम्न हैं, वाभ्रव्य द्वारा निर्देशित उत्फुल्लक, विजृम्भितक, इन्द्राणिक, संपुटक, पीडितक, वेष्टितक, वाडवक, एवं सुवर्णनाभ द्वारा निर्देशित, भुग्नक, जृम्भितक, पीडितक, अर्धपीडितक, वेणुदारित्क, शूलाचितक, कार्कटक, पीडितक, पदमासन, परावृत्तक, जलसंयोग। परन्तु जल संयोग का खण्डन वात्स्यायन ने करते हुए कहा है कि शिष्ट आचार्यों द्वारा जल में संभोग निषिद्ध माना गया है। वात्स्यायन ने सुरतोत्सव आसनों में स्थिररत, अवलम्बितक, धेनुक, संघाटक, गोयूथिक को प्रमुख माना है एवं सबसे अधम मैथुन में अधोरत मैथुन को माना है। श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में प्रत्यक्षतः तो किसी भी विधि का वर्णन नहीं किया, परन्तु वर्णनों के आधार पर नल दमयन्ती के सम्भोग विधि को मुख्यतः सम्पुटक[5] विधि में रखा जाता सकता है।

---

1. देशसात्म्या प्रकृतिसात्म्यं बलीयइति सुवर्णनाभः। न तत्र देश्याउपचाराः। कामसूत्र- 2/5/34
2. परम्परानुकूल्येन तदेवं लज्जमानयोः। संवत्सरशतेनापि प्रीतिर्न परिहीयते।। कामसूत्र- 2/5/43
3. भूभृद्भवाङ्क भुविराजशिखामणेः सा त्वं चास्य भोगसुभगस्य समः क्रमोऽयम् ।
   यन्नाकपालकलनाकलितस्य भर्तुरत्रापि जन्मनि सती भवती स भेदः ।। नै० 21/131
4. त्वं मदीय विरहान्मया निजां भीतिमीरितवती रहः श्रुता ।
   नोज्झितास्मि भवतीं तदित्ययं व्याहरद्वरमसत्यकातरः ।। नै० 18/149.
5. ऋजुप्रसारितावुभावप्युभयोश्चरणाविति संपुटः ।
   सः द्विविधः पार्श्वसंपुट उत्तानसंपुटश्च तथा कर्मयोगात्। कामसूत्र – 2/6/16, 17

वात्स्यायन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सोते समय पुरूष को चाहिए कि वह अपनी स्त्री को अपनी बायीं ओर सुलायें,[1] यही रिवाज परम्परा से चला आ रहा है। श्री हर्ष ने भी व्यंजना से स्त्रियों का वामासन में रहना स्वीकार किया है।[2] वेद में भी कहा गया है कि "वामदेव्योपासनेसर्वाः स्त्रियः उपसीदन्ति।" साथ ही नल दमयन्ती के संभोगकृत विधि को पीड़ितक[3] आसन में भी माना जा सकता है क्योंकि यह विधि सम्पुटक का उद्दाम रूप है। उत्तान सम्पुटक एवं पीडितक का वर्णन परोक्ष रूप से श्रीहर्ष ने करते हुए कहा है कि -

सम्भोरम्भ में नल ने दमयन्ती को अपने बाहुपाशा में लेना चाहिए लेकिन दमयंती ने अपनी पीठ शय्या से इतनी शटा दी थी कि प्रिय के हाथ पीठ के नीचे नहीं जाने पाये। दमयंती क स्तनों पर (नल के) हार की मणियों का बना हुआ चिन्ह देखकर सखियों ने जान लिया कि सुन्दरी ने प्रिय के गाढ़ आलिंगन को सह लिया है।[4] नल के गाढ़ालिंगन के कारण दमयंती के स्तन दबते हैं तब वे ऐसे लग रहे थे मानो वे वहाँ सोने वाले रति और मदन के सिरहान की दो गोली-गोली तकिया हों।[5] दोनों के परिरम्भण मुद्रा में सोना पार्श्व सम्पुट विधि का उदाहरण है।[6] नैषधकार ने नल एवं दमयंती के सम्भोग वर्णन की वैविध्यता प्रतिपादित करते हुए कहा कि न कोई ऐसा सुन्दर स्थान बचा, न कोई सागर छूटा, न कोई वन पर्वत एवं रम्य प्रदेश, और न ही ऐसी कोई विधि बची जहां दमयन्ती ने नल के साथ रमण न किया हो।[7] सभी प्रकार से वह रमण क्रिया में प्रवृत्त हुए, पतिपरायणा दमयन्ती ने अपने पातिव्रत्य तप के प्रभाव से अपने प्रिय नल को जिस रूप में चाहा उसी रूप में उसकी पत्नी बनकर रमण किया। प्रिय को शिव बनाया, तो स्वयं पार्वती बनी एवं प्रिय को वृक्ष बनाया तो स्वयं लता बनी।[8] स्पष्ट है कि श्री हर्ष ने मानव जगत के सामने विभिन्न विधियों के साथ विभिन्न स्थानों में भी सम्भोग करने को निर्देशित किया जिससे प्रतिदिन उन्हें नयापन महसूस हों, एवं वे सम्भोग से तटस्थ न होकर उसकी नवीनता की चारूता का आनन्द ले सकें। वात्स्यायन ने भी कहा कि गाय बैल के सम्भोग की भांति हिरन, बकरे आदि पशुओं की मैथुन क्रिया का अनुकरण करना चाहिए। मैथुन के समय जो पशु जिस प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं, उसी प्रकार की चेष्टाएँ स्त्री-पुरूष को भी करनी चाहिए। यथा – "एतेनैव योगेन शौनमैणेयं छागलं गर्दभाक्रान्तं मार्जारललितकं व्याघ्रावस्कन्दनं गजोपमर्दितं वराहघृष्टकं तुरगाधिरूढकमिति यत्र-यत्र विशेषो योगोऽपूर्वस्तत्तदुपलाक्षयेत्।।[9] पशुनां मृगजातीनां पतङ्गनां च विभ्रमैः। तैस्तैरुपायैश्चित्तज्ञो रतियोगान्विवर्धयेत्।।[10]

---

1. पार्श्वेण तु शयानो दक्षिणेन नारीमधिशयीतेति सार्वत्रिकमेतत्। कामसूत्र 2/6/18
2. कम्रं तत्रोपनम्राया विश्वस्या वीक्ष्यतुष्टवान्। स मम्लौ तं विभाव्याथ वामदेव्याभ्युपासकम्।। नै० 17/194
3. संपुटक प्रयुक्तयन्त्रैनैव दृढमूरू पीडयेदिति पीडितकम्।। कामसूत्र 2/6/19
4. वल्लमस्य भुजयोः स्मरोत्सवे दित्सतोः प्रसभमङ्कपालिकाम् ।
   एक कश्चिरमरोधि बालया तल्पयन्त्रण निरन्तरालया ।। नै० 18/43
   वीक्ष्य भीमतनयास्तनद्वयं मग्नहारमणिमुद्रयाङ्कितम् ।
   सोढकान्तपरिरम्भगाढता सान्वमायि सुमुखी सखीजनैः ।। नै० 18/50
5. वल्लभेन परिम्भपीड़ितौ प्रेयसी हृदि कुचाववापतुः। केलतीमदनयोरुपाश्रये तत्र वृत्तमिलितोपधानताम्।। 18/97
6. मिश्रितोरू मिलिताधरं मिथः स्वप्नवीक्षितपरस्परक्रियम्। तौ ततोऽनु परिरम्भसम्पुटे पीडना विदधतौ निदद्रतुः ।। नै० 18/152
7. न स्थली न जलधिर्न काननं नाद्रिभूर्न विषयो न विष्टपम् ।
   क्रीडिता न सहयत्र तैन सा सा विधैव न यया मया न वा ।। नै० 18/84
8. पत्युरागिरिशमातरू क्रमात्स्वस्य चागिरिजमालतं वपुः।
   तस्य चाहमखिलं पतिव्रता क्रीडति स्म तपसा विधाय सा।। नै० 18/83
9. कामसूत्र 2/6/41।
10. कामसूत्र 2/6/51।

साथ ही जो वात्स्यायन ने यह भी कहा जो पुरूष, स्त्री की इच्छाओं के अनुकूल, देशाचार के अनुकूल तथा समयोचित भावनाओं के अनुकूल मैथुन क्रिया में प्रयुक्त होता है, स्त्रियाँ उस पर अतिशय राग और स्नेह रखती है तथा वह पुरूष-स्त्रियों द्वारा अत्यन्त सम्मानित भी होता है।[1] अतएव समागमारम्भ में इन दशाओं का ज्ञान रखना एवं उन्हें अपनाना अत्यन्त आवश्यक भी है, अनिवार्य एवं अपरिहार्य भी, तभी सम्भोग का पूर्ण आनन्द सम्भव है। श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में अठारहवें या बीसवें सर्ग में काम कला की उद्दाम क्रियाओं का वर्णन किया है। उससे उनकी कामशास्त्रज्ञता का अनुमान पहली ही दृष्टि में किया जा सकता है। नल एवं दमयन्ती ने भी उन सभी विधियों को अपनाया है, जो कामशास्त्रानुसारिणी हैं, क्यों न अपनाये वे दोनो तो कामशास्त्रविशारद जो थे।[2] दमयंती की सखी कला नल से कहती है कि कामशास्त्रविद् आपने हमारी नवोढ़ा सखी को सम्पूर्ण रूप से भोगा ही होगा पर यह हम लोगों से (अपनी बात) कहे भी तो कैसे क्योंकि कामशास्त्र का मत भी है – "बाला बलान्न भुञ्जीत विरोगोपत्ति शङ्कया । भुञ्जीत चेत्पत्रयाभीतित्याजनक्रम संगताम्।।

वात्स्यायन के साथ-साथ श्रीहर्ष ने भी सम्भोग की निरन्तरता को अस्वीकार किया है। श्री हर्ष ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सम्भोगावसर में कुछ अन्तराल अवश्य होना चाहिए, यह स्वास्थ्य एवं सुरतोत्सव में नवीनता लाने में भी सहायक है। इसके उदाहरण में उन्होंने चक्रवाकपक्षी के जोड़े को लिया। नैषधीयचरित में एक जगह श्रीहर्ष कहते हैं कि संसार में चक्रवाक के जोड़े ही कामशास्त्र के रहस्य को जानते हैं, जो नित्य नियुक्त होकर सम्भोग का नवीन सुख प्राप्त करते हैं। क्योंकि किसी वस्तु का अनवरत उपभोग तो उद्वेग पैदा कर देता है निरन्तर अमृतपान करने से जो अरूचि हुई, उसी कारण भगवान शंकर ने स्वाद बदलने के विष का पान कर गये।[3] स्पष्ट है कि श्रीहर्ष ने इसके माध्यम से जगत के स्त्री पुरूषों को सम्भोग क्रिया में कुछ अन्तराल रखने की सलाह दी। श्रीमद्भागवत् में भी कहा गया है, मैथुन, मद्यपान और मांसभक्षण में किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि इनकी ओर व्यक्तियों का झुकाव स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है। परन्तु इनमें विशेष अवसर पर प्रवृत्त होना, या इनसे निवृत्त होना ही इष्ट है।[4] मनुस्मृतिकार ने भी कहा है कि मांसभक्षण, मद्यपान और मैथुन के सेवन से कोई पाप दोष नहीं लगता क्योंकि ये तो देहदाहिरयों की प्रवृत्ति के अन्तर्गत ही आते हैं, हाँ इन विषयों के सेवन से निवृत्त या दूर रहा जाय तो मनुष्य कल्याण प्राप्त कर सकता है।[5] श्रीहर्ष ने कहा है कि नल की भक्ति के शतांशमात्र से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरूषार्थ सुलभ थे।[6] परन्तु नल जो स्वयं परमज्ञानी थे, उन्होंने दमयन्ती के साथ-साथ राजलक्ष्मी का इस प्रकार भोग किया कि उन्हें पाप छू तक नहीं गया।[7] भोग की महत्ता का प्रतिपादन करती हुई इन्द्राणी कहती है जो स्त्री को प्रसन्न नहीं रख सकता वह कथमपि ऐश्वर्यवान नहीं

1. तत्सात्म्याद्देशसात्म्याच्च तैस्तैर्भावैः प्रयोजितैः। स्त्रीणां स्नेहश्च रागश्च बहुमानश्च जायते।। कामसूत्र 2/6/52
2. स्मरशास्त्रविदां सेऽयं नवोढा नस्त्वया सखी। कथं संभुज्यते बाला कथमस्मासु भाषताम्।। नै० 20/39
   स्मरशास्त्रमधीयाना शिक्षितासि मयैव यम् ।। नै० 20/64 (पूर्वार्द्ध)
3. जगति मिथुने चक्रावेव स्मरागमपारगौ नवमिव मिथः संभुञ्जाते वियुज्य वियुज्ययौ ।
   सततममृतादेवाहाराद्यदापदरोचकं तदमृतभुजां भर्ता सम्भुर्विषं बुभुजे विभुः ।। नै० 19/34
4. लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
   व्यवस्थितेस्तुषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ।। श्रीमदभागवत 11/5/11
5. न मांसभक्षण्दोषः न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला। मनुस्मृति 5/56
6. फलसीमां चतुर्वर्ग मच्छतांशोऽपि गच्छति। नै०17/142
7. आत्मवित्सह तथा दिवानिशं भोगभागपि न पापमाप सः। आहता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति।। नै० 18/2

हो सकता।[1] महाकवि कालिदास ने भी दाम्पत्य प्रेम का वर्णन करते हुए पत्नी के पातिव्रत धर्म को अपनाने का वर्णन किया है। यथा –

> तवोरूकीर्तिः श्वसुरः सखामे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
> धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तत्र येनासि ममानुकम्पया ।।[2]
>
> जाने सख्यास्तव मयिमनः सम्भृतस्नेहमस्मादित्यम्भूतां प्रथमे विरहे तामहं तर्कयामि ।
> वाचात्मं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरूक्तं मयायत्।।[3]

प्रहरण सीत्कार विवरणः-

कामशास्त्र के आचार्यों का मत है कि सुरतोत्सव में पुरूष एवं स्त्री को प्रहणन एवं सीत्कार जैसी क्रियाओं को अपनाना चाहिए क्योंकि ये दोनो परस्पर कामोद्रेकता के साथ-साथ रागोत्पत्ति में भी सहायक है। प्रहणन एवं उनके स्थानों का वर्णन करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं- "कलहं सुरतमाचक्षते। विवादात्मकत्वाद्वामशीलत्वाच्च कामस्य। तस्मात्प्रहणनस्थानमङ्गम्, स्कन्धौ शिरः स्तनान्तरं, पृष्ठं, जघनं पार्श्व इति स्थानानि।[4] प्रमुख रूप से प्रहणन् 4 प्रकार के होते हैं, अपहस्तक, प्रसृतक, मुष्टि एवं समतल। कामसंवेगता में पुरूष द्वारा इनके आघात से स्त्री के मुंख से जो आवाज निकलती है, उसे सीत्कृत कहते हैं।[5] सीत्कार अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु ध्वनियों के आधार पर वात्स्यायन ने इन्हें आठ प्रकार का माना। यथा, हिंकार, स्तनित, कूजित, रूदित, सूत्कृत, दूत्कृत, फूत्कृत, अम्बार्थ आदि।[6] श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में प्रहणन एवं सीत्कार का विवरण प्रभूत मात्रा में दिया है। सुरतोत्सव पूर्व भूमिका तैयार करती दिखती दमयन्ती नल से कहती है-

> चुम्ब्यसेऽयमयमयङ्कयसे नखै श्लिष्यसेऽयमयमर्प्यसे हृदि ।
> नो पुनर्न करवाणि ते गिरं हुं त्यजत्यज इवास्मि किंकरा ।।
>
> इत्यलीकरतकातरा प्रियं विप्रलभ्य सुरते हियं च सा ।
> चुम्बनादि विततार मायिनीं किं विदग्धमनसामगोचरः ।।[7]

प्रहणन वर्णनः-

> यद्भ्रुवौ कुटिलिते तयारते मन्मथेन तदनामि कार्मुकम् ।
> यत्तु हुंहुंमिति सा तदा व्यधात्तत्स्मरस्य शरमुक्तिहुंकृतम् ।।
>
> ईक्षितोपदिशतीव नर्तितुं तत्क्षणोदितमुदं मनोभुवम् ।
> कान्तदन्तपरिपीडिताधरा पाणिधूननमियं वितन्वती ।।[8]

---

1. न सेशे यस्य रम्वतेन्यरा सक्थ्याकपृत् । सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते ।।
   न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते । सेदीशे यस्य रम्वतेऽन्तका सक्थ्या कपृद् ।। ऋग्वेद 10/86,16,17
   मैथुनं परमं तत्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्। मैथुनात् जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ।। महार्णवतन्त्र
2. रघुवंश 14/74
3. उत्तरमेघ, श्लोक 36
4. कामसूत्र- 2/7/11, 12।
5. तदुद्भवं च सीत्कृतम्। तस्यार्तिरूपत्वात्। तदनेकविधम् ।। कामसूत्र 2/7/4।
6. हिंकारस्तनितकूजितरूदितसूत्कृतदूत्कृतफूत्कृतानि ।
   अम्बार्था शब्दाः वारणार्था मोक्षणार्थेश्चालमर्थास्ते ते चार्थयोगात्।। कामसूत्र 2/7/6, 7।
7. नै० 18/90,91।
8. नै० 18/93,94।

अन्यदस्मि भवतीं न याचिता वारमेकमधरं धयामिते ।
इत्यसिस्वददुपांशुकाकुवाक्सोपमर्दहठवृत्तिरेव . तम् ।।

पीततावकमुखासवोऽधुना भृत्य एष निजकृत्यमर्हति ।
तत्करोमि भवदूरूमित्यसो तत्र सन्यधित पाणिपल्लवम ।।

चुम्बनादिषु बभूव नाम किं तद्वृथाभियमिहापि मा कृथाः ।
इत्युदीर्य रसनावलिव्ययं मिर्ममे मृगदृशोऽयमादिदम् ।।[1]

सीत्कार वर्णनः-

आहनाथवदनस्य चुम्बतः सा स्म शीतकरतामनक्षरम ।
सीत्कृतानि सुदती वितन्वती सत्वदत्तपृथुवेपथुस्तदा ।। नै० 18/104

अस्तिवाम्यभरमस्तिकौतुकं सास्तिधर्मजलमस्ति वेपथुः ।
अस्तिभीति रतमस्ति वाञ्छितं प्रापदस्तिसुखमस्तिपीडनम् ।। नै० 18/62

विश्लथैरवयवैर्निमीलया , लोमभिर्दुतमितैर्विनिद्रताम् ।
सूचितं श्वसितसीत्कृतैश्च तो भावमकमध्यगच्छताम् ।। नै० 18/117

श्रीहर्ष के उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट होता है कि सीतकारोपरान्त नल एवं दमयन्ती दोनों आनन्द की चरमस्थित यहां तक कि योग की असम्प्रज्ञात समाधि में लीन हो गये। उसी तरह जैसे विपरीत दिशाओं से आने वाली दो जल धाराओं का संगम होने पर यह पता नहीं चल पाता कि कौन जल किस जलधारा का है, अर्थात्, दोनों दो होकर भी, दो न रहे, या यह कहा जा सकता है कि उन दोनों को अपने-अपने अस्तित्व की प्रतीति की अनुभूति न रह गयी। महाकवि कालिदास ने भी सुरतोत्सव वर्णन कामशारत्र सम्मत विधि से किया है यथा-

तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जान्हवी पुलिनचारूदर्शनम् ।
अध्यशेत शमनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ।।

क्लिष्टकेशमवलुप्त चन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ।।

केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्तिषु ।
तेन सत्प्रतिग्रहीतवक्षसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम् ।।[2]

समदिवसनिशीथं सङ्गिस्तत्र शम्भोः शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव ।
न तु सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ।।[3]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि श्री हर्ष ने नैषधीयचरित में प्रहणन एवं सीत्कार का जो विवरण दिया है, वह सर्वथा कामशास्त्रानुरूप है, क्योंकि वात्स्यायन ने भी कहा है कि स्त्री की कोमलता, काम की प्रचण्डता और उसकी सहनशक्ति को समझते हुए तथा अपनी शक्ति का अनुमान करके ही पुरूष को सम्भोग में प्रवृत्त होना चाहिए।[4] हालांकि वात्स्यायन ने 8 प्रकार के प्रहणन (प्रहारों) यथा- अपहस्तक, प्रस्ततक, मुष्टि एवं समतल तथा दक्षिण देश के निवासियों में प्रचलित छाती में कीला, शिर में कर्तरी,

1. नै० 18/59,60,61।
2. कुमारसम्भव 8/82, 83, 84
3. कुमारसम्भव 8/91
4. आत्यन्तिकं तु तत्रापि परिहरेत्। कामसूत्र 2/7/27

गालों में विद्धा, स्तन तथा बगलों में संदशिका का विवरण तो दिया है, परन्तु इनकी निन्दा भी की है, क्योंकि इनके प्रहार विधियों से कभी-कभी स्त्री की मृत्यु तक हो जाती है, शायद इसीलिए श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में इनका वर्णन नहीं किया है। क्योंकि चोल राज्य के राजा ने चित्रसेन नाम की वेश्या की छाती पर कामान्ध होकर ऐसा प्रहार किया कि वह मर गयी, ऐसा ही कुन्तल देशाधिपति शरतकीर्ण के द्वारा महादेवी मलयवती की मृत्यु हो गयी, एवं पाण्ड्यदेश के सेनाध्यक्ष नरदेव के प्रहार से नर्तकी कानी हो गयी थी, तभी वात्स्यायन ने स्पष्ट कहा है कि जिन प्रहारों से अंग भंग होने या मृत्यु होने की आशंका हो, उनके प्रयोग नहीं होने चाहिए जहां उनका प्रचलन है। साथ ही एक देश की रीति उसी के अनुकूल होती है अत्यत्र नहीं, इसलिए एक जगह की प्रथा का प्रयोग दूसरी जगह कदापि नहीं करनी चाहिए।[1] परन्तु जब मनुष्य कामान्ध होकर सम्भोग में प्रवृत्त होता है, तो वह न तो शास्त्र के वचनों पर विश्वास करता है और न बाद के परिणामों की ही चिन्ता करता है इस प्रकार के दुष्परिणामों का एक मात्र कारण केवल राग ही है।[2] उसके दुष्परिणाम का यथेष्ट उदाहरण बेगान्ध होकर दौड़ता हुआ घोड़ा है जो खाई, खन्दक की परवाह किसे बिना सरपट भागता चलता है वही स्थिति स्त्री पुरूषों की भी कामसंवेगता में होती है।[3] परन्तु नैषधनरेश नल एवं दमयन्ती के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने वात्स्यायन द्वारा निदिंत प्रहणन को नहीं अपनाया, क्योंकि यह प्रहणन (प्रहार) शिष्ट, समाज का अंग नहीं है। हां चुटकी लगाकर चुम्बन या हाथ का कोमल स्पर्श करते हुए स्त्री को कामोत्तेजित करना जैसे विधान को उन्होंने अवश्य अपनाया। कठोरता, धृष्टता, साहस पुरूष के स्वाभाविक गुण हैं; तथा असमर्थता पीड़ित होना निवारण करना और निर्बलता, कोमलता स्त्रियों के स्वाभाविक गुण हैं। शायद इसीलिए पुरुष-स्त्री पर प्रहणन का प्रारम्भ करता है, और स्त्री सीत्कार करती रहती है।[4] परन्तु झिझक दूर होने पर वह प्रहणन तो अपनाती है क्योंकि स्त्री में पुरूषों की अपेक्षा आठ गुना कामेच्छा होती है, परन्तु आंशिक रूप से ही, क्योंकि वह रतिमर्दित होने पर ही असीम आनन्दानुभूति प्राप्त करती है न कि खुद के प्रहणन द्वारा, ऐसा लोकजीवन में व्यवहरित स्त्री पुरूषों के अनुभवों से स्पष्ट होता आया है। सम्भोग काल की सभी प्रकार की क्रियाएँ हर समय हर स्त्री में नहीं जा सकती और यह उचित भी नहीं, इसलिए स्त्रियों के अनुकूल जिसे वे पसंद करती हों[5] साथ ही देशाचार के अनुकूल हो, उसी तरह की सम्भोग क्रियाएँ करनी चाहिए,[6] ऐसा कामसूत्रकार का कथन है। स्मरणीय है कि नैषधकार ने नल एवं दमयन्ती के सुरतोत्सव वर्णन में कामशास्त्रीय उन सभी विधाओं को अपनाया है, जो कि लोकजीवन में मानवों द्वारा व्यवहरित होते हैं।

विपरीत रति या पुरूषायित वर्णः-

कामशास्त्र के आचार्यों का मत है कि (सुरतोत्सव में) जब स्त्री पुरुष के समान आचरण करती है, तो उसे पुरूषायित या विपरीत रति कहते हैं। नैषधटीकाकार नारायण ने विपरीत रति के बारे में कहा कि

---

1. तथान्यदपि देशसात्म्यात्प्रयुक्तमन्यन्न न प्रयुज्जीत ।। कामसूत्र 2/7/26
2. नास्तयत्र गणना काथिन्न च शास्त्रपरिग्रहः । प्रवृत्ते इतिसंयोगे राग खात्र कारणम् ।। कामसूत्र 2/7/31
   स्वप्नेष्वपि न दृश्यन्ते ते भावास्ते विभ्रमाः । सुरतव्यवहारेषु ये स्युस्तत्क्षणकल्यिताः ।। कामसूत्र 2/7/32
3. यथा ही पञ्चमीं धारामास्थाय तुरगः पथि । स्थाणुं श्वभ्रं दरीं वापि वेगान्धो न समीक्ष्यते ।।
   एवं सुरतसंमर्दे रागान्धौ कामिनावपि । चण्डवेगौ प्रवर्तेते समीक्षेते न चात्ययम् ।। कामसृत्र 2/7/33
4. पारूष्यं रभसत्वं च पौरुषं तेज उच्यते । अशक्तिरार्तिर्व्यावृत्तिरबलत्वं च योषितः ।। कामसूत्र 2/7/22
5. रागात्प्रयोगसात्म्याच्च व्यत्ययोऽपि क्वचिद्भवेत् । न चिरं तस्य चैवान्ते प्रकृतेरेव योजनम् ।। कामसूत्र 2/7/23
6. न सर्वदा न सर्वासु प्रयोगाः साम्प्रयोगिकाः । स्थाने देशे च काले च योग एषां विधीयते ।। कामसूत्र 2/7/35

"कामशास्त्राभ्यास कौशलाद्यद्विपरीतसुरतमकार्षीः, तत्स्मरेत्यर्थः। केलेः पुंस्त्वं पूर्वं दर्शितम्।"[1] कामसूत्रकार ने विपरीत रति के बारे में अभिहित किया'' नायकस्य सतताभ्यासात्परिश्रममुपलभ्य रागस्य चानुपशमम्, अनुगता तेन तमधोऽवपात्य पुरुषायितेन साहाय्यं दद्यात्। स्वाभिप्रायाद्वा विकल्पयोजनार्थिनी। नायक कुतूहलाद्वा।[2] स्पष्ट है कि रूचि नवीनता एवं मनोरंजन तथा कुतूहल स्थापना हेतु ही कामयज्ञ की यह विधि वात्स्यायन के मत में सार्वजनीन सिद्ध होती है न कि कामयज्ञ प्रतिपादन में, क्योंकि विपरीत आसनों या अस्वाभाविक आसनों से यदि कामोत्सव स्त्री या पुरूष सम्पन्न करते हैं, तो सन्तान के विकलांग होने की सम्भावनाओं के साथ-साथ, पुरूष या स्त्री के कोमलांगों को भी क्षति पहुँच सकती है। यद्यपि वात्स्यायन ने साम्प्रयोगिक कार्य में दस प्रकार के (पुरूष द्वारा स्त्री में किये जाने वाले) उपसृप्तकों (धक्कों) का विवरण दिया है यथा- उपसृप्तक, मन्थन, हुल, अवमर्दन, पीड़ितक, वराहघात, वृषाघात, चटकविलसित एवं सम्पुट।[3] परन्तु उन्होंने केवल उपसृप्तक को ही श्रेष्ठ माना, अन्य को हेय।[4] क्योंकि इस में शिष्टता, कोमलता एवं वैज्ञानिकता है। लेकिन स्त्री की अनुकूलता और प्रसन्नता का ख्याल रखकर इनमें से किसी एक का प्रयोग किया जा सकता है।[5] विपरीत रति तीन प्रकार की होती है- सन्दंश, भ्रमरक और प्रेङ्खोलित।[6] नैषधकार ने अपने ग्रंथमें विपरीत रति का विवरण तो अवश्य दिया है, परन्तु शायद श्रीहर्ष को यह विधि दाम्पत्य जीवन के लिए उपयोगी न लगी हो, अतएव उन्होंने इस रति को केवल प्रणय लीला तक ही सीमित रखा। परन्तु उनके विवरणों से यह प्रतीत होता है कि नल एवं दमयन्ती विपरीत रति के जानकार थे। दमयन्ती की सखी कला दमयन्ती को उपालम्भ देती हुई कहती है – स्मरशास्त्रमधीयाना शिक्षितासि मयैव यम्। अगोपि सोऽपि कृत्वा किं दाम्पत्यव्यत्ययस्त्वया।।[7] साथ ही नल दमयन्ती के साथ[8] प्रणय वर्णन करते हुए कहते हैं कि उस रति क्रीडा को याद करो जब तुम पुरुष बनकर मेरे ऊपर थी, और मैंने तुम्हें सम्बोधन में भवन्! कहा था और तुम लजाकर मुस्करा पड़ी थी, साथ ही विपरीत रति के समय तुम्हारे ललाट तथा कपोल पर लगी कस्तूरी पसीने के साथ तुम्हारी ठुढ्ढ़ी पर बूंदो के रूप में लटक रही थी। श्मश्रु के समान वह तुम्हें उस क्षण के योग्य ही बना दिये थे, क्योंकि तुम पुरुष के समान मेरे ऊपर थी, तुम्हें यह भी स्मरण होगा कि तुमने अपना वह प्रतिबिम्ब मेरे वक्षःस्थल पर मोतियों के हार के बीच की मणि में भी देखा था।[9] इसके साथ-साथ नैषधीयचरित के नल दमयनी विवाह वर्णन में भी व्यंजना से विपरीतरति का वर्णन करते हुए श्री हर्ष कहते हैं – विदर्भजायाः करवारिजेन यन्नलस्य पाणेरुपरिस्थितं किल। विशङ्कय सूत्रं पुरुषायितस्य तद्भविष्यतोऽस्मायि तदा तदालिभिः।[10] विपरीत रति की प्रासंगिता की समीचीनता का वर्णन करते हुए वात्स्यायन कहते हैं स्त्री का जैसा शील स्वभाव होता है एवं जैसी उसकी काम वासना होती है, वह विपरीत रति से स्पष्ट हो जाती है।[11] क्योंकि जो कामिनी स्त्रियाँ लज्जा और

---

1. नै 0 20/93
2. कामसूत्र 2/8/1,2,3
3. कामसूत्र 2/8/20- - - 23
4. न्याय्यमृजुसंमिश्रण मुपसृप्तकम्-कामसूत्र 2/8/21
5. तेषां स्त्रीसात्म्याद्विकल्पेन प्रयोगा- कामसूत्र 2/8/31।
6. पुरूषायिते तु संदंशो भ्रमरकः प्रेङ्खोलितमित्यधिकानि। कामसूत्र 2/8/32- - -36
7. नै० 20/64
8. स्थापितामुपतिर स्वस्यतां ह्रदा स मुदा वहन् । तदुद्वहनकर्तृत्वमाचष्ट स्पष्टमात्मनः ।। नै० 20/144
9. कमापि स्मरकेलिं तं स्मर यत्र भवन्निति । मया विहित सम्बुद्धिर्व्रीडिता स्मितवत्यसि ।।
   नीलदाचिबुकं यत्र , मदाक्तेन , श्रमाम्बुना । स्मरहारमणौ दृष्टं स्वमास्यं तत्क्षणोचितम ।। नै० 20/93 94
10. नै० 16/15
11. यथाशीला भवेन्नारी यथा च रतिलालसा । तस्या एव विचेष्टाभिस्तत्सर्वमुपलक्षयेत् ।। कामसूत्र 2/8/40

शील के कारण अपने भावों को छिपाये रखती हैं, वे भी विपरीत रति में कामातुर होकर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया करती है।[1] परन्तु रजस्वला, प्रसूता गर्भवती, मृगी और अत्यन्त मोटी स्त्री को विपरीत रति में प्रवृत्त न होने का निर्देश महर्षि वात्स्यायन ने दिया है।[2] अथर्ववेद में भी विपरीत रति निषेध का वर्णन मिलता है।[3] स्पष्ट है कि सम्भोग तो एक प्रकार का योग है, दो आत्माओं का परस्पर मिलन है, दो हृदयों की एकता का भाव है द्वैत से अद्वैत होने की अभीप्सा है, यह मनोरंजन, मजाक या वासनापूर्ति का साधन मात्र नहीं है। विपरीत रति भी परस्पर प्रेम और रागवृद्धिकारक एक प्रकार का रतियुद्ध है। सम्भवतः नैषधकार से प्रभावित होकर गीतगोविन्दकार जयदेव ने राधा और कृष्ण के रति युद्ध का विवरण देते हुए लिखा है कि–

मारार्ङ्के रतिकेलिसङ्कुलरणारम्भे तया साहसप्रायं कान्तजयाय किंचिदुपरि प्रारम्भि यत्सम्भ्रमात् ।
निष्पन्दा जघनस्थली शिथिलता दोर्वल्लिरुत्कम्पितम् वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिद्धयति ।।[4]

वास्तव में पुरुषायित और उपसृप्तक ये दोनों प्रयोग पति-पत्नी, प्रेमी प्रेमिका के बीच राग और अनुराग बढ़ाने में सहज रूप में सहायक प्रतीत होते है, तभी तो श्रीहर्ष ने पुरुषायित (विपरीत रति) का भी वर्णन नैषध में किया है। महाभारत के विवरणों से भी स्पष्ट है कि नल एवं दमयन्ती की प्रीतिसौख्यता का सौरभ तो दिगदिगन्त में प्रसृत था, शायद वे पूर्वजन्म में भी पति-पत्नी रहे होंगे, जैसा कि वीर ने वर्णन किया था कि आप (दमयन्ती) तो युगों से सती हैं। फिर उनके बीच प्रेमोद्रेक होना तो स्वतः सिद्ध ही मानना अभीष्ट होगा।

रतिक्रिया और प्रणय कलह (रतारम्भावसानिक) वर्णनः-

रतिक्रिया एवं प्रणय कलह का प्रसङ्ग रतावरम्भ (सम्भोगारम्भ) एवं रतावसान के बाद दोनों स्थितियों में अपनाया जाता है। ये रागवृद्धिकारक तत्व हैं । यह अनुभव सिद्ध बात है कि सुरतोत्सवारम्भ में प्राक्कीड़ा अर्थात् रतिस्थापन (प्रेम प्रदर्शन) एवं प्रणय कलह की अत्यधिक आवश्यकता होती है, क्योंकि इसमें आदि से अन्त तक भावस्पर्श की प्रधानता रहती है इसमें स्त्रियों की 'न' में उनकी हाँ ही समझना चाहिए क्योंकि स्त्रियाँ तो स्वभाव से शर्मीली एवं लज्जालु होती है, एवं उनकी नकारात्क ध्वनि उनकी कामनासना की पूर्ति में सहायक ही होता है न कि निरुद्धक। संभोगानन्तर स्त्री और पुरुष दोनों उत्साहहीन एवं शिथिल हो जाया करते हैं, उसी उत्साह ओर तीव्रता को जागृत करने के लिए स्फूर्ति और खोई हुई शक्ति प्राप्त करने के लिए रतिक्रिया एवं प्रणय कलह अनिवार्य एवं आवश्यक होती है। परन्तु यह विषयों के सन्निकर्ष से ही हो सकती है। इसीलिए प्रणय कलह को श्रेष्ठ 'दाम्पत्य जीवन का लक्षण माना गया है । कदाचित् इसी लिए काव्यों, नाटकों, (कथानकों) (आख्यानों) में जो रस-राग आदि वर्णन होता आया है, उसमें प्रणय, कलह अवश्य समाविष्ट रहता है। प्रणय कलह की प्रासंगिकता इसी से सिद्ध होती है कि उसे दाम्पत्य जीवन की पवित्र प्रक्रिया और भावना मानकर वैष्णव साहित्य सन्त साहित्य एवं सूफी साहित्य में भी रामसीता, लक्ष्मी नारायण, राधा कृष्ण, प्रकृति एवं परमात्मा, माया और ब्रह्म के प्रणय कलह के रोचक प्रसंग भक्तिभाव पूर्ण शब्दों में प्रस्तुत किये गये हैं। यथा-

---

1. प्रच्छादितस्वभावापि गूढाकारापि कामिनी । विवृणोत्येव भावं स्वं रागादुपरिवर्तिनी ।। कामसूत्र 2/8/39
2. न त्वेवर्तौ न प्रसूतां च मृगी न च गर्भिणीम् । न चातिव्यायतां नारी योजयेत्पुरुषायिते ।। कामसूत्र 2/8/41
3. अथर्ववेद- 14/2/36
4. गीतगोविन्द 12/63

शय्यागृहे माम्निशि वञ्चयित्वा, स्थितो भवान् कुलचिदाप्रभातम् ।
त्यक्त्वा सदा त्वत्पदासक्तचित्तां, युक्तं तवैतद् वद देव देव ।।

एक तरफ महाकवि जयदेव ने गीतगोविन्द के आठवें एवं दसवें सर्ग में राधाकृष्ण के प्रणय कलह का बड़ा सजीव और रोचक वर्णन किया है तो दूसरी ओर रूपगोस्वामी ने भी उज्जवल नीलमणि में प्रणय कलह के बड़े सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। इसी श्रृङ्खला की आदि कड़ी में भास, कालिदास, के साथ श्रीहर्ष ने भी प्रणय कलह के रोचक विवरण दिये हैं। नैषधीयचरित के अठारहवें, उन्नीसवें एवं बीसवें, इक्वीसवें एवं बाइसवें सर्ग में रतिक्रिया एवं प्रणय कलह का रोचक प्रसंग इतने भावगम्भीर शैली में प्रतिपादित है कि वह आज भी जनमनहारी होने के साथ-साथ अपनी प्रासंगिकता की अर्थवत्ता की गरिमा में धूल नहीं पड़ने दिये। श्री हर्ष सम्भोगावसर में नल एवं दमयन्ती के प्रणय रोष का वर्ण्न करते हुए कहते हैं कि नल के रूठने पर दमयन्ती ने प्रिय को मना लिया क्योंकि उसे यह डर लगा कि कहीं यह पराई स्त्री का दामन न थाम लें।[1] प्रणय कलह तो सम्भोगारम्भ का एक युक्तियुक्त साधन है, इसी को प्रतिपादित करती हुई दमयन्ती नल से प्रेम प्रदर्शित करती दिखती है।[2] तो नल भी शयनकक्ष में बीच-बीच में अपने कौतुकों से दमयन्ती को आश्चर्य में डाल देते । यथा –

स्वेप्सितोद्गमितमात्रलुप्तया दीपिकाचपलया तमोघने ।
नर्विशङ्करतजन्मतन्मुखाकूतदशनिसुखान्यभुङ्.न्त सः ।।[3]

साथ ही दमयन्ती जब नखचिन्हों को देख रही थी, तब नल ने अपनी मुसकान से दमयन्ती को क्रोधित कर दिया, परन्तु नल ने कहा कि प्रिये पता नहीं तुम्हें किसने रूष्ट कर दिया।[4] एवं दमयन्ती को मनाते हुए महाराज नल कहते हैं कि प्रिये कोप को छोड़ दो, एवं दमयन्ती की अनुनय विनय करते-करते जब नल दमयन्ती के चरण स्पर्श हेतु अपना हाथ बढ़ाया हैं तो दमयन्ती का मान (क्रोध) लुप्त हो गया।[5] एवं उसने अपनी मुस्कान से नल के हृदय को कृतार्थ कर दिया और दोनों रतिसुख लेने के लिए लालायित हो उठे। नल दमयन्ती की सखियों से दमयन्ती की सम्भोगकृति का वर्णन जब करते हैं, तो दयमन्ती रूठ जाती है, विविध विधियों से पुनः नल दमयन्ती को मनाते है।[6] एवं दमयन्ती को पुनः लक्ष्य कर कहते हैं – अहो! नापत्रपाकं ते जातरूपमिदं मुखम्। नातितापार्जनेऽपि स्यादितो दुर्वर्णनिर्गमः।।[7] अर्थात प्रिये तुम्हारा सलज्ज मुख कैसा सुवर्ण है कि अत्यन्त क्रोध रूपी ताप आने पर भी इसके रूप में विकार नहीं आता साथ ही दमयन्ती की प्रशंसा करके नल खुद मन्त्रमुग्ध होते है। एवं दमयन्ती भी उनकी वर्णन चारूता की कायल प्रतीत होती है।[8] स्पष्ट है कि दोनों नल एवं दमयन्ती प्रणय कलह एवं रतिक्रिया स्थापन क्रियाओं एवं

---

1. स्वाङ्मर्पयितुमेत्य वामतां रोषितं प्रियमथानुनीय सा। आतदीयहठसम्बुभुक्षुतां नान्वमन्यत, पुनस्तमर्थिनम्।। नै० 18/81
2. चुम्ब्यसेऽयमयमङ्कयसे नखै श्लिष्यसेऽयमयमर्प्यसे हृदि। नो पुनर्न करवाणि ते गिरं हु त्यज त्यज इवास्मि किंकरा ।।
   इत्यलीकरत्तकातरा प्रियं विप्रलभ्य सुरते ह्रियं च सा । चुम्बनादि वित्तार माथिनी किं विदग्धमनसामगोचरः ।। नै० 18/90, 91
3. नै० 18/92
4. शेषरूषितमुस्त्रीभिव प्रिया वीक्ष्य भीतिदरकम्पिताक्षराम्। तां जगाद स न वेद्मि तन्वि! तं कश्चकार तव कोपरोपणम्।। नै० 18/131
5. आख्यतैष कुरू कोपलोपनं पश्य नश्यति कृशि मधोर्निशा। एतमेव तु निशान्तरे वरं रोषशेषमनुसेत्स्यसि क्षणम् ।। नै० 18/139
   साथ माथमनयत्कृतार्थतां पाणिगोपितनिजांघ्रिपङ्कजा । तत्प्रणामधुतभवन्माननं स्मेरमेव सुदती वितन्वती ।। नै० 18/140
   नौ मिथौ रतिरसायनात्पुनः समबुभुक्षुमनसौ बभूवतुः। चक्षमे न तु तयोर्मनोरथं दुर्जनीरजनिरल्पजीवना ।। नै० 18/142
6. नै० 20/27 - - -134
7. नै० 20/141
8. नै० 21/150 - - -160

उनकी विधियों से बखूबी परिचित थे। श्रीहर्ष के विवरणें से यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि उनके रतिक्रिया एवं प्रणय कलह विवरण भी सर्वथा कामशास्त्र सम्मत हैं क्योंकि वात्स्यायन ने भी कहा है कि परस्पर राग और अनुराग की बातें करते हुए साथ ही आलिंगन और चुम्बन करने से प्रसन्नता और राग बढ़ते हैं।[1] यह राग सात प्रकार का होता है- रागवत, आहार्यराग, कृतिमराग, व्यवहितराग, पोटारत खलरत, अयन्त्रितरत। इसमें आहार्यराग ही श्रीहर्ष को अभीष्ट है क्योंकि इसमें धीरे-धीरे स्त्री से प्रेम एंव विश्वास बढ़ाकर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। प्रणय कलह एवं रतिस्थापन क्रियाएँ तो चौंसठ कलाओं के अंग भी है, श्रीहर्ष ने तो पदे-पदे चौंसठ कलाओं की महिमा गायी है, एवं महर्षि वात्स्यायन ने तो इन्हें प्रत्येक गृहस्थ को अपनाने की बात की है।[2]

कन्या का चुनाव एवं विवाह (कन्या सम्प्रयुक्तक) वर्णनः-

कन्या के विवाह के लिए वरण करने का विधान बताते हुए वात्स्यायन कहते हैं- "सवर्णायामनन्यपूर्णायां शास्त्रोऽधिगतायां धमोऽर्थः पुत्राः सम्बन्धः पक्षवृद्धिरनुपस्कृता रतिश्च"। तस्मात्कन्यामभिजनोपेतां मातापितृमतीं त्रिवर्षात्प्रभृति न्यूनवयसं श्लाध्याचारेधनवति पक्षवति कुले सम्बन्धिप्रिये सम्बन्धिभिराकुले प्रसूतां प्रभूतमातृपितृपक्षां रूपशीललक्षणसम्पन्नामन्यूनाधिकाविनष्टदन्तनखकर्णकेशाक्षिस्तनीम रोगिप्रकृतिशरीरां तथाविध एव श्रुतवाञ्शीलयेत्।[3] परन्तु आचार्य घोटकमुख का कहना है कि जिस कन्या से विवाह करके पुरूष अपने को धन्य समझे, तथा जिससे विवाह करने पर सदाचारी मित्रगण प्रशंसा करें, निन्दा नहीं, उससे विवाद करना उपयुक्त है।[4] गुणी कन्या का वरण करने के लिए माता-पिता और सम्बन्धी लोग प्रयत्न करें, मित्रगण भी, जो दोनों ओर से सम्बन्धित हों, उन्हें भी प्रयत्न करना चाहिए।[5] साथ ही कुछ आचार्यों का मत है कि जिस कन्या से मन और आँखें मिल जाँय उससे विवाह करने में सुख और वृद्धि होती है "नेत्रप्रीतिः प्रथमम्" यदि मन नहीं मिलता, आंखें नहीं मिलती तो विवाह नहीं करना चाहिए।[6] श्री हर्ष ने नैषधीयचरित में वर्णन किया है कि कर्णपरम्परया लोगों से दमयन्ती के गुणों को सुनने के साथ-साथ जब हंस द्वारा भी दमयन्ती के गुण सौन्दर्य, एवं शील का वर्णन सुनने के बाद राजा नल दमयन्ती पर अत्यधिक आशक्तिवश उसे प्राप्त करने हेतु हंस को अपना मित्र बनाकर भेजते हैं, तो उधर दमयन्ती जो राज दरबार में भी नल के गुणों की चर्चा पहले सुन चुकी थी, हंस द्वारा नल गुणों के वर्णन से वह पूर्ण रूप से नल के प्रति समर्पण हेतु उद्धत हो गयी।[7] यहाँ तक कि उसने नल के बिना अपनी

---

1. आद्ये संदर्शने जाते पूर्वं ये स्युर्मनोरथाः । पुनर्वियोगे दुःखं च तस्य सर्वस्य कीर्तनैः ॥
   कीर्तनान्ते च रागेण परिष्वङ्गैः सचुम्बनैः। तैस्तैश्च भावैः संयुक्तो यूनो रागो विवर्धते ॥
2. ब्रवन्नप्यन्यशास्त्राणि चतुःषष्टि विवर्जितः । विद्वत्संसदि नात्यर्थं कथासु परिपूज्यते ॥
   वर्जितोऽप्यन्य विज्ञानैरेतया यस्त्वलंकृतः । स गोष्ठ्यां नरनारीणां कथास्वग्रं विगाहते ॥
   विद्वद्भिः पूजितामेनां खलैरपि सुपूजिताम् । पूजितां गणिकासङ्घैर्नन्दिनीं को न पूजयेत् ॥
   नन्दिनी सुभगा सिद्धा सुभगंकरणीति च । नारी प्रियेति चाचार्यैः शास्त्रेप्वेषा निरुच्यते॥
   कन्याभिः परयोषिद्भिर्गणिकाभिश्च भावतः। वीक्ष्यते बहुमानेन चतुः षष्टिविचक्षणः ॥ कामसूत्र- 2/10/35.39
3. कामसूत्र 3/1/1, 2
4. यां गृहीत्वा कृतिनमात्मानं मन्येत् न च समानैर्निन्द्यते, तस्यां प्रवृत्तिरिति घोटकमुखः । कामसूत्र 3/1/3
5. तस्या वरणे मातापितरौ सम्बन्धिनश्च प्रयतेरन्। मित्राणि च गृहीतवाक्यान्युभयसम्बद्धानि । कामसूत्र 3/1/4
6. यस्यां मनश्चक्षुणोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिः। नेतरामाद्रियेत् । इत्येके। कामसूत्र 3/1/13
7. नृपेऽनुरूपे निजरूप सम्पदां दिदेश तस्मिन्नहुशः श्रुतिं गते ।
   विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥ नै० 1/33
   स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
   कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद्गुणोत्करम् ॥ नै० 1/42

जीवन लीला समाप्त करने तक को उद्धत दिखने लगी। हंस दमयन्ती के कुल, गोत्र की निष्कलंकता का वर्णन करते हुए कहता है– अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि। श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरायते।।[1]

साथ ही दमयन्ती अपनी कौमार्य एवं नल के प्रति प्रेम एवं समर्पण भाव का वर्णन करते हुए हंस से कहती है-

मदन्यदानं प्रतिकल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशंकामोंकारमग्रेसरमस्या कुर्याः ।।

साधुत्वया तर्कितमेतदेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनामुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ।।

अनैष्धायैव जुहोति तातः किं मां कृशानौ न शरीरशेषाम् ।
ईष्टे तनूजन्मतनोः स नूनं मत्प्राणनाथस्तु नलस्तथापि ।।

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ।।

तदेकलुब्धे हृदिमेऽस्ति लब्धुंचिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्ध्यम् ।
चित्ते ममैकः सकल त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुख स एवं ।।

श्रुतः स दृष्टश्च हरित्सु मोहाद्धयातः स नीरान्ध्रितबुद्धिधाराम् ।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेक शेषः ।।[2]

कामसूत्रकार ने यह भी कहा है कि अपने देशाचार कुलाचार के अनुसार ब्रह्मा, प्राजापत्य, आर्य दैव इन चार प्रकार के विवाहों में से किसी एक के द्वारा शास्त्र विधि से कन्या से विवाह करना चाहिए।[3] समान स्थिति में वर कन्या के होने को उत्तम कोटि एवं विषमस्थिति में होने को अधम कोटि का विवाह कहा जाता है।[4] इन्हीं सम्पूर्ण तथ्यों का आलोडन विलोडन करने के पश्चात हंस ने नल एवं दमयन्ती को समान स्थिति का पाया, एवं इसी तथ्य को घोषित करते हुए उसने कहा –

निशा शशांक शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाप ।।[5]

इस प्रकार योग्य पुरुष का संगम कराना श्रीहर्ष को अभीष्ठ है, वात्स्यायन ने भी कहा कि जिस विवाह से पति-पत्नी को समान आनन्द की अनुभूति हों, दोनों एक दूसरे के पूरक और शोभावर्धक हो, वह विवाह करने योग्य होता है।[6] मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर का कथन है कि विवाह के तीन प्रयोजन है, रति के लिए पुत्र के लिए और धर्म के लिए। पुत्रार्थ दो प्रकार का होता है। एक नित्य, दूसरा काम्य। नित्य विवाह

---

1. नै० 2/22
2. नै० 3/75, 77, 79.........82
3. देशप्रवृत्ति सात्म्याद्वा ब्राह्म प्राजापत्यार्षदैवानामन्यतमेन विवाहेन शास्त्रतः परिणयेत्। इति वरणविधानम्। कामसूत्र 3/1/19
4. समस्याद्याः सहक्रीडा विवाहाः सङ्गतानि च । समानैरेव कार्याणि नोत्तमैर्नापि वामधैः ।।
कन्यां गृहीत्वा वर्तेत प्रेष्यवद्यत्र नायकः । तं विद्यातुच्चसमबन्धं परित्यक्तं मनस्विभिः ।।
स्वामिवद्विचरेद्यत्र बान्धवैः स्वैः पुरस्कृतः । अश्लाघ्यो हीनसम्बन्धः सोऽपि सद्भिर्विनिन्द्यते ।।
कृत्वापि चोच्चसम्बन्धं पश्चाज्ज्ञातिषु संनमेत् । न त्वेव हीनसम्बन्धं कुर्यात्सद्भिर्विनिन्दितम् ।।
कामसूत्र - 3/1/20, 21, 22, 24।
5. नै० 3/38।
6. परस्परसुखास्वादा क्रीडा यत्र प्रयुज्यते। विशेषयन्ती चान्योन्यं सम्बन्धः स विधीयते।। कामसूत्र 3/1/23।

के लिए सवर्ण वरकन्या की ही प्रधानता है और काम्य विवाह में नित्य काम्यता होने से सवर्ण का विधान गौण माना जाता है। वात्स्यायन ने काम्य विवाह का समर्थन नहीं किया। श्रीहर्ष ने अभिहित किया कि ब्राह्म विवाह को ही राजा भीम ने अपनाकर दमयन्ती का विवाह सम्पन्न किया।[1]

विवाहोपरान्त कामसूत्रकार ने पति-पत्नी की दिनचर्या का वर्णन करते हुए कहते है– संगतयोस्त्रिरात्रमधःशय्या ब्रह्मचर्यं क्षारलवणवर्जमाहारस्तथा सप्ताहं सतूर्यमङ्गलस्नानं प्रसाधनं सहभोजनं च प्रेक्षासंबन्धिनां च पूजनम् । इति सार्ववर्णिकम्।[2] इसी का अनुकरण करते हुए नल एवं दमयन्ती ने तीन दिन तक ब्रह्मचर्य धारण करते हुए व्यतीत किये।[3] तदनन्तर उन्होंने कामयज्ञ को सम्पन्न किया। कामसूत्रकार ने कामोत्सवपूर्व सम्पन्न विधियों को अपनाने पर बल देते हुए कहते हैं- "तस्मिन्नेतां निशि विजानेमृदुभिरूपचारैरूपक्रमेत्। त्रिरात्रमवचनं हि स्तम्भमिव नायकं पश्यन्ती कन्या निर्विद्यते परिभवेच्च तृतीयामिव प्रकृतिम् इति बाभ्रवीयाः। उपक्रमेत, विस्रम्भयेच्च, न तु ब्रह्मचर्यमतिवर्तेत, इति वात्स्यायनः। उपक्रममाणश्च न प्रसह्य किं चिदाचरेत्। कुसुमधर्माणो हि योषितः सकुमारोपक्रमाः, तारत्वनधिगतविश्वासैः प्रसभमुपक्रम्यमाणाः संप्रयोगद्वेषिण्यो भवन्ति, तस्मात्साम्नैवोपचरेत्। युक्त्यापि तु यतः प्रसरमुपलभेन्तेनैवानु प्रविशेत्! तत्प्रियेणालिङ्गनेनाचरितेन नातिकालत्वात्। पूर्वकायेण चोपक्रयेत्, विषह्यत्वात्। दीपालोके विगाढयौवनायाः पूर्वसंस्तुतायाः बालायाः अपूर्वायाश्चान्धकारे।"[4] श्रीहर्ष ने वात्स्यायन द्वारा प्रतिपादित विधियों का नल से पालन करवाया अर्थात् पूर्व वर्णित चुम्बन, आलिंगनादि विधियाँ अपनाकर दमयन्ती को अपने विश्वास में लेकर ही कामोत्सव हेतु नल ने अपनी मनःस्थिति बनायी।[5] वात्स्यायन ने तो यहां तक कहा कि- "अनुशिष्याच्च, आत्मानुरागं दर्शयेत् मनोरथांश्च पूर्वकालिकाननुवर्णयेत्, आयत्यां च तदानुकूल्येन प्रवृत्तिं प्रतिजानीयात्, सपत्नीभ्यश्च साध्वसमवच्छिन्द्यात् कालेन च क्रमेण विमुक्तकन्याभावामनुद्वेजयन्नुपक्रमेत।[6] इस प्रकार नववधू की चित्त की वृत्तियां जानकर तरकीब से जो उसे अपने प्रेम बन्धन में बांध लेता है तो आरम्भ से ही वह स्त्री अनुगामिनी बनकर उसकी (पति की) सेवा करती हे।[7] वात्स्यायन द्वारा समर्थित विधियों को नल एवं दमयन्ती ने अपनाया शायद तभी उन दोनों के पवित्र प्रेम की गाथा की सुगन्धि आज तक साहित्य जगत के प्रेमी लेते आये हैं, एवं भविष्य में लेते रहेंगे। किन्तु वात्स्यायन ने पुरूषों का सलाह देते हुए कहा कि –

नात्यन्तमानुलोम्येन न चातिप्रातिलोम्यतः । सिद्धिं गच्छति कन्यासु तस्मान्मध्येन साधयेत ॥
आत्मनः प्रीतिजननं योषितां मानवर्धनम् । कन्याविस्रम्भणं वेत्तियः स तासां प्रियो भवेत् ॥
अतिलज्जान्वितेत्येवं यस्तु कन्यामुपेक्षते । सोऽनभिप्रायवेदीति पशुवत्परिभूयते ॥
सहसा वाप्युपक्रान्ता कन्याचित्तमविन्दता । भयं वत्रासमुद्वेगं सद्यो द्वेषं च गच्छति ॥
सा प्रीतियोगमप्राप्ता तेनोद्वेगेन दूषिता । पुरूषद्वेषिणी वा स्याद्विद्विष्टा वा ततोऽन्यगा ॥[8]

---

1. यथावदस्मै पुरूषोत्तमाय तां स साधुलक्ष्मी बहुवाहिनीश्वरः ।
शिवामथ स्वस्य शिवाय नन्दनां ददे पतिः सर्वविदे महीभृताम् ॥ नै० 16/12।
2. कामसूत्र- 3/2/1।
3. तथाशनाया निरशेषि नो ह्रिया न सम्यगालोकि परस्परक्रिया ।
विमुक्तसम्भोगमशायि सस्पृहं करेण बध्वा च यथाविधि व्यहम् ॥ नै० 16/47
4. कामसूत्र 3/2/2-10।
5. नै० 18/35- - - 62।
6. कामसूत्र 3/2/29
7. एवं चित्तानुरागो बालामुपायेन प्रसाधयेत्तथास्य सानुरक्ता च सुविसब्धा प्रजायते।। कामसूत्र- 3/2/30
8. कामशास्त्र- 3/2/31 32 33 34 35

वात्स्यायन के साथ-साथ धर्मशास्त्र का भी कथन है कि जब तक चतुर्थी कर्म (विवाह से चौथे दिन होने वाली क्रिया) न हो जाय वरवधू को प्रेमपूर्वक वार्तालाप करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए।[1] हरिहर एवं जयमंगला टीकाकार यशोधार भोजन में क्षार पदार्थों को निषेध करते हुए जमीन में सोने का विधान किये हैं। नल एवं दमयन्ती कामशास्त्रीय विधि अपनाते हुए ही अपना जीवन दर्शन प्रारम्भ किये दिखते हैं। बहाना बनाते हुए नल ने दमयन्ती के प्रति अपने प्रेम का इजहार करते हुए अपनी विश्वासधर्मिणी बनाते है।[2] स्पट है कि श्रीहर्ष ने नल दमयन्ती का समागम वात्स्यायन के द्वारा बताते हुए नियमों के आधार पर ही किया है।

महर्षि वात्स्यायन ने यह अभिहित किया कि जिनका विवाह ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्य एवं दैव विवादविधियों से विवाह न किया हो, वह गान्धर्वविधि से विवाह करें, "या तु व्रियमाणा ने लभ्यते तत्र गान्धर्वादयश्चत्वारो विवाहाः", स्मरणीय है कि नल एवं दमयन्ती का विवाह तो प्रथम तथा गान्धर्व (स्वयंवर) पद्धति से हुआ, पश्चात् ब्राह्म विधि से। इससे सिद्ध होता है कि श्रीहर्ष के मत में ये दोनों पद्धतियाँ ही सर्वश्रेष्ठ हैं। वात्स्यायन ने धनहीन, कुलहीन को विवाह न करने की सलाह दी[3], साथ ही स्वकुल एवं मातृकुल को छोड़कर अन्य कुल की लड़की से अनुरक्ति में गान्धर्व विवाह की अनुमति दी। आचार्य घोटकमुख का कथन है कि बचपन से ही किसी लड़की पर यदि सात्विक आशक्ति हो तो उसे वश में कर लेना निन्दनीय नहीं हैं।[4] ब्राह्म आदि दिव्य विवाह विधि से मनचाही कन्या न प्राप्त होने पर कन्या की इच्छा से उसके साथ गन्धर्व विवाह कर लेना कामसूत्रवार उचित समझते हैं। शायद नल एवं दमयन्ती के प्रीत्याकर्षण की परिणति विवाह में इसी लिए सफल हुई। वात्स्यायन ने प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी में अनुरागोत्पत्ति को बढ़ाने के विविध साधनों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि-

विस्मयेषु प्रसह्यमानामिन्द्रजालैः प्रयोगैर्विस्मापयेत्। कलासु कौतुकिनी तत्कौशलेन गीतप्रियां श्रुतिहरैर्गीतैः। आश्वयुज्यामष्टमीचन्द्रके कौमुद्यामुत्सवेषु यात्रायां गृहणे गृहाचारे वा विचित्रैरापीडैः कर्णपत्रभङ्गैः सिक्थकप्रधानैर्वस्त्राङ्गुलीयकभूषणदानैच्च। नो चेद्दोषकराणिमन्येत्।[5] नैषधीयचरित में जब दमयन्ती की सखियाँ दमयंती की काम केलि का वर्णन कर उसकी हंसी उड़ा रही थीं, तब नल ने दमयन्ती का पक्ष लेते हुए उसकी सखियों के ऊपर कौतुक रूप में आये, अञ्जुलि के जल को फेंक दिया, जिससे उनके भीगने पर उनके अङ्ग झलकने लगे एवं उनकी जमकर हंसी नल एवं दमयन्ती ने की[6] श्री हर्ष की ऐसी वर्णन चारुता भी उनमें प्रीति सौख्यता को बढ़ावा देने का वात्स्यायन के मत में एक साधन है।[7] नैषधीयचरित में इक्वीसवें एवं बाइसवें सर्ग में प्रतिपादित विवरण से स्पष्ट है कि दमयंती अपने श्रृंगार विलास से जहाँ नल को अपने प्रति सतत आकृष्ट रखने का उद्योग करती हैं, वहीं नल दमयन्ती की प्रशंसा एवं अपने प्यार

---

1. त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयीतां संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रं षडरात्रं त्रिरात्रमन्ततः। पा०गृ०सू० कारि०-8
2. हारचारिमविलोकने मृषा कौतुकं किमपि नाट्यन्नयम् । कण्ठमूलमदसीयमस्पृशत् पाणिनोपकुचधाविनाधवः।।
   यत्वयाऽस्मि सदसि स्रजाञ्चितस्तन्मयापि भवदर्हणार्हति । इत्युदीर्य निजहारमर्पयन्नस्पृशतस तदुरोचकोरकौ ।।-नै०18/44, 45
3. धनहीनस्तु गुणयुक्तोऽपि, मध्यस्थगुणो हीनापदेशो का सधनो या प्रातिवेश्यः मातृपितृभ्रातृषु च परतन्त्रः, बालवृत्तिरुचित्तप्रवेशो वा कन्यामलभ्यत्वान्न वरयेत् । कामसूत्र - 3/3/1
4. बालायामेवं सति धर्माधिगमे संवननं श्लाघ्यमिति घोटकमुखः। कामसूत्र 3/3/5
5. कामसूत्र 3/3/20
6. तच्चित्रदत्तचित्ताभ्यामुच्चैः सिचयसेचनम् । ताभ्यामलम्भि दूरेऽपि नलेच्छापूरिभिर्जलैः ।।
   वरेण वरुणस्यायं सुलभैरम्भसाम्भरैः । एतयोः स्तिमितीचक्रे हृदयं विस्मयैरपि ।। नै० 28/127
7. तद्गृहणोपदेशेन च प्रयोज्यायां रतिकौशलमात्मनः प्रकाशयेत्।। कामसूत्र 3/3/22

प्रदर्शन से उसे अपनी चिरंजीवी प्रेमिका बनाये रखने का उद्योग करते दिखायी पड़ रहे हैं। वात्स्यायन पति-पत्नी को अपने प्रति आकृष्ट रखने हेतु उद्योग करने में सहमति देते दिखयी पड़ते हैं।[1] श्री हर्ष ने यह तथ्य भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि नल एवं दमयन्ती ने एक दूसरे के गुणों को सुनकर ही एक दूसरे के प्रति समर्पित होने को उत्सुक हुए। क्योंकि पुरूष के साथ स्त्री भी पति चुनने में स्वाधीन है।[2] इसीलिए दमयन्ती नें नल को चुना, क्योंकि वही उसको अभीष्ठ था। श्रीहर्ष ने स्वयंवर के बाद ब्राह्म विवाह को राजा भीम द्वारा अपनाया जाना वर्णन किया है क्योंकि धर्मशास्त्रों में प्रथम विवाह विधि की अपेक्षा सभी विवाह उत्तरोत्तर निष्कृष्ट माने गये हैं।[3] विवाह का उद्देश्य अखण्ड अनुराग प्राप्त करना है, शायद इसीलिए श्रीहर्ष ने गान्धर्व विवाह (स्वयंवर) को मध्यम होते हुए भी उचित एवं श्रेष्ठ माना। वात्स्यायन ने भी कहा है कि –

व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः। मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वस्तेन पूतिः।।
सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह । अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरोमतः ।।[4]

वात्स्यायन ने पतिब्रता स्त्रियों की कामसूत्र में अत्यन्त प्रशंसा की है।[5] श्रीहर्ष ने भी दमयन्ती को पतिव्रता भार्या की संज्ञा दी। क्योंकि दमयन्ती ने चारों देवताओं इन्द्र, अग्नि, यम, वरूण एवं अन्यान्य वीर राजाओं को छोड़कर नल का ही वरण किया एवं वह नल को विवाहपूर्व ही मन से पति स्वीकार कर चुकी थी,[6] एवं अपने पातिव्रत्य धर्म के निर्वाह के लिए ही उसने स्वयं वरस्थल में नल की प्राप्ति हेतु एवं अन्य देवों क्रोध से निजात पाने हेतु देवों की अभ्यर्चना सम्पन्न की थी।[7] क्योंकि सती नारियों के लिए तो उनका पति ही परमेश्वर होता है।

इस प्रकार नैषधीयचरितम् में प्राप्त उपर्युक्त कामशास्त्रीय तत्त्वों की मीमांसा के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि इस महाकाव्य में काम शास्त्रीय तत्त्वों की विशद विवेचना नैषधकार ने की है, किन्तु कुछ विद्वानों ने नैषध में प्राप्त इन्हीं कामशास्त्रीय विवरणों को लक्ष्य लेकर इस काव्य रत्न को निम्न श्रेणी का काव्य मानने की अभीप्सा व्यक्त की है, क्योंकि जहाँ पाश्चात्य विद्वान ए.बी. कीथ ने इस महाकाव्य को "A

---

1. तेनापि नाप सर्पन्त्यौ दमयन्तीमयं ततः । हर्षेणादर्शयत्पश्य नन्विमे तन्वि! में पुरः ।।
   क्लिमीकृत्याभ्यसा यस्त्रं जैनप्रव्रजितीकृते । सख्यौ सक्षौमभावेऽपि निर्विघ्नस्तनदर्शने ।।
   दृष्टयैतान्भावसंयुक्तानानाकारानिङ्गितानि च । कनयायाः संप्रयोगार्थं तांस्तान्योगानिविचिन्तयेत् ।।
   बालक्रीडनकैर्बाला कलाभिर्यौवने स्थिता । वत्सला चापि संग्राह्य विश्वास्यजनसंग्रहात् ।।
2. कन्याभियुज्यमाना तु यं मन्येताश्रयं सुखम्। अनुकूलं च वश्यं च तस्य कुर्यात्परिग्रहम् ।। कामसूत्र 3/4/48
   तत्र युक्तगुणं वश्यं शक्तं बलवदर्थिनम् । उपायैरभियुञ्जानं कन्या न प्रतिलोभयेत् ।। कामसूत्र 3/4/50
   गुणसाम्येऽभियोक्तृणामेको वरयिता वरः । तत्राभियोक्तरि श्रेष्ठ्यमनुरागोत्मको हि सः ।। कामसूत्र 3/4/55
3. पूर्वः पूर्वः प्रधानं स्याद्विवाहो धर्मतः स्थितेः। पूर्वाभावे ततः कार्यो यो य उत्तर उत्तरः।।
4. कामसूत्र- 3/5/29, 30
5. भार्यैकचारिणी गूढविश्रम्भा देववत्यातिमानुकूल्येन वर्तेत। कामसूत्र 4/1/1
6. इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रणा च हृष्टा च बभाण भैकी ।
   चेतो नलङ्कमयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ।। नै० 3/67
   मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये ह्यदि तावदेषा ।
   निशोऽपि सोमेतरकान्तशंकामोंकारमग्रेसरमस्य कुर्याः ।। नै० 3/75 एवं 76
   साधुत्वया तर्क्तिमेतदेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
   विनामुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ।। नै० 3/77 एवं 78.98
   वृणे दिगीशानिति का कथा तथा त्वयीति नैक्षे नलभामपीहया ।
   सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भदम यः ।। नै० 9/70 एवं 71....155
7. अथाधिगन्तुं निषधेश्वरं सा प्रसादनामाद्रियतामराणाम् ।
   यतः सुराणां सुरभिर्नृणां तु सा वेधसासृज्यत कामधेनुः ।। नै० 14/1 एवं 2........10

perfect masterpiece of bad taste and bad style"[1] की संज्ञा देते हुए निम्न काव्य माना, वहीं भारतीय समीक्षक एस.एन. दास गुप्त एवं एस.के. डे ने प्रेमाशक्ति का मुक्त प्रदर्शन रूप में[2] तथा कृष्णमाचार्यर महोदय ने भी प्रेमाशक्ति की इयत्ता रूप में[3] रखकर निन्दात्मक अभिव्यक्ति की है। ध्यातव्य है कि उपर्युक्त विद्वानों ने नैषध महाकाव्य की भाषा, विषयवस्तु प्रवाह, कल्पनाशीलता एवं वैदुष्य को लक्ष्य लेकर भी इस काव्य के बारे में अपनी अरुचि का प्रतिपादन किया है, जिसका पूर्व में विवेचन किया जा चुका है, परन्तु उपर्युक्त संदर्भ में इन विद्वानों के प्रश्नों पर यह तो कहा जा सकता है कि चूँकि नैषधकार ने इस ग्रंथ के कलेवर को "श्रृंगारामृतशीतगुः" रूप देने की अपनी अभिव्यक्ति का प्रतिपादन इस महाकाव्य में स्वयं किया है तब इस ग्रंथ में श्रृंगार रस का उद्रेक तो रहेगा ही। फिर श्रीहर्ष तो रीतिकालीन युग के थे, एवं रीतिकालीन कवियों के लिए नायक नायिका का नख शिख वर्णन, श्रृंगार वर्णन, आश्रयदाता नरेश की प्रशस्ति रचना करना, एवं स्वयं की पाण्डित्य शक्ति का प्रदर्शन करना आदि अनिवार्य एवं सहज कर्म ही थे। तब उपर्युक्त विद्वानों की ऐसी अभिव्यक्ति कहाँ तक संगत मानी जा सकती है? स्मरणीय है कि नैषधकार के पूर्ववर्ती महाकिवियों कालिदास भारवि, एवं माघ ने भी कामशास्त्रीय तथ्यों के विवरण अपने अपने प्रमुख ग्रंथो में दिया है। यथा महाकवि माघ कृत "शिशुपालवधम्" में दसवें एवं ग्यारहवें सर्ग में यादवों एवं यादवांगनाओं के रतिकालीन विवरण, चुम्बन सुरत एवं सीत्कृतादि के विवरण जहाँ कामातुरता को प्रज्जवलित करते दिखते हैं,[4] वहीं भारवि रचित 'किरातार्जुनीयम्' के आठवें सर्ग में देवांगनाओं के शरीर वर्णन, उनके नखक्षतों के विवरण, तथा नवें सर्ग में गन्धर्व नर नारियों द्वारा अपनाये गये अधरदान, (चुम्बन), नखक्षत, प्रियतमा के मुख से दिये गये मद्य (मद्यगण्डूष - पान का हिस्सा) ग्रहण करने के विवरण, साथ ही खुले रूप में रतिक्रीड़ा करने के दृश्य के विवरण[5] तो काम शास्त्रीय मर्यादा की इतिश्री ही कर देते हैं। रही महाकवि कालिदास की बात, तो उन्होंने ने भी अपने प्रमुख काव्यों रघुवंश, कुमारसम्भव, तथा मेघदूत में कामशास्त्र के विवरणों को अत्यधिक रुचि के साथ जगह दी है। रघुवंश महाकाव्य के उन्नीसवें सर्ग में कामलोलुप अग्निवर्ण के कामिनियों से संसर्ग करने के विवरण यथा आलिंगन, नखक्षत दन्तक्षत एवं रतावस्थापन के वीभत्स रूप के दर्शन कराते हैं एवं काम को ही चरम पुरुषार्थ मानने की कहानी कहते हैं,[6] ऐसे सन्दर्भों के अध्ययन से जनमानस किस राह चला जायेगा, शायद कालिदास ने इसे परखा ही नहीं होगा? उपर्युक्त विवरणों के बारे में प्रसिद्ध विद्वान जे.जे. मेयर का कथन है कि "कालिदास ने सामान्य रूप में प्रचलित निर्मलता तथा भारतीयों की सहज सुलभ उत्कण्ठा के साथ एक अत्यन्त लापरवाह और सांसारिक सुखों में लिप्त एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जिसे भारत का डान जुआन

---

1. A History of Sanskrit Literature - A.B. Keith - P. 140
2. Their language is never pliant nor their verse supple while their fancy loves to play with the fantastic and the extravagant. - A History of Sanskrit Literature - Vol. I, Das Gupt & Day. P. 331
3. In fancy and imagery his descriptions see no limit - History of Classical Sanskrit Literature, M.Krishnamachariar - P. 180-181
4. सीत्कृतानि मणितं करुणोक्तिः स्निग्धमुक्तमलमर्थवचांसि ।
   हारभूषणरवाश्च रमण्याः कामसूत्रपदतामुपजग्मुः।। शिशु 10/75
   – शिशुवधम् में द्रष्टव्य-मद्यपान एवं श्रृंगारिक वर्णन-10/1....41, आलिंगन वर्णन 10/42...51, चुम्बनक्रीडा वर्णन 10/52......54, सुरतकेलि वर्णन 10/55......90 एवं कामराग वर्णन 11/2.....39
5. पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः। योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य।। कि० 9/50
   – भर्तृषूपसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुदोद्यमितानाम्। व्रीडया विफलया वनितानां न स्थितं न विगतं हृदयेषु ।। कि० 9/66 किरातार्जुनीयम् में द्रष्टव्य 8/15....57 शरीर वर्णन, आलिंगन, नखक्षत, एवं जल क्रीड़ावर्णन, रतिस्थापन 9/34......46, सम्भोग एवं बाह्यरत - 9/47......78
6. रघु0 19/5.......49

(Don Juan) कहा जा सकता है।[1] कालिदास कृत कुमारसम्भव महाकाव्य के आठवें सर्ग में भी वर्णित शिव पार्वती के संभोग के विवरण, जिसमें आलिंगन, चुम्बन नखक्षत, दन्तक्षत, रतिकालीन स्थिति का बखान, शिव द्वारा पार्वती को बैल पर आगे बैठाकर सुमेरु पर्वत पहुँचने के विवरण एवं अनेक स्थानों पर किये गये सुरतस्थिति के विवरण अत्यन्त कामरसोत्पादक, रुचिकर एवं कामोन्मादक है।[2] इन विवरणों के बारे में स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि यहाँ पर महाकवि ने भारतीय संस्कृति की इयत्ता की सीमा को पारकर पाश्चात्य संस्कृति में प्रचलित रतिकालीन अवस्थाओं का निरूपण ही करना चाहा है। आचार्यों की महती परम्परा ने भारतीय संस्कृति की मर्यादा तोड़ने के लिए कालिदास की तीव्र आलोचना की है।[3] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कालिदास के इस साहस को उचित नहीं माना। परन्तु कुछ विद्वान् कुमारसम्भव के इस अष्टम सर्ग को किसी शंकरदेव की रचना मानते है।[4] जो कि अयथार्थ ही प्रतीत होता है। इसी तरह मेघदूत में यक्ष यक्षिणिओं के कामदशाओं के वर्णन में कालिदास ने काम पुरुषार्थ का प्रदर्शन किया है।[5] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस ग्रंथ में विवर्णित कामविवरणों के बारे में लिखा है कि "यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उस ग्रंथ का गम्भीर किन्तु प्रमोदपूर्ण परायण आज तक कोई नहीं कर सका। ध्यातव्य है कि प्रिय के संयोग को कालिदास ब्रह्मानंद तुल्य मानते हैं[6] लेकिन महाकाल के दर्शनोपरान्त जब यक्ष मेघ से कहता है कि "ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः[7] तो इससे ज्यादा खुलकर कालिदास और क्या लिख सकते थे? क्या यहाँ कालिदास शास्त्रीय सीमा को लांघकर अश्लीलता की सीमा को स्पर्श नहीं कर रहे हैं? तब क्या समालोचकों को अपने पूर्वजों, कालिदास, भारवि, एवं माघ सम्बन्धी अभिव्यक्ति पर पुनः विचार नहीं करना चाहिए? आखिर नैषधकार को ही आलोचना के घेरे में क्यों लिया गया? इस पर सुधीजनों एवं समीक्षकवृन्दों को अवश्यमेव दृष्टि डालनी चाहिए।

हाँ, मेघदूत के उपर्युक्त संदर्भ में, कालिदास की रसप्रसविनी शैली एवं लोकग्राही विषयवस्तु के अनुपम अनवद्य हृद्य सुधारस से आप्यायित सहृदय या विद्वज्जन वेत्रवती नदी के वर्णन का सन्दर्भ अवश्य रख सकते हैं, कि यहाँ वेत्रवती का मुखपान मेघ की कामुकता के (साधक) प्रभाण रूप में नहीं हैं, बल्कि उसकी पूर्वसिद्ध कामुकता की सार्थकता एवं सफलता के परिमाणात्मक अंश रूप में विवर्णित हैं, एवं इस प्रकार का आधारहीन आरोप कालिदासीय काव्यचारुता के साथ असंगत या मनमाना ही कहा जायेगा, लेकिन यहाँ ऐसे विद्वानों को यह स्पष्ट बताना आवश्यक प्रतीत होता है कि कामार्त यक्ष की प्रकृति यदि कृपण दृष्टि आधारों की खोज करे, एवं अपनी कामुक प्रवृत्ति का आरोपण मेघ में आरोपित कर दे, तो ऐसा आरोप भले ही आधारहीन हो, किन्तु फिर भी वह सहज एवं स्वाभाविक बन ही जाता है । यह तो सत्य है कि मेघ पर आरोपित कामुकत्त्व यक्ष दृष्टि की सौगात है, फिर भी यह विचार है तो कालिदास के ही। कालिदास निःसन्देह श्रृंगाररस के पारखी कवि हैं, परन्तु फिर भी अंगविलास का वर्णन उनकी कल्पना का रसबिन्दु है। अंग्रेजी भाषा के महान कवि कार्लाइल ने कवि कीट्स को (ऐसे ही वर्णन के लिए) "A

---

1. दशकुमारचरित के अनुवाद की भूमिका, पृ० 117
2. कुमारसम्भव - 8/4......91
3. In may stand to proclaim the inauguration of romantic era in sanskrit poetry - India in Kalidas - Sri Bhagavat Sharan upadhyaya P- 285
4. कालिदास और उनका युग - सम्पादक गोविन्द चन्द्र पाण्डे, राकाप्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1998
5. पूर्व मेघ, 27.....45, उत्तरमेघ 9.......42
6. मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः - उत्तरमेघ 58
7. पर्वू मेघ - 45

Chosen vessel of hel" (चुना हुआ नारकीय पात्र) कहा है, कालिदास को वह न जाने क्या कहते।[1] कालिदास के काव्यों के (शायद कुमारसम्भव के) किसी ऐसे ही श्लोक को पढ़कर आचार्य रजनीश यहाँ तक कहने को उतारू हो गये कि "कालिदास के ग्रंथो में जितनी कामुकता है, उतनी तो आधुनिक चलचित्रों में भी नहीं ।[2]

इस रूप में श्रीहर्ष की आलोचना सर्वथा उनकी अमोघ मेधा का तिरस्कार करना ही होगा, एवं नैषधकार की उपर्युक्त ए०बी० कीथ, एस०एन० दास गुप्त और एस०के० डे, कृष्णमाचार्य प्रभृति विद्वानों द्वारा की गयी आलोचना के बारे में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि या तो पूर्ववर्ती कालिदास आदि काव्यकारों के प्रति पूर्वाग्रही दृष्टि ने उन्हें श्रीहर्ष की आलोचना के लिए विवश किया होगा, या यह कह लें कि कालिदास के जादू ने सबको मंत्रमुग्ध कर रखा है, शायद इसीलिए समीक्षक वृन्द कालिदास को सर्वोच्च पद पर बैठाने के लिए उनकी आलोचना से बचते फिरते हैं, और या तो उनकी नैषध में गति नहीं थी, क्योंकि यह काव्य तो विद्वानों के मस्तिक के तोष का जनक है, जैसा कि "नैषधं विद्वदौषधम्" से स्पष्ट है। तब इसमें श्रीहर्ष या "नैषधीयचरितम्" महाकाव्य की क्या गलती है? यहाँ तो उपर्युक्त विद्वानों के बारे में यास्क में शब्दों में यही कहा जा सकता है "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति"। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि कालिदास के ग्रंथो का सरल भाषा में निबद्ध होना एवं पठन पाठन में उनके विशिष्ट प्रचलन की परिपाटी का चली आना, जब कि नैषधकार के ग्रंथ नैषधीयचरित एवं खण्डनखण्डखाद्य क्लिष्ट ग्रंथ हैं, एवं सामान्य जन के समझ के परे भी तथा अध्ययन अध्यापन में कम प्रचलित हैं। अगर इन ग्रंथों को भी कालिदास के ग्रंथों सदृश लोक जीवन के प्रकाश में लाया गया होता, तो संभव है उपर्युक्त विद्वान् श्रीहर्ष से प्रभावित होते एवं अपनी दृष्टि पर पुनर्विचार अवश्य करते।

1. पूर्वमेघ - 45, टिप्पणीकार, उमाशंकर जोशी ।
2. दो प्रवचन, रजनीश प्रकाशन, जीवन जागृति केन्द्र राजकोट ।

षष्ठम अध्याय

नैषध महाकाव्य में धर्मशास्त्रीय संदर्भ

धर्मशास्त्र

नैषधीयचरितम् में धर्मशास्त्र की सम्बन्धित तथ्यों की मीमांसा के दर्शन नल हंस संवाद, नल की पूजा अर्चना, नल दमयन्ती विवाह प्रसंग एवं नल तथा देवों के वार्तालाप विवरणों में प्रभूत मात्रा में देखने को मिलते हैं। विभिन्न युगों में समाज के संस्कार, शिक्षा, नीति, आराधना, व्यवसाय राज्य एवं न्याय व्यवस्था, खान पान आदि का निर्देश धर्म के ऐसे अनुशासन द्वारा होता आया है जो समन्वित रूप में शास्त्र कहे जाते हैं। तन्त्रवार्तिक के अनुसार धर्मशास्त्रों का कार्य है वर्णों एवं आश्रमों की शिक्षा देना।[1] धर्मशास्त्रकारों के मतानुसार धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण संहिता है जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्यों के आचरणों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है, तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे माननीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है।[2] धर्म वह है जिससे सांसारिक जीवन में अभ्युदय एवं जीवन के परम लक्ष्य निःश्रेयस दोनों की सिद्धि होती है।[3] जहाँ वेद कर्म को ही धर्म का लक्षण मानते हैं[4] वही मनुस्मृति में धर्म के अहिंसा, सत्य अस्तेय आदि दश लक्षण[5] गिनाये गये है, जो कि मनुष्य के सम्पूर्ण कर्मों के औचित्य अनौचित्य का निर्णय करने में अपनी महनीय भूमिका निभाते हैं[6]। वस्तुतः धर्म नामक तत्व सभी प्राणियों में सन्निहित रहता है[7]। उससे व्यक्ति का अलगाव असम्भव है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के जीवन में अपूर्णता या रिक्तता, चारित्रिक वैषम्य और आध्यात्मिक अशान्ति तथा अवसाद की जो भावना देखी जाती है, ज्ञान के बल पर उससे ऊपर उठकर जो पूर्ण सत्य, आप्तकार्यता, अमृतत्व और परमशान्ति की अनुभूति होती है, वही परम धर्म है[8] और यही वह तथ्य है जो मानव को आस्था एवं भय दोनों रूपों में अनुशासित करता आया है। महाकाव्यों में धर्म शास्त्रीय तत्वों के विवेचन को भी विद्वानों ने अपने विवेचन का नियम बनाया है[9] एवं नैषधकार ने भी उस श्रृंखला में एक कड़ी तरह धर्मशास्त्र के तथ्यों का विवरण अपने इस महनीय काव्य में दिया है।

---

1. सर्वधर्मसूत्राणां वर्णश्रमधर्मोपदेशित्वात् कुमारिल्ल (तन्त्रवार्तिक 1/4)
2. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठिं प्रजा उपसर्पन्ति।
   धर्मेण पाथमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥ तै० आरण्यक 10/63
   धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
   यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥ महा. 1/62/53 एवं स्वर्गारोहण पर्व 5/50
   धारणाद्धर्म इत्याहुधर्मो धारयते प्रजा। महा 5/89/67, एवं 5/137/9
   धर्म एव हतो धर्मो हन्ति रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।मनु 8/15
3. यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः वैशेषिकसूत्र 1/1/2
4. चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः-मीमांसासूत्र 1/1/2
   तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्-वैशेषिक सूत्र 1/1/3
5. धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ मनुस्मृति - 3/92
6. साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशैन मन्त्रान् सम्प्रादुः। निरुक्त 1/20
7. धम्मोवत्थु-सहावो (कुन्दकुन्दाचार्य), वस्तु, आत्मा आदि का स्वभाव ही धर्म है।
8. वृहदा० उप० 1/3/28, केनोपनिषद् 2/5, अमृतमंथन 53/208
9. अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि। कुमार0 5/38 एवं 7/83
   - षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एष- अभि० शाकु 5/4
   - उत्पस्यतेऽस्ति भय कोऽपि समानधर्मा - माल० वि० 1/6, एवं 6/18
   - दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः परं धर्म गतो युद्धि-रामायण 3/31/15
   - अनुकल्पः परो धर्मो धर्मवादैस्तु केवलम् महा० 2/165/15

   विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य-संस्कृत अंग्रेजी कोश बी0ए0 आप्टे सम्पादक पी०के० गौडे, सी०जी० कर्वे पृ० 855-856

राजा नल को धार्मिक प्राणी घोषित करते[1] हुए नैषधकार ने उनकी भक्ति के शतांशमात्र से धर्म अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों को सुलभ बताया[2] तथा इन्द्र ने उन्हें अत्यन्त सज्जन, लोकपालों के समान श्रीमान्, निषधदेश का अमृतवर्षी चन्द्रमा, समस्त श्रौत एवं स्मार्त धर्मों का आश्रयी और धर्म का धनी बताते हुए कलि को भी नल एवं दमयन्ती से वैर न रखने की सलाह दी[3], साथ ही यह घोषणा भी की कि जो व्यक्ति अज्ञान वश नल से द्रोह करेगा वह शीघ्र ही अपनी पापवृत्ति का फल भोगेगा[4] क्योंकि नल तो ऐसे पवित्रात्मा हैं जिनके नाम श्रवण से यात्रा मंगलमयी होती है। यथा-

वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनं च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च।
एतान्नपान् यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च ।।

नल की धार्मिकता की पुष्टि इक्कीसवें सर्ग में वर्णित उनकी देवार्चना प्रसंग से भी होती है जिसका आगे विवेचन किया जायेगा।

धर्म के तीन स्कन्ध माने गये हैं, यज्ञ,, अध्ययन और दान।[5] इन तीनों के विवरण नैषधमहाकाव्य में प्राप्त होते हैं। यज्ञ मनुष्य के आत्मिक उत्कर्ष के साथ-साथ मानसिक शान्ति एवं विभिन्न पातकों के शमन हेतु उपादान माने जाते हैं। नैषधकार ने विभिन्न यज्ञों यथा सर्वमेध, सर्वस्वार सौत्रामिणी (इन्द्रयापा) राजसूय, ब्रह्मसाम, अग्निष्टोम, पौर्णमास, सोम, महाव्रत एवं अश्वमेध यज्ञ का विवरण समुपस्थापित किया है, चूँकि ये वेदों से सम्बन्धित हैं, अतः इनका विवरण आगे वेद वेदांग नामक अध्याय में किया जायेगा। अध्ययन का विवरण देते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं कि राजा नल ने अध्ययन, बोध, आचरण तथा प्रचार इन चार प्रकार की अवस्थाओं का विभाजन करके वेद वेदांगदि चतुर्दश विद्याओं[6] का गुरुमुख से अध्ययन किया था[7] साथ ही उपर्युक्त चतुर्दश विद्याओं के साथ साथ सूपशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र[8] आदि मिलाकर अठारह विद्याएँ नल के जिह्वाग्र पर सर्वदा निवास करती थीं यथा -

अमुष्यविद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीतांगगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ।।[9]

---

1. पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना केन तपः प्रपेदिरे।
   भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्।। नै० 1/7
2. फलसीमां चतुर्वर्गं यच्छतांशोऽपि यच्छति । नलस्यास्मदुपघ्ना सा भक्तिर्भूतावके शिनी ।। नै० 17/142
3. भव्यो न व्यवसायस्ते नले साधुमतौ कले। लोकपालविशालोयं निषधानां सुधाकरः ।। नै० 17/143
   न पश्यामः कलेस्तस्मिन्नवकाशं क्षमामृति। निचिताखिलधर्मे च द्वापरस्योदयं वयम् ।। नै० 17/144
   तं नासत्ययुगं तां वा त्रेता स्पर्धितुर्मति । एकप्रकाशधर्माणं न कलिद्वापरौ युवाम् ।। नै० 17/146
   सा विनीततमा भैमी व्यर्थनर्थग्रहैरहो । कथं भवद्विधैर्बाध्या प्रमितिर्विभ्रमैरिव ।। नै० 17/145
4. द्रोहं मोहेन यस्तस्मिन्नाचरेदचिरेण सः। तत्पापसम्भवं तापमाप्नुयादनयान्ततः ।। नै० 17/148
   युगशेषतव द्वेषस्तस्मिन्नेष न साम्प्रतम् । भविता न हितायैतद्वैरं ते वैरसेनिना ।। नै० 17/149
5. छान्दो०उप० 2/23/1
6. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाःस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशा ।। याज्ञ० सं० 1/3
   शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः। ज्योतियामयनञ्चैव वेदांगानि वदन्ति षट् ।।
   अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्यास्त्वेताश्चतुर्दश ।। विष्णु पुराण
7. अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
   चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ।। नै० 1/4
8. आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृताः ।। विष्णुपुराण
9. नै० 1/5

नल की अध्ययनशीलता का ही प्रमाण है कि वह कवियों या विद्वानों के बीच हर्षपूर्वक समय व्यतीत करते थे[1]। दान का वर्णन नैषधकार ने अनेक प्रसंगों में किया है यथा- नल के वर्णन, अन्य राजाओं के विवरण नल दमयन्ती विवाह में भीम द्वारा, नल के जागरण में प्रयुक्त पदाञ्जलि प्रणेता वन्दीजनों के वर्णन, एवं नल की देर्वाचना प्रसंग में दान के प्रसंग दृष्टव्य हैं। राजा नल को कल्पवृक्ष से[2] अधिक दानी रूप में वर्णित करते हुए श्रीहर्ष ने उन्हें दानवीर की पदवी से समलंकृत किया[3]। जिसकी पुष्टि नल द्वारा वन्दीजनों एवं[4] अर्चनान्तर ब्राह्मणो को दिये गये दान से होती है[5]। साथ ही नैषधकार ने यहाँ इस तथ्य का भी उद्घाटन किया है कि अर्चना के साथ-साथ पितृ श्राद्ध आदि कर्मों में भी सतपात्र को दान देना चाहिए। वृहन्नारदीय पुराण में उपर्युक्त तथ्यों से सम्बन्धित विवरण गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी के धर्म निरूपण के साथ-साथ श्राद्ध वर्णन में भी दृष्टव्य हैं।[6] मनुस्मृति में भी यथेर्ष्ठ पात्र को दान देने का विधान मिलता है। यथा -

दातॄन्प्रतिगृहीतॄश्च कुरुते फलभागिनः। विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ।।[7]
दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्। परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ।।[8]

महाराज भीम ने बरातियों को रत्न देकर[9] सम्मानित किया एवं नल को कन्यादान के उपरान्त अनेक वस्तुओं के दान दिये।[10] नैषधकार ने नल को दिये गये सामानों को ''विवाहदक्षिणीकृतेषु'' रूप में ''दक्षिणा'' नाम दिया है लेकिन आचार्य मल्लिनाथ, नारायण एवं शिवदत्त शर्मा ने इसे यौतक या दहेज नाम दिया है।[11] जब कि यौतक विवाह के समय मिलने वाली वह सम्पत्ति है जिस पर एक ही व्यक्ति कन्या का एकमात्र अधिकार होता है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ''विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः''। एवं सामान्य अर्थ में दक्षिणा यज्ञः दान कर्म आदि के अन्त में ब्राह्मणों और पुरोहितों को दिये जाने वाले द्रव्य को कहा जाता है। माध्यन्दिन संहिता के साथ-साथ मनुस्मृतिकार ने भी वैदिक यज्ञ के अनन्तर दक्षिणा देने का विधान किया है एवं विवाह भी एक वैदिक यज्ञ ही है। चूँकि विवाह बाद दिये गये दक्षिणा को

---

1. अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान्समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने।। नै० 1/17
2. अयं दरिद्रोभवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषां न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्य दरिद्रतां नलः।। नै०1/15
3. विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरः स्थितम् ।। नै० 1/16
4. अथोपकार्यां निषधावनीपतिर्निजामयासीद्वरणसृजाञ्चितः ।
वसूनि वर्षन्सुबहूनि बन्दिनां विशिष्य भैमीगुणकीर्तनाकृतम् ।। नै० 15/1
तथा पथित्यागमयं वितीर्णवान्यथातिभाराधिगमेन मागधैः ।
तृणीकृतं रत्ननिकायमुच्चकैश्चिकाय लोकश्चिरमुञ्छमुत्सुकः ।। नै० 15/2 एवं 19/65
5. विप्रपाणिषु भृशं वसुवर्षी पात्रसात्कृतपितृक्रतुकव्यः ।
श्रेयसा हरिहरं परिपूज्य प्रह्वएष शरणं प्रविवेश ।। नै० 21/119
6. वृहन्नारदीय पुराण पूर्व भग अध्याय 24 से 28 तक दृष्टव्य।
7. मनुस्मृति 3/133
8. मनुस्मृति 4/227।
9. नै० 16/111
10. नै० 16/16......33 एवं
न तेन वाहेषु विवाहदक्षिणीकृतेषु संख्यानुगावेऽभवत्क्षमः ।
न शातकुम्भेषु न मत्तकुम्भिषु प्रयत्नवान्कोऽपि न रत्नराशिषु ।। नै० 16/34
11. विवाहकालप्रदत्ताश्वादिषु संख्यासम्बन्धेऽप्य । सम्बन्धोक्तेरति शयोक्ति भेदः। नै० 16/34 मल्लिनाथ
विवाह दक्षिणीकृतेष्विति च। बहुतरं यौतकं दत्तमिति भावः। नै० 16/34 नारायण
विवाहादिषु संख्यासम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। नै० 16/34 शिवदत्त शर्मा

सामान्य जन दहेज नाम से अभिहित करते हैं, यही कारण है कि उन्होंने यहाँ पर यौतक शब्द की मीमांसा करना उचित समझा हो। वर्तमान में भी सामान्यजन द्वारा विवाह बाद दिये गये उपहार या दक्षिणा को दहेज शब्द से अभिहित करने की परम्परा लोक जीवन में देखी जा सकती है। लेकिन दान संकल्प करके दिया जाता है एवं पिता अपनी पुत्री या जामाता को जो उपहार देता है उसको वह मानसिक संकल्पोपरान्त ही देता है। ध्यातव्य है कि नैषधकार ने स्वयंवर पद्धति से नल एवं दमयन्ती के परिणय की मीमांसा के साथ-साथ अनुलोम विवाहादि रीति से भी दोनों के परिणय की मीमांसा की है इस रूप में कन्यादान के बाद दिये गये उपहार को दक्षिणा नाम देना ज्यादा उचित होगा। यहाँ नैषधकार के दक्षिणा शब्द का प्रयोग किये जाने से इस तथ्य का भी स्पष्टीकरण हो जाता है कि प्राचीनकाल में यौतक शब्द भले ही उपयुक्त रहा हो, लेकिन बारहवीं शताब्दी तक यौतक शब्द ने अपने शब्दार्थ को खो दिया था, वर्तमान में विशेषकर ग्रामीण जीवन में यौतक शब्द की कोई प्रासंगिकता नहीं रह गयी है, क्योंकि संयुक्त परिवार में विवाह में प्राप्त दक्षिणा (दहेज में प्राप्त) सामग्री का विभाजन होना सर्वविदित है जब कि यौतक वह सम्पत्ति है, जिस पर कन्या का एकमात्र अधिकार होता है। धर्मशास्त्रों में वर्णन मिलता है कि यदि दान पात्र के पास जाकर दिया जाय तो उसका अनन्त फल होता है, एवं अपने पास बुलाकर देने में हजार गुना फल तथा जो याचना करने पर दिया जाता है उस दान का पहले से आधा फल ही प्राप्त होता है[1]। नैषधकार नल की इस विधा से परिचित होने की स्थिति उपस्थापित करते हुए नल मुखेन देवताओं एवं नल के संलाप प्रसंग में कहते हैं कि-

मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां कथमयाचितमेवातं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः।।[2]

याज्ञवल्क्य का मत है कि अयाचित वस्तु, चाहे वह जितनी दूषित हो यदि भेंट की जाती है तो उसे अवश्यमेव स्वीकार कर लेना चाहिए[3] इसी तथ्य को हंस भी नल के सम्मुख रखते हुए कहता है कि मुझे उपहाररूप में दैव आपका सहायक बनाना चाहता है, अतएव इस अयाचित लाभ को त्यागना आपके लिए उचित नहीं होगा। यथा-

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्तुं न तवापि साम्प्रतम् ।
करकल्पजनान्तरद्विधेः सुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः ।।[4]

श्रीहर्ष ने दान के साथ साथ स्नान वर्णन की भी मीमांसा नैषध में की है। यह तथ्य तो सार्वजनीन है कि सम्पूर्ण धार्मिक क्रियाएँ व्यक्ति के स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त होने के बाद सम्पन्न की जाती है। ऋषि पराशर ने धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित पाँच प्रकार के स्नान बताये हैं, आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, वायव्य तथा दिव्य।[5] इसमें ब्राह्म स्नान का विवरण राजा नल के स्नान वर्णन में द्रष्टव्य है[6], एवं वायव्य स्नान, जो

---

1. गत्त्वा यद्दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम्। सहस्रगुणमाहूय याचिते तु तदर्धकम् ।। मिताक्षरा, आचाराध्याय, 203
2. नै० 5/83
3. अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः । याज्ञ स्मृति 2/15 (आचाराध्याय)
4. आग्नेयं वारुणंब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च। आग्नेयं भस्मना स्नानं वारूण्यमवगाहनम्।।
आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरज स्मृतम्। यत्तुसातपवर्षेण तत्स्नानं दिव्यमुच्यते ।। वृहद दैवज्ञरंजन, पृ० 100 में उद्धृत
5. नै० 2/12
6. स्वेदबिन्दुकितगात्रधीरं स श्वसन्नभवदाप्लवनेच्छुः ।।नै० 21/6 उत्तरार्द्ध
यक्षकर्दममृदून्मृदितांगं प्राकुरंगमदमीलितमौलिम् । गन्धवार्भिरनुबन्धितभृंगैरंगनाः सिषिचुरुचकुचास्तम् ।। नै० 21/7
भूभृतं पृथुतपोधनमाप्तस्तं शुचिः स्नपयति स्म पुरोधाः। संदधज्जलधरस्खलदोघस्तीर्थवारिलहरीपरिष्टात् ।। नै० 21/8
प्राणमायतवतो जलमध्ये मज्जिमानमभजन्मुखमस्य । आपंगापपरिवृढोदरपूरे पूर्वकालमुषितस्य सितांशोः ।। नै० 21/13
स्नानवारिघटराजदुरोजा गौरमृत्तिलकबिन्दमुखेन्दुः । केशशेषजलमौक्तिकदन्ता तं बभाज सुभगाप्लवनश्रीः।। नै० 21/16

कि गोरज (गोशाला की धूलि) के स्नान को कहा जाता है "वायव्यं गोरजः स्मृतम्" का प्रसंग सत्रहवें सर्ग में कलिवर्णन में द्रष्टव्य है जहाँ कलि को रजोलिप्त व्यक्ति के श्रवण से अपने आश्रय प्राप्ति का संतोष होने लगा, पर जब जाकर देखा तो वह वायव्य स्नान से पवित्र व्यक्ति मिला।[1] नैषधकार ने तीर्थ स्नान को भी दमयन्ती सौन्दर्य वर्णन में स्थान दिया हैं एवं यह माना है कि तीर्थ स्नान संचितपुण्यकर्मों के कारण ही हो पाता है।[2]

नित्यनैमित्तिक कर्मों का भी धर्मशास्त्रों में प्रतिपादन मिलता है। नैषधकार ने इन कर्मों का विवरण नल के दिनचर्या या नित्यकर्म वर्णन प्रसंग में दिया है, जहाँ नल प्रातः काल उठकर व्यायाम से निवृत्त होकर, राजकुमारों को शस्त्रचालन की शिक्षा प्रदान करने के अनन्तर स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त होकर नैमित्तिक कर्मों यथा प्रातः, मध्याह्न एवं सायं सन्ध्या की क्रियाओं को क्रमशः सम्पादित किया करते थे। नल के इस कथन से भी परिपुष्ट होता है कि नित्य कर्मों में उनकी विशेष अभिरुचि थी, जैसा कि वे दमयन्ती से कहते हैं कि-

प्रेयसाऽवादि सा तन्वि! त्वदालिंगनविघ्नकृत्। समाप्यतां विधिः शेषः क्लेशश्चेतसि चेन्न ते।।[3]

श्रीहर्ष ने यह भी वर्णित किया कि नल नित्य अग्निहोत्र में आह्वनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों की पूजा करते थे[4] एवं दमयन्ती की प्राप्ति को वह अपनी तपस्या का ही प्रभाव मानते थे[5]। चारण वनिता द्वारा नल को मध्याह्न पूजा का स्मरण दिलाने पर राजा नल शिव के ध्यान एवं पूजा की वेला समीप जाकर मध्याह्न पूजा में प्रवृत्त हुए[6]। सर्वप्रथम गंगाजल से संकल्पोच्चारण[7] फिर रक्तवर्णामिट्टी से अपने शरीर में लेप[8] फिर कुश से नल ने पवित्रीकरण कर्म किया। नैषधकार ने यहाँ इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया कि कुश के मूल में ब्रह्मा, मध्य में विष्णु एवं कुशाग्र में शिव का निवास रहता है[9] जैसा कि धर्मसंहिताओं में भी वर्णन मिलता है। यथा -

कुशमूले स्थितो ब्रह्मा कुश मध्ये जनार्दनः। कुशाग्रे शंकरं विद्यान्त्रयो देवाः कुशस्थिताः।।

पवित्रीकरण के पश्चात नल ने प्राणायाम किया[10] अनन्तर नल ने उत्तरीय वस्त्र धारण कर[11] गौरमृत्तिका का तिलक लगाकर[12] मध्याह्न सन्ध्या हेतु अघमर्षण मन्त्र का उच्चारण करते हुए जल को नासिका से स्पर्श कराया[13], पुनः सूर्य देव का आवाहन किया एवं जल को शिर के चारों ओर

---

1. श्रुत्वा जनं रजोजुष्टं तुष्टिं प्राप्नोज्झटित्यसौ। तं पश्यन् पावनस्नानावस्थं दुःस्थस्ततोऽभवत् ।। नै० 17/199
2. विशेषतीर्थैरिव जह्नुनन्दिनी गुणैरिवाजानिकरागभूमिता। जगाम भाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैर्विभूषणैस्तत्सुषमा महार्घताम्।। नै० 15/54
3. नै० 20/6
4. ममासावपि मा संभूत्कलिद्वापरवत्परः। इतीव नित्यसत्रे तां स त्रेतां पर्यतूतुषत् ।। नै० 20/10
5. त्वां प्राप मत्प्रसादेन प्रिये! तन्नाद्रियते तपः ।। नै० 20/14 उत्तरार्द्ध
   निशि दास्यं गतोऽपित्वां स्नात्वा यन्नाभ्यवीविदम्। तं प्रवृत्तासि मन्तु चेन्मन्तुं तद्वद वन्धसे ।। नै० 20/15
6. नै० 20/158......161
7. नै० 21/10
8. वही 21/11
9. मूलमध्यशिखरस्थितवेधः शौरिशंभुकरकांघ्रिशिरःस्थैः। तस्य मूर्ध्नि चकरे शुचि दर्भैवारि वान्तमिव गाङ्गतरङ्गैः।। नै० 21/12
10. प्राणमायतवतो.......... । नै० 21/13
    गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम्। प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ।। याज्ञ सं0, आचाराध्याय 2/23
11. नै० 21/14, 15
12. नै० 21/16
13. नै० 21/17

घुमाया[1] फिर स्फटिकमणि की माला से मन्त्र जाप किया।[2] अनन्तर (जौ) यव से देवतर्पण एवं तिल से पितृतर्पण किया[3] धर्मग्रंथो में भी वर्णन मिलता है कि "देवतर्पणं हि यवैः क्रियते पितृतर्पणं हि तिलैः क्रियते"। दोनों तर्पणों के बीच नल ने ऋषितर्पण कर ब्रह्मम यज्ञ भी किया ऐसा नारायण का अभिगत है। पुनः हस्तपाद प्रक्षालन कर नल ने पूजागृह में प्रवेश किया जहाँ उनके लिए सम्पूर्ण पूजा सामग्री उपस्थित थी, चौकी में आसन ग्रहण कर नल सूर्य अर्चना एवं उनका जाप किया। भगवान शंकर की धूप दीप नैवेद्य[4] से पूजा कर उनकी वन्दना की तथा शतरुद्री जप "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इस द्वादशाक्षमत्रं का जप एवं वन्दना, शालिग्राम, गरुण एवं विष्णु की अर्चना, तथा क्षमाप्रार्थना साथ ही विष्णु के सभी रूपों मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बलदेव, बुद्ध, अर्धनारीश्वर, विश्वकर्मा आदि विविध रूपों की विविध प्रकार से अर्चना करते हुए भगवान विष्णु के ध्यान में लीन हो गये एवं अर्चनान्तर ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर पूजालय में प्रवेश किये[5]। उपर्युक्त पूजा अर्चना में नैषधकार ने इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया कि ईश्वरभक्ति से चारो पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष संभव हैं[6]। नल की पूजा वर्णन के साथ-साथ श्रीहर्ष ने दमयन्ती द्वारा गौरी आदि की पूजा का विवरण देने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया है कि स्त्रियों को पति को भोजनानन्तर ही भोजन करना चाहिए[7]। जैसा कि दमयन्ती ने नल के भोजनोपरान्त ही भोजन ग्रहण किया। प्रातः मध्याह्न के बाद नल की सायं सन्ध्या का विवरण भी नैषधकार ने शुक द्वारा नल को प्रेरित कर सन्ध्योपासना में प्रवृत्त होने का विवरण दिया है[8]। बृहन्नारदीय पुराण में विस्तार रूप से मन्त्रजाप विधिकथन, शौचाचार, स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि का निरूपण देवपूजनविधि, गणेश मंत्र विधिनिरूपण, मन्त्रविधान निरूपण, सिंहोपासना सहित विष्णु के अष्टाक्षर मन्त्रों की अनुष्ठान विधि का विवरण देखने को मिलता है[9]।

धर्मग्रंथो में वर्णित आपोशान क्रिया, जो भोजन के पूर्व कनिष्ठा अंगुलि को फैलाकर शेष अंगुलियों को संकुचित कर चुल्लू मे पानी लेकर अन्न को अमृतमय बनाने के लिए "अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा" मन्त्रोच्चारण करते हुए भोजन के चारों तरफ जल घुमाने के बाद दोनों हाथों से बनी मुद्रा द्वारा सम्पादित होती है, उसका वर्णन भी श्रीहर्ष ने चारणजनों के मुख से करवाया है, जहाँ वह कहते हैं कि प्रभात वेला में कमलिनी की पहिली पंखुड़ी को विकसित तथा अन्य पंखुड़ियों को सम्पुटित देखकर लोगों के मन में यही ध्यान आता है मानो सूर्य की किरणों का प्रथम बार भोग करने के लिए कमलिनी आपोशान, क्रिया कर रही है।[10] आचार्य नरहरि एवं नारायण कहते हैं- "भोजने प्रवृत्तेनापोशानक्रियापूर्वमादावन्ते च

---

1. नै० 21/18
2. नै० 21/19
3. पाणिपर्वणि यवः पुनराख्यद्देवतर्पणयवार्पणमस्य। न्युष्यमानजलयोगितिलौघैः स द्विरुक्तकरकालतिलोऽभूत।। नै० 21/20
   ब्रह्मयज्ञोऽपि तेनाकारोति भावः। आद्यन्तयोर्देवपितृतर्पणोक्तेर्मध्ये वर्तमानमृषितर्पणं कृतमिति ज्ञेयम् ।। नै० 21/20नारायण
   स्वधाकृतं यत्तनयैः पितृभ्यः श्रद्धापवित्रं तिलचित्रमम्भः। चन्द्रं पितृस्थानतयोपतस्थे तदंकरोचिः खचिता सुधैव ।। नै० 22/119
4. उपनतमुडुपुष्पजातमास्ते भवतु जनः परिचारकस्तवायम् ।
   तिलतिलकितपर्पटाभमिन्दुं वितरनिवेद्यमुपास्स्व पञ्चबाणम् ।। नै० 22/147
5. नै० 21/21............119
6. धर्मबीजसलिला सरिदंघ्रावर्थमूलमुरसि स्फुरति श्रीः। कामदैवतमपि प्रसवस्ते ब्रह्म मुक्तिदमसि स्वमेव ।।नै० 21/110
7. भीमामजापि कृतदैवतभक्तिपूजा पत्यौ च भुक्तवति भुक्तवती ततोऽनु।
   तस्यांकमंकुरितत्परिरिप्समध्य मध्यास्तभूषणभरातिभरालसांगी।। नै० 21/121
8. नै० 21/141, 162, 22/1
9. वृहन्नारदीय पुराण, पूर्वभाग अध्याय 65 से 71 तक द्रष्टव्य एवं विष्णुमाहात्म्य वर्णन अध्याय 37 - 41 तक द्रष्टव्य।
10. मिहिरकिरणाभोगं भोक्तुं प्रवृत्ततया पुरः कलितचुलुकापोशानस्य ग्रहार्थमियं किमु ।
    इति विकसितेनैकेन प्रच्छदलेन सरोजिनी जनयति मतिं साक्षात्कर्तुर्जनस्य दिनोदये ।। नै० 19/28

भोक्तव्यम्'' इति श्रुतेः। आपोशान ग्रहीता करकमले एकां कनिष्ठामङ्गुलिं प्रसारयति, अन्याश्च संकोचयतीति संप्रदायः[1]।। आचार्य मल्लिनाथ, चाण्डूपण्डित एवं विद्याधर इस क्रिया को आचमन की एक विधा मानते हैं[2]। यथा- चाण्डूपण्डित का मत है कि ''आपोशानस्य अन्नाऽनग्नाऽमृतींकरणार्थस्य आचमनस्य गृहार्थं........। यो भोक्तुं प्रवृत्तः स प्रथममापोशानं गृहणाति। तदुक्तम्आपोशानेनोपरिष्टादध स्तादश्नता तथा। अनग्नममृतं चैव कार्यमन्नं द्विजन्पना। तथा विद्याधर लिखते हैं कलितं गृहीतं चुलुकेन प्रसृतेन यदापोशानं भोजनादौ पानीयप्राशनं तस्य ग्रहार्थमाचमनार्थम। यः किल प्रथमं भोक्तुं प्रवर्तते स आदावपोशानं गृह्णाति। इस क्रिया का विवरण ब्रह्मपुराण के वीरमृत्योदय (आह्निक प्रकाश) में भी मिलता है यथा - आपोशानं तु गृहणीयात् सर्वतीर्थमयं हि तत्। अमृतोपस्तरणमसि विष्णोरन्नमयस्य च। मिताक्षर का कथन है ''आपोशनक्रियाम् अमृतोपस्तरणमसीत्यादिकां पूर्वं कृत्त्वा भुञ्जीत्'' एवं अपरार्क का मत है ''उपनयनकाल आयोशा(श)नप्रैषोक्ता क्रिया आपोशा(श)न क्रिया। ब्रह्मपुराण[3] तथा याज्ञवल्क्य संहिता[4] के अतिरिक्त अनर्घराघव[5] एवं लीलावय[6] में भी आपोशान क्रिया का वर्णन मिलता है। हाण्डिकी महोदय का आपोशन क्रिया के विषय में अभिमत है कि "The Custom of drinking before a meal some water from the hollow of the palm by stretching out the little finger, keeping the others fingers closed. The word is spelt also अपोशन, अपोशान, and आपोशान, It is believed that the Aposana Ceremony tours the food into nectar, and should be accompained by the appropriate formula.[7] उपर्युक्त आपोशन क्रिया के विवरण देने से नैषधकार ने यह संकेत देना चाहा है कि तत्कालीन बारहवीं शताब्दी में भोजनपूर्व इस प्रक्रिया को अपनाया जाता था जिसको वर्तमान में आंशिक पुरुषों द्वारा ही अपनाया जाता है। हाँ इसके पूर्व की प्रक्रिया अर्थात् ''त्वदीयमस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पितम्'' इत्यादि मन्त्रोचारण करते हुए भोजनपूर्व भोजन के चारों तरफ जल फेरने या घुमाने का प्रचलन मानव समाज में वर्तमान में भी प्रचलित है।

मनुस्मृति में चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को अन्य का आधार एवं उनसे श्रेष्ठ माना गया है।[8] इस विवरण की संगति दमयन्ती के उस कथन से होती है जहाँ वह इन्द्रदूती को उत्तरदेती हुई कहती है कि मैं गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर (पृथ्वी लोक में ही) पति की सेवा करूँगी।[9] साथ ही साथ सत्रहवें सर्ग में भी मनुस्मृति के उपर्युक्त तथ्य की मीमांसा मोह विवरण प्रसंग में श्रीहर्ष ने की है। यथा-

ब्रह्मचारिवनस्थायियतयो गृहिणं यथा। त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभवाः।।[10]

---

1. नै० 19/28 में नरहरि एवं नारायण,
2. आपोशानं नाम भोजनादौ कर्त्तव्यम् ''अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा''।
   इति समन्त्रक जलपानेन अन्नस्य अमृतास्तरणरूपं कार्यं समन्त्रका चमनमित्यर्थः। नै० 19/28 में मल्लिनाथ
3. यथान्यायं पूजयित्वा शाकल्यो भोजनं ददौ। आपोशनं करे कृत्वा परशुर्वाक्यमब्रवीत् ।। ब्रह्मपुराण, 163/18
4. कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया। अपोशनक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन् ।। याज्ञ सं. 1/31
5. ध्रुवमिह चतुरम्भो निधिरचितापोशानकर्मणिमुनीन्द्रे। भक्ष्यमन्यानि किमपि चकम्पिरे सप्त भुवनानि।। अनर्घराघव, 7/96
   इसमें टीकाकार रुचिपति का कथन है ''भोजनारम्भचुलकरूपमापोशानम्''।
6. ओसावणि व्व पीयासत्त वि चुलुयट्ठिया, उयही। कौहल-लीलावय, श्लोक 8 पूर्वार्द्ध
7. नैषधीयचरित के. के. हाण्डिकी पृ० 558-559
8. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वे आश्रमाः ।।
   यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् गृहस्थेनैवधार्यन्ते तस्माज्जेष्ठाश्रमोगृही ।।
   स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं यो धार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ।। मनु० 3/77-79
9. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु। तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययेह शर्मोर्मीकिमीरितधर्मलिप्सुः।। नै० 6/97
10. नै० 17/32

भारतीय संस्कृति में अपना नाम, गुरु का नाम, कंजूस का नाम, पत्नी एवं ज्येष्ठ सन्तान के नाम नहीं लेना सदाचार माना जाता है, यथा-

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः।

पति को वेदों एवं स्मृतियों में गुरु तथा पत्नी को शिष्या माना जाता है, एवं वात्स्यायन भी ऐसा मानते हैं, अतएव पति के नाम न लेने का विधान भी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का एक अंगभूत तथ्य है। उपर्युक्त दोनो तथ्यों का प्रतिपादन भी नैषधकार ने किया है। प्रथम तथ्य का उत्तर दमयन्ती द्वारा नल के कुल गोत्र, नाम जानने के प्रश्न में नल के उत्तर में मिलता है। यथा-

महाजनाचार परम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः ।
ततोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति ।।[1]

द्वितीय तथ्य अर्थात् पत्नी द्वारा पति का नामोच्चारण न करना भी भारतीय संस्कृति का एक अंग रहा है हालांकि वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण कर कुछ आधुनिक शहरी जन पत्नी का नामोच्चारण करते दिखते हैं, परन्तु नैषधकार तो बारहवीं शताब्दी की बात यहाँ कर रहे हैं, और तब ऐसी परम्परा अवश्य रही होगी एवं वर्तमान में भी ग्रामीण परिवेश में भी वही प्राचीन परम्परा विद्यमान है। सरस्वती वर्णन के साथ साथ[2] हंस द्वारा दमयन्ती से पूँछने पर कि वह नल को चाहती है या नहीं? दमयन्ती ने द्वितीय तथ्य का आश्रय लेते हुए उत्तर दिया[3] चूँकि नल के गुण सुनने के पश्चात मन से नल को दमयन्ती ने अपना पति स्वीकार कर लिया था अतएव सरस्वती के पूँछने पर भी उसने पति नाम का उच्चारण नहीं किया। आचार्य मनु ने व्यावहारिक जीवन के बारे में कहा कि मिलने पर ब्राह्मण से उसकी कुशल क्षत्रिय से उसके स्वास्थ्य (नैरोग्य), वैश्य से क्षेम एवं शूद्र से आरोग्यता सम्बन्धित जानकारी पूँछनी चाहिए[4]। इसी तथ्य का विवरण नैषधकार ने दूतरूपधारी नल के कथन में करवाया है। जहाँ वह दमयन्ती से कहते हैं कि इन्द्र ने आपके (क्षत्रिय कुमारी) स्वास्थ्य (अनामय या नैरोग्य) के बारे में पूँछते हुए आपको अपना गाढालिंगन सम्प्रेषित किया हैं। यथा-

सलीलमालिंगनयोपपीडमनामयं पृच्छति वासवस्त्वाम् ।
शेषस्त्वदाश्लेषकथापनिद्रैस्तद्रोमभिः संदिदिशे भवत्यै ।।[5]

अतिथि सत्कार भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। घर में आये हुए अतिथि के सम्बन्ध में मनु का कथन है कि-

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।।[6]

अर्थात् उसका हृदय से आदरसत्कार करना चाहिए। यदि अन्नफलादि देने से पास में न हों तो कम को कम तृण (चटाई) बैठने का स्थान, जल तथा मधुर वाणी से उसका सत्कार अवश्यमेव करना चाहिए। इस तथ्य की संगति दमयन्ती के नल को सहसा देखने के पश्चात दमयन्ती के कथन से होती है। यथा -

---

1. नै० 9/13
2. त्वत्तः श्रुतं नेति नले मयातः परं वदस्वेत्युदिताथ देव्याः। ह्रीमन्मथद्वैरथरंगभूमी भैमी दृशा भाषितनैषधाभूता। नै० 14/36
3. मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः। का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ।। नै० 3/59
   इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी । चेतो नलङ्कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ।। नै० 3/67
4. ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ।। मनु0 2/127
5. नै० 6/78
6. मनु० 3/95 एवं 96 से 106 भी द्रष्टव्य

नत्वा शिरोरत्नरुचापि पाद्यं सम्पाद्यमाचारविदातिथिभ्यः ।
प्रियाक्षरालीरसधारयापि वैधी विधेया मधुपर्क तृप्तिः ।।
स्वात्मापि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि ।
आनन्दबाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः ।।[1]

श्रोत्रिय अतिथि के सत्कार के विषय में याज्ञवल्कय ऋषि का कथन है कि उनको महोक्ष (विशाल बैल) अथवा महाज (बड़ा बकरा) भेंट करना चाहिए।[2] इस धर्मशास्त्रीय तथ्य के विवरण का प्रतिपादन नैषधकार द्वारा वर्णित कलिविवरण प्रसंग में उपस्थित मिलता है जहाँ कलि गोवध होता देखकर प्रसन्न हुआ, परन्तु नजदीक जाकर देखा तो वह अतिथियों के लिए व्यापादित हुआ था।[3] अतएव वापस लौट आया। ध्यातव्य है कि अतिथियों के लिए बैल, वत्सतरी या बकरे का मांस देना वैदिककाल एवं प्राचीनकाल में धर्मशास्त्र सम्मत माना जाता था, जैसा कि उत्तरामचरित नाटक में वशिष्ठ मुनि के लिए वत्सतरी को मारने का वर्णन मिलता है किन्तु कलियुग में देवर से पुत्रोत्पति, मांस से श्राद्ध कर करने का तथा अतिथि को मांस भोजन कराने का स्मृतिकारों ने निषेध किया है, अतः यह प्रसंग सत्ययुग का होने से तो धर्मोपेत माना जा सकता है किन्तु कलियुग में (बारहवीं शताब्दी) में तो कथम्पि तर्कसंगत नहीं ठहरता। मिताक्षर का कथन भी इसमें प्रमाण माना जा सकता है। यथा- 'महान्तमुक्षाणं धौरयं महाजं वा श्रोत्रियायोक्तलक्षणायोपं कल्पयेद भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पतु इति तत्प्रीत्यर्थ, न तु दानाय व्यापादनाय वा यथा सर्वमेतद् भवदीयमिति। प्रतिश्रोत्रियमुक्षासम्भवात्। अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु इति निषेधाच्च। तस्मात् सत्क्रिया ह्येव कर्त्तव्याः। इससे हम यह कहते हैं कि याज्ञवल्क्य स्मृति की दूसरी पंक्ति अर्थात् सत्कार, आसन, सुस्वादु भोजन एवं मधुवाणी से ही श्रोत्रिय अतिथि का सत्कार धर्मशास्त्र सम्मत है, प्रथम पंक्ति को उसी प्रकार सामान्य अर्थ में ग्रहण करना चाहिए जैसे किसी अतिथि या श्रेष्ठ व्यक्ति के गोद में छोटा बच्चा डालते हुए यह कह दिया जाता है कि यह आपका ही है, या अपने पशुओं की प्रशंसा भरे किसी अभ्यागत व्यक्ति या अन्य मनुष्य के सम्मान में यह कह किया जाता है कि यह सब आपका ही तो है। साथ ही यहाँ अश्रोत्रिय या साधारण व्यक्ति के सम्मान के बारे में कहना भी अभीप्सित होगा ऋषि गौतम कहते हैं कि "अश्रोत्रियस्योदकासने।" अर्थात् साधारण व्यक्ति का सम्मान आसन एवं जल देकर करना चाहिए।

धर्मशास्त्रों में प्रतिपाद्य स्त्रियों के सम्बन्धित अनेक तथ्यों का निदर्शन भी नैषधमहाकाव्य में वर्णित मिलता है। आचार्य मनु ने जहाँ नग्न स्त्री को देखना निषिद्ध किया है[4]। वही याज्ञवल्क्य ऋषि ने नग्न स्त्री एवं कामरत स्त्री को भी देखना निषिद्ध किया है[5]। आश्वलायन संहिता में भी वर्णन मिलता है कि "न नग्नां स्त्रियमीक्षेत्।" नैषधकार ने उपर्युक्त शास्त्रीय मत की संगति नल के उपवन विहार में[6] एवं नल के भीम के अन्तःपुर वर्णन प्रसंग में उपस्थित किया है जहाँ किसी ललना की रमणार्थ खुली जाँघो को देखकर नल ने अपनी आँखे बन्द कर ली,[7] क्योंकि वह धर्मशास्त्रज्ञ थे। धर्मसंहिताओं यथा" मनुस्मृति में परदाराभिदर्शन या

1. नै० 8/20, 21
2. महोक्षं या महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् । सत्क्रियान्वासनं स्वादु भोजनं सुनृतं वचः।। याज्ञ०स्मृ० 5/109
3. अधावत् क्वापि गां वीक्ष्य हन्यमानामयं मुदा। अतिथिभ्यस्तस्था तां बुद्ध्वामन्दं मन्दो न्यवर्त्तत् ।।नै० 17/200
4. नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्। मनु० 4/53
5. नेक्षेतार्क न नग्नां स्त्री न च संसृष्टमैथुनाम् । याज्ञ० सं० आचारा०, 135
6. पुरा हठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः। मिलन्निमीलं ससृजुर्विलोकिता नमस्वतस्तं कुसुमेषुकेलयः।। नै० 1/97
7. अन्तःपुरान्तः स विलोक्य बालां काञ्चित्समालब्धुमसंवृतोरुम् ।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या संघट्टमासाद्य चमत्चकार ।। नै० 6/13

परदाराभिगमन को अत्यन्त निन्द्य माना गया है[1] तथा आचार्य मनु ने इस कृत्य के लिए दण्डित करने का विधान भी किया है।[2] नैषधकार ने कलिप्रतिनिधिमुखेन उपर्युक्त तथ्य को उपहास रूप में सही, नैषध में जगह दी है[3]। श्रुतियों में गुरुपत्नी गमन को पञ्चमहापातकों में एक माना गया है[4]। इस तथ्य की मीमांसा भी परोक्ष रूप से या यह कह लें श्रुतियों के तथ्यों के उपहास के रूप में कलिप्रतिनिधि ने की है एवं चन्द्रमा को इसका उल्लंघनकर्ता माना है। यथा-

गुरुतल्पगतौ पाप कल्पनां त्यजत द्विजाः। येषां वः पत्युरत्युच्चैः गुरुदारगृहे गृहः।।[5]

पत्नी को छोड़कर युवती नारी के पास पुरुष को अकेले नहीं रहना या जाना चाहिए क्योंकि इन्द्रियाँ चंचल एवं बलवती होती हैं, एवं आचार्य मनु ने तो वयस्क(युवा) पुरुष को युवा माता, युवा बहिन तथा युवा पुत्री के पास भी बैठने या रहने का निषेध किया है[6]। अन्य श्रुतिकथन भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करता है यथा-

कामिनी कामयेदेवं निर्जने पितरं सुतम्। सद्वितीयोऽभ्युपेयात्तामतः परिणतामपि ।।

इस तथ्य की संगति वरुण देव के वर्णन प्रसंग में मिलती हैं, जहाँ वरुण ने इस धर्मशास्त्रीय तथ्य का अर्थ न समझ कर यही समझ लिया जो सभार्य होगा उसे दूसरी भायी कैसे मिल सकती है? ध्यातव्य है कि यहाँ सह द्वितीय में द्वितीय शब्द पत्नीवाचक न होकर (कोई भी) स्त्री या पुरुष से सम्बन्धित है एवं वरुण देव ने ''द्वितीयेन सहेति सहद्वितीयः'' को द्वितीयया (भार्यया) सहेति सह द्वितीयः अर्थ समझ लिया। अमरकोश में भी जो वर्णन मिलता है ''द्वितीया सहधर्मिणी भार्या जायः (इत्यमरः) का भी उसने असंगत अर्थ समझा।''

धर्मशास्त्रों में स्त्रियों को जहाँ सन्तति संरक्षण एवं उसकी वाहिका तथा सती, पतिव्रता के रूप में वर्णित किया गया है, वहीं उनके दूसरे पक्ष अर्थात् कमियों की तरफ भी स्मृतियों एवं संहिताओं में वर्णन भरे पड़े हैं मैत्रायणी संहिता एवं ऋग्वेद में जहाँ स्त्री को क्रूर माना गया है[7]। वहीं मनु ने तो स्त्री का अत्यधिक वीभत्स रूप में विवरण देते हुए उन्हें प्रकृत्या काम, क्रोध, अनार्जव, द्रोह इत्यादि दुर्वृत्तियों का आधार माना है[8]। क्योंकि वह अपने हावभाव से पुरुषों को मोहित कर उनमें दूषण उत्पन्न कर देती हैं[9]। इस प्रकार पतित के साथ वर्षान्त तक व्यवहार रखने पर मनुष्य स्वयं भी पतित हो जाता है[10]। इस तथ्य को भी नैषधकार ने कलिप्रतिनिधिमुखेन अभिहित किया है कि-

---

1. न हि दृशमनायुष्यं लोकेकिंचन विद्यते । याद्दशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ।। मनु० 4/134
   तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना । आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ।।
2. परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नृन्महीपतिः । उद्वेजनकरैर्दण्डैश्चिह्नयित्वा प्रवासयेत् ।। मनु० 8/352
3. परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः। अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना ।। नै० 17/43
4. ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः । एते सर्वे पृथग् ज्ञेया महापातकिनो नराः।। मनु० 9/235
   ब्रह्महामद्यपस्तेन स्तथैवगुरुतल्पगः । एतेमहापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत् ।। याज्ञ०स्मृ० प्रायश्चिताध्याय, 227
5. नै० 17/44
6. मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।। मनु० 2/215
7. मैत्रायणी संहिता- 1/10-11
   न वै स्त्रैणानि संख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयांन्येता। ऋ० 10/95/15
8. शय्यासनमलंकारं कामं क्रोधमनार्यताम् । द्रोग्धृभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत्।। मनु० 9/17
9. स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्। अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ।। वही० 2/213
10. संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् । याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ।। वही 11/179

कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः संक्रान्तपातकः। नाश्नाति स्नाति हा मोहात्कामक्षामव्रतं जगत्।।[1]

स्त्रियों के प्रथम पक्ष अर्थात् उनके सतीत्व का विवरण भी नैषध महाकाव्य में मिलता है, प्रथम दमयन्ती द्वारा चन्द्रोपालम्भ[2] वर्णन में एवं द्वितीय भाटजनों की विरचित पदानली में[3]। हारीत का मत है कि "मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञैया पतिव्रता[4]।" नारायण का कथन है कि सती होना क्षत्रिय जाति की संस्कृति का अंग है क्षत्रियाणां देशान्तरे मृतानां स्त्रियौ धनुरालिंगयानुम्रियन्ते इत्याचारः।" याज्ञवल्क्य का अभिमत है कि यदि पति में किसी महापातक का दोष हो तो सती होने के लिऐ वह पति की शुद्धिकाल तक प्रतीक्षा करो तब तक वह पुरुष से स्वतंत्र रहती है[5]। उपर्युक्त तथ्य की संगति चन्द्रोपालम्भ विवरण में दमयन्ती के कथन से होती है। वह कामदेव को फटकारती हुई कहती है कि हे काम! अतिप्रख्यात पतिव्रता होकर भी रति तेरे पीछे क्यों न सती हुई? लगता है अनेक विरहिणों के बंध के पातकी तुम्हें तुम्हारी प्रिया रति ने भी त्याग दिया है[6]।

शौच अशौच तथ्यों का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही मान्य है। महर्षि मरीचि के मतानुसार मरणाशौच में व्यक्ति के मृत्यु के दिन परिवार के सभी व्यक्ति उपवास करते हैं लेकिन कुछ दिनों के बाद अर्थात् मरणाशौच समाप्ति के बाद सभी एक साथ भोजन भी करते हैं[7]। जबकि ब्राह्ममत है कि "अशौचमध्ये यत्नेन भोजयेच्च स्वगोत्रजान्[8]।" नैषधकार ने मरीच मुनि के कथन की संगति वैतालिक जनों द्वारा विरचित नल के जागरण हेतु प्रयुक्त प्रातःकालीन वर्णन प्रसंग में की है, जहाँ विवरण मिलता है कि गत दिन के बीतने पर जब सन्ध्या आई तो मानों दयावश कमल संकुचित होने लगे परन्तु उस समय कुछ भ्रमर कमल के क्रोड में ही रह गये, जो पद्मक्रोड से बाहर निकल आये थे वे भीतर स्थित भ्रमरों के जीवन से निराश से हो गये और रात्रि भर शोक में उपवास करते रहे परन्तु अब प्रातःकाल कमलों के विकसित होने पर भीतर पड़े भ्रमर अपने सहचरों के साथ मकरन्दपारण कर रहे हैं[9]।

मनु ने सूर्यास्त तथा सूर्योदय के समय शयन कर्म या निद्रा को पाप कर्म बताया है[10]। तथा अमर कोशकार ने भी सूर्यास्त तथा सूर्योदय के समय सोने वाले व्यक्तियों को क्रमशः अभिनिर्मुक्त एवं अभ्युदित नाम दिया है। यथा- "सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च। अंशुमानभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ च यथाक्रमम्।" नैषधकार ने उपर्युक्त तथ्य को भी कलिवर्णन प्रसंग में अपनी लेखनी में समेटा है जहाँ वह कहते हैं कि अत्यधिक प्रयत्न के बावजूद भी कलि को नल राजधानी में कोई भी अभिनिर्मुक्त न मिला, जीवन्मुक्त

---

1. नै० 17/41
2. दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा विरहजैव पृथुर्यदि दृशम् ।
   दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्घुराः ।। नै० 4/46
3. दहनमविशद्दीप्तिर्यास्तं गते गतवासरप्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ विवस्वति रागिणी ।
   अधरभुवनात्सोद्धृत्यैषा हठात्तरणेः कृतामरपतिपुरप्राप्तिर्धत्ते सतीव्रतमूर्तिताम् ।।
4. मिताक्षरा, आचाराध्याय, पृ० 86 में उद्धृत
5. आशुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः। याज्ञ0 स्मृति, आचारध्याय, 77
6. अनुममार न मार कथं नु सा रतिरतिप्रथितापि पतिव्रता ।
   इयदनाथवधूवधपातकी दयितयापि तथासि किमुज्झितः ।। नै० 4/79 एवं 9/31...54
7. तिलान् ददतु पानीयं दीपं ददतु जाग्रतु । ज्ञातिभिः सह भोक्तव्यमेतत्प्रेतेषु दुर्लभम् ।।
   प्रथमेऽह्नि तृतीये च सप्तमे दशमे तथा । ज्ञातिभिः सह भोक्तव्यमेतत्प्रेतेषु दुर्लभम् ।।
   निर्णय सिन्धु तृतीय परिच्छेद का तृतीय भाग, पृ० 410 निर्णय सागरप्रेस प्रकाशन 1906
8. वही पृ० 410
9. गतचरदिनस्यायुर्भ्रंशे दयोदयसंकुचत्कमलमुकुलक्रोडान्नीडप्रवेशमुदेयुषाम् ।
   इह मधुलिहां भिन्नेष्वम्भोरुहेषु समायता सह सहचरैरालोक्यन्तेऽधुना मधुपारणः ।। नै० 19/30
10. सूर्येण ह्यभि निर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः। प्रायश्चितमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ।। मनु० 2/221

ब्रह्मज्ञानी तो मिले लेकिन सूर्यास्त के समय निद्रा लेने वाले आचरण भ्रष्टों के उसे दर्शन नहीं हुए।[1] धर्मशास्त्र सम्बन्धित विहित कर्मों के करने से अभ्युन्नति एवं निषिद्ध कर्मों के करने से मनुष्य का पतन होता है।[2] इसी तथ्य को समझाते हुए वरुणदेव द्वारा कलि को वेदविहित या धर्मशास्त्र सम्बन्धित तथ्यों को मानने की सलाह देने का भी नैषधकार ने वर्णन किया है।[3] आचार्य शिष्य के अज्ञान नाशक होने के साथ-साथ उनके आचरण शिक्षक भी होते हैं, एवं विभिन्न धर्मशास्त्रीय ग्रंथो में आचार्य का स्थान सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वेदाध्ययन के प्रारम्भ एवं अन्त में आचार्य को प्रणाम करने की आचरण पद्धति का भी धर्मशास्त्रीय संहिताओं में वर्णन मिलता है, जिसमें आचार्य मनु ने यह विधान किया है कि गुरु के दक्षिण दाम चरणों का स्पर्श शिष्य को क्रमशः ऊपर नीचे कर दक्षिण वाम हस्तों से करना चाहिए, इस मुद्रा को उन्होंने ब्रह्माञ्जलि नाम दिया है।[4] श्रीहर्ष ने इस ब्रह्माञ्जलि मुद्रा का विवरण कलिवर्णन प्रसंग में किया है, जिससे कलि को अत्यधिक कष्ट हुआ, क्योंकि आचरण संहिता के तथ्य उसे कथमपि सह्य नहीं थे अतः जितनी ब्रह्माञ्जलियाँ उसने नल राजधानी में देखीं, उतने ही उसने आंसू गिराये ।[5]

झूठी शपथ लेने वाले मनुष्यों को नैषधकार ने सावधान किया है। मनुस्मृति में भी वर्णन मिलता हे कि झूठी शपथ लेने से मानव का लोक एवं पर लोक दोनों का विनाश हो जाता है।[6] इस शास्त्रीय तथ्य की संगति नल दमयन्ती एवं उनकी सखी कला के संवाद में मिलती है जहाँ कला ने दमयन्ती को परेशान करने के लिए कहा कि मैंने (तुम्हारी एवं नल की काम सम्बन्धित सभी बातें) सब सुन लिया है और यदि मैं असत्य बोल रही हूँ तो मैरे सब देवता ब्यर्थ हो जायें ।[7] लेकिन अनन्तर जब उसे धर्मशास्त्रीय तथ्य कि ''झूठ बोलना बिनाशक होता है'' की अनुभूति हुई एवं नल के कहने पर कि तुम (कला) झूठी हो कला ने उत्तर दिया कि राजन् आपने दमयमन्ती के परिजनों को झूठा कैसे समझ लिया? मैंने तो यह था कि मैंने सब सुन लिया है, किन्तु यह तो नहीं कहा कि मैं तो आप लोगों की बातें सुन ली है।[8] एवं मैंने **"व्यर्थाः स्युर्मम देवता"** वाक्य का उच्चारण किया उसमें देव शब्द आपके लिए था न कि देवताओं के लिए। मैं अपनी कही गयी बातों की व्यर्थता का समर्थन करती हूँ क्योंकि देव सम्बन्धी झूठी शपथ का परिणाम भयंकर होता है।[9]

न्यास या धरोहर के विषय सन्दर्भ को भी श्रीहर्ष ने नैषध में जगह दी है। मनु का कथन है कि जिस रूप में वह रखा जाता है, उसी रूप में वापस होना चाहिए।[10] इस तथ्य का विवरण नल-दमयन्ती के विलास के अवसर पर नल के कथन में द्रष्टव्य होता है।[11] मनु ने यह भी कहा कि जो न्यास या धरोहर का अपहरण करता है उसे कठोरदण्ड मिलना, चाहिए।[12] इस तथ्य की सङ्गति नल के केश प्रसाधन

---

1. तेनादृश्यन्त वीरघ्ना न तु वीरहणो जनाः । नापश्यत् सोभिनिर्मुक्ताञ्जीवनमुक्तानवैक्षत् ॥ नै० 17/197
2. विहितस्याननुष्ठानान्निषिद्धस्य च सेवनात् । अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ याज्ञ० सं० प्रायश्चिताध्याय-219
3. क्वापि सवर्वैरवैपावैमत्यात्पातित्या दन्यदन्यथाक्वचित्। स्थातव्यं श्रौत एवं स्याद्धर्मे शेषेपि तत्कृते ॥ नै० 17/101
4. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा । संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ मनु० 2/71
5. अपश्यद्यावतो वेदविदां ब्रह्माञ्जलीनसौ । उदडीयन्त तावन्तस्तस्यास्राञ्जलयोहृदः ॥ नै० 17/183
6. न वृथा शपथं कुर्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः। वृथा हि शपथं कुर्यन् प्रेत्य नेह च नश्यति ॥ मनु० 8/111
7. कारं कारं तथाकारमूचे साऽशृणवंतमाम्। मिथ्या वेत्थ गिरश्चैतद्व्यर्थाः स्युर्मम देवता ॥ नै० 20/108
8. नै० 20/115-117
9. आमन्त्र्य तेन देव! त्वां तद्वैयर्थ्यं समर्थये। शपथः कर्कशोदर्कः सत्यं सत्योऽपि दैवतः ॥ नै० 20/118
10. यो यथा शो निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः। स तथैव गृहीतव्यो यथादायस्तथाग्रहः ॥ मनु० 8/180
11. जागर्ति तत्र संस्कारः स्वमुखाद्भवदानने। निक्षिप्यायाचितं यत्ता न्यायात्ताम्बूलफालिकाः॥ नै० 2./82
12. यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते। तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्॥ मनु० 8/191

विवरण में देखी जा सकती है, जहाँ नल के केशो की तुलना मयूरपंखों से करते हुए राजदण्ड के रूप में नैषधकार ने इनके बाँधने का विवरण समुपस्थापित किया है।[1]

ऋण एवं कर सम्बन्धी विवरण भी नैषध महाकाव्य में प्राप्त होते हैं। ऋणदाता (उत्तमर्ण या महाजन) को ऋणग्रहीता (अधमर्ण) से स्मृतिकारों यथा मनु एवं याज्ञवल्क्य ने समय एवं परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग मात्रा में ऋण लेने का विधान किया है[2]। ऋणगृहीता या अधमर्ण का उत्तमर्ण से भयभीत होना स्वाभाविक है। इस परिस्थिति का चित्रण भी श्रीहर्ष ने नलमुखेन दमयन्ती के नेत्र वर्णन प्रसंग में किया है, जहाँ नल कल्पना करते हैं कि क्या हरिणियों ने दमयन्ती से दोनों नेत्रों की कान्ति ऋण रूप में उधार ली थी जो इसने डरती हुई उन मृगियों से वह सम्पूर्ण कान्ति कई गुना करके बलात् वसूल किया[3]। लौकिक जीवन में अभी तक यही होता आया है। ऋण दो प्रकार से, यह कह लें दो रूपां में दिया जाता है प्रथम ऋण लेने वाला कुछ निक्षेप रूप में ऋणदाता के पास रखकर ऋण लेता है। द्वितीय किसी मध्यस्थ (प्रतिभू या जामिन) की जमानत पर ऋणदाता किसी को ऋण देता है, इस परिस्थिति में यदि ऋण लेने वाला (अधमर्ण) व्यक्ति ऋण वापस नहीं करता तो मध्यस्थ या जमानतदार को उस व्यक्ति का ऋण देना पड़ता है, या उत्तमर्ण व्यक्ति प्रतिभू या जमानतदार को पकड़कर अपना धन लेता है[4]। इस तथ्य की परोक्ष रूप से संङ्गति काशी नरेश के वर्णन प्रसंग में द्रष्टव्य होती है जहाँ श्रीहर्ष ने सरस्वतीमुखेन वर्णन किया है कि जब अन्य राजाओं तथा इस राजा (काशी नरेश) के बीच कर देने में कृपाण ही मध्यस्थ है तो उस मध्यस्थ की बात अन्य राजागण क्यों न मानें। यथा-

> अस्मै करं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मादस्यैव तत्र यद्भूत्प्रतिभूः कृपाणः ।
> दैवाद्यदा प्रवितरन्ति न ते तदैव नेदं कृपा निजकृपाणकरग्रहाय ।।[5]

श्रीहर्ष ने मनुस्मृति में प्रतिपादित शिलोञ्छ वृत्ति को ही ब्राह्मण के लिए सर्वश्रेष्ठ वृत्ति माना है क्योंकि इसी वृत्ति को ही ऋतवृत्ति माना जाता है। मनु का वृत्ति के विषय में अभिमत है कि व्यक्ति को ऋत् (उञ्छ-शिल) या अमृत (अयाचित उपलब्ध) या मृत (भिक्षा) या प्रमृत (कृषि) से नहीं, तो सत्यानृत (वाणिज्य) से ही जीविका निर्वहन करना चाहिए, किन्तु श्ववृत्ति (सेवा या नौकरी आदि पराधीन बनाने वाली वृत्ति) को कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए[6] शिलोञ्छ वृत्ति का सन्दर्भ दमयन्ती द्वारा दूतरूपधारी नल के रूप सौन्दर्य वर्णन में उपलब्ध होता है जहाँ दमयन्ती कहती है कि आपके द्वारा संसार की शोभा के उत्तम

---

1. नृपस्य तत्राधिकृताः पुनः पुनर्विचार्य तान्बन्धमवापिपन्कचान्।
कलापलीलोपनिधिर्गरुत्यजः स यैरपालापि कलापिसम्पदः।। नै० 15/58

2. वशिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्द्धिनीम् । अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ।। मनु० 8/140
द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन्। द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवेत्यर्थकिल्विषी ।। वही 8/141
द्विकं त्रिकं चतुष्कं वा पञ्चकं च शतं समम्। मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ।। वही 8/142
अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासिमासि सबन्धके। वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुः पंचकमन्यथा ।। याज्ञ०स्मृ० व्यवहाराध्याय, 37

3. ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः ।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलम्यत बिभ्यतीभ्यः।। नै० 7/33

4. दर्शने प्रत्यये दाने प्रतिभाव्यं विधीयते। आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि ।। याज्ञ० स्मृ० व्यवहाराध्याय, 53

5. नै० 11/126

6. जीवेद्वापि शिलोञ्छेन......याज्ञ०स्मृ० आचाराध्याय, 128
– वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्र परायणः। इष्टीः पार्वायणान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ।। मनु० 4/10
– ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ।। वही 4/4
– ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्। मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।।वही 4/5
– सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते। सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ।।वही 4/6

भाग के ले लिए जाने पर चन्द्रमा ने जो शिलोञ्छ (उञ्छो धान्यकणादानं कणिकांशार्जनं शिलं इति यादवः) वृत्ति अपनाई, उसके फलस्वरूप भगवान शंकर ने बालरूपी होते हुए भी चन्द्रमा को अपने मस्तक पर धारण कर लिया तथा यज्ञकर्त्ताओं में श्रेष्ठ द्विजराज पद पर उसे आरोपित कर दिया।[1] अर्थात् शिलोञ्छ वृत्ति के परिपालन के कारण ही चन्द्रमा को यह गौरव मिला।

आचार्य मनु से सहमत होते हुए नैषधकार ने भी मृगया (शिकार) को राजाओं के लिए निन्दित नहीं माना। नल द्वारा हंस को मुक्त करने पर हंस नल से कहता है कि धर्मशास्त्र के मर्म के पारगामी (मनु आदि) राजा लोग भी आखेट शिकार की निन्दा नहीं करते, अतएव हे कामदेव तुल्य सुन्दर! (नल! आपने) मुझे जो छोड़ दिया, वह (छोड़ना) दया के आविर्भाव से निर्मल आपका धर्म था[2]। अर्थात् आप केवल आकृति से ही सुन्दर नहीं है किन्तु आपका धर्म (स्वभाव) भी सुन्दर (दयावान) है। जबकि अपने निर्बल वंश को रखने वाली मछलियों को अपने घोसलों के पेड़ों को (विष्ठा मूत्र आदि से) पीड़ित करने वाले पक्षियों[3] को तथा निरपराध तृणों को नष्ट करने वाले मृगों को मारते हुए राजाओं का आखेट दोष के लिए नहीं होता।[4] क्योंकि निरपराधियों को पीड़ित करने वालों को दण्डित करना राजधर्म है। मृगया की प्रशंसा में वर्णन मिलता है कि-

आरण्याः सर्वदैवत्याः प्रोक्षिताः सर्वशो मृगाः। अगस्त्येन पुरा राजन! मृगया येन पूज्यते।।[5]

हरिवंश पुराण में भी वर्णन मिलता है कि-

इक्ष्वाकुस्तु विकुक्षिं वै अष्टकायामथादिशत्। मांसमानय श्राद्धाय मृगं हत्त्वा महावल ।।

नैषधीयचरितम् में विवाह नामक संस्कार का बहुविध वर्णन मिलता है। वास्तव में विवाह नित्य होने वाले सांसारिक कार्यों की भूमिका या नियम बद्ध समाज का एक अंग है जो लौकिक मानव को एक ऐसा मार्ग बतला देता हे जिससे स्त्री एवं पुरुष के सम्बन्धों को वैधता की मुहर प्राप्त हो जाती है। संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रंथों में विवाह[6] शब्द का उल्लेख मिलता है लेकिन इसके लिए 'उद्वाह' (कन्या को उसके पितृ गृह से उच्चता के साथ ले जाना) परिणय या परिणयन (अग्नि की प्रदक्षिणा करना) उपयम (सन्निकट ले जाना और अपना बना लेना) एवं पाणिग्रहण (कन्या का हाथ पकड़ना[7]) शब्द भी पर्याय रूप में धर्मशास्त्रों में मिलते हैं जब कि ये शब्द विवाह संस्कार के केवल एक-एक अंगभूत तत्त्व हैं। ऋग्वेद में जहाँ विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर यज्ञ करना एवं सन्तानोत्पत्ति करना वर्णित है।[8] वही विभिन्न स्मृतियों में विवाह के तीन उद्देश्य धर्मिक कार्य सम्पादन सन्तति रक्षण एवं रति या प्रणयानन्द माने गये हैं।[9] तैत्तरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत एवं शतपथ ब्राह्मण में तो बिना विवाह किये एवं सन्तानोत्पत्ति किये हुए मनुष्य

---

1. त्वया जगत्युच्चिकान्तिसारे यदिन्दुनाऽशीलि शिलोञ्छवृत्तिः।
आरोपि तन्माणवकोऽपि मौलौ स यज्वराज्येऽपि महेश्वरेण ।।नै० 8/42
2. मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः। स्मरसुन्दर! मां यदत्य जस्तव धर्मः स दयोदयोज्वलः ।। नै० 1/9
3. तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः।। मनु0 1/49
4. अवलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगात्। अनवद्यतृणार्दिनो मृगान्मृगयाघाय न भूभुजां घ्नताम् ।।नै० 2/10
5. नै० 2/9 जयन्ती टीका से उद्घृत
6. विवाह-(विशिष्ट ढंग से कन्या को ले जाना या अपनी स्त्री बनाने को ले जाना) शब्द का वर्णन निम्नलिखित धर्मग्रंथो में प्राप्त है। तैत्तरीय सं0 (7/2/87) ऐतऐय ब्राह्मण (27/5) एवं ताण्ड्य महाब्राह्मण (7/10/1) यथा-इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावभूतां विवाहं विवहावहैसह नावस्त्विति।
7. धर्मशास्त्र का इतिहास- डॉ पी. वी काणें प्रथम भाग पृ० 268
8. ऋ० 3/53/4, 5/3/2, 5/28/3, 10/83/36
9. मनु0 9/28, याज्ञ0 स्मृ 1/78, जैमिनि धर्मसूत्र- 6/1/17, आप0 धर्म0 सू0 11/6/13/16, 17

को अपूर्ण माना गया है, क्योंकि पत्नी पति की अर्धांगिनी होती है[1]। स्मृतियों, गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में आठ प्रकार के विवाह गिनाये गये हैं ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच[2]। इन अष्टविध विवाहों में नैषधकार ने केवल गान्धर्व एवं प्राजापत्य विवाह विधियों का विवरण नैषध में दिया है। दमयन्ती के कुल गोत्र एवं सौन्दर्य आदि को हंसमुखेन सुनकर राजा नल दमयन्ती से प्रणय करने लगते[3] हैं, तो दमयन्ती भी चारणों एवं सखियों के साथ-साथ हंसमुखेन नल के गुण, सौन्दर्य एवं कुल आदि को सुनकर मन ही मन उन्हें अपना पति मान लेती है[4]। जिसकी परिणति राजा भीम द्वारा आहूत स्वयंवर में दमयन्ती द्वारा अन्य विविध देशों, तथा द्वीपों के राजाओं एवं चारों देवों को छोड़कर नल को वरमाला पहनाने में होती है।[5] स्वयंवर हो जाने के पश्चात् श्रीहर्ष ने नल एवं दमयन्ती के विवाह का विधान सहित विवरण समुपस्थापित किया है[6], जिसे प्राजापत्य विधि के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है जब दोनों (नल एवं दमयन्ती) क्षत्रियकुल के थे, एवं उनके लिये गान्धर्व विवाह एवं राक्षस विवाह की अनुमति धर्मशास्त्रों में मिलती है,[7] तो नैषधकार ने यहाँ प्राजापत्य विधि का विवरण क्यों दिया? इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं- प्रथम यह कि इस ग्रंथ का उपजीव्य महाभारत है एवं महाभारत में गान्धर्व विवाह के उपरान्त भी विधि पूर्वक विवाह करने का वर्णन मिलता है[8]। तो नैषधकार उससे प्रभावित हुए विना कैसे रह सकते थे? ध्यातव्य है कि महाकवि कालिदास ने भी अज एवं इन्दुमती के स्वयंवर पश्चात पधुपर्क, होम, अग्निप्रदक्षिणा, पाणिग्रहण आदि धार्मिक कृत्यों के किये जाने का विवरण दिया है[9], जिससे यह भी संभव है कि वह महाकवियों की परम्परा का पालन करने के लिए ऐसा किये हों, परन्तु श्रीहर्ष जैसा पाण्डित्य सम्पन्न व्यक्ति भला क्यों किसी का अनुगमन करने लगे? द्वितीय तथ्य यह कि चूँकि गन्धर्व विवाह[10] प्रायः वर कन्या के परस्पर प्रणय के उद्रेक के साथ-साथ कामलिप्तता वश ही

---

1. अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी। तै. सं. 6/1/8/5
   – तस्मात् पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते-ऐतरेय ब्राह्मण 1/2/5
   – न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। महा. शान्तिपर्व 144/66
   अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा । भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यति ।। वही, आदिपर्व 74/40
   आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः।
   शरीरार्धं स्मृता भार्या पुण्यापुण्याफले समा ।। वृहस्पति, अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० 740
   अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ तर्हि हि सर्वो भवति। शत० ब्राह्मण 5/2/1/10 एवं 8/7/2/3
2. मनु० 3/21 याज्ञवल्क्य स्मृ. 1/58 आश्वलायनगृह्यसूत्र 1/6, गौतम धर्मसूत्र 4/6....13
   बौधायन धर्मसूत्र 1/11, विष्णुधर्मसूत्र, 24/18-19 नारदस्त्री पुं0 स0 38,39 कौटि0 अर्थ0 3/1, 59 वाँ प्रकरण, महाभारत आदिपर्व 73/8-9, 102/12-15, जबकि वशिष्ठधर्मसूत्र 1/28-29 में 6, ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र (राक्षस), एवं मानुष (आसुर) एवं आप0 धर्म0 सू0 (2/5/11/17....20,2/5/12/1....2) में प्राजापत्य, पैशाच को छोड़ 6 विवाह प्रकारों का एवं मानव गृ०सू० सूत्र में केवल ब्राह्म एवं शौल्क (आसुर) का विवरण ही मिलता है।
3. नै० 1/46...52, 2/16...62
4. नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन्बहुशः श्रुतिंगते ।
   विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ।। नै० 1/33 एवं 1/34....44, 3/20...129
5. नै० 14/25 ....47 एव
   मन्दाक्षनिस्पन्दतनोर्मनौभूदुष्प्रेरमप्यानयतिस्मतस्याः ।
   मधूकमालामधुरं करं सा कण्ठोपकण्ठं वसुधासुधांशोः ।। नै० 14/47
   अथाभिलिख्येव समर्प्यमाणां राजिं निजस्वीकरणाक्षराणाम् ।
   दूर्वाङ्कुराढ्यां नलकण्ठनाले वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज ।। नै० 14/48 एवं नै० 14/49.......... 59।
6. नै० 16/1.........47
7. मनु० 3/26, बौधायनधर्मसूत्र 1/11/13
8. महा. आदिपर्व 195/7
9. रघुवंशमहाकाव्यम् 7वाँ सर्ग
10. स्त्रीकामा वै गन्धर्वा तैत्त० सं० 6/1/6/5 एवं ऐत ब्रा. 5/1 जबकिवात्स्यापन ने गन्धर्व विवाह को श्री सर्वश्रेष्ठ माना है। कामसूत्र 3/5/29, 30

किया जाता है। इसमें पिता द्वारा कन्यादान की कोई बात ही नहीं होती, प्रत्युत कन्या पिता को उसके अधिकार (कन्यादान) से भी वंचित कर देती है जब कि प्राजापत्य विधि[1] में पिता वर एवं कन्या दोनों को यह कहते हुए कि "तुम दोनों साथ-साथ धार्मिक कृत्य करने एवं फलने-फूलने का आशीर्वाद देते हुए, वर को मधुपर्क से सम्मानित कर कन्यादान करता है।[2] इस पद्धति में पत्नी के जीवित रहने तक पति को ग्रहस्थ हरने, सन्यासी न बनने तथा दूसरा विवाह न करने का वचन देना पड़ता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अतिरिक्त मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम, विश्वरूप, एवं मेघातिथि ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य विवाह विधियां के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तान माता एवं पिता के कुलों को क्रमशः, 12, 10, 8 एवं 7 पीढ़ियों तक के पूर्वजों एवं वंशजों में पवित्रता ला देते हैं,[3] परन्तु ब्राह्म, दैव एवं आर्ष विवाह पद्धति धर्मशास्त्रों में केवल ब्राह्मण /या पुरोहितों के लिए ही वर्णित है अतएव प्राजापत्य विधि ही श्रेष्ठ विधि बचती है जो क्षत्रियों के विवाह के लिए प्रशंसित विधि है, शायद श्रीहर्ष इस तथ्य से पूर्णतया परिचित रहे होंगे तभी तो उन्होंने अपने चरित नायक एवं नायिका का क्षत्रियों के लिए धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित श्रेष्ठ विवाह विधि गान्धर्व एवं प्राजापत्य का ही उल्लेख नैषधमहाकाव्य में किया है।

धर्मशास्त्रानुसार विवाह संस्कार सम्पादन में आदि से लेकर अन्त तक जिन जिन पहलुओं का कार्यान्वयन किया जाता है वे निम्नलिखित हैं- वरवधू, गुण परीक्षा, वर प्रेषण[4] (कन्या को देखने या बातचीत करने हेतु लोगों का जाना), वाग्दान या वाङ्निश्चय[5] (विवाह तय करना) मण्डपकरण[6], नान्दी श्राद्ध एवं पुण्याहवाचन[7], वर का वधूगृहगमन,[8] सीमान्तपूजन[9] (वधू के ग्राम पर वर एवं उसके बल या बारात के पहुँचने पर उनका सम्मान) वधूगृह में वर का मधुपर्क से स्वागत,[10] कन्या का स्नापन, परिधापन एवं सन्नहन[11] (वधु को स्नान कराना, नया वस्त्र देना, उसकी कटि में धागा व कुश की रस्सी बाँधना), समञ्जन[12] (वर एवं वधू को उबटन या सुगन्ध लागना), प्रतिसरबन्ध[13] (वधू के हाथ में कंगन बाँधना), वधू वर निष्क्रमण[14] (गृह के अन्तःकक्ष से वर एवं वधू का मण्डप में आना), (वर वधू का), परस्पर समीक्षण[15], कन्यादान[16] एवं पाणिग्रहण, उत्तरीय प्रान्तबन्धन[17] (वर एवं वधू के वस्त्र के कोने में हल्दी एवं पान बाँधकर

---

1. याज्ञवल्क्यमुनि प्राजापत्य को काम की संज्ञा देते हैं क्योंकि ब्राह्मण ग्रंथों में क का तात्पर्य है प्राजापत्य। धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ. पी.बी. काणे, प्रथम भाग पृ० 297
2. आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/6/12/16...18
3. आश्वलायनगृह्यसूत्र 1/6, मनु0 3/37-38, याज्ञ० स्मृति 1/58...60 गौतम धर्म सूत्र 4/24..27
4. ऋ० 10/85/8,9, शांखा० ध०सू० 1/6/1...4, बौ०ध०सू० 1/1/14,15, आप०ध०सू० 2/16, 4/1, 2, 7
5. शांखायन गृह्यसूत्र 1/6/5,6
6. पारस्कर गृह्यसूत्र. 1/4 एवं संस्कार प्रकाश, पृ० 817, 818, (विवाह, चौल, उपनयन, केशान्त एवं सीमान्त संस्कार घर के बाहर मण्डप में करने चाहिए, जब कि अन्य ग्रंथ इनसे सहमत नहीं है।)
7. बौधा० गृ० सू० 1/1/24
8. शांखा. गृ०सू०-1/12/1
9. संस्कार कौस्तुभ, पृ० 768, धर्मसिन्धु 3. पृ० 261
10. आप० गृ०सू० 3/8, वौ. गृ०सू० 1/2/1, मानव गृ०सू० 1/9, काठक गृ०सू० 24/1/3
11. आपस्त 4/8 काष्ठक 25/4, पारस 1/4 गोमिल 2/1/7, 10, 17, 18 मानव 1/11/4...6,
12. शांखा० 1/12/15, गोमिल 2/2/15, पार0 1/4, ऋ० 10/85/47
13. शांखा0 1/12/6...8, कौशिक गृ०सू०, 76/8,
14. पारस्कर 1/4
15. पारस्कर 1/4, आपस्त0 4/4, बौधा० 1/1/24, 25 (के अनुसार वर ऋग्वेद (10/85/37, 40,44) के मंत्र पढ़ता है। आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट 1/29
16. पारस्कर 1/4, मानव गृ०सू० 1/8/6..9, वाराह 13, संस्कार कौस्तुभ पृ० 779
17. संस्कारकौस्तुभ पृ० 799, संस्कारप्रकाश, पृ० 829

दोनो को एक में बाँधना) अग्निस्थापन एवं होम[1] लाजाहोम[2] अग्निपरिणयन[3] (वर वधू द्वारा अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा), अश्मारोहण सप्तपर्दा (वर वधू का) मूर्धाभिषेक[4] सूर्योपाक्षण[5] ध्रुवारून्धती दर्शन[6] हृदयस्पर्श[7], प्रेक्षकानुमन्त्रण[8] (नवविवाहित दम्पति की ओर संकेत करके दर्शकों को सम्बोधित करना) आचार्य को दक्षिणादान[9] वर के घर में बधू प्रवेश, गृहप्रवेशनीय होम[10], आग्नेय स्थालीपाक[11] (अग्नि को पक्वान्न की आहुति देना), एरणीदान[12] एक बड़े दौरे (पात्र) में दीपक के साथ विविध प्रकार की भेंटे सजाकर वर की माता को देना, जिससे वह तथा अन्य सम्बन्धी वधू को स्नेह से रखे, यह इस तथ्य का भी सूचक है कुल बहुत दिनों तक चले), त्रिरात्रव्रत[13], चतुर्थीकर्म,[14] हरगौरीपूजा,[15] इन्द्राणी पूजा,[16] तैल हरिद्रारोपण,[17] (वधू के शरीर पर तेल एवं हल्दी के लेप के उपरान्त बचे हुए भाग से वर के शरीर का लेपन), (वरवधू द्वारा परस्पर) आर्द्राक्षतारोहण, मंगलसूत्र बन्धन,[18] देवकोत्थापन एवं मण्डपोद्वासन[19] आदि ध्यातव्य है कि सपिण्ड, सप्रवर एवं सगोत्र में विभिन्न धर्मशास्त्रज्ञों ने विवाह करने का निषेध किया है। अतएव विवाह समय इन पर भी विचार करने का धर्मग्रंथो ने विधान किया है[20]।

नैषधमहाकाव्य में प्राप्त विवाह सम्बन्धी धर्मशास्त्रीय विवरणों की मीमांसा से पता चलता है कि नैषधकार ने इनका यथेष्ट विवरण दिया है। हाँ यह बात जरूर है कि उनके वर्णनों में विवाह विधि का क्रमिक रूप से वर्णन नहीं मिलता है । परन्तु इसमें श्रीहर्ष की अनभिज्ञता नहीं समझनी चाहिए क्योंकि देशरीति, या कुलरीति के अलग-अलग होने से विवाह पद्धतियों में भिन्नता संभव है[21]। श्रीहर्ष ने (वरवधू)

---

1. आश्व. 1/7/3, 1/4/3...7, आपस्त. 5/1 (16 आहुतियाँ एवं 16 मंत्र), गोभिल, 2/1/24..26, मानव 1/8, भरद्वाज 1/13
2. आश्व. 1/7/7...13, पारस्क. 1/6, आपस्तम्व 5/3..5, शांखायन 1/13/15..17, गोभि0 2/2/15, मानव 1/11, बौधा0 1/4/25
3. शांखायन. 1/13/4, हिरण्यकेशि. 1/20/81 आदि में अमोऽमस्मि आदि का उच्चारण करते हुए वर परिक्रमा करता है
4. आश्व. 1/7/20, पारस्क 1/8, गोभिल 2/2/5, 16
5. पारस्कर 1/8 (तच्चक्षुः आदि मंत्र का उच्चारण) ऋ० 7/66/16, वाज सं. 36/24
6. आश्व. 1/7/7/22, मानव 1/14/9, भारद्वाज 1/19, आपस्ताम्व 6/12, पारस्कर 1/8, शांखायन 1/17/2, हिरण्यकेशि 1/12/10, गोभिल 2/3/8....12
7. पार0 गृ0 सू0 1/8, भारद्वाज 1/17, बौधायन 1/4/1
8. मानव 1/12/1, पारस्कर 1/8, दोनो ने ऋ० के मंत्र 10/83/33 के उच्चारण करने का विधान किया है।
9. पारस्कर 1/8, शांखायन 1/14/13...17, गोभिल 2/3/33, बोधायन 1/4/38
10. शांखायन 1/16/1...12, गोभिल 2/3/8...12, आपस्तम्ब. 6/6...10
11. आपस्तम्ब 7/1...5, गोभिल. 2/3/19..21, भारद्वाज 1/10
12. संस्कारकौस्तुभ पृ० 811, धर्मसिन्धु पृ० 267
13. आपस्तम्ब 8/8...10 बौधायन 1/5/16...17 के अनुसार नव विवाहित दम्पत्ति तीन रात्रि तक पृथ्वी में एक ही शय्या पर सोयेंगे किन्तु उनके बीच में उदुम्बरकी लकड़ी होगी, जिसपर गन्धलेप, वस्त्र एवं सूत्र लपेटा रहेगा। चौथी रात्रि को वह ऋग्वेद के 10/85/21..22) मंत्र को पढ़कर जल से फेंक दी जाती है।
14. शांखायन गृ० सूत्र 1/18...19 बृह०उप० 6/4/21, अथर्व 5/25वाँ काण्ड (गर्भाधान), आश्व. 1/31/1, पारस्कर 1/11, गोभिल 2/5, आप० गृ०सू० 8/10-11 हिरण्यकेशि गृ० सू० 1/7/25/3, वैखानस (3/9) ने इस कृत्य को ऋतु संगमन कहा है।
15. संस्कारकौस्तुभ पृ० 766 संस्काररत्नमाला पृ० 534 एवं 544, धर्मसिन्धु पृ० 261, लघु आश्वलायन 15/35
16. संस्कार कौस्तुभ पृ० 756, संस्काररत्नमाला पृ० 545, रघुवंश 7/3
17. संस्कारकौस्तुभ पृ० 757, धर्मसिन्धु - III, पृ० 257
18. शौनक स्मृति एवं लघु आश्वलायन स्मृति 15/33
19. संस्कार कौस्तुभ, पृ० 532-533, संस्कार लभाला, पृ० 555-556
20. उपर्युक्त तथ्य, धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ0 पी. वी काणे, प्रथम भाग, पृ० 303, 306 के अन्तर्गत दृष्टव्य
21. अत्र क्वचित् क्वचित् विधिक्रमभंगो देशाचाराच्छाखाभेदात् कुलाचारविशेषाद्वा बोद्धव्यः । न पुनः श्रीहर्षकवेरज्ञानलेशोपि। नै० 16/35 में नारायण

नल एवं दमयन्ती के गुणों का वर्णन भी दिया है, लेकिन उन्होंने उनके गुण परीक्षा का वर्णन इस महाकाव्य मं नहीं किया है। जैसा कि विवाह पूर्व वर एवं कन्या के गुणों (36 गुणों में से 18 होने आवश्यक हैं) का मिलान प्राचीन काल के साथ-साथ वर्तमान में भी किये जाने की प्रथा प्रचलित है। नल को जहाँ उन्होंने विद्वान्, धार्मिक, योद्धा महादानी, सौन्दर्य प्रतिमूर्ति, दयालु, चक्रवर्ती राजा एवं सम्पूर्ण गुणों की खान रूप में चित्रित किया[1], वही दमयन्ती को भी त्रैलोक्यसुन्दरी, सुशिक्षित, उत्तम कुल उत्पन्ना एवं सम्पूर्ण गुणों की खानराशि रूपा बताया[2]। वृहत्पराशर ने श्रेष्ठवर के 8 लक्षण बताये हैं जाति, विद्या युवावस्था, बल, स्वास्थ्य, अन्य लोगों का आलम्बन, अभिकांक्षा (अर्थित्व) एवं धन, जब कि यम ने सात गुण यथा कुल, शील, वपु (शरीर), यश, विद्या, धन एवं सनाथता (सम्बन्धी एवं मित्र लोगों का आलम्बन)[3]। जबकि मनुस्मृति एवं आश्वलायन गृह्यसूत्र में कुल को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है[4] और आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में अच्छाकुल, सत्चरित्र शुभगुण, ज्ञान एवं सुन्दर स्वास्थ्य श्रेष्ठ वर के लक्षण माने गये हैं। श्रीहर्ष ने दमयन्ती के जिन गुणों का वर्णन किया है वह सर्वथा एक श्रेष्ठकन्या के लक्षण है, क्योंकि भारद्वाज मानते हैं कि विवाहावसर में कन्या का धन, सौन्दर्य, बुद्धि एवं कुल देखना चाहिए तथा बुद्धि एवं कुल को प्रधानता देनी चाहिए।[5] जब कि वशिष्ठधर्मसूत्र, विष्णुधर्मसूत्र, कामसूत्र, शतपथ, ब्राह्मण, आश्वलायन, गृह्यसूत्र, शांखायनगृह्यसूत्र, मनुस्मृति एवं याज्ञवलक्य स्मृति तथा महाभारत में वर्णन मिलता है कि सौन्दर्य सम्पन्ना, उत्तम कुल स्वस्थ, बुद्धिमान सच्चरित्र बड़े एवं चौड़े नितम्ब वाली, पतली कटिवाली, कमल नयना, शारीरिक एवं आभ्यन्तरिक शुभ लक्षणों वाली सम्भ्रान्त कन्या से विवाह करना चाहिए[6]।

ऋषियों एवं स्मृति ग्रंथों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त श्रेष्ठ कन्या के सभी लक्षण दमयन्ती में घटित होते हैं। इसके अतिरिक्त कात्यायन आदि अन्य ऋषियों ने जो वर एवं कन्या में दोष गिनायें है यथा पागलपन, अपराध प्रवृत्ति, कुष्ठता, नपुंसकता, स्वगोत्रता एवं कन्या का नाम नदी, नक्षत्र के नाम पर होना, अंधापन बहिरापन, अपस्मार या शरीर के किसी अंग का कटा होना[7] यह दोनो नल एवं दमयन्ती में नहीं मिलते हैं।

---

1. नै: 1/4...44 एवं 3/20...129
2. नै० 1/34....44, एवं 21/16...62
3. बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्...आश्व गृ० सू० 1/5/2
   – दद्यात् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे। बौ. धर्म सू. 4/1/20
   बन्धुशीललक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोग इति वरसंपत् । आप0 गृ० सू० 1/3/20
   कुलं च शीलंच वपर्युशश्च विद्यां च वित्तं च सनायतां च ।
   एतान्गुणान् सप्तपरीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ।। यम, स्मृतिचन्द्रिका, पृ० 78
   गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः। कालिदास, अभिज्ञान शा0 चतुर्थ अंक
4. श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि । अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।। मनु० 2/238 एवं 3/70-72
   उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह । निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ।। मनु० 4/244 एवं 4/6, 7
5. भारद्वाज गृ. सूत्र 1/11
6. वशिष्ठ ध0 सू. 1/38 विष्णु ध० सू० 24/1 कामसूत्र 3/1/1 शत ब्रा. 1/2/5/16, आश्व. गृ० सू० 1/5/3, शांखा गृ० सू० 1/5/6, मनु० 3/4 याज्ञ0 स्मृति 1/52 महाभारत आदिपर्व 131/10, उद्योगपर्व 33/117
7. – उन्मत्तः पतितः कुष्ठी तथा षण्णः स्वगोत्रजः। चक्षुः श्रोत्रविहीनश्च तथापस्मारदूषिताः।।
   वरदोषाः स्मृता ह्येते कन्यादोषाश्च कीर्तिताः।। स्मृतिचन्द्रिका, 1, पृ०, 59
   – उन्मत्तः पतितः क्लीबो दुर्भगस्त्यक्तबान्धवः। कन्यादोषो चे यौ पूर्वावेष दोष गणो वरे।। नारद स्मृ. (स्त्रीपुंस योग -37)
   मनु० 3/8.....20, विष्णुधर्मसूत्र 24/12-16, विष्णुपुराण 3/10/18-22, आपस्त. गृ०सू० 3/11-14, कामसूत्र 3/1/13, नारद, पु0 36, मार्कण्डेय पु. 24/76, 77, मानव गृ०सू० 1/7/8, याज्ञ. स्मृ. 1/53, ऋ० 1/124/7, अथर्व0 1/17/1 निरुक्त 3/4/5, विस्तृत विवरण-धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, प्रथम भाग। पृ० 269-273

रही धर्मशास्त्रों में वर्णित विवाह हेतु वर प्रेषण की बात जैसा कि ऋग्वेद, शांखायन गृह्यसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णन मिलता है[1] तो नैषधकार ने इस कार्य हेतु किसी मनुष्य को न चुनकर एक दिव्यपक्षी हंस को चुना है जिसने' दमयन्ती को नल के लिये चुना,[2] उसे देखा, परखा,[3] बातें की,[4] एवं दोनों को सर्वथा विवाय योग्य माना। यथा–

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तंदृष्टं मनः केन विधेः प्रविश्य ।
अजातपाणिग्रहणासि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ।।
निशा शशाङ्क शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ।।
वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणिर्न योगयोग्यासि नलेतरेण ।
संदर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ।।[5]

श्रीहर्ष ने नल एवं दमयन्ती के स्वयंवर के विवरण के साथ-साथ उनके सविध विवाह का भी उल्लेख किया है। श्रृंगार रचना में कुशल सेवकों ने नल का विवाहोचित श्रृंगार अर्थात् तिलक लगाने के साथ-साथ विविध आभूषणों से समलंकृत किया।[6] तदनन्तर नल, दधि, अक्षत, पूर्ण कलश आदि मांगलिक वस्तुओं का अभिनन्दन एवं अपने पुरोहित गौतम की विधिवत पूजा करके अन्य बारातियों के साथ विदर्भेश्वर के महल की ओर चले।[7] भीमपुत्र दम ने नल का स्वागत किया, एवं भीम ने नल को अपने गले लगा कर स्वागम किया, अनन्तर अपनी कन्या का पाणिग्रहण यथा विधि प्रारम्भ किया।[8]

सर्वप्रथम वर को आसन में बैठाने के बाद उसके चरण प्रक्षालित किये जाते हैं, तदनन्तर मधुपर्क (मधु घृत एवं दही का मिश्रण[9]) को कन्यादानकर्ता मंत्रोच्चारण के साथ मधुपर्क को वर के बायें हाथ में देता है। वर दाहिने हाथ के अनामिका एवं गुष्ठक से उसका आलोड़न कर उसे तीन बार भूमि पर गिराता है, एवं तीन बार ऋग्वेद की तीन ऋचाओं[10] (या यन्मधुनो मधव्यं परमं रूपमनिनाद्यं तेनान्ह मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणन्नाद्येनपरमोमधव्योन्नादोऽसानि) का उच्चारण कर तीन बार खाता है एवं शेष बचा हुआ मधुपर्क ब्राह्मण को उत्तर दिशा में दे देता है, या जल में छोड़ देता है, तदुपरान्त आचमन करता है।[11]

---

1. इसी शोध प्रबन्ध में इसी अध्याय में पूर्व में द्रष्टव्य
2. अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम्। युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्।। नै० 2/42, एवं 43..47
3. पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवान्मयं यदि व वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिः प्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ।। नै० 3/72 एवं 3/53, 70, 71, 73, 99, 100
4. अये! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमित्थम् ।
उदेति ते भीरपि किं नु बाले! विलोकयन्त्या न घना वनाली ।। नै० 3/13 एवं 3/14.....129
5. नै० 3/47....49 एवं 3/46, 50, 51
6. तथैव तत्कालमथानुजीविभिः प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगैः ।
निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि विभोर्विभूषण ।। नै० 15/57 एवं 58... 92
7. वृतः प्रतस्थे स रथैरथो रथी गृहान्विदर्भाधिपतेर्धराधिपः ।
पुरोधसं गौतममात्मवित्तमं द्विधा पुरस्कृत्य गृहीतमङ्गलः ।। नै० 16/1 एवं 2....9
8. यथावदस्मै पुरुषोत्तमाय तां स साधुलक्ष्मीं बहुवाहिनीश्वरः ।
शिवामथस्वस्य शिवायनन्दनां ददे पतिः सर्वविदे महीभृताम् ।। नै० 16/12 एवं 10-11
9. आपस्तम्ब (13/10) एवं आश्वलायन के अनुसार मधुपर्क दो चीजों का मिश्रण है जब कि पारस्कर मधु, दही एवं घृत तीन चीजों के मिश्रण को मधुपर्क माना हैं एवं इसे मधुरत्रय भी कहा जाता है।
10. मधुयाता ऋतायते मधु क्षरति सिंधव, मधु नक्तमुतोषसो, मधुमान्नो वनस्पतिः ऋ० 1/90/6....8 द्रष्टव्य वाज0 सं0 13/27....29, पारस्कर गृ०सू० 1/3, मानव गृ०सू० 1/9/14
11. आश्वला. गृ०सू० 1/24/5...26 में मधुवर्क विधि का सविस्तार वर्णन।

नैषधकार का कथन है कि नल ने जब मधुपर्क का आस्वादन लिया तो उसका फल सोचने वालों ने सोचा कि यह नल भविष्य में दमयन्ती के अधरमधु का पान करेंगे इसी से उस समय में (छल से पुण्याह कर्म) मधुपर्क ग्रहण किया है।[1] ध्यातव्य है कि यहाँ नैषधकार के साथ-साथ मल्लिनाथ ने मधुपर्क को विवाह विधि का पुण्य कर्म माना है, जो कि वर्तमान में भी प्रचलित है।[2] हाँ, देश, कुल, रीति के अनुसार इसका स्थान भले परिवर्तित हो जाता है, जैसे उत्तर प्रदेश में कन्यादान के समय मधुपर्क देने का प्रचलन है; जब कि आश्वलायन गृह्यसूत्र[3] के अनुसार यज्ञ कराने वाले ऋत्विक, घर में आये हुए स्नातक, राजा, आचार्य, श्वसुर, चाचा एवं मामा के आगमन पर उन्हें मधुपर्क दिया जाता है। मानव गृह्यसूत्र (1/9/1) खादिर गृह्यसूत्र (4/4/21) एवं याज्ञवल्क्य स्मृति (1/110) के अनुसार छैः प्रकार के व्यक्तियों को यथा ऋत्विक, आचार्य, वर, राजा, स्नातक एवं जो अत्यधिक प्रिय हो, को मधुपर्क दिया जाता है। बौधायन (1/2/65) ने इन छैः के साथ अतिथि को जोड़ कर सात लोगों को मधुपर्क से सम्मानित करने की बात कही है, जो कि वर्तमान में (वर को छोड़कर) अप्रचलित है।[4]

विभिन्न धर्मग्रंथों में यह विवरण मिलता है कि कन्यादान के पूर्व कन्या को विधिपूर्वक स्नान करा कर कन्या को विविध अलंकरणों से आभूषित कर मण्डप में लाया जाता है।[5] मानव गृह्यसूत्र एवं गोभिल गृह्यसूत्र में जहाँ विवाह पूर्व कन्या के सन्नहन एवं परिधापन का उल्लेख मिलता है, वहीं आपस्तम्ब, काठक एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों में आभूषण (केवल दो) पहनाने का भी वर्णन मिलता है। वर वधू को उबटन या सुगन्ध लगाने का वर्णन शांखायन, गोभिल एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों में किया गया है एवं वधू के हाथ में कंगन बांधने (प्रतिसरबन्ध) का विवरण, शांखायन तथा कौशिक गृह्यसूत्र में मिलता है। श्रीहर्ष ने भी यह विवरण देते हुए लिखा है कि सौभाग्यवती स्त्रियों ने सर्वतोभद्र आदि की रचना से सुसज्जित वेदी पर कुलपरम्परानुसार स्वर्णकलशों से दमयन्ती को स्नान करवाया, कोमल वस्त्र से उसका शरीर पोंछा एवं विभिन्न आभूषण पहनाने के साथ-साथ सुगन्धित धूप के धूम से उसके कुंचित एवं श्याम केशों को सुवासित कर उनमें पुष्पमंजरी के समान मनोहर पुष्पगूंथे। उसके आँखों में अंजन, भाल में भालपट्टिका आभूषण (वेंदी के समान, या तागपाट) एवं तिलक, कानों में इन्दीवर पुष्प के समान कुण्डल, होंठों एवं पैरों में आलक्तक तथा यावकराग (लाल रंग) एवं कण्ठ में मोती की सात लड़ियों की माला और बाहु में कंगन (कङ्कन) पहनाया (रूपदर्शन एवं दोनों कारणों से) उसे दर्पण दिखाया गया।[6] अनन्दतर स्कन्द ऋषि ने भी माङ्गलिक आभरणों के बारे में अभिहित किया है कि-

हरिद्रा कुङ्कुमं चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा। कूर्पासकं च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणं शुभम् ॥
केशसंस्कारकबरीकर कर्णविभूषणम्। भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेन्न पतिव्रता ॥

1. असिस्वदद्यन्मधुपर्कमर्पितं स तद्व्याधात्तर्कमुदिर्कदर्शिने।
यदेष पास्यन्मधुभीमजाधरं, मिषेण पुण्याहं विधिं तदाकृता ॥ नै० 16/13
2. विवाहदिनरूपपुण्याहे मधुपर्कपानच्छलेन भाविन्या अधरमधुपानक्रियायाः शुभारम्भं चकारेत्यर्थः। माङ्गल्यकृत्येषु आदौ पुण्याहक्रिया प्रसिद्ध एव। नै० 16/13 में मल्लिनाथ
3. आश्व० गृ०सू० 1/24/1...4
4. मधुपर्क के विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य-धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ. पी.वी. काणे, प्रथम भाग, अध्याय-10
5. आपस्तम्ब ध0 सू. 4/8, काठ. सं. 25/4, पारस्कर गृ० सू० 1/4, कौशिक सूत्र 76/8 गोभिल गृ०सू० 2/1/5/17-18, मानवगृ० सू० 1/11...46, शांखायन 1/12/5........8
6. उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुराध्रिवर्गः स्नपयां बभूव ताम् ॥ नै० 15/19 एवं 20........86

श्री हर्ष नेउपर्युक्त तथ्य से सहमत होते हुए लिखा है कि-

विनापि भूषामवधिः श्रियामियं व्यभूषि विज्ञाभिरदर्शि चाधिका ।
न भूषयैषाधिचकास्ति किंतु सानयेति कस्यास्तु विचारचातुरी ।।[1]

अर्थात् प्रकृत्या दमयन्ती स्वयं सुषमा की पाराकण्ठा थी, किन्तु सौन्दर्य मण्डन के बाद वह सीमातीत सुन्दरी लगने लगी, कौन निर्णय कर सकता था कि भूषणों से दमयन्ती की शोभा हो रही थी या दमयन्ती से आभूषणों की सौन्दर्य मण्डित दमयन्ती ने गुरुजनों, ब्राह्मणों एवं पतिव्रता स्त्रियों को प्रणाम कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया।[2] (अनन्तर सखियों द्वारा विवाह मण्डप (यज्ञभूमि) में सखियों द्वारा लायी गयी)। दमयन्ती का पाणिग्रहण सम्पन्न होने की श्रृङ्खला में सर्वप्रथम नैषधकार ने उसके एवं नल के हाथों को कुश से बांधने का विवरण दिया, उस समय दमयन्ती का हाथ नल के हाथ के ऊपर रखा गया।[3] आचार्य मल्लिनाथ एवं नारायण ने वर कन्या के हाथ को कुश से बांधने को विदर्भ राज्य का देशाचार बताया[4] है। वर्तमान में यह परम्परा समाप्त प्राय है। हाँ, वर के हाथ में कुश अवश्य रखा जाता है, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण देवों का आवास होता है, जिससे वह पवित्र माना जाता है। वर द्वारा कन्या का सांगुष्ठ दक्षिण हाथ पकड़ने का विधान वर्तमान में भी उसी प्रकार चला आ रहा है। इस समय कन्या का पिता वर से पूँछता है कि क्या धर्म, अर्थ एवं कामादि मे मेरी कन्या का साथ दोगे? वर उत्तर देता है हाँ, मैं साथ दूँगा, या अपना धर्म निभाऊँगा (वर नातिचरामि तीन बार बोलता है या ''ॐ गृहणामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यसः भगोऽर्यमा। अमोहमस्मि। तावैव विवहाव आदि मंत्रों का उच्चारण करता है। संस्कार कौस्तुभ में कन्यादान करते समय इन वाक्यों को छैः प्रकार से कहने की विधि का प्रतिपादन मिलता है।[5] पाणिग्रहणोपरान्त वर कन्या के वाम भाग में आती है, जिसकी पुष्टि वर्तमान में विवाहावसर में कन्या द्वारा वर से मांगे गये सात वचनों में प्रतयेक बार यह अभिहित किया जाता है यदि तुम मेरे इस कथन को मानों, तो मैं तुम्हारे नाम भाग में आ सकती हूँ ''वामाङ्गमायामि तदात्वदीयं जगाद वचनं प्रथमं कुमारी आदि। इसी तथ्य का साम्य नैषधीय चरितम् में श्रीहर्ष के कथन "करग्रहे वाम्यमधत्त यस्तयोः"[6] से रखा जा सकता है। तदनन्तर वर कन्या का ग्रन्थिबन्धन किया जाता है, जिसके पश्चात् अन्य वैवाहिक रीतियाँ सम्पन्न की जाती हैं। कहीं कहीं देश एवं कुलरीति के अनुसार अग्नि की अंतिम आहुति स्विष्टकृत होम अर्थात् सातवें (फेरे) प्रदक्षिणा में ग्रन्थिबन्धन करने का विधान भी अपनाया जाता है। नैषधकार इस कृत्य का विवरण देते हुए लिखते हैं कि जब पुरोहित गौतम ने नल एवं दमयन्ती का ग्रन्थिबन्धन किया, उस समय लोगों को ऐसी अनुभूति हो रही थी, मानों वह दमयन्ती से कह रही कि नल का विश्वास न करो, हो सकता है यह तुम्हें छोड़कर चल जाय अतएव मैं तुम दोनों का ग्रन्थिबन्धन कर रहा हूँ।[7] संस्कार कौस्तुभ एवं संस्कार प्रकाश

---

1. नै० 15/27
2. अमोघभावेन सनाभितां गताः प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजाम् ।
   ततः प्रणाम्नाधिजगाम सा ह्रिया गुरुर्गुरुब्रह्मपतिव्रताशिषः ।। नै० 15/56
3. वरस्य पाणिः परघातकौतुकी वधूकरः पङ्कजकान्तितस्करः ।
   सुराज्ञि तौ तत्र विदर्भमण्डले ततो निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः ।। नै० 16/14
   विदर्भजायाः करवारिजेन यन्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल ।
   विशङ्क्य सूत्रं पुरुषायितस्य तद्भविष्यतोऽस्मायि तदा तदालिभिः ।। नै० 16/15
4. कुशैः पाणिबन्धनं देशाचारः। नै० 16/14, नारायण
   देशाचारप्राप्तस्य वधूवरयोः कुशसूत्रेण करबन्धनस्य अपराधहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते।। नै० 16/14, मल्लिनाथ
5. संस्कार कौस्तुभ, पृ० 779
6. नै० 16/35
7. प्रियांशुकग्रन्थिनिबद्धवाससं तदा पुरोधा विदधे विदर्भजाम्। जगाद विच्छिद्य पटं प्रयास्यतो नलादविश्वासमिवैष विश्वजित्।।

में वर्णन मिलता है कि ग्रन्थिबन्धन (उत्तरीयप्रान्त बन्धन में वर एवं वधू के वस्त्र के कोने में हल्दी, पान अक्षत, पैसा रख कर उनमं गांठ लगाकर पुनः दोनों के उत्तरीय वस्त्र को गृह में बाँध दिया जाता है।[1] इसके अनन्तर होम एवं लाजा होम की क्रिया सम्पन्न की जाती है। यहाँ पर धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित यह तथ्य भी अवधेय है कि कामादिचर्या में वधू या स्त्री को पुरुष के वाम भाग तरफ रहना चाहिए केवल धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन में दाहिने भाग की तरफ बैठना चाहिए, क्योंकि पत्नी लक्ष्मी स्वरुप भी होती है।

लाजा होम के समय वर के दोनों हाथ कन्या के दोनों कन्धे के ऊपर रहते है, एवं वर के अञ्जुलि के नीचे कन्या की अञ्जुलि रहती है। आश्वलायन एवं अन्य गृह्यसूत्रों या धर्मसूत्रों में वर्णन मिलता है कि कन्या तीन आहुतियाँ वर द्वारा मंत्र (ॐ अर्यमणं, ॐ इयं नारी, ॐ इमाल्लाजना इत्यादि) पढ़ते समय अग्नि में डालती है, तथा चौथी आहुति (शेष बचे लाजों को ॐ भगाय स्वाहा इदं भगाय, न मम) मौन रूप से ही छोड़ती है।[2] कुछ धर्मग्रथों में केवल तीन आहुतियों के किये जाने का विधान भी मिलता है। लाजा होम के समय वर की अञ्जुलि के छेद से कन्या की अञ्जुलि में लाजे गिरते हैं एवं कन्या द्वारा अञ्जुलि में छेद किये जाने से वह अग्नि में गिरते हैं, इस स्थिति का श्रीहर्ष ने आलंकारिक चित्रण करते हुए लिखा है कि "दमयन्ती के करपल्लवों मे लाजे श्वेतपुष्प (लाजाः पुम्भूम्नि परिवापके इति वैजयन्ती) के समान लग रहे थे तथा उसके हाथ से छुटकर (अग्नि में) निराधार गिरते हुए तारों की भांति चमक रहे थे, साथ ही देवों के मुख अग्नि (अग्निमुखावैदेवाः) में पड़कर (अग्निदेव के) श्वेत दन्तपंक्ति की शोभा से शोभायमान हो रहे थे।[3] यहाँ पर हस्तपल्लव में पुष्प का, आकाश मार्ग में नक्षत्रों का, एवं मुख में दन्तपक्ति होने का नैषधकार का उपुर्यक्त विवरण उचित माना जा सकता है, साथ ही उपर्युक्त वर्णन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि दमयन्ती ने विध्यनुक्रम से प्राप्त लाजाहुति की। क्योंकि संकल्प लेने के उपरान्त नल एवं दमयन्ती द्वारा होम एवं लाजाहोम की आहुतियाँ देने का बहुविध चित्रण श्रीहर्ष ने किया है। यथा –

तया प्रतिष्ठाहुतिधूमपद्धतिर्गता कपोले मृगनाभिशोभिताम् ।
ययौ दृशोरञ्जनतां श्रुतौ श्रिता तमाललीलामलिकेऽलकायिता ।।
अपह्नुतः स्वेदभरः करे तयोस्त्रपाजुषोर्दानजलैर्मिलन्मुहुः ।
दृशोरपि प्रस्रुतमस्र सात्विकं घनैः समाधीयत धूमलङ्घनैः।।[4]

धर्म शास्त्रों में लाजा होम के अनन्तर अग्निपरिणयन की विधि का उल्लेख मिलता है। श्रीहर्ष ने इस तथ्य का विवरण देते हुए लिखा कि "जो अग्नि देव नल दमयन्ती के परिणय के विरुद्ध थे, उन्हें भी दमयन्ती ने अर्चना आदि से प्रसन्नकर अपना दाहिना बना लिया, या अपने अनुकूल बना लिया एवं नल ने (दमयन्ती सहित) विवाह के समय उनकी पूजाकर प्रदक्षिणा भी की।[5] शांखायन गृह्यसूत्र एवं हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र में वर्णन मिलता है कि वर वधू को लेकर अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा करता है, एवं प्रदक्षिणा

---

1. द्रष्टव्य, संस्कार कौस्तुभ, पृ० 799 एवं संस्कार प्रकाश, पृ० 829
2. आश्व गृ0 सू0 1/7/7.....13, पारस्कर गृ0 सू0 1/6, आप0 5/3/5, शांखा0 1/13/15-17, गोभिल गृ0 सूत्र 2/2/5, मानव 1/11/11, एव बौधा० गृ० सू० 1/4/25
3. प्रसूनता तत्करपल्लवस्थितैरुच्छिविर्व्योमविहारिभिः पथि। मुखेऽमराणामनलेरदावलेरभाजिलाजैरनयोज्झितैर्दुतिः।। नै० 16/40
4. नै० 16/41,42
5. करग्रहे वाम्यधत्त यस्तयोः प्रसाद मैम्यानु च दक्षिणीकृतः।
कुतः पुरस्कृत्य ततो नलेन स प्रदक्षिणास्तत्क्षणमाशुशुक्षिणः।। नै० 16/35

करते समय वह अमोऽहमस्मि ' आदि मंत्र का उच्चारण की करता जाता है।[1] लाजा होम एवं अग्निप्रदक्षिणा के अनन्तर अश्मारोहण (उत्तरप्रदेशीय विवाह विधि क्रमानुसार, शेष बचे लावे के वर एवं कन्या के आपस में मांगे या दिये गये वरदानों के क्रमशः सात एवं पाँच भाग किये जाते हैं तथा क्रमशः कन्या एवं वर के दाहिने पैर के अंगूठे को एक शिल से स्पर्श कराते हुए उन भाग किये गये लाजों के ऊपर क्रमशः वर एवं कन्या द्वारा शिल खींच लिया जाता है)। विधि में पूर्वाभिमुख होकर वर अग्नि के उत्तर शिशा में रखे हुए पाषाण खण्ड (शिल) में वधू का दाहिना पैर रखवाते हुए मंत्रोच्चारण करते हुए उसे पत्थर के समान दृढ़चरित्र वाली एवं गार्हस्थ्य धर्म में स्थिर होने को कहता है। अनन्तर पुरोहित द्वारा उसे आर्शीवाद दिया जाता है। यथा - शिलावत् अचला भव। या "ओम् आरोहेयमश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतो वबाधस्वपृतनायता"। नैषधकार ने इस तथ्य का रोमांचक शैली में विवरण देते हुए लिखा कि "ज्यों ही दमयन्ती के लिए मंत्रोच्चारण में कहा गया कि तुम इसी पत्थर की भांति दृढ़ चरित्र वाली होओ, वह मंत्र ही आकाश में विलीन हो गया। शायद इसलिए कि जब इन्द्रादि देव एवं उनके वैभव दमयन्ती के पातिव्रत्य की मर्यादा को तिल मात्र न हिला सके तो उस मन्त्र वाक्य को स्वयं ही लज्जा आ गयी एवं वह आकाश (शून्य) में विलीन हो गया[2]। उपर्युक्त प्रसंग नैषधकार की नवीन कल्पना का ही द्योतक है, नहीं यह तो सर्वविदित है शब्द आकाश के गुण होते हैं, एवं उच्चारण होते ही वह पुनः अपने गुणीभूत आश्रय यानी आकाश में विलीन हो जाते हैं।

विवाह संस्कार में सप्तपदी का भी अप्रतिम महत्त्व है। इसमें प्रथम तीन प्रदक्षिणा में कन्या आगे रहती हैं एवं चतुर्थ से वर आगे हो जाता है, एवं दोनो पुरोहितों के मन्त्रोच्चारण[3] के साथ-साथ अग्नि सहित (मण्डप) कलश की प्रदक्षिणा करते हैं। विवाह विधि की समाप्ति सातवाँ प्रदक्षिणा होते ही सम्पन्न हो जाती है[4], अर्थात् कन्या पूर्ण रूप से भार्या वन जाती है जैसा कि स्मृतियों में भी वर्णन मिलता "पति त्वं सप्तमे पदे"। मनुस्मृति ने भी वर्णन मिलता है कि

पाणिग्रहणिका मन्त्रानियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमेपदे ।।[5]

इस तथ्य की संगति नैषधकार ने विवाहोचित श्रृंगार के समय नल के तिलक के वर्णन में रखी है, जहाँ वह कहते हैं कि नल के मस्तक में वह तिलक बिन्दु इस प्रकार लगता था मानों इन्द्र ने ललाटस्थ दैवी लिपि को पढ़ने के लिए चन्द्रमा को भेजा है क्योंकि उन्हें अब भी यह दुराशा बनी है कि जब तक सप्तपदी पूरी नहीं होती, दमयन्ती पूर्णरूप से नल की पत्नी नहीं हो सकती और यदि कहीं नल के भाग्यपट्टिका पर दमयन्ती पत्नी के रूप में नहीं लिखी है तो अब भी दमयन्ती को प्राप्ति का प्रयत्न किया जा सकता है[6]।

---

1. शांखा गृ०सू० 1/13/4, हिरण्यकेशि गृ०सू० 1/20/81
2. स्थिरात्वमश्मेव भवेति मन्त्रवागनेशदाशास्य किमाशु तां ह्रिया ।
   शिला चलेत्प्रेरणया नृणामपि स्थितेस्तु नाचालि बिडौजसापि सा ।। नै० 16/36
3. सातप्रदक्षिणों के मंत्र क्रमशः निम्नलिखित हैं- "एकभिषे विष्णुत्वा नयतु, द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु, त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु, चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयतुपंच पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु, षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु, सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु।।
4. निष्ठा विवाहमन्त्राणां तासां स्यात् सप्तमे पदे। याज्ञ0 स्मृति, मिताक्षर 1/55
5. मनु० 8/227
6. न यावदग्निभ्रममेत्युदूढतां नलस्य भैमीति हरेर्दुराशया ।
   स बिन्दुरिन्दुः प्रहितः किमस्य सा न वेति भाले पठितुं लिपीमिव ।। नै० 15/64

विवाह समय में एक अन्य धार्मिक कृत्य ध्रुवारुन्धती दर्शन का विवरण भी नैषधमहाकाव्य में द्रष्टव्य है। श्रीहर्ष का कथन है कि भौंहें उठाकर देखते हुए नल ने ध्रुव की ओर संकेत करके मन्त्रोच्चारण ''ऊँ ध्रुवमसि ध्रुवन्त्वा पश्यामि। ऊँ ध्रुवैधिपोष्यामयि मह्यन्त्वादाद् वृहस्पतितर्मयापत्या प्रजावती संजीव शरद शतम्'' के बीच दमयन्ती को देखने को कहा। संभव है वह दमयन्ती को एवं स्वयं नल को भी न दिखा हो, किन्तु फिर भी नल ने वैदिक विधि को प्रमाण मानते हुए दमयन्ती को (उत्तरदिशा में स्थित) ध्रुव को देखने को कहा[1], एवं इसके बाद नल ने दमयन्ती को सती अरुन्धती का भी उसी रूप में दर्शन कराया[2]। आपस्तम्बगृह्यसूत्र एवं गोमिलगृह्यसूत्र में जहाँ ध्रुवारुन्धती दर्शन की चर्चा मिलती है। वहीं पारस्कर गृह्यसूत्र में केवल ध्रुव एवं आश्वलायनगृह्यसूत्र में ध्रुव के साथ सप्तर्षि मण्डल मानवगृह्यसूत्र में ध्रुव अरुन्धती सप्तर्षि मण्डल तथा जीवन्ती और भारद्वाजगृह्यसूत्र में ध्रुव, अरुन्धती एवं अन्य नक्षत्रों के दर्शन करने का विधान मिलता है[3]। इस प्रकार यहाँ नैषधकार आपस्तम्बगृह्यसूत्र एवं गोमिलगृह्यसूत्र से प्रभावित दिखते हैं।

इसके अनन्तर श्रीहर्ष ने इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया है कि पाणिग्रहण के समय की मुख्य क्रियाएँ नल ने सम्पादित कीं परन्तु अन्य गौण क्रियाओं को उनके पुरोहित ने सम्पन्न की, ठीक उसी तरह, जैसे शची से विवाह करते समय इन्द्र की वैवाहिक गौण विधियों को आङ्गिरस वृहस्पति ने किया था।[4] तदनन्तर नल एवं दमयन्ती को कौतुकागार (कोहबर कौतुकगृह) में ले जाया गया।[5] जो कि वर वधू के विश्रामपूर्वक सम्भाषण, उनकी चेष्टाओं के साथ-साथ देशाचार पद्धतियों के सम्पादन की एक कड़ी माना जाता हैं वर्तमान में भी कौतुकागार में वर वधू के प्रवेश करने का प्रचलन विद्यमान हैं।

कन्यादान के अनन्तर नल को दक्षिणा (दान) रूप में भीम द्वारा अनेक वस्तुओं यथा-चिन्तामणियों की माला, अपार रत्न, आभूषण, वस्त्र, असुरधाती तलवार, कृपाण, खोखरी (खुखरी), अप्रतिम रथ, उच्चैःश्रवा, घोड़ा, माणिक्य निर्मित पीकदान, पन्ना, मणिजटित भोजन पात्र (थाल), मदमत्तगज, आदि।[6] अनेक वस्तुएँ दान रूप में दी गयीं, नैषधकार का कथन है कि भीम ने नल को पाणिग्रहणोपरान्त, इतने वाहन, स्वर्णाभूषण, मत्तगज तथा रत्नराशि दी कि उसे गिना नहीं जा सकता था।[7] हालांकि नैषधकार ने इस तथ्य का वर्णन पाणिग्रहण के बाद किया है, परन्तु लोकाचार में कन्यादान के साथ-साथ कन्या के विदाई के समय भी वस्तुओं के दिये जाने की प्रथा प्रचलित है, अतएव दान विवरण का विवेचन विवाहोपरान्त किया जा रहा है ।

---

1. ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्यपत्याभिदधे विदर्भजा ।
   किमस्य न स्यादणिमाक्षिसाक्षिकस्तथापि तथ्यो महिमागमोदितः ॥ नै० 16/38
2. धयेन सादर्शि वधूररुन्धतीं सतीमिमां पश्य गतामिवाणुताम् ।
   कृतस्य पूर्वं ह्रदि भूयतेः कृते तृणीकृतस्वर्गपतेर्जनादिति ॥ नै० 16/39
3. आप० गृ० सू० 6/12, गोमिल गृ० सू० 2/3/8...12, पारस्क. गृ. सू0 1/8, आश्व. गृ० सू० 1/7/7/33, मानव गृ० सू० 1/14/9, भारद्वाज गृ० सू० 1/19
4. – बभूव न स्तम्भविजित्वरी तयोः श्रुतिक्रियारम्भपरम्परात्वरा ।
   न कम्पसम्पत्तिमलुम्पदग्रतः स्थितोऽपि वह्निः समिधा समेधितः ॥ नै० 16/44
   दमस्वसुः पाणिममुष्य गृह्णतः पुरोधसा संविदधेतरां विधेः ।
   महर्षिणेवाङ्गिरसेन साङ्गता पुलोमजामुद्वहतः शतक्रतोः ॥ नै० 16/45।
5. सकौतुकागारमगात्पुरन्ध्रिभिः सहस्ररन्ध्रीकृतभीक्षितुं ततः ।
   अधात्सहस्राक्षतनुत्रमित्रतामधिष्ठितं यत्खलु जिष्णुनामुना ॥ नै०16/46
6. नै० 16/16.....33
7. न तेन वाहेषु विवाहदक्षिणीकृतेषु संख्यानुभवेदभूवत्क्षमः ।
   न शातकुम्भेषु च मत्तकुम्भिषु प्रयत्नवात्कोऽपि न रत्नराशिषु ॥ नै० 16/34

एक तथ्य और अवधेय है कि धर्मग्रंथों में वरगृह में ही वर वधू द्वारा त्रिरात्रव्रत का उल्लेख मिलता है। जिनके अनुसार नव विवाहित दम्पति पृथ्वी पर एक ही शय्या पर तीन रात्रियों तक सोयेंगे, किन्तु अपने बीच में उदुम्बर की लकड़ी रखेंगे जिस पर गन्ध का लेप रहता है एवं उसमें वस्त्र या सूत्र बंधा रहता है ।[1] चौथी रात्रि में वह लकड़ी ऋग्वेदीय (10/85/21-22) मंत्र के साथ जल में फेंक दी जाती है, किन्तु श्रीहर्ष ने इस तथ्य को वधू के घर में ही किये जाने का विवरण समुपस्थापित किया है, इससे यह प्रतीत होता है कि कुण्डिनपुर (विदर्भ देश) में ऐसी ही प्रथा रही होगी, तभी श्रीहर्ष ने त्रिरात्रव्रत का उल्लेख वधूगृह में किया, जबकि चतुर्थी कर्म का उल्लेख वर गृह में, जिसका विवरण काम शास्त्र के अन्तर्गत किया जा चुका है। त्रिरात्रव्रत का वर्णन करते हुए नैषधकार लिखते हैं तीन दिन तक नल दमयन्ती धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित विधियों के अनुसार एक साथ रहे, सानुराग एक साथ शयन करते हुए भी सुरत (सम्भोग) आदि क्रियाओं से दूर रहे, लज्जावश न एक दूसरे को पूर्णरूप से देख पाते थे और न ही आतृप्ति भोजन करते थे।[2] इस प्रकार नल, दमयन्ती के साथ महाराज विदर्भराज के घर पांच छैः रातें विताकर स्वदेश (निषधदेश) प्रस्थान किये।[3] ऐसे वर्णन से यह तथ्य भी सामने आता है कि उन दिनों उस देश में बारात को पाँच, छैः दिन रोकने का भी प्रचलन रहा होगा, जो कि अब सिमटकर एक दिन ही रह गया। रही त्रिरात्रव्रत के कृतयों की बात तो आज इसकी प्रासंङ्किता बिल्कुल समाप्त हो गयी है । चतुर्थी कर्म का संकेत वर्तमान में बारात विदाई के समय चौथी देने मात्र में भले मान लिया जाय, परन्तु इस कर्म (सम्भोग) के लिए धर्मशास्त्रों में निर्धारित चौथे दिन में किये जाने की समय सीमा का भी वर्तमान में लोक जीवन में व्यवहरित मनुष्यों द्वारा त्याग कर दिया गया दिखता है, कारण बहुत से हो सकते हैं, परन्तु उनमें प्रधान कारण है संयम एवं जितेन्द्रिय होने का अभाव, भौतिकतावादी अभिरुचि एवं धार्मिक संस्कारों से पलयानवादिता।

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों यथा-मनुस्मृति में वर्णन मिलता है कि अपने घर से विदा होने वाले अतिथि, प्रियजन, आचार्य एवं अन्य श्रेष्ठ जन को कुआँ, तालाब, या उद्यानभूमि या गाँव की सीमा तक छोड़ने जाना चाहिए।[4] इस तथ्य का विवरण भी नैषधकार ने नल दमयन्ती के कुण्डिनपुर से प्रस्थान करने के समय की गतिविधि का चित्रण करते हुए लिखा है कि जैसे सरोवर में लहरें हवा के साथ किनारे तक जाकर फिर लौट आती हैं, उसी प्रकार विदर्भनरेश भीम भी अपने राज्य की सीमा तक प्रिय बातें हुए कहते हुए नल के साथ जाकर, नल का अभिवादन स्वीकारते हुए अपने महल में वापस आये।[5] कन्या की विदाई के समय कन्या के साथ-साथ कन्या के माता पिता एवं सम्बन्धियों का, दुःखी होना स्वाभाविक है। महाकवि कालिदास ने भी इस तथ्य का प्रतिपादन शकुन्तला के पतिगृह गमन काल में किया है,[6] किन्तु जहाँ कालिदास ने पुत्री वियोग में दुःखी होने का विवरण दिया हैं वहीं नैषधकार ने पुत्री वियोग को मुख्य न मानकर विनयसमृद्ध गुण वाले दामाद (नल) के वियोग से राजा भीम एवं महारानी के दुःखी होने एवं

---

1. आपस्तम्ब गृ०सू० 8/8......10, बौधा0 गृ०सू० 1/5/16,17
2. तथाशनाया निरशेषि नो ह्रिया न सम्यगालोकि परस्परक्रिया ।
   विमुक्तसम्भोगमशायि सस्पृहं वरेण वध्वा च यथाविधित्र्यहम् ।। नै० 16/47
3. उवास वैदर्भगृहेषु पञ्चषा निशाः कृशाङ्गीं परिणीय तां नलः ।
   अथ प्रतस्थे निषधान्सहानया रथेन वार्ष्णेयगृहीतरश्मिना ।। नै० 16/113
4. क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च । सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ।। मनु 8/262
5. निजादनुव्रज्य स मण्डलावधेर्नलं निवृत्तौ चटुलापतां गतः ।
   तडागकल्लोल इवानिलं तटाद्धृतातिर्व्यावृते वराटराट् ।। नै० 16/117
6. यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
   वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेष दुःखैर्नवैः ।। अभि०शाकु० 4/6

दमयन्ती के साथ नल के भी दुःखी होने का विवरण समुपस्थापित किया है।[1] इसे श्रीहर्ष की वर्णन चातुरी कहा जाय, या दूरदर्शिता, क्योंकि दामाद, (जामाता) (पुत्री) कन्या का सर्वस्व, सुहाग गाना जाता है, साथ ही पुत्र रूप भी होता है, शायद यही कारण है कि नैषधकार ने ऐसा विवरण दिया है। महाकवि कालिदास ने जिस प्रकार शकुन्तला को पतिगृह जाने में उपदेश देने का विवरण रखा है।[2] उसी परम्परा का निर्वहन करते हुए श्रीहर्ष ने भी पतिगृह के लिए विदा होती दमयन्ती को भीम द्वारा उपदेश दिये जाने का संदर्भ रखा हैं, जहाँ भीम दमयन्ती से कहतें है कि पुत्री अब तुम्हारा अपना पुण्य ही तुम्हारा पिता है। तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्तियों को नष्ट करने वाली होगी, सन्तोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होंगे, पुत्री अब से मैं तुम्हारा कोई न रहा।[3] इस रूप में नैषधकार के विवरण कालिदास से कहीं अधिक स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी हैं ।

ध्यातव्य है कि कालिदास ने "अर्थो हि कन्या परकीय एव" इत्यादि कथन से पराया धन एवं धरोहर रूप में कन्या की मीमांसा जनसम्मुख के सामने स्थापित की है। ऋषि काश्यप का यह कथन धरोहर (न्यास) की रक्षा इत्यादि के संदर्भ में मनुस्मृतिकार के कथन "पिता रक्षति कौमारे भर्ताः रक्षति यौवने" के परिप्रेक्ष्य में सही हो सकती है, लेकिन पिता के सन्दर्भ में जो कि कन्या का हर तरह से लालन पालन एवं उसका संवर्धन करता है, में खरा नहीं उतरता। साथ ही पुत्र पुत्री में जो असमानता का भाव, या पुत्र की तुलना में पुत्री के उपेक्षित किये जाने के जो दृष्टान्त मिलते हैं उसे जनमानस में व्याप्त कन्या को पराया धन मानने की कुण्ठा का ही प्रतिफल कहा जा सकता है, एवं कालिदास इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी हैं? इस पर विद्वज्जनों को विचार करना चाहिए। यह सम्भव है कि कालिदास के समय या उनके पूर्व कन्याओं को इस रूप में माना जाता हो, तब क्या कालिदास का देश एवं समाज के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं था? लेकिन यह भी सच है कि कालिदास के विवरण जनमानस की आन्तरिक भावनाओं को स्पर्श करने में सर्वथा सफल हैं। निश्चित ही कालिदास नैषधकार के पूववर्ती हैं इसलिए उनकी विचारधाराओं का प्रभाव लोक जीवन में अधिक है, लेकिन श्रीहर्ष ने "प्रियः प्रियैकाचरणाच्चिरेण तां पितुः" के माध्यम से कन्या का सर्वथा सदा प्रिय करने वाले पिता के रूप में वर्णन कर देश एवं समाज को एक नया आयाम देने का प्रयास किया है। इस रूप में श्रीहर्ष को कालिदास से अधिक आदरपात्र समझा जाना चाहिए, एवं वर्तमान मं जो पुत्र-पुत्री को माता पिता द्वारा समान स्थान दिये जाने की जो अवधारणा समाज में धीरे-धीरे विकसित हो रही है, इस तथ्य के प्रस्फुटन में नैषधकार के योगदान को नकारा नहीं जासकता। ध्यातव्य है कि प्राचीन काल के पूर्व वैदिककाल में भी स्त्री पुरुषों में समानता होने के विवरण मिलते हैं, जिनमें मंत्र दृष्टा पुरुषों के साथ-साथ नारियों के भी मन्त्रदृष्टा होने की मीमांसा मिलती है, जिनमें अदिति, दाक्षायणी, आत्रेयी, विश्वारा घोषा आदि प्रमुख थी। उपर्युक्त सभी विवरणों से ध्वनित होता है कि नैषधकार ने धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित लगभग सभी सन्दर्भों को स्पर्श करने का प्रयत्न किया हैं एवं उनके विवाह संस्कार के विवरण तो इतनी प्रभूत मात्रा में हैं कि यदि सामान्यजन इनके विवरणों को हृदयंगम कर लें, तो शायद उन्हें विवाह पद्धति की सम्पूर्ण विधियों के ज्ञानार्जन हेतु यत्र तत्र भ्रमण नहीं करना पड़ेगा।

---

1. तथा किमाजन्मनिजाङ्कवर्धितां प्रहित्य पुत्रीं पितरौ विषेदतुः ।
विसृज्य तौ तं दुहितुः पतिं यथा विनीततालक्षगुणीभवद्गुणम् ॥ नै० 16/116
– प्रियः प्रियैकाचरणाच्चिरेण तां पितुः स्मरन्तीमचिकित्सदाधिषु ।
तथास्त तन्मातृवियोगवाडवः स तु प्रियप्रेममहाम्बुधावपि ॥ नै० 16/119
2. शुश्रुष्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीयं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजयने भागेष्वनुत्सेकिनी यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः ॥ अभि०शकु० 4/18
3. पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिर थाखिलं नलः ।
अतः परं पुत्रि! न कोऽपि तेऽहमित्युदसुरेष व्यसृजन्निजौरसीम् ॥ नै० 16/118

सप्तम अध्याय

नैषध में संगीतशास्त्रीय सन्दर्भ

संगीतशास्त्र

वैदिक काल से लेकर अर्वाचीन काल तक के सांस्कृतिक तत्त्वों के अनुशीलन से यह तो स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा है कि भारतीय जनमानस में "उत्सवप्रिया खलु मनुष्याः"[1] की संगति की धाक आज भी जमी बैठी है। उत्सवों में नृत्य, गीत, संगीत का होना उसकी महत्ता में चार चाँद लगाता है। ऋग्वेदकाल के रात्रिकालीन उत्सव 'समन' में कुमारियाँ इच्छानुसार वर वरण करती थीं, इसमें कुमारियों की सङ्गति विषयक परीक्षा भी होती थी। सोमरस पानानन्तर समूह नृत्य में नर-नारियों की सहभागिता भी होती थी। नर्तकियाँ भी पैरों में घुंघरू बाँधकर गायन वादन के साथ नृत्यकला का प्रदर्शन करती थीं। वैदिक काल का 'समन' बाद में 'समज्जा' नाम से लोकविश्रुत हुआ, चुंकि उस समय संगीतकाल का पोषण धर्म की कोख से हो रहा था एवं कला की साधना तथा कला का संवर्धन ही तत्कालीन कलाकारों का मुख्य उद्देश्य था, इसलिए उस युग में गायक, वादक, एवं नर्तक तीनों का नैतिक स्तर उच्च माना जाता था। उस समय के नृत्यों में रज्जुनृत्य, सलिलनृत्य, प्रकृतिनृत्य, पुष्पनृत्य एवं बसन्त नृत्य प्रमुख थे। वेद और वैदिक साहित्य में स्वर विधान सम्बन्धी पुष्कल सामग्री भी सुरक्षित है। पूर्वार्चिक उत्तारार्चिक, ग्रामगेयगान आरण्य गेयगान, स्तोव, स्तोम आदि परिभाषिक शब्दावली से तत्कालीन संगीत की समृद्धि का पता चलता है। वैदिक युग के बाद पुराणकालीन युग रामायण महाभारत काल तक उत्तरोत्तर संगीतशास्त्र का विकास होता रहा। नारदीय शिक्षा, कामसूत्र, पाणिनि की अष्टाध्यायी, चत्वारिंशद् राग निरूपण, संगीतमकरन्द, पाणिनीय शिक्षा, का पार्श्वदेव के संगीत समयसार, कामसूत्र पाणिनि की अष्टाध्यायी उपलब्ध विवरणों कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भास के नाटकों एवं भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध विवरणों से तत्कालीन संगीत की लोकप्रियता का आभास मिलता है। संगीत, चार उपवेदों में गन्धर्ववेद के नाम से भी प्रथित था।

संगीत के स्रोत वेदों मे उपलब्ध मिलते हैं क्योंकि नृत्य का प्राचीन उल्लेख ऋग्वेद में एवं गीतवादन सहित नृत्य का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[2] सामवेद तो संगीतकला का प्रचीनतम निदर्शन है ही परम्परया संगीतशास्त्र के देव आदि देव स्वीकृत हैं भगवान शङ्कर एवं सृष्टिनिर्माता ब्रह्मा। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत ने यह विवरण समुपस्थपित किया है कि वैवस्वत मन्वन्तर में त्रेता युग प्रारम्भ होने पर इन्द्रादि देवाताओं ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि हम लोग दृश्य एवं श्रव्य क्रीडनीयक (नाटक) देखना चाहते हैं। तब ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत एवं यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य वेद की रचना की।[3] ब्रह्मा ने स्वाति एवं उनके शिष्यों को वाद्य तथा नारद एव गन्धर्वों को गानकार्य में नियुक्त किया। तदन्तर अमृतमन्थन एवं त्रिपुरदाह नाटकों का मंचन हुआ, इन्हें देखकर हर्षित शंकर बोले मैंने ही प्रतिदिन सन्ध्याकाल नृत्य करते हुए नृत्य का आविर्भाव किया, जो विभिन्न कारणों एवं अङगहा से विभूषित है।[4] स्पष्ट है कि नृत्य के आविर्भावक शंकर थे। अमृतमंथन नाटक के प्रयोग की शय्या थी गीत, इसलिए गीत पर सर्वप्रथम प्रयोग यिका गया क्योंकि गीत एवं वाद्य के

---

1. अभिज्ञान शाकुन्तल- षष्ठ अंक, पृ० 518
2. अधियेशांसि वपते नृतूरिव, अयोर्णुते वक्ष उस्रेव वर्जहम् । ऋ० 1/92/4
   संस्मयमाना युवतिः पुरस्ताद् आविर्वक्षांसि कृणुते विभाति । ऋ० 1/123/10
   सुसंकाशा मातृमृष्येव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशेकम् । ऋ० 1/123/11
3. यज्जामयो यद्युवतयोः, गृहे ते समनर्तिषु ...... अर्थवेद 14/2/61
4. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च यजुर्वेदादभिनयान् रसानार्थर्वणादपि।। नाट्यशास्त्र 1/17

यलीभांति प्रयुक्त होने पर ही नाडयप्रयोग में कोई निर्यान्त नहीं आती।[1] शंकर ने ताण्ड को नृत्य की शिक्षा दी,[2] इसी अवसर पर पार्वती ने लास्य नामक नृत्य प्रस्तुत किया, यह नृत्य पार्वती रचित अंगहारों के प्रयोग एवं स्त्रीपुरूषाश्रित श्रृंगारसम्बद्ध गान से संयुक्त था।[3] महाभारत में कहा गया है कि महामुनि नारद गन्धर्व विद्या के प्रथम पारंगत विद्वान हुए, जिनको इस उपयोगी विद्या का ज्ञान ब्रह्मा से मिला[4] महाभारत काल के बाद मौर्ययुग, गुप्तयुग, राजपूतयुग एवं मध्यकालीन युग तक संगीत विद्या की उत्तरोत्तर उन्नति होती रही। इसी मध्यकालीन संस्कृति में ही श्रीहर्ष ने अपने कवित्व शक्ति के कौशल से संगीत शास्त्र के अनेक पक्षों को सन्दर्भित किया है। नैषधकार अवश्यमेव इस शास्त्रीय कथन से प्रभावित हुए होंगे कि

श्रुतिस्मृत्यादि-साहित्य नानाशास्त्रा विदोऽपि च ।
सङ्गीतं ये न जानन्ति द्विपदास्ते मृगाः स्मृताः।।

संगीतशास्त्र वह शास्त्र है, जिसमें संगीत कला का निरूपण वर्णित हो। संगीत शब्द सम्+गै+क्त के संयोजन से बनता है। मिलकर गाया हुआ सहगान, सम्मिलित कण्ठों से गाया हुआ गान ही संगीत कहलाता है।[5] भर्तृहरि ने संगीत की व्याख्या करते हुए कहा "जगुः सुकण्ठ्योः गन्धर्व्यः संगीत सह भर्तृकाः" वह गायन जो नृत्य तथा वाद्ययंत्रों के साथ गाया जाय, अर्थात त्रिताल युक्त गान ही संगीत है त्रिताल का संगीत के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए उन्होंने लिखा

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते ।[6]

अर्थात् नृत्य, वाद्य के साथ गाने की कला ही संगीत है। कामसूत्र में उल्लिखित चौंसठ कलाओं में संगीत के अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य की अन्विति की गयी है।[7] साथ ही उद्यकवाद्यम् एवं वीणाडमरूकवाद्यानि भी संगीत सम्बद्ध कलाएँ ही हैं। चौंसठ कलाओं को हम सौकर्य की दृष्टि से दो भागों में बाँट सकते हैं। उपयोगी एवं ललित। ललित कलाएं प्रमुखतया पांच प्रकार की मानी जाती है- साहित्यकला, संगीतकला, चित्रकला, मूर्तिकला ,एवं वास्तुकला। स्पष्ट है कि संगीत ललित कला विज्ञान भी है। उसके कला एवं शास्त्र होने में दोंनों में कोई परस्पर विरोध नहीं होता क्योंकि शास्त्र का कार्य है विषय को वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान करना जिससे विषय का अध्ययन विधिपूर्वक सम्पन्न किया जा सके । कला की गति सतत प्रवहमान रहती है। यह देश काल के अनुसार नूतन तत्वों को ग्रहण करती रहती है, कला की इसी गति को संयत करना शास्त्र का कार्य है, जिससे कला अपने मौलिक सिद्धांतों के प्रतिकूल न जा सके साथ ही लोकरूचि के अनुकूल भी रहे। कालिदास ने नृत्यकला को ललित विज्ञान[8] कहा है, जो उसके ललित कला तथा शास्त्र दोंनो होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। आधुनिक संगीतज्ञ आचार्य संगीत को प्रमुखतथा चार भागों में रखते हैं राष्ट्रीय संगीत, लोकसंगीत, शास्त्रीय संगीत एवं सुगम संगीत ।

---

1. मयापीदं स्मृतं नृत्यं सन्ध्याकालेषु नृत्यता। नानाकरणसंयुक्तैरग हारैर्विभूषितम्।। नाट्यशा. 4/13
2. गीते प्रयत्नः प्रथमस्तु कार्यः शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतमृ ।
   गीतेऽपि वाद्येऽपि च संप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति ।। नाट्य 32/436
3. नाट्यशास्त्र 4/266, 267, 268
4. यत्तु श्रृङ्रगारसम्बद्ध गानं स्त्रीपुरूषाश्रय्। देवीकृतैरङ्गहारैललितैस्तत्प्रयोजयेत्।। नाट्यशा. 4/318
5. वामन आप्टे संस्कृत शब्दकोश , पृ० 1058
6. संगीतरत्नाकर 1/21
7. गीतं वाद्यं नृत्य कामसूत्र -1/3/15
8. मालविकाग्नि मित्र - 2/13

प्राचीनभारतीय संगीतशास्त्र एवं नाट्य शास्त्र की उस परम्परा से नैषधकार सुपरिचित थे, जिसका परिनिष्ठित रूप हमें भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। उन्होंनें नैषध में संगीत शास्त्र के त्रिविध अंगों एवं उपागों के सन्दर्भ देकर यह संकेत भी देना चाहा है कि तत्कालीन (बारहवीं शताब्दी में) समय में लोगों में संगीत की अत्यधिक रुचि थी। नैषध में प्रथम सर्ग में नल जब दमयन्ती की याद में विरह व्यथा से पीड़ित थे, राजसभा में अपनी स्थिति छिपा रहे थे, परन्तु राजसभा के सदस्य संगीत की पंचम रागों में इतना मंत्रमुग्ध थे कि किसी ने नल के विरह प्रलाप को सुना ही नहीं।[1] संगीत की जादू ही ऐसा होता है शरीरधारियों की बात ही क्या जीव जन्तु जानवर यथा- साँप, हिरण तक मंत्रमुग्ध हो अपने प्राणतक निछावर कर देते हैं। नल के राजप्रासाद में स्त्री पुरूषों के सामूहिक नृत्य का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष अभिहित करते हैं कि वीणा तथा वंशी की मधुर ध्वनि से, वाटिका के कोकिल तथा भ्रमरों की गुञ्जारों से एवं नर्तकियों के कंकण आदि आभूषणों के परस्पर शिञ्जन से नल दमयन्ती की रति-क्रीड़ा के समय होने वाली अव्यक्त मधुरकण्ठ ध्वनि बाहर सुनायी ही नहीं पड़ती थी।[2] तौर्यत्रिक नृत्य अर्थात वाद्य, गीत, एवं नृत्य का विवरण देते हुए नैषधकार ने प्रकृति को नर्तकी रूप में चित्रित किया है। वे कहते हैं कि क्रीडावापी के तट पर तरगों की ध्वनि से, कोयलों और भैंरों के गान से तथा मयूरों की नृत्यनिपुणता से (इनके माध्यम से) तौर्यत्रिक अर्थात, वाद्य, गीत व नृत्य इन तीनों के समूह ने वन में भी उस नल की आराधना की।[3] त्रिविध संगीत का महाकवि कालिदास ने भी अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है। एक तरफ समुद्र गर्भ में स्थित मुनि शातकर्णी का प्रासाद गीत, वाद्य, एवं नृत्य के झंकारों से झंकृत था[4] तो दूसरी तरफ राजा अग्निवर्ण का प्रासाद भी गीत, वाद्य एवं नृत्य से सराबोर रहता था[5] एवं अलकापुरी के प्रासादों में कालिदास का त्रिविध संगीत विवरण तो मानवचित्त को चुराने वाला ही था। यथा -

> विद्युवन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः संगीतय प्रहतमुरजाः स्निग्ध गम्भीरघोषम् ।
> अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रं लिहाग्राः प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ।।[6]
> शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
> निह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिःस्यात्संगीतसर्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ।।[7]

उपर्युक्त तथ्यों से संगीत शास्त्र के विषय में यह कहा जा सकता है कि गीत, वाद्य एवं नृत्य इस शास्त्र के प्राण तत्व हैं । कैशिकीय ब्राह्मण (29/5) में भी त्रिविधै शिल्पं, नृत्यं गीतं वाद्यमिति'' कहा गया है।

गीत

गीत स्त्री पुरूषों की भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख माध्यम है शतपथ ब्राह्मण (13/1/5/6) में गीत का वर्णन मिलता है यथा अयजतेत्यददादिति ब्राह्मणो गायति।" संगीतरत्नाकर (1/25)

---

1. शशाक निह्नोतुभयेन तत्प्रिशमयं यभाषे यदलीक वीक्षिताम्।
   समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चमच्मूर्च्छनासु च ।। नै० 1/52
2. यत्र वैणरववैणवस्वरैर्हुंकृतैरुपवनीपिकालिनाम् । कंकणालिकलहैश्च नृत्यतां कुब्जितं सुरतकूजितं तयोः।। नै० 18/17
3. विलासवापीतटवीचिवादनात्, पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाद्यवात् ।
   वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराधतम्, क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाजनः ।। नै० 1/102
4. तस्यायमन्तर्हित सौधभाजः, प्रसक्तसंगतिमृदंगघोष : ।
   वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः, क्षणं प्रतिश्रुन्मुखरा करोति ।। रघुवंश 13/40
5. कामिनी सहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदंगनादिषु ।
   ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ।। रघुवंश 14/5
6. मेघदूत 2/1
7. मेघदूत 1/60

में यह वर्णन मिलता है कि "सामवेदादिदं गीतं सञ्जग्राह पितामहः"। साथ ही संगीत शास्त्र के त्रिविध तत्वों में गीत की प्रधानता सर्वसम्मतया मान्य है। गीत की प्रधानता को स्पष्ट करते हुए आचार्य वृहस्पति कहते है कि "गीत संगीत का प्रधान अंश है वाद्य, और नृत्य उसके सहायक है, बिना वाद्य नृत्य के गीत सम्मपूर्ण गीत नहीं है।[1] आचार्य भारत गीत को नाट्य की शय्या मानते हुए कहते हैं- कि यदि गीत और वाद्य ठीक ढंग से प्रयुक्त हो तो नाट्य प्रयोग में किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आती तथा संगीत रत्नाकर के अनुसार यह धर्मार्थकाम मोक्ष का साधन भी है।[2] आचार्य अभिनव गुप्त ने गीत को नाट्य का प्राणभूत तत्व[3] एवं आचार्य शार्ङ्गदेव गीत को प्रधान मानते हुए नृत्व एंव वाद्य को गीत का उपरन्जक एवं उत्कर्ष विधायक मानते है।[4] साथ ही वे कहते हैं कि गीत स्वरों का वह समुदाय होता है, जो मन का रंजन करता है। यह गान्धर्व और गान के भेद से दो प्रकार का होता है।[5] गान्धर्व गीत गान्धर्वों द्वारा एवं गान गीत संङ्गीतकारो या गायकों द्वारा गाया जाता है। संङ्गीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ गान्धर्व एंव गान को मार्गसंङ्गीत एवं देशी संङ्गीत मानने के पक्षधर हैं। मार्ग संङ्गीत अत्यन्त कठोर सांस्कृतिक एंव धार्मिक नियमों से आबद्धथा, फलतः कालानान्तर में इसका प्रचलन समाप्त हो गया। देशी संङ्गीत[6] देश के विभिन्न भागो में लोकानुरंजन का माध्यम बना हुआ है। मानव निर्मित गीतके प्रमुख चार अंग होते है , राग ,भाषा , ताल और मार्ग। ये एक दूसरे के पूरक होते हैं कल्लिनाथ इन्हें ध्यान में रखकर गीत की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि ग्रहांशादि दशांश लक्षण से लक्षित स्वरसन्निवेश (राग या जाति) पद लालः एंव मार्ग, इन अंगों से युक्त होकर ही गीत कहलाता है।[7] ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, उपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव, और औडुवित ये राग (जाति) के दस लक्षण माने गये हैं।[8] गीत इन्हीं दस लक्षणों से यूक्त माना जाता है। आचार्य भरत में गीतों को ध्रुवागीत, आसारित ध्रुवामान आदि प्रधान भेदकर पुनः अनेक उनके उपभेद भी प्रस्तुत किये। इसके अतिरिक्त सप्तरूप नाम से प्रसिद्ध गीतों का विवरण भी उन्होंने नाट्यशास्त्र में दिया है, ये है - मद्रक, अपरान्तक, प्रकरी, ओवेणक, उल्लोप्यक रोविन्दक और उत्तर । इन गीतों के आचार्य भरत ने ब्रह्मा के द्वारा कथित माना अतः वे इन्हें पुण्यकारक मानतें हैं।[9] परन्तु कुछ अन्य आचार्यों ने राग भाषा, ताल और मार्ग के भेद से गीत के प्रमुख चार अंग ही मानते हैं । स्पष्ट है कि गीत मे स्वर (कण्ठ को सरसता या राग) वाणी की मृदुलता एंव उसको स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी वर्णो से अलंकृत होने (यथा-स रे ग रे स स, म प ध प म म , प ध नी ध प प) के साथ-साथ भाषा, ताल, लय, यति का भी अप्रतिम स्थान है।

---

1. संगीत चिन्तामणि पृ. 80
2. – गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः शययांहि नाट्यस्य वदन्ति गीतम् ।
   गीते च वाद्ये च सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति ।। नाट्यशास्त्र 32/436
   – तस्य गीतस्य माहात्म्मं के प्रशंसितुमीशते। धर्मर्थकाममोक्षाणां इदमेवैकसाधनम् ।। सं०र० 1/1/30
3. प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य! अभिनवभरती, तृतीय खण्ड पृ० 386
4. नृन्तं वाद्यानुगं पोक्त वाद्यं गीतानुवत्ति च ।। संगीतरत्नाकर- स्वराध्याय पृ० 15 (अड्यार संस्करण)
   अतो गीतप्रधानत्वाद त्रादावभिधीयते ।। सं० र० 1/1/24
5 रञ्जक स्वरसन्दर्भो गीतमित्यमिधीयते । गान्धर्वगानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम्।। संङ्गीतरत्नाकर, प्रबन्धाध्याय पृ० 203
6. – तत्तदेशस्थया रीत्या यत्स्यात् लोकानुरञ्जनम् । देशेः देशे तु संडीतं तद्देशीत्यभिधीयते ।। -संङ्गीत विशारद्, पृ० 148
   – देशे, देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम् । गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ।।
7. ग्रहांशादिदश लक्षण लक्षित स्वरमात्रसन्निवेश विशेषो रागः
   तैः स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैरेवं चतुर्भिरङ्गरुपेतं ध्रुवादि संज्ञकं गीतम्।।
   संङ्गीतरत्नाकर (कल्लिनाथ) रागाध्याय, पृ० 33, भरत का संङ्गीतसिद्वान्त, पृ० -250 से उद्धृत
8. ग्रहां शौ तरामन्द्रौ च न्यासोपन्यास एव च, अल्पत्वंञ्च वहुन्तवंञ्च षाडवौऽविते तथा ।। ना०शा० 28/74
9. गीतानि ससभुद्रोकोल्लोप्यके च परान्तकम्। प्रकर्यो वैणकं चैव रोविन्दकमथोत्तरम् ।। ना. शा. 31/184

श्रीहर्ष नैषधीय चरित में गीत का विवरण देते हुए कहते हैं कि जब दमयन्ती नें नल के गले में दूर्वाकुंर से सुशोभित मधुकमाला (वरमाला) को डाल दिया, उस समय पुराङ्गनाएँ (वैदर्भ निवासिनियाँ) ने आन्नद के साथ उच्चस्वर में मङ्गलगीत गाने लगीं, उस समय उनमें इस प्रकार का हर्षोद्रेक हुआ कि उनके कण्ठ गदगद हो गये, एंव जो शब्द (आवाज) उनके मुखकमलों से निःस्तृत हो रहे थे वे अस्फुट जैसे प्रतीत हो रहे थे[1] वे स्मरणीय है कि श्रीहर्ष का यह विवरण सङ्गीत के सप्तरूपे में उल्लोप्यक गीत का निदर्शन है। को गीति के स्पष्ट करते हुए संगीत रत्नाकर कार का कहना है कि स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी वर्णों से अलंकृत तथा पद और लय से समन्वित गान क्रिया ही गीति कहा जाता।[2] गीति के चार भेद माने गये हैं, मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता एवं पृथुला। आचार्य भरत के अनुसार भिन्नवृत्ति में गायी जाने वाली गीति मागधी कही जाती है उसकी अपेक्षा अर्धकाल अर्थात द्रुतगति में गायी जाने वाली गीति अर्धमागधी, गुरू अक्षरों से युक्त गीति सम्भाविता एवं लघुक्षरों से समन्वित गीति को पृथुला कहा जाता है।[3] आचार्य दत्तिल ने भी गीति के उपर्युक्त चार भेद स्वीकार किये हैं।[4] उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्रीहर्ष संगीत की सम्भाविता एवं पृथुला विधियों से परिचित थे। संगीत के प्रमुख आचार्य निम्नवत थे। यथा –

सदाशिवः शिवा ब्रह्मा भरतः कश्यपो मुनिः ।
मतंगो याष्टिको दुर्गाशक्तिः शार्दूलकोहलौ ।।

कण्ठ की सरसता एवं वाणी की कोमलता का संगीत में महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसका विवरण देते हुए नैषधकार कहते हैं कि दमयन्ती के शिरीषपुष्प से भी कोमल सारे अङ्गों की रचना करके ब्रह्मा ने सुकुमार वस्तुओं के निर्माण की पराकाष्ठा पर पहुँच जाने के कारण मृदुलता की मर्यादा को इसकी वाणी में समाप्त की, अर्थात् दमयन्ती की मृदुल वाणी सुकुमारता की अंतिम सीमा सी लगती है, क्योंकि इनकी वाणी तो रसाल का आस्वादन लेने वाली कोकिलपक्षी (कोयल) की वाणी से भी मधुर है।[5] साथ ही इनके कण्ठ में निवास करती हुई सरस्वती जो अपनी मधुरवीणा बजाती हैं, वही इस मृगनयनी के मुख मे वाणी रूप होकर श्रोता के कान में अमृतरस बन जाता है।[6] दयमन्ती की वाणी की कोमलता एवं मिठास को श्रीहर्ष ने गन्ने के रस से मीठी, अमृत समान एवं श्रृङ्गाररस की अपूर्व नदी माना।[7] जहाँ नैषधकार ने नल को श्रेष्ठ गायक के रूप में चित्रित किया,[8] जिसका संगीत स्वर्गलोक के गायकों से अत्यधिक मधुरता था, वहीं नलमुखेन पुनः दमयंती की वाणी की प्रशंसा करवाते हुए यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गायन में

---

1. – कापि प्रमोदास्फुटनिर्जिहान वर्णेव या मङ्गलगीतिरासाम् । सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूजुध्वनिरुच्चचार ।। नै० 14/51
   – दक्षिणे तु यथा वृत्तौ चतुष्कलमपीष्यते, उल्लोप्यकं तु द्विगुरू द्विलध्वन्ते गुरूर्यथा ।। ना०शा० 31/241
2. वर्णाधलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता । गीतिरुच्यते या च बुधैरुक्ता चतुर्विधा ।। सं० र० स्वराध्याय पृ० 280
3. भिन्नवृत्तिप्रगीता या सा गीतिर्मागधी मता। अर्धकाल निवृत्ता च विज्ञेया त्वर्धमागधी ।।
   सम्भविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता। लध्वक्षरकृता नित्या पृथुला सम्प्रकीर्तिमा ।। ना०शा० 28/49, 49
4. तत्र स्यान्मागधी चित्रैः पदैः समान्वृत्तकैः । अर्धकालनिवृत्तैस्तु वर्णाधा चार्धमागधी ।।
   वृत्तौ लध्वक्षरप्राया गीतिः सम्भाविता स्मृता । गुर्वक्षरैस्तु पृथुला वर्णाढ्या दक्षिणे सदा ।।
   मार्गेणु ता यथायोगं यतस्रो गीतयः स्मृयाः । -दत्तिलम् 238 240
5. शिरीषकोषादपि कोमलाया वेधा बिधायाङ्गमशेषमस्याः । प्राप्तप्रकर्षः सुकुमारसर्गे समापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम ।।
   प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा काचिद्द्विजेनोपनिषत्पिकेन । अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजातरूभ्यः ।। नै० 7/47-48
6. कण्ठे बसन्ती चतुरा यदस्याः सरस्वती वादयते विपञ्चीम् ।
   तदेववाक्भूय मुखे मृगाक्ष्याः श्रोतुः श्रुतो याति सुधारसत्वम् ।। नै० 7/50
7. नै० 21/152, ... 159
8. स्वर्गलोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय ।
   हा हेति गायन्यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायिनोऽभूत ।। नै० 3/27

स्त्रियों का ही एकाधिकार था। नल दमयंती से कहते हैं कि प्रिये, तुम्हारी वाणी की प्रशंसा तो हम कर नहीं सकते, अतः अमृत ही की बड़ाई कर लें, जिसके लिए गरूण और इन्द्र का संग्राम हम ठीक समझते है। तुम्हारी वाणी ने भी तो अंगूर रस का मानभंगकर, क्षीर का अपमानकर उसी अमृत के ही ऊपर अनुग्रह कर उसे अपना चरण धोने का अनुग्रह प्रदान किया है अर्थात् अंगूर, की कौन कहे, तुम्हारी वाणी क्षीर तो अमृत (से भी) से भी मधुरतम है।[1] पुनः दमयन्ती की वाणी को, जो श्रृङ्गाररस के कलश रूप मुख से निकली है एवं जो ईख से भी ज्यादा रसीली, अमृततुल्य है ऐसी वाणी को नल बार-बार सुनने की इच्छा करते हैं।[2]

गायक को विभिन्न कलाओं, शास्त्रों, वाद्य, नृत्य में चतुर होने के साथ-साथ हृद्य शरीर से समन्वित होना चाहिए। लय, ताल एवं स्वर भेदों यथा स्थायी आरोही, अवरोही, संचारी से परिचित होने के साथ-साथ गायक में देशी रागों का ज्ञान, वाक् चातुर्य सम्पन्न, रागद्वेष का अभाव, सरसता तथा विवेक होना चाहिए।[3] गीत, वाद्य, तथा नृत्य ताल में ही प्रतिष्ठित होते है। संगीतरत्नाकर में ताल को (इस प्रकार) इस प्रकार परिभाषित किया गया है-

तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्घञिस्मृतः
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ॥
कालो लध्वादिमितया क्रियया सम्मितो मितिम् ।[4]

ताल (तान) क्रिया के पश्चात अग्रिम ताल क्रिया से पूर्व तक किया जाने वाला विश्राम लय कहलाता है एवं लय प्रयोग का नियम 'यति' संज्ञा के अभिहित होता है। श्रीहर्ष संगीतशास्त्र के इन शब्दों से परिचित दिखते हैं। ताल या तान का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं कि दमयन्ती ने कलाएं सीखने वाली सखियाँ जो मधुर वीणा वादन में अत्यन्त कुशल थीं, वे गन्धर्व कुमारियाँ महल में बैठे महाराज नल को वीणा सुनाने के लिए वहां गयीं तो उन मृगनयनियों ने गीत प्रारम्भ करने के पूर्व ताल स्थापन हेतु तार मिलाते समय कुछ अव्यक्त अतिमधुर शब्द (काकली) किया उस समय ऐसी प्रतीति हो रही थी कि मानो उनकी वीणा अत्यन्त मृदुकण्ठी दमयन्ती के सम्मुख कुछ स्वर करने में लजा रही हो।[5] स्वरों द्वारा प्रस्तुत आलापों की सहायता से ही गति का आकर्षण विकर्षण बढ़ता है।[6] नाट्यशास्त्र में स्वरों के आरोह, अवरोह, स्थायी एवं संचारी चार भेद भरत ने किये हैं इनकी साधना के अनन्तर ही गायक अपने गीत में मधुरिमा ला सकता है।[7]

---

1. त्वद्वाचः स्तुतये वयं न पटवः पीयूषमेव स्तुमस्तस्यार्थेगरुडामरेन्द्रसमरः स्थाने स जानेऽजनि।
   द्राक्षापानकमानमर्दनसृजा क्षीरे दृढ़ावज्ञया, यस्मिन्नाम धृतोऽनया निजपदप्रक्षालनानुग्रहः॥ नै० 21/160
2. श्रृङ्गारभृङ्गारसुधाकरेण वर्णस्रजानुपय कर्णकूपौ ।
   त्वच्चारुवाणीरसवेणितीरतृणानुकारः खलु कोषकारः ॥
   अत्रैव वाणीमधुना तवापि श्रोतुं समीहे मधुनः सनाभिम् ।
   इति प्रियप्रेरितया तयाथ प्रस्तोतुभारम्भि शशिप्रशस्तिः ॥ नै० 22/57-58
3. नायको गायकश्चैव कलावांश्च तृतीयकः। गन्धर्वः पण्डितश्चैव शास्त्रकारश्च शिक्षकः॥
4. सङ्गीत रत्नाकर - तालाध्याय, पृ० 3-4
5. – काकलीतु कले सूक्ष्मे-अमरकोष
   – तासामभासत कुरङ्गदृशां विपञ्ची, किञ्चितपुरः कलितनिष्कलकाकलीका ।
   भैमीतथामधुरकण्ठलतोपकण्ठे, शब्दायितुं प्रथममप्रतिभावतीव ॥ नै० 21/125
6. पदं लक्षणसंयुक्तं यदा वर्णौ तु कर्षति। तदावर्णस्य निष्पत्तिर्विज्ञेया स्वरसम्भवा ॥ नाट्यशास्त्र 29/23
7. आरोही चावरोही च स्थायिसञ्चारिणौ तथा । वर्णाश्चत्वार एवैतेह्यलङ्कारास्तदाश्रयाः ॥
   आरुहन्ति स्वरायत्र आरोही स तु संज्ञितः सण्तु । यत्र चैवावरोहीच सोऽवरोहीतिभण्यते ॥
   स्थिराःस्वराः सभा यत्र स्थायीवर्णः स उच्यते । सञ्चरन्ति स्वरा यत्र स सञ्चारीति कीर्तितः ॥ नाट्यशास्त्र 29/1...19

स्वर

सङ्गीतदर्पण में कहा गया है –

स्वयं यो राजते नादः सस्वरः परिकीर्तितः।

मतङ्ग ने राग के बारे में कहा –

स्वरवर्णविशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा जनः। रज्यते येन कथितः स रागः सम्मतः सताम् ।।

राग के बारे में दामोदर की भी मतङ्ग से सम्मति दिखती हैं यथा –

यस्य श्रवणमात्रेण रज्यन्ते सकलाःप्रजाः। सर्वानुरञ्जनाद्धेतोः तेन राग इतिस्मृतः ।।

स्पष्ट है कि स्वर उस ध्वनि या आवाज को कहते हैं, जिसे सुनकर कानों को अच्छा लगे और चित्त प्रसन्न हो। सङ्गीतशास्त्र में स्वर को निम्नरूप में परिभाषित किया गया है –

श्रुत्यन्तरभावी यः शब्दोऽनुरणनात्मकः । स्वतो रञ्जयते श्रोतृश्चित्तं स स्वर ईर्यते ।।[1]

इसके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि श्रुतियों को लगातार उत्पन्न कराने से स्वर की उत्पत्ति होती है। शब्द का अनुरणनरूप ही स्वर कहलाता है। आचार्य भरत के अनुसार सात स्वर होते हैं, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषादवान् (निषाद)[2] स्वर के इन्हीं सात भेदों को बाद के सङ्गीतशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया इन्हें ही संक्षेप में "स, रे, ग, म, प, ध, नी" कहते हैं। सात स्वरों के पारस्परिक अन्तराल को देखते हुए सङ्गीतशास्त्रियों ने स्वरों को वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी के भेद से चार प्रकार का माना है। वास्तव में स्वर ही गीत का मूल तत्व होता है। स्वर का प्रतिपादन करते हुए नैषधकार ने कहा कि वैदर्भी महल की सभा में मधुर आलपन्ती किसी सुन्दरी की नल मन ही मन प्रशंसा करने लगे कि सुन्दरी का यह त्रिरेख शोभित कण्ठ क्या यही विज्ञापित करता है कि इसके स्वर से पिक, वेणु तथा वीणा तीनों पराजित हैं, अर्थात् उसकी राग, इन तीनों से श्रेष्ठतर है।[3] दमयन्ती की रागध्वनि इतनी श्रेष्ठ थी उसकी गूंज दूर-दूर तक पहुँचती थी, यहाँ तक चन्द्रमा भी उससे प्रभावित था, क्योंकि चन्द्रमा में रहने वाला मृग भी शायद दमयन्ती की स्वर सुधा का पान किया था। यथा-

तवानने जातचरीं निपीय गीतिं तदाकर्णनलोलुपोऽयम् ।
हातुं न जातु स्पृहयत्यवैमि विधुं मृगस्त्वद्वदनभ्रमेग ।।
इन्दोर्भ्रमेणोपगमाय योग्ये जिह्ना तवास्ये विधुवास्तुमन्नाम् ।
गीत्यामृगं कर्षतु भन्त्स्यता किं पाशीबभूवेश्रवद्वयेन ।।
आप्यायनाद्वा रुचिभिः सुधांशो शैत्यात्तमः काननजन्मनो वा ।
यावन्निशायामथ घर्मदुःस्थस्तावद्व्रजत्यह्नि न शब्दपान्थः ।।
दूरेऽपि तत्तावकगानपानाल्लब्धावधिः स्वादुरसोपभोगे ।
अवज्ञयैव क्षिपति क्षपायाः पतिः खलु स्वान्यमृतानि भासः ।।[4]

---

1. सङ्गीतशास्त्र, पृ० 14 पर उद्धृत एवं सं०र० 1/3/26
2. – षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा। पञ्चमो धैवतश्चैव सप्तमश्च निषादवान् ।। नाट्यशास्त्र 28/22
   – निषादं रौति कुञ्जरः - नारदमत, अमरकोष की 1/7/1 की टीका में श्री मानुजीदीक्षित द्वारा उद्धृत्
3. कण्ठः किमस्याः पिकवेणुवीणास्तिस्रोजिताः सूचयति त्रिरेखः। इत्यन्तरस्तूयत यत्रकापि नलेन बाला कलमापन्ती ।। नै० 6/59
4. नै० 22/106–109

दमयन्ती का स्वर सरस्वती की वीणा के स्वर से भी श्रेष्ठ[1] एवं कोकिल तथा वीणा से भी मधुर कोमल तथा हृद्य था।[2] वीणावादिनी सरस्वती का चित्रण करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि गान विद्या उसकी कण्ठनली थी, वेदत्रय उसकी त्रिवलियाँ थे, तथा साहित्यशास्त्र उसके कटाक्ष विक्षेप थे ऐसी सरस्वती दमयन्ती की सखी बनकर युवती के रूप में सभा में आयीं।[3] स्पष्ट है कि जब दमयन्ती की सखी गानविद्या में दक्ष थी, तो दमयन्ती (राजकुमारी) का कहना ही क्या? दमयन्ती की स्वरूपाकृति एवं स्वर का चित्रण करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि ऐसा मालूम होता है कि बसन्त ही दमयन्ती का योग्य शिल्पी है। उसने इसकी श्वासों को मलयपवन का बनाया, एवं इसके अङ्गों को कुसुमों से निर्मित किया तथा वाणी का कोकिल के पञ्चम स्वर (राग) से सृजन किया।[4]

राग

राग की व्याख्या करते हुए भरतमुनि ने कहा है कि राग उसे कहते हैं जिसके द्वारा त्रिलोकस्थित प्राणियों का मनोरंजन होता है।[5] भारतमुनि ने प्रमुख सात ग्राम राग माने हैं वे निम्न हैं- मध्यमग्राम (मध्यमग्रामीय), षड्जग्राम (षड्जग्रामीय)।[6] साधारितत (षड्जग्रामीय), पञ्चम (मध्यमग्रामीय), कैशिक (मध्यमग्रामीण), षाडव (मध्यमग्रामीय) कैशिक मध्यम (षड्जग्रामीय) नैषधकार पञ्चम राग (मध्यमग्रामीय) से परिचित जान पड़ते हैं, क्योंकि दमयन्ती के स्वर को उन्होंने पञ्चमराग निर्मित बताया। मुनि कश्यप के मतानुसार मध्यमा और पंचमी जातियों से शुद्ध पञ्चम राग उत्पन्न होता है। इसका अंश तथा न्यास स्वर पञ्चम है। गान्धार तथा निषाद स्वरों का इसमें अल्पप्रयोग होता है।[7] शार्ङ्गदेव के मतानुसार यह राग मध्यमा एवं पञ्चमी जातियों से उद्भूत है। इसका अंश, ग्रह एवं न्यास, स्वर, मध्य सप्तक का पञ्चम है। इसमें काकली निषाद तथा अन्तर गान्धार का प्रयोग विहित है। ह्रस्यका इसकी मूर्च्छना है। कामदेव इसका देवता है। सञ्चारी वर्ण इसका शोभाधायक है। अवमर्श सन्धि में इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। यह ग्रीष्म ऋतु में दिन के प्रथम प्रहर में गाया जाना चाहिए। इस राग से श्रृङ्गार एवं हास्य रस अभिव्यञ्चित होते हैं।[8] इस सम्बन्ध में एक अन्य विधि भी बतायी गयी है कि मुख सन्धि में मध्यमग्रामराग, प्रतिमुखसन्धि में षड्जग्रामराग, गर्भ सन्धि में साधारित राग, अवमर्श सन्धि में पञ्चम राग, निर्वहण सन्धि में कैशिक राग, पूर्वरङ्ग में षाडव राग तथा अन्त में कैशिकमध्यम राग का समुचित सन्निवेश करना चाहिए। यदि शास्त्रनिर्दिष्ट नियमों को लक्ष्य में रखकर राग सन्निवेश किया जायेगा, तभी उसकी सफलतम अभिव्यक्ति होगी। कुछ सङ्गीतविद्याविशारदों ने लोक रूचि वैभिन्यता एवं काव्य, नाटक, गीत के आधार पर ग्राम रागों के पॉच प्रकार बताये हैं, शुद्ध, भिन्न, गौड़ बेसर एवं साधारण। शुद्धागीति में स्वर मृदुल एवं वक्रतारहित,

---

1. तत्कर्णौ भारती दूनौ विरहाद्भीमजागिराम् । अध्वनि ध्वनिभिर्वैणेरनुकल्पैर्व्यनोदयत् ।। नै० 17/12
2. नै० 20/60
3. मध्येसभं सावततार बाला गन्धर्व विद्याधरकण्ठनाला,।
   त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितद्वक्तरङ्गाः ।। नै० 10/74
4. अस्याः स चारुर्मधुरेव कारुः श्वासं वितेने मलयानिलेन ।
   अमूनि सूनैविर्दधेऽङ्गाकानि चकार वाचं पिकपञ्चमेन ।। नै० 10/130
5. इत्येवं रागशब्दस्य व्युत्पत्तिरभिधीयते । रञ्जनाज्जायते रागो व्युत्पत्तिः समुदाहृता ।। भरतकोश पृ० 923
6. मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे भवेत् । गर्भे साधारितश्चैव अवमर्शे तु पञ्चमः ।।
   संहारे कैशिकः प्रोक्तः पूर्वरङ्गे तु षाडवः । चित्रस्याष्टादशाङ्स्य त्वन्ते कैशिकमध्यमः ।।
   शुद्धानां विनियोगोऽयं ब्रह्मणा समुदाहृतः ।। – भरतकोश, पृ० 542
7. मध्यमापञ्चमीजात्योः सम्भूतः शुद्धपञ्चमः। अंशोऽसय पञ्चमो न्यासस्स्वल्पद्विश्रुतिकस्वरः। –भरतकोश-कश्यपमत-पृ०- 666
8. मध्यमापञ्चमीजातः कालल्यन्तरसंयुतः । पञ्चमांशग्रहन्यासो मध्यसप्तकपञ्चमः ।।
   ह्रस्यकामूर्च्छनापेतो गेयः कामादिदैवतः । चारुसञ्चारिवर्णश्च ग्रीष्मेदह्नः प्रहरेऽग्रिमे ।
   श्रृङ्गारहास्ययोः संधाववमर्शे प्रयुज्यते ।। -सङ्गीतरत्नाकर-रागाध्याय पृ०– 95; अड्यार संस्करण

भिन्नागीति में स्वर वक्र, सूक्ष्म, गमकयुक्त, माधुर्ययुक्त तथा गौड़ी गीति में स्वरों की निविडता के साथ तीनों स्थानों में गमकयुक्त सञ्चार होता है। बेसर गीति में स्वरों का प्रयोग संवेग तथा रक्तपूर्ण होता है एवं साधारण गीति इन चारों गीतियों का मिश्रित रूप होता है।

श्रीहर्ष सङ्गीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्दमूर्च्छना एवं तान तथा निषादराग (स्वर) से भी परिचित थे। निषाद स्वर का विवरण देते हुए कहते हैं कि राजाओं के कुल में हाथी के समान नल के समीपवर्तिनी हथिनी के समान वीणा से निषाद स्वर से मधुर तथा उच्च नादनिकला[1] जिसमें बाइस श्रुतियों से युक्त (षड्ज) आदि के नाद प्रान्त से स्वर कम्पित हो जाता था तथा हाथ विचित्र चंचलता धारण कर रहा था[2], दूसरे शब्दों में राज शिरोमणि नल के पास वीणा, उच्च मधुर निषाद स्वर में बज रही थी एवं वादिका की अंगुलियां द्रुत गति से तारों पर दौड़ रही थीं, तथा वीणा के ऊपर की खूंटियाँ रह रहकर घुमायी जा रहीं थी, जैसे सकामा करिणी (हथिनी) गजेन्द्र के पास अपने शिर एवं सूंड़ हिलाती हुई चंचलतापूर्ण क्रियाएँ करती हुई निषाद ध्वनि में शब्द करती हैं "निषादं च गजाब्रूते"। स्वर सात माने गयें हैं- षड्ज, ऋषभ, गांधार मध्यम पंचम, धैवत और निषाद।[3] षड्ज में मोर के स्वर का अनुकरण किया गया है, ऋषभ में बैल के, गांधार में अज के, मध्यम में क्रौञ्च के, पंचम में कोकिल के, धैवत में घोड़े के स्वर और निषाद में हाथी के स्वर का अनुकरण होता है जैसा कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के अट्ठाइसवें अध्याय में विवरण दिया है।[4] श्रुति स्वर का एक बहुत ही सूक्ष्म अंश है। श्रुति की ही दो तीन या चार मात्राओं के योग से एक-एक स्वर की उत्पत्ति कल्पित की गयी है। वह सुनी जा सकती है, इससे उसका नाम श्रुति हुआ। श्रुति के बाइस भेद हैं- षड्ज 4 श्रुतियाँ, ऋषभ 3, गान्धार 2, मध्यम 4, पंचम 4, धैवत-3, निषाद-2-श्रुतियाँ। श्रुतियों के बारे में सङ्गीतदर्पण में कहा गया कि –

श्रुतयः स्यु स्वराभिन्नाः श्रावणत्वेन हेतुना । कर्णस्पर्शात् श्रुतिर्ज्ञेया स्थित्या सैव स्वरोच्यते ।।
स्वरूपमात्र श्रवणान्नादोऽनुरणनं बिना । श्रुतिरित्युच्यते, भेदास्तस्याः द्वाविंशतिर्मता ।।

मूर्च्छना एवं तान का विवरण देते हुए श्री हर्ष कहते हैं कि शायद दमयन्ती का मधुर कण्ठ वीणादण्ड के समस्त उत्तम अंशों को लेकर बनाया गया है, इसीलिए तो वीणा अपने अन्तः को खोखला पाकर अपनी मूर्च्छनाओं में लज्जित होकर कोंण पकड़ लेती है।[5] भरत मुनि का कथन है कि क्रमयुक्त सात स्वरों को मूर्च्छना कहा जाता है, जिनमें क्रमशः छै एवं पांच स्वर होते हैं उन्हें षाडविता और औडुविता

---

1. पुष्कलच्छिद्रस्य वीणादण्डस्य स्वरोतिगम्भीरः प्रशस्ततरो भवति। नै० 21/128 की टीका
2. – नादं निषादमधुरं ततमुज्जगार, साऽभ्यासभागवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य मी ।
   स्तम्बेर कृतसश्रुतिमूर्धकम्पा, वीणा विचित्रकरचापलमाभजन्ती ।। नै० २१/१२७
   – नाद के बारे में कहा गया है-
   नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः। जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते।। स०र० 1/3/6
3. – मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे भवेत् । गर्भे साधारितश्चैव अवमर्शे तु पञ्चमः ।।
   संहारे कैशिकः प्रोक्तः पूर्वरङ्गे तु षाडवः । चित्रस्याष्टादशाङ्गस्य त्वन्ते कैशिकमध्यमः ।।
   शुद्धानां विनियोगोऽयं ब्रह्मणा समुदाहृतः ।। भरतकोश- पेज- 532
   – उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्तऋषभधैवतौ । स्वरितः प्रभवाह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ।।
   – षड्जं मयूरोवदति गावोरामन्ति चर्षभ । अजाविकेषु गान्धारं क्रौञ्चोवदति मध्यमम् ।।
   पुस्पसाधारणे काले कोकिला वक्ति पञ्चमम्। अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति गुञ्जरः।। नारदीयशिक्षा
4. आसां षड्जनिषादधैवतपञ्चमध्यमगान्धारर्षभाद्याः स्वरा इति नाट्य शा० पेज- 434
5. – द्वौ त्रयोवाऽपि चत्वारः स्युताना रञ्जकस्वराः ।
   सङ्गीतपारिजात तानाः स्युमूर्च्छनाः शुद्धाः षाडवौडुवितीकृताः ।। स०र० 1/4/27
   – आकृष्यसारमखिलं किमुबल्लकीनां तस्या मृदुस्वरमसर्जि न कण्ठनालम् ।
   तेनान्तरं तरलभावमवाप्य वीणा हृरीणा ही न कोणममुचत्किमुं वालयेषु ।। नै० 21/128

कहते हैं। साधारणकृता, काकलीयुक्त तथा अन्तरसंयुक्त मूर्च्छनाएँ भी दोनों ग्रामों में होती है।[1] आचार्य शार्ङ्गदेव ने स्पष्ट रूप से कहा कि स्वर समूह 'ग्राम' कहा जाता है जो मूर्च्छना आदि का आश्रय होता है।[2] मूर्च्छना उभारना एवं आरोह के साथ-साथ अवरोह भी है क्योंकि एक स्वर से आरम्भ करके उसी क्रम से सातवें स्वर तक आरोह करने के पश्चात् उसी मार्ग से अवरोह करने को मूर्च्छना कहते हैं।[3] आचार्य भरत ने केवल षड्ज और मध्यम ग्रामों को आधार मानकर चौदह प्रकार की मूर्च्छनाओं का उल्लेख किया है। वे हैं षड्जग्राम की सात मूर्च्छनाएँ उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता अभिरूद्गता एवं मध्यमग्राम की सात मूर्च्छनाएँ-सौवीरी, हारिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी तथा हृष्यका।[4]

परन्तु कुछ परवर्ती ग्रन्थों एवं जैन ग्रन्थों में गान्धार ग्राम की भी सात मूच्छनाओं का विवरण मिलता है यथा- नन्दा, विशाला, सुमुखी, विचित्रा, रोहिणी, सुखा एवं अलापा। ध्यातव्य है कि जहाँ भरत मूर्च्छना को चौदह प्रकार का मानते हैं, वही दत्तिल एवं मतङ्ग चौंसठ प्रकार का, जबकि आचार्य शार्ङ्गदेव, पण्डितमण्डली, कुम्भ आदि ने मूर्च्छना को चार प्रकार का (शुद्धा, अन्तरसहिता, काकलीसहिता और अन्तरकाकलीसहिता मानते हैं। मूर्च्छना एवं तान में अन्तर समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि सात स्वरों का प्रयोग होने पर मूर्च्छना एवं उससे कम अर्थात् पाँच या छैः स्वर जब प्रयुक्त हो रहे हों, तो वह मूर्च्छना न होकर तान कहलाती है।[5] मूर्च्छना की षाडवित एवं औडुवित अवस्था ही तान है। मूर्च्छनाजन्य तानें चौरासी हैं उनमें उनचास षाडव तथा पैंतीस औडुव हैं।[6] उपर्युक्त विवरण से ध्वनित होता है कि श्रीहर्ष गीत एवं सङ्गीतशास्त्र में प्रयुक्त विभिन्न पारिभाषिक शब्दों के भी जानकार थे। गीतों (ध्रुवागीतों) में सर्वप्रथम आलाप गान, तदनन्तर वाद्य और उसके बाद छन्दगान यही क्रम माना जाता है।[7] गीतों के साथ वाद्यों का वादन किस स्थान से आरम्भ किया जाये, इस सम्बन्ध में भरतमुनि ने विस्तारपूर्वक निर्देश किया है।[8] मूर्च्छना का वर्णन महाकवि कालिदास ने मेघदूत में[9] एवं महाकवि माघ ने शिशुपाल बध[10] में किया है, जो अत्यन्त मनोहारी शैली में हैं।

---

1. क्रमयुक्ताः स्वरास्सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः । षट्पञ्चकस्वरास्तासां षाडऔडुविताः स्मृताः ॥
   साधारणकृताश्चैव काकलीसमलंकृताः । अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः ॥ नाट्यशास्त्र 28/34,35
2. – ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः। -सङ्गीतरत्नाकर 1/4/1
   – क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोह श्चावरोहणम्।
   सामूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्थाः एताः सप्त सप्त चे॥ शिशुपालबध, 1/10 की टीका में मल्लिनाथ की टिप्पणी
3. क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामत्रये ताः सप्त सप्तचा॥ सङ्गोतरतनाकर, पृ० 1/4/9
4. आदावुत्तरमन्द्रा स्याद्रजनी चौत्तरायता । चतुर्थी शुद्धषड्जा च पञ्चमी मत्सरीकृता ॥
   अश्वक्रान्ता तथा षष्ठी सत्पमी चाभिरूद्गता । षड्जग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेयाः सप्तमूर्च्छनाः ॥
   सौवीरी हारिणाश्वाथ स्यात्कलोपनता तथा शुद्धामध्या तथा चैव मार्गी स्यात् पौरवी तथा
   "हृष्यका चेति विज्ञेया सप्तमी द्विजसप्तमा" मध्यमग्रामजा हेता विज्ञेयाः सप्तमूर्च्छनाः॥ नाट्यशास्त्र 28/30- - - 33
5. एकद्विस्वरलोपेन षाडवौडुविकीकृता। तानाः स्यूर्मूर्च्छनाः शुद्धाः ग्रामद्वयमुपाश्रिताः॥ भरतकोश (पण्डितमण्डलीमत) पृ०501
6. तत्र मूर्च्छनासंश्रितास्तानाश्चतुरशीतिः। तत्र एकोनपञ्चाशत् षट्स्वराः पञ्चत्रिंशत् पञ्चस्वराः। नाटयशास्त्र अध्याय 28, पृ०- 436
7. पूर्वगानं ततो वाद्यं ततो वृत्तं प्रयोजयेत् । गीतवाद्याङ्गसम्बन्धः प्रयोग इति शंसितः ॥ नाट्यशास्त्र 32/403
8. नाट्यशास्त्र 32/436-442
9. उत्सङ्गे वा मलिनवसनेसौम्य! निक्षिप्य वीणां मदोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
   तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥ उत्तरमेघ-26
10. रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
    स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥ शिशुपाल बध 1/10

वाद्य

संगीतशास्त्र में वाद्यों का महनीय स्थान है। वाद्य वे उपकरण हैं, जिनके माध्यम से गायक एवं नर्तक अपनी भाव भङ्गिमाओं, स्वर एवं कण्ठध्वनि को गतिप्रदान करने में सफल होते हैं। चाहे सुगम संगीत हो या लोकसंगीत, चाहे राष्ट्रीय संगीत हो या शास्त्रीय संगीत सभी के सुचारू गायन में वाद्यों का सहयोग अपेक्षित होता है। वाद्य शास्त्रीय संगीत् के तो प्राण तत्व ही हैं। भरतमुनि ने नाटक को सजीव एवं शुभफलदायक बनाने के लिए वाद्य एवं संगीत का विधान किया, अन्य अनेक स्थानों पर वाद्यों को प्रयोग शुभ एवं सफलता सूचक माना है। यथा-

उत्सवे चैत्र यानेच नृपाणां मङ्गलेषु च । शुभकल्याणयोगे च विवाह करणे तथा ॥
उत्पाते संभ्रमे चैव संग्रामे पुत्रजन्मनि । ईदृशेषु च कार्येषु सर्वतोद्यानि वादयेत् ॥
स्वभावगृहवार्तायामल्पभाण्डं प्रयोजयेत् । उत्थान काव्यबन्धेषु सर्वतोद्यानि वादयेत् ॥
अङ्गानां तु समत्वार्थं छिद्रप्रच्छादने तथा । विश्रामहेतोः शोभार्थ भाग्डवाद्यं विनिर्मितम् ॥[1]

श्री हर्ष ने भी वाद्यों को शुभ एवं मंगलसूचक मानते हुए नैषधीयचरित में विविध वाद्यों का उल्लेख किया है। महाराज भीम ने अपनी पुत्री के विवाह महोत्सव में सहर्ष मांगलिक वाद्य बजवाए। नल दमयन्ती ने ईष्यालु राजाओं के दुर्बचन को न सुनने हेतु मंगलध्वनिकारी वाद्य बजवाएं एवं अपने शिविरों को जाते हुए राजाओं ने भी सहर्ष मंगलवाद्य बजवाए।[2] पुत्र पुत्री के विवाहावसर में गीत गायन एवं मंगलवाद्य वजवाने की परम्परा प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल एवं आधुनिक काल तक चली आ रही है। उस परम्परा निर्वाह को श्रीहर्ष ने बखूबी चित्रित किया है। संगीत रत्नाकरकार भी यहीं मन्तव्य है।[3] वर के वधू के घर आने पर वधू घर में उसके स्वागत एवं सम्मान में संगीतवादन की परम्परा आज भी निर्वाहित हो रही है। राजा भी के महल में भी वर (नल) के आने के समय घड़ी घण्टे उच्च ध्वनि में बजने लगे, वीणा आदि का स्वर दिग-दिगन्त में व्याप्त होने लगा, शहनाई का उच्चमधुर स्वर निकलने लगा, तथा ढोल एवं मृदङ्गों का अपार नादस्वर गूंजने लगा। यथा-

तदा निसरस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम् ।
अवापुरूच्चैः सुषिराणि राणितामममानमानद्धमियत्तयाध्वनीत् ॥[4]

अमरकोश में उल्लेख आया है कि –

"ततं वीणादिकं वाद्यम् आनद्धंमुरजादिकम् वंशादिकं तु सुषिरं, कांस्यतालादिकंघनम्॥

उपर्युक्त नैषध के श्लोक के विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीहर्ष ने भरतमुनि द्वारा कथित चार प्रकार के वाद्य यंत्रों को प्रमुख रूप से अपनाया है। वे हैं, तत (तंत्रीवाद्य), अवनद्ध (आनद्धवाद्य), घनवाद्य एवं सुषिर वाद्य।[5] इन चारों वाद्यों का लक्षण देते हुए भरत मुनि ने कहा कि तत तंत्रीवाद्य से, अवनद्ध पुष्करवाद्य से घन तालवाद्य से एवं सुषिर वंशीवाद्य से सम्बन्धित वाद्य हैं।[6] इनमें तत और सुषिरवाद्य मुख्यतः स्वर वाद्य हैं एवं अवनद्ध एवं घन लय वाद्य। स्वर के मूल में लय और लय के मूल में स्वर होते हैं।

---

1. नाट्यशास्त्र 34/18...................21
2. सानन्दं तनुजाविवाहनमहे भीमः स भूमीपतिर्वैदर्भीनिषधेश्वरौ नृपजनानिष्टोक्तिनिर्मृष्टये ।
स्थानि स्थानि धराधिपाश्च शिबिराण्युद्दिश्य यान्तःक्रमाः देको द्वौ बहवश्चकासृजतः स्मातेनिरे मङ्गलम्॥ नै० 14/100
3. नृत्य वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवृत्ति च। सङ्गीतरत्नाकर 1/24
4. नै० 15/16
5. ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च । चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥ नाट्यशास्त्र 28/1
6. ततं तंत्रीकृतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् । घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ॥ नाट्यशास्त्र 28/2

इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न होने पर भी इन्हें मौलिक दृष्टि से एक ही कहा जा सकता है। कोहल ने पाँच के वाद्य मानें, उन्होंने कहा कि वाद्यों के द्वारा उत्पन्न संगीतात्मक ध्वनियाँ पांच रूपों में प्रस्फुटित होती हैं- नखज, वायुज, चर्मज, लोहज तथा शरीरज।[1] वीणा आदि नखज वाद्य हैं, वंशी आदि वायुज, मृदङ्ग आदि चर्मज, ताल, मजीरा, आदि लोहज तथा कण्ठ ध्वनि शरीरज वाद्य हैं। इन पञ्चविध ध्वनियों को उत्पन्न करने वाले वाद्य "पञ्चमहावाद्य" शब्द से अभिहित होते हैं। नारदीय शिक्षा में यह उल्लेख मिलता है कि इसमें अन्तिम मानवकण्ठ ईश्वरनिर्मित तथा नैसर्गिक है, एवं शेष चार मानव निर्मित।[2] नारद ने जहां वाद्यों के तीन प्रकार माने[3] वहां दत्तिल ने वाद्यों के चार प्रकार माने[4] परन्तु वाद्यों के प्रकारों के विषय में आचार्य भरत का वर्गीकरण ही सर्वाधिक उचित एवं मान्य सिद्ध होता आया है। श्री हर्ष ने भी भरत के मतानुसार ही वाद्यों का विवरण नैषधीयचरित में दिया है जिससे जाहिर है कि नैषधकार सङ्गीतशास्त्र में प्रयुक्त विविध वाद्यों के भी जानकार थे।

तत वाद्य

तत वाद्य को तंत्रीवाद्य भी कहा जाता है। इस वर्ग के वाद्ययंत्र में तन्त्री से साङ्गीतिक स्वर उत्पन्न होता है। इस वाद्य के अन्तर्गत सभी प्रकार की वीणाएँ, सारंगी, सितार, स्वरमण्डल, सरोद, इसराज, दिलरुबा, शन्तूर तथा कानून आदि वाद्य आते हैं। ततवाद्यों में प्रमुख स्थान वीणा को ही दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में वीणा का उल्लेख मिलता है।[5] वीणा के उन्नीस भेद नारद रचित सङ्गीतमकरंद में मिलते हैं यथा- कच्छपी, कुब्जिका, चित्रा, बहन्ती, परिवादिनी, जया, घोषवती, ज्येष्ठा, नकुली, महती, वैष्णवी, ब्राह्मी, रौद्री, कूर्मी, रावणी, सारस्वती, किन्नरी, सैरन्ध्री, घोषका। श्रीहर्ष के पारवर्ती ग्रंथ सङ्गीतरत्नाकर (13वीं शताब्दी) में वीणा के अन्य अनेक नाम मिलते हैं जैसे- एकतंत्री, द्वितंत्री, त्रितन्त्री, सप्तंत्री, औदुम्बरी, अनालम्बी, आलापिनी, अलाबु, काण्ड, कात्यायनी, कलावती, दण्डी, विपञ्ची, पिनाकी, निःशङ्क, प्रभावती, मत्तकोकिला वृहती एवं तुम्बरू आदि ग्रंथ के तीसरे प्रकरण कुपित विन्यास में 18 वीणाओं के नाम तथा वाद्याध्याय में 11 वीणाओं की नामावली दी गयी है।[6] नाट्यशास्त्र में उपलब्ध विवरण से पता चलता है कि भरत को केवल दो प्रकार की वीणाएँ ही अभीप्सित थीं वे हैं- चिन्ता (चित्रा), एवं विपञ्ची।[7] वैसे संगीतशास्त्र के विविध ग्रंथों के अनुशीलन से पता चलता है कि वीणाएँ मुख्यतः दो प्रकार की होती है, शरीरी एवं दार्वी। मानव शरीर (कण्ठ) को भी वीणा माना गया है एवं दारू (लकड़ी) से बनने वाली वीणा। श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में प्रमुख रूप से दो प्रकार की वीणाओं का उल्लेख किया हैं वे हैं परिवादिनी वीणा एवं विपञ्ची वीणा। परन्तु सरस्वती वर्णन प्रसङ्ग में सङ्केत रूप में उन्होंने सरस्वती की वीणा का भी वर्णन किया।[8] जिसे सुधाकलश तथा विद्या विलासी पंडित ने कच्छपी वीणा भी कहा है।[9]

---

1. अनाहतः आहतश्चेति द्विविधो नादस्तत्र । सोप्याहतः पञ्चविधो नादस्तु परिकीर्तितः।
   नखवायुजचर्माणि लौहशारीरजास्त था ।। संगीत चूणामणि, पेज- 69 (बड़ौदा संस्करण)
2. नारदीय शिक्षा-एकम् ईश्वरनिर्मितं नैसर्गिकम् अन्यच्चतुर्विध्यं मनुष्य निर्मितं चेति
   पञ्चप्रकारा महावाद्यानाम्, सङ्गीत चूड़ामणि पेज- 69
3. भरतकोष- नारदमते चार्मणं तान्त्रिकं घनं चेति त्रिधावाद्यलक्षणम्- सङ्गीतचूडामणि- पेज- 69
4. दत्तिलेन तु आनद्धं ततं, घनं सुषिरंचेति चतुर्विधंवाद्यं कीर्तितम्, सङ्गीत चूड़ामणि- पेज- 69
5. तस्यै प्रयाजेषु तापमानेषु ब्राह्मणे वीर्णां गार्था दक्षिणत उत्तरमन्द्रामुदाघ्नं स्त्रिसः स्वयं संभ्रता गाथा गायति- श०ब्रा० 13/4/2/8
   – वाण शततन्तु भवति- तै० स० 7/5/9/2, वीणा का उल्लेख तै०ब्रा० 3/13) एवं वा०स० (30/19) एवं ऋग्वेद (10/50/1) में भी मिलता है।
6. सङ्गीतरत्नाकर, अध्याय- 6,9, 10 आननदाश्रम संस्करण
7. सप्ततंत्रीभवे चिन्ता (चित्रा) विपञ्चीभिभवे तथा। कोणवाद्या विपञ्ची स्यादिद्वत्रा चाङ्गुलिनादनात्।।नाट्यशास्त्र 29/124
8. तत्कर्णौ भारती दूनौ विरहाद्भीमजागिराम् । अध्वनि ध्वनिभिर्वैणैरनुकल्पैर्व्यनोदयत्।। नै० 17/12
9. सरस्वत्यास्तु कच्छपी''- भारतीय सङ्गीत वाद्य, पेज- 36 में उद्धृत।

परिवादिनी वीणा -

नारद ने अपने सङ्गीतमकरन्द में इस वीणा का वर्णन किया है। इसमें सात तार होते हैं।[1] यतिमानपाद खण्ड, तथा अभिधान चिन्तामणि प्रभृति कोषों में इसका विवरण मिलता है। श्रीहर्ष इस वीणा का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि वीणा से भी मधुर स्वरयुक्त दमयन्ती का कण्ठ सात लड़कियों के मुक्ताहार से सुशोभित हो रहा था, पहले तो दमयन्ती के कण्ठ को स्वर माधुर्य की समता के कारण वीणा कहा जा सकता है। (क्योंकि मानव शरीर में कण्ठ को वीणा सङ्गीतशास्त्रियों ने माना है) किन्तु किस प्रकार की वीणा कहा जाय, इसका कोई निश्चय नहीं था परन्तु अब मोतियों की सात लड़ियों रूपी सात तारों से युक्त होने के कारण यह स्पष्ट ही हो गया कि यह सात तारों वाली वीणा परिवादिनी है।[2] स्पष्ट है कि श्रीहर्ष को शरीरज एवं दार्वी दोनों प्रकार की वीणाओं का ज्ञान था। परिवादिनी वीणा के नाम को स्पष्ट करते हुए नैषधकार कहते हैं कि वीणा का नाम परिवादिनी इसलिए हो गया क्योंकि दमयन्ती तो समस्त कलाओं एवं गुणों की निधि थी, तथा वीणा उसकी समता करने के लिए अपने स्वर उससे मिला रही थी। वीणा की इसी धृष्टता का बड़ा परिवाद (निन्दा) हुआ, सम्भवतः इसीलिए वीणा का नाम परिवादिनी पड़ गया।[3] माघ ने अपने ग्रंथ शिशुपाल वध[4] में एवं कालिदास ने रघुवंश[5] में इस वीणा का विवरण दिया है।

विपञ्ची वीणा -

इस वीणा का विवरण देते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि भीम के महल में नल की बारात के स्वागत एवं मंगल स्थापना हेतु बजने वाले वाद्यों में (विपञ्ची) वीणा का स्वर वंशी के स्वर से दब नहीं गया था, अर्थात् वंशी के स्वर से उच्च स्वर में विपञ्ची का स्वर गुञ्जायमान हो रहा था।[6] प्रथम नाट्याभिनय में ब्रह्मा से वाद्यवादन की शिक्षा प्राप्त करने वाले 'स्वाति', विपञ्चीवादक के रूप में जाने जाते हैं। विपञ्ची वीणा में नौ तंत्रियाँ होती हैं। जिन पर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, काकलि निषाद तथा अन्तर, गान्धार की स्थापना की जाती थी। यथा-

विपञ्च्यां नवतन्त्रीषु स्वराः सप्ततथापरौ। काकल्यन्तरसंज्ञौ च द्वौ स्वराः विस्मयानि च।।[7]

बाल्मीकि ने भी इस वीणा का विवरण रामायण में दिया है।[8] आचार्य भरत का कथन है कि विपञ्ची का वादन अँगुली अथवा कोण से किया जाता है।[9] इस द्विविध वादन प्रक्रिया के कारण आगे चलकर यह दो भिन्न रूपों में विकसित हुई। अँगुलियों से बजाये जाने पर उसकी प्रकृति स्वरमण्डल से मिलती थी तथा कोंण से बजाये जाने पर उसकी ध्वनि कानून अथवा आधुनिक सन्तूर से मिलती है। इस कारण एक तरफ तो यह इक्कीस तन्त्री (तारों) वाली मत्तकोकिला वीणा (स्वरमण्डल) तथा त्रितन्त्री वीणा

---

1. सप्तभिः तन्त्रिभिः (वीणा) दृश्यते परिवादिनी। वाद्य प्रकाश- 30 ततवाद्यानि (पाण्डुलिपि) भारतीय संगीत वाद्य, 46 में उद्धृत।
2. स्वरेण वीणेत्यविशेषणं पुरा स्फुरत्तदीया खलु कण्ठकन्दली ।
   अवाप्य तन्त्रीरथ सप्त मुक्तिकासरानराजत्परिवादिनी स्फुटम् ।। नै० 15/44
3. सा यद्धृताखिलकलागुणभूमभूमीमैमीतुलाधिगतये स्वरसंगतासीत् ।
   तं प्रागसावविनयं परिवादमेत्य लोकेऽधुनापि विदिता परिवादिनीति ।। नै० 21/126
4. मधुकरैरपवादकरैरिव, स्मृतिभुवः पथिका हरिणा इव ।
   कलतया वचसः परिवादिनी स्वरजिता रजिताः वशमाययुः ।। शिशुपालवध 6/9
5. भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः । ददृशे पवनावलेपजं सृजती वाष्पमिवाञ्जनाविलम् ।। रघुवंश 8/35
6. विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्नच तेऽपि झर्झरैः ।
   न ते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया न मर्दलैः सापि न तेऽपि ढक्कया ।। नै० 15/17
7. भरत भाष्य (पाण्डुलिपि) भारतीय संगीतवाद्य, पृष्ठ 53 में उद्धृत्
8. विपञ्चीं परिगृह्यान्या नियता नृत्तशालिनी। निद्रावशमनुप्राप्ता सहकान्तेव भामिनी ।। रामायण (सुन्दरकाण्ड)-10/41, गीता प्रेस
9. नाट्यशास्त्र 29/124

के विकसित रूप अनिबद्ध तम्बूरा में तथा दूसरी तरफ कानून एवं सन्तूर में समाहित हो गयी। इसलिए मूल रूप में यह स्वयं ही तिरोहित हो गयी।

भारतीय सङ्गीतशास्त्र में वीणा के अस्तित्व का विवेचन -

तत वाद्यों की परम्परा की प्राचीनता के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि भारत में यह परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी वैदिक परम्परा। अर्थात् वीणा वेदकालीन वाद्य है। इस परम्परा में प्रयुक्त वीणा के लिए वैदिक वाङ्गमय में 'वाण' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] सामवेद भारतीय संगीत का उत्स है। ऋग्वेद के हिरण्यकेशी सूक्त में प्राप्त कुछ तत वाद्यों को 'आघाटी' पद से भी पुकारा गया है।[2] जहां ऋग्वेद एवं काठक संहिता में काण्डवीणा का उल्लेख प्राप्य है[3] वहीं ऋग्वेद सायणभाष्य) में मरूद्वीणा का[4] एवं तैत्तरीय ब्राह्मण में वीणा वादन' का विवरण भी मिलता है[5] शतपथ ब्राह्मण में वीणा के तन्तुओं के उत्तरमन्द्रा (षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना) में मिलाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वीणा, वीणावादक एवं वीणावादन की चर्चा मिलती है।[6] सूत्रकाल में वीणा के नये-नये रूप विकसित हुए। शाङ्खायन श्रौतसूत्र[7] में 'शततन्त्रीवीणा' का उल्लेख प्राप्य होता है। लाट्यायन श्रौतसूत्र में 'अलाबुवीणा' तथा शीलवीणा पर सामगान के विधियों का वर्णन मिलता है। आजकल जिसे हम हार्य या स्वर मण्डल भी कहते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र में उसी को कात्यायन वीणा या शततंत्री वीणा कहा जाता है। पाणिनीय शिक्षा[8] में भी अलाबुवीणा' का विवरण मिलता है तथा ऐतरेय आरण्यक में देवी वीणा का उल्लेख मिलता है[9] उसकी बनावट का भी स्वतंत्र ढंग वर्णित है जिसे आज हम मिजराव कहते हैं, ऐतरेय आरण्यक में उसे 'रवी' कहा गया है।[10] वाजसनेयि संहिता में नरमेध यज्ञ के अवसर पर वीणासहगान के उल्लेख के साथ-साथ दूसरे वाद्यों का भी वर्णन मिलता है।[11] तैत्तरीय ब्राह्मण में वीणा का एक नाम वाण भी दिया गया था जो शततन्तु युक्त होती थी।[12] रामायण में लवकुश को वीणा के साथ गायन करते दिखाया गया है।[13] किन्तु उस प्रसंग में किसी वीणा का नाम नहीं दिया गया, संभवतः वहाँ तंत्री को ही वीणा कहा गया है, परन्तु सुन्दरकाण्ड[14] में विपंची वीणा और किष्किन्धा काण्ड में किन्नरी वीणा का नाम मिलता है। हरिवंश पुराण में नारद की वीणा का नाम 'वल्लकी' दिया हुआ है जिसमें से सात स्वर मूर्च्छना से निकलते थे।[15] ब्रह्मपुराण में दक्ष ने महादेव की स्तुति में 'तुम्बी वीणा' का उपयोग किया था[16] मार्कण्डेय पुराण में आया है कि कंवल और अश्वतर, दोनों नागपुत्रों ने वीणावादन से शंकरजी की आराधना की थी,

---

1. वाणः शततन्तुर्भवति- तै० ब्रा०- 7/5/9-2
2. ऋग्वेद- 10/146/2
3. काठक संहिता- 34-5, ऋग्वेद-2/43/3
4. ऋग्वेद संहिता (सायणभाष्यं) 8/20/8
5. वीणापादं गणकं गीतायै-तै० ब्रा० 3/4/1/15
6. वीणायास्तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः। वृ०उ० 4/5/10, 2/4/7-9
7. शाङ्खायन श्रौतसूत्र 17/1/3
8. लाट्यायन श्रौतसूत्र 4/2/1-10
9. पाणिनीय शिक्षा श्लोक-23
10. ऐतरेय आरण्यक- 3/2/5
11. वाजसनेयि संहिता 30/19/20
12. तै०ब्रा० 7/5/9/2
13. रामायण- बालकाण्ड-4/8
14. रामायण- सुन्दरकाण्ड-10/41
15. हरिवंश पुराण- 1/48/35
16. ब्रह्मपुराण- पेज-341

यहाँ वीणा को वीणा नाम ही दिया गया है।[1] भागवत पुराण में विवरण मिलता है कि नारद स्वरवर्ण से अलंकृत वीणा बजाकर हरिगान किया करते थे।[2] देवीपुराण के 45वें अध्याय में वीणावादन द्वारा नीलकण्ठ की स्तुति मिलती है। वृहद्धर्मपुराण में नारद द्वारा वीणा के तार छेड़कर गान करने का वर्णन मिलता है।[3] इसी संदर्भ में राग रागिनियों के विविध परिवारों का भी वर्णन मिलता है। नारद पांचरात्र में नारद वीणावादन द्वारा श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए दिखाये गये हैं।[4] भरत के नाट्यशास्त्र में चित्रा एवं विपञ्ची वीणा का वर्णन मिलता है।[5] श्रीहर्षकृत नैषधीयचरित में सारस्वती, कच्छपी, परिवादिनी एवं विपञ्ची वीणा का वर्णन किलता है।[6] श्री हर्ष के समकालीन नारदीय शिक्षा, चत्वारिशद् रागनिरूपण, संगीतमकरंद (11वीं शताब्दी के बाद के ग्रंथ) में संगीत वाद्यों का वर्णन मिलता है। नारदीय शिक्षा में दारवी एवं गात्रवीणा पर विस्तार से वर्णन मिलता है।[7] सङ्गीतमकरंद में संगीत की विधियों के साथ-साथ 19 वीणाओं के नाम दिये गये हैं। पार्श्वदेव के सङ्गीतसमयसार (11वीं, 12वीं शताब्दी) में वीणा के चार नये नामों अलावणी, किन्नरी, लघुकिन्नरी एवं वृहत्किन्नरी के वर्णन के साथ वृहत्किन्नरी में तीन तुम्बाओं एवं लघुकिन्नरी में दो तुम्बाओं के प्रयोग होने[8] तथा वीणाओं के बनाने की विधि का वर्णन मिलता है।[9] शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर (13वीं शताब्दी) से प्रभावित संगीत के ग्रंथ वीणाप्रपाठक में 15 वीणाओं का वर्णन मिलता है।[10] सत्रहवीं शताब्दी में रामरात्य ने स्वरमेलकलानिधि, नामक ग्रंथ लिखा। बाद में सोमनाथ का रागविबोध, (1625 ई0) दामोदरपंडित (1625 ई0) संगीत दर्पण, अहोवल पंडित (17वीं शताब्दी) के संगीतपारिजात में (स्वर साधना वर्णन), राणा कुम्भा (18वीं शताब्दी) वाद्यरत्नकोश, राधाकान्त देव (19वीं शताब्दी) शब्दकल्पद्रुम (में 30 वीणाओं का वर्णन), श्रीकृष्ण पंडित की रसकौमुदी एवं राधाकान्त के समकालीन श्रीकृष्णानंद व्यास (19 वीं शताब्दी) के राग कल्पद्रुम में 22 वीणाओं का वर्णन मिलता है। स्पष्ट है कि संगीत विद्या का उत्तरोत्तर विकास होता गया। वीणावादन में नारद और तुम्बरू प्राचीन काल से ही ख्याति प्राप्त पद्वी में आरूढ़ रहे हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि तत वाद्य मे वीणा वादन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होती है। याज्ञवल्क्यस्मृति में वीणा वादन के महत्व को प्रतिपादित हुए याज्ञवल्क्यमुनि ने यहाँ तक कह डाला कि सङ्गीत के द्वारा अनायास मोक्ष की प्राप्ति होती है। यथा-

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः। तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग च गच्छति ।।[11]

आनद्ध (अवनद्ध वाद्य) -

सङ्गीतशास्त्रीय चतुर्विध वाद्यों में द्वितीय प्रकार के वाद्य अवनद्धवाद्य का भी अप्रतिम महत्व है। ऐसे वाद्य जो भीतर से खोखले (पोले) तथा चमड़े से मढ़े हुए होते हैं तथा हाथ या अन्य किसी वस्तु द्वारा ताड़न करने से शब्द (आवाज) उत्पन्न करते हैं वे अवनद्ध या आनद्ध वाद्य कहलाते हैं। भरत के

1. मार्कण्डेयपुराण- पेज- 103
2. भागवत माहात्म्य 6/33
3. वृहद्धर्मपुराण- अध्याय- 24, पेज- 309
4. नारद पाञ्चरात्र 1/66, पेज- 72
5. नाट्यशास्त्र 29/124
6. नैषधीयचरित- 17/12, 15/44, 21/126, 15/17
7. नारदीय शिक्षा - श्लोक-12-19।
8. सङ्गीतसमयसार, अध्याय-5, पृ० 41 (त्रिवेन्द्रम संस्करण)
9. सङ्गीतसमयसार, अध्याय-5, श्लोक 13-63
10. सङ्गीतरत्नाकर, अध्याय-6,9,10, (आनन्दाश्रम संस्करण)
11. याज्ञवल्क्यस्मृति - 2/4/115

नाट्यशास्त्र में अवनद्धवाद्यों के अन्तर्गत पुष्करवाद्यों का भी वर्णन मिलता है। भरतमुनि ने अवनद्ध जाति के वाद्यों की संख्या 100 बतायी है लेकिन वर्णन उन्होंने केवल पुष्कर वाद्यों का ही किया है परन्तु पुष्करवाद्यों के वर्णन से ही आनद्ध वाद्यों का वर्णन भी प्रकृत्या हो जाता है। मानसोल्लास, सङ्गीतरत्नाकर, सङ्गीतपारिजात इत्यादि ग्रंथों में निम्न प्रमुख अवनद्धवाद्यों का उल्लेख मिलता है जैसे- मृदङ्ग, मर्दल, मुरज, पुष्कर, हुडुक (आवाज), पटह, हुडुक्का, ढक्का, सेल्लुका, कुडुवा, डमरू, करटा, ढक्कली, घटम, भेरी, दुन्दुभि, निसाण, तम्बकी, घडस, त्रिवली, रूंज मण्डिडक्का, झल्लरी, भाण, चक्रवाद्य, तबला, दर्दर (दर्दुर), पणव आदि।

श्रीहर्ष ने भी नैषधीयचरित में अवनद्ध वाद्यों का विवरण दिया है।[1] नैषधकार लिखते हैं कि कुण्डिनपुरी में वर रूप में नल के आने पर घड़ी, घण्टे, वीणा, शहनाई, ढोल एवं मृदङ्ग बज उठे। वीणा का स्वर वंशी के स्वर से उच्च था एवं कण्ठगीत से वंशी की ध्वनि उच्च थी। झंझरी से कण्ठगीत, हुडुक से झंझरी, डफले से हुडुक, तथा मृदङ्ग से डफला और उफले से मृदङ्ग की ध्वनि सङ्क्रमित नहीं थी,[2] अर्थात् प्रत्येक वाद्य स्वर संगति के साथ बजते हुए भी वादक के कौशल से अपनी ध्वनि स्पष्ट दे रहे थे। अनेक प्रकार के वाद्यों का स्वर दिग् दिगन्त में प्रसृत हो गया था।[3] अवनद्धवाद्य में ही (बड़े ढोल) काहलवाद्य का ही वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि नल ने सभी देवताओं की पूजा अर्चना के समय में भगवान शंकर की धतूर पुष्प से पूजा की। उनकी पूजा पद्धति से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो नल ने अपने तथा अपने स्वामी भगवान शिव (महाकालेश्वर) के प्रतिद्वन्द्वी मदन को जीत कर उसके कुसुमास्त्र तथा काहलवाद्यकी (बड़े ढोल) को छीनकर स्वामी को समर्पित किया हो।[4] मृदङ्ग का वर्णन करते हुए नैषधकार कहते हैं कि जब दमयन्ती स्वयम्बर सभा में नल को वर रूप में प्राप्त करने के लिए आयी उस समय भीममहल की धवल गृह पंक्तियाँ मंगल मृदङ्गों की उच्च ध्वनि का सम्पूर्ण रूप से प्रतिशब्द करके अपनी गम्भीरता का परिचय देती हुई अपनी चंचल पताका द्वारा मानों लोगों से अपनी नृत्यकला के पाण्डित्य का अभिनय कर रही थीं।[5] इस प्रकार श्रीहर्ष ने अवनद्ध वद्यों में भी प्रमुख वाद्यों यथा- मृदङ्ग, हुडुक, डफला, ढक्कली, मर्दल, ढोल, इत्यादि का वर्णन किया है।

नैषधीयचरित में उपलब्ध प्रमुख अवनद्ध वाद्यों का वर्णन -

(1) मृदङ्गः-

इस वाद्य का प्रयोग विशेष रूप से शास्त्रीय सङ्गीत में होता है। यह लकड़ी से बना तथा चमड़े से मढ़ा होता है। रामायण काल में अवनद्ध वाद्यों में सर्वाधिक प्रचार मृदङ्ग का था परन्तु रामायण में मृदङ्ग के साथ मुरज के भी होने का उल्लेख मिलता है।[6] भरत ने मृदङ्ग एवं मुरज को पर्याय माना है।

---

1. तदा निसस्यानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम् ।
अवायुरूच्चैः संषिराणि राणितामममानमानेद्धमियत्तयाध्वनीत् ॥ नै० 15/16
2. विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि झर्झरैः ।
न ते हुडुक्केन न सोपि ढक्कया न मर्दलैः सापि न तेऽपि ढक्कया ॥ नै० 15/17
3. विचित्रवादित्रनिनादमूर्च्छितः सुदूरचारी जनतामुखारवः ।
मयौ न कर्णेषु दिगन्तदन्तिनां पयोधिपूरप्रतिनादमेदुरः ॥ नै० 15/18
4. हेमनामकतरुप्रसवेन: त्रयम्बकस्तदुपकल्पितपूजः ।
आत्तया युधि विजित्य रतीशं राजितः कुसुमाकाहलयेव ॥ नै० 21/34
5. उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वांनुवाद विधिबोधितसाधुमेधाः ।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डिततत्वम् ॥ नै० 11/6
6. रामायण- सुन्दरकाण्ड 11/596

मृदङ्ग के लिए वे मुरज का प्रयोग करते दिखते है[1] जबकि शार्ङ्गदेव ने मुरज तथा मर्दल को मृदंग का पर्याय माना है।[2] संगीतरत्नाकर की टीका में लिखा मिलता है कि - "एवंविध लक्षणयुक्तं मृदङ्गमाहुः। तस्यैव पर्यायो मर्दलमुरजाविति। प्रोक्तमिति मुनिना भरतेन पुष्करत्रययुक्तम्।[3] प्राचीन ग्रंथों में मृदंग, पणव तथा दुर्दुर को पुष्कर वाद्य संज्ञा से अभिहित किया गया था। इस प्रकार मृदङ्ग के पर्याय, मर्दल एवं मुरज हुए परन्तु भरत ने मर्दल का उल्लेख नहीं किया। जिस वाद्य को आज हम उत्तर भारत में अथवा परवावज नाम से जानते हैं दक्षिण भारत में वही मृतङ्ग शब्द से सम्बोधित होता है परन्तु मृदंग एवं मृदंगम् के आकार प्रकार एवं ध्वनियों में विभिन्नता पायी जाती है। मृदङ्ग वाद्य की प्राचीनता इसी से प्रमाणित हो जाती कि उसका रामायण में भी वर्णन मिलता है-यथा

नृत्तेन चापराः क्लान्ताः पानविप्राहतास्तथा । मुरजेषु मृदङ्गेषु पीठिकासु च संस्थिताः।[4]

महाकवि कालिदास ने भी मृदङ्ग वादन का वर्णन अनेक अवसरों पर किया है- यथा- रघुवंश में राजा अग्निवर्ण के वर्णन में[5] राम के अयोध्या लौटने[6] एवं अयोध्या की विलासिनियों के जलक्रीडा के वर्णन में[7] एवं महाराज कुश के वर्णन सन्दर्भ में[8] तथा उत्तरमेघ में।[9] श्री हर्ष को भी मृदंग की मंगलध्वनि रूचिकर लगती थी, तभी तो उन्होंने इस वाद्य का अनेक अवसरों पर वर्णन किया है यथा बारात वर्णन में, दमयन्ती एवं उसकी सखियों के मनोरंजन में। स्वयंवर वर्णन प्रसंग में नैषधकार द्वारा मृदङ्ग का वर्णन तो यह तथ्य स्पष्ट करता है कि भीम महल मङ्गल मृदङ्गों की ध्वनि से गुञ्जायमान हो रहा था। यथा-

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्ग निनादभङ्गीसर्वांनुवाद विधि बोधितसाधुमेधाः ।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डिततत्वम् ।।[10]

(2) ढोलक (काहलवाद्य):-

सङ्गीतसार में उपलब्ध विवरण से यह पता चलता है कि मध्यकालीन ढोलक को ही प्राचीन काल में पटह नाम से सम्बोधित किया जाता था। अहोबलरचित संगीतपारिजात के अनुसार भी पटह का अर्थ ढोलक है। पटहढोलक इति भाषायाम्"। कुछ विद्वानों ने इसे भेरी जाति का वाद्य माना है। यह लकड़ी से बना तथा चमड़े से मढ़ा होता है। ढोल या ढोलक की लोकप्रियता का कारण यह है कि यह लोकसंगीत तथा शास्त्रीय सङ्गीत दोनों के लिए उपयोगी है। इसका उल्लेख पुराण महाभारत, तथा रामायण में मिलता है। यथा रामायण के सुन्दरकाण्ड में पटह (ढोलक) का उल्लेख दृष्टव्य है।[11]

---

1. यद्यत् कुर्यान् मुरजे प्रहारजातं यतिप्रचारेषु । अनुगतोऽक्षरवृत्तं तदैव ग्राह्यं तु पणवेऽपि ।। नाट्यशास्त्र, 34/90
2. निगदन्ति मृदङ्गं तं मर्दलं मुरजं तथा। प्रोक्तं मृदङ्गशब्देन मुनिना पुष्करत्रयम्।। संगीतरत्नाकर, वाद्याध्याय पेज-1027
3. संगीतरत्नाकर टीका, पेज- 459, एवं भारतीय संगीतवाद्य पेज- 88 में उद्धृत।
4. रामायण, सुन्दरकाण्ड 11/596
5. कामिनी सहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ।। रघुवंश 19/5
6. तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः ।
वियदगतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखरा करोति ।। रघुवंश 13/40
7. तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोतेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ।। रघुवंश 16/64
8. रघुवंश 16/13, 14
9. उत्तरमेघ-5,
10. नै० 11/6
11. पटहं चारूसर्वाङ्गीन्यस्य शेते शुभस्तनी- रामायण- सुन्दरकाण्ड 10/39

सुषिरवाद्यः

जो वाद्य मुख की वायु द्वारा बजाये जाते हैं, वे सुषिरवाद्य कहलाते हैं। इन वाद्यों में उपलब्ध विवरों या छिद्रों में वादक अपनी संगीततान की सफलता हेतु अपनी अंगुलियां रखकर या हटाकर, अर्थात् वायु वेग को कम या अधिक कर स्वर को ऊँचा नीचा कर लेते हैं। अहोवल प्रणीत 'सङ्गीतपारिजात' में प्रमुखतः सुनादी (शहनाई) मुरली, पावा, श्रृङ्ग, नागसर, कहली, मुखवीणा, वक्री, तुन्दकनी, चंग, शंख, पत्रिका स्वर सागर एवं सङ्गीतरत्नाकर में वंशी, पावा, पाविका, मुरली, काहल, तुण्डकिनी, चुक्का, श्रृङ्ग, शंख, तथा सङ्गीतदामोदर में वंशी, पारी, मधुरी, तित्तरी, शङ्ख, काहल, मुरली, चुक्का, श्रृंग, सिंगा, कापालिकवंशी एवं तूर्यवंशी जैसे सुषिर वाद्यों का वर्णन मिलता है।

नैषधीयचरित के अध्ययन से यह विदित होता है कि श्रीहर्ष वाद्यों के तृतीय भेद सुषिरवाद्य से भी परिचित थे।[1] भीम महल में वररूप में नल के आने पर घड़ी, घंटे, वीणा, ढोल एवं मृदङ्ग के साथ-साथ शहनाई (सुषिरवाद्य) की ध्वनि गूंजने लगी। वाद्यों की ध्वनियों का विश्लेषण करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि वीणा की ध्वनि को वंशी की ध्वनि ने आच्छादित नहीं किया, न वंशी की ध्वनि को गायकों ने, न गायकों को खञ्जरी ने, न खञ्जरी के शब्द को मृदङ्ग ने न मृदङ्ग की ध्वनि को नगाड़े ने और न नगाड़े की ध्वनि को ढोल ने, और न ढोल की ध्वनि को नगाड़े ने आच्छादित किया या दबाया।[2] स्पष्ट है कि सभी वाद्यों की ध्वनि उस समय कुण्ठिनपुर में सुनायी पड़ रही थी। सुषिर वाद्य के अन्तर्गत तूर्य (तूरही) का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं कि भीममहल के द्वार पर मङ्गल वाद्य बज रहे थे। अनुराग के कारण मन में नल की स्थिति से उल्लास को प्राप्त हुए स्वागत के प्रश्न को पूंछती हुई तुरही के शब्द से युक्त वह द्वार भूमि केले के दो द्वार खम्भों के वायु से हिलते पत्तों से लम्बे नीचे घांघरे से विभूषित दमयन्ती की सखी के समान मालूम होती थी।[3] शंख का बहुविध चित्रण करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि राजा नल ने भगवान विष्णु की पूजा करने के बाद उन्हें नैवेद्य अर्पित किया एवं शंखों में जल लेकर उनकी अर्चना की।[4] विष्णु के शंख- पाञ्चजन्य का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष अभिहित करते हैं कि एक हाथ में जलोत्पन्न पाञ्चजन्य शंख को लेकर हे प्रभो विष्णु! आप असुरों से यह कहते हैं कि असुरो, देखो यह अचेतन शंख मुझसे निर्विरोध रहता है, फिर तुम लोग तो चेतन प्राणी हो, क्यों नहीं अपने होश दुरुस्त रखते।[5] शंख को नैषधकार ने कामदेव का विजयशङ्ख[6] एवं उसकी आकृति विशाखा नक्षत्र[7] के समान प्रतिपादित की। इस प्रकार नैषधकार ने सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से सुनादी (शहनाई) वंशी, तूर्य (तुरही), एवं शंख का भी वर्णन किया। इनके वर्णन से सुस्पष्ट है कि श्रीहर्ष सुषिरवाद्यों से भी परिचित थे।

---

1. अवापुरुच्चैः सुषिराणि राणितामभानद्धमियत्तयाध्वनीत्। नै० 15/16 उत्तरार्द्ध।
2. विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्न ने प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि झर्झरैः ।
   न ते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया न मर्दलैः सापि न तेऽपि ढक्कया ।। नै० 15/17
3. श्लथैर्दलैः स्तम्भयुगस्य रम्भयोश्चकास्ति चण्डातकमण्डिता स्म सा ।
   प्रियासखीयास्य मनः स्थितिस्फुरत्सुखागत प्रश्नितत्तूर्य निःस्वना ।। नै० 16/8
4. नाल्पभक्तबलिरन्ननिवेद्यैःस्तस्य हारिणमदेन सकृष्णः ।
   शङ्खचक्र जलजातवदर्चः शङ्खचक्रजलपूजनयाभूत् ।।नै० 21/45
5. पाञ्चजन्यमधिगत्य करेणापाञ्चजन्यमसुरानिति वक्षि ।
   चेतनाः स्थ किल पश्यति किं नाचेतनोऽपि मयि मुक्तविरोधः ।। नै० 21/98
6. स्मरस्य कम्बुः किमयं चकास्ति दिवि त्रिलोकीजयवादनीयः ।
   कस्यापरस्योडुमयैः प्रसूनैर्वादित्रशक्तिर्घटते भटस्य ।। नै० 22/21
7. किं योगिनीयं रजनी रतीशं यादजीजिवत्पद्ममूमुहश्च ।
   योगर्द्धिमस्या महतीमलग्नमिदं वदत्यम्बरचुम्बि कम्बु ।। नै० 22/22

''नैषधीयचरित में उपलब्ध सुषिर वाद्यों की शास्त्रीय मीमांसा''

(1) शहनाई (सुनादी) :

प्राचीन काल में इस वाद्य को सुनादी नाम से जाना जाता था, जैसा कि सङ्गीतपारिजात मे उपलब्ध वर्णन से ज्ञात होता है। इसका प्रयोग शास्त्रीय सङ्गीत में प्रमुख रूप से होता है। दक्षिण भारत में देवालयों में बजने वाले वाद्य तूर्य अथवा कर्नाटकीय नागस्वरम् एवं शहनाई तथा नफीरी (ईरानी वाद्य) एक दूसरे से मिलते जुलते सुषिर वाद्य हैं जिसका महाकवि कालिदास ने भी वर्णन किया है।[1] शहनाई का स्वर अत्यन्त मधुर होता है। यह उत्तर भारत का माङ्गलिक वाद्य है, जिसका प्रयोग पुत्रजन्मोत्सव एवं विवाहादि अवसरों पर दृष्टिगोचर होता है। जब दुन्दुभि के साथ शहनाई अथवा नफीरी का वादन होता है, तो उसे "नौबत" कहते है। मध्यकाल में राजप्रासादों तथा जागीरदारों के यहाँ नौबतरवाना होता था, जहां समय-समय पर नौबत का वादन सम्पन्न किया जाता था।[2]

(2) वंशी-

यह प्राचीन सुषिर वाद्य है। इसका विवरण ऋग्वेद[3] एवं काठकसंहिता[4] में 'नादी' से मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें से सात स्वर निकलते थे, अर्थात्, इसमें सात छिद्र होते थे क्योंकि सामगान तथा सप्त स्वरों के प्रादुर्भाव के साथ ही ऐसी वंशी निर्मित की गयी जिसमें सप्तक के सभी स्वरों का वादन सम्भव था। वैदिक साहित्य के उल्लेख के अनुसार वीणा की तंत्रियों को स्वर में मिलाने के लिए वंशी के स्वरों का ही आधार लिया जाता था।[5] वंशी प्रमुख रूप से बांस की बनायी जाती थी। किन्तु चन्दन की लकड़ी, खैर की लकड़ी, हाथी दांत, लोहा, कांसा, चाँदी, सोना, किसी से भी यह निर्मित की जा सकती है। एकवीर वंशी में नव रंध्र होते थे। सङ्गीतरत्नाकर एवं संगीतसार में वंशी के 14 भेदों का वर्णन मिलता है- यथा-उमापति, त्रिपुरूष, चतुर्मुख, पञ्चवक्त्र, षण्मुख, मुनिराज, वसु, नाथेन्द्र, महानन्द, रुद्र, आदित्य, मनु, कलाविधि एवं अन्वर्थ। महाभारत एवं श्रीमद्भागवत् से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण बंशी बजाने में माहिर थे। महाकवि कालिदास ने भी कुमारसम्भव में वंशी की उत्पत्ति का अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है । यथा-

यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ।।[6]
ज्वलति मवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु, स्फुटति पटुनिनादः शुष्कवंशस्थलीषु ।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धि क्षणेन, ग्लपयति मृगवर्ग प्रान्तलग्नो दवाग्निः ।।[7]

---

1. - ययात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः ।
   प्रासादयातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्पयर्णव एव सुप्तम् ।। रघुवंश 6/56
   - सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिःस्यनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
   न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ।। रघुवंश 3/19
   - ततोगणैः शूलभृतः पुरोगैरूदीरितो मङ्गलतूर्यघोषः- कुमारसम्भव 7/40
   - कुमारसम्भव में कालिदास ने तूर्य अथवा तुरही के अङ्कम, आलिङ्गम तथा ऊर्ध्वक नामक भेदों का भी वर्णन किया-यथा-
   ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्कमालिङ्गयोर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन ।
   सुसन्धियन्धं मनृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ।। कुमारसम्भव 11/13
2. भारतीय सङ्गीतवाद्य- पेज- 77
3. ऋग्वेद 10/135/7
4. काठकसंहिता 23/4/34/5
5. यः सामगानां प्रथमः स्वरः स वेणोर्मध्यमः। नारदीय शिक्षा, 5/1
6. कुमारसम्भव 1/8
7. ऋतुसंहार - 1/25

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः, संसक्ताभिस्त्रिपुर विजयोगीयते किन्नरीभिः।
निह्रादस्ते मुरजइव चेत्कन्दरेषु ध्वनिःस्यात् सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्रभावी समग्रः।।[1]

वंशी का एक प्रकार मुरली भी है, जो बांस को बनी होती है एवं उसमें 4 छिद्र होते हैं। इसकी रसीली आवाज होती है जैसा कि सङ्गीत लाकर में उल्लेख मिलता है।[2]

(3) तूर्य (तुरही) -

प्राचीन काल में प्रचलित यह वाद्य मांगलिक एवं युद्धादि अवसरों पर बजाया जाता था। कालिदास ने तूर्य (तुरही) का वर्णन करते हुए मंगल तूर्य[3] युद्ध तूर्य तथा याम तूर्य[4] (प्रहर सूचनार्थ) का उल्लेख किया है। कालिदास ने माङ्गलिक कार्यों में तूर्य वादन के साथ नृत्य के होने का विवरण दिया है। यथा-रघु के जन्म पर वाररमणियों ने प्रमोद "नृत्य" किया, जिसमें अत्यधिक उच्च स्वर में तूर्य वादन भी हो रहा था।[5] कुमारसम्भव में भी अप्सराओं के नृत्य के साथ विविध प्रकार के तूर्यों के वादन मिलते हैं।[6] इसका आकार लम्बे धतूरे के सदृश होता है, एवं मुख का व्यास क्रमशः बड़ा होता चला जाता है जो अन्त में खिले हुए पुष्प के आकार का हो जाता है। इसमें सात स्वरों के रन्ध्र बनायें जाते हैं। दक्षिण भारत विशेषकर कर्नाटक में विवाह, उत्सव तथा यात्रादि शुभावसरों पर इसी की आकृति का वाद्य "नागस्वर" (कर्नाटक स्वर) होता हैं। इन दोनों वाद्यों में फूंक एवं अधर सञ्चालन से अनेक प्रकार के ध्वनि स्वरों के वर्णालंकार प्रस्तुत किये जाते हैं।

(4) शङ्ख-

इस सुषिर वाद्य की परम्परा वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक देखी जा सकती है। प्राचीन काल में इसका प्रचलन मांगलिक कार्यों यथा पूजा, अनुष्ठान, यज्ञ, विवाह के साथ-साथ युद्धादि कार्यों में भी होता था। रामायण एवं महाभारत में शङ्ख वादन का उल्लेख प्रायः भेरी, मृदङ्ग तथा पणव वादन के साथ मिलता है।[7] युद्ध में प्रत्येक सेनापतियों के शङ्ख अलग-अलग होते थे इनके नाम भी भिन्न-भिन्न थे जैसा कि गीता के प्रथम अध्याय में श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य, अर्जुन के देवदत्त, भीम के पौण्ड, युधिष्ठिर के अनन्त विजय, नकुल के सुघोष तथा सहदेव के मणिपुष्पक नामक शंख का उल्लेख मिलता है।[8] इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में शंख का विशेष महत्व था। युद्ध का प्रारम्भ एवं अन्त शङ्ख (की आवाज) वादन से ही होता था। परन्तु मध्यकाल एवं आधुनिक काल में विज्ञान की उन्नति के कारण युद्धादि के अवसर पर शंख वादन लुप्त हो गया। अब शंख केवल माङ्गलिक अवसरों पर ही बजाया जाने लगा है।

---

1 पूर्वमेघ -60

2. हस्तद्वयाधिका माने मुखरन्ध्रसमन्विता । चतुःस्वरच्छिद्रयुता मुरली चारुनादिनी ।। सङ्गीतरत्नार- 6/786

3. सुखश्रया मङ्गलतूर्यनिःस्वनाः, प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः, पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ।। रघुवंश 3/19

4. ययात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो, मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः ।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः, प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ।। रघुवंश 6/56

5. रघुवंश 3/19

6. ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन ।
सुसन्धिबन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ।। कुमारसम्भव 11/36

7. ततो भेरीमृदङ्गानां पणवानां च निःस्वनः ।
शङ्खनेमिस्वनोन्मिश्रः सम्बभूव घनोपमः ।। रामायण 'युद्धाकाण्ड' 44112
भेरीपणवशशङ्खानां मृदङ्गानां च निःश्वनः । महाभारत, अरण्यपर्व 132/1
भेरीमृदङ्गपणवैः शङ्खवेणू च निःश्वनैः । महाभारत उद्योगपर्व, 78/16

8. पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः। पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मावृकोदरः ।।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। नकुलोसहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।। श्रीमद्भगवद्गीता-1/15-16

पण्डित अहोवल का कथन है कि प्रायः शंख, बारह अंगुल का होता है, जिसमें बदरीफल के बीज के बराबर मुख का छिद्र होता है। शङ्ख की प्राप्ति समुद्र से होती है। यह सामुद्रिक जीव का एक ढांचा है। शङ्ख की दो जातियाँ दक्षिणावर्त एवं वामावर्त होती हैं, जिसमें दक्षिणावर्त जाति के शङ्ख बहुत कम मिलते हैं, इसके विषय में यह मान्यता प्रचलित है कि भगवान विष्णु ने शङ्खासुर को मारकर उसे अपने हाथ में स्थापित कर लिया, इस प्रकार शङ्ख (दक्षिणावर्त) को उन्होंने अपना कर आयुध बना लिया जिससे इसकी प्राप्ति दुरूह हो गयी। धार्मिक कार्यों में शङ्ख की समीचीनता आज भी दृष्टिगत होती है अर्थात् भारतीय धार्मिक क्षेत्र में शङ्ख की समीचीनता के उदाहरण आज भी देखे जा सकते हैं। संगीतरत्नाकर, संङ्गीतपारिजात एवं सङ्गीतसार इत्यादि ग्रंथों में भी शंख का विवरण मिलता है। कालिदास ने भी कुमार कार्तिकेय के जन्मोत्सव एंवं राजकुमारी इन्दुमती के स्वयंवर प्रसङ्ग में एवं ऋतुसंहार में शङ्ख वादन का वर्णन किया है।[1]

घनवाद्य –

किसी वस्तु से ठोकर लगाकर या (वाद्य सेवाद्य को) आहत करके (आघात से) बजाये जाने वाले वाद्यों को घनवाद्य कहते हैं। कांस्यताल आदि घनवाद्य हैं। सङ्गीतपारिजात में ताल, कांस्यताल, घण्टा, क्षुद्रघण्टिका, जयघण्टा कांस्यशुक्ति, जलतरङ्ग, काष्ठताल, एवं घट्ट इत्यादि प्रमुख घनवाद्यों का विवरण मिलता है।[2] संगीतशास्त्र के अन्य ग्रंथ सङ्गीतदामोदर में करताल, कांस्यताल, जयघण्टा, धुतिक, कम्बिका, पटवाद्य, पट्ताल, छंच, घर्घर, भण्डूका, ताल, मजीरा इत्यादि घनवाद्यों का विवरण मिलता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में घनवाद्यों का विवरण नहीं दिया। नैषधीयचरित में चारों वाद्यों में घन वाद्य का भी उल्लेख मिलता है।[3] श्रीहर्ष ने घनवाद्यों के विविध प्रकारों में केवल झंझरी[4] एवं घुंघरू का वर्णन किया, जिसे प्राचीनकाल में कांस्यताल के नाम से जाना जाता था। ये घनवाद्य प्रायः कांसा, पीतल, एवं लकड़ी के बने होते थे। प्राचीन काल से लेकर बारहवीं शताब्दी (श्रीहर्ष तक) इन वाद्यों का अधिक महत्व था, किन्तु आगे चलकर इनकी महत्ता क्षीण होने लगी केवल लोकसंगीत जैसे भजन, फाग (होलीगीत) इत्यादि में ही विशेष रूप से इनका प्रयोग होने लगा। मध्यकाल के बाद शास्त्रीय संगीत में इनके प्रयोग की उपादेयता प्रभावशाली नहीं रह गई।

नैषधीयचरित में उपलब्ध प्रमुख घनवाद्यः-

(1) कांस्यताल (झर्झर) -

श्रीहर्ष ने मध्यकाल में प्रचलित प्रमुख घनवाद्य झर्झर का उल्लेख किया है। जिसे प्राचीन काल में 'कांस्यताल' या ताल नाम से भी अभिहित किया जाता था। सङ्गीतशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों यथा-मानसोल्लोस, सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार, संगीतरत्नाकर, सङ्गीतसमयसार, सङ्गीतसुधा, सङ्गीतसार प्रभृति

---

1. – गम्भीरशंखध्वनिमिश्रमुच्चैगृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रणेदुः ।
   दिवौकसां व्योम्नि विमानसंघा विमुच्य पुष्पप्रचयान्प्रसस्रुः ।। कुमारः 11/38
   – पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्य हेतौ ।
   प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे ।। रघुवंश 6/9
   – व्योम क्वचिद् रजतशंङ्खमृणालगौरैस्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।
   संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदै राजेव चामरवरैरुपवीज्यमानः ।। ऋतुसंहार 3/4
2. सङ्गीतपारिजात 6/13-14
3. तदा निसस्वानतमा घनं घनं ननादं तस्मिन्नितरां ततं ततम्।। नै० 15/16 पूर्वार्द्ध।
4. विपिञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि झर्झरैः ।
   न ते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया, न मर्दलैः सापि न तेऽपि ढक्कया ।। नै० 15/17

ग्रंथों में कांस्यताल का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे इस वाद्य की विशिष्टता प्रमाणित होती है। कुछ संस्कृत ग्रंथों में इसे झल्लरी, झर्झरी एवं झर्झर नाम से अभिहित किया गया है, एवं सङ्गीतदामोदर में कांस्यताल को झाँझताल नाम दिया गया है। झर्झर के विभिन्न रूप जैसे, झांझ, झालर, मजीरा का विवरण मध्यकालीन साहित्य में प्राप्त होता है। सङ्गीतसार के अनुसार मध्यकाल में जयघण्टा को झालर भी कहते थे। मध्यकाल का जयघण्टा एवं झालर आज के घड़ियाल के समान थे, जिनका वादन मन्दिरों में शोभायात्रा के समय तथा अन्य उत्सवों में प्रायः किया जाता है। वर्तमान में कांस्यताल, झालर, झाँझ, मजीरा, आदि विभिन्न रूपों भारत के विविध प्रदेशों में दृष्टिगोचर होते हैं।[1] सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार कांस्यताल (झर्झर, झंझरी, खंजरी की आकृति कमलिनी पत्र के समान होती थी, एवं यह कांस्यधातु से निर्मित होती थी।[2] तेरह अंगुल का इसका ब्यास होता था। इसके मध्य में दो अंगुल प्रमाण की गोलाई तथा एक अंगुल प्रमाण की गहराई वाली नाभि होती थी। इसके मध्य में एक छिद्र होता था, जिसमें पृथक-पृथक डोरी डालकर अन्दर की ओर से गाँठ लगा दी जाती थी, एवं ऊपर से उसी डोरी में वस्त्र लपेटकर इसी डोरी से इस प्रकार बांध देते थे कि उसे दोनों हाथों की मुट्ठियों में आसानी से पकड़ा जा सके। ध्यातव्य है कि इस वाद्यपत्र उसी के समरूप दो भाग होते थे दो भागों में दोनों हाथों में समरूपाकृति में करके दोनों को एक दूसरे में आहत कर बजाया जाता था, उसी तरह जैसे कि दोनों हाथों से ताली बजायी जाती है। महाकवि कालिदास द्वारा मेघदूत में यक्षिणी द्वारा कङ्कण की मधुर झनकारों से युक्त करताल (तालियाँ) बजाकर मयूर के नचाये जाने का उल्लेख कितना चित्ताकर्षक है। यथा-

तालैः शिञ्जावलयशुभगैर्नर्तितः कान्तया मे, यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः।।[3]

(2) क्षुद्रघण्टा अथवा घुंघरू-

इसे संगीतशास्त्रीय ग्रंथों में कंकण, घर्घरिका, मर्मरा, क्षुद्रघंटिका एवं नूपुर नाम से भी अभिहित किया गया है। लोहा, कांसा, पीतल इत्यादि धातुओं के प्रयोग से इस वाद्य का निर्माण किया जाता है। इच्छित आकार के गोले बनाकर बीच से चीरकर उनमें एक-एक गोली, जिसका आकार अंगूर से लेकर बेर तक होता है, उन्हें गोले के बीच में डाल दिया जाता है। नृत्य के समय मालाकार रूप में यह पैरों में पहना जाता है। घोड़े एवं बैलों के गले में भी नृत्य किये जाने वाले घुंघरू से बड़े आकार के घुंघरू बांधे जाते है। श्रीहर्ष ने क्षुद्रधण्टा को नर्तकियों द्वारा अपनाये जाने का वर्णन किया। यथा-

यत्रवैणरववैणवस्वरैर्हुंकृतैरूपवनीपिकालिनाम् । कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यतां कुब्जितं सुरतकूजितं तयोः ।।[4]

संगीतरत्नाकर में क्षुद्रधण्टा का वर्णन निम्न रूप में प्राप्त होता है-

तेक्षगालकगर्भाः स्युः कांस्योद्भवपुटद्वया ।।
सुघनाः सूक्ष्मजातीय बदरीबीजसंमिताः । शिरः सुषिरविन्यस्तरज्जवः क्षुद्रघण्टिका ।।
तांश्च घर्घरिका लोके भाष्यन्ते मर्मरास्तथा । ताभिर्घर्घरभेदानां कृतिः पेरणिनर्तने ।।[5]

कालिदास ने भी नूपुर नाद का वर्णन करते हुए ऋतुसंहार में अभिहित किया-

---

1. भारतीय सङ्गीतवाद्य- पृष्ठ - 112
2. कांस्यजे घनवाद्ये स्यात्कांस्यमग्नौ सुशोभितम् । कांस्यजमिति धनवाद्यस्य सौभान्यलक्षणम् ।। संगीत रत्नाकर वाद्याध्याय पृ०- 489। भारतीय संगीत वाद्य, पृ०-113 से उद्धृत।
3. उत्तरमेघ-श्लोक-99 उत्तरार्द्ध।
4. नै0 18/17
5. संगीतरत्नाकर- वाद्याध्याय, पृ0- 1187-1189

काशांशुका विकचपद्मनोज्ञवक्त्रा, सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ।।[1]

जिस प्रकार नर्तकी के घुंघरूओं की सुमधुर ध्वनि मन एवं हृदय को आह्लादित कर देती है, ठीक उसी तरह हंस-रव का अनुकरण करने वाली नायिका के नूपुरों की सुमधुर ध्वनि किस श्रोता के चित्त को सकाम नहीं बना देती। यथा-

नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितैः र्नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः ।
पदे-पदे हंसरुतानुकारिभि-र्जनस्य चित्तं क्रियते समन्मथम् ।।[2]

नूपुरों की ध्वनि एवं काञ्ची के क्वणन में घुंघरूओं की झनकार का आनन्द भी कालिदास के विवरण में दर्शनीय है। यथा-

असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु क्वणितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु ।
अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचितः ।।[3]

नृत्य

नैषधकार ने संगीतशास्त्र की इस तीसरी विधा का भी नैषध में वर्णन किया है। नृत्य शब्द की निष्पत्ति नृत्+क्त या क्यप् के संयोग से होती है। ताल, लय और रस के अनुसार विलासपूर्वक अंगों के विक्षेप करने के व्यापार को नृत्य या नृत्त कहा जाता है। ताल, लय तथा रस के अनुसार किये जाने वाले नृत्य (नाच) के दो प्रधान भेद होते हैं। तांडव एवं लास्य, ये शिव एवं पार्वती द्वारा किये गये नृत्य हैं। परन्तु अग्नि पुराण में नृत्य के बारह भेदों का विवरण मिलता है[4] जब कि अन्यत्र नृत्य के 3 भेद माने गये हैं।[5] श्रीहर्ष ताण्डव नृत्य का वर्णन बाइसवें सर्ग में नल दमयन्ती द्वारा सन्ध्या वर्णन प्रसंग में किया है। यथा –

महानटः किं नु सभानुरागे संध्याय संध्यां कुनटीमपीशाम् ।
तनोति तन्वा वियतापि तारश्रेणिस्रजा सांप्रतमङ्ग! हारम् ।।
भूषास्थिदाम्नस्त्रुटितस्य नाट्यात्पश्योडुकोटीकपटं वहद्भिः ।
दिग्मण्डलं मण्डयतीहखण्डैः सायंनटस्तारकराट्किरीटः ।।[6]

साथ ही नल ने दमयन्ती से कहा कि प्रिये, देखो, सन्ध्या समाप्त कर भगवान भूतनाथ जब ताण्डव[7] नृत्य में लीन होते हैं, उस समय उनके पादप्रहार से कैलाश पर्वत की स्फटिक शिलाएँ चूर्ण-चूर्ण हो जाती हैं और ये उन्हीं शिलाओं के टुकड़े आकाश में तारों के रूप में सुशोभित हो रहे हैं।[8] नैषधकार के

---

1. ऋतुसंहार 3/1
2. वही 1/5, एवं 3/27, 4/4
3. ऋतुसंहार, 3/26
4. चेष्टाविशेषमप्यङ्गप्रत्यङ्गे कर्म चानयोः । शरीरारम्भमिच्छन्ति प्रायः पूर्वोवलाश्रयः ।।
   लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् । मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितन्तथा ।।
   विकृतं क्रीडितं केलिरिति द्वादशधैव सः । लीलेष्ट जनचेष्टानुकरण संवृतक्षये ।। अग्निपुराण 341/1....3
5. नाट्यं नृत्यं तथा नृत्तं त्रिविधं नर्तनम् स्मृतम्।
6. नै0 22/7, 8
7. करणैरङ्गहारैश्च प्राधान्येन प्रवर्त्तितम् । तण्डूक्तमुद्धतप्रायप्रयोगं ताण्डवं मतम्।। संगीतरत्नाकर 7/31
8. संध्यावशेषे धृतताण्डवस्य चण्डीपतेः पत्पतनाभिघातात्।
   कैलासशैलस्फटिकाश्मखण्डैरमण्डि पश्योत्पतयालुभिर्द्यौः।। नै०22/15

विवरणनुसार ताण्डवनृत्य सान्ध्यकालीन नृत्य प्रतीत होता है। श्रीहर्ष ने स्पष्ट रूप से "लास्य नृत्य[1] का वर्णन तो नहीं किया, किन्तु प्रतीक रूप में उन्होंने इस नृत्य की भी संसूचना दी है।[2] संभवतः यह मध्यान्ह नृत्य था। उन्होंने नर्तकियों द्वारा किये जाने वाले नृत्य का वर्णन करते हुए अभिहित किया कि प्रासाद में नलदमयन्ती की रतिक्रीडा में हुई अव्यक्त मधुर शब्द ध्वनि, वीणा तथा वंशी की मधुर ध्वनि, वाटिका के कोकिल तथा भ्रमरों की गुञ्जारों एवं नर्तकियों के कंकण आदि आभूषणों के परस्पर शिञ्जन के कारण बाहर सुनायी नहीं पड़ती थी।[3] मृदङ्ग इत्यादि वाद्यों के साथ नृत्य होने की अभीप्सा श्रीहर्ष को मान्य थी। यथा-

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वानुवाद विधिबोधितसाधुमेधाः ।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डव पण्डितत्वम् ।।[4]

उपर्युक्त नृत्यों के साथ-साथ श्रीहर्ष ने सामूहिक नृत्य का भी उल्लेख किया है।[5] संभव है उनके समय में इस नृत्य की समीचीनता विद्यमान रही हो। श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती कवि कालिदास ने भी नृत्य का मनोहारी वर्णन किया हैं। यथा- राजा दिलीप के पुत्र रघु के जन्मोत्सव में।[6] पूर्वमेघ में कालिदास द्वारा किये गये नृत्य के विवरण की साख की महत्ता की इयत्ता को आज तक कोई विद्वान अतिक्रमण नहीं कर पाया। यथा-

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कार धूपैर्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा लक्ष्मी पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ।।[7]

~~पादन्यासैः~~

पादन्यासैः क्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतैः रत्नछायाखचितवलिभिश्चामरैः। क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दूनामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ।।[8]
पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्र नागाजिनेच्छां शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः ।।[9]

मालविकाग्नि मित्र में भी कालिदास ने मालविका के गीत एवं नृत्य को परिब्राजिका द्वारा निर्दोष एवं पवित्र होने का विवरण दिया, जहाँ परिव्राजिका कहती है कि मैंने तो जो कुछ देखा उसे निर्दोष एवं पवित्र पाया क्योंकि गीत की सभी बातों का ठीक-ठीक अर्थ अंगों के अभिनय से पूर्ण रूप से दिखा दिया गया। इनके पैर भी लय के साथ चल रहे थे, फिर गीत के रस में भी वे तन्मय हो गयी थीं। हस्त

---

1. लास्यं तु सुकुमाराङ्गं मकरध्वजवर्धनम्।। संगीतरत्नाकर, 7/32
2. नै० 21/127, शिखिलास्यलाघवात् नै० 1/102
3. यत्र वैणरववैणवस्वरैर्हुंकृतैरुपवनीपिकालिनाम्। कंकणालिकलहैश्च नृत्यतां कुब्जितं सुरतकूजितं तयोः ।। नै० 18/17
4. नै० 11/6 -अन्याअपि नर्तक्यो मङ्गलमृदंगनिनादभङ्गीनामनुवादेन स्वीयं नृत्तकौशलं हस्ताद्यभिनयेन लोकेषु प्रदर्शयन्ति। नै० 11/6 में नारायण की टीका
5. विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
   वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः।। नै० 1/102
6. सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सहवारयोषिताम् ।
   न केवलं सद्मनि मागधीपतेःपथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ।। रघुवंश 3/19
7. पूर्वमेघ -36
8. पूर्वमेघ -39
9. पूर्वमेघ -40

सञ्चालन द्वारा किया गया अभिनय सुकुमार था। उसके अनेक प्रकार एक दूसरे की सहायता करते रहे, सर्वत्र समान राग का दृश्य बना रहा।[1]

नैषधकार ने नृत्य के साथ-साथ अभिनय द्वारा मनोविनोद करने के विवरण भी नैषध में दिये हैं। छठे सर्ग में नल जब देवदूत बनकर कुण्डिनपुर के अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं तो देखते हैं कि दमयन्ती सहित उनकी सखियों के सरस विलास चल रहे थे। वहाँ कोई सुन्दरी (सखी) दमयन्ती का रूप धारण किये थी, एवं कोई नल का रूप धारण किये हुए, किसी अन्य सखी के कण्ठ में धात्री द्वारा लायी हुई मधूक माला, लज्जा का अभिनय करती हुई डाल रही थी।[2] वहीं किसी सुन्दरी के हाथ पर सारिका (मैना) बैठी थी सखियों ने उसे जो पाठ पढ़ाया था, सारिका उसी को सुना रही थी "दमयन्ती, यह देखो नल हैं। सखि दुःख न करो"। वही पर खड़े हुए नल चौंक पड़े कि कहीं मैं देख तो नहीं लिया गया।[3] साथ ही अन्य विविध प्रकार के अभिनयों एवं कृत्यों से उस समय दमयन्ती का अन्तःपुर हास-परिहास सहित विलासों में प्रवृत्त था।[4] सङ्गीतशास्त्र से सम्बन्धित उपर्युक्त सभी विवरणों से यह अनुभूति होती है कि श्रीहर्ष की इस शास्त्र में अप्रतिमगति थी।

---

1. वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्यहस्तं नितम्बे कृत्वा श्यामाविट्पसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
   पादाङ्.गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं नृत्तांदस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्।। मालविकाग्नि मित्र 2/6
   अङ्गैरन्तर्निहित वचनैः सूचितः सम्यगर्थः पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
   शाखायो निर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ।। मालविकाग्निमित्र 2/8
2. यत्रैकयालीकनलीकृतालीकण्ठे मृषाभीमभवीभवन्त्या । तदृक्पथे दौहदिकोपनीता शालीनमाधायि मधूकमाला ।। नै० 6/61
3. एतं नलं तं दमयन्ति। पश्य त्यजार्तिमित्यालिकुलप्रबोधान् ।
   श्रुत्वा स नारी करवर्तिसारीमुखात्स्वमाशङ्कत यत्र दृष्टम् ।। नै० 6/60
4. नै० 6/62.............72

अष्टम अध्याय

नैषधीयचरितम् में शिल्पशास्त्र एवं वास्तुशास्त्रीय संदर्भ

शिल्प शास्त्र

कला (ललितकला, यान्त्रिक कला) आदिकर्म (वात्स्यायन के मत से नृत्य, गीत, वाद्य, पाक, वास्तु, संगीत कामक्रिया आदि चौंसठ कलाएँ) शिल्प कहे जाते हैं। कला विषय पर चाहे वह ललित हो या यांत्रिक पर किया गया विवेचन शिल्पशास्त्र कहलाता है। अर्थात् शिल्पशास्त्र उस शास्त्र विशेष को कहा जाता है, जिसमें सम्पूर्ण (चौसठ) कलाओं के ज्ञान की प्रभूत रूप में विषय सामग्री वर्णित हो। नैषधीयचरित में चौसठ कलाओं में कुछ को छोड़कर सभी का यथेष्ठ वर्णन मिलता है, जिसमें कामक्रिया, पाकक्रिया, संगीत, वास्तु आदि का पूर्व में विवेचन किया जा चुका है। यहाँ शिल्पशास्त्र के अन्तर्गत केवल चित्रकला, तथा कुछ अन्य महत्वपूर्ण कलाओं का विवेचन किया जायेगा। महाभारत में उपलब्ध विवरण से नल की शिल्पशास्त्रज्ञता का परिचय मिलता है जहाँ कर्कोटक नाग के कथनानुसार बाहुक रूपधारी नल राजा ऋतुपर्ण से कहते हैं कि हे राजन्! इस जगत में जितनी शिल्पविद्याएँ हैं मैं उन सब में निष्णात हूँ। अतः आप मुझे सेवक रख लीजिए[1] एवं राजशेखर सूरि के वृतान्त से श्रीहर्ष की शिल्पशास्त्र में दक्ष होने की पुष्टि मिलती है, जहाँ राजा जयन्तचन्द्र की पत्नी सूह व देवी के कहे जाने पर श्रीहर्ष ने उपानह निमार्ण कर स्वयं की इस शास्त्र में भी गति रखने की जानकारी दी।[2] नैषध में भी श्री हर्ष के कथन से उनकी शिल्पशास्त्र में जानकारी होने की पुष्टि मिलती है, जहाँ वह दमयन्ती को कामदेव द्वारा निर्मित मानते हैं न कि ब्रह्म द्वारा।[3] भीम महल एवं नल प्रासाद में जो मणियाँ जड़ित की गयी थी वह शिल्प कर्म (कारीगरी शिल्प) था, जिसका अनेकशः चित्रण नैषधकार ने द्वितीय सर्ग एवं अठारहवें सर्ग में किया है।[4] वास्तु शास्त्र के अन्तर्गत इस तथ्य का विवरण विस्तार से किया गया है। बारहवीं शताब्दी के प्रतिष्ठित विद्वान् श्रीहर्ष ने शिल्पकारी के अन्तर्गत मूर्ति निर्माण की बात तो नहीं की किन्तु उन्होंने नैषध के इक्कीसवें सर्ग में राजानल के देर्वाचना प्रसंग में देवमूर्तियों से सजे देवालय की चर्चा हैं, जिसमें सूर्य[5] शंकर[6] (की स्फटिक मणि निर्मित प्रतिमा), विष्णु[7] गरूणध्वजः[8] गौरी[9] इत्यादि देवमूर्तियों के होने का विवरण मिलता है।

शिल्पशास्त्र के वर्णन विषय में यदि ऐतिहासिक तथ्यों के सन्दर्भों को लिया जाय तो यही निष्कर्ष निकल कर सामने आता है कि वैदिक संस्कृति में तो यज्ञों को प्रधानता थी क्योंकि उस समय "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते" अथवा रूपं प्रतिरूपो बभूव की अवधारणा का ही बोल बाला था। अतः उस समय शिल्पशास्त्र की इस विधा (मूर्ति निर्माण) का प्रचलन नहीं के बराबर था। हाँ उस समय काव्य शिल्प

---

1. यानि शिलपानि लोकेऽस्मिन् यच्चैवान्यत् सुदुष्करम् ।
   सर्वं यतिष्ये तत् कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ।। महाभारत नलपर्व 67/4
2. एकदा ससत्कारमाकारितः श्रीहर्षः। भणितश्च-त्वं कः? श्रीहर्षः कलाससर्वज्ञोऽहम्। राज्याऽयाभाणि तर्हि मामुपानहौ परिधापय। को भावः यद्ययं न वेदिम इति भणति द्विजत्वात्तर्हि अज्ञः। श्रीहर्षेणांगीकृतम्। गतोनिलयम्। तरूवल्कलैस्तथा तथा परिकर्मितैः सायं लोलाक्षः सन् दूरस्थः स्वामिनीमाजूहवत्। चर्मकार विधिनोपानहौ पर्यदीधपत्, अभ्युक्षणं निर्क्षिपध्वं चर्मकारोऽमिति वदन्। राजशेखरसूरि-प्रबन्धकोशे-श्रीहर्ष कविप्रबन्ध, पृ० 59
3. अस्याः स चारूर्मधुरेव कारुः श्वासं वितेने मलयानिलेन ।
   अमूनि सूनैर्विदधेऽङ्गकानि चकार वाचं पिकपञ्चमेन ।। नै० 10/130
4. नै० 2/74 -- 109 18/3-- 34
5. नै० 21/32
6. नीलनीररुहमाल्यमर्थी स न्सस्य तस्य गलनालविभूषाम् ।
   स्फाटिकीमपि तनुं निरमासीन्नीलकण्ठपदसान्वयतायै ।। नै० 21/36
7. नै० 21/42
8. नै० 21/46
9. नै० 21/121

(काव्यग्रंथ) के होने का वर्णन अवश्यमेव मिलता है। बौद्ध भी प्रतिमाओं के पूजन के विरूद्ध थे, एवं जैनों की भी बौद्धों जैसी अवधारणा थी, परन्तु कालान्तर में इन दोनों सम्प्रदाओं में मूर्ति शिल्प विधा का प्रचलन हो गया। अजन्ता की चित्रकला एवं मथुरा शैली में निर्मित महावीर एवं गौतमबुद्ध की उपलब्ध प्रतिमाएँ इसका प्रमाण हैं। ऐतिहासिक क्रम में नन्द एवं मौर्य युग से पत्थर पर बनी एवं उकेरी (चित्रित) मूर्तियों से शिल्प का प्रारम्भ होता है। दूसरे शब्दों में मौर्य, युग एवं गुप्त युग, जिसे इतिहास में श्रेण्य युग की संज्ञा दी गयी है, काव्य शिल्प एवं नाट्य सभी का उत्कर्ष, काल था। राजपूत काल में भी इसकी समृद्धता के प्रमाण मिलते हैं, परन्तु मुगल आक्रमण काल में इस कला का कुछ अवसान हुआ पुनः सल्तन्तयुग में यह कला अपने चरम शिखर पर पहुँच गयी, ताजमहल, एवं अकबर निर्मित विभिन्न किले आज भी उस समय प्रचलित इस कला की समृद्धता की कहानी कहते हैं। वर्तमान बीसवीं शताब्दी में भी विभिन्न पुलों भवनों एवं पार्कों के निर्माण में इस कला की चरम स्थिति देखी जा सकती है। श्रेण्य युग के शिल्पशास्त्रों के प्राचीनतम ग्रंथ तो लुप्तप्राय हैं, परन्तु नाट्यशास्त्र, दत्तिलम्, अग्नि पुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, प्रतिमान लक्षण एवं चित्रसूत्र आदि कुछ प्राचीन ग्रंथ उस युग के शास्त्रीय प्रमाण के रूप में शेष बचे हैं, इनमें नाट्यशास्त्र ओर विष्णु धर्मोत्तर पुराण ही इस युग के शिल्पशास्त्रीय प्रतिनिधि ग्रंथ कहे जा सकते हैं। देवी भागवत, दुर्गासप्तशती, रूपमंडन, सुप्रभेदागम में भारतीय मूर्तिशिल्प का, विशेषकर दुर्गा का वर्णन मिलता है साथ ही हरिवंश पुराण, मनुस्मृति एवं महाभारत में भी शिल्पशास्त्र सम्बन्धित कुछ संदर्भ भी प्राप्त मिलते हैं।

शिल्प एक कला भी है, जिसकी पुष्टि ब्राम्हण वात्स्यायन द्वारा दिये गये चौंसठ कलाओं में से एक होने से होती है।[1] कला शब्द का प्रयोग चारों वेदों,[2] शाङ्ख्यायन ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण शतपथब्राह्मण तैत्तरीय आरण्यक, उपनिषद[3] भागवत पुराण[4] एवं मनुस्मृति[5] में भी उपलब्ध है। भरतमुनि ने ललित कला के अर्थ में जिस "कला" शब्द का प्रयोग किया है उस अर्थ के लिये प्राचीन ग्रंथों में 'शिल्प' शब्द प्रयुक्त मिलता है[6] पाणिनिकृत अष्टायध्यायी में प्रयुक्त 'शिल्पी' कारुशिल्पी एवं चारुशिल्पी पद उपयोगी तथा ललित उभयविध कलाओं से सम्पन्न महानुभावों के सूचक हैं। कौष्तिकि ब्राह्मण[7] में गीत एवं नृत्य शिल्प रूप में उल्लिखित हैं। कालिदास ने भी इस अर्थ में शिल्पशब्द का प्रयोग किया है।[8] शिल्प की इस विधा (संगीत सम्बन्धी) का संगीतशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है। नैषधकार ने शिल्प की एक विद्या चित्रकला का यथेष्ठ रूप से चित्रण किया है। हंस दमयन्ती को अपने विश्वास में लेने के लिए कहता है कि जिस तरह तुम नल विरह से व्यथित हो, उसी तरह नल भी तुम्हारे बिना, भित्ति पर अलंकृत तुम्हारे

---

1. वात्स्यामन-कामसूत्र 1/3/15
2. यथा कलां यथा शपं यथा ऋणं संनयामसि- ऋ0 8/47/16
3. प्राचीदिक् कला। दक्षिणादिक् कला। उदीचीदिक् कला। एष सौम्य! चतुष्कलः पादो ब्राह्मणः प्रकाशवान्नाम सयएतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्राह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिन् लोके भवति। प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति। य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्राह्मणः प्रकाशवानित्युपास्तु।-कामसूत्र पृ० 94 पर उद्धृत।
4. विसर्गरत्यभिजल्पशिल्पाः - भागवत 5/11/10
5. शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः - मनु० 9/259
6. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला । नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।
   सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च । अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया -कृतम् ।। नाट्यशास्त्र 1/116,117
7. कौशीतकि ब्राह्मण-29/5
8. पात्रंविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं ब्रजति शिल्पमाधातुः ।
   जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ।। मालविकाग्निमित्र 2/6

चित्र को सादर अपलक नेत्रों से देखने (तुम्हारे विरह से व्यथित होने) के कारण अश्रुप्रवाह से उसके नेत्र रक्तवर्ण हो जाते हैं।[1] एवं दमयन्ती के द्वारा निर्देशित चित्रकार ने भी नल का चित्र बनाया। –

प्रियं प्रियांच त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते।।[2]

चित्रकला के क्षेत्र में षडंगों को प्रसिद्धि प्राप्त है, वे हैं,

रूपभेदः प्रमाणानि भावलावण्य योजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडगकम् ।।

इन षडंगों की आधुनिक विद्वान् अवनीन्द्रनाथ ने विस्तृत व्याख्या की है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी चित्रकला से सम्बन्धित निर्देश मिलता है। यथा–

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां तु विचक्षणाः ।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः ।।

स्पष्ट हैं कि रेखा वर्तना,वर्ण अनुपात ह्रास और वृद्धि आदि चित्र लेखन के प्रसिद्ध साधन माने जाते हैं। नैषधकार की उक्ति भी उपर्युक्त तथ्य से साम्य रखती है। यथा-

क्रमाधिकामुत्तरमुत्तरं श्रियं पुपोष यां भूषणचुम्बनैरियम् ।
पुरः पुरस्तस्थुषि रामणीयके तया बबाधेऽवधि बुद्धिधोरिणः।।[3]

महाकवि कालिदास ने भी अपने महनीय ग्रंथों में चित्रकला का वर्णन किया है।[4] चित्रकला विषयक भवभूति के वर्णन की चारुता का कहना ही क्या?[5] इन कवियों की वर्णित चित्रकला विषयक सन्दर्भ लावण्य एवं सौन्दर्य के प्रतिमान माने जा सकते हैं। लावण्य के बारे में कहा जाता है -

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावाण्यमिवोच्यते ।।

नैषधकार के चित्रकला विषयक सन्दर्भों को यदि ध्यान से परखा जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है प्राकृतिक दृश्यो के शब्द चित्रण[6] के अनुपात में उन्होंने व्यक्ति चित्रण को ही प्रधानता दी है। ध्यातव्य है कि चित्रकला की प्रमुख विधाएँ आलेखन, प्राकृति चित्रण दृश्य चित्रण, पदार्थ चित्रण, सन्दर्भ चित्रण, तथा व्यक्ति चित्रण हैं। इनमें व्यक्ति चित्रण का शीर्षस्थ स्थान भी है साथ ही चित्रण की कुशलता का अन्तिम सोपान भी है। उपयुर्क्त वर्णनों से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में जहाँ चित्रकला विधाओं का विशदवर्णन

---

1. नै० 3/103,104
2. नै० 1/38
3. – नै० १५/४९
   – किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनामफ-शाकु. 1/20
4. यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
   तथापि तस्या लावण्य रेखया किञ्चिदन्वितम् ।।
   स्विन्नांगुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
   अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ।। शाक् 6/14,15 एवं 17,18 भी द्रष्टव्य है।
5. – एतानि तानि गिरिनिर्झरिणीतटेषु, वैखानसाश्रिततरूणि तपोवनानि। उ०रा० 1/25
   – सोऽयं शैलः ककुभसुरभिर्माल्यवान्नाम यस्मिन्नीलः स्निगध श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः।
   विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि प्रत्याकृतः पुरनिव स मे जानकी विप्रयोगः ।। उ0रा0 1/33
6. नै० 22/9---- 148 ।

उपलब्ध है वहीं व्यक्ति चित्रण की कला पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। संस्कृत वांङमय में इसे अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। यथा– धनपालरचित 'तिलकमंजरी' में व्यक्ति चित्रण के लिए 'प्रतिबिम्ब चित्र' का प्रयोग हुआ है तो हर्षदेव ने नागानन्द नाटक में इसे 'सादृश्यचित्र' की संज्ञा दी, सोमेश्वर ने 'मानसोल्लास' में 'विद्धचित्र', विष्णुधर्मोत्तर पुराण के 'चित्रसूत्रम्' नामक प्रकरण में 'सत्यचित्र', कादम्बरी में 'सच्चरित चित्र' फारसी में शवीह्, एवं आंग्ल भाषा में इसे पोर्ट्रेट नाम दिया गया है। संस्कृत साहित्य में व्यक्ति चित्रण की मूलभूत विशेषता सादृश्य पर विशेष प्रकाश डाला गया है। चित्रसूत्रम् में सत्यचित्र जिसका प्रयोग व्यक्तिचित्र के लिए किया गया है, उसमें सादृश्य को प्रधान लक्षण माना गया है, चित्रै सादृश्यकरण परिकीर्तितम्, चित्रसूत्रम् का आशय यहाँ सादृश्य से व्यक्ति का साक्षात् प्रतिबिम्ब उतारना न होकर चित्रकार द्वारा चित्रित व्यक्ति के मनोगत भावों का समावेश करना है। हंस ने भी दमयनती के सामने नल की एवं नल के सामने दमयन्ती की उनकी मनोदशा के अनुरूप अपनी वाणी से उनका चित्र खींचा एवं अपने पंजो से उनका चित्रनिर्माण भी किया, जिससे दोनों एक दूसरे की मनोदशा को समझकर एक दूसरे से मिलन हेतु आकर्षित हुए। स्पष्ट है कि व्यक्तिचित्र केवल यन्त्राकृति सादृश्य नहीं है वह मनसाकृत होता है, तब तो आधुनिक काल में प्रचलित लैण्डस्केप, पोर्ट्रेट, स्टिल लाइफ, की विधाओं का चित्रकला से बहिष्कार ही कर देना चाहिए, चूँकि इन सभी स्थलों में कैमरे की यथार्थ निरूपण की शक्ति मानवीय हाथों से अधिक दृष्टिगोचर होती है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक दृश्य मानवीय आकृति या किसी एक क्षण की रूप स्थिति इन सबके चित्रण में परिप्रेक्ष्यगत विशेषता अपेक्षित होती है, किन्तु किस दृष्टि से कहाँ केन्द्र मानकर वस्तु या व्यक्ति के किन लक्षणों को उभारना है, किन की उपेक्षा करनी है इत्यादि निर्णय चित्रकार ही कर सकता है न कि कैमरा। चित्रकार व्यक्ति के रूप को अपने ध्यान में लाता है, उसके मनोगत भावों को हृदय गत करता है और फिर अपने चित्राकन में तूलिका के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, तभी व्यक्ति चित्र से सफलता की कोटि में ला सकता है। रूप का सादृश्य जब भाव के दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, तभी वह प्राणवान बनपाता है। वास्तव में चित्रकारिता जितना बाह्य प्रयत्न है उतना ही अभ्यन्तर दृश्य रूप के अन्तर्भूत कर दोनों का सामंजस्य चित्रफलक पर चित्रित करना ही चित्रकारिता का सर्वोच्च ध्येय है। डॉ० कुमारस्वामी भी व्यक्ति चित्रण में जीवित प्रतिमान का वास्तविक सादृश्य अपेक्षित मानते हैं, जिससे उसका उपयोग सामाजिक रूप में उपयोगी हो सके। शुक्रनीति के आचार्य चित्ररचना से पूर्व समाधिस्थ होकर प्रतिमान (मूर्ति या व्यक्ति) को सम्मुख रखकर सादृश्यपूर्ण चित्रण की आज्ञा देते हैं जैसा कि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में वर्णन किया है। छान्दोग्य उपनिषद् ने दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब और वास्तविक आत्मिभाव के अन्तर को सूक्ष्मता से वर्णन कर व्यक्ति चित्रकारों का मार्गदर्शन किया है।[1] मैत्रेय ने भी उत्ततंत्र में सफल व्यक्ति चित्र को रहस्यमय देह का सादृश्य माना है।[2] नैषधकार द्वारा निर्मित शब्द चित्र भले ही कल्पना पर आधारित लगते हों। परन्तु फिर भी वह पाठक को यह सोचने पर विवश कर ही देते हैं कि हंस ने एवं श्री हर्ष ने स्वयं नल एवं दमयनती की सुन्दरता का वर्णन किया है क्या सचमुच दोनों इतने सौन्दर्यशाली थे? हंस ने अपने पंजों से नल का जो चित्र बनाया था, वह तो दमयन्ती के मनमस्तिष्क में उतर ही गया था, तभी तो दमयन्ती ने दूत बन नल को यही वास्तविक नल हैं, ऐसा तुरन्त जान लिया।

---

1. छान्दोग्य उपनिषद् 8/815
2. उत्ततंत्र 88/99

काल एवं परिस्थिति बदलने के साथ साथ तत्युगानुरूप कलाओं के रूप विधाओं में भी परिवर्तन या निखार होना स्वाभाविक है। सर्वप्रथम आदि शिल्पी[1] तो ईश्वर (ब्रह्मा) ही थे, क्योंकि ईश्वर को कवि और सृष्टि को उनका काव्य कहा गया है, "पश्य देवश्य काव्यं न ममार न जीर्यति एवं कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थानव्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। इन वाक्यों से स्पष्ट है कि सही शिल्प रूपाकृति नहीं है वह आत्मकृति है "आत्मकृतिर्वैशिल्पम्" एवं मात्रा संख्यान, प्रमाण विनिश्चय, लक्षणनिर्धारण, आकार विन्यास इत्यादि शैल्पिक तत्व हैं। शिल्प की प्राचीनपरम्परा का उद्देश्य कभी भी दृश्याभास या अनुकरण नहीं था बल्कि देवादि विषयों का लक्षण एवं प्रमाण के अनुसार ऐसा निरूपण था जिसमें रूप तत्व सदा ही सांकेतिकता को ग्रहण किये रहता था, परन्तु आजकल की प्रचलित जनसाधारण धारणा है कि शिल्प क्रिया मुख्यतया रुप विधापन. या मूर्ति विधान है जिसमें दृश्य विषयों का अनुकरण प्रस्तुत होता है, सम्भवतः ऐसा उनके द्वारा परवर्ती शिल्प परम्परा को ठीक न समझने के कारण है। कलाएँ चाहे जैसी हों। जिस विद्या को ही, भारतीय संस्कृति की संवाहिकाएँ है। कलाएँ ही मानव मन को सुन्दर, प्राञ्जल एवं व्यवस्थित बनाती हैं। साथ ही यह तथ्य भी अवधार्य है कि कला का उद्देश्य भी भारतीय कला परम्परा में वही है, जो मानव जीवन का चरम उद्देश्य होता है अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति, जैसा कि विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा भी गया है कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।

पत्ररचना का भी नैषधकार ने बड़ी सुरूचिपूर्ण पदावली में वर्णन किया है।[2] नल जब देवदूत बनकर कुण्डिनपुर पहुँचते हैं तो देखते हैं कि दमयन्ती अपनी नखलेखनी से स्वर्णिम केतकी-कुसुम-दलों पर क्षण में श्याम वर्ण होते हुए अक्षरों में नल को प्रेमपत्र् लिख रही थी। चित्रकला में ख्यातिलब्ध दमयन्ती की सखी वैदर्भी का चित्र बना रही थी परन्तु आलेख्य पट पर दमयन्ती का लीला कमल चित्रित्र कर सकी किन्तु करकमल चित्रित न हुआ, उसी प्रकार कान का इन्दीवर तो बना लिया पर नयनेन्दीवर न बना पाई।[3] पत्र रचना के नैषध में अन्य प्रसंग भी मनोहारी हैं। यथा–

आलिख्य सख्याः कुचपत्रभंगीमध्ये सुमध्या मकरींकरेण ।
यत्रालपत्तामिदमालि! यानं मन्ये त्वदेकावलिनाकनद्याः ।।[4]
कपोलपत्रान्मकरात्सकेतुर्भ्रूभ्यां जिगीषुर्धनुषा जगन्ति ।
इहावलम्ब्यारित्त रतिं मनोभू रज्यद्वयस्यो मधुनाधरेण ।।[5]

---

1. मनुस्मृति के सृष्टि विद्या विषयक वर्णन की चार कोटियों के प्रतिपादक श्लोक इस प्रकार हैं–
   – प्रथम कोटि गुणातीत गुणात्पर पर ब्रह्म आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।। मनु० 1/5
   – द्वितीय कोटि स्वयंभू प्रजापति पुरूष
   ततः स्वयंभूर्भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयान्निदम्। महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ।
   योऽसावतिन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ।। मनु० 1/6,7
   – तृतीय कोटि आपः, नाराः महत्, परमेष्ठी
   सोऽमिद्धयाय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एवससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।। मनु० 1/8
   आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो नै नरसूनवः। मनु० 1/10
   – चतुर्थ कोटि है- अण्ड, सर्वलोकपितामह ब्रह्मा, त्रिगुणात्मक विश्व
   तदणुभवद्वैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।। मनु० 1/19
   ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः समृतः।-मनु० 1/10
   यन्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्। तद्विसृष्टः स पुरूषो लोके ब्रह्मेतिकीर्त्यते। मनु० 1/11
2. नैषध 3/118, 123, 128
3. दलोदले काञ्चनकेतकस्य क्षणान्मसीभावुकवर्णलेखम् ।
   तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमी नखलेखनीभिः ।।
   विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्याऽति विख्याऽतिभृतापि यत्र ।
   अशाकि लीलाकमलं न पाणिरपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव। ।। नै० 6/63, 64
4. नै० 6/69
5. नै० 7/60

उत्कण्टका विलसदुज्ज्वलपत्रराजिरामोदभागनपरागतनुऽतिगौरी ।
रुद्रक्रुधस्तदरिकामधिया नले सा वासार्थितामधृत काञ्चनकेतकीव ।।[1]
दत्ते जयं जनितपत्रनिवेशनेयं साक्षीकृतेन्दुवदना मदनाय तन्वी ।
मध्यस्थदुर्बलतमत्वफलं किमेतद्भुक्तिर्यदत्र तव भर्त्सितमत्स्यकेतोः।।[2]
पत्युर्गिरीणामयशः सुमेरुप्रदक्षिणाद्भास्वदनादृतस्य ।
दिशस्तमश्चैत्ररथान्यनामपत्रच्छटाया मृगनाभिशोभि ।।[3]

तत्कालीन समय के लोग चित्रकला में प्रवीण थे, इसका प्रमाण देते हुए श्री हर्ष कहते हैं कि कुण्डिनपुर वासियों ने नगर के भवनों की भित्तियों पर दमयन्ती का चित्र बना रखा था, दमयन्ती के चरित्रों को चित्रों में देखते हुए स्वयंवर में आये राजागणों ने अपने दिन व्यतीत किये,[4] उधर दमयन्ती भी चित्रकार द्वारा बनवाई गयी तस्वीर को देखकर अपने सपने बुनती थी।[5] इस प्रकार सजीव चित्रों का निमार्ण करने का वर्णन कर श्रीहर्ष ने यह संसूचना देनी चाही है कि उस समय भी कुशल चित्रकार विद्यमान थे। इस दिशा में दमयन्ती का कथन भी अवधेय है जब वह नल से कहती है- कि हंस ने मेरे प्रिय का जो चित्र अपने नखों से निर्मित किया था, वह आपके ही रूप के समान था। यथा–

तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी ।
नखैः किलाख्यायि विलिख्य पक्षिणा तवैव रूपेण समः स मत्प्रियः ।।[6]

यह तो स्वतः सिद्ध तथ्य है कि जिस भित्ति पर या जिस जगह चित्र बनाना होता है उसे जल या किसी अन्य लेप पदार्थ से साफ करने के बाद ही वहाँ पर चित्र बनाया जाता है।[7] इस तथ्य का नैषधकार ने भी प्रतिपादन करते हुए कहा है कि शत्रु (का चरित्र) की कीर्ति चाहे कितनी ही धवल (स्वच्छ) क्यों न हो, किन्तु उसके चरित्र में झूठे स्याही के दाग (अपयश) लगाने में भला कौन कसर छोड़ता है।[8] शिल्पशास्त्र में ही दाग छुटाने का वर्णन भी नैषध में मिलता है, जहाँ नल दमयंती से सन्ध्याकालीन दृश्य का चित्रण करते हुए कहते हैं कि प्रिये! देखो तो, रात्रि रूपी धोविन ने चन्द्रिका रूपी दूध की धारा से आकाश रूपी वस्त्र में लगे हुए अन्धकार रूपी कज्जल के दाग को क्षण भर में साफ कर दिया।[9] दाग छुटाने के लिये कलाकोष नामक ग्रंथ में विवरण मिलता है कि वस्त्र पर पड़े तेल के दाग (मल) को घी से, घी के मल को उष्ण जल से, कज्जलके दाग को दूध से तथा अन्य प्रकार के दागों को खारे उष्ण से धोना चाहिए।[10]

---

1. नै० 12/110
2. नै० 21/134
3. नै० 22/29
4. नै० 10/35
5. नै० 9/66, 143,155
6. नै० 9/66
7. अन्येपि शिल्पिनो जलधारा - क्षालिते रमणीये कड्डयादौष्मयादिवर्ण कैश्चित्रं लिखन्ति। नै० 20/136 नारायण की टिप्पणी।
8. धौतेऽपिकीर्तिधाराभिश्चरिते चारूणि द्विषः।
मृषामषीलवैर्लक्ष्म लेखितुं के न शिल्पिनः ।। नै० 20/136
9. अभिमृगेन्द्रोदरि! कौमुदीभिः क्षीरस्य धराभिरिव क्षणेन ।
अक्षलि नीली रुचिरम्बरस्था तमोमयीयं रजनीरजक्या ।। नै० 22/11
10. तैलं घृतेन, तच्चोष्णजलैर्दुग्धेन कज्जलम् ।
नाशयेदम्बरस्थं तु मलं क्षारेण सोष्मण ।। कलाकोष, नै० 22/111 टीका में नारायण की टिप्पणी

माला पिरोने का वर्णन भी नैषधकार ने सुरूचिपूर्ण शैली में करते हुए कहा कि दमयन्ती के भवन में कोई सुन्दरी सुई की नोक चुभाकर माला गूंथ रही थी, ऐसा लग रहा था कि जिन पुष्पों ने मदन वाण बनकर दमयन्ती के हृदय को क्षुब्ध किया था, मानो वह उन्ही से (अपनी सखी दमयन्ती का) प्रतिशोध ले रही थी, एवं दमयन्ती उसे ऐसा करने से मना कर रही है कि अरे! इस प्रकार तो तू ही इन कुसुम बाणों को गुण (डोरा या प्रत्यंचा) युक्त कर मदन को दे रही है। यथा-

स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षो यदक्षोभि रालुप्रसूनैः ।
सृजं सृजन्त्या तदशोधि तेषु यत्रैकया सूचिशिखां निधाय ।।
यत्रावदत्तामतिभीय भैमी त्यज त्यजेदं सखि! साहसिक्यम् ।
त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्से बाणान्प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ।।[1]

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के ग्यारहवें अध्याय में मालागूथते समय हाथ की होने वाली सूची मुखमुद्रा का उल्लेख किया है।[2]

शिल्प की एक विधा द्यूत क्रिया का वर्णन भी नैषधकार ने किया है। दमयन्ती एवं उसकी सखियों की सभा में पांशे का दाँव चल रहा था। दमयन्ती की सखी दमयन्ती को पाशे का ज्ञान कराती हुई कहती है कि–

शारीं चरन्तीं सखि! मारयैतामित्यक्षदाये कथिते कयापि ।
यत्र स्वघातभ्रमभीरूशारीकाकूत्थसाकूतहसः स जज्ञे ।।[3]

महाभारत से भी यह प्रमाणित होता है कि उन दिनों अक्षविद्या का प्रचलन था। नल को उसके भाई पुष्कर ने द्यूतक्रीड़ा में (कलि के सहयोग से) पराजित कर उसे राज्य से च्युत कर दिया था।[4] हालांकि नैषध में इसका उल्लेख नहीं मिलता। बाद में नल ने अक्षविद्या के जानकार राजा ऋतुवर्ण से सीखकर उसमें दक्ष होकर पुष्कर को पराजित कर अपना राज्य प्राप्त किया था।[5]

नैषधकार शिल्पशास्त्र की एक अन्य विद्या अभिनय का भी नैषध में उल्लेख किया है। नल देवदूत बनकर जब दमयन्ती के भवन में प्रवेश करते हैं, तो देखते है कि वहाँ दमयन्ती के सखियों के सरस विलास चल रहे थे कोई सखी दमयन्ती का रूप धारण किये हुए थी, तो कोई नल का रूप धारण किये हुए थी, एवं धात्री द्वारा लायी गयी मधूकमाला को दमयन्ती रूप धारिणी सखी, नल रूप धारिणी सखी के गले में लज्जा का अभिनय करती हुई डाल रही थी, एवं सारिका (को सखियों ने जो पाठ पढ़ा रखा था वह उसी को दुहराती हुई) कह रही थी, कि सखि दुःख न करो, यह देखो नल है। नल जो वहीं अमूर्त रूप में स्थित थे, चौंक पड़े कि कहीं मैं इन लोगों के द्वारा देखूं तो नहीं लिया गया।[6] नैषधकार का उपर्युक्त विवरण सर्वथा शास्त्र सम्मत ही है क्योंकि भरत के नाट्य शास्त्र के सातवें अध्याय में भी भाव विन्यासों के अभिनय का वर्णन मिलता है। यथा–

---

1. नै० 6/67, 68
2. नाट्य शास्त्र 11/20,21
3. नै० 6/71
4. महाभारत नलपर्व 59/1 --- 60
5. महाभारत नलपर्व 71/1--- 34, एवं 78/1---- 29
6. सखीशतानां सरसैर्विलासैः स्मरावरोधभ्रमावहन्ताम् ।
विलोकयामास सभं स भैम्यास्तस्य यप्रतोलीमणिवेदिकायाम् ।। नै० 6/58

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते । वागङ्गसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।।
वागंगमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च । कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ।।
नानाभिनयसंबद्धान्भावयन्ति रसानिमान् । यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।।
बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वांगङ्गाभिनयाश्रयाः । अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ।।
वागगांभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते । शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।।
लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः । अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः ।।[1]

इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में आठवें एवं नवें अध्याय में उपाङ्गाभिनय एव अंगाभिनय का भी विस्तार से विवेचन मिलता है।

श्री हर्ष ने हास परिहास एवं पहेली का भी वर्णन किया है, जो कि वात्स्यायन द्वारा दी गयी चौंसठ कलाओं की श्रृंखला की एक कड़ी हैं।[2] बीसवें सर्ग में नल दमयन्ती की रात्रिकालीन मदन क्रिया का वर्णन कर सखियों के सामने उसका परिहास कर रहे थे, तब दमयन्ती ने अपनी सखी के कान अपने हाथों से मूंद लिये, फिर दमयन्ती के पक्ष को ग्रहण करते हुए नल ने उसकी सखी कला के ऊपर जल फेंक दिया, जिससे उसके अंग झलकने लगे एवं उसका भी परिहास हुआ, तथा दमयन्ती को विभिन्न मुद्राओं से राजा नल ने किञ्चित् कुपित किया, तो उन्हें मनाया भी[3] (इसका विस्तार से वर्णन कामशास्त्रके अन्तर्गत किया जा चुका है।) स्पष्ट है कि श्रीहर्ष शिल्पशास्त्र से इस विधा के भी विज्ञ थे। भरत के नाट्यशास्त्र से भी इस विधा के शास्त्र सम्मत होने की पुष्टि मिलती है।[4]

शिल्पशास्त्र में स्त्रियों एवं पुरूषों के सौन्दर्य मण्डन हेतु अंगराग लेपन की चर्चा भी मिलती हैं। नैषधकार ने इसका वृहद् रूप में वर्णन किया है। दमयन्ती के स्वयंवर में सभी राजागण अपनी रूप सज्जा कर सभा मण्डप मेंआये ऐसा वर्णन नैषध में दशवें सर्ग में वर्णन मिलता है। सभी राजा अपने रूप सौन्दर्य को एक दूसरे से पूंछ-पूंछ कर, पुनः दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देख-देखकर पुनः अपना रूपमण्डन करते।[5] परन्तु फिर भी नल की सुन्दरता की समता के लिए वे पुनः उद्योग करते । नल तो प्रकृत्या सौन्दर्य की मूर्ति थे। किन्तु नल भी उत्तम अलंकारों के साथ-साथ कुंकुम चन्दन आदि अंगरागों को धारण कर ही स्वयंवर सभा में ससम्मान पधारे।[6] स्त्रियों के सौन्दर्य को संवारनेका वर्णन करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं कि विभिन्न आभूषणों एवं स्निग्ध लेपन इत्यादि से दमयन्ती परमसुन्दरी दिख रही थी, क्योंकि उसका श्रृंगार रूप सज्जा में चतुर उसकी सखियों द्वारा किया गया था। गोरोचन, चन्दन, कुंकुम तथा कस्तूरी के लेप

---

1. नाट्यशास्त्र-7/1--- 6
2. कामसूत्र 1/3/15
3. नै० 20/12 ----- 153
4. रतिर्नाम प्रमोदातिमका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरणभोजनवरभवना नुभषनाप्राति [illegible]दितिर्वि[illegible]वैः समुत्पद्यते। स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैः । "इष्टार्थ विषय प्रादया रतिः समुपजायेते । सौम्यत्वादभिनेया सा वांगमाधुर्यांगचेष्टितैः ।। 7/9
   ह्यसो नाम - परचेष्टानुकरण कूहकासंवद्धप्रलापपौरोभग्यमौख्योदिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तमभिन्येत् पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनूभावैः। भान्तिचात्र श्लोकः परचेष्टानुकरणाद्धास समुपजायते । स्मितहासातिछसितैरभिनेयः स पण्डितैः ।। 7/10 नाट्यशास्त्र पृ० 107-108
5. पूर्णन्दुमास्यं विदधुः पुनस्ते पुनर्मुखीचक्रुरनिद्रमब्जम् ।
   स्ववक्त्रमादर्शतलेऽथ दर्शंदर्श बभुज्जर्नलथातिमञ्जु ।। नै० 10/20
6. भूषाभिरूच्चैरपि संस्कृते यं वीक्ष्याकृत प्राकृतबुद्धिमेव ।
   प्रसूनबाणे विबुधाधि नाथस्तेनाथ साऽशोभि सभा नलेन ।।
   धृतांगरागे कलितद्यु शोभां तस्मिन्सभां चुम्बति राजचन्द्रे ।
   गतावताक्ष्णोर्विषयं विहाय क्व क्षत्रनक्षत्र कुलस्य कान्तिः ।। नै० 10/38,39

मणियों के आभा पड़ने से व्यर्थ ही सिद्ध हो रहे थे।[1] उस समय भी ललना सौन्दर्यमण्डन कीप्रथा थी, ऐसा राजा भीम के कथन से भी पुष्टि होती है। यथा-

सृजन्तु पाणिग्रहमंगलोचिता मृगीदृशः। स्त्रीसमयस्पृशः! क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनां तु वयं विदध्महे विधानिति स्माह च निर्ययौ च सः।।[2]

घर, दरवाजे सजाने जैसा कृत्य भी शिल्पशास्त्र के अन्तर्गत आता है। दमयन्ती के परिणय के समय भी भीममहल अत्यधिक मनोरम ढंग से सजाया गया था।[3] साथ ही कुण्डिनपुर की रमणियों द्वारा विवाह मण्डप में मंगलार्थक हल्दी चावल से चौक रचना की गयी।[4] स्पष्ट है कि उस समय की स्त्रियां भी शिल्पक्रिया विधान में दक्ष थीं। विवाह मण्डप में वर वधू को सजाने की परम्परा प्राचीन काल से अनवरत आधुनिक काल तक चली आ रही हैं। श्रीहर्ष भी दमयन्ती एवं नल के वरवधू रूप में सजारने संवारने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि समस्त कलाओं में चिरकाल से अभ्यास करने के कारण अत्यन्त कुशल सखियों नें दमयनती को वेदी पर ले जाकर क्षण में उसके प्रत्येक अंग का श्रृंगार किया।[5] वैसे तोअलंकरणों के बिना भी दमयनती स्वयं सुषमा की पराकाष्ठा थी, दमयन्ती का मुखमण्डल विभिन्न तिलकों एवं पुष्पों की छटा से दीप्तिमान था। किसी सखी ने सुगन्धित धूप के धूम से सुवासित करके दमयन्ती के कोमल केशपास कोमनोहर पुष्प मंजरी के समान गूंथा तो किसी सखी ने श्याम चवर के समान उसके कुंचित केशपाश को बाँधा। दमयन्ती केमस्तक पर स्वर्णमयी पट्टिका सुशोभित की गयी। विस्तृत नेत्रों में अपांगों तक फैलने वाले अञ्जन (रेखा रूप में) लगाया गया, कानों में आभरण रूप में दो इन्दीवर पुष्प एवं विभिन्न रत्न आभूषणों के साथ मणिखचित चन्द्राकार कुण्डल पहनाये गये, होंठो पर अरुण यावक राग (आलक्तक सदृश) जो चिकने पदार्थ के सम्मिश्रण से युक्त था लगाया गया जिससे वह सदा लगा रहे एवं चटकीला बना रहे, गले में सात लड़ियों का मुक्ताहार पहनाया गया। बाहु में शंख, (मंगलार्थक) निर्मित मंगल कंकण (कंगन) एवं चरणों में आलंक्तक, राग लगाया गया[6] सम्पूर्ण श्रृंगार विधियों से मण्डित करने के बाद दमयन्ती शोभा की पराकाष्ठा जैसी लगती थी। यथा-

क्रमाधिकामुत्तरमुत्तरं श्रियं पुपोष यां भूषणचुम्बनैरियम् ।
पुरः पुरस्तस्थुषि रामणीयके तया बबाधेऽवधिबुद्धिधोरिणः ।।[7]

वर रूप में नल को सजाने का वर्णन करते हूए नैषधकार अभिहित करते हैं कि श्रृंगार रचना में कुशल सेवकों ने महाराज नल का भी विवाहोचित श्रृंगार किया।[8] केश प्रसाधन में दक्ष पुरुषों ने बड़े विचार

---

1. स्निग्धत्वमायाजललेप लोपसयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम् ।
नेपथ्य हीराद्युतिवारिवर्तिस्वच्छाय सच्छाय निजालिजालाम् ।। नै० 10/94 एवं 95 --- 97
पीतावदातारुणनीलभासां देहोपदेहात्किरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचना चन्दनकुंकुममैणनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्तीम् ।। नै० 10/98 एवं 99 --- 110
2. नै० 15/7, एवं 15/26
3. मुखानि मुक्तामणितोरणोद्गतैर्मराचिभिः पान्थविलासमाश्रितैः ।
पुरस्य तस्याखिलवेश्मनामपि प्रमोदहासच्छुरितानि रेजिरे ।। नै० 15/13 एवं 10/31
4. क्वचित्तदालेपनदान पण्डिता कमप्यहंकारमगात्पुरस्कृता ।
अलम्भि तुंगासनसंनिवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयादरः ।। नै० 15/12
5. अवापितायाः शुचिवेदिकानूतरं कलासु तस्या सकलासु पण्डिता ।
क्षणेन सख्याश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः।। नै० 15/26
6. नै० 15/27 ---- 48
7. नै० 15/49 एवं 50 --- 56
8. तथैव तत्कालमथानुजीविभिः प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगैः ।
निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि विभोर्विभूषणः ।। नै० 15/57

एवं सावधानी के साथ उनके केशो का श्रृंगार कर उन्हें बाँधा, साथ ही मालती आदि के पुष्प केशों में लगाने के साथ अमूल्य रत्नों वाला मुकुट उन्हें पहनाया गया, ललाट पर वीरपट्टिका, जो रत्नखचित थी के पहनाने के साथ, तिलकबिन्दु भी भाल पर निर्मित किया गया, कानों में कुण्डल एवं गले में मोतियों की माला तथा बाहुओं में मुद्रिकाएँ एवं भुजबन्द आदि पहनाये गये। उस समय नल पृथ्वी पर साक्षात् कामदेव लग रहे थे।[1] नैषधकार ने भी अपनी अभीप्सा निम्न रूप में व्यक्त की -

वैदर्भीबहुजन्म निर्मिततपः शिल्पेन देहश्रिया ।
नेत्राभ्यां स्वदते युवायमवनीवासः प्रसूनायुधः ।।
गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारदुष्प्रापया ।
योगं भीमजयानुभूय भजतामद्वैतमद्यत्विषाम् ।।[2]

उपर्युक्त तथ्यों एवं पूर्व मेंव्याख्यायित पाक, वास्तु, अश्व, काम, इत्यादि शास्त्रों के प्रसंग से भी यह स्पष्ट होता है कि श्रीहर्ष शिल्पशास्त्रज्ञ थे। साथ ही यह भी विवरण मिलता है कि नल एवं दमयन्ती भी शिल्पशास्त्र की अनेकानेक विधाओं के ज्ञाता थे।

वास्तु शास्त्र

अमरकोश में 'वास्तु' शब्द के लिए 'वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्'[3] अभिहित किया गया है। वास्तु शब्द की निष्पत्ति वस् + तुण् + के संयोजन से होती है। किञ्चित् कविपण्डितों ने वास्तु शब्द की व्याख्या करते हुए कहा 'बसन्ति प्राणिनो यत्र' अर्थात् वह स्थान या भूमि जहाँ प्राणी (मानव) निवास करते हों (निवास भूमि) या घर बनाने की जगह या भवन भूखण्ड को वास्तु कहा जाता है।[4] मनुस्मृति में विवरण मिलता है कि "रवेरविषये वास्तु किं दीपः प्रकाशयेत्"।[5] शास्त्र जनसाधारण के लिए विधान बतलाने वाले धार्मिक ग्रन्थों को कहते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि वह स्थान जिस पर कोई इमारत खड़ी हो, साथ ही उससे सम्बद्ध जमीन, जमीन की जाँच, इमारत किस विधि से निर्मित की जाये, पूजालय, पचनालय (भोजनालय) स्नानघर, शय्यागृह किस दिशा में हो, इससे सम्बद्ध विषय का समस्त ज्ञान जो उचित क्रम में मानव ज्ञान का विषय बने, उसे वास्तुशास्त्र कहते हैं। नैषध में कविवर श्रीहर्ष ने महाराज भीम के (कुण्डिनपुर स्थित) महल विवरण प्रसङ्ग में[6] एवं निषदाधिराज नल के प्रसाद वर्णन प्रसङ्ग में[7] अपनी वास्तुशास्त्रविदग्धता का परिचय दिया है। वास्तुशास्त्र की प्राचीनता का पता इसी से प्रकट होता है कि इसका वर्णन ऋग्वेद में भी आया है।[8]

---

1. नै० 15/58 ------ 86
2. नै० 15/87
3. अमर कोश 2/3/19
4. संस्कृत हिन्दीकोश – वामन आप्टे–पृ० 923
5. मनुस्मृति 3/89
6. नै० 2/74 - - 109
7. नै० 18/3 - - 34
8. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः ।
   अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ।। ऋ. 1/154/6
   वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि - सायण ।

भवन विन्यास मानव सभ्यता एवं संस्कृति के अध्ययन में प्रमुख आधार रहा है। स्थापत्य कला का उत्कर्ष मानव समाज की सांस्कृतिक अभिरूचि एवं वैभव को प्रदर्शित करता है। भारत वर्ष में भवन निर्माण की कला प्राचीन काल से ही लोगों को ज्ञात थी, क्योंकि इस कला में मनुष्यों के दक्ष होने के प्रमाण - हड़प्पा एवं मोहनजादड़ो की सभ्यता के अध्ययन में प्रचुर रूप में उपलब्ध मिलते हैं, साथ ही सभी वैदिक संहिताओं में भी वास्तुकला के वर्णन के संदर्भ प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद संहिता के ''शालासूक्त'' में विशेष रूप से स्थापत्य (वास्तु) कला का वर्णन मिलता है एवं वास्तु विद्या के बीज भी अथर्ववेद में मिलते हैं क्योंकि अथर्ववेद से उद्भूत स्थापत्य वास्तुशास्त्र का उपजीव्य हैं, ऐसा भागवत महापुराण से प्रमाणित होता है। यथाहि -

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चितं व्यधात्क्रमात् ।।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः ।
स्थापत्यं चासृद् वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः ।।
इतिहास पुराणागि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एवं वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ।।[1]

स्थापत्य विद्या का पोषण ऋषियों द्वारा किया गया है क्योंकि मत्स्यपुराण में शिल्पशास्त्र के उपदेशक अठारह आचार्यों का वर्णन मिलता है। इन आचार्यों में मय एवं विश्वकर्मा अत्यधिक प्रसिद्ध थे। विश्वकर्मा औदीच्यपरम्परा के तथा मय दाक्षिणात्यपरम्परा के दीपस्तम्भ माने जाते हैं। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार प्रभावसु के पुत्र विश्वकर्मा देवगुरु वृहस्पति के भागिनेय एवं अपराजितपृच्छा के अनुसार भृगु (शुक्राचार्य) के भागिनेय थे। ये दोनों ऋषि शिल्पशास्त्र के महनीय उपदेशक थे। नल एवं नील के साथ अष्टावसुओं की ख्याति भी शिल्पज्ञ रुप में प्रथित है। आधुनिक वास्तुशास्त्रविद् टोडर महोदय ने कुछ प्रमुख वास्तुविदों के होने की संसूचना दी।

वास्तुशास्त्र गणित एवं ज्योतिष का प्रयोगात्मक (क्रियात्मक) विज्ञान है क्योंकि स्थापत्य की आधारभूता पृथ्वी सौरमण्डल के साथ सम्बद्ध है। सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों का प्रभाव इसके ऊपर परिलक्षित होता है। इसीलिए प्राचीनकाल से ही इस संसार में वास्तुप्रकल्पना में आयादिविचार,नक्षत्र-परीक्षा,लग्न,तिथि एवं दिनों का निर्धारण होता आया है। इस प्रकार अष्टाङ्गस्थापत्य में ज्योतिषशास्त्र का भी प्रमुख योगदान है। मापन वास्तुप्रकल्पना का आधार है। मापन के बिना सुष्ठुप्रकल्पना सम्भव नहीं है, एवं इस कार्य में गणितशास्त्र का प्रयोग होता है। वास्तु कर्म में ज्यामितिशास्त्र के अनुसार आकृति का निर्धारण होता है इसलिए वास्तुशास्त्र का एक अन्य सहयोगी शास्त्र गणित शास्त्र भी है। साथ ही देशचयन, भूमिपरीक्षण एवं शल्यशोधन में वास्तुशास्त्र के सहायक भूगोल, भूगर्भ इत्यादि शास्त्र भी हैं। इससे स्पष्ट है कि वास्तुशास्त्र का ज्योतिषशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्यामिति शास्त्र एवं भूगर्भशास्त्र से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

श्रीहर्ष ने नैषध के दशवें सर्ग में स्वयंवर प्रसङ्ग में राजमण्डल के बीच में सम्पूर्ण अलङ्करणों से अलङ्कृत दमयन्ती के आगमन पर उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए दमयन्ती के रुप निर्माण का शिल्पी बसन्त को बताया, क्योंकि उसने दमयन्ती की श्वांसों को मलय पवन का बनाया, एवं उसके अंगों को

1. श्रीमद् भागवत् 3/12/37, 38, 39

प्रसून निर्मित तथा वाणी को कोकिल के पंचम स्वर से निर्मित बताया।[1] साथ ही दमयन्ती की शरीराकृति को मदन (कामदेव) निर्मित बताया ब्रह्मा की नहीं, क्योंकि दमयन्ती का शिल्पी अन्य शिल्पकारों से पराभूत नहीं हो सकता, जबकि ब्रह्मा तो रुप निर्माण के विषय में एक मदन किंकर यौवन से पराजित हो जाते हैं।[2] ऐसा वर्णन समुपस्थापित कर श्रीहर्ष ने यह स्पष्ट रूप से संकेत दिया है कि वह शिल्पशास्त्र में भी, जो कि वास्तुशास्त्र का एक अंगभूत रूप है, उसमें भी वह पारंगत है। नैषधकार ने राजा भीम के राजप्रासाद एवं नल के राजप्रसाद वर्णन प्रसंग में यह तो नहीं बताया कि उनका राजप्रासाद वास्तुशास्त्र में प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर ही बना था, किन्तु यदि वास्तुशास्त्र की दृष्टि से शुभाशुभ विचार भीम नल के प्रासाद के बारे में किया जाय, तो यही तथ्य उभर कर सामने आता है कि निश्चय ही ये वास्तुशास्त्र सम्मतविधि से ही बनें होंगे क्योंकि विश्वकर्मा ने भी कहा था कि

प्रासादे सदनेऽलिन्दे द्वारे कुण्डे विशेषतः ।
दिङ्मूढे कुलनाशः स्यात्तद्वशात्साधयेद्दिशः ॥

जब कि भीम एवं नल दोनों नरेशों के उत्कर्ष का वर्णन महाभारत के साथ-साथ नैषध में भी मिलता है। नैषध में उपलब्ध वस्तुशास्त्रीय संदर्भों के जो चित्र मन में अंकेत होते हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि कवि को वास्तु शास्त्रीय ग्रंथों यथा-अग्निपुराण के ४१वें, ४२वें एवं १०४ वें अध्याय, मानसार, वृहत्संहिता के तिरपनवें अध्याय एवं समराङ्गणसूत्रधार में प्रतिपादित विषयसामग्री का यथेष्ठ ज्ञान था। जब हंस राजा नल का दूत बनकर कुण्डिनपुरी पहुँचा तो उसने देखा कि कुण्डिनपुरी के भवन निष्कलंक भित्तियों वाले एवं स्फटिक मणि से निर्मित थे।[3] तथा राजप्रासाद नीलममणि एवं सूर्यकान्तमणियों से निर्मित थे।[4] प्रासाद या गृह निर्माण हेतु उत्तम भूमि के बारे में मत्स्यपुराण में कहा गया है कि –

पूर्वादिं गृह्णीया द्वर्णानामनुपूर्वशः । वास्तुसामूहिको नाम दीप्यते यस्तु सर्वशः॥
शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च । हलकृष्टेऽथवा देशे सर्वबीजानि वापयेत् ॥
त्रिपञ्चसप्तरात्रेण यत्र रोहन्ति तान्यपि । ज्येष्ठोत्तमा कनिष्ठा भूर्वर्जनीयेतरामता ॥[5]

वराह ने भी भवन विन्यास हेतु उत्तम भूमि के बारे में अभिहित किया कि –

श्वभ्रोषितं न कुसुमं यस्मिन् प्रम्लायते तु वर्णसमम् ।
तत्तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन्न मनो रमते ॥
कुशयुक्ता शरबहुला दूर्वाकाशान्विता क्रमेण मही ।
अनुवर्णं वृद्धिकरी मधुरकषायाम्लकटुका च ॥

---

1. अस्याः स चारुर्मधुरेव कारुः श्वासं वितेने मलयानिलेन ।
अमूनि सूनैर्विदधेऽङ्कानि चकार वाचं पिकपञ्यचमेन ॥ नै० 10/130
2. कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पीतरकारुजेयः ।
रूपस्य शिल्पे वयसाऽपि वेधा निजीयते स स्मरकिङ्करेण ॥
गुरोरपीमां भणदोष्ठकण्ठं निरुक्तिगर्वच्छिदया विनेतुम् ।
श्रमः स्मस्यैव भवं विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाय ॥ नै० 10/131,132
3. दयितं प्रति यत्र संततारतिहासा इव रेजिरे भुवः ।
स्फटिकोपलविग्रहाः गृहाः शशभृद्भिनिरङ्कभित्तयः ॥ नै० 2/74
4. नृपनीलमणीगृहित्वषामुपधयेर्यत्र भयेन भास्वतः ।
शरणार्थमुवास वासरेप्यसदावृत्युदयत्मं तमः ॥ नै० 2/75
अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा खेखहद्वाणपुरीपरार्ध्यतरम् ॥ नै० 2/87
5. मत्स्यपुराण 253/15, 16, 17, 18

उपर्युक्त प्रासाद हेतु उत्तम भूमि से सभी वर्णन भीम एवं नल के राजप्रासाद से सम्बन्धित उपवन वर्णन प्रसंग में घटित होते हैं।[1] वराह ने भित्ति के बारे में वर्णन करते हुए लिखा है कि –

व्यासात् षोडशभागसर्वेषां सद्मनां भवेद्भित्तिः ।
पक्वेष्टकाकृतानां दारुमयानां तु न विकल्पः ।।[2]

अग्निपुराण में भी भित्तियों के परिमाप के बारे में सूचना मिलती है। यथा -

प्रतिमायाः प्रमाणेन् कर्त्तव्यापिण्डिकाशुभा ।
गर्भस्तु पिण्डिकार्द्धेनगर्भमानास्तुभित्तयः ।।
भित्तेरायाममानेन उत्सेधन्तु प्रकल्पयेत् ।
भित्युच्छ्रयात् द्विगुणं तुकल्पयेत् बुधः ।।

मणियों से निर्मित होने के कारण भीमप्रासाद की समीपस्थ भूमि एवं आकाश प्रासाद में प्रतिबिम्बित हो रहे थे। कुण्डिनपुरी नगरी एवं प्रासाद के चारों तरफ सुरक्षा के लिए चारों ओर दीवार एवं जल से भरी परिखाएँ विद्यमान थी।[3] जिससे वह नग जलाशय में प्रतिबिम्बित देवनगरी के समान सुशोभित हो रही थी साथ ही शत्रुओं से सुरक्षित भी थी। अग्निपुराण में भी प्रासाद एवं नगरी की सुरक्षा हेतु चारों ओर दीवार बनाने का वर्णन मिलता है। यथा -

नेमि पादोनविस्तीर्णा प्रासादस्य समन्ततः ।
परिधिस्त्रंयशको मध्ये रथकांस्तत्रकारयेत् ।।[4]

कुण्डिनपुर के महल गगनचुम्बी थे, अर्थात उनके शिखर अत्यन्त ऊँचे आकार में निर्मित थे। महल या प्रासाद के शिखर की ऊँचाई के बारे में अग्निपुराण मे कहा गया है कि –

"शिखरेण समं कार्यमग्रे जगति विस्तरम् ।
द्विगुणेनापि कर्त्तव्यं यथाशोभानुरूपतः" ।।[5]

भीम महल में स्थित पताकाएँ कशाताड़न की भांति सूर्य के अश्वों को लगतीं थीं अर्थात शिखरों में स्थित पताकाएँ दूर ऊँचाई तक लहरा रही थीं। भवनों के अधो, मध्य, तथा उर्ध्व भाग क्रमशः पाताल, भूलोक तथा आकाश के सभी चिन्हों सहित श्रेष्ठ अंशों द्वारा निर्मित किये गये थे। साथ ही राजमंदिर इतने विशाल एवं ऊँचे बने थे कि उनके कण्ठप्रदेश मेघखण्डों के स्पर्श केकारण श्यामवर्ण के दिखायी पड़ते थे।[6]

---

1. नै० 1/38 ------ 107, एवं 2/106 ------ 109
2. वृहस्संहिता 53/23
3. क्षण नीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोग पट्टया ।
   मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरिबाह्यमिज्यते ।। नै० 2/78
   विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुविम्बितेव या ।
   परिखाकपटस्फुटत्प्रतिविम्वानवलम्बिताम्बुनि ।। नै० 2/78
   परिवावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरः ।
   फणिभाषितभाष्यफक्किकाविषमा कुण्डलनामवापिता ।। नै० 2/95
4. अग्निपुराण - 104/7
5. अग्निपुराण - 42/5
6. लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
   श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ।।
   अमृतद्युति लक्ष्मपीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
   वलयायितशेषशायिनः सखितादितमादित् पीतवाससः ।। नै० 2/100,101 एवं 2/102,103

प्रासादों की भित्तियों एवं सतम्भों पर अत्यधिक रूपवती पुत्तलिकाएँ (शालभञ्जिकाएँ) निर्मित थी।[1] श्री हर्ष ने प्रासाद की आकृति रचना देखकर उसे स्वर्ग एवं पाताल से भी सुन्दर माना। यथा-

'बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः ।
अधराथ कृता ययेव सा विपरीताजनि भूविभूषया ।।[2]

कुण्डिन पुरी में स्थित बाजार का वर्णन करते हुए नैषधकार ने अभिहित किया कि वह सभी वस्तुओं से समन्वित थी।[3] नगरी के कनक प्राकार को सुमेरूगिरि सदृश तथा घनरत्न जटित कपाटों को उस गिरि के उभय पक्ष मानते हुए श्री हर्ष ने उसकी सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहा कि कुण्डिनपुरी ऐसी लग रही थी मानों अमरावती (स्वर्णपुरी) मान करके सुमेरू के अंक (गोद) को त्यागकर भूलोक चली आयी थी, अतः वह सुमेरू (यहाँ आकार प्राकार रूप में) उसका परिम्भण किये हुए निवास कर रहा था।[4] कुण्डिनपुर की भवन की अट्टालिकाओं की छतें चन्द्रकान्त मणियों से जड़ित थीं।[5] इस नगरी के राजमार्ग भी इस विधि से निर्मित थे कि यात्रियों को शिशिर की ठण्डी रातों में ठण्डी से एवं गर्मी के दिनों से पीड़ित नहीं होना पड़ता था।[6] अग्निपुराण मेंउल्लिखित वास्तु शास्त्रीय विवरण प्रासाद की स्थिति निर्धारण में अप्रतिम महत्व रखते हैं। यथा-

शिखरार्थं ही सूत्राणि चत्वारि विनिपातयेत् ।
शुकनाशोर्ध्वतः सूत्रं त्रिर्यगभूतं निपातयेत् ।।
शिखरस्यार्द्धभागस्थं सिंहंतत्र तु कारयेत् ।
शुकनासांस्थिरीकृत्यमध्यसन्धौ निधापयेत् ।।
अपरे च तथा पार्श्वे तद्वत सूत्रं निधापयेत् ।
तदूर्ध्वन्तु भवेद् वेदी सकण्ठा मनसारकम् ।।
स्कन्धभग्नं न कर्त्तव्यं विकरालं तथैव च ।
ऊर्ध्वश्च वेदिकामानात् कलशं परिकल्पयेत् ।।
विस्ताराद् द्विगुणं द्वारं कर्त्तव्यन्तु सुशोभनम् ।
उदुम्बरौतदूर्ध्वञ्चन्यसेच्छाखांङ्गसुमङ्लैः ।।
द्वारस्य तु चतुर्थां शोकार्यौचण्डप्रचण्डकौ ।
विश्वक्सेनवद्दण्डौशिखोर्ध्वोडुम्बरे श्रियम् ।।
दिग्गजैः स्नाप्यमानान्तां घटैः साब्जां सुरूपिकाम् ।
प्रासादस्य चतुर्थांशैः प्राकारस्योच्छ्रयोभवेत् ।।[7]

---

1. वहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्कवः ।
यदनेककसौधकंधरा हरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ।। नै० 2/83
स्तम्भों के बारे में वृहत्संहिता में कहा गया है कि –
"समचतुरस्त्रो रुचको वर्जोऽष्टास्त्रिर्द्विवज्रको द्विगुणः ।
द्वात्रिंशता तु मध्ये प्रलीनको वृत्त इति वृत्तः ।।"
स्तम्भं विभज्य नवधावहनं भागो घटोऽस्य भागोऽन्यः ।
पद्मं तथोत्तरोष्ठं कुर्याद् भागेन-भागेन ।।
स्तम्भसमं बाहुल्यं भारतुलानामुपर्युपर्यासाम् ।
भवति तुलोपतुलानामूनं पादप (? न) पादेन ।। – वृहत्संहिता 53/28 — 30
2. नै० 2/84
3. नै० 2/85,88,90,91,92
4. नै० 2/86,87,
5. नै० 2/89,
6. नै० 2/93,94
7. अग्निपुराण - 42/15 —— 21

नैषधकार ने भीमप्रासाद में एक अत्यधिक ऊँचे क्रीडागृह[1] का वर्णन करने के साथ-साथ स्त्रियों यथा दमयन्ती के क्रीडागृह[2] के होने का भी विवरण नैषध में दिया है। क्रीडागृह के साथ ही दमयन्ती का एक क्रीडावन एवं उपवन भी था जिसने हंस के चित्त को आकृष्ट किया था। दमयन्ती (स्त्री) के उपवन के साथ-साथ नल (पुरूष) का भी एक उपवन था, जो विविध प्रकार के वृक्षों, पुष्पों तथा फलों से समविन्त था।[3] कुण्डिनपुरी के प्रासाद में ही सखियों के हास परिहास के समय बैठने के लिए मणिजटित वेदिकाओं की वर्णन श्रीहर्ष ने किया[4] जो सर्वथा वास्तुशास्त्रानुरूप है, अग्निपुराण से भी प्रासाद में वेदिका के होने का निर्देश मिलता है यथा -

तृतीये वेदिका त्वग्नेः सकण्ठोमलसारकः ।
वैराजः पुष्पकश्चान्यः कैलाशोमणिकस्तथा ॥[5]

भीम प्रासाद में दमयन्ती का एक लीलागृह भी था, जिसमें दमयन्ती अपने मनोनुरूप सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य वाले किन्हीं दो प्रिय एवं प्रेयसी के चित्र बनवाने का आदेश चित्रकार को देती है।[6] निषधदेश एवं कुण्डिनपुरी दोनों में राजप्रासाद के साथ-साथ दमयन्ती का महल अलग-अलग था,[7] इसका अभिकथन भी श्रीहर्ष ने किया है स्पष्ट है कि उस समय स्त्री एवं पुरूषों के महल अलग-अलग हुआ करते थे। अग्निपुराण में भी प्रासाद में विभिन्न प्रकार के महलों का वर्णन उल्लिखित मिलता है। यथा –

प्रासादः प्रथमो मेरूर्द्वितीयो मन्दरस्तथा ।
विमानश्च तथा भद्रःसर्वतोभद्रएव च ॥
चरुको नन्दिको नन्दिर्वर्द्धमाननस्तथापरः ।
श्रीवत्सश्चेति वैराजान्ववाये च समुथिताः ॥
बलभी गृहराजश्च शालागृहश्च मन्दिरम ।
विशालश्च समो ब्रह्म मन्दिरं भुवनं तथा ॥[8]

प्रसिद्ध वास्तुविद् टोडरमल महोदय ने भी प्रासाद में सभी श्रेष्ठ पुरूषों के महल अलग-अलग होने का वर्णन किया है। यथा–''प्रथमतः उत्तममध्यमाधमादिभैदैः नृपस्य, महिष्याः, युवराजस्य,

---

1. स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं, पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलिताव्योमान एवाभवद्यन्न प्राप निमेषमप्रतरसा यान्ती रसाद्व्यनि ॥ नै० 2/104
2. वैदर्भीकेलिशैले मरकत शिखरादुत्थितैरंशुदर्भैर्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावापरड्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रैर्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्मते स्म ॥ नै० 2/105
3. – विधुकरपरिरम्भादात्मनिष्यन्दपूर्णैः शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलित जलसेकप्रकियागौरवेण व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ नै० 2/106
– ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स संमुखस्थांगुलिना जनाधिपः ।
निवेद्यमान वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननकामनीयकम ॥ नै० 1/38 एवं 39 ---- 107
4. सखीशतानां सरसैर्विलासैः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीम् ।
विलोकयाभास सभां स भैम्यास्तस्य प्रतोलीमणिवेदिकाम् ॥ नै० 6/58
5. अग्निपुराण - 104/11 एवं 42/17,18
दशधा · वेदिका कृत्वा पञ्चभिः स्कन्धविस्तरः ।
त्रिभि कण्ठः सुकर्त्तव्यं चतुर्भिस्तु प्रचण्डकम् ॥ अग्निपुराण 104/23
6. प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥ नै० 1/38
इ अग्निपुराण-104/16
7. नै० 6/57,20/1,21/1
8. अग्निपुराण 104/14 ------ 16

अनुजसामन्तसचिवाध्यक्षाधिकृतानाञ्च पञ्चगृहाणां चातुर्वर्ण्यस्य गृहाणां च प्रमाणपूर्वक वर्णन प्राप्यते''[1] राजप्रासाद में पतद्ग्रह (पीकदान)[2] के होने का निर्देश भी श्रीहर्ष ने किया है, जो स्वच्छता बनाये रखने का साधन था, साथ ही इससे यह भी ध्वनित होता है कि उस समय पान खाने का प्रचलन भी था।

श्रीहर्ष भीमप्रासाद के वर्णन के साथ-साथ नल के प्रासाद का वर्णन करते हूए कहते हैं कि उनका राज प्रासाद सुमेरुगिरि से भी बढ़कर था क्योंकि नल के गले में जो दिव्यमणियों की माला पड़ी थी, उसके प्रभाव से इच्छा मात्र करने पर वहाँ समस्त अभिलषित पदार्थ सुलभ हो जाते थे।[3] यहाँ इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि नल को सम्पूर्ण पदार्थ सुलभ थे, क्योंकि वह धर्मात्मा, दानवीर पराक्रमी एवं न्यायप्रिय राजा थे। नैषधकार ने प्रासाद वर्णन प्रसङ्ग में प्रासाद में दिशिक्रमानुसार स्थानों एवं वस्तुओं के स्थापना का विवरण तो नही दिया जैसा कि वशिष्ठ नें प्रासाद (गृह) में दिशिक्रमानुसार स्थानों के होने का निर्देश किया है। यथा-

ऐन्द्रयां दिशि स्थान (स्नान) गृहमाग्नेय्यां पव (?च) नालयम् ।
याम्यायां शयनंवेश्म नैऋर्त्यां शस्त्रमंदिरम् ॥
वारुण्यां भोजनगृहं वायव्यां धनमन्दिरम् । उदीच्यां हाटकं सद्म ईशान्यां देवमन्दिरम् ॥
ध्वजधूमहश्विाख्याः वृषगर्दभकुञ्जराः । ध्वांक्षश्चैते क्रमादायाः स्वस्थानस्थाः गृहे शुभाः ॥
इन्द्राग्न्योर्मथनं मध्ये याम्याग्न्योघृतमन्दिरम् । यमराक्षसयोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरम् ॥
राक्षसाम्बुपयोर्मध्यो विद्याभ्यासमन्दिरम् । तोयेशानिलयोर्मध्ये रोदनमन्दिरम् ॥
ततः कामोपभोगसदनं वायुकौबेरमध्यतः । कौबेरशानयोर्मध्ये चिकित्सामन्दिरमं शुभम् ॥
पुरन्दरेशयोर्मध्ये सर्ववस्तुषुं सङ्ग्रहम् । सदनं कारयेदेवं क्रमादुक्तानि षोङशानि ॥[4]

अग्निपुराण में भी वास्तुप्रकल्पना हेतु स्थाननिर्धारण का उल्लेख मिलता है। यथा –

पूर्वे वराहं दक्षे च नृसिंह श्रीधरं जले ।
उत्तरे तु हयग्रीवमाग्नेयां जामदग्न्यकम् ॥
नैऋत्यां रामकं वायौ वामनं वासुदेवकम् ।
ईशे प्रासादरचना देया वस्वर्ककादिभिः ॥
द्वारस्य चाष्टमाद्यंशं वेधी न दोषभाक् ।[5]

अग्निपुराण में प्रासाद में निम्नलिखित वस्तुओं के विद्यमान रहने की संसूचना मिलती है यथा –

वृत्तायात् समुद्भूता नवैते मणिकाह्वयात् ।
वज्रं चक्रं तथा चान्यत् स्वस्तिकं वज्रस्वास्तिकम् ॥
चित्रं स्वस्तिकखड्गञ्च गदा श्रीकण्ठ एव च ।
विजयो नामतश्चैते त्रिविष्टपसमुद्भः ॥[6]

---

1. श्री टोडरानन्दान्तर्गत-वास्तुसौख्यम् - पृ० 9
2. दिवस्पतेरादरदर्शिनादरादढौकि यस्तं प्रति विश्वकर्मणा ।
तमेकमाणिक्यमयं महोन्नतं पतद्ग्रहं ग्राहितवान्नलेनसः ॥
नलेन ताम्बूलविलासिनोज्झितैमुर्खस्य यःपूगकणैर्भृतो न वा ।
इति व्यवेचि स्वमयूखमण्डलादुदञ्चदुच्चारणचारुणश्चिरात् ॥ नै० 16/27,28
3. नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमे हेमभूमिभृति सौधभूधरे ॥ नै० 18/3 का उत्तरार्द्ध
वीरसेनसुतकण्ठभूषणीभूतदिव्यमणिपंक्तिशक्तिभिः ।
कामनोपनमदर्थतागुणाद्यस्तृणीकृतसुपर्वपर्वतः ॥ नै० 18/4
4. वास्तुसौख्यम् - श्लोक 279 —— 285।
5. अग्निपुराण 42/24,25
6. अग्निपुराण-104/20,21

परन्तु उपर्युक्त वर्णनों एवं नैषध में अठारहवें सर्ग में उपलब्ध नल प्रासाद वर्णन के तथ्यों की यदि तुलना की जाये, तो यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को उपर्युक्त तथ्यों की जानकारी थी, तभी तो उन्होंनें वास्तुशास्त्र सम्मत विधि का पालन करते हुए नल के प्रासाद वर्णन का इतना वृहद् एवं तथ्यसमन्वित चित्रण किया है। जहाँ वे कहते हैं कि नल के प्रासाद के अन्तःकक्ष में अनेक सुवासित अगुरू (धूप) एवं तेलों के दीपक जल रहे थे,[1] एवं प्रासादमणिखचितभूपृष्ठ कर्पूर, कुकुम तथा कस्तूरी से लेपित था।[2] नल की शय्या पुष्पमयी थी।[3] अग्निपुराण में शय्यागृह की दिशा का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि "शय्यायां-मण्डपे प्राच्यां मण्डले हरिमर्चयेत्। जुहुयाज्जनयित्वाऽग्निं समिधो द्वादशीस्ततः।"[4] प्रासाद के निकट गृहवाटिका में[5] कलियों के खिलने की सौरभ दमयन्ती की नासिका को संतृप्त करती थी, साथ ही वह सभी ऋतुओं मे खिलने वाले सुगन्धित पुष्पों, आम्रवृक्षों एवं विभिन्न प्रकार के फल वाले वृक्षों से युक्त थी। प्रासाद तो स्वर्ण निर्मित एवं रत्नों से खचित होने के साथ-साथ चित्रशाला से युक्त होने के कारण जादूगरी से पूर्ण लगता था। यथा-

कुत्रचित्कनकनिर्मिताखिलः क्वापि यो विमलरत्नजः किल ।
कुत्रचिद्रचित्रशालिकः क्वापि चास्थिरविधैन्द्रजालिकः ।।[6]

प्रासाद के चित्रों की प्रतिमाओं का अभिनय इतना सजीव तथा उनका रंगविधान इतना स्वाभाविक एवं कुशल था कि उन्हें देखकर महाशिल्पी विश्वकर्मा का भी शिर आश्चर्य में हिलने लगा था।[7] साथ ही प्रासाद में पुत्तलियों केआश्चर्यकारी नृत्याभिनय बड़े सटीक थे। यथा-

भित्तिगर्भगृहगोपितैर्जनैर्यः कृताद्भुतकथादिकौतुकः ।
सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टयाश्चर्यसञ्बिंवहुशालभञ्जिकः ।।[8]

प्रासाद में शीतल जल के फौब्बारों के कारण ग्रीष्म ऋतु में भी गर्मी की बेचैनी प्रासादनिवासियों को नहीं होती थी।[9] शयनकक्ष में खूँटियों पर बैठी कामशास्त्र सारिकाओं का उद्बोधन तो मनोमुग्धकारी था ही साथ ही मदनमत्त गौरैया जोड़े की बार-बार की जाने वाली काम क्रीड़ा देखते ही बनती थी।[10] स्पष्ट है

---

1. नै० 18/5,6,
2. कुङ्कुमैणमदपङ्कलेपिताः क्षलिताश्च हिमवालुकाम्बुभिः ।
   रेजुरध्वततशैलजस्रजो यस्य मुधमणिकुट्टिमा भुवः ।। नै० 18/7
3. नैषघङ्गपरिमर्दमेदुरामोदमार्दवमनोज्ञवर्णया ।
   यद्भुवः क्वचन सूनश्य्ययाभाजि मालतिलप्रगल्मता ।। नै० 18/8
4. अग्निपुराण 41/9
5. क्वापि यन्निकट निष्कुटस्फुटत्कोरकप्रकरसौरभोर्मिभिः ।
   सान्द्रमाद्रियत भीमनन्दनानासिकापुटकुटीकुटुम्बिता ।।
   ऋद्धसर्वऋतुवृक्षवाटिककीरकृत्तसहकारशीकरैः ।
   यज्जुषः स्म कुलमुख्यमाशुगः प्राणवातमुपदामिरञ्चति ।। नै० 18/9,10
6. नै० 18/11, एवं अग्निपुराण 104/16
7. चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधाय्यनेकविधरूपरूपकम् ।
   वीक्ष्यं यं बहुधुवञ्शिरो जरावानकी विधिरकल्पि शिल्पिराट् ।। नै० 18/12
8. नै० 18/13
9. नै० 18/14
10. यत्रपुष्पशरशास्त्रकारिकासारिकाध्युषितनागदन्तिका ।
    भीमजा निषधसार्वभौमयोः प्रत्यवैक्षतरते कृताकृते ।।
    यत्रमत्तकलविङ्गशीलिताश्लीलकेलिपुनरुक्तवत्तयोः ।
    क्वापि दृष्टिभिरवापि वापिकोत्तं सहं सतिथुनस्मरोत्सवं ।। नै० 18/15,16

कि नैषधकार का ऐसा वर्णन वास्तुशास्त्र सम्मत ही है क्योंकि अग्निपुराण में भी प्रवेश द्वार एवं अन्तःपुर में शुक सारिकाओं के स्थापन की बात की गयी है। यथा-

शुकान् प्राग्द्वारविन्यासे पादान्तः स्थान यजेत् सुरान्।[1]

वीरसेनसुत राजा नल के प्रासाद वर्णन प्रसंग को चारुता प्रदान करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि प्रासाद की वाटिका में विहार करने वाले हंस मिथुनों का रतोत्सव अत्यन्त रमणीय था। साथ ही वह वीणा एवं वंशी की मधुर ध्वनि, वाटिका के कोकिल तथा नर्तकियों के कंकण (घुंघुरू) आदि आभूषणों की ध्वनि से गुंजित रहता था। गवाक्षों से युक्त प्रसाद के अन्तः कक्ष में रति एवं काम की प्राण प्रतिष्ठा की हुई दो प्रतिमाएँ रखी थीं।[2] राजाप्रासाद का द्वार किन्नरियो के गीतों के झंकार से झंकृत एवं वंदीजनों के गायन से सराबोर रहता था।[3] राजप्रासाद की भित्तियाँ पुराणप्रसिद्ध कथाओं जैसे- ब्रह्मा का अपनी पुत्री के साथ रमण करने का दुःसाहस, गौतम की पत्नी अहिल्या का इन्द्र द्वारा छल से गमन इत्यादि कथाएँ विस्तार से चित्रित थीं।[4] नल का स्वेत प्रासाद इन्द्र के वैजयन्त प्रासाद से भी सुन्दर था।[5] उसमें विभिन्न नाटिकाओं के मंचन के साथ-साथ स्वर्णनिर्मित कपोतपालिका में शंकर का देवदारुवन में पार्वती के साथ कामविलास तथा कृष्ण की ब्रजबालाओं के साथ रसक्रीड़ा आदि वृतान्त स्वयं शुकाचार्य द्वारा रचित काव्यों में उल्लिखित विषय सामग्री प्रासाद भित्तियों पर चित्रित थी। राजभवन मे ही पोषित शुक का उच्चारण मनोमुग्धकारी था। यथा–

अह्नि भानुभुवि दाशदारिकां यच्चरः परिचरन्तमुज्जगौ ।
कालदेशविषयासहात्स्मरादुत्सुकं शुकपितामहं शुकः ॥[6]
तद्दम्पति श्रुतिमधून्यथ चाटुगाथा वीणास्तथा जगुरतिस्फुटवर्णबन्धम् ।
इदं यथा वसुमतीरतिगृह्यकस्ताः कीरः किरन्मुदमुदीरयतिस्म विश्वाः ॥
अस्माकमुक्तिभिरवैष्यथ एव बुद्धेर्गाधं युवामतिमती स्तुमहे तथापि ।
ज्ञानं हि वागवसरावचनाद्भवद्भयामेतावदप्यनवधारित मेव न स्यात् ॥[7]

शुक नल एवं दमयन्ती को शिव पार्वती सदृश जोड़ा बताते हुए उनकी बहुविधप्रशंसा[8] करने के साथ ही उन दोनों को कामक्रीड़ा के वशीभूत जानकर वहाँ उपस्थित सखियों को वहाँ से हट जाने को कहता है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुक परान्मनपारखी था। यथा –

---

1. अग्निपुराण 42/8 पूर्वार्द्ध
2. यत्रवैणरववैणवस्वरैर्हुंकृतैरुपवनीपिकालिनाम् ।
   कंकणालिकलहैश्च नृत्यतांकुब्जितं सुरतकूजितं तयोः ॥
   सीत्कृतान्य श्रृणुतां विशंकयोर्यत्प्रतिष्ठितरतिस्मरार्चयोः ।
   जालकरैपवरान्तरेऽपि तौ त्याजितैः कपटकुड्यतां निशि ॥ नै० 18/17,18
3. – कृष्णसारमृगश्रृंगभंगुरा स्यादरुज्ज्वलरसैकसारिणी ।
   नानिशं त्रुटति यन्मुखे पुरा किन्नरी विकटगीतिझंकृतिः ॥ नै० 18/19
   – श्रुतिमधुपदस्रग्वैदग्धी विभावितभाविककस्फुटसभृशाभ्यक्ता वैतालिकैर्जगिरेगिरः। नै० 19/1 उत्तरार्द्ध एवं 19/2......65
4. नै० 18/20,21
5. उच्चवलत्कलखालिकैतवाद्वैजयन्तविजयार्जिता ।
   यस्य कीर्तिरवदायति स्म सा कार्तिकीतिथिनिशीथिनीस्वसा ॥ नै० 18/22
6. 18/25
7. नै० 21/129, 130
8. नै० 21/131 --- 139

अन्योन्यरागवशयोर्युवयोर्विलांस स्वच्छन्दताच्छिदपयातु तदालिवर्गः ।
अत्याजयन्सिचयमाजिमकारयन्वा दन्तैर्नखैश्च मदनो मदनः कथंस्यात् ।।
इति पठति शुके मृषा ययुत्सा बहुनृपकृत्यमवेत्य सांध्विवेलम् ।
कुपित निजसखीद्वशार्धदृष्टाः कमलतयेव तदा निकोचवत्या ।।[1]

प्रासाद में कोयल पक्षी के होने का विवरण नैषधकार ने दिया है,[2] साथ ही तप में निर्बद्ध ऋषियों के चित्रण के साथ-साथ मयूरों के नृत्य द्वारा राजप्रासाद की छटा में चार चांद लग जाने का विवरण नैषध में मिलता है। नल प्रासाद में एक सरोवर भी था, जिसमें तैर कर वहगर्मी एवं थकान से निजात पाते थे।[3] राजप्रासाद में ही मणिजटित पूजागृह (देवालय) होने का विवरण श्रीहर्ष ने किया है जो नैष्ठिक ब्रह्मचारियों तथा विविध पूजा सामग्रियों एवं प्रमुख देवप्रतिमाओं यथा शिव, विष्णु एवं सूर्य देवताओं की प्रतिमाओं से सुसज्जित था।[4] अग्निपुराण में भी पूजागृह के बारे में उल्लेख प्राप्त होता है। यथा-

देवागारं करोमीति मनसा यस्तु चिन्तयेत् ।
तस्य कायगंत पापं तदह्ना हि प्रणस्यति ।।
कृतेतु किं पुनस्तस्य प्रासादे विधिनैव तु ।
अष्टेष्टकसमायुक्तंः यः कुर्य्याद देवतालयम् ।।[5]
पूजयित्वा प्रदद्याद् यः पूजाद्रव्यं च सर्वभाक् ।
देवालयं च प्रतिमां कारयन् सर्वमाप्नुयात् ।।[6]

उपयुर्क्त विवरणों से यह सहजतया अनुमान लगाया जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी के प्रतिष्ठित विद्वान् श्रीहर्ष को वास्तुशास्त्र का अभीष्ठ ज्ञान था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अग्निपुराण में वास्तुशास्त्र सम्मत प्रमुख अध्यायों यथा शिलाविन्यास, प्रासादलक्षण, देवतास्थापन, ध्वजारोपणकथन, नगरादिवास्तुकथन की उन्हें जानकारी थी। यह तो स्वतः सिद्ध ही है कि भवन विन्यास हेतु भूमिचयन परमावश्यक है, अतएव भूमिक्रय करने से पहले ज्योतिषी एवं वास्तुशास्त्र विदों से उसके बारे में जानकारी लेने का विधान परम्परा से चला आ रहा है, एवं आज भी गृह निर्माण में गांवों में पण्डितजनों एवं शहर में पण्डित जनों के साथ साथ इन्जीनियरों या वास्तुविदों से गृह का मानचित्र तैयार करवाया जाता है। वास्तुमर्मज्ञ विश्वकर्मा के अनुसार भूमि मुख्यतः पाँच प्रकार की होती है।

समतल भूमि सभी वर्णो के लिए शुभ होती है "सर्वेषां चैवर्णानां समभूमिः शुभवहा।"

---

1. नै० 21/140,41
2. अकृतपरभृतः स्तुहि स्तुहीति श्रुतवचनस्रगनूक्तिचञ्चु चञ्चुः ।
पठितनलनुतिं प्रतीव कीरं तमिवनृयं प्रति जातनेत्ररागः ।। नै० 21/142
3. प्राणमायतवतो जलमध्ये मञ्जिमानमभजन्मुखमस्य ।
आपगापरिवृढोदरपूरे पूर्वकालमुषितस्य सितांशोः ।। नै० 21/13 एवं 1/107..........117
4. पूतपाणिचरणः शुचिनोच्चैरध्वनानितरपादहस्तेन ।
ब्रह्मचारिपरिचारि सुरार्चावेश्म राजऋषिरेष विवेश ।।
क्वापि यन्नभसि धूपजधूमैर्मेचकागुरुभवैर्भ्रमराणाम् ।
भूपते स्म सुमनः सुमनःस्रग्दामधामपटले पटलेन ।। नै0 21/21,22, एवं 23-- 31
5. अग्निपुराण 41/33,34
6. अग्निपुराण 211/65

गजपृष्ठभूमि सुख समृद्धिकारक होती है। ज्योतिर्निवेध के अनुसार--

दक्षिणे पश्चिमे चैव नैऋत्ये वायुकोणके एभिरुच्योमवेद् भूमोर्गजपृष्ठोऽभिधीयते ।
गजपृष्ठेभवेद्वासः सलक्ष्मीधनपूरितः आयुर्वृद्धिकारी नित्यं जायते नात्र संशयः ।।

कर्मपृष्ठ भूमि उत्साह एवं सम्पन्नताकारक होती है। ज्योतिर्निवेध में इस भूमि से धन धान्य की प्राप्ति होना बताया गया है।[1]

दैत्यपृष्ठ भूमि अशुभकारी होती है।–जैसा कि ज्योतिर्निवेध में उल्लिखित मिलता है।

पूर्वाग्नि शम्भु कोणेषु उन्नतिश्च यदा भवेत् पश्चिमे च यदा नीचं दैत्यपृष्ठोभिधीयते ।
दैत्यपृष्ठकृते वासे लक्ष्मी नीयाति मन्दिरम् धनपुत्र पशुनांच हानिरेव न संशयः।।

ऐसी भूमि अल्पमूल्य में भी प्राप्त हो तो क्रय नहीं करना चाहिए।

नागपृष्ठ भूमि अत्यन्त हानिकारक होती है। ऐसी भूमि पर निर्मित भवन से सुखशांति एंव सम्पन्नता के स्थान पर कष्ट, मृत्यु, स्त्रीसुख की हानि, सन्तानकष्ट तथा शत्रुवृद्धि होने का संकेत है, जैसा कि ज्योतिर्निवेध में कहा गया है।

पूर्वयश्चिमोदीर्घा दक्षिणोत्तर उच्यता नागपृष्ठं विज्ञानीयात्कर्तुरुच्चाटनं भवेत् ।
नागपृष्ठे सदा वासो मृत्युरेव न संशयः पत्नी हानि पुत्र हानि, शत्रुवृद्धि पदेपदे ।।[2]

वस्तुतः व्यक्ति भवन का निमार्ण सुख शांति तथा आत्मसंतुष्टि के लिए करता है। संभव है महाराज भीम के महल एवं राजा नल के प्रासाद निर्माण के समय निर्माताओं नें भूमि परीक्षण किया हो, तभी तो उनके महल में सुख शांति वैभव का साम्राज्य था। वृहत्संहिता मे भी उत्तम भूमि के बारे में विवरण मिलता है।[3] साथ ही वास्तुरत्नाकर में भी भवन विन्यास हेतु उत्तम भूमि के बारे में कहा गया है कि –

यत्र वृक्षा प्ररोहन्तिशस्यं हर्षात्प्रवर्धते ।
सा भूमिर्जीविता ज्ञेया मृता वाच्याऽन्ययथाबुधैः ।।

अतः भूखण्ड की आकृति के बारे में सुखद परिणाम के लिए वास्तुशास्त्र के नियमों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। विभिन्न परिमाप के भूखण्डों का फल पृथक - पृथक होता है। वास्तु शास्त्र के एक अन्य ग्रन्थ राजमार्तण्ड में इस विषय में उल्लेख मिलता है–

आयते सिद्धयः सर्वाश्चतुरस्त्रे धनागमः, भद्रासने कृतार्थश्च वृत्ते पुष्टि विवर्धनम ।
चक्रे दारिद्रय मौवोक्तं शोको विषमबाहुके, नृपाभीतिस्त्रिकोणे स्याच्छकटे च धनक्षयः ।।
नश्यन्ति पशवो दण्डे पणवे लोचनक्षतिः, मुरजे म्रियते भार्या बन्धुनाशो वृहन्मुखे ।
व्यजने वित्तनाशः स्याद् बधे बन्धनपीडनम्, सूर्यधन अयं विद्याच्यापे चोर भयं भवेत् ।।

---

1. मध्य तुच्यं भवेद्यत्र नीचं चैवचतुर्दिशम् ।
कूर्मपृष्ठं विजानीयान्सत्र वासं समाचरेत् ।। ज्योतिर्निवेध- श्लोक 45
कूर्मपृष्ठं भवेद्वासो नित्योत्साह सुखप्रदः ।
धनं-धन्यं भवेत्तस्य निश्चितं विपुलं धनम् ।। ज्योतिर्निवेध श्लोक, 55
2. ज्योतिषप्रकाश, इलाहाबाद 2 मार्च 1998, पेज-3
3. वृहत्सांहिता 52/86/60

स्पष्ट है कि भवन विन्यास हेतु वर्गाकार या आयताकार भूखण्ड उत्तम होते हैं। भवन का निकास (प्रवेश द्वार) यदि पूर्व या ईशन कोंण में है तो अत्यन्त लाभकारी होता है।

वास्तव में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को एक व्यवस्थित ढंग से सजाना और उन वस्तुओं को एक निश्चित दिशा एवं स्थान पर रखना, या निर्माण करना ही सही मापदण्डों में वास्तुदण्डों में वास्तुशास्त्र कहलाता है। वास्तु शास्त्र में निर्माण में दिशाओं के अनुरूप स्थान निर्धारण एवं उनके अधिपति निम्नवत हैं। यथा- उत्तर दिशा में कुबेर, लक्ष्मी, उत्तरपूर्व दिशा (ईशानकोंण) जल, शंकर जी, एवं पूजा स्थान, पूर्व दिशा -जल, इन्द्र, सूर्यदेव, विष्णु, दक्षिणपूर्व (आग्नेय दिशा) अग्नि, अग्निदेव, मंगल, रसोईंघर, दक्षिण दिशा पृथ्वी, यमराज, शुक्र, मास्टर वेडरूम (शय्या गृह), मध्यस्थान बाह्य स्थान आकाश, ब्रह्मदेव, पश्चिमदिशा-वायु, वरूण, शनिदेव, उत्तरपश्चिमदिशा (वायव्कोंण), वायु, पवन, बुद्धदेव आदि।[1] श्रीहर्ष ने वास्तुशास्त्र नियमों का यथोचित रूप में परिपालन किया है तभी तो उन्होंने प्रासाद वर्णन प्रसंग में सभी पुरुषों के अलग-अलग प्रासाद, उनके क्रीड़ागृह, वाटिका, पूजागृह, चित्रशाला गृह आदि का अलग-अलग रूपों में विधिवत् वर्णन किया है वास्तुशास्त्र के अनुसार भूमिपरीक्षण के बाद शल्यशोधन तदुपरान्त् भूमिशोधन, वास्तुदेवतास्थापन तब भवन विन्यास होता है। वास्तुशास्त्र के प्रमुख पांच सिद्धान्त हैं ''वास्तुशास्त्रस्य मूलतः पञ्चसिद्धान्त सन्ति। वास्तुपदविन्यास, दिक्सामुख्यं प्राचीनसाधन वा मानम्, आयादिषडवर्गाः, पताकादिषट्छन्दासि च ग्रन्थे सर्वं महद् विजृम्भितमस्ति।[2] नैषधकार द्वारा किये गये प्रासाद वर्णन एवं कुण्डिनपुरी वर्णन प्रसंग से यह ध्वनित होता है कि उन्हें वास्तुशास्त्र के पाँचों सिद्धान्तों का अभीष्ठ ज्ञान रहा होगा। भविष्य पुराण में भी प्रासाद या गृह निर्माण के प्रयोजन के बारे में कहा गया है-

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं बिना ,
यतस्तस्माद् गृहारम्भप्रवेशसमयौ ब्रुवे ॥
परगेहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः ।
विफलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते ॥

स्पष्ट है कि नल के साथ-साथ नैषधकार को भी उपयुर्क्त तथ्यों का ज्ञान रहा होगा, तभी श्री हर्ष ने नल द्वारा पूजा, अर्चना उनके प्रासाद में ही स्थित पूजागृह में करवाने का वर्णन किया।[3] महर्षि नारद ने भाण्डारगृह को उत्तर दिशा में बनवाने की बात कही (भाण्डागारं तून्तरस्यां शुभमन्दिरम्) जबकि विश्वकर्मा ने उत्तर दिशा में जल का स्थान एवं पूर्व दिशा में धन सम्पत्ति रखने के स्थान निर्माण का निर्देश दिया। (उत्तररस्यां जलस्थानं पूर्वस्यां श्रीगृंह तथा)। वशिष्ठ ने घर की स्थिति का मानचित्र बताते हुए कहा

पश्चिमे दक्षिणे चैव गवाक्षो मन्दिरस्य च स्वगृहात् पश्चिमे याम्ये पितृस्वाग्रजमन्दिरम् ॥
गृहीपरिगृहदीनामायमात्रे प्रकल्पयेत् । स षड़वर्ग शंगकुमपि रथापयेद दाघवेश्मनः ॥[4]

---

1. भवने वेश्म निवेशः दिगनुकूलं प्रकलपनीयो भवति। ऐन्द्रकोणे स्थानगृहं (स्नानगृहंवा) आग्नेयकोणे पचनालयं, याम्ये शयनगृहं, नैर्ऋत्ये शस्त्रमन्दिरं, वारूणे भोजनगृहं, वायव्यकोणे धनमंदिरमुदीच्ये हाटकसद्म, ईशाने देवमंन्दिरं, पूर्वाग्नेययोर्मध्ये मथनगृहं, आग्नेययाम्यर्योमध्ये धृतमन्दिरं, यमनैर्ऋत्ययोर्मध्ये 'पुरीषत्यागमंन्दिरं, नैत्रऋत्यवारुणयोर्मध्ये विद्याभ्यासमन्दिरं, वारूणवायव्ययोर्मध्ये रोदनमन्दिरं, वायव्योत्तरयोर्मध्ये कामोपोभोग सदनं, उत्तरेशानयोर्मध्ये चिकित्सामन्दिरं, पूर्वेशानयोर्मध्ये सर्ववस्तु संग्रहगृञ्च कल्पयेत्। अथवोत्तरस्यां भाण्डागारः भवेत्। अपरमतानुसारं उत्तरेजलस्थानं, पूर्वस्यां श्रीगृहं कारयेत्। गवाक्षप्रकल्पनं पश्चिमे दक्षिणे च भवेत्। एवं वास्तुसौख्ये विविधकक्ष्याणां स्थितिः वर्णिता। श्री टोडरानन्दातर्गतम् वास्तुसौखयम्, पृ० -1
2. द्वि0 नाथ शुक्ल-समरांगणीय भवननिवेश, पृ० 30
3. नैषध 21/21,22
4. वास्तुसौख्यम् - श्लोक 288--- 290

विश्वकर्मा ने गृह द्वार की दिशा के गुण दोष बताते हुए कहा कि

प्राच्यादिस्थे सलिले सुतहानिः शिखिभयं रिपुमयं च ।
स्त्रीकलहः स्त्रीदौष्ट्यं नैःख्यं वित्तात्मजविर्‍वृद्धिः ।।
पूर्वादिदिग्विनिर्देशो गृहद्वारविवक्षया ।
भास्करोदयदिक्पूर्णं न विज्ञेया यथाक्षते ।।
तत्रैव गृहात्प्रवासः पयसः पूर्वोत्तरगतिः शुभः ।
कथितो मुनिभिः पूर्वैरशुभस्त्वन्यदिग्गतिः ।।[1]

वृहत्संहिता के अनुसार दक्षिणपूर्व कोंण अर्थात आग्नेय कोंण में पूजा करके प्रथम शिला रखनी चाहिए एवं गृह निर्माण करना चाहिए। यथा –

दक्षिणपूर्वे कोणे पूजां शिलां न्यसेत् प्रथमम् ।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थापयाः ।।[2]

वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में यह भी विवरण मिलता है कि गृह निर्माण के बाद गृहशांति एवं ब्राह्मणो को भोजन एवं दक्षिणा आदि देने के बाद उनसे आशीर्वाद लेकर ही गृह में प्रवेश करना चाहिए तभी वह मनुष्य आरोग्य, पुत्र, धन, धान्य को प्राप्त करता है।[3] ध्यातव्य है कि चाहे हम विदर्भनरेश भीम के जीवन विवरण को परखें, या निषदाधिराज नल के जीवन वृत्त को, जितना कि श्रीहर्ष को अभीष्ट है (महाभारत में नलकथा में प्राप्त नल दमयन्ती वियोग जो कलि के द्वारा करवाया गया था उसे छोड़कर) उन दोनों राजाओं की खुशहाली का चित्रण ही हमें प्राप्त होता है। भीमप्रासाद चाहे राजा भीम ने बनवाया हो या उनके पूर्वजों ने, एवं नल प्रासाद भी चाहे राजा नल के निर्देशन में बना हो या उनके पूर्ववंशज राजाओं ने निर्मित करवाया हो, चूँकि इन दोनों राजाओं के यश, वैभव एवं दानवीर होने का विवरण प्राप्त होता है, अतः जिस प्रासाद में वह रह रहे होंगे वह वास्तुशास्त्रानुसार ही निर्मित हुए होंगे, फिर नैषधकार ने तो यहाँ तक कह डाला कि जिस राजा नल की जीवन कथारस को विद्वज्जन अमृत से भी ज्यादा महत्व देते थे एवं कलियुग में जिनके नाम स्मरण मात्र से लोग पवित्र हो जाते हैं, जो चौदह विद्याओं में पारंगत थे, जिनका अठारहों द्वीपों में यश फैला था, एवं जो धर्म परायण तथा द्विग्विजयी थे। उनके जैसे व्यक्तित्व का दूसरा सानी नहीं।[4] और तो और देवता गण भी नल को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों पुरूषार्थ सिद्धि वाला जन घोषित किया।[5] उपयुर्क्त सभी वर्णनों से यह ध्वनित होता हैकि श्री हर्ष द्वारा वर्णित कुण्डिनपुर के प्रासाद एवं राजा नल के प्रासाद वास्तुशास्त्र द्वारा निर्धारित मापदण्डों के अनुसार ही बने थे ।

---

1. वृहत्संहिता 53/119--- 121
2. वृहत्संहिता - 53/112
3. गृहीत्वा सुकृतं तेभ्यो दक्षिणां च प्रदापयेत् ।
   ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चात् स्वयं भुञ्जीत बन्धुभिः ।।
   एवं यः कुरुते सम्यक् गृहशान्तिं नृपोत्तमः ।
   आरोग्य पुत्रलाभं च धनं धान्यं लभेन्नरः ।।
   अकृत्वा वास्तुपूजां यः प्रविशेन्नवमन्दिरम् ।
   रोगान्नानाविधात् क्लेशान् प्राप्नुयात् सर्वसङ्कटात् ।। वास्तुसौख्यम् - श्लोक 282--- 284
4. नैषध 1/1----- 8
5. फलसीमां चतुर्वर्गं यच्छतांशोऽपि यच्छति ।
   नलस्यामदुपघ्ना सा भक्तिर्भूतावकेशिनी ।। नै0 17/142

नवम अध्याय

नैषध महाकाव्य में ज्योतिषशास्त्र, रत्नशास्त्र, शकुनशास्त्र एवं सामुद्रिक शास्त्रीय संदर्भ

ज्योतिषशास्त्र

आधुनिककाल निःसंदेह विज्ञान का उत्कर्षकाल हैं। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक युग में भी हमेशा मनुष्य ज्योतिष के प्रति उन्मुख होता आया है। प्राचीन काल में यज्ञ कब किये जाएं? यज्ञवेदी का स्वरूप कैसा हो? उपनयन, वेदारम्भ, विवाह, इत्यादि किन मुहूर्त एवं नक्षत्रों से समन्वित हो? तभी सम्पादित हों, किसान भी यह सोचता आया है कि किस शुभ नक्षत्र, पल एवं घड़ी में कृषि कार्य सम्पन्न करें, कि सफलता मिले, आज किसान से लेकर उद्योगपति, विद्यार्थी से लेकर वैज्ञानिक तक सभी किसी न किसी रूप में ज्योतिष की शरण में जाकर अपनी कार्य विधियों के सुचारू सम्पादन की शुरूआत करते हैं। यह तथ्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर एवं अनुभवगम्य है। स्पष्ट है कि ज्योतिष शास्त्र प्राचीनकाल से अर्वाचीन काल तक अपनी महत्ता लोक जीवन में प्रतिष्ठापित किये हुए है। ज्योतिष शब्द की व्युत्पत्ति ज्योतिः अस्ति अस्य, (ज्योतिस्+अच्) के संयोग से होती है। ज्योतिर्नक्षत्राद्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अधिकृत्य कृते, ग्रन्थे, इत्यण्, संज्ञापूर्वत्वान वृद्धिः जायते। जबकि (Ksirasvamin) कहते हैं, ज्योतीर्षी ग्रहादीन् अधिकृत्य कृतो ज्योतिषः।[1] ग्रहनक्षत्रों की स्थिति, गति आदि का विचार करने वाला शास्त्र एवं ज्योतिषां सूर्यादि ग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्'' के अनुसार सूर्यादि ग्रह और काल को बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र अभिहेत किया जाता है। छैः वेदाङ्गों शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष[2] में, ज्योतिष विद्या को वेदपुरूष के नेत्र के समान बताया गया है।[3] इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में 'प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रम्'' कहा जाता है। प्रमाण का सबसे प्रबल आधार होता है प्रत्यक्ष। अतः ज्योतिष प्रत्यक्ष ज्ञान है क्योंकि आँखे प्रत्यक्ष में ही सक्रिय होती हैं। छान्दोग्योपनिषद् में विभिन्न विद्याओं के प्रसंग में नक्षत्र विद्या का उल्लेख हुआ है।[4] स्वयं नैषधकार श्रीहर्ष द्वारा उल्लिखित चतुर्दश विद्याओं में ज्योतिष शास्त्र वेदाङ्ग होने के नाते विद्या के रूप में परिगणित है।[5]

प्राचीन वैदिक संस्कृति यज्ञों पर आधारित थी । इन यज्ञों का अनुष्ठान आर्यों का महत्वपूर्ण धार्मिक कृत्य था। प्रातः सायं अग्निहोत्र करना उनकी दैनन्दिनी में शामिल था। प्रकृतियागों के रूप में दर्शपौर्णमास यागों का महत्वपूर्ण स्थान था। इन यज्ञानुष्ठानों में तिथियों की गणना आवश्यक थी, क्योंकि दर्श अमावस्या को एवं पौर्णमास याग पूर्णमासी को होते थे। अमावस्या एवं पूर्णमासी का ज्ञान बिना गणित ज्योतिष के सम्भव नहीं है, क्योंकि सूर्य से चन्द्रमा की दूरी के आधार पर ही तिथियों की गणना की जाती है। महाकवियों के काव्यों में भी इस महत्वपूर्ण शास्त्र का यत्र-तत्र उल्लेख मिलना इसकी प्रासङ्गिकता का प्रमाण है। यदि अश्वघोष ने बुद्धचरित में बुद्धजन्म प्रसङ्ग में नक्षत्रों की चर्चा की[6] तो कालिदास ने रघुवंश

---

1. Is ज्योतिष the correct form-Dr. R.S. Bhattacharya, ऋतम् -Oct. 21-26,1981, Jurnal of Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad.
2. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।- मुण्डकोपनिषद्।1/1/5
3. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत मुच्यते।।
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।। पाणिनीय शिक्षा, श्लोक- 41,42
4. स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं - सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद पित्र्यं दैवनिधिं वाक्योवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजन विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि- छान्दोग्योपनिषद् 7/1/2
5. अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
   चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मिविद्यासु चतुर्दशस्वयम्।। नैषध 1/4
6. ततः प्रसन्नश्च बभूव पुष्यस्तस्याश्च देव्या व्रतसंस्कृतायाः ।
   पार्श्वात्सुतो लोकहिताय जज्ञे निर्वेदनं चैव निरामयं च ।। बुद्धचरित 1/9

में रघु के जन्म काल में स्थित उच्च ग्रहों की चर्चा के साथ-साथ अभिज्ञान शाकुन्तल में असुर युद्ध प्रसंग में नक्षत्रों का भी वर्णन करना नहीं भूले।[1] श्रीहर्ष ने भी नैषधीयचरितम् में अनेक प्रसङ्गों में ज्योतिष विवरण को अपनाया हैं- यथा- हंस दमयन्ती संवाद, बारात विवरण, एवं नल दमयन्ती के पाणिग्रहण प्रसङ्ग में ज्योतिषशास्त्रीय सम्बन्धी विवरण दृष्टव्य हैं। ज्योतिष की महत्ता को प्रतिष्ठापित करते हुए इसके महत्व का प्रतिपादन करते हुए इसे काल विधान शास्त्रं की संज्ञा से भी अभिसिंचित किया गया है।यथा-

वेदा हि यज्ञार्थभिप्रवृत्ताः कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं, यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ।।[2]

तथा अग्निपुराण में ज्योतिष को शुभाशुभ विवेचन करने वाला शास्त्र कहा गया है। यथा-

ज्योतिःशास्त्रं प्रवक्ष्यामि शुभाशुभविवेकदम्।
चातुर्लक्षस्य सारं यत् तज्ज्ञात्वासर्वविद्भवेत् ।।[3]

ज्योतिषशास्त्रीय ग्रंथों में वैसे तो अनेकों ज्योतिर्विदों का उल्लेख मिलता है परन्तु उनमें ज्योतिषशास्त्र के अठारह प्रमुख प्रवर्तक विद्वान् थे। यथा-

सूर्यः पितामहो व्यासः वशिष्ठोऽत्रिपराशरः। कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः ।।
लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनः यवनो भृगुः। शौनकोऽष्टादशा ह्येते ज्योतिःशास्त्र प्रवर्तकाः ।।

ज्योतिषशास्त्र के इतिहास एवं इसके विकास का संक्षेप में विवरण देने पर हम इसे तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

A- वैदिककाल में ज्योतिष का विकास ।
B. वेदाङ्ग काल में ज्योतिष का विकास ।
C. सिद्धान्त काल (युग) में ज्योतिष का विकास ।

वैदिककाल में ज्योतिष के क्षेत्र में सूर्य चन्द्रमा तथा नक्षत्रों की गति का निरीक्षण परीक्षण एवं विवेचन हुआ करता था, साथ ही चान्द्र एवं सौरमासों की गणना की जाती थी। याज्ञ कर्मों की विधियों के निर्धारण में चान्द्रमास ही प्रमाण माना जाता था। वर्तमान में अखबारों एवं पत्रिकाओं में जो राशिफल नामराशि के आधार पर दिया जाता है वह चन्द्रमा पर ही आधारित है जबकि जन्मतिथि के आधार पर दिया जाने वाला राशिफल (जिसे ज्योतिष में प्रवेष्टा कहते हैं) सूर्य के आधार पर होता है । वैदिक युग में मुख्यतः विश्वोत्पत्ति, विश्वसंस्था, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, सूर्य, कल्प, युग, पञ्च्, संवत्सरात्मक युग, वर्ष, सावन, चान्द्र, सौरमान, अयन-ऋतुः मास, मध्वादि, चैत्रादि नाम, सौरमास, पूर्णिमान्त और अमान्त मास, दिवस, तिथि अष्टकाएकाष्टा, चन्द्रकला, चन्द्रप्रकाश, चन्द्रसूर्यगति, वार, दिनमान, विषुव, पन्द्रह मुहूर्त, सत्ताइस नक्षत्र, बारह राशियों,[4] नव ग्रहों, उल्का, धूमकेतु, शुंभकाल, वर्षारम्भ आदि का विवेचन मिलता है।

---

1. ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूतपुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्।। रघुवंश 3/13
– त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं, वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्।। अभिज्ञानाशाकुन्तलम् 7/6
2. वेदाङ्ग ज्योतिष- श्लोक 3 आचार्य ज्योतिष - श्लोक 36
3. अग्निपुराण- 121/1
4. मेषोवृषोऽथ मिथुनं कर्कः सिंहश्च कन्यका ।
तौलिश्च वृश्चिकश्चैव धनुः मकरः एव च ।। कुम्भमीनौ क्रमादेते राशयः परिकीर्तिताः।।

वैदिककाल के बाद वेदाङ्गकाल में ज्योतिष का क्षेत्र और अधिक विस्तृत हुआ। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने वेदाङ्ग ज्योतिष का समय १४०० ई०पू० माना है। अध्ययन के सौकर्य के लिए हम तीन वेदों के आधार तीन प्रकार के ज्योतिष ग्रंथों की मीमांसा रख सकते हैं। यथा ऋग्वेदी ज्योतिष, यजुर्वेदी ज्योतिष एवं अथर्ववेदी ज्योतिष, हालांकि इनमें वेदांग ज्योतिष सबसे प्राचीन है। सम्प्रति प्रत्येक वेद के पृथक-पृथक केवल सूत्र (कल्प) उपलब्ध हैं और तत्तत् शाखाओं के वैदिक ब्राह्मण उन्हें पढ़ते है। शेष पाँच अङ्ग सबके एक ही हैं और उनके पठन-पाठन का प्रचार केवल ऋग्वेदियों में है, अन्य (वेदों की शखाओं को मानने वाले) उन्हें नहीं पढ़ते।[1] वेदाङ्गकाल में ही कल्पसूत्रों के साथ-साथ निरुक्त, पाणिनीय व्याकरण, स्मृति, एवं महाभारत में वर्णित ज्योतिषीय पद्धतियों का वर्णन मिलता है। साथ ही वार, नक्षत्र, मेषादि नाम, सौर मास, ग्रहण, तेरह दिन का पक्ष, ग्रहयुति, पाण्डव काल एवं संहिता स्कन्धों की भी चर्चा की गयी है । इस काल के अंत में उपसंहार रूप में शतपथ ब्राह्मण के विवरण[2] कृत्तिकादि गणना, वेदकाल, नक्षत्रपद्धति, चैत्रादि नाम, वर्षारम्भ, मृगशीर्षादिगणना सायन वर्ष, युगपद्धति की भी चर्चा समन्वित है। वेदाङ्गज्योतिष का एक व्यावहारिक उद्देश्य है जो आकाशीय पिंडो के विषय में वैसे ज्ञान को प्राप्त कराता है, जो वैदिक यज्ञों के लिए दिनों और मुहूर्तो के निश्चयार्थ आवश्यक है।

सिद्धान्तकाल में पूर्वकालों की चर्चा के साथ-साथ इस तथ्य पर विचार किया गया कि प्राचीन लोगों ने वैध कैसे किये एवं प्रत्येक वेध का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए उन्होंने गतिमान किस भांति निश्चित किये? सम्भव है यह सब गणितीय ज्योतिष से सम्भव हुआ हो। वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका में पॉच सिद्धान्तों का विवरण मिलता है '' पौलिशरोमकवाशिष्ठसौरपैतामहास्तु पंचसिद्धान्ताः'' पिताम्ह सिद्धान्त, वशिष्ठ सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त, पुलिश सिद्धान्त, सूर्य सिद्धान्तों के साथ वर्तमान के सिद्धान्त पञ्चकों सूर्य सिद्धान्त (आधुनिक), सोमसिद्धान्त, वशिष्ठ सिद्धान्त, रोमश सिद्धान्त, शाकल्योक्त ब्रह्म सिद्धान्त का वर्णन मिलता है, इसके साथ ही साथ आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त लल्ल, पद्मनाभ, ज्ञानराज, ढुंढिराज आदि अनेक विद्वानों के ज्योतिषीय विवरणों का वर्णन इसी काल में समाहित है। अयनचलन, वेधप्रकरण, ग्रहों की स्पष्ट गति स्थिति एवं पंचाङ्ग विवरण का यथेष्ट वर्णन प्राप्त मिलता है साथ ही संहिता स्कन्धों के अन्तर्गत संहिता विषय, मुहूर्तग्रन्थ एवं शकुन विवरण तथा जातक स्कन्ध के अर्न्तगत ग्रहों का मनुष्य से सम्बन्ध मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध निर्धारण, प्रश्न- कुण्डली स्वप्नादि एवं रमलताजिक विवरणों का वर्णन भी इसी काव्य की देन है। अगर हम ज्योजिषशास्त्र के इतिहास का आदि के अन्त तक अध्ययन करें, तो यही तथ्य सामने आता है कि वेदों में ज्योतिष का प्रारम्भ होता है। रास्ते में जल से भरा घट मिला, तो समझ लिये कार्यपूर्ति हो गयी, यही से व्यक्ति का जिज्ञासा बढ़ती है, फिर शरीर की आकृति, स्थिति के आधार पर भी हम फल निकालने को समुत्सुक होते है, अतः ज्योतिष शास्त्र के अंग रूप में हम उपर्युक्त दोनों विषयों को सकुनशास्त्र एवं लक्षण शास्त्र (सामुद्रिक शास्त्र) के रूप में रख सकते है। वेदों में ज्योतिषमनीषियों ने इसके तीन भाग बनाये-

(A) होरा या जातक या फलित ज्योतिष

(B) सिद्धान्त ज्योतिष या गणित ज्योतिष

(C) संहिता ज्योतिष

---

1. भारतीय ज्योतिष्- शंकर बालकृष्ण दीक्षित (मराठी पुस्तक) का अनुवादक श्री शिवनाथ, झारखंडी- पृ० 92
2. एकं द्वे त्रीणि चत्वारिति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकास्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत्।।2।। एता ह वै प्राच्यैदिशो न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्चयवन्ते तत्प्राच्यामेवास्ये तद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत्।।3।। शतपथ ब्राह्मण 2/1/2

सिद्धान्त में भूगोल एवं खगोल की जानकारी की जाती है जिसमें ग्रहों की गति आदि का ज्ञान होता है। संहिता में यह खोज की जाती है कि ग्रहों की गति आदि के कारण पृथ्वी पर भूकम्प, ग्रहण, वर्षा, अवर्षण (सूखा), उत्पात आदि कब और किस समय होते हैं? एवं होरा शास्त्र में मनुष्य के जीवन के भूत, भविष्य और वर्तमान का नक्षत्रों एवं ग्रहों से जानने का प्रयास किया जाता हैं। श्री हर्ष के ज्योतिषशास्त्रीय विवरणों को देखकर यह पता चलता कि उनकी सम्पूर्ण ज्योतिष में आस्था थी। कामातुर नल को हंस पकड़ने का कौतुक कैसे हुआ? इसका प्रतिपादन करते हुए नैषधकार कहते हैं कि '' जो होनहार (अवश्य होने वाला) है उसके पीछे विधाता की इच्छा जिस दिशा में जाती है उसी दिशा में लोगों के अत्यन्त पराधीन चित्त इस तरह खिंच चले जाते हैं जैसे आंधी की दिशा में ही तिनका उड़कर चला जाता है। यथा-

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ।। [1]

स्पष्ट है कि श्रीहर्ष भाग्यवादी थे एवं उन्होने ग्रह नक्षत्रों के प्रभाव को स्वीकार किया है। प्रसंगतः यहाँ ग्रहों की चर्चा ग्रन्थकार ने की है। ग्रह नौ होते हैं- सूर्य, चन्द्रमा, मंगल,बुध वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु ।[2] सूर्य, शुक्र, मंगल, राहु, शानि, चन्द्रमा बुध और वृहस्पति ये क्रम से पूर्व आदि दिशाओं के स्वामी हैं ।[3] ज्योतिष में ग्रह सौम्य ग्रह एवं पापग्रह दो प्रकार के माने जाते हैं। क्षीण चन्द्रमा, सूर्य, मंगल, राहु, शानि तथा केतु पापग्रह है। बुध भी जब इनमें से किसी पापग्रह से युक्त हो तो पापग्रह बन जाता है । शेष गृह अर्थात्, बुध, वृहस्पति, शुक, तथा, पूर्ण चन्द्रमा शुभ या सौम्य ग्रह हैं। मंगल, शनि, सूर्य, राहु स्वभाव से ही मनुष्यों को दुःख देने वाले हैं एवं बुध, वृहस्पति, चन्द्रमा, शुक्र सदा सुख देने वाले हैं।[4] श्रीहर्ष ने नैषध के सत्रहवें सर्ग कलि प्रसङ्ग में पापग्रह की चर्चा करते हुए लिखा कि जैसे निर्मल चन्द्रमण्डल में, उसे मलिन करने के लिए ग्रहण योगवश पापग्रह राहु पहुँच जाता है। उसी प्रकार निष्पाप निषध राज्य का विनाश करने के लिए कलि वहाँ पहुँचा।[5]

ज्योतिष शास्त्र में तिथियों का भी अप्रतिम महत्व है। तिथियाँ प्रतिपदा से लेकर शुक्लपक्ष में पूर्णिमा एवं कृष्णपक्ष में अमावस्या पर्यन्त पन्द्रह मानी जाती हैं। यथा-

प्रतिपच्च द्वितीया च तृतीया तदनन्तरम् ।
चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमी चाष्टमी तथा ।।
नवमी दशमी चैवैकादशी द्वादशी तथा ।
त्रयोदशी ततोज्ञेया ततः प्रोक्ता चतुर्दशी ।।
पूर्णिमा शुक्ल पक्षेऽन्त्या कृष्णपक्षेत्वमा स्मृता।।[6]

---

1. नै० 1/120
2. रविविधुक्षितिजा बुधवाक्पती भृगुशनी च तमः शिखिनी ग्रहाः। सुगम ज्योतिष, पृ० 110
3. रवि शुक्रो महीसूनुः स्वार्भानुर्भानुजो विधुः ।
   बुधो वृहस्पतिश्चैव दिशाभीशास्तथा ग्रहाः ।। - सुगम ज्योतिष पृ० 110
   सूर्यः सोमो महीपुत्रः सोमपुत्रो वृहस्पतिः ।
   शुक्रः शनैःश्चरो राहुः केतुश्चैते ग्रहाः स्मृताः ।। याज्ञवल्क्यस्मृति, 295 श्लोक आचाराध्याय
4. क्षीणश्चन्द्रो रविर्भौमः पापो राहुः शनिः शिखी ।
   बुधोऽपि तैर्युतः पापः शेषाश्चैव शुभग्रहाः ।।
   क्षीणेन्द्वर्कार्किभौमाः स्युः पापाः सौम्योपि तद्युतः ।
   राहुकेतू पापतरौ पापः पापयुतस्तथा ।।
   भौममन्दार्कभोगीन्द्राः प्रकृत्या दुःखदा नृणाम् ।
   ज्ञगुरुश्वेतकिरणः शुक्राः सुखकराः सदा ।। सुगम ज्यो० पृ० 110-111
5. मण्डलं निषधेन्द्रस्य चन्द्रस्येवामलं कलिः ।
   प्राप म्लापयितुं पापः स्वर्भानुरिव संग्रहात् ।। नै० 17/161
6. सुगम ज्योतिष - पृ० 61

श्रीहर्ष ने प्रतिपदा तिथि को अनध्याय तिथि की संज्ञा से अभिहित करते हुए अवन्ती नरेश के प्रसङ्ग में इसका वर्णन करते हुए कहा कि "उज्जयिनी में (पति के) इस राजा के सैंकड़ों अपराध (सपत्नीगमन, गोत्रस्खनल) करते हुए भी कामातुर स्त्रियाँ परुषं अक्षर नहीं पढ़ती अर्थात् कठोर वचन नहीं कहती हैं, क्योंकि वहाँ शङ्करजी के मस्तक में स्थित अनध्यायतिथि (प्रतिपदा) का चिह्न चन्द्रकला (प्रतिपदा की चन्द्रकला) नहीं दूर होती है। यथा-

आगःशतं विदधतोऽपि समृद्धिकामा नाधीयते परुष्ञमक्षरमस्य वामाः ।
चान्द्री न तत्र हरमौलिशयालुरेकाऽनध्यायहेतुतिथिकेतुरपैति लेखा ।।[1]

द्वितीया तिथि का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं जिस प्रकार उदय होने वाली चन्द्रकला (द्वितीया तिथि) को उत्कण्डित कुमुदनी के पुण्याङ्कुर से हटा लेते हैं। उसी प्रकार शिबिकावाहक दमयन्ती को मेघातिथि राजा से दूर ले गये। यथा-

ते तां ततोऽपि चकृषुर्जगदेकदीपादं सस्थलस्थितसमनविमानदण्डाः ।
चण्डद्युतेरुदयिनीमिवचन्द्रलेखां सोत्कण्ठकैरववनीसुकृतप्ररोहाः ।।[2]

चतुर्दशी तिथि को अदृश्य सिद्धि प्राप्त की जाती है। इसका वर्णन करते हुए नैषधकार दमयन्ती को अरुन्धती आदि तेरह महादेवियों[3] से श्रेष्ठ चतुर्दशी स्वरूप बताया । यथा-

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मी जम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम् ।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः ।।[4]

पूर्णिमा तिथि का श्रीहर्ष ने अनेकशः वर्णन किया है। कुण्डिनपुर के धवलदीप्तिमान मणिकल्पित प्रासादों पर (समीपस्थ) भूमि तथा आकाश प्रतिबिम्बत हो रहे थे, क्योंकि पूर्णमासी में चन्द्रमा अत्यधिक प्रकाशवान होता है और प्रासाद में खचित उन मणियों के कारण वहां सभी रात्रों में अकेली पूर्णिमा तिथि ही अतिथि बनी रहती थी।[5] शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की शुक्लता बढ़ती है। बढ़ते-बढ़ते एक सप्ताह बाद चन्द्रमा का आधाभाग दीप्तिमान हो जाता है और फिर एक सप्ताह व्यतीत होने पर चन्द्रमा जब सूर्य से १८० अंश दूर होता है, उस समय उसका बिम्ब पूरा हो जाता है। उस दिन सूर्य, चन्द्रमा, और पृथ्वी तीनों एक ही सिधाई में रहते हैं, एवं पृथ्वी सूर्य और चन्द्रमा के बीच में आ जाती है। उस योग को पूर्णिमा अथवा पौर्णमासी कहते हैं, उस समय चन्द्रमा की कला पूर्ण होती है, एवं उस दिन सूर्यास्त के साथ ही चन्द्रमा का उदय पूर्व क्षितिज में होता है। चन्द्रमा की कलाओं का वर्णन श्रीहर्ष ने मलयाधिपति के वर्णन में[6] करने के साथ-साथ नल दमयन्ती के सन्ध्याकालीन वर्णन प्रसंग में भी किया है। यथा-

---

1. नै० 11/92
2. नै० 11/80
3. ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा । वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा स्प्तमातरः ।।
ब्राह्मणी चैव माहेशी कौमारी वैष्णवी तथा । वाराही नारसिंही च माहेन्द्री चण्डिका तथा ।।
महालक्ष्मीरिति प्रोक्ताः क्रमेणैता नवाम्बिकाः।। - नै० 7/97 मल्लिकनाथी टीका में उद्धृत।
4. नै० 7/97
5. सितदीपप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि। निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिकातिथिः।। नै० 2/76।
6. अध्याहारः स्मरहरशिरश्चन्द्रशेषस्य शेषस्याहेर्भूयः फणसमुचितः काययष्टीनिकायः।
दुग्धाम्भोधेर्मुनिचुलुककनत्रासनाशाभ्युपायः कायव्यूहः क्व जगति न जागर्त्यदः- कीर्तिपुरः? 12/57

अंशं षोडशमामनन्ति रजनीभर्त्तुः कलां
वृत्त्यन्त्येनं पञ्चदशैव ताः प्रतिपदाद्याराकवद्विष्णवः ।
या शेषा पुनरुद्धृता तिथिमृते सा किं हरालंकृतिस्तस्याः
स्थानबिलं कलङ्कमिह किं पश्यामि सश्यामिकम्? ।।[1]

नैषध में पूर्णिमा तिथि से सम्बन्धित अन्य श्लोक भी दृष्टव्य हैं जो नैषधकार के ज्योतिषशास्त्र के गम्भीर ज्ञान का संकेत देते हैं। यथा-

विरहवर्गवधव्यसनाकुलं कलह पापमशेषकलं विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम् ।।[2]
पूर्णेन्दुबिम्बाननुमासभिन्नानस्थापयत् क्वापि निधाय वेधाः ।
तैरेव शिल्पी निरमादमीषां मुखानि लावण्यमयानि मन्ये ।।[3]
अस्या मुखस्यास्तु न पूर्णिमास्यं पूर्णिस्य जित्वा महिमा हिमांशुम् ।
भ्रूलक्ष्मखण्डं दधदर्भमिन्दुर्भालस्तृतीयः खलु यस्य भागः ।।[4]

अमावस्या तिथि का भी ज्योतिष शास्त्र में अप्रतिम महत्व होता है। जिस दिन चन्द्रमा सूर्य के साथ रहता है (अमात्र साथ, वस त्र रहना) उसी दिन अमावस्या तिथि होती है। नैषधकार ने अमावस्या को 'कुहू' शब्द से अभिहित किया। हंस दमयन्ती वार्तालाप प्रसङ्ग में दमयंती अपने विरह ताप का तार्किक कारण खोजते हुए कहती है कि हे हंस! प्रत्येक मास की अमावस्या को जो यह चन्द्रमा सूर्य के पास जाता है तो क्या वहीं से मुझे जलाने के लिए गर्मी ले आता है, क्योंकि चन्द्रमा के पास तो शैत्य है उष्णता नहीं। दूसरे शब्दों में वह प्रसिद्धतम चन्द्रमा जो प्रतिमास (अमावस्या) सूर्य के साथ सङ्गत करता है, क्या वही अत्यन्त तीक्ष्ण एवं धैर्यनाशक किरणों से मुझे जलाने में समर्थ होता है?[5] एक महीने में दो पक्ष होते हैं, उनको शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष कहते हैं, शुक्लपक्ष देवताओं का, एवं कृष्ण पक्ष पितरों का है।[6] प्रतिपदा से पौर्णमासी तक शुक्लपक्ष एवं प्रतिपदा से अमावस्या तक कृष्ण पक्ष होता है।[7] चन्द्रमा अमावस्या को पृथ्वी और सूर्य के बीच आ जाता है, अतएव उस समय चन्द्रमा का सूर्य की ओर वाला भाग दिखायी नहीं पड़ता, उस दिन सूर्य के साथ ही चन्द्रमा उदित होता है एवं उसी के साथ अस्त भी होता है। श्रीहर्ष ने भी इस तथ्य की ओर निर्देश किया है। दमयंती नल के मुख को पूर्ण चन्द्र बताती हुई कहती है कि-

राजा द्विजानामनुमासभिन्नः पूर्णा तनूकृत्य तनुं तपोभिः ।
कुहूषु दृश्येतरता किमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ।।[8]

ज्योतिष सिद्धान्त के अनुसार सूर्यरश्मियों के प्रतिबिम्ब से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है। इस तथ्य के विवरण की मीमांसा नल के कुण्डिनपुर पहुँचने पर श्रीहर्ष के कथन से होती है जब वह कहते हैं कि

---

1. नै० 22/140
2. नै० 4/62
3. नै० 4/62
4. नै० 7/53
5. प्रतिमासमसौ निशाकरः खग! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम्। किमुतीब्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः।। नै० 2/58
6. पूर्वापरं मासदलं हि पक्षौ पूर्वापरौ तौ सितनीलसंज्ञौ। पूर्वश्च दैवश्च परश्च पित्र्यः। सुगम ज्योतिष - पृ० 59
7. प्रतिपदादिपौर्णमान्तः शुक्लः प्रतिपदादिदर्शान्तः कृष्णपक्षः। दिवसः षष्ठिघटिकात्मकः। - सुगम ज्योतिष- पृ० 51
8. नै० 8/37

जिस प्रकार सूर्यमण्डल के प्रकाश से चन्द्रमण्डल में प्रकाश होता है, उसी प्रकार सारथीयुक्त रथ से उतर कर नल ने पुरी में प्रवेश किया।

रथादसौ सारथिना सनाथाद्राजावतीर्याशुपुरं विवेश ।
निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात्सौधाकरं मण्डलमंशुसंघः ।।[1]

चन्द्रमा की गति के बारे में ज्योतिर्विदों की मान्यता है कि प्रत्येक महीने के १५ दिन में यह सूर्य की तरफ (कृष्णपक्ष में) जाता है एवं शेष १५ दिन में सूर्य से दूर (शुक्लपक्ष) होता है। यथा-

पद्मिनीश्वरपुरात् पुरः याति चेत्कुमुदिनीश्वरस्त्वरम् ।
भानुभानुमितभागभूभयः सम्भवन्ति तिथयः खवह्नयः ।।[2]

सूर्य की अधिष्ठित राशि से अग्रिम राशि में जब चन्द्रमा शीघ्रगति से जाता है, तब भचक्र में जितने समय में १२ अंश चलता है, उतने में एक तिथि होती है। भचक्र ३६० अंशों का होता है। अमावस्या के अन्त में सूर्य तथा चन्द्रमा एक साथ होते हैं, तब चन्द्रमा अपनीशीघ्रगति के कारण प्रतिदिन बारह अंश बढ़ता है तथा सूर्य चन्द्रमा का अन्तर जब बारह अंश होता है, तब एक तिथि बनती है। ३० तिथियों में ३६० अंश होते हैं, इसलिए एक तिथि में १२ अंश हुए। राशियाँ १२ होती हैं।[3] ३६०÷१२= ३० अतएव प्रत्येक राशि ३०ह की होती है। २७ नक्षत्र होते हैं, प्रत्येक नक्षत्र का मान ३६०÷२७=$13\frac{1}{3}$ अंश होता है, एवं चन्द्रमा जब $13\frac{1}{3}$ अंश आगे बढ़ता है, तब एक नक्षत्र होता है। शनि $2\frac{1}{2}$ वर्ष में एक राशि का अतिक्रमण करता है जबकि चन्द्रमा $2\frac{1}{4}$ दिन में।[4] अर्थात् चन्द्रमा एक राशि में $2\frac{1}{4}$ दिन रहता है। स्पष्ट है कि पूर्णिमा तथा अमावस्या तिथियों को कारक चन्द्रमा एवं सूर्य हैं। नैषधकार के अमावस्या सम्बन्धी अन्य विवरण भी दृष्टव्य हैं। यथा-

वियोग भाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमानम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहुरुताऽहूयत चन्द्रवैरिणी ।।[5]
विरहिभिर्बहुमानभवापि यः स, बहुलः खलुपक्षइहाजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममाकृता ।।[6]
विधुविरोधितिथेरिभिधायिनीमयि! न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम् ।
सखि! किमर्थगवेषणया? गिरं किरति सेयमनर्थमयीं मयि ।।[7]
सूरं न सौर इव नेन्दुमवेक्ष्य तस्मिन्नश्नाति यस्तदितरत्रिदशानभिज्ञः ।
तस्यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव दर्शेऽश्नतोऽपि न भवत्ववकीर्णिभावः ।।[8]

---

1. नै० 6/7
2. सुगम ज्योतिष - पृ० 53
3. मेषो वृषोऽथ मिथुनं कर्कः सिंहश्च कन्यका। तौलिश्च वृश्चिकश्चैव धनुः मकर एव च।। कुम्भमीनौ क्रमादेते राशयः परिकीर्तिताः।।
4. सारस्वत सन्दर्शनम्- पृ० 155।
5. नै० 1/100
6. नै० 4/63
7. नै० 4/107
8. नै० 11/76

विधोर्विधिर्बिम्बशतानि लोपं लोपं कुहूरात्रिषु मासि मासि ।
अभङ्गुरश्रीकममुं किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ।।[1]
राजा दुजानामनुमासभिन्नः पूर्णां तनूकृत्य तनुं तपोभिः ।
कुहूषु दृश्येतरतां किमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ।।[2]
तमोमयीकृत्य दिशः परागैः स्मरेषवः शक्रदृशां दिशन्ति ।
कुहूगिरं चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपि सत्यवाचम् ।।[3]

नक्षत्रों का सम्पूर्ण ज्योतिष में यथेष्ट स्थान है। नक्षत्र २७ होते हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तर फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, अभिजित, श्रवण, धनिष्ठा शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रेवती।[4] कहीं-कहीं अभिजित का भी ग्रहण होता है, इस प्रकार अभिजित को मिलाकर २८ नक्षत्र हो जाते हैं, परन्तु २७ नक्षत्र ही मुख्य माने जाते हैं, क्योंकि आचार्यों का मत है कि उत्तराषाढ़ा का अन्त्य चरण तथा श्रवण की पहिली चार घड़ियाँ सब मिलाकर १९ घड़ियाँ अभिजित नक्षत्र का मान हैं, तथा हलचक्र, कूर्मचक्र, सर्पाकार, त्रिनाडी चक्र, खार्जूर चक्र आदि में अभिजित की गिनती भी नहीं होती है। श्रीहर्ष के अनुसार भी २७ नक्षत्र ही मुख्य है, उन्होंने नक्षत्रों का वर्णन करते हुए लिखा कि चन्द्रमा के पिता अत्रिमुनि के एक ही तारा (चन्द्ररूप नक्षत्र, पक्षान्तर में कनीनिका= आँख की पुतली) थी, किन्तु उसके पुत्र चन्द्रमा की सम्पत्ति तो पिता (नेत्र से चन्द्रमा को उत्पन्न करने से चन्द्रमा के पितृस्थानीय अत्रिमुनि) से भी अधिक हुई, क्योंकि इस (चन्द्रमा) की वे (तारायें नक्षत्र-पक्षा० कनीनिकाएँ) सत्ताइस हुईं। अर्थात् चन्द्रमा अपने पिता अत्रिमुनि से भी अधिक भाग्यवान हैं।[5] पुराणों में कथा मिलती है कि दक्ष प्रजापति ने अश्विनी आदि तारारूपिणी अपनी सत्ताइस पुत्रियों को चन्द्रमा के लिए दिया था।

नक्षत्रों का वर्णन[6] करते हुए श्रीहर्ष ने दमयंती को नक्षत्र समूहों के बीच में चन्द्रलेखा के तुल्य शोभती हुई देखा। यथा-

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं, सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतां शुलेखाऽनुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ।।[7]

---

1. नै० 7/59
2. नै० 8/37
3. नै० 8/65
4. अश्विनी भरणी चैव कृत्तिकारोहिणी मृगः । आर्दा पुनर्वसुः पुष्यस्ततोऽश्लेषा मघा ततः ।।
पूर्वाफाल्गुनिका तस्मादुत्तराफाल्गुनिका ततः । हस्तश्चित्रा ततः स्वाती विशाखा तदनन्तरम् ।।
अनुराधा ततो ज्येष्ठा ततो मूलं निगद्यते । पूर्वाषाढोत्तराषाढा अभिजिच्छ्रवणस्ततः ।।
धनिष्ठा शततारारव्यं पूर्वाभाद्रपदा ततः । उत्तराभाद्रपदा चैव रेवत्येतानि भानि च ।।
वैश्वधिष्ठ्यांशपादस्य श्रुतेराद्याब्धिनाडिकाः । अभिजिद्भमितिर्ग्राह्या ह्यष्टाविंशतिभेषु सा ।।
(उत्तराषाढया अन्त्यपादः श्रवस्य प्रथमाश्चतस्रो घट्यः =19 घट्यः अभिजिन्मानम्) ।। लाङ्गले कमठे चक्रे फणिचक्रे त्रिनाडिके। अभिजिद्गणना नास्ति चक्रे खार्जूरिके तथा।। सुगगम ज्योतिष पृ० 74
5. एकैवतारा मुनिलोचनस्य जाता किलैतज्जनकस्य तस्य ।
तालाधिका सम्पदभूदियं तु सप्तान्विता विंशतिरस्य यत्ताः ।। नै० 22/127
6. अग्निपुराण- 126 अध्याय नक्षत्र निर्णय वर्णनम्, 136 अध्याय, नक्षत्र चक्रम्।
7. नै० 2/107

कामसंतप्ता (हंस से नल के विषय में जानकर) दमयन्ती के वर्णन में हस्तनक्षत्र का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं कि-

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं करगतैव गता यदियं कुहूः ।
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि! मुखं न विधोः पुनरीक्ष्यते ।।[1]

विशाखा नक्षत्र को कामदेव के विजय शंख के रूप में बताते हुए नैषधकार का कथन है कि-

स्मरस्य कम्बुः किमयं चकास्ति दिवि त्रिलोकीजयवादनीयः ।
कस्यापरस्योडुमयैः प्रसूनैर्वादित्रशक्तिर्घटते भटस्य ।।
किं योगिनीयं रजनी रतीशं याजीजिवत्पद्मनगमुहच्च ।
योगार्द्धिमस्या महतीमलग्नमिदं वदत्यम्बरचुम्बि कम्बु ।।[2]

मृगशिरा नक्षत्र का चित्रण करते हुए नल दमयन्ती से कहते हैं कि प्रिये! तुम्हारे इस मुख चन्द्र का कलङ्क मृग कहाँ चला गया, क्या वह मदन से बिद्ध होकर आकाश में मृगशिरा (वाणाकार पुष्पतुल्य) नक्षत्र में चला गया है। यथा-

एणः स्मरेणाङ्कमयः सपत्राकृतो भवद्भ्रूयुगधन्वना यः ।
मुखे तवेन्दौ लसता स तारा पुष्पालिबाणानुगतो गतोऽयम् ।।[3]
रुद्रेषुविद्रावितमार्त्तमारात्तारामृगं व्योमनि वीक्ष्य बिभ्यत् ।
मन्येऽयमन्यः शरणं विवेश मत्वेशचूडामणिमिन्दुमेणः ।।[4]

रोहिणी नक्षत्र के बारे में श्रीहर्ष का कथन है कि-

मम त्वदच्छाङ्घ्रिनखामृतद्युतेः किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ।
उपासनामस्य करोतु रोहिणी त्यजत्यजाकारणरोषणे! रुषम् ।।[5]

ज्योतिष शास्त्र में भी नक्षत्रों की आकृति रोहिणी का शकट (गाड़ी के) समान, मृगशिरा का हरिण के मुख के समान, हस्त का हाथ के समान, विशाखा का तोरण (फाटक) के समान मानी गयी है। यथा-

अश्व्यादिरूपं तुरगास्ययोनी क्षुराऽन एणास्यमणिर्गृहञ्च ।
पृषत्चक्रे भवनं च मञ्चः शय्या करो मौक्तिकविद्रुमञ्च ।।
तोरणं बलिनिभञ्च कुण्डलं सिंहपुच्छगजदन्तमञ्चकाः ।
त्र्यस्रि च त्रिचरणाभमर्दलौ वृत्तमञ्चयमलाभमर्दलाः ।।[6]

ब्रह्माण्ड में स्थित तारों के बारे में श्रीहर्ष का कहना है कि यह ब्रह्माण्ड सृष्टि के आदि से ही निर्मित एक मण्डप रूप है, एवं अतिप्राचीन होने के कारण इसके काष्ठों में घुन लग गये हैं । ये तारे उन्हीं घुनों के द्वारा किये गये छेद हैं तथा इन तारों की किरणें उन छिद्रो से निकलने वाली जीर्ण काष्ठ की

---

1. नै० 4/57
2. नै० 22/21, 22
3. नै० 22/24
4. नै० 22/78
5. नै० 9/107
6. सुगम ज्योतिष, पृ०81

श्वेत धूल हैं।[1] तारागणों की संख्या अत्यधिक[2] बताते हुए अगस्त्य तारा,[3] ध्रुवतारा,[4] एवं अरुन्धती[5] आदि का वर्णन नैषधकार ने किया है। सरस्वती के वर्णन प्रसङ्ग में नैषधकार का कथन है कि नक्षत्र तारा आदि के वर्णन से युक्त, शिक्षा, कल्प आदि षडङ्गों में संख्यात ज्योतिषशास्त्र जिस (सरस्वती) की सेवा के लिए हारलता रूप हो गया था। यथा-

स्थितैव कण्ठे परिणम्य हारलता बभूवोदिततारवृत्ता।
ज्योतिर्मयी यद्भजनाय विद्या मध्येऽङ्गमङ्केन भृता विशङ्के ।।[6]

ज्योतिषशास्त्र में राशियों का अप्रतिम स्थान है। राशियों के माध्यम से ही जातक के भूत, भविष्य एवं वर्तमान पर विचार किया जाता है। राशियाँ बारह मानी गयी हैं, वे हैं मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ एवं मीन।[7] सिंह आदि छैः राशियों का स्वामी सूर्य है, शेष छैः राशियों का स्वामी चन्द्रमा है। इन दोनों ने क्रम से ग्रहों को अधिकार दिया है। मेष एवं वृश्चिक का स्वामी मङ्गल, वृष तथा तुला का शुक्र, कन्या एवं मिथुन का बुध, कर्क का चन्द्रमा, सिंह का सूर्य, धनु तथा मीन का वृहस्पति, मकर एवं कुम्भ राशियों का स्वामी शनैश्चर है।[8] श्रीहर्ष ने राशियों में कर्क एवं मकर राशियों का वर्णन (नल द्वारा दमयन्ती से सन्ध्याकालीन वर्णन प्रसङ्ग में) करते हुए अभिहित किया कि मन्दाकिनी में देवों के विहार करने के कारण भय से उसके कछुए, मछली, केकड़े आदि जल जन्तु नीचे बैठ गये हैं, और हम भूवासियों को यहाँ से नीचे बैठे हुए ये कर्कराशि, मकरराशि आदि के रूप में साफ दिखायी पड़ रहे हैं। यथा-

---

1. लोकाश्रयो मण्डपमादिसऊष्टि ब्रह्माण्डमाभात्यनुकाष्ठमस्य ।
स्वकान्तिरेणूत्करवान्तिमान्ति घुणव्रणद्वारनिभानि भानि ।। नै० 22/25
2. अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।
शितिनिशादृषदिस्फुटदुत्पतत्कणाधिकतारकिताम्बरः ।। नै० 4/49
अस्ताचलेऽस्मिन्निकषोपलाभे सन्ध्याकषोल्लेखपरीक्षितो यः ।
विक्रीय तं हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौः ।। नै० 22/ 13
पचेलिमं दाडिममर्कबिम्बमुत्तार्य सन्ध्या त्वगिवोज्झितास्य ।
तारामयं बीजभुजादसीयं कालेन निष्ठ्यूतमिवास्थियूथम् ।। नै० 22/ 14
तारततिर्बीजमिवादमादमियं निरष्ठेवि यदस्थियूथम् ।
तन्निष्कुलाकृत्य रविं त्वगेषा सन्ध्योज्झिता पाकिमदाडिमं वा ।। नै० 22/15
सन्ध्यावशेषे धृतताण्डवस्य चण्डीपतेः पत्पतनाभिघातात् ।
कैलासशैलस्फटिकाश्मखण्डरमण्डि पश्योत्पतयालुभिर्द्यौः ।। नै० 22/15
3. अयि! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ।
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः ।। नै० 4/58
अजातविच्छेदलवैः स्मरोत्सवैरगस्त्यभासा दिशि निर्मलत्विषि ।
धुतावधिं कालममृत्युशङ्किता निमेषवत्तेन नयस्व केलिभिः ।। नै० 9/57
4. ध्रुवायलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याभिदधे विदर्भजा ।
किमस्य न स्यादणिमाऽक्षिसाक्षिकस्तथाऽपि तथ्यो महिमाऽऽगमोदितः।। नै० 16/38
5. धवेन साऽदर्शि वधूररुन्धतीं सतीमिमां पश्य गतामिवाणुताम् ।
कृतस्य पूर्वं हृदि भूपतेः कृते तृणीकृतस्वर्गपतेर्जनादिति ।। नै० 16/38
अमहतितरास्तादृक् तारा न लोचनगोचरास्तरणि किरणाद्यामञ्चन्ति क्रमादपरस्पराः ।
कथयति परिश्रान्तिं रात्रीतमः सह युध्वनाम् अयमपि दरिद्राण प्राणस्तमीदयितस्त्विषाम् ।। नै० 19/4
6. नै० 10/39
7. मेषो वृषोऽथ मिथुनं कर्कटः सिंह कन्यके। तुलाथ वृश्चिको धन्वी मकरः कुम्भमीनकौ।। सुगम ज्योति पृ० 100
8. सिंहादिषट्कस्य पतिर्दिनेशः कर्कान्तषट्कस्य पतिर्निशेशः। ताभ्यां प्रदत्तः क्रमशोऽधिकारो ज्ञशुक्रभौमेज्यशनैश्चरेभ्यः।।
मेषवृश्चिकयोर्भौमः शुक्रो वृषतुलाधिपः। कन्यामिथुनयोः सौम्यः कर्कस्वामी च चन्द्रमाः।।
सिंहस्याधिपतिः सूर्यो गुरुस्तु धनमीनयोः। शनिर्नक्रस्य कुम्भस्य कथितो गणकोत्तमैः ।। सुगम ज्यो0- पृ० 100

अमूनि मन्येऽमरनिर्झरिण्या यादांसि गोधा मकरः कुलीरः ।
तत्पूरखेलत्सुरभीतिदूरमग्रान्यधः स्पष्टमितः प्रतीमः ।।[1]

जन्मफल के परिगणन में ग्रहयुतियों या ग्रहसंयोगों का विचार किया जाता है। श्रीहर्ष ने भी राजा नल के वर्णन प्रसङ्ग में श्लेष के माध्यम से ग्रहसंयोगों की चर्चा करते हुए कहा कि सूर्य के समान कान्तिमान बुद्धिमान, तेजस्वी, राजा नल, कवि (शुक्र), तथा विद्वानों (बुध) के साथ काव्य एवं शास्त्र का अभ्यास करते हुए, हर्ष पूर्वक समय को व्यतीत करते हुए प्रतिदिन समृद्धि को उसी प्रकार प्राप्त कर रहे थे, जिस प्रकार निरन्तर समीप में स्थित शुक्र तथा बुध ग्रहद्वय के साथ समय को व्यतीत करते हुए तेजस्वी सूर्य प्रतिदिन उदय को प्राप्त करते हैं।[2] ज्योतिर्विदों की मान्यता है कि बुध तथा शुक्र, सूर्य से ९० अंश (डिग्री) में ही रहते हैं। जिस जातक के जन्मकाल में बुध, शुक्र एक साथ बैठे हों वह मनुष्य कुल में प्रतापी, श्रेष्ठवाणी बोलने वाला, सदा हर्ष सहित रहने वाला श्रेष्ठ वेष वाला, बहुत मनुष्यों का स्वामी, गुणवान तथा विवेकी होता है।[3] इसे कुलदीपक योग कहते हैं और यदि हम नल के जीवन चरित पर दृष्टि डालें, तो उनकी जन्मकुण्डली में बुध, शुक्र योग का होना अवश्यंभावी लगता है, क्योंकि ज्योतिष ग्रंथों में वर्णन मिलता है कि-

लग्ने यस्य बुधः शुक्रः केन्द्रे यस्य वृहस्पतिः। दशमेऽङ्गारको यस्य सः जातः कुलदीपकः।।
लग्ने नास्ति बुधः शुक्रः केन्द्रे नास्ति वृहस्पतिः। दशमेऽङ्गरको नास्ति सः जातः किं करष्यिति।।

और नल तो राजा होने के साथ-साथ अपने कुल के दीपक ही थे। यदि हम उपर्युक्त विवरण में बुध, शुक्र एवं सूर्य तीन ग्रहों के योग को मानें, तब तो उसका फल नल के जीवन से विपरीत दिखायी पड़ता है। क्योंकि बुध, शुक्र एवं सूर्य जिस मनुष्य के जन्मकाल में एक भाव में बैठे हो, तो वह मनुष्य साधुओं का बैरी, निन्दित, स्त्री के कारण से बहुत संतप्त, बहुत बोलने वाला तथा देशों का भ्रमण करने वाला होता है[4] साथ ही इस योग के होने पर धान्य महर्घता, अल्पवृष्टि का भय, एवं ज्यादा ताप वृष्टि होती है।[5] परन्तु उपर्युक्त त्रिग्रह योग (बुध, शुक्र, सूर्य) तो नल के प्रसङ्ग में सर्वथा असमीचीन एवं अप्रासङ्गिक लगते हैं, परन्तु द्विग्रह योग (बुध, शुक्र) समीचीन सिद्ध होते हैं। यह भी संभव प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने ऐसा विवरण अपनी काव्यचारुता (श्लेषोपमा) के लिए किया हो, परन्तु इस सन्दर्भ में त्रिग्रह योग तो नहीं ही माना जा सकता।

ज्योतिषशास्त्र में चन्द्रमा के दोनों ओर वृहस्पति तथा शुक्र के योग को **''दुरुधरा योग''** कहते हैं। यदि चन्द्रमा से द्वादश स्थान में सूर्य को छोड़कर शेष कोई ग्रह स्थित हों तो **''अनफा योग''** होता है। यदि चन्द्रमा से द्वितीया स्थान में सूर्य को छोड़कर शेष कोई ग्रह हों, तो **''सुनफा योग''** होता है। यदि चन्द्रमा से द्वितीय तथा द्वादश दोनों स्थानों में ग्रह स्थित हों, तो **''दुरुधरा योग''** होता है। यदि दोनों

---

1. नै० 22/20
2. अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
   दधौ पटीयान्समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने-दिने ।। नै० 1/17
3. कुलाधिशाली शुभवाग्विलासः सदा सहर्षः पुरुषः सुवेषः ।
   भर्ता बहूनां गुणवान्विवेकी सभार्गवे जन्मनि सोमसूनौ ।। सुगम ज्यो0 पृ० 406
4. साधुद्वेषी निन्दितोऽत्यन्ततप्तः कान्ताहेतोर्मानवः संयुताश्चेत् ।
   दैत्यामात्यादित्यसौमाख्यखेटा वाचालः स्यादन्यदेशाटनश्च ।। सु0 ज्यो0 पृ० 408
5. एकराशिस्थिताह्येते सौम्यशुक्रदिनाधिपाः ।
   सर्वधान्य महार्घत्वं मेघाः स्वल्पजलप्रदाः ।। वृहद्दैवज्ञरंजन, पृ० 16 में उद्धृत मयूरचित्रक का कथन।

स्थानों में कोई ग्रह न हो तो "केमद्रुम" योग होता है।[1] **"दुरुधरा"** योग का फल ज्योतिर्विदों के मत में यह है कि, जिसका जन्म "दुरुधरा योग" में हो, वह धनवान, हाथी घोड़े से युक्त, सुखी, शत्रुनाशी तथा स्त्री के वश में होता है।[2] साथ ही यह भी कहा जाता है कि जिस मनुष्य के जन्मकाल में चन्द्रमा, वृहस्पति, शुक्र एक राशि में बैठे हों, तो वह मनुष्य सदा भाग्यवान, सुन्दर, कीर्तिवाला, बुद्धिमान तथा आजीविका सहित होता है।[3] नैषधकार ने इस योग का उल्लेख पन्द्रहवें सर्ग में किया है जहाँ दमयन्ती की सखी दमयन्ती के कानों में कुण्डल पहनती हुई कहती है कि सुन्दरि, जैसे गुरु (वृहस्पति), शुक्र के साथ चन्द्रमा के "दुरुधर नामक योग" में उत्पन्न होने वाला (जातक) बालक वृद्धिशाली होता है, उसी प्रकार इन कुण्डलों के साथ तुम्हारे मुख चन्द्र का सम्पर्क प्रिय नल में निश्चय ही अतिशय रति अभिलाषा का जनक होगा। यथा-

अवादि भैमी परिधाप्य कुण्ड़ले वयस्ययाभ्यामभितः समन्वयः ।
त्वदाननेन्दोः प्रियकामजन्मनि श्रयत्ययं दौरुधरीं धुरं ध्रुवम् ।।[4]

ज्योतिष शास्त्र में यह वर्णन मिलता है कि पूर्णचन्द्र शुभ होता है एवं क्षीण चन्द्र अशुभ या पापग्रह होता है। कृष्णपक्ष की अष्टमी के उपरान्त शुक्लपक्ष की अष्टमी पर्यन्त का चन्द्रमा क्षीण चन्द्रमा कहलाता है, उसके उपरान्त पूर्ण चन्द्रमा कहलाता है।[5] नल के विरह से दुःखी दमयन्ती पूर्णचन्द्र के प्रति क्रोधित होकर अपनी सखी से कहती है कि विरहियों के वध में सन्नद्ध इस पूर्ण चन्द्र को तुम पापग्रह ही समझो (जबकि ज्योतिर्विदों के मत में यह शुभग्रह है) देवताओं ने जिसके अमृत को पी लिया है ऐसी उस अमावस्या का चन्द्र तो निष्पाप है, परन्तु इन ज्योतिषविदों की कैसी विपरीत बातें होती हैं,[6] जब वह कहते हैं कि क्षीण चन्द्रमा अशुभ होता है एवं पूर्ण चन्द्रमा शुभ। यहाँ मल्लिनाथ का कथन है-

"किं ग्रहविदोदैवज्ञास्तु कथं विपरीतकथाः" क्षीणेन्द्वर्कार्किभूपुत्राः पापास्तत्संयुतो बुधः।
पूर्णचन्द्रबुधाचार्यशुक्रास्ते स्युः शुभग्रहाः।[7]

सिद्धान्त ज्योतिष में मनुष्य, देवता, तथा ब्रह्मा के काल सम्बन्ध की चर्चा का विवरण मिलता है, जिसमें मनुष्यमान से एक चतुर्युगी, ४३ लाख २० हजार वर्षों की होती है। एक हजार चतुर्युगी व्यतीत होने

---

1. रविवर्ज्यं द्वादशगैरनफा चन्द्राद्द्वितीयगैः सुनफा ।
उभयस्थितैदुरुधरा केमद्रुमसंज्ञिको योऽन्यः ।। सुगम ज्यो0 पृ० 451
गुरुभार्गवयोर्योगश्चन्द्रेणैव यदा भवेत् ।
तदा दुरुधराख्यः स्यात् इति ज्योतिःशास्त्रादवगन्तव्यम् ।। नै० 15/42 मल्लिनाथी, एवं नारायणी टीका में उद्धृत।
हित्वार्कं सुनफानफा दुरुधराः स्वान्त्योभयस्थैर्ग्रहैः शीतांशोः। वराहमिहिर वृहज्जातक- 13/3
2. सद्वित्तसद्वारणवाहधात्रीसौख्याभियुक्तः सततं हतारिः ।
कान्तासुनेत्राञ्चललालसः स्याद्योगे सदा दौरुधरे मनुष्यः ।। सुगम ज्योतिष - पृ० 451
3. भाग्यभाग्भवति मानवः सदा चारुकीर्तिमतिवृत्तिसंयुतः ।
भार्गवेन्दुसुरराजपूजिताः संयुता यदि भवन्ति सम्भवे ।। सुगम ज्योतिष- पृ० 410, श्लोक- 23
4. नै० 15/42
5. कृष्णाष्टमीदलादूर्ध्वं यावच्छुक्लाष्टमी भवेत् ।
तावत् क्षीणः शशी ज्ञेयः सम्पूर्णस्तदनन्तरम् ।। सुगम ज्योतिष- पृ० 111
अर्द्धोनेद्वर्क सौराराः पापा, ज्ञस्तद्युतोपरे ।
शुभाः पापोत्तमः कैतू विष्णुधर्मोत्तरोदितौ ।। वृहद्दैवज्ञरंजन, 32/24
6. विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलयपापमशेषकलं विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहोविदोविपरीतकथाः कथम् ।। नै० 4/62
7. नै० 4/62 मल्लिनाथ की टिप्पणी।

पर ब्रह्मा का एक दिन होता है एवं एक ब्रह्म दिन एक कल्प माना जाता है।[1] अमरकोश में भी कहा गया है "मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः वर्षेण दैवतः। दैव युग सहस्रे द्वे ब्राह्मः कल्पौ तु नृणाम्।[2] सूर्यसिद्धान्त में भी कहा गया है-

> मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदहमुच्यते। सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात् ॥
> तत्षष्टेः षड्गुणा दिव्य वर्षमासुरमेव च। तद्द्वादश सहस्राणि चातुर्युगमुदाहृतम् ॥
> युगानां सप्ततिः सैका मन्वतरमिहोच्यते। कृताब्दसंख्या तस्यान्तो सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः ॥
> ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश। कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशस्मृतः ॥
> इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः। कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तः शर्वरी तस्यतावती ॥
> परमायुः शतं तेषां तयाहोरात्रसंख्यया। आयुषोर्द्धगतं तस्य शेषात्कल्पोयमादितः ॥[3]

नैषधकार ने इस विवरण को कामसंतप्ता दमयन्ती के वर्णन में किया है जहाँ नल के वियोग (कामसंतप्त) में दमयन्ती विरह वेदना (नलवियोग से कामाग्नि की प्रज्ज्वनशीलता के कारण) की असह्यता को अपनीसखी से बताती हुई कहती है कि गणित शास्त्र (सिद्धान्त ज्योतिष) में मनुष्य, देवता तथा ब्रह्मा के जिस काल परिणाम से युगनिर्माण होता है, अर्थात् मनुष्य, देवता, ब्रह्मा का एक युग क्रमशः दूसरे के एक क्षण के बराबर होता है, उसी तरह (ब्रह्मा को चाहिए था कि) संयोगियों के एक क्षण के बराबर ही वियोगियों का युग बनाते, परन्तु ऐसा ब्रह्मा के द्वारा क्यों नहीं किया गया?[4]

मुहूर्त विचार भी ज्योतिष के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है। फलित ज्योतिष के अनुसार गणना करके निकाला हुआ कोई समय, जिस पर कोई शुभ कार्य (यात्रा, विवाह आदि) किया जाय उसको मुहूर्त कहते हैं।[5] ज्योतिष के अनुसार सूर्य के ललाटस्थ (प्रत्यादित्य) रहने पर "ललाटी योग" में यात्रा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह कल्याण कारक नहीं होती।[6] नैषध में भी दमयंती द्वारा हंस को पकड़ने हेतु उसके पीछे-पीछे जाने पर उसकी सखियाँ दमयन्ती से कहती हैं कि सुन्दरि! तुम्हारी यह हंसाभिमुख (हंस=सूर्य) यात्रा प्रशस्त नहीं होगी, परन्तु दमयन्ती ने उनसे कहा कि यह हंस मेरे लिए अशुभ (अपशकुनरूप) नहीं है, बल्कि मेरे भावीप्रिय (शुभवार्ता) का द्योतक है।[7] ज्योतिर्विदों की मान्यता है कि चित्रा और स्वाती नक्षत्रों में यात्रा करने वाले मनुष्य न ही सुख पाते हैं और न ही कुशलता से घर लौटते हैं।[8] नल वरुण देव के दूतकार्य को आरम्भ करते हुए दमयन्ती से कहते है कि तन्वि! जो (वरुण) सायंकाल में कुंकुम से शरीर

---

1. विष्णुपुराण- 1/3/20-21, वायुपुराण 57/33-35, 61/138-140, सिद्धान्त शिरोमणि 28 श्लोक, पुराणविमर्श, पृ० 290-300, मनु0 1/68-74, 79-80, महाभारत वनपर्व 188/22-24, 26, शांतिपूर्व 231/16-31 भार्गव पुराण- 3/11/18-20, 22-24 सुगम ज्योतिष- पृ० 46-52, अग्निपुराण 122 अध्याय काल गणना वर्णनम् 150- अध्याय मन्वन्तराणि।
2. अमरकोश- 1/4/21
3. सूर्य सिद्धान्त 1/16——21
4. नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा। विरहिणामपि तद्रतवद्युक्षणमितं न कथं गणितागमे॥ नै० 4/44
5. ज्योतिष रत्नाकर पृ०- 878
6. दिगीशाः सूर्यशुक्रार राहवर्केन्दुज्ञसूरयः ।
   दिगीश्वरे ललाटस्थे यातुर्न पुनरागमः ॥ नारदमत
   दिशामधीशा रविशुक्रभौमतयोयमेन्द्विन्द्वजसूरयः स्युः ।
   ललाटगेनप्रवसैद्दिगीशे गन्तव्यमस्मिन् खलुकण्ठकस्थै ॥ श्रीपतिमत—वृहद्दैवज्ञरंजन- पृ० 282 में उद्धृत।
7. शस्ता न हंसाभिमुखीपुनस्ते यात्रेति ताभिश्छलहस्य माना ।
   साह स्म नैवाशकुनी भवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ॥ नै० 3/9
8. कृतप्रयाणमष्टासुनकदाचिन्निवर्तते। चित्रात्रयमघाश्लेष तथार्द्राभरणीद्वयम्॥ यात्राप्रकरण में गर्गमत-बृहद्दैवज्ञरंजन, पृ० 278 में उद्धृत।

लेपन करने वाली दिशा (पश्चिम दिशा) के स्वामी हैं उन्होंने (वरुण) भी तुम्हारे लिए अपने मन (चित्त) को उसी समय भेजा जिस मुहूर्त में भेजा हुआ पथिक वापस नहीं लौटता। अर्थात् वरुण का मन वापस नहीं लौटा, अर्थात अब भी वह तुममें आसक्त है।[1] मल्लिनाथ का कथन है कि –

"अपुनरावृत्तिलिङ्गानूनं चित्रास्वात्योः प्रहितवानित्युत्प्रेक्षा ।
नन्दन्ति न निवर्तन्ते चित्रास्वात्योर्गता नराः इति वचनात् ।[2]

वाल्मीकि रामायण में वानरसेना के प्रयाण के पहले राम भी मुहूर्त की बात करते हुए कहते हैं-

उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते, अभिप्रयाम सुग्रीव सर्वानीक समावृताः ।
निमित्तानि च पश्यामि यानि प्रादुर्भवन्ति वै, निहत्य रावणं सीतामानयिष्यामि जानकीम् ।।[3]

अग्निपुराण में भी यात्रा मुहूर्त की चर्चा मिलती है। यथा-

सर्वयात्रां प्रवक्ष्यामि राजधर्मसमाश्रयात्। अस्तङ्गते नीचगते विकले रिपुराशिगे ।।
प्रतिलोमे च विध्वस्ते शुक्रे यात्रां विसर्जयेत्। प्रतिलोमे बुभेयात्रां दिक्पतौ च तथाग्रहे ।।
वैधृतौ च व्यतीपाते नागे च शकुनौ तथा। चतुष्पादे च किन्तुघ्ने तथायात्रां विवर्जयेत् ।।
विपत्तारे नैधने च प्रत्यरौ चाथजन्मनि। गण्डे विवर्जयेद् यात्रां रिक्तायाञ्च तिथावपि ।।
उदीची च तथा प्राची तयोरैक्यं प्रकीर्त्तितम्। पश्चिमा दक्षिणा या दिक् तयोरैक्यं तथैव च ।।
वाय्वग्निदिक्समुद्भूतं परिघं न तु लङ्घयेत्। आदित्य चन्द्रशौरास्तु दिवसाश्च न शोभना ।।
कृत्तिकाद्यानिपूर्वेण माघाद्यानि च याम्यतः। मैत्राद्यान्यपरेचाथ वासवाद्यानिवाप्युदुक् ।।
सर्वद्वाराणि शस्तानि छायामानं वदामि ते। आदित्ये विंशतिर्ज्ञेयाश्चन्द्रे षोडश कीत्तिताः ।।
भौमे पञ्चदशैवोक्ताश्चतुर्दश तथाबुधे। त्रयोदश तथा जीवे शुक्रे द्वादश कीर्त्तिताः ।।
एकादश तथा सौरे सर्वकर्मसु कीर्त्तिताः। जन्मलग्ने शक्रचापे सम्मुखेन व्रजेन्नरः ।।[4]

यज्ञकर्म पूजन एवं सामाजिक विधाओं यथा विवाहादि में भी मुहूर्त का अप्रतिम महत्व होता है। आज भी उपर्युक्त कर्म सम्पादन के पूर्व ज्योतिषियों या पण्डितों से लोग मुहूर्त निकलवाते या पूँछते देखे जाते हैं। नैषध में भी राजा भीम ने अपनी पुत्री दमयन्ती के विवाह के पूर्व ज्योतिषियों की एक सभा बुलायी जिसमें उन्होंने दमयन्ती के विवाह के लिए गुरु, शुक्र आदि ग्रहों के उदय अस्त दोषों से रहित तथा जामित्र (सम्पूर्ण) गुणों से युक्त मुहूर्त को राजा को बताया[5] एवं राजा ने भी उसी मुहूर्त में कन्यादान करने के लिए पूर्वकालिक वैदिक तथा स्मार्त विधियों को आरम्भ किया। मुहूर्तग्रंथों में वाराहीसंहिता, मुहूर्ततत्व, ज्योतिषदर्पण, मुहूर्तमार्तण्ड, लल्ल का रत्नकोश (५६० ई०) श्रीपति का रत्नमाला (९६१ ई०), भोज के राजमार्तण्ड एवं विद्वज्जनवल्लभ, बल्लालसेन के अद्भुतसागर, पद्मनाभकृतव्यवहारप्रदीप, ज्योतिर्विदाभरण, विवाहवृन्दावन, शार्ङ्गधरकृत विवाहपटल, ज्योतिर्निबन्ध, तोडरानन्द, मुहूर्तचिन्तामणि, मुहूर्तचूड़ामणि,

---

1. यस्तिन्विभर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भनकौतुकिन्याः।
तदा स चेतः प्रजिघाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः।। नै० 8/80
2. नै० 8/80 मल्लिनाथ की टिप्पणी।
3. रामायण- युद्धकाण्ड- 4/5-6
4. अग्निपुराण - 233/1-10
5. निरीय भूपेन निरीक्षितानना शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम्।
गुणैररीणेरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रजक्रमें।। नै० 15/8, एवं दृष्टव्य अग्निपुराण 231/1...5

मुहूर्तकल्पद्रुम, मुहूर्तमाला, मुहूर्तदीपक, मुहूर्तगणपति, मुहूर्तसिन्धु प्रमुख हैं।[1] इनमें वर्णन मिलता है कि विवाह मुहूर्त को ग्रहों के उदय अस्त दोषों से रहित एवं सम्पूर्ण गुणों से युक्त होना चाहिए। वशिष्ठ एवं श्रीपति का भी यही मत है। यथा-

इष्टोदयांशे निजपत्यदृष्टवरस्य मृत्युस्तदसंयुते च ।
अस्तांशकेप्येवमदृष्टयुक्ते स्वस्वामिना नाशमुपैतिकन्या ॥
उदयनगतनवांशः स्वेशदृष्टो युतो वा न भवति यदि मृत्युः स्यात्तदानीं वरस्य ।
परिणयसमये चैवमस्तोदयांशः स्वपतिसहितदृष्टवः मृत्युकारी च वध्वाः॥[2]

अग्निपुराण में भी विवाह मुहूर्त की चर्चा की गयी है जो निम्नलिखित है-

षड़ष्टके विवाहो न न च द्विद्वादशे स्त्रियाः। न त्रिकोणे ह्यथ प्रीतिः शेषे च समसप्तके ॥
द्विद्वादशे त्रिकोणे च मैत्रीक्षेत्रपयोर्यदि। भवेदेकांधिपत्यञ्च ताराप्रीतिरथापि वा ॥
तथापि कार्य्यः संयोगो नतुषट्काष्टकेपुनः। जीवे भृगौ चास्तमितेम्रियतेचपुमान्स्त्रिया ॥
गुरुक्षेत्रगते सूर्य्ये, सूर्य्ये क्षेत्रगते गुरौ। विवाहं न प्रशंसन्ति कन्यावैधव्यकृद्भवेत् ॥
अतिचारे त्रिपक्षं स्याद्वक्रे मासचतुष्टयम्। व्रतौद्वाहौ न कुर्व्वीत गुरोर्वक्रातिचारयोः ॥
चेत्रे पौषे न रिक्तासु हरौ सुप्ते कुजे खौ। चन्द्रक्षयेचाशुभंस्यात् सन्ध्याकालः शुभावहः ॥
रोहिणी चोत्तरा मूलं स्वाती हस्तोऽथ रेवती। तुलेनमिथुनेशस्तो विवाहः परिकीर्त्तितः ॥
विवाहे कर्णवेधे च व्रते पुंसवने तथा। प्राशने चाद्यचूड़ायां विद्धर्क्षञ्च विवर्जयेत् ॥[3]

अष्टकवर्गः-

नैषधकार ने ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित अष्टकवर्ग की चर्चा नैषध में की है। देवदूत बने नल दमयन्ती के प्रति अपने स्वाभाविक प्रेम को भूल नहीं पाते, एवं दमयन्ती को भीमप्रसाद में जब देखते हैं, तो कुछ क्षणों के लिए वह दौत्यकर्म भूलकर दमयन्ती को अपनी चिरसङ्गिनी के रूप में देखते हुए (अपने मन में) कहते हैं कि " दमयन्ती, कामदेव के जन्म का अष्टकवर्ग (दन्तक्षत से अधर पर विद्यमान रेखायें) लेखनी (दन्तलेखनी) से तुम्हारे अधर पर लिखा गया है। वह (तुम्हारा बिम्ब के समान) पाटल (अधरोष्ठ) अधर मेरे द्वारा दन्तक्षत से भोजपत्र बनें।[4] अर्थात् तुम्हारे (दमयन्ती की) काम की उत्पत्ति (पक्षान्तर में बिना शरीर से उत्पन्न अर्थात् मानसपुत्र) का शुभ अष्टवर्ग रेखाओं से जिस तुम्हारे अधर में (ज्यौतिषी विद्वान् या ब्रह्मा द्वारा) लिखा गया है, मेरे (नल के) दन्तक्षत समूह के द्वारा रंगने से बिम्बफल के समान लाल वह अधर भूर्ज (भोज) पत्र बनें। यहाँ यह कहा जा सकता है कि मनुष्य (स्त्री एवं पुरूष दोनों) की कुण्डली में आठ रेखाओं वाला अष्टवर्ग ज्योतिषी विद्वान् लिखते हैं, उनमें रेखाओं का रहना शुभ तथा बिन्दुओं का रहना अशुभ माना जाता है। प्राचीन काल में वर्तमान काल जैसी कागज की सुलभता नहीं रहने से यहाँ कुण्डली को भूर्जपत्र में लिखने का वर्णन नैषधकार ने किया है, क्योंकि प्राचीनकाल के लिखित ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ अब भी ताड़पत्र या भोजपत्र आदि में ही उपलब्ध मिलती है। दमयन्ती के अधर में जिस

---

1. भारतीय ज्योतिष- शिवनाथ झारखण्डी, पृ० 611-622
2. वृहद्दैवज्ञरंजन, पृ० 234
3. अग्निपुराण- 121/2...............9
4. शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः॥ नै० 9/119

अष्टवर्ग की रेखायें विद्यमान हैं, वह सामुद्रिक शास्त्रानुसार शुभसूचक हैं। मल्लिनाथ अष्टवर्ग की व्याख्या करते हुए कहते हैं- "अत्राधररेखाणामष्टवर्ग रेखात्वमधरस्य भूर्जपत्रत्वं चोत्प्रेक्षते। तेन च कामोदयस्य शुभोदर्कत्वं व्यज्यते। जन्मकालग्रहाधीनभावि शुभावेदको रेखाबिन्दुलेख्यश्चक्रविशेषोद्धार्यो ग्रहसंनिवेश विशेषोऽष्ट वर्गः"॥[1]

ज्योतिषशास्त्रीय ग्रंथों में यह विवरण उल्लिखित मिलता है कि जन्मकालीन ग्रहस्थिति से अर्थात् जन्म समय में जिस-जिस राशि में सात ग्रह स्थित हों, और लग्न जिस राशि में स्थित हो, इन आठ स्थानों से अर्थात् सात ग्रह और एक लग्न, से गोचर के फल का यदि विचार किया जाय, तो वह फल विश्वसनीय होगा। इसी विचार विधि को अष्टवर्ग या अष्टकवर्ग कहते हैं। स्वयं भगवान शङ्कर ने प्रथमतः यामल को अष्टकवर्ग के विषय में बतालाया था, तदनन्तर पराशर, मणित्थ, बादरायण, यवनेश्वर आदि ने उनका ही अनुकरण किया। जन्म समय जिस राशि में चन्द्रमा होता है उस राशि को जन्मराशि कहते हैं।[2] भारत वर्ष या अन्य देशों में भी कुण्डली के फल बताने की तीन विधियाँ अपनायी जाती हैं। जन्म लग्न से ग्रहों की स्थिति अनुसार फल बताना प्रथम विधि है। जन्म कालीन चन्द्रमा, जिसको चन्द्रलग्न भी कहते हैं, उस स्थान से ग्रहों की स्थिति अनुसार फल कहने की दूसरी विधि है, एवं नवांश कुण्डली के अनुसार फल कहने की तीसरी विधि है। लग्न से शरीर का विचार होता है और चन्द्रमा से मन का। समस्त कार्य मन पर ही निर्भर करता है और यह तो सिद्ध तथ्य है कि मनुष्य को मन ही से सुख एवं दुःख का अनुभव होता है। प्रत्येक ग्रह जन्म समय की स्थिति राशि पर अपने-अपने शुभाशुभ प्रभाव डालते हैं, और इसी प्रकार चन्द्रलग्न का भी अपना शुभाशुभ फल होता है, अर्थात् प्रत्येक जन्म कुण्डली मे सात ग्रह और एक लग्न मिलाकर अष्टवर्ग या अष्टकवर्ग होता है।[3] विद्वानों ने अष्टकवर्ग के विविध भेद माने हैं यथा-सूर्य्याष्टक वर्ग, चन्द्राष्टकवर्ग, मङ्गलाष्टक वर्ग, बुधाष्टक वर्ग, वृहस्पति अष्टकवर्ग, शुक्राष्टक वर्ग, शनि अष्टकवर्ग, एवं सर्वाष्टक (लग्नाष्टक) वर्ग। ज्योतिषशास्त्र में अष्टकवर्ग की महनीय उपयोगिता है क्योंकि इसके अनुसार चार प्रकार से फल जानने की विधि का प्रतिपादन मिलता है। (१) पहली विधि मनुष्य के आयु साधन की हैं अष्टकवर्ग के प्रतिवर्ग द्वारा जो आयु का निश्चय किया जाता है, उसे एकत्रित करने के पश्चात् जो आयु निर्णय किया जाता है उसे समुदाय अष्टकवर्ग "आयु" कहते हैं। (२) दूसरी भिन्न-भिन्न अष्टकवर्गों में रेखाओं द्वारा अनेक प्रकार के फल बतलाने की विधि है। (३) तीसरी, त्रिकोण एवं एकाधिपत्य शोधनादि के पश्चात् फलाफल जानने की विधि है। (४) चौथी, अष्टकवर्ग की रेखाओं द्वारा गोचर फल कहने की विधि है। दक्षिण भारत के अधिकांश विद्वान् सात ग्रहों ही के अष्टकवर्ग द्वारा आयु निश्चित करना ठीक मानते हैं, जब कि उत्तर भारतीय ज्योतिषमर्मज्ञों एवं पराशर आदि प्राचीन दैवज्ञों का मत इसके विपरीत है, अर्थात् इनके अनुसार सातग्रह एवं लग्न के अष्टकवर्ग द्वारा ही आयु निर्धारण विधान उचित एवं सही है, क्योंकि जातकपारिजात नामक ग्रंथ में लिखा भी है कि-

रविमुख्यनभोगदत्तसंख्याः, परमायुः शरदस्तु मानवानाम् ।
सविलग्नसमासश्च केचिदाहुर्गुरुमूलात् समुपैतितुल्यमाहुः ॥

---

1. नैषध- 9/119, मल्लिनाथी टीका
2. यस्मिन् राशौ शीतरश्मिः प्रसूतौ संस्थः प्रोक्तो जन्मराशिः स एव ।
एवं लग्ननान्विताः सप्त खेटास्ते किं न स्युः प्राणिनां जन्मभानि ॥ सुगम ज्योतिष- अष्टक-वर्गप्रकरण, श्लोक-2
3. पुंसामतोऽष्टौ किलराशयः स्युः शुभाशुभान्यत्र फलानि तेभ्यः ।
ततश्च रेखामिलनान्तरालास्पृष्टं फलं चाष्टक वर्गमुक्तम् ॥ वही श्लोक- 3

प्रत्येक ग्रह अपने-अपने स्थान से जिन-जिन स्थानों में बल प्रदान करता है,[1] इस शुभ फल दायित्व को रेखा या बिन्दु द्वारा दिखलाया जाता है। कुछ विद्वानों ने विन्दु द्वारा फल दिखलाने को शुभ माना, कुछ ने रेखा द्वारा, परन्तु यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि श्रीहर्ष को अष्टकवर्ग का फल रेखा द्वारा बतलाना ही शुभफलादेश का सूचक है। अष्टक वर्ग के विन्दुओं की संख्या इस प्रकार से है, सूर्य ४८, चन्द्रमा ४९, मंगल ३९, बुध ५४, वृहस्पति ५६, शुक्र ५२, शनैश्चर ३९।[2] लग्न का स्वामी जिस राशि में बैठा हो, उससे विन्दु गिने जाते हैं, एवं भिन्न-भिन्न राशियों में वे क्रमशः रखे जाते है।[3] दैवज्ञजनों ने विन्दुओं के फल बताते हुए कहा कि यदि एक बिन्दु हो तो क्लेश होता है, दो में द्रव्य हानि, तीन में दुःख, चार में समफल, पांच में नित्य सुख, छैः में नित्यधनागम; सात में सम्पत्ति वृद्धि, एवं आठ बिन्दु हों तो प्रशस्त लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।[4] सम्पूर्ण विन्दुओं का योग यदि २८ हो तो समफल, २८ से कम हो तो अशुभफल एवं २८ से अधिक बिन्दु होने पर अधिक शुभफल की प्राप्ति होती है।[5] कालिदास(महाकवि कालिदास से भिन्न) कवि ने अपने 'ज्योतिषर्विदाभरण' नामक ग्रंथ में लिखा है कि जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर दिशाएँ प्रकाशित हो उठती हैं उसी तरह अष्टकवर्ग की शुद्धि होने से कार्य की भी सिद्धि होती है। यथा-

यथोदये चन्द्रमलः प्रकाशो दिगङ्गनानां मुखकैरवस्य ।
तथाष्टवर्गग्रहलग्नशुद्धौ कार्यस्य पुंसां भवतीह सिद्धिः ।।[6]

दिशाओं का विचार फलित ज्योतिष का अभिन्न अंग है। ज्योतिषशास्त्र में दिशाओं एवं उनके स्वामियों का वर्णन निम्न रूप में मिलता है-

रवि शुक्रो महीसूनुः स्वभानुर्भानुजोविधुः ।
बुधो वृहस्पतिश्चैव दिशामीशास्तथाग्रहाः ।।[7]

एवं अन्य ग्रंथों में बुध को उत्तर दिशा का, सूर्य को पूर्व दिशा का तथा शुक्र को दक्षिण पूर्व (आग्नेयकोण) दिशा का स्वामी कहा गया है। नैषधकार ने भी दिशाओं एवं उसके साथ दिशाओं के स्वामियों का वर्णनकर इस क्षेत्र में भी अपनी गति की जानकारी दी है। उनके अनुसार दिशाएँ आठ होती है। चारों दिशाओं एवं उनके स्वामियों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने कहा कि "इन्द्र, यम, वरुण, और अग्नि चारों दिशाओं (क्रमशः पूर्व, दक्षिण, आग्नेयकोण, और पश्चिम दिशाओं) के स्वामी दमयन्ती के गुणों से मोहित होकर उसके साथ विवाह करने के अनुराग से कुण्डिनपुर में आये। यथा-

---

1. स्थानानि यानि प्रतिपादितानि शुभानि चान्यान्यशुभानि नूनम् ।
तयोर्वियोगादधिकं फलं यत्स्वराशितो यच्छति तद्ग्रहेन्द्रः ।। सुगम, ज्योति, अष्टकवर्ग प्रकरण, श्लोक-4
2. भुजङ्गवेदा नयसागराश्च नवाग्नयः सागरसायकाश्च ।
रसेषवो युग्मशरा नवत्रितुल्याः क्रमेणाष्टकवर्गलेखाः ।।
3. विलग्ननाथाश्रितराशितोऽत्र भवन्ति रेखाः खलुयत्र यत्र ।
विलग्नतस्तत्र च तत्र राशौ संस्थापनीयाः सुधिया क्रमेण ।।
4. क्लेशोऽर्थहानिर्व्यसनं समत्वं शश्वत्सुखं नित्यधनागमश्च ।
सम्पत्प्रवृद्धिर्विपुलामलश्रीः प्रत्येकरेखाफलमामनन्ति ।।
5. इत्येकखेटस्य हि सम्प्रदिष्टा रेखायुतिश्चाखिलखेटरेखाः।
अष्टद्विसंख्यास्तु समास्ततोऽपि यथाधिकोनाः सदसत्फलास्ताः ।। वही श्लोक- 5, 6, 7, 8,
6. सुगम ज्योतिष- पृ० 558, श्लोक-5,
7. सुगम ज्योतिष- पृ० 110

आखण्डलोदंडधरः कृशानुः पाशीति नाथैः ककुभां चतुर्भिः।
भैम्येव बद्ध्वा स्वगुणेन कृष्टैर्यये तदुद्वाहरसान्न शेषैः ।।[1]

नैषध में अन्य दिशाओं एवं उनके स्वामियों का वर्णन निम्नलिखित है।

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवनः स न दक्षिणः।
सुमनसो नमयन्नटनौ धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः।।[2]
यस्तन्वि! भर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भनकौतुकिन्याः ।
तदा स चेतः प्रजिघाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः ।।[3]
न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनन्तु दक्षिणम् ।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियोया वैरविधिर्वधावधिः ।।[4]

यावत् पौलस्त्यवास्तूभवदुभयहरिल्लोमरेखोत्तरीये ।सेतु प्रालेयशैलो चरति नरपतेस्तावदेतस्य कीर्तिः यावत् प्राक् प्रत्यगाशापरिवृढनगरारम्भणस्तम्भमुद्रावद्री, सन्ध्यापताकारुचिरचितशिखाशोणशोभावुभौ च ।।[5]

वरुणग्रहणीमाशामासादयन्तममुं रुची, निचयसिचयांशांशभ्रंशक्रमेण निरंशुकम् ।
तुहिनमहसं पश्यन्तीव प्रसादमिषादसौ निजमुखमिव स्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित् ।।[6]
विलोकनेनानुगृहाण तावद्दिशं जलानामधिपस्य दारान् ।
अकालि लाक्षापयसेव येयमपूरि पङ्कैरिव कुङ्कुमस्य ।।[7]

श्रीहर्ष ने पृथ्वी पर प्रभाव डालने वाले ग्रहणों यथा चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण का वर्णन भी किया है, परन्तु उनके वर्णन में ज्योतिषशास्त्र का पुट देखने को नहीं मिलता, उनमें पौराणिक आख्यानों की ही चर्चा की गयी है।[8] जबकि चन्द्रग्रहण, सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथ्वी के आन पर होता है एवं सूर्य ग्रहण पृथ्वी एवं सूर्य के बीच चन्द्रमा के आने पर।

रत्नशास्त्र

श्रीहर्ष ने रत्नों की उत्पत्ति, स्थान, उनके गुणदोष की जानकारी भी इस महनीय ग्रन्थ में क्रमशः पांचवे, बारहवें, पन्द्रहवें एवं उन्नीसवें आदि सर्गों में दी है। विभिन्न ग्रन्थों में त्रिरत्न, पंचरत्न, नवरत्न, एवं

---

1. नै० 10/8, एवं 9 --- 15 तक।
2. नै० 4/96
3. नै० 8/80
4. नै० नै० 9/93
5. नै० 12/47
6. नै० 19/3
7. नै० 22/3
8. अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रमा स्तुतविधुन्तुदया च तया बहु ।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ।। नै० 4/43 एवं 44 —— 76 तक।
प्रियावियोगक्लथितादिवैलाच्चन्द्राच्च राहुग्रहपीडितात्ते ।
ध्मातादभवेन स्मरतोऽपि सारैः स्वं कल्पयन्ति स्म नलानुकल्पम् ।। नै० 10/22
अङ्कचुम्बिघनचन्दनपङ्कं यत्र गारुडशिलाजममत्रम् ।
प्राप केलिकवलीभवदिन्दोः सिंहिकासुतमुखस्य सुखानि ।। नै० 21/23
मृगस्य लोभात्खलु सिंहिकायाः सूनुर्मृगाङ्कः कवलीकरोति ।
स्वस्यापि दानादमुमङ्कसुप्तं नोज्झन्मुदा तेन च मुच्यतेऽयम् ।। नै० 22/66

चतुर्दशरत्नों का वर्णन उपलब्ध होता है, किन्तु यहाँ इस सन्दर्भ में जैनों के त्रिरत्न (यहाँ सम्यक दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चरित्र का विवरण अप्रासङ्गिक होगा, अतएव यहाँ केवल पञ्चरत्न, नवरत्न एवं चतुर्दश रत्नों का विश्लेषण ही समीचीन माना जा सकता है।[1] आज ज्योतिष के माध्यम से अपने दुःखों से निजात पाने एवं उन्नति का मार्ग प्रशस्त होने की कामना रखने वाले अधिकांश मानव रत्नों को धारण कर रत्नों की समीचीनता पर मुहर लगाते देखे जाते हैं। पंचरत्नों की कई प्रकार से परिगणना की जाती है। यथा -

नीलकं बज्रकं पद्मरागश्च मौक्तिकम् ।
प्रवालं चेति विज्ञेयं पंचरत्नं मनीषिभिः ।।

एवं -

सुवर्ण रजतं मुक्ता राजावर्तं प्रवालकम्, रत्नपंचकमाख्यातम्।

तथा -

कनकं हरीकं नीलं पद्मरागश्च मौक्तिकम् ।
पंचरत्नमिदं प्रोक्तमृषिभिः पूर्वदर्शिभिः ।।[2]

अर्थात् नीलम, हीरा, पद्मराग, मोती और मूंगा, या सोना चाँदी, मोती, लाजावर्त (रावटी) और मूंगा या सुवर्ण, हीरा, नीलम, पद्मराग (माणिक्य या लाल) और मोती। यहाँ रत्न शास्त्र के सन्दर्भ में सोना एवं चाँदी (धातु होने के कारण) को छोड़कर अन्य रत्नों को ही पंचरत्न में रखा जा सकता है। नवरत्नों[3] के अन्तर्गत निम्नांकित रत्न आते हैं यथा –

मुक्तामाणिक्यवैदूर्यगोमेदान् वज्रविद्रुमौ ।
पद्मरागं मरकतं नीलं चेति यथाक्रमम् ।।[4]

अर्थात् मोती माणिक्य, वैदूर्य, गोमेद , हीरा, मूँगा, पद्मराग, पन्ना और नीलम ये नवरत्नों की कोटि में आते हैं। चतुर्दश रत्नों (समुद्रमंथन के परिणाम स्वरूप समुद्र से प्राप्त चतुर्दशरत्न, जिनका विवरण मंगलाष्टक में मिलता है) में निम्नलिखित रत्न परिगणित किये जाते हैं। यथा –

लक्ष्मीः कौस्तुभपरिजातकसुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमा गावः कामदुघाः सुरेश्वरगजो रम्भादि देवाङ्गनाः ।
अश्वः सप्तमुखो विषं हरिधनुः शङ्खोमृतं चाम्बुधे रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्युः सदा मङ्गलम् ।।[5]

परन्तु उपर्युक्त चौदह रत्नों में केवल कौस्तुभ मणि, को ही रत्नशास्त्र के अन्तर्गत माना जा सकता है। विष्णुपुराण में भी वर्णित चौदहरत्नों[6] में केवल मणि की ही इस प्रसंग में समीचीनता है।

---

1. The Ratnas are said to be either five, Nine or faurteen.
   संस्कृत अंग्रेजी कोश - पी.के. गोडे एवं सी.जी. कर्वे पृ० 1326, 1327
   संस्कृत हिन्दी कोश- आप्टे- पृ० 846
   संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ - पृ०- 935
2. संस्कृत हिन्दी कोश- आप्टे- पृ० 563, एवं संस्कृत अंग्रेजी कोश पी.के. गोडे एवं सी.जी. कर्वे, पृ 950
3. राजा विक्रमादित्य के दरबार के नौ कवियों को भी नवरत्न की संज्ञा दी गयी है पर इस प्रसंग में उनका विशिष्ट विवरण असमीचीन होगा वे हैं - धन्वतरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरः नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य। -संस्कृत हिन्दी कोश आप्टे- पृष्ठ 514
   – संस्कृत अंग्रेजी कोश- गोडे एवं कर्वे- पृ० 882
4. संस्कृत हिन्दी कोश - आप्टे- पृ० 514, संस्कृत, अंग्रेजी, कोश गोडे एवं कर्वे पृ० 882
5. संस्कृत हिन्दी कोशः आप्टे- पृ० 369, संस्कृत अंग्रेजी कोश- गोडे एवं कर्वे, पृ० 694
6. चक्रं रथो मणिः खड्गश्चर्मरत्न च पंचमम् केतुर्निधिश्च सप्तैव प्राणहीनानि चक्षते।
   पत्तयश्वकलाभाश्चेति प्राणिनः सप्तकीर्तयः चतुर्दशेति रत्नानि सर्वेषां चक्रवर्तिनाम्।। –विष्णुपुराण 4/12/3 की टीका से उदधृत

नैषधकार ने मिथिला नरेश के वर्णन में "रत्नगिरि" नाम के पर्वत का उल्लेख किया है, जिसमें विविध रत्नों का भण्डारण था, एवं रत्नों के व्ययाभाव के कारण उसे रोहण पर्वत नाम भी दिया गया। श्रीहर्ष ने मिथिला नरेश को कल्पवृक्ष एवं रत्नाचल[1] (रोहण पर्वत) से अधिक दानी रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। श्रीहर्ष ने रत्नों के उत्पत्ति सथान वैदूर्य पर्वत (रोहण पर्वत)[2] का भी उल्लेख किया है जो, कि अत्यन्त कठोर था, क्योंकि रत्न, तो प्रकृत्या कठोर होते है, तभी तो उन्हें तराश (काट, छांटकर) श्रेष्ठ आकार दिया जाता है। सुमेरु पर्वत (रोहण, रत्नाचल या वैदूर्य) पर्वत का विवरण कीकटनरेश के प्रसंग में नैषधीयचरित में प्राप्त होता है,[3] जो मणियों की खान[4] था साथ ही मोतियों (मुक्ताफलों) का आगार था एवं उसमें सन्निहित मणियाँ दिन प्रतिदिन वृद्धि को ही प्राप्त होती थीं । हाण्डिकी महोदय ने रोहण पर्वत की स्थिति का वर्णन करते हुए अभिहित किया कि "A legendary mountain located in ceylon and supposed to produce jewels at the rumbling of clouds for the benefit of all comers. It is referred to as Ratnachal.[5] रोहण पर्वत का उल्लेख वासवदत्ता,[6] उदयसुन्दरीकथा[7] बालरामायण,[8] उपमितिभवप्रपञ्चकथा[9] एवं अभिनन्द के रामचरित[10] में भी प्राप्त होता है।

श्रीहर्ष ने वैदूर्य पर्वत का विवरण देने के साथ-साथ इस तथ्य का भी निदर्शन किया है कि वैदूर्य मणियाँ मेघों के गर्जन (ध्वनि) पर और अधिक बढ़ती जाती है। मलयाधियति के वर्णन प्रसंग में इस तथ्य प्रतिपादन मिलता है। यथा–

अनेन राज्ञार्थिषु दुर्भगीकृतो भवन्घनध्वानजरत्नमेदुरः ।
तथा विदूराद्रिरदूरतां गमी यथा स गामी तव केलि शैलताम् ।।[11]

राजनकरत्नाकर विरचित हरविजयम्[12] एवं यशस्तिलक[13] में भी विदूर पर्वत का वर्णन मिलता है। काञ्चीनरेश के वर्णन प्रसंग में कौस्तुभ मणि[14] का विवरण देखने को मिलता है जो देखने में मकड़ी द्वारा बनाये गये सफेद जाले की आकृति या (मकड़ी के जाले के बने श्वेतच्छत्र की आकृति समान) होती है।[15]

---

1. आस्ते निर्व्ययरत्नसंपदुदयोदग्रः कथं याचक–
श्रेजीवर्जनदुर्यशोनिबिडितव्रीडस्तु रत्नाचलः ।। नै० 12/67 उत्तरार्द्ध
2. रोहणः किमपि यः कठिनां – नै० 5/125 पूर्वार्द्ध
3. इदं नृपप्रार्थिभिरुज्झितोऽर्थिभिर्मणिप्ररोहेण विवृध्य रोहणः।
कियद्दिनैरम्बरमावरिष्यते मुधा मुनिर्विन्ध्यमरुन्ध भूधरः।। नै० – 12/90
4. एषां गिरे सकलरत्नफलस्स्तरु स प्राग्दुग्धभूमिसुरभेः खलु पञ्चशाखः।
मुक्ताफलं फलनसान्वयनाम तन्वन्नाभाति बिन्दुभिरिवच्छुरितः पयोधेः।। नै० 11/10
5. नैषधीयचरितम् - हाण्डिकी - पृ० 624
6. रोहणगिरिं सकलगुणरत्नसमूहस्य; वासवदत्ता पृ. 58
7. निक्षिप्य भूमावुपर्युविष्टस्य कृपणस्य वित्तमिति रोहणस्य च मणिचक्रमनादेयमन्यथा भुजबलेनोन्मथ्य रोहणनगेन्द्रं........ किं नाम न गृह्णामि रत्नसर्वस्यम्। – उदयसुन्दरीकथा- पृ० 56
8. जनश्च वाक्सुधासूतिर्मणिसूतिश्च रोहणः।
नान्यत्र सिंहलद्वीपान्मुक्तासूतिश्च सागरः।। - बालरामायण 10/49
9. खनामि रोहण यावत् पातालतलमुच्चकैः। उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ० 865
10. विभीषणकणः कोऽसौ सति रावणरोहणे। अभिनन्द, रामचरित 24/26
11. नै० 12/55
12. यस्योत्थिताभिनवरत्नशलाकयेव लक्ष्मीरुरःस्थल विदूरभुवा विदध्रे। हरविजय 16/25, इसमें आलाक की टिप्पणी है कि विदूरों वालवायशैलः। देशविशेष इत्यन्ये।
13. रत्नाङ्कुरोमाञ्चकञ्चुकिनि विदूरभूधरे- यशस्तिलक, अध्याय-3
14. हित्वा दैत्यरिपोरुरः स्वभवनं शून्यत्वदोषास्फुटा - सीदन्मर्कटकीटकृत्रिम सितच्छत्री भवत्कौस्तुम् ।
उज्झित्वा निजसद्म पद्ममपि तद्व्यक्तावनद्धीकृतं लूतातन्तुभिरन्तरद्य भुजयोः श्रीरस्य विश्राम्यति ।। नै० 12/37
15. तेषां सम्बन्धि यत् कृत्रिमसितच्छत्रं सितच्छत्राकारं लूतातन्तुवितानमण्डलं तथा भवन् तद्रूपीभवन् कौस्तुभः तदारव्यो मणिः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति। नै० 12/37 मल्लिनाथ

अर्थात् यह मणि पारदर्शक नहीं होती, मृणाल तन्तु के अन्दर के जाले या मकड़ी के श्वेत जाले सदृश इसकी बनावट होती है। काञ्चीनरेश के विवरण में नैषधकार ने स्फटिक मणि" का उल्लेख किया है, जिसका उद्गम स्थान उन्होंने कैलाश पर्वत माना है।[1] श्रेष्ठ स्फटिक रत्न की पहचान यह होती है कि यह जल जैसा पारदर्शी होता है। परन्तु जल के भीतर डूबने पर यह दिखायी नहीं पड़ता।[2] मिथिलानरेश के वर्णन प्रसंग में श्रीहर्ष ने 'मोती' नामक रत्न का संकेत करते हुए उसके श्वेत वर्ण होने की अभीप्सा व्यक्त की है साथ ही गजमुक्ताओं के होने का भी संकेत[3] देने के साथ साथ नल के गले बड़े पड़ी मोतियों की माला, जिसके मोती बड़े-ब्रड़े स्वच्छतम गोलाकार रूप में थे, एवं जिनके देखने से आंखों को शीतलता प्राप्त होती थी, का भी वर्णन नैषध में प्राप्त होता है।[4]

नैषधकार ने 'माणिक्य' रत्न का विवरण दमयन्ती के हार (माणिक्यहार) वर्णन प्रसंग में करते हुए उसे अरुण (लाल) कान्ति वाला बताया,[5] साथ ही माणिक्य के चार भेदों प्रथम जातक, द्वितीय जातक, सौगन्धिक एवं कुरुविन्द में,[6] दमयन्ती के दांतों,को (अत्यधिक पान खाने के कारण) कुरुविन्द माणिक्य रत्न की आभा वाला बताया।[7] जिसके यह प्रतीत होता है कि कुरुविन्द माणिक्य लाल रंग का होता है। साथ ही नैषध में यह विवरण भी मिलता है कि भीम ने माणिक्य निर्मित 'पीकदान' को राजा नल को दिया, जिसकी कांति से यह नहीं प्रतीत होता था कि वह (पान, सुपारी की खीझ से) भरा है या नहीं।[8] श्रीहर्ष ने मणियों के वार में अभिहित किया कि वह दर्पण तुल्य होती हैं, उसमें अपना प्रतिबिम्ब भी देखा जा सकता है।[9] साथ ही श्रेष्ठ रत्न या मणि से किरणें स्फुरित होती हैं, या उसकी आभा की कांति दूर-दूर तक छिटक जाती है, इस तथ्य का प्रतिपादन भी श्रीहर्ष ने नल के मुकुट में लगे रत्नों के वर्णन[10] एवं दमयन्ती[11] के

---

1. सिन्धोजैत्रिमयं पवित्रमसृजन्तत्कीर्तिपूर्तादभुतं यत्र स्नान्ति जगन्ति सन्ति कवयः के वा न वाचंयमाः ।
   यद्विन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो यस्यासौ जलदेवता स्फटिक भूर्जागति मागेश्वरः ।। नै० 12/38
2. यस्य जलञ्चाविश्य दृश्येतरः सावर्ष्याददृश्यः जल देवता
   आप्य शरीरं देवता विशेषश्चासौ स्फटिकादभवतीति स्फटिकभूः
   स्फटिकोद्भवः, यागेश्वरः सन् जागर्न्ति, स्फटिकलिङ्गे यागेश्वरः इति (शास्त्र) प्रसिद्धि। नै० 12/38 मल्लिनाथ
   – ध्रुवं विनीतः स्मितपूर्वनाग्युवा किमप्यपृच्छन्न विलोकयन्मुखम् ।
   स्थितां पुरः स्फटिककुटिट्मे वधूं तदङ्घ्रियुग्भावनिमध्यबद्धदृक ।। नै० 16/67
3. नै० 12/66 एवं मुक्ताफलफेनिलाङ्के- नै० 7/76
4. श्रिताऽस्य कण्ठं गरूविप्रवन्दनाद् विनम्रमौलेश्चिबुकाग्रचुम्बिनी ।
   आवाय मुक्तावलिरास्यचन्द्रमः सवत्सुधातुन्दिल विन्दुवृन्दताम् ।। नै० 15/66
5. गुच्छालयस्वच्छमोदविन्दु वृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के ।
   माणिक्य हारस्य विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति रोहितश्रीः।। नै० 7/76
   – हारभेदा यष्टिभेदाद्गुच्छार्धगोस्तनाः, "इन्द्रायुधं शक्र धनुस्तदेव ऋजुरोहितम्" रोहितो लोहितो रक्तः इत्यमरः।। नै० 7/76 की टिप्पणी
6. माणिक्यानां जाति चतुष्टयम्-प्रथम जातक, द्वितीय जातक, सौगन्धिक एवं कुरुविन्द। नै० 11/48 में ईशानदेव की टिप्पणी
7. एनं स्वबाहुबहुयार निवारितारिं। चित्ते कुरुष्व कुरुविन्दसकान्तिदन्ति।। नै० 11/48 उत्तरार्द्ध
8. दिवस्पतेरादरदर्शिनादरादढौकिं यस्तं प्रति विश्वकर्मणा ।
   तमेकमाणिक्यमयं महोन्नतं पतद्ग्रहं ग्राहितवान्नलेन सः ।। नै० 16/27
   नलेन ताम्बूलविलासिनोज्झितैर्मुखस्य यः पूगकणैर्भृतो न वा ।
   इति व्यवेचि स्वमयूखमण्डलादुदञ्चदुच्चारुण चारुणश्चिरात् ।। नै० 16/28
9. मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले बभौ निजास्यप्रतिबिम्बदर्शिनी ।
   विधोरदूरं स्वमुखं विधाय सा निरूपयन्तीव विशेषमेतयोः ।। नै० 14/50
10. अनर्घरत्नौघमयेन मण्डितो रराज राजा मुकुटेन मूर्द्धनि ।
    वनीपकानां सहि कल्पभूरुहस्ततो विमुञ्चन्निव मञ्जुमञ्जरीः ।। नै० 15 /60
    नलस्य भाले मणिवीरपटिटकानिमेन लग्नः परिधिर्विधोर्बभौ ।
    तदा शशाङ्काधिकरूपतां गते तदानने मातुमशक्नुवन्निव ।। नै० 15/61
11. नै० 15/52, 82, 16/34, 100

हार विवरण सन्दर्भ में किया है। हीरा एवं माणिक्य रत्न को क्रमशः श्वेत एवं अरुण वर्ण का बताते हुए श्रीहर्ष ने नल की भुजाओं में सुशोभित अंगद (हीरे एवं माणिक्य से जटित) नामक आभूषण का उल्लेख किया।[1] श्रेष्ठ हीरा षट्कोण होता है।[2] हीरा एवं माणिक्य भी दर्पण तुल्य स्वच्छ एवं पारदर्शी होते हैं, क्योंकि नैषधकार के वरणानसार रूपदर्शन के लिए नल के सेवकों का दर्पण लाना व्यर्थ ही साबित हुआ, क्योंकि नल ने आभूषणों में जटित रत्नों में ही अपना स्वरूप प्रतिबिम्ब देख लिया। पद्मराग मणि एवं समस्त रक्तवर्णा मणियों का उत्पत्ति स्थान उदयगिरि (उदयाचल) पर्वत हैं, इस तथ्य का निर्देश श्रीहर्ष ने नैषध महाकाव्य में किया है।[3]

सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली चिन्तामणियों की माला को भीम (शिवजी से प्राप्त) ने अपने दामाद नल को दहेज रूप में दी। नल को दहेज में मिले सम्पूर्ण वस्तुओं यथा, रत्न, आभूषण, वस्त्र आदि का प्रतिबिम्ब उस चिन्तामणि हार पर पड़ रहा था मानो वह अभिलाषा पूरक हार याचकों देने योग्य सारी वस्तुओं को अपने अन्त में धारण किये हुए सुशोभित था।[4] स्पष्ट है कि चिन्तामणि भी पारदर्शी होती है। पन्ना (हरिन्मणि) का विवरण भी नैषध में प्राप्त होता है। मय से प्राप्त (हरिन्मणि) पन्ना निर्मित थाल को भीम ने राजा नल को समर्पित किया, जो कि विषदोषनाशक था। श्रीहर्ष का कथन है कि इससे निकलने वाली हरितकान्ति का ही यह परिणाम है कि हरीकांति को सदैव पंख में धारण करने वाले मयूरों पर सर्प विष का असर नहीं होता।[5] स्पष्ट है कि पन्ना रत्न भी पारदर्शी होने के साथ-साथ दूर-दूर तक अपनी आभा बिखेरने वाला होता है। इसकी पुष्टि बारात भोजन वर्णन में भी श्रीहर्ष ने पन्ना निर्मित पात्रों में भोजन परोसने का विवरण समुपस्थापित करके किया है जिसमें बरातियों को यह भ्रान्ति हुई कि (हरी किरणों की आभा उद्दीप्त होने के कारण) या तो केवल हरे पत्ते (थाल में) रखे हुए हैं, या वे केवल साग से भरे बर्तन हैं[6]। नैषधकार द्वारा वर्णित दमयन्ती के शरीर वर्णन प्रसंग में पुखराज (पुष्पराज, पुष्पराग या [illegible]) रत्न का संकेत भी प्राप्त होता है। श्रीहर्ष अभिहित करते हैं कि भीमकुमारी के शरीर पर पीत, धवल, अरुण तथा नील कान्ति वाली मणियों (पुष्पराज, स्फटिक या मोती, माणिक्य, नीलम) की किरणों की आभा पड़ने के कारण उसके गोरोचन, चन्दन, कुंकुम, तथा कस्तूरी के लेप व्यर्थ थे।[7]

---

1. रराज दोर्मण्डनमण्डलीजुषोः स वज्रमाणिक्यसितारुणत्वि ।
   मिषेण वर्षन् दशदिंगमुखोन्मुखौ यशःप्रतापावयनीजयार्जितौ।। नै० 15/69
   घने समस्तापद्यनावलम्बिनां विभूषणानां मणिमण्डले नलः ।
   स्वरूपरेखामवलोक्य निष्फलीचकार सेवाचणदर्पणार्पणम् ।। नै० 15/70
2. नेपथ्येष्वलंकारेषुहीराः षट्कोणमयस्तेषां द्युतिरेव। नै० 10/94 नारायण
3. उदयशिखरिप्रस्थावस्थायिनी खनिरक्षया शिशुतरमहोमाणिक्यानामहर्मणिमण्डली ।
   रजनिदृषदं ध्वान्तश्यामां विधूय विधायिकां न खलु कतमेनेयं जाने जनेन विमुद्रिता ।। नै० 19/42 एवं 15/92
4. सखा यदस्मै किल भीमसंज्ञया स यक्षसख्याधिगतं ददौ भवः ।
   ददौ तदेष श्वसुरः सुरोचितं नलाय चिन्तामणिदाम कामदम् ।। नै० 16/16
   बहोर्दुरापस्य वराय वस्तुनश्चित्तस्य दातुं प्रतिबिम्बकैतवात् ।
   बभौतरामन्तरवस्थितं दधद्यदर्थमभ्यर्थितदेयमर्थिने ।। नै० 16/17
5. मयेन भीमं भगवन्तमर्चता नृपेऽपि पूजा प्रभुनाम्नि या कृता ।
   अदत्त भीमोऽपि स नैषधाय तां हरिन्मणेर्भोजनभाजनं महत् ।। नै० 16/29
   छदे सदैवच्छविमस्य विभ्रतां न केकिनां सर्पविषं विसर्पति ।
   न नीलकण्ठत्वमधास्यदत्र चेत् स कालकूटं भगवानभोक्ष्यत ।। नै० 16/30
6. हरिन्मणेर्भोजनभाजनेऽर्पिते गलाः प्रकोपा किल वारयात्रिकाः ।
   भृतं न शाकैः प्रवितीर्णमस्ति वस्त्विषेदमेघं हरितेतिबोधिताः ।। नै० 16/66
7. पीतावदातारुणनीलभासां देहोपदेहात्किरणैर्मणीनाम् ।
   गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैणनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्तीम् ।। नै० 10/98

गारुत्ममणि (अरुणवर्णा) मणि का संकेत भी श्रीहर्ष ने उन्नीसवें सर्ग मे चारणों द्वारा नल की निद्रा त्याग वर्णन प्रसंग में किया है।[1] इन्द्रनीलमणि (मसार) या नीलम रत्न का वर्णन भी विवाहोपरान्त नल के अपने राजधानी वापस लौटने के प्रसंग में महल में लगी हुई वन्दनवारों के वर्णन में नैषधकार ने समुपस्थापित किया है।[2] हारावली में विवरण मिलता है कि "नीलमणिर्मसारः स्यात्"। मूंगा (प्रवालमणि) का उल्लेख भी पृथु राजा के वर्णन में मिलता है, जहाँ नैषधकार का कथन है कि पृथु राजा के हाथ में संसार को वश में करने वाली प्रवालमणि या (विद्रुम) मूंगा विद्यमान था।[3] इसकी कान्ति नूतन किसलय के समान अरुणवर्णा होती है।[4] नल के राजमहल के पूजालय की भूमि के विवरण प्रसङ्ग में श्रीहर्ष ने उसे मणिजटित बताते हुए चन्द्रकान्त (धवलवर्णा) मणि एवं नीलममणि का वर्णन भी किया है।[5] नल के मुकुट, पूजालय एवं राजप्रासाद तथा वैदर्भी के राजप्रासाद वर्णन में श्रीहर्ष ने विभिन्न रत्नों, (मणियों) के होने की संसूचना। व्यक्त की है, जिसमें माणिक्य, स्फटिक, कौस्तुभ, पद्मराग, एवं वैजयन्ती मणि का विवरण मिलता है।[6] कैलास पर्वत का स्फटिक मणि के भण्डार,[7] रूप में तथा शशक नामक नीलमणि[8] (सूर्यकान्तमणि) का वर्णन करने के साथ-साथ उन्होंने समुद्र (क्षीरसागर) की रत्न सागर[9] रूप में विवेचना नैषध महाकाव्य में की है। कुशद्वीपाधिपति के वर्णन में समुद्र मंथन पश्चात् निकले चौदह[10] रत्नों मे से कुछ रत्नों का वर्णन नैषध में प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ उनके वर्णन की प्रासंगिकता नहीं है, अतएव वह विवेचन का विषय नहीं बनाये जा रहे हैं।

नैषधकार ने रत्नों का विवरण देने के साथ-साथ उनके दोषों के संकेत भी यथास्थान गिनाये है, एवं यह बताया है कि रत्न, असली एवं (कृत्रिम) नकली रूप में भी प्राप्त होते हैं, तथा (कृत्रिम) नकली रत्न अत्यधिक चमकते हैं। दमयन्ती के भाई दम ने बारातियों को उपहार स्वरूप रत्न देने के लिए (उपहास के लिए) एक बाराती के सामने एक शुद्ध एवं सुन्दर रत्न तथा दूसरा असली रत्न से भी सुन्दरतर कृत्रिम रत्न रखकर कहा कि, आप इन दोंनो में से एक स्वयं लीजिए। जब बाराती अधिक चमकने वाला कृत्रिम रत्न लेने लगा, तब राजकुमार दम ने हंसते हुए उस बाराती को दोंनो रत्न दे दिये।[11] आचार्य वाग्भट ने

---

1. रक्तवर्णगरुणकान्तेः पर्वतसमन्तात् स्थितेरिति भावः।नै० 19/16 में मल्लिनाथ।
2. मसारमालावलितोरणां पुरं निजाद्वियोगादिव लम्बितालकाम् ।
   ददर्श पश्यामिव नैषधः प्रियामथाश्रितोद्ग्रीविकमुन्नतैगृहैः ।। नै० 16/122
   – मसारमालावलयः इन्द्रनीलमालाश्रेण्यः तोरणेषु बहिर्द्वारेषु यस्यास्तादृश्याम्
   इन्द्रनीलमणिविभूषितबहिर्द्वाशाम्। नै० 16/122 मल्लिनाथ
   – मसाराणां नीलत्वादलकत्वम् – नारायण नै० 16/122
3. बालेऽधराधरितनैकविध प्रवाले!, पाणौ जगद्विजयकार्मणमस्य पश्य ।
   ज्याघातजेन रिपुराजकधूमकेतुतारायमाणमुपरज्य मणिं किणेन ।। नै० 11/104
4. बहुनखरता येषामग्रे खलुप्रतिभासते कमलसुहृदस्तेऽमी भानोः प्रवालरुचः करा। नै० 19/53 पूर्वार्द्ध
5. यत्र कान्तकरपीडितनीलग्रावरश्मिचिकुरासु विरेजुः ।
   गातृमूर्धविधुतेरनु बिम्बात्कुट्टिमाक्षितिषु कुट्टिमितानि ।। नै० 21/30
6. नै० 18/3,7,8,11,14,22,50,54,85,86,87, 19/13,62,65 21/1,19,30,43,44
7. सन्ध्यावशेषे धृतताण्डवस्य चण्डीपतेः पत्पतनाभिघातात् ।
   कैलाशशैलस्फटिकाश्मखण्डैरमण्डि पश्योत्पतयालुभिर्द्यौः ।। नै० 22/15
8. सप्रीते संप्रीतेरजनि रजनीशः परिषदा, परीतस्ताराणां दिनमणिमणिग्रावमणिकः ।
   प्रिये! पश्योत्प्रेक्षाकविभिरभिधानाय सुशकः, सुधामभ्युद्धर्तुं धृतशशकनीलाश्मचषकः ।। नै० 22/144
9. अर्धनिःस्वमणिमाल्यविमिश्रैः स्मेरजातिमयदामसहस्रैः ।
   तं पिधाय विदधे बहुरत्नक्षीरनिधिमग्नमिवैषः ।। नै० 21/47
10. नै० 11/60...63 एवं उच्चैश्रवा का वर्णन 16/25, 26 ऐरावत का वर्णन 16/31....33
11. अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोर्वराट् चारुनितान्तचारुणोः ।
    स्वयं गृहाणैकमिहेत्युदीर्य तद्द्वयं ददौ शेषजिघृक्षवे हसन् ।। नै० 16/111
    चारुनितान्तचारुणोः यथासङ्ख्यं रम्यातिरमणीययोः। इह अनयोः तथ्यानृतरत्नजातयोः सत्यासत्यरत्नोधयोः मध्ये जातं जात्योघ जन्मसु इति विश्वः । नै० 16/111 मल्लिनाथ

रत्नों के पांच साधारण दोष बताये हैं वे है राग, भास, बिन्दु, रेखा तथा जलगर्भता।[1] इस तथ्य का वर्णन श्लेष द्वारा स्वयंवर सभा में अलंकृत दमयन्ती के वर्णन में नैषधकार ने उपस्थापित किया है जहाँ वह कहते हैं कि दमयन्ती के वस्त्रों की चमक, चिकनाई, कृत्रिम जल, तथा लेप[2] इन तीनों के बिना ही निर्मल रत्नों की कांति के समान शुद्ध थी। उसकी सखियों का समूह उसके वस्त्रों पर लगे हुए हीरों की निर्मल कांति में चमकते प्रतिबिम्बों के समान था।[3] अर्थात् चिकनाई (स्निग्धत्व), मायाजल (कृत्रिमजल), एवं लेप से रहित रत्नों की सुन्दर निर्मल किरणें ही दमयन्ती के वस्त्रों को शोभावान, बना रही थीं। उपर्युक्त रत्न सम्बन्धी नैषधकार के तथ्यों की मीमांसा से यह आकलन किया जा सकता है कि रत्नशास्त्र की जानकारी उन्हें थी। वह रत्नशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता तो नहीं माने जा सकते, क्योंकि उन्होंने रत्न, किस आकृति एवं मात्रा (स्ती) में श्रेष्ठ या सामान्य होते हैं, तथा विविध रत्नों के अलग-अलग क्या गुण, दोष हैं? इस तथ्य का पतिपादन नैषध में नहीं किया है। रत्न सम्बन्धी विशेष विवरण अग्निपुराण के साथ-साथ वृहत्संहिता इत्यादि ज्योतिशास्त्रीय ग्रंथों में देखा जा सकता है।

नैषधकार के साथ साथ संस्कृत साहित्य के अन्य विद्वान् महाकवियों[4] ने भी रत्नों को अपने विवेचन का विषय बनाया है, परन्तु उन सब में श्रीहर्ष कालिदास से ही ज्यादा सहमत दिखते हैं। पूर्व विवरण में श्रीहर्ष ने भी इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि 'रत्नाकर' समुद्र है, जब कि सभी रत्नों का आवास स्थान हिमालय पर्वत है। इलाहाबाद संग्रहालय द्वारा आयोजित 'हिमालय महिमा' नामक संगोष्ठी में प्रो. सुरेश चन्द्र पाण्डे जी की अमृतवाणी उनके अन्तस में सन्निहित एक यथार्थ 'काव्यमर्मस' की पहचान करा ही देती है, जब वह कालिदास के कुमारसम्भव का सन्दर्भ रखते हुए कि "अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्य विलोपिजातम्[5] (अर्थात्) अनन्तरत्नों की खान, तो हिमालय है, लेकिन फिर भी रत्नाकर समुद्र को ही कहते हैं, आखिर क्यों? शायद इसलिए कि "यशः पुण्यैरवाप्यते" अर्थात् यश तो पुण्य के कारण ही मिलता है। जाहिर है कि नैषधकार को भी यही तथ्य अभीष्ट रहा होगा, तभी उन्होंने समुद्र को रत्नाकर करते हुए भी सम्पूर्ण रत्नों का उत्पत्ति स्थान हिमालय को माना। उपरोक्त रत्नसम्बन्धी मीमांसा से यह ध्वनित होता है कि बारहवीं शताब्दी में भी रत्नों की जानकारी जनमानस में थी, चाहे वह आभूषण रूप में अपनाये जाते रहे हों या ज्योतिश्शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में। वर्तमान में भी रत्नों की प्रासंगिकता की पुष्टि

---

1. रागस्त्रासश्च बिन्दुश्च रेखा च जगलर्भता ।
   सर्वरत्नेष्वमी पंच दोषाः साधारणमता : ।। नै० 10/94 मल्लिनाथी व्याख्या में बाग्भट का कथन।
2. मायाजलं जलगर्भताख्यो दोषः, लेपो रागाख्यो दोषः । नै० 10/94 में मल्लि0 एवं नारायण का कथन।
3. स्निग्धत्वमायाजललेपलोपसयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम् ।
   नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्तिस्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम् ।। नै० 10/94
4. किं रत्नमच्छा मतिः। भामिनीविलास, 1/86
   - न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्। कुमारसम्भव 5/45
   - कन्या रत्नमयोनिजन्म भवतामास्ते वयं चार्थिनः महावीरचरित 1/30
     अग्रसेरी भवतु काञ्चनचक्ररत्नम् नागानंद 5/37
   - श्रेणीवर्जनदुर्यशोनिबिडब्रीडस्तु रत्नाचलः नै० - 12/67
     रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः विक्रमोर्वशीमय्।। 1/12
   - रत्नाकरं वीक्ष्य - रघुवंश 13/1
   - अर्चिस्तुंगानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान् - मेघदूत - 70
   - कटितट निविष्टरत्ननखः दशकुमार चरित 2/1
   - रत्नपारायणं नाम्ना लंकेति मम मैथिलि - भटिकाव्य - 5/89
   - अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषितासम्। मृच्छकटिक तृतीय अंक
   - न मामवति सद्वीपा रत्सूरपि मेदिनी - रघुवंश 1/65
5. अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
   एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।। कुमार0 1/3

नर नारियों द्वारा इनके धारण करने से होती है, एवं भविष्य में भी रहेगी, क्योंकि प्रत्येक मानवधारी व्यक्ति चाहे अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए रत्न को धारण करता हो, या शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि के लिए, कारण कुछ भी हो, परन्तु लौकिक जीवन में व्यवहरित नर नारियों द्वारा रत्नों के धारण करने का प्रचलन रत्नों की समीचीनता की भी पुष्टि कर ही देता है।

शकुन शास्त्र

मानवजीवनदर्शन का यदि यथार्थ मूल्यांकन किया जाय, तो सारतः यही समझ में आता है कि मानवजीवन अनबूझ पहेली सदृश है, एवं मनुष्य का हृदय तो अभिलाषाओं तथा विचारों का क्रीड़ास्थल और कामनाओं एवं जिजीविषाओं का आवास मालूम होता है। संसार इन्हीं इच्छाओं और आशाओं के पल्लवन एवं परिवर्धन का दूसरा नाम है, जिसने इन्हें नैराश्यनद में प्रवाहित कर दिया, उसे सांसारिक जन तो नहीं ही समझा जा सकता है क्योंकि मनुष्य की उद्दाम जिजीविषाओं का सतत् प्रज्जवन ही उसे अमृत रस सदृश आन्दातिरेक से आप्लावित किये रहता है। शकुन तो मानव के गवेषणात्मक विचार ही कहे जा सकते हैं, और वे भी मानवमस्तिष्क में अपनी गहरी जड़ें जमाये हुए हैं। रामायण महाभारत[1], एवं याज्ञवल्क्यस्मृति[2], अग्निपुराण[3] तथा कवियों यथा महाकवि कालीदास[4], माघ[5] एवं श्रीहर्ष के ग्रंथों में इनका वर्णन मिलने के साथ-साथ वर्तमान में भी इनकी प्रासङ्गिकता विद्यमान होने से इनकी समीचीनता की पुष्टि होती है। वैसे शकुनशास्त्र को ज्योतिष के संहितास्कन्ध एक अंग रूप में विद्वानों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है फिर भी यहाँ अलग से उसका विवेचन वर्तमान में उसकी अत्यधिक प्रसिद्धि के कारण किया जा रहा है।

विद्वानों ने शकुन शब्द की व्याख्या करते हुए कहा "शक्नोति शुभाशुभ विज्ञातुम् अनेन"। शकुन शब्द की निष्पत्ति शक्+उनन्[6] के योग से होती है। शकुन वे शुभसूचक (या अशुभसूचक भी) चिह्न या लक्षण हैं, जो किसी कार्य के सम्बन्ध में शुभ या अशुभ सूचना देते हैं। स्पष्ट है कि शकुनशास्त्र उसे कहा जाता है, जिसमें शकुन सम्बन्धी विचारों के विश्लेषण दिये गये हों। इसे The "Science of Omens" भी कहाजाता है। विश्वकोष में वर्णन मिलता है कि "शकुनं तु शुभाशंसा निर्मिते शकुनः पुमान्" अग्नि पुराण में छैः प्रकार के शकुनों का वर्णन मिलता है। यथा–

> तिष्ठतो गमने प्रश्ने पुरुषस्य शुभाशुभम् । निवेदयन्ति शकुना देशस्य नगस्य च ।।
> सर्वः पापफलो दीप्तो निर्दिष्टो देवचिन्तकैः । शान्तः शुभफलेश्चैव देवज्ञैः समुदाहृतः ।।
> षट्प्रकारा विनिर्दिष्टा शकुनानाञ्च दीप्तयः । वेलादिग्देशकररुतजातिविभेदतः ।।

---

1. केनेङ्गशी जातु पराहि दृष्टा वागुच्यमाना शकुनेन संस्कृता। महाभारत - 3/117/11
2. शकुनोच्छिष्टम् - याज्ञ0 1/168
3. अग्नि पुराण - 230-232 अध्याय (शकुनानि)
4. रघुवंश - 2/10
5. अशकुनेन स्खलितः किलेतरोऽपि - शिशु 8/83
6. शकेरुनोन्तोन्त्युनयः - उन, उन्त, उन्ति, उनि, एते चत्वारः स्युः। शकुनः, शकुन्तः, शकुन्तिः, शकुनिः–उणादि सूत्र 3/49, (4532) सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी, पृ. 618

पूर्वा पूर्वा च विज्ञेया सा तेषां बलवत्तराः । दिवाचरो रात्रिचरस्था रात्रौ दिवाचरः ॥
क्रूरेषु दीप्ता विज्ञेया ऋक्षलग्नग्रहादिषु । धूमिता सा तु विज्ञेया याङ्गमिष्यानि भाष्करः ॥[1]

नैषधकार ने शकुन का विवरण इन्द्र द्वारा दमयन्ती वरण हेतु नल को अपना दूत बनाने के संदर्भ में देते हुए अभिहित किया कि हे नल! भरत (दुष्यन्त पुत्र), अर्जुन (सहस्रार्जुन), और वैन्य (राजा पृथु) के समान तुम्हारा नाम स्मरण देशान्तर जाने वाले को अभीष्ट फल देता है, यदि तुम अपने जाने की निष्फलता में शङ्का करते हो, तो सब शकुन आदि मंगल निष्फल हैं।[2] यहाँ इन्द्र के कथन का तात्पर्य यह था कि यात्रा करते समय भरत आदि के समान तुम्हारे नाम का स्मरण करने से यात्रा करने वाले व्यक्ति का मनोरथ पूर्ण हो जाता है, अतः साक्षात् मंगलस्वरूप तुम्हारी ही यात्रा यदि निष्फल हो जायेगी, तब तो अन्य लोगों के लिये उक्त मंगलवचन भी निष्फल हो जायेगा, अतः तुम्हें हम लोगों के दूत कर्म करने में निष्फल होने की शङ्का कदापि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कहा भी गया है कि जो मनुष्य प्रस्थान के समय, भरत, अर्जुन, पृथु एवं एवं नल का स्मरण करता है, उसकी कार्य सिद्धि भी होती है एवं सकुशल घर भी वापस लौटता है।[3] राजा नल ने जब हंस को दूत बनाकर कुण्डिनपुर भेजा तो हंस को भी मार्ग में शुभ सूचक शकुन रूप जलपूर्ण कलश दिखाई पड़ा[4] जो पथिकों से प्रार्थना की गयी सिद्धि की सूचना जैसी दे रहा था। हंस ने कुछ दूर और आगे बढ़ने पर आम के पेड़ में लगे हुए फलों को देखा[5], तदनन्तर हंस ने कुछ और दूर आगे बढ़ने पर आकाश के करिशावक (हाथी के बच्चे) रूप मेघों से युक्त बहुत से झाड़ियों वाले तथा शाखाओं से छिपे (ढके) हुए व्याघ्र तथा सर्पों को छिपाये हुए एक पर्वत को देखा।[6] ध्यातव्य है कि यहाँ नैषधकार करिशावकों को शुभसूचक होने से मेघरूप करिशावकों का दर्शन तो हंस को करवाया, जब कि व्याघ्र एवं सर्पों का देखना यात्रा में अशुभ सूचक होने से उनकों शाखाओं से ढके रहने का वर्णन किया है। मल्लिनाथ का भी कथन है "नगं पर्वतं ददर्श पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्थक्षेमकरमिति निमित्तज्ञाः"[7]

शकुनशास्त्री शरीर के अंङ्गों के स्पन्दन से भी शुभ अशुभ फल की विवेचना कर लेते हैं। भारतीय संस्कृति में पुरुषों के दाहिने अङ्ग एवं स्त्रियों के बायें अङ्ग स्पन्दन (फड़कने) को शुभ एवं इसके विपरीत फड़कने को अशुभ माना जाता है। यात्रा या किसी कार्य की फलसिद्धि के विचार के मन में आने पर यदि पुरुषों का दाहिना अङ्ग एवं स्त्रियों का बायाँ अङ्ग स्पन्दन करें, तो कर्त्ता यह समझ लेता है कि शकुन शुभ हो रहें हैं। अतः कार्य सिद्धि अवश्य होगी। इस तथ्य का नैषधकार ने भी प्रतिपादन किया है। नल जब देवदूत बनकर कुण्डिनपुरी में प्रवेश कर रहे थे तब उनकी रोमराजि पुलकित हो रही थी एवं दक्षिण नेत्र फड़क (स्पन्दन कर) रहे थे। यथा -

---

1. अग्निपुराण - 231/1......5
2. प्रयसते भरतार्जुनवैन्यवत्स्मृतिधृतोऽपि नल! त्वमभीष्टदः ।
   स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ॥ नै० 5/134
3. वैन्यं पृथु हैहयमर्जुनञ्च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च ।
   एतान्नृपान्यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च ॥ नै० 4/134 में मल्लिनाथ की टिप्पणी में उद्धृत
4. प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
   कलशं जलसंभृतः पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ नै० 2/65
5. अवलम्ब्य दिदृक्षाऽम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम् ।
   सविलासवनेऽवनीभूतः फलमैक्षिष्ट रसालसंगतम् ॥ नै० 2/66
6. नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम् ।
   सददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम् ॥ नै० 2/67
7. नै० 2/67 में मल्लिनाथ

रिवद्यत्प्रमोदोश्रुलवेन वामं रोमाञ्चभृत्पक्ष्मभिरस्य चक्षुः ।
अन्यत्पुनः कम्प्रमपि स्फुरत्वात्तस्याः पुरः प्राप नवोपभोगम् ।।[1]

नारायण ने दक्षिण नेत्र के स्पन्दन के बारे में अभिहित किया कि "चलत्त्वं नयनस्य यद्यपि स्वभावतो विद्यते तथापि प्रियाप्राप्तिसूचकत्वादित्यस्य सार्थक्यम्।। अन्यस्यापिस्वामिनो नवोपभोगे स्वेदादमः सात्विकाः भावाः प्रभवन्ति। दक्षिणनयनस्फरणं भैमीलाभसूचकं शकुनं कथितम्। ध्यातव्य है कि यहाँ श्रीहर्ष महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुनतलम् में वर्णित तथ्य से प्रभावित दिखते हैं[2] एवं यहाँ नल तो दूत बन कर गये थे, परन्तु फिर भी नैषधकार ने चमत्कार पूर्ण वर्णन से उनके भविष्य में श्रेष्ठ पत्नी प्राप्ति का विवरण समुपस्थापित किया है। स्वयंवर प्रसङ्ग में, राजा भीम के सामने राजाओं का परिचय दमयंती से करवाने की समस्या आयी, तब राजा भीम ने एकाग्रचित से अपने कुल देवता भगवान चक्रपाणि का स्मरण किया[3], अवधेय है कि आज भी भारतीय जन में यात्रा एवं कार्यसिद्धि गमन या समय में कुलदेवता या भगवन्नाम लेने की परम्परा चली आ रही है। यह तथ्य भी शकुनोपादान है।[4] भीम के कुलदेवता के ध्यानानतर ही सरस्वती उस स्वयंवर सभा में आयीं, उनके आने पर, मालूम पड़ने वाले शकुन स्वर आदि के द्वारा उसे अभीष्ट तथा प्रमाणिक जान कर लोकपालों के समान राजा भीम ने उनकी उचित पूजा की।[5] यह तथ्य भी अनुभवगम्य है कि किसी व्यक्ति से मिलते समय यदि शुभ शकुन हों, तो वह मिलने वाला मनुष्य या जन भी शुभकारक होता है। नारायण का कथन है कि शकुन स्वरों यथा काकस्वर के साथ-साथ पुरुष की दाहिनी नासिका एवं दाहिनी आँख का स्पन्दन भी शुभसूचक होता है।[6]

शकुविद् स्वप्नादि दर्शन[7] के माध्यम से भी शुभ एवं अशुभ शकुन से फल सिद्धि की व्याख्या सम्पन्न करते हैं। श्रीहर्ष का कथन है कि स्वप्न पहले नहीं देखे गये पदार्थ को भी पूर्वजन्म की भावना से मनुष्य को दिखला देता है। दमयन्ती भी नल को स्वप्न में पति रूप में देखती थी एवं बाद में नल दमयन्ती को पतिरूप में प्राप्त भी हुए।[8] स्वप्न की व्याख्या करते हुए नारायण कहते हैं "सुप्तिः स्वप्नः कदाचिददृष्टमप्यर्थं वस्तु अदृष्टवैभवाद्धर्माधर्मसामर्थ्याज्जनदर्शनातिथिं जनदर्शनगोचरं बकरोति। यदृष्टं दृश्यते स्वप्नेऽननुभूतं कदापि न" इति न्यायेन जन्मान्तरस्थानान्तरानुभूतं समुत्पन्नसंस्कारमस्मिञ्जन्मन्यदृष्टमप्यर्थं धर्माधर्माविव दर्शयति इति भावः।[9] स्वप्न एवं स्वप्नफल की व्याख्या करते हुए मल्लिनाथ कहते हैं "तथाहि

---

1. नै० 6/6
2. (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्)
   शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्रा।। – अभि. शा. 1/16
3. श्रद्धालुसङ्कल्पितकल्पनायां कल्पद्रुमस्याथ रथाङ्गपाणेः ।
   तदाकुलोऽसौ कुलदेवतस्य स्मृतिं ततान क्षणमेकतानः ।। 10/61
4. शकुनादौ शुभेयांयाज्जयाय हरिमास्मरन् । - अग्निपुराण 233/11 पूर्वार्द्ध
5. तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य ।
   तां लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितां दिदेश ।। नै० 10/91
6. तत्कालवेद्यैः तदागमज्ञेयैः शकुनस्वराद्यैः काकस्वरादिशकुननासिकास्वरदक्षिणचक्षुःस्पन्दाद्यैः कृत्वा तां देवीमाप्तामभीष्टां प्राप्तां प्रतीत्य ज्ञात्वा, आप्तागमनसमये भुजस्पन्दादयो भवन्ति। नै० 10/91 नारायण की टिप्पणी
7. अग्निपुराण - 229 अध्याय (स्वप्नाध्याय)
8. मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्वसा न स्वपती स्म पश्यति ।
   अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ।। नै० 1/39
   निमीललितादक्षियुगाच्च निद्रया ह्रदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।
   अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ।। नै० 1/40
9. नै० 5/39 नारायण का मत

सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं दृष्टमिति भावः। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादृष्टात्ताद्दृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः।" निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाहेन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन व्यापाररहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात्। मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः। हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, "अन्तर्द्धौयेनादर्शनमिच्छतीं" त्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम्। अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञान विरह एवेति ज्ञायते, "स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव"।[1] स्वप्नविदों का मन्तव्य है कि रात्रि के चतुर्थ चरण में देखे गये स्वप्न शीघ्र फल देते हैं। नारायण ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा कि गोविसर्जनवेलायां दृष्ट्वा सद्यः फलं लभत्"[2] एवं मल्लिनाथ का कथन है कि - स्वप्नदृष्टस्यार्थस्य जागरे सत्यसंवादादाश्चर्यम्।[3] नल ने भी निशावसान वेला में मधुर अधरों वाली अपनी प्रिया दमयन्ती के संयोग का अनुभव किया था एवं सद्यः दूसरे ही दिन उनका दमयन्ती से मिलन भी हो गया। यथा-

संभुज्यमानाद्य मया निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुराधरेयम् ।
असीमलावण्यरदच्छदेत्थं कथं मयैव प्रतिपद्यते वा ।।[4]

स्पष्ट है कि स्वप्नों से भी शकुनों का विचार, मनुष्यों द्वारा किया जाता है।

नैषधकार ने शकुन रूप में मङ्गलवश, दर्पण देखना, लाजा (धान के खीले) गिराना, फल, एवं फूलों को भी माना, जिनका वर्णन उन्होंने नल की वर यात्रा प्रसङ्ग में समुपस्थापित किया है।[5] साथ ही उन्होंने यह भी विवरण नैषध में दिया है कि जब नल वर रूप में राजा भीम के महल की ओर चले तो उन्होंने शुभ शकुन सूचक दधि, अक्षत, पूर्णकलश आदि माङ्गलिक वस्तुओं का अभिनन्दन किया।[6] मांगलिक वस्तुओं के बारे में नारायण का कथन है "दध्याज्यादर्शदिर्शनं शुभावह्म् इति वसन्तराजग्रन्थे ज्ञातव्यम्।"[7] अग्निपुराण में भी मिलता है कि "फलं घृतं दधि पयो अक्षतादर्शमाक्षिकम्। शङ्खः इक्षुः शुभं वाक्यं भक्तवादित्रगीतकम्।"[8] आज भी भारतीय संस्कृति में इस परम्परा का अनुपालन होता है, जिससे स्पष्ट है कि शकुनों की समीचीनता एवं प्रासङ्गिकता का आज भी विद्यमान है। मल्लिनाथ का भी कथन है "प्रायेण उत्सवेषु नववस्त्रवेष्टितं पूर्णकलशमग्रे स्थापयतीत्याचारः। शूभसूचकशकुनरूपतया

---

1. नै० 5/39, 40 में मल्लिनाथ की टिप्पणी
2. नै० 7/42 नारायण का मत
3. नै० 7/42 मल्लिनाथ की टिप्पणी
4. नै० 7/42
5. अजानती कापि विलोकनोत्सुका समीरघूर्तामपि स्तनांशुकम् ।
   कुचेन तस्मै चलतेऽकरोत्पुरः पुराङ्गना मङ्गलकुम्भसंभृतिम् ।। नै० 15/74
   सखीं नलं दर्शयमानयाङ्कतो जवादुदस्तस्य करस्य कंकणे ।
   विक्षज्य हारैस्त्रुटितैरतर्कितैः कृतं कयापि क्षणलाजमोक्षणम् ।। नै० 15/75
   लसन्नखादर्शमुखाम्बुजस्मितप्रसूनवाणीमधुपाणिपल्लवम् ।
   यियासतस्तस्य नृपस्य जज्ञिरे प्रशस्तवस्तूनि तदेव यौवतम् ।। नै० 15/76
6. वृतः प्रतस्थे स रथैरथो रथी गृहान्विदर्भाधिपतेर्धराधिपः।
   पुरोधसं गौतममात्मवित्तमं द्विधा पुरस्कृत्य गृहीतमङ्गलः।। नै० 16/1
7. नै० 15/76 नारायणी टीका में उद्धृत
8. अग्निपुराण 230/12

मङ्गलकुम्भसम्भृतेर्यात्रायामुपयोगित्वात्, ...तेन च पूर्णकुम्भदर्शनस्य भाविशुभसूचकत्वरूपवस्तुध्वनिः।"[1] लाजा के बारे में मल्लिनाथ का कथन है "उत्सवसम्बन्धिलाजमोक्षणं वा, कृतं तदेव माङ्गलिकं लाजावकिरणं जातमितिभावः। आवश्यकश्चायमाचारः।"[2] यात्रा के समय महिलाओं का धान के खीलों का गिराना लोकाचार में यात्रा का शुभसूचक माना जाता है। अग्निपुराण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। यथा- मङ्गल्यञ्च तथाद्रव्यं तस्यस्यादर्थसिद्धये। श्ववच्च राम! विज्ञेयास्तथा वै जम्बुकादयः।[3] महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश के दूसरे सर्ग में इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि राजा दिलीप (नन्दिनी, गो सेवा प्रसङ्ग में) जंगल में जिधर भी जाते थे, उधर ही लताएँ उनके ऊपर धान का लावा बरसाती थीं। यथा -

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ।।[4]

नैषधकार ने भी ऐसा ही विवरण देते हुए लिखा है कि जब राजा नल दमयन्ती सहित निषध देश पहुँचे, तो प्रवेश करते समय प्रत्येक मार्ग में कुमारियों ने राजा के ऊपर शकुन सूचक लाजा बरसाते हुए उनका अभिनन्दन किया। यथा -

अथ पथि पथि लाजैरात्मनो बाहुबल्ली - मुकुलकुलसकुल्यैः पूजयन्त्यो जयेति ।
क्षितिपतिमुपनेमुस्तं दधाना जनाना - अमृतजलमृणालीसौकुमार्यं कुमार्यः ।।[5]

प्रभात बेला में प्रथम पर्यङ्कोत्थान काल में अपने प्रिय जन का मुख देखना भी शकुनकारी होता है। उन्नीसवें सर्ग में वैतालिकों द्वारा नलदमयन्ती की प्रशंसा में कहा गया कि प्रभो! प्रभात वेला की इस रमणीयता को कृतकृत्य कीजिये। महारानी दमयन्ती का शय्या से उठकर आपके लिये प्रथम मंगल दर्शन हो, क्योंकि स्वामिन् अपने प्रियजन के मुखकमल से बढ़कर अन्य कोई मंगल (शकुन) उत्कृष्ट हैं ही नहीं।[6] मल्लिनाथ का कथन है "चरममपि शयित्वापूर्वमेव प्रबुद्धा" इत्युत्तमाङ्नालक्षणात् त्वत्तः पूर्वमेव शयनात् सत्वरम् उत्थाय अवस्थिता इत्यर्थः। एवं नारायण की टिप्पणी है "पश्चाच्छयनं पूर्वमुत्थानं इति स्मृतिः उत्तमकुल स्त्रीजातिश्च।" यात्रासमय में शीतल, मंद सुगन्धपवन का चलना भी शकुनसूचक माना जाता है। जब नल अपनी वाटिका में पहुँचते हैं, तो शीतल, मंद सुगन्ध पवन ने उनका स्वागत किया।[7] इसका फलितार्थ यह हुआ कि दमयंती प्राप्ति के साधनभूत हंस से उनकी भेंट हुई, एवं अन्ततः हंस के माध्यम से वह दमयन्ती वरण में सफल हुए।

शुभसूचक शकुन विवरण के साथ-साथ नैषधकार ने अशुभसूचक अपशकुनों का भी नैषध में विवरण दिया है। मङ्गल कार्य में आंखों से आंसू गिरने को अमंगल समझा जाता है। दौत्यकर्म में प्रवृत्त

---

1. नै० 15/74 में मल्लिनाथ की टिप्पणी
2. नै० 15/75 में मल्लिनाथ की टिप्पणी
3. अग्निपुराण - 232/20
4. रघुवंश 2/10
5. नै० 16/126, एवं 129
6. जय जय महाराज! प्राभातिकीं सुषमामिमां सफलयतमां दानादक्ष्णोर्दरालसपक्ष्मणोः ।
   प्रथमशकुनं शय्योत्थायं तवास्तु विदर्भजा प्रियजनमुखाम्भोजात्तुङ्गं यदङ्ग! न मङ्गलम् ।। नै० 19/2
7. लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
   असेबतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ।। नै० 1/106

नल के द्वारा सतत् देवताओं को वरण करने की नल की प्रार्थना पर दमयन्ती करुणा से अत्यधिक रुदन कर रही थी। नल दमयन्ती की उस अवस्था पर द्रवीभूत होकर बोले! दमयन्ती आंखों से निरन्तर प्रवाहित होने वाले इस अमङ्गल रूप अश्रुजल को सर्वप्रथम मैं अपने हाथों से पोंछ देता हूँ क्यों कि यह अमंगलकारी हैं। यथा-

दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत्परिमार्जयामि ते।
अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना ।।[1]

यात्रा के समय में छींक होने को भी अपशकुन माना जाता है। नैषधकार इसका विवरण देते हुए कहते हैं कि दमयंती का स्वयंवर समाचार पाकर जब देवगण उसमें भाग लेने के लिये चले, तब उनकी पत्नियों ने छींक दिया था। यथा -

समं सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णै स्वदारनासापथिकैर्मरुद्भिः।
अनङ्गशौर्यानलतापदुःस्थैरथ प्रतस्थे हरितां मरुद्भिः।।[2]

नारायण का कहना है "अन्योऽपि पान्थाः पान्थः सह प्रस्थनं करोति। चण्डवायुभिः सार्धमित्यनेनाशकुनं सूचितम्"। और यही कारण है कि देवगण दमयंतीवरण में असफल हुए। माघ ने भी शिशुपालबध में इस तथ्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि -

अपयाति सरोषतया निरस्ते कृतकं कामिनि चुक्षुवे मृगाक्ष्य ।
कलयन्नपि सव्यथोऽवतस्थेऽशकुनेन स्खलितः किलेतरोऽपि ।।[3]

यात्रा में प्रतिकूल हवा का चलना भी अपशकुन का द्योतक समझा जाता है। नैषधकार ने इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए दमयन्ती प्रसङ्ग में कहा कि सर्पराज वासुकि के पास, दमयन्ती के विमानवाहक चाहते हुए भी प्रतिकूल पवन (निराश सर्पों की लम्बी श्वांसे) को अशुभ समझकर उनके पास नहीं गये।[4] हंस ने भी इसी तथ्य को ध्यान में रखकर दमयन्ती को समझाते हुए कहा कि विपरीत वायु तुम्हें कुपथपर चलने से मना कर रही है।[5] सूर्याभिमुख यात्रा प्रशस्त नहीं होती एवं हंस पक्षी शकुनसूचक एवं विजय प्रदन करने वाला होता है,[6] इस तथ्य का भी नैषधकार ने प्रतिपादन किया है।[7] अचानक दीपक का बुझना भी

---

1. नै० 9/106
2. नै० 8/86
3. शिशुपालबध 9/83
4. तद्दर्शिभिः स्ववरणे फणिभिर्निराशैर्निःश्वस्य तत्किमपि सृष्टमनात्मनीनम् ।
   यत्तान्प्रयातुमनसोऽपि विमानवाहा हा हा प्रतीपपवनाशकुनान्न जग्मुः ।। नै० 11/22
5. वृथार्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
   आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुंकारगिरा वनाली ।। नै० 3/14
6. अग्निपुराण - 231/18
7. शस्ता न हंसाभिमुखी पुनस्ते यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
   साह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ।। नै० 3/9
   मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपियाऽतिशेताम् ।
   निजामृतैर्लोचन सेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम्? ।। नै० 3/58

अपशकुन है।[1] दिग्दाह, भस्मवृष्टि, भूकम्प, रक्तवृष्टि आदि भी अपशकुन समझे जाते हैं, इस तथ्य का श्रीहर्ष ने कीकटनरेश के प्रसङ्ग में वर्णन किया है। यथा-

यद्भर्त्तुः कुरुतेऽभिशेणनमयं शक्रो भुवः सा ध्रुवं
दिग्दाहैरिव भस्मभिर्मघवता सृष्टैधृतोद्धूलना ।
शम्भोर्मा बन सान्धि वेलनटनं भाजि व्रतं द्रागिति
क्षोणी नृत्यति मूर्त्तिरष्टवपुषोऽसृग्वृष्टिसन्ध्याधिया ।।[2]

क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान भी अनर्थ[3] प्रतिपादक होते हैं हालांकि ये मनुष्य के स्वाभाविक दोष हैं, परन्तु फिर भी इन पर मनुष्य का नियंत्रण होना ही उनके कुमार्गगामी न बनने में साधक है। सूख पड़ना भी अपशकुन सूचक है।[4] ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णस्तेय, गुरुस्त्रीगमन, महापातक माने गये हैं, इनमें प्रवृत्ति होना भी अपशकुन माना जाता है। कलियुग इन सब का आधार है। नैषधकार ने सम्पूर्ण अपशकुनों को कलि में समाहित कर उसका वर्णन किया है।[5] चाण्डाल मुख देखना भी अपशकुन माना जाता है।[6] बहेड़े का पेड़ लगाना या उसे देखना भी अशुभ सूचक है क्योंकि उसमें कलि का आवास होता है।[7] जन सामान्य की धारणा में भी बहेड़ का वृक्ष अपशकुनों का आवास माना जाता है। अग्निपुराण में भी इनका विवरण दृष्टव्य है। यथा -

चतुविधस्तु प्रलयो नित्यो यः प्राणिनां लयः ।
सदविनाशे जातानां ब्राह्मो नैमित्तिको लयः ।।
अनावृष्टिरतीवोग्रा जायते शतवार्षिकी ।
ततः सत्त्वक्षयः स्याच्च ततो विष्णुर्जगत्पतिः।।[8]

उपर्युक्त विवरणों से यह जाहिर हो जाता है कि नैषधकार शकुनंशास्त्रविद् थे। ध्यातव्य है कि कुछ विद्वानों ने सामुद्रिकशास्त्र एवं शकुनशास्त्र को ज्योतिषशस्त्र का ही एक उपांग माना है किन्तु शकुनशास्त्र या सामुद्रिक शास्त्र को ज्योतिशशास्त्र का अंग मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ज्योतिषशास्त्र तो केवल ज्योतिष्पिण्डो के प्रभाव से ही सम्बन्ध रखने वाला शास्त्र है और सामुद्रिक शास्त्र तथा शकुनशास्त्र में ज्योतिष्पिण्डों का कोई योगदान नहीं होता है। शकुनशास्त्र का विवरण ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों में मिलने के साथ-साथ उससे सम्बन्धित अन्य प्रमुख ग्रंथों में भी मिलता है। यथा- पद्मादित्य देवनरपतिकृत नरपतिजयचर्या, वसन्तराजकृत वसन्तराजशाकुनम्, नरहरिकृत नरहरिशाकुनम्। नरपतिजयचर्या के प्रमुख टीकाकारों हरिवंश, नरहरि, भूधर, रामनाथ आदि ने भी शकुन शास्त्रीय ग्रंथों की रचना की है। इसके अतिरिक्त हरिद्राशाकुनम्, शकुनावलिः चूणामणिशास्त्र एवं अग्निपुराण में भी शकुनों का विवरण मिलता है साथ ही स्वप्न सम्बन्धी शकुनविषयक ग्रंथों में विवेकविलास भगवतीसूत्र, अग्निपुराण (में स्वप्नाध्याय) तथा स्वप्नकमलाकर आदि प्रमुख ग्रंथ हैं।

---

1. नै० 12/94
2. नै० 12/92
3. नै० 17/19.....25
4. नै० 17/26
5. नै० 17/27 111
6. विमुखान्द्रष्टुमप्येनं जनंगम इव द्विजान् - नै० 17/112 उत्तरार्द्ध
7. नै० 17/213
8. अग्निपुराण - 231/7,8

सामुद्रिक शास्त्र

वर्तमान में ही हमारी शक्ति और जीवन्तता निहित रहती है परन्तु इसे विधि की विडम्बना कह लें या व्यक्ति के व्यक्तित्व की क्लिष्टता या वैभिन्यता, वह अपने ही देशकाल से कितना अनजाना रहता है? एवं उसका भविष्य उससे कितना गुप्त रहता है? यह तथ्य अजस्र गहन अध्ययन, विवेचन तथ खोज का विषय है। वास्तव में यदि सूक्ष्मता से मानव जीवन का विवेचन करें, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव जीवन धारा सुख दुःख के पुलिनों से आलिङ्गित होती हुई सत्त प्रवहमान है। जीवनधारा रूपी नदी में बहते हुए मनुष्य का स्पर्श जब सुख रूपी पुलिन से होता है, तब वह हर्षातिरेक से आनन्द के सागर में गोते लगाने लगता है, एवं अपने भाग्य पर इठलाने लगता है, लेकिन जब उसका संस्पर्श दुःख रूपी पुलिन से होता है या उससे थपेड़े खाता है, तब वह अपने आपको दुःखी, मायूस एवं निर्बल समझने लगता है परन्तु सुख दुःख तो आते जाते रहते हैं। "चक्रारि पंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः"। और हर मनुष्य के मस्तक पर विधि ने जो उसकी जीवनविधा के बारे में लिख दिया है, उसका तो भोग उसे करना ही होगा, उसे कौन मिटा सकता है "लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः"। आखिर मस्तक पर लिखे तथ्य को हम कैसे जानें ? इस प्रश्न का किञ्चित् समाधान सामुद्रिक शास्त्र के माध्यम से हो सकता है, क्योंकि सामुद्रिक शास्त्र मनुष्य के शरीर के अंग, उपांग एवं उनमें विद्यमान चिन्हों या लक्षणों को देखकर शुभाशुभ फल का विवेचन करने वाला शास्त्र है। इसके अध्ययन से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व एवं अपने भविष्य का कुछ सीमा तक आकलन कर सकता है, क्योंकि वृहत्संहिता में कहा गया है "प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषा, यत्राकृतिस्तत्र गुणाः भवन्ति।" अग्निपुराण का भी कथन है "यत्राकारस्ततो गुणाः"। सामुद्रिक शास्त्र का वर्णन, रामायण[1], महाभारत[2], अग्निपुराण[3] अङ्गविज्जा, वृहत्संहिता में मिलने के के साथ-साथ, बाण[4], शूद्रक[5], दण्डी[6], एवं महाकवि कालिदास[7], के महनीय ग्रंथों में मिलता है। आज भी हस्तविज्ञान (इस शास्त्र का अंगभूत रूप) का प्रचलन जनसामान्य में दृष्टिगोचर होने से इसकी प्रचीनता, एवं प्रासङ्गिकता परिलक्षित होती है।

सामुद्रिक शब्द की निष्पत्ति समुद्र + ठञ् से होती है[8], (समुद्रेण प्रोक्तं वेत्यधीते वा ठञ्)। शरीर के चिह्नों से सम्बद्ध तत्त्वों को (जो शुभाशुभ फल के सूचक समझे जाते हैं) सामुद्रिक इत्यभिधेय से संज्ञायित किया जाता है। चूँकि इस विद्या को समुद्र ने गर्गाचार्य ऋषि को बताया था, इसलिए इसे सामुद्रिक विद्या (शास्त्र) कहते हैं[9]। सामुद्रिक विद्या के माध्यम से मनुष्य के हाथ, पैर, ललाट शिर तथा अन्य शरीराङ्ग में स्थित चिह्नों एवं रेखाओं आदि से मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के बारे में विचार किया

---

1. कोट्यापारान्ताः सामुद्राः रत्नान्युपहरन्तु ते। रामायण 2/82/8
2. सामुद्रिकान् सवणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान् पथि - महाभारत 12/162/2
3. अग्निपुराण - 243, 244 एवं 367 वाँ अध्याय
4. स्वप्नेऽपि अविसंवादिन्यः आकृतयः - कादम्बरी
5. न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् - मृच्छकटिक 9/16
6. सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम् - दशकुमारचरित
7. न तादृशा आकृति विशेषागुणविरोधिनो भवन्ति - अभि0 शाकु. - 5 अंक, पृ० 180
8. संस्कृत हिन्दी कोश - पी. वी. काणे, पृ० 1099
9. रामायोक्ता मया नीतिः स्त्रीणां राजन्! नृणां वदे ।
   लक्षणं यत् समुद्रेण गर्गायोक्तं यथा पुरा ।। - अग्नि पुराण - 243/1

जाता है।[1] प्रसिद्ध विद्वान् Grace A Rees ने सामुद्रिक विद्या के बारे में कहा "Physiognomy is a science, so called from two greak words, which mean "Interpretation of Nature" in the whole body. When reading character the science is confined mainly to the face and hands.[2] Physiognomy is described inthe oxford dictionary as the "art of judging character from features of the face or form of body. "It is the science of the effect of the internal (the mind etc.) upon the external (the form of the body and features of the face). Physiognomy should rank among the most useful branches of knowledge as an anatomically based science.[3] नैषधकार श्रीहर्ष ने भी सामुद्रिक शास्त्र के तथ्यों का वर्णन कर लोकजीवन में इसकी चरितार्थता की प्रासङ्गिकता पर अपनी मुहर लगायी है। उन्होंने भी सामुद्रिक शास्त्र के मत, कि "जिसमें सुन्दर रूप होता है, उसमें सुन्दर गुण भी निवास करते हैं"[4] का नैषध में प्रतिपादन करते हुए हंस को सामुद्रिक शास्त्र के इस सिद्धान्त का उपमान या उदाहरण माना, यहाँ नल हंस की प्रशंसा करते हुए कहते हैं, कि हे हंस। तुम्हारा रूप अतुलनीय है, तुम्हारी सुशीलता का तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता। सामुद्रिक शास्त्र का रहस्य है कि जहाँ सुन्दर आकृति होती है, वहीं सुन्दर गुण भी निवास करते हैं, एवं इसके तुम्हीं श्रेष्ठ उदाहरण हो।[5]

सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञान के माध्यम से पुरुष एवं स्त्री दोनों के शरीराकृतियों की विशेषताओं एवं उससे उनके व्यक्तित्व के आकलन का मानचित्र तैयार किया जा कसता है। श्रीहर्ष ने भी विविध पुरुषों यथा राजा 'नल' तथा अन्य राजागण एवं विभिन्न स्त्रियों यथा - दमयंती एवं सरस्वती इत्यादि उसकी सखियों के शरीराकृतियों की चर्चा में नैषधकार कहते हैं कि राजा नल के बाल काले[6] एवं चमरी गाय के केश समूह से भी सुन्दर एवं चंचल (कुंचित)[7] थे। यथा–

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैः समं चमर्येव तुलाभिलाषिणः ।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छ विलोलनच्छलात् ।।[8]

अग्निपुराण में भी श्रेष्ठ पुरुष के बालों को काला होना बताया गया है।[9] सामुद्रिक शास्त्र का मत है कि जिस व्यक्ति के चरण में ऊर्ध्व रेखा हो वह सर्वश्रेष्ठ पद का स्वामी होता है, "ऊर्ध्व रेखाङ्कितपदः

1. करतल-पादतल-ललाटादि शरीराङ्गस्थचिन्ह्नां रेखादीनाञ्च त्रैकालिकसकल-कार्यकलापसूचकत्वेनेष्टानिष्ट फलनिर्देशकत्वेन च सविस्तरं विवरणं, विवेचनं तद्विषयक नियमादिप्रख्यापनञ्चास्मिन् विशदतया, सूक्ष्मतया च विहितमभ्युप- गम्येते। - संस्कृत वाङ्मयम् - डॉ० हरिकृष्णदातारः, पृ० 78
2. The Science of Physiognomy - Character Reading from the face - Grace A Rees, P. 74.
3. वही, P. 10 and, Oxford Dictionary - Appendix -I
4. प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषाः, यत्राकृतिस्तत्र गुणाः भवन्ति।" – वृहत्संहिता
यत्राकृतिस्तत्र गुणाः भवन्ति। -नै० 2/51 में नारायण एवं मल्लिमाथ की टिप्पणी
5. न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रकसारमुद्रणा।। नै० 2/51 मल्लिनाथ ने सामुद्रकसारमुद्रणा की जगह सामुद्रिकसारमुद्रणा का प्रयोग किया है।
6. अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराशिरस्थितम् ।। नै० 1/16 उत्तरार्द्ध
7. बालचापलं रोमचाञ्चल्यम्। वबयोरभेदाद्बालचावलं कथयति, बाल चापलं सोढव्यमित्यर्थः। अत्र पुच्छ चालनात् छलशब्देनापह्नुत्या बालबालयोरभेदाध्यवसायेन बालचापलत्वारोपादपपह्नवभेद ः। नै० 1/25 में मल्लिनाथ
8. नै० 1/25
9. दंष्ट्राश्चतस्रश्चन्द्राभाश्चतुः कृष्णं वदामि ते।
नेत्रतारौ भृवौ शमश्रुः कृष्णाः केशास्तर्थव च।। अग्निपुराण 243/14
   - Fines of their and skin denotes refinement sensitiveness, and keen susceptibility of culture. Dark, almost block, curry hair found on the heads of many Natives of walses, explains their love of music, singing, their vivacity and enthusiasm, and the touchy " dispositions that is easily pleased or offended. - Character Reading from the face . P-72.

सवोत्कर्षं भजेत् पुमान् इति सामुद्रिकाः[1]।" श्रीहर्ष ने इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा कि नल के चरण कमल प्रवाल का सुन्दरता में तिरस्कार करने के कारण एवं पृथ्वी के समस्त राजाओं के शिरों पर रखे जाने के कारण ऊर्ध्वस्थान भागी होंगे, ऐसा सोचकर ब्रह्मा ने मानो पहले से ही विचार कर लिया था, इसी कारण उन्होंने नल के चरणों को ऊर्ध्व रेखा से समन्वित किया।[2] नल के शरीर में स्थित रोमों की चर्चा करते हुए नैषधकार कहते हैं कि ब्रह्मा ने रोमों के बहाने से साढ़े तीन करोड़ रेखाओं से इस नल के गुणों को क्या नहीं गिना? अर्थात् अवश्य ही गिना होगा, एवं क्या ब्रह्मा ने रोम छिद्रो के रूप में उनके दूषणों के शून्य बिन्दुओं (की गणना) का निर्माण नहीं किया? अर्थात, अवश्य ही किया।[3] परन्तु यहाँ मल्लिनाथ का कथन है "अस्मिन् गुणा एवं सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भावः।[4] एवं नारायण का भी यहाँ कथन द्रष्टव्य है - "यत्र किमपि न तत्र ज्योतिर्विद्भिः शून्यसूचको बिन्दुः क्रियते, तथा रोमकूपा अपि वर्तुला बिन्दुत्वेनोत्प्रेक्ष्यन्ते। अयं रोमकूपो न, किन्तु दोषराहित्यसूचका बिन्दवा एवं लिखिताः। "तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे" इति तावन्तः कूपा इति। रोमैकैकं कूपके पार्थिवानाम् इति सामुद्रिक लक्षणं सूच्यते। नल का कण्ठ प्रिय एंव मधुर वाणी रूप सुधा का साक्षात् कूप ही था। यथा–

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगं कोकनदेन नैषधः ।
मृदुः तस्य मुदेऽकिरद्गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ।।[5]

अग्नि पुराण में भी कहा गया है।

धन्यस्य मधुरावाणी गतिर्मत्तेभसन्निभा। एककूपभवं रोम भये रक्षा सकृत सकृत । [6]

श्रीहर्ष ने नल के अन्य शरीरांगों के बारे में अभिहित किया कि उसके चरण कमल से, हाथ नवपल्लव से तथा मुख शरत्कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अत्यधिक सुन्दर थे। यथा -

स्वकेलिलेशस्मित निर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः ।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ।।
सरोरुहं तस्य दृशैव निर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ।।[7]

हाथ के बारे में प्रसिद्ध पाश्चात्य सामुद्रिक शास्त्रविद् William G. Benham का कथन है "The hand Physically shows what kind of a brain is directing it. If the brain centre which controls the hand is of one shape, the mount of Jupter will be largest, and we shall have a jupiterian brain centre creating jupiterian thoughts, ways and peculiarities and the result will be that we have a jupiterian subject.[8] कीरो (~~कैसप्रत्व~~) ने अपने ग्रंथ Palmistry for all" ~~esa dgk~~ "In Examining

---

1. नै० 2/18, मल्लिनाथ की टिप्पणी
2. अधो विधानात्कमलप्रवालयोः शिरःसु दानादरिव लक्षमाभुजाम् ।
   पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याकिङ्कत मूर्ध्वरेखया ।। नै 2/18
3. किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद्गुणान् ।
   न रोमकूपौघ मिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्य विन्दवः ।। नै० 2/21
4. अत्र रोम्णां रोमकूपाणां कपटमिष्' शब्दाभ्यां ताद्रूप्यापह्वेन गुणगणनारेखात्वदूष णशून्यबिन्दुवयोरुत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रेक्षयो संसृष्टिः इतिमल्लिनाथ। नै० 2/21 की टिप्पणी
5. नै० 2/50
6. अग्निपुराण 243/26
7. नै० 1/23, 24
8. The laws of scientific Hand Reading - W. G. Benham - P- 8

this subject it will be found that in the study of mankind it came to be recognised that, as there was a natural position on the face for the nose, eyes, lips, etc., So also on the hand was there a natural position for what are known as the line of head, line of life and so on. If these were found in some unnatural tendencies. God caused signs or seals on the hands of all the sons of men, that the sons of men might know their works.[1] ख्यातिलब्ध पाश्चात्य सामुद्रिक विद्या के जानकार Alexander Walker ने मुख के बारे में अपनी पुस्तक Physiognomy founded on Physiology में लिखा "The face was the mirror of mind, The muscles that surround the features being, more or less, under control of the will. Grace A Rees का कथन भी इस सम्बन्ध में अवधेय है - The muscles around the mouth are responsible for a variety of exparessions, and their control of the lips is important for speech .... Mental capacity and sensibility enliven the face. What goes on in the mind engraves its mark externally. The whale body is Physiognomically expressive, head, face, trunk, hands, feets, walk, voice, texture of hair and skin.[2]

सामुद्रिक शास्त्र वेत्ताओं यथा वराहमिहिर का मत है कि यदि किसी मनुष्य (स्त्री या पुरुष) के हाथ अथवा पैर में मत्स्य आदि का चिह्नहो, तो वह उसके चक्रवर्ती सम्राट (राज्ञी) होने का लक्षण है।[3] श्रीहर्ष ने भी नल सम्बन्धित अपनें वर्णन प्रसङ्ग में बताया कि नल के हाथ में मत्स्य चिह्नथा। मत्स्य समन्वित हाथ वाले नल के उपवन में घूमने पर ऐसा मालूम हो रहा था मानो स्वयं कामदेव (कामदेव का चिह्न भी मत्स्य है) अपने ध्वजचिह्न मत्स्य को, वृक्षों के आलवाल (थाँवलों में) में घुस जाने की शंका से, हाथ में धारण कर लिया हो। इस कारण लोगों ने उसे (नल को) मत्स्य चिह्नधारी कामदेव समझा, जो समस्त ऋतु सम्पन्न वन में अपने मित्र बसन्त का अनुसरण करते हुए विहार कर रहा हो। नल के मस्तक में त्रिपुण्ड एवं त्रिशूल आदि रेखायें भी विद्यमान थीं[4], जो चक्रवर्ती सम्राट होने के लक्षण सामुद्रिक शास्त्र में माने गये हैं।[5]

---

1. – Palmistry for All -Cheiro -P-18
   – कीरो ने हाथ के 7 प्रकार बताये -
     – The Elementary - or lowest type.
     – The square - or the useful hand.
     – The spatulate - or the Norvous actie type.
     – The Philosophic - or jointed hand.
     – The Conic - or the ortistic type.
     – The Psychic - or the idealistic hand.
     – The Mixed hand. - इसमें नल का हाथ The Psychic - or the idealistic hand के अन्तर्गत आता है। देखिये पृष्ठ palmistry for All P- 103 - 106
2. Character Reading from the face - P - 11,12
3. भृङ्गारासनवाजिकुञ्जररथ श्रीवृक्षयूपेषुभिर्माला कुण्डलतोमराङ्कुशयवैः शैलेर्ध्व जैस्तोमत्स्यस्वस्तिक मत्स्यस्वस्तिकवेदिकाव्यजनकैयस्याङ्कितं वर्तते, पादे पाणितलेऽथवा स भवति त्रैलोक्य भूमीश्वरः।। वृहत्संहिता 70/10
   – यहाँ आचार्य नरहरि के मत को प्रो. के. के. हाण्डिकी ने रखते हुए कहा कि पादे -पाणितलेऽथवा स भवति त्रैलोक्यभूमीश्वरः की जगह "पादे पाणितलेऽपि वा युवतयो गच्छन्ति राज्ञीपदम्" होना चाहिए, परन्तु ध्यातव्य है कि यह लक्षण स्त्री एवं पुरुष दोनों के लिए प्रयुक्त है। नैषधीयचरित- प्रो. के. के. हाण्डिकी पृ० 359.
4. वहतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुग्राक्ष्मधुव्रतं खगः ।
   स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ।। नै० 2/6 - यहाँ मल्लिनाथ ने 'वहतो' शब्द की जगह दधतो' शब्द रखना अपेक्षित समझा है।
5. उरो ललाटं वक्त्रञ्च त्रिविस्तीर्णो विलेखवान् ।
   द्वौ पाणी द्वौ तथा पादौ ध्वजच्छत्रादि भिर्युतौ ।। अग्निपुराण 243/13

सामुद्रिक शास्त्र विदों की मान्यता है कि जिस मनुष्य के पूरे बत्तीस दांत होते हैं, वह मनुष्य अत्यधिक विद्वान् एवं सत्यवादी होता है हंस दमयन्ती वार्तालाप प्रसङ्ग में हंस दमयन्ती से कहता है कि ब्रह्मा ने नल के मुख में दन्तमयी बत्तीस रेखओं को गिनकर कह दिया कि नल में चौदहों तथा अठारहों दोनों प्रकार की विद्याएँ वर्तमान हैं अर्थात् वह बत्तीस विद्याओं का ज्ञाता है।[1] मल्लिनाथने चौदहों एवं अठारहों दोनों प्रकार की विद्याओं का वर्णन करते हुए लिखा -

> अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः ।
> पुराणं धर्म शास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ।
> आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात् ।
> अर्थशास्त्रं परं तस्माद्विधा ह्यष्टादश स्मृताः ।[2]

नारायण का कथन है "दन्तानां रेखात्वरूपणं सूक्ष्म वत्त्वे सागुद्रिक लक्षणवत्त्वद्योतनार्थं। दन्ताः द्वालिंशद्विद्यन्त इति भावः।[3] अग्निपुराण का भी कथन है ।

> चतर्दशसमद्वन्द्व एतत् सामान्यतो नरः ।
> विद्याचतुर्दश द्वयक्षैः पश्येद् यः षोड़शाक्षकः ।।[4]

नल के गुणों की चर्चा करते हुए हंस दमयन्ती से कहता है कि यदि तीनों लोक गणना करने में तत्पर हो जाँय, तथा उनकी आयु का अन्त न हो, अर्थात् वे अमर हो जाँय और गणित की संख्यायें परार्द्ध से भी ऊपर हों, तब उस नल के गुण गिने जा सकते हैं।[5] तात्पर्य यह है कि उक्त तीनों बातों के असम्भव होने से नल के गुणों की गणना भी असंम्भव है। नल के चरणों में चक्रवर्ती लक्षण विद्यमान थे। नल के दौत्य प्रसङ्ग वर्णन में नैषधकार का कथन है कि मार्ग में बालकों ने अतिशय कपूर की धूलि से खेल किया था, जिस पर नल के चक्रवर्ति लक्षणोपेत चरणों को अंकित देख सुन्दरियों को बड़ा आश्चर्य होने लगा।[6] आँखे काली, सुन्दर एवं हरिण सदृश ही श्रेष्ठ होती हैं, एवं नल की आँखे भीइसी तरह की थीं ऐसा नैषध में विवरण मिलता है।[7] कुंचित सघन एवं काले केश ही शुभ एवं सौन्दर्यवर्धक माने जाते हैं जैसा कि पूर्व में विवरण दिया जा चुका है। श्रीहर्ष ने दौत्य प्रसंग में नलकेशों का वर्णन करते हुए लिखा कि दमयंती के नेत्र रूपी खञ्जन पक्षी नल के सुन्दर, महीन, किन्तु सघन केशपाश में पड़कर स्पन्दन हीन होने के कारण उस पाश बन्धन को छुड़ाकर जाने में समर्थ न हो सके। यथा -

> सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निस्पन्दतरीभवद्भ्याम् ।
> तस्यानुबन्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तललोचन खञ्जनाभ्याम् ।।[8]

---

1. रेखाभिरास्ये गणनादिवस्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः।
   चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः।। नै० 3/35
2. नै० 3/35 मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत्
3. नै - 3/35 नारायण का मत
4. अग्निपुराण 243/24
5. नै० 3/40
6. पश्याःपुरन्ध्री प्रति सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे ।
   चित्राणि चक्रेऽध्वनि चक्रवर्ति चिह्नं तदंघ्रिप्रतिमासु चक्रम् ।। नै० 6/39
7. अन्तःपुरे विस्तृतवागुरेऽपि बालावलीनां वलितैगुणौघैः ।
   न कालसारं हरिणं तदक्षिद्वयं प्रभुर्बद्धुमभून्मनोभूः ।। नै० 6/19
8. नै० 8/13

यहाँ नैषधकार ने दमयन्ती के नेत्रों के समान होने की विक्षा रखी है, जब कि नारायण का नल के केशों के बारे में कथन है कि "सूक्ष्मास्तु पाणिदशनाङ्गलिपर्वकेशाः। इत्यादि लक्षणम्। पाशः कचान्ते सङ्घार्थः कणान्ते शोभनार्थकः क्षत्राद्यन्ते च निन्दार्थः पाशः पक्ष्यादि बन्धने इति विश्वः।"[1] पुरुष के चरण नख अर्धचन्द्रकार ही श्रेष्ठ होते हैं। एवं नैषधकार ने यह विवरण दिया है कि नल के पैर के अगूंठे में कामारिकाचिह्न (अर्द्धचन्द्र) विराजमान था। जिससे उनके पैर का अंगूठा अत्यधिक शोभावान था। यथा -

भवत्पदांगुष्ठमपि श्रिता श्रीर्धुवं न लब्धा कुसुमायुधेन ।
रतीशजेतुः खलु चिह्नमस्मिन्नर्धेन्दुरास्ते नखवेशधारी ।।[2]

नैषधकार ने दमयन्ती एवं सरस्वती के सौन्दर्य वर्णन प्रसङ्ग में सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी स्त्रियों के शरीराकृतियों की चर्चा की है। दमयन्ती के बारे में हंसमुखेन श्रीहर्ष कहते हैं, कि वह कन्या अपनी काय कान्ति से त्रिभुवन सुन्दरियों की कमनीयता का दमन करती हुई उत्पन्न हुई थी, इसीलिए उसका नाम दमयन्ती रखा गया।[3] उसके केश लम्बे, कुंचित तथा सुन्दर हैं[4] एवं नेत्र मृगनेत्रों से भी बड़े तथा सुन्दर है।[5] उसके अधर बिम्ब फल के समान[6] एवं मुख चन्द्रमा से भी श्रेष्ठ था।[7] नासिका ऊँची तथा तिलपुष्प से भी सुन्दर और भौहें अत्यधिक सुन्दर थीं।[8] उदर में सुन्दर रोमराजि[9] तथा स्तन बड़े, सुन्दर कलश सदृश[10] थे। उसके उदर का वर्णन करते हुए नैषधकार लिखते हैं, ब्रह्मा ने उसके उदर को अपनी मुट्ठी से नाप कर बनाया है। अतएव पीछे की ओर दबी हुई पीठ के मध्यभाग में अंगूठे के स्पष्ट चिह्न हैं, तथा आगे की ओर चार अँगुलियों के मध्य से निकली हुई त्रिवलियाँ भी बनी हैं[11] अर्थात वह निम्नोदरी या कृशोदरी है। मलिलनाथ का कथन है "मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये निम्नता उदरे च चतुरङ्गुलिनोदना-द्वलित्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्षते।" दमयन्ती के नितम्ब विशाल तथ गोल हैं[12] एवं उसकी जंघाएँ कदली सदृश चिकनी तथा गोरी एवं सुडौल हैं[13] तथा उसके चरण कमल सदृश गोरे एवं सौन्दर्यसमन्वित हैं।[14] दमयन्ती सुदती (सुन्दर दांतो वाली) तथा हंसगामिनी (मन्दगामिनी) थी, उसकी चाल का वर्णन करते हुए नैषधकार लिखते हैं -

---

1. नै० 8/13, नारायण की टिप्पणी।
2. नै० 8/36
3. भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ।। नै० 2/18
4. चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्धनि सा बिभर्ति यान् ।
पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलामिच्छतु चामरेण कः ।। नै० 2/20, एवं 2/33, 7/20 15/33
5. स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयन कैतवान्मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षण शोभया भयात् ।। नै० 2/21, एवं 4/14, 7/29 36
6. नै० 2/24, 7/37 41
7. नै० 2/25, 26, 27
8. नै 2/28, 7/24, 25, 26, 37, 92 , 11/67
9. नै० 2/30
10. नै० 2/31, 32 4/10, 7/5, 73, 74, 78 80
11. नै० 2/34, 35, 7/81........ 87, 21/147
12. नै० 2/36, 7/7, 79
13. नै० 2/37, 7/92 ..... 97, 10/135
14. नै० 2/38

हंसोऽप्यसौ हंसगते सुदत्याः पुरः पुरश्चारु चलन्बभासे ।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥[1]

दमयंती की कटि ईश की अणिमा (सिद्धि रूप) सदृश पतली थी[2] एवं बाहुएँ मृणालदण्ड से भी अधिक कोमल तथा सुन्दर थीं।[3] श्रीहर्ष नें स्त्रियों के हृदय को मृदु बताते हुए अभिहित किया कि–

प्रकृतिरेतु गुणः स न योषितां कथमिमां हृदयं मदु नाम यत्
तदिषुभिः कुसुमैरपि दुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा ॥[4]

दमयंती की शरीराकृति हरिद्रासदृश (गोरी), एवं दन्तावलिया समान थीं।[5] नैषधकार ने उपर्युक्त दमयन्ती के सौन्दर्य सम्बन्धी जो विवरण समुपस्थापित किये हैं वह सर्वथा सामुद्रिक शास्त्रानुरूप ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि अग्नि पुराण में ललनालालित्य सम्बन्धी एवं सामुद्रिक शास्त्रसमन्वित विवरण भी उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि करते हैं। यथा -

शस्ता स्त्री चारुसर्वांगी मत्तमातङ्गगामिनी । गुरूरुजघना या च मत्तपारावतेक्षणा ॥
सुनीलकेशी तन्वङ्गी विलोमाङ्गी मनोहरा । समभूमिस्पृशौ पादौ संहतौ च तथा स्तनौ ॥
नाभिः प्रदक्षिणावर्ता गुह्यमश्वत्थयत्रवत् । गुल्फौ निमूढौ मध्येन नाभिरङ्गुष्ठमानिका ॥
जठरं न प्रलम्बश्च रोमरूक्षा न शोभना । नर्क्षवृक्षनदीनाम्नी न सदा कलहप्रिया ॥
न लोलुपा न दुर्भाषा शुभादेवादिपूजिता । गण्डैर्मधूकपुष्पाभैर्न शिराला न लोमशा ॥
न संहतभ्रूकुटिला पतिप्राणा पतिप्रिया । अलक्षणापि लक्षण्या यत्राकारस्ततो गुणाः
भुवङ्कनिष्ठिका यस्या न स्पृशेन मृत्युरेवसा ॥[6]

स्त्रियों के अधरों के मध्य भाग (रेखा) के दोनों (ओर) पार्श्वभागों का कुछ उठा (फूला या मोटा) होना सामुद्रिक शास्त्र में सौन्दर्य एवं सौभाग्य का प्रतीक समझा जाता है।[7] श्रीहर्ष ने इस तथ्य को भी नैषध में स्थान दिया है जहाँ दमयन्ती के अधरों के लालित्य को देखकर (दौत्य प्रसङ्ग में) नल मन ही मन विचार करते हैं कि "भैमी (दमयन्ती) के ये अधरोष्ठ (जो बिम्बफल के प्रतिबिम्ब सदृश हैं) मध्य भाग में जो कुछ उठे होने के कारण सुन्दर लग रहें हैं, वह क्या स्वप्न संभोग के समय दन्त क्षत करने वाले (मेरा, नल का) ही अपराध तो नहीं हैं।[8] अधरोष्ठ में रेखाओं का होना सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार विद्याप्राप्ति का सूचक है। दमयन्ती के अधरोष्ठो में दृष्टिगोचर रेखाओं से श्रीहर्ष ने यह कथन किया है कि ब्रह्मा ने अधरोष्ठ की रेखाओं द्वारा उसके अधरोष्ठों पर अपने अवान्तर भेदोंसहित (कितनी ही अर्थात् अनेकों) विद्यायें नाचती रहती हैं।[9] सरस्वती वर्णन प्रसङ्ग में नैषधकार लिखते हैं कि उसकी सोलह-सोलह की दोनों दन्तपंक्तियाँ, नाम कथन तथा लक्षण कथन दोनों में दो-दो प्रकार से कहे हुए प्रमाणादिक सोलह पदार्थों से युक्त निःश्रेयसेच्छु द्वारा अभ्यस्त तर्क विद्या सी, गुम्फित मोती जैसी प्रतीत होती थीं। यथा-

---

1. नै० 3/10, 4/40, 7/102
2. नै० 3/64, 7/28
3. नै० 4/34, 7/68, 69, 73
4. नै० 4/23
5. नै० 7/13
6. अग्निपुराण - 244/1 .... 6 ।
7. अधरोष्ठस्य मध्यसमीपवर्तिनोः पार्श्वदेशयोः किंचिदुच्छूनता सामुद्रिको गुणः। नै० 7/40 में नारायण की टिप्पणी
8. मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातः किमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः ।
तत्स्वप्नसम्भोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयापराद्धम् ॥ नै० 7/40
9. विद्या विदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्ति कत्यन्तरभेद भाजः
इतीव रेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान्कौतुकवान्विधाता ॥ नै० 7/41 , एवं 9/117

उद्देश पर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः ।
आन्वीक्षिकी यद्दशनद्विमाली तां मुक्तिक्रामाकलितां प्रतीमः ।।[1]

स्पष्ट है कि दांतो का बत्तीस की संख्या में होना एसं मोती जैसे सफेद एवं चिकने होना नैषधकार ने शुभ माना है। स्त्रियों के ऊपर के दो दांत (मध्य वाले) बड़े होना सौभाग्य सूचक हैं। नारायण का कथन है "दन्तानामीषदायतत्वं सूक्ष्मत्वं सामुद्रिको गुणः।[2] नैषधकार कहते हैं कि दमयन्ती के चन्द्राधिक मुख की चन्द्रकिरणों से अधिक सघन ज्योत्स्नारूपी बादल की, जो पहिले दो बड़ी बूंदे तथा बाद में जलबूदों की पंक्ति निकली, वही सुन्दरी की दो दन्तपंक्तियाँ हो गयीं।[3] स्पष्ट है कि ऊपर, मध्य में दो दांत बड़े एवं उनके पार्श्व दांतों का समान एवं घने होना तथा नीचे के सभी दांतों को छोटा, घना समान तथा धवल होना स्त्रियों के सौभाग्य वर्धन के साथ-साथ सौन्दर्य का भी प्रतीक है। परन्तु नैषधकार ने ऊपर दो के साथ-साथ चार बड़े दांतों का होना भी श्रेष्ठ माना है। यथा -

राजौ द्विजानामिह राजदन्ताः संबिभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत् ।
उद्वेगरागादिमृजावदाताश्चत्वार एते तदवैमि मुक्ताः ।।[4]

स्त्रियों का कोमलाङ्गी होने के साथ-साथ मृदुवाणी सम्पन्ना होना भी उनके लालित्य में चार चाँद लगाता है। दमयंती भी इन दोनों गुणों से सम्पन्न ललना थी[5] इसका उल्लेख भी नैषधकार ने किया है। साहित्य विद्याधरी में वर्णन मिलता है कि उत्तम स्त्रियों का चिबुक (ठुड्ढी) स्वभावतया कुछ दबा (निम्न) रहता है ''उत्तमस्त्रीणां स्वभावादेव चिबुकं निम्नं भवतीति।[6] दमयन्ती के चिबुक को देखकर नल मन ही मन यह सोचते हैं, कि भैमी के मुख की सुषमा का निर्माण कर चुकने पर क्या ब्रह्मा ने इसके मुख को ऊपर करके देखा था (कि कहीं कोई कमी तो नहीं रह गयी), क्योंकि इसकी गम्भीर ठोड़ी (ठुड्डी) में अंगुली लगने का निशान बन गया है।[7] श्रीहर्ष के अनुसार स्त्रियों की भौंहो को चन्द्रमा का तृतीयांश हौना चाहिए।[8] कान के मध्य में बनी हुई गहरी रेखा से यदि नव (९) का अंक बनता हो, तो स्त्री या कन्या विदुषी होती है।[9] नारायण का कथन है "नवसंख्या का विद्या एका श्रुतिर्धारयति, अपरापि नवसंख्याका इति द्योतनार्थं ब्रह्मणैव कर्णमध्ये रेखारूपोऽष्टादशार्धगणनानुरूपो नवाङ्को निर्मित इत्यर्थः[10] एवं मल्लिनाथ का कथन है" अत्र कर्णस्य रेखायां-सुधाप्रणालीत्वमुत्प्रेक्ष्यते।[11] ग्रीवा शरीरोर्ध्व देश को सुन्दर बनाती है। कम्बु के समान एवं त्रिवलियों (तीन रेखाओं से समन्वित) ग्रीवा ही सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शुभ मानी जाती है। नारायण का कथन है "रेखात्रयाङ्किता ग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते।" एवं मल्लिनाथ का कथन है "अत्र ग्रीवागत

---

1. नै० 10/82
2. नैत्र 7/44 नारायण की टिप्पणी
3. चन्द्राधिकैतन्मुख चन्द्रिकाणां दरायतं तत्किरणाद्घनानाभ् ।
   पुरः सरस्रस्तपृषद्वितीयं रदावलिद्वन्द्वति बिन्दुवृन्दम् ।। नै० 7/44
4. नै० 7/46
5. नै० 7/47 108
6. नै० 7/51 नारायण की व्याख्या में उद्धृत्
7. विलोकितास्या मुखमन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ।
   धृत्युद्भवा पच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनाङ्गुलियन्त्रणेव ।। नै० 7/51
8. नै० 7/53, 10/86
9. अस्याः यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दधतुरर्धमर्धम् ।
   कर्णान्तरुत्कीर्णगम्भीररेखः किं तस्य संख्यैव नवा नवाङ्कः ।। नै० 7/63 एवं 10/87, 7/61, 63
10. नै० 7/63 नारायण की टिप्पणी
11. नै० 7/63 मल्लिनाथ की टिप्पणी

भाग्यरेखात्रये सीमाविभागत्वचिह्नमुत्प्रेक्ष्यतें।[1] नैषधकार दमयन्ती के कण्ठ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा ने दमयन्ती के कण्ठ में कवित्व, संगीत, प्रियवचन तथा सत्य इन चारों को स्थापित किया और इन तीन रेखाओं के बहाने (तीन रेखाओं से चार भाग बन जाते हैं, अर्थात् दमयन्ती काव्यविद्, कलाविद्, एवं कम्बुकण्ठी है) इस रूप में नैषधकार नें (कवित्वादि) चारों गुणों के निवास की सीमा भी विभक्त कर दी है।[2] सरस्वती के कण्ठ का वर्णन करते हुए उन्होनें कहा कि "वह श्रेष्ठ गुणों तथा त्रिवलियों से युक्त कण्ठ वाली एवं श्रेष्ठ उदर वाली थीं।" यथा -

मध्येसभं सावततार बाला गन्धर्वविद्याधरकण्ठनाला ।
त्रयीमयीभूतवली विभङ्गा साहित्य निर्वर्तितदृक्तरङ्गाः ।।
आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदीमूलाद्विनिर्गत्य वितायमाना ।
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा ।।

स्त्रियों की नाभि जल के आवर्त के समान गहरी एवं रमणीय होनी चाहिए।[3] तथा हाथ कमलरेखाङ्कित होने से शुभ लक्षण सम्पन्न माने जाते हैं।[4] सरस्वती के हाथों में मत्स्य पद्म, आदि रेखायें विद्यमान थीं। उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए नैषधकार लिखते हैं -

सपल्लवं व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावादुभयीभविष्णु ।
तन्मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं यत्पाणियुग्मं ववृते पुराणम् ।।[5]

यहाँ नारायण का कथन है "रेखारूपमत्स्यपद्मचक्रादिसामुद्रिक लक्षणैर्लक्ष्यमाणम्।। स्तनों के मध्य भाग में रेखाओं का होना शुभ तथा कामाकर्षण का प्रतीक माना जाता है। नारायण का कथन है कि "एवंभूतं स्तनमध्यं दृष्ट्वा सर्वेऽपि मुह्यन्तीति, तत्र स्खलनस्योक्तत्वात्तत्रालब्धावकाशा इति भावः।" एवं मल्लिनाथ कहते हैं "रत्नमयूखधारासु युवमानसस्खलनरेखाङ्कत्वमुत्प्रेक्ष्यते।[6]" नैषधकार का कथन है कि दमयन्ती के चन्दनलिप्त स्तनों के मध्यभाग में समस्त युवकों के मन के फिसल कर गिरने की रेखायें हारस्थ रत्नों की किरणों के रूप में चमक रहीं हैं।[7]

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यदि किसी स्त्री के दोनों गुल्फ (टखने, पैर की पिंडली का सबसे निचला हिस्सा) यदि दबे हो, या मांस के भीतर छिपे हों, तो उस शुभ लक्षणसम्पन्ना माना जाता है। मल्लिनाथ कहते हैं, "गूढगुल्फत्वं स्त्रीलक्षणं" एवं नारायण का मत है "निम्नगुल्फत्वं नाम सामुद्रिक लक्षणम्।"[8] नैषधकार दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अभिहित करते हैं कि अरुन्धती, कामपत्नी

---

1. नै० 7/67 में नारायण एवं मल्लिनाथ
2. कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम् ।
   रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः ।। नै० 7/67
3. नै० 7/69, 11/28
4. नै० 7/72
5. नै० 10/84
6. नै० 7/80
7. स्तनायटे चन्दनपङ्किलेऽस्या जातस्य यावद्युवमानसानाम् ।
   हारावलीरत्नमयूखधाराकाराः स्फुरन्ति स्खलस्य रेखाः ।। नैत्र 7/80 यहाँ
   मल्लिनाथ स्तनायटे की जगह 'स्तनातटे' मानते हैं।
8. नै० 7/98 मल्लिनाथ एवं नारायण की उक्ति

रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी तथा नव मात्रिकाओं में चौदहवीं यह दमयन्ती है, अतः उनकी जो अदृश्य सिद्धि है, वह इस दमयन्ती में गुल्फ (दोनों पैरों के नीचे जोड़े पर दोनों ओर उठी हुई हड्डी अर्थात गट्टों) को प्राप्त हुई है, वह उचित ही है।[1] अर्थात् अरुन्धती आदि तेरह देवियाँ प्रतिपदादि त्रयोदशी तिथि पर्यन्त के समान है, अतएव चतुर्दशी तिथि रूप (चतुर्दशी को अदृश्य सिद्धि की जाती है) यह दमयन्ती उन अरुन्धती आदि महादेवियों से भी विशिष्ट है। नैषधकार के मत में स्त्रियों के चरण छोटे एवं सुन्दर मूंगे के सदृश वर्ण वाला होना लालित्यवर्धक माना जाता है।[2] साथ ही चरणनख चन्द्रसदृश तथाचरणअरुणपद्मतुल्य होना भी शुभ सूचक है।[3]

स्त्रियों के गुप्तांग (योनि) का पीपल के पत्ते के सदृश होना ही सामुद्रिक शास्त्र में श्रेष्ठ माना जाता हैं नैषधकार ने इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा

अङ्गेन केनापि विजेतुमस्या गवेष्यते किञ्चल पत्रपत्रम् ।
नो चेद्विशेषादितरच्छदेभ्यस्तस्यास्तु कम्पस्तु कुतो भयेन् ।।[4]

मल्लिनाथ का कथन है "अश्वत्थदलसङ्काशं गुह्यं गूढ़मपि स्थितम्। यस्याः सा सुभगा नारी धन्या पुण्यैरवाप्यते। उद्यान में विहार के समय नल ने दमयन्ती को पीपल के पत्ते को उठाकर अपनी अभीप्सा रखी। " यथा -

वनकेलौ स्मराश्वत्थदलं भूपतितं प्रति। देहि मह्यमुदस्येति मद्गिरा व्रीडिताऽसि यत्।।[5]

स्त्रियों के भ्रूद्वय (भौहों) का आपस में न मिलना भी सामुद्रिक शास्त्रानुसार शुभ होता है। दमयन्ती की भौंहे भी ऐसी ही थीं। नैषधकार का कथन है -

अयोधि तद्धैर्यमनोभवाभ्यां तामेव भैमीमवलम्ब्य भूमीम् ।
आह स्म यत्र स्मरचापमनूतश्छिन्नं भ्रुवौ तज्जयभङ्गवार्ताम् ।।[6]

नारायण का कथन है "भ्रुवोरसंलग्नत्वं सामुद्रिकोक्तं लक्षणम्।" "धन्या पितृमुखी कन्या, धन्यामातृमुखः सुतः।" यह सामुद्रिक शास्त्र का मूल सिद्धान्त है।[7] इस तथ्य के वर्णन को अपनाकर नैषधकार ने अपनी सामुद्रिक शास्त्रमर्मज्ञता की पुष्टि की, जहाँ वह स्वयंवर (पंचनली) प्रसङ्ग में (अग्नि के पक्ष में) कहते हैं कि हे पिता के समान मुख वाली दमयन्ती! यह पूरी देव सभा का मुख है। यम और इन्द्र के बीच में इसका स्थान है, तुम इस तेजस्वी को अपना स्वामी बनाओ जो सदा कान्ति की अत्यन्त अरुण शोभा धारण करता है।[8] यहाँ दमयन्ती को पितृमुखी बताया गया है। एवं पूर्वोक्त दमयन्ती सम्बन्धी सौन्दर्य

---

1. अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम् ।
   चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धि ।। नै० 7/98
2. नै० 7/99 .... 101, 105
3. नै० 7/106, 107
4. नै० 7/90
5. नै० 20/95
6. नै० 8/53
7. नै० 13/12 मल्लिनाथ एवं नारायण द्वारा उद्धृत् ,
8. एतन्मुखा विबुधसंसदसावशेषा माध्यस्थ्यमस्य यमतोऽपि महेन्द्रतोऽपि ।
   एनं महस्विनमुपेहि सदारुणोच्चैर्येनामुना पितृमुखि ! ध्रियते करश्रीः ।। नै० 13/12

चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है, पितृमुखी कन्या, सौन्दर्य, विदुषी, मृदुभाषी एवं चौसंठ कलाओं में निपुण साथ ही शौभाग्यशालिनी होती है। इस प्रकार नैषधकार द्वारा वर्णित नल तथादमयन्ती एवं उसकी सखी सरस्वती के शरीर के लक्षणों को क्रमशः शौभाग्यशाली एवं सुन्दर पुरुष तथा अनुपम सुन्दरी एवं सौभाग्यशालिनी स्त्री के लक्षण समझे जाने चाहिए। वराहमिहिर ने वृहत्संहिता में जिन सामुद्रिकविदों की मीमांसा रखी है उनमें प्रमुख हैं, सत्य, मय, यवन, मणित्थ, जीवशर्मा, विष्णुगुप्त, आचार्य गर्ग, वशिष्ठ, भारद्वाज, शौनक, अत्रि, देवस्वामी, सिद्धसेन! सामुद्रिक शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों में, जातक स्कन्ध वृहत्संहिता वरुणसंहिता, गौरी जातक, कालचक्रजातक, वृहत पाराशरी, लघु पाराशरी, जैमिनिसूत्र, भृगुसंहिता, नाड़ी ग्रंथ, मीनराजजातक,, सारावली, अग्निपुराण, नृहरि का जातकसार तथा वराहमिहिर का वृहज्जातक प्रधान ग्रंथ हैं।

दशम अध्याय

नैषध में अन्य शास्त्रीय संदर्भ

पाकशास्त्र

भोजन बनाने या पकाने की क्रिया को पाक (कर्म) अभिहित किया जाता है। पाक शब्द की निष्पत्ति पच्+घञ् के संयोजन से होती है। व्यञ्जन किस विधि से निर्मित किये जायें, कि वह सुस्वाद बनें, उन विधियों का ज्ञान पाकशास्त्र के अन्तर्गत ही समाहित है। वैदिक यंत्रों में पुरोडाश के पकाने की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से उल्लिखित है इसलिए पाकशास्त्र का प्रादुर्भाव तो वैदिककाल से ही माना जाना चाहिए। तदनन्तर मनुस्मृति महाभारत एवं भागवत पुराण में उपलब्ध संदर्भों से भी इस विद्या के प्रचलन के संकेत मिलते हैं। पाक कर्म के अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। अग्नि को सूपायन' शब्द से सम्बोधित किया जाता है।[1] अतः पाक क्रिया को सूप (कर्म) नाम भी दिया जा सकता है। श्रीहर्ष नें नैषधीयचरित के चौदहवें सर्ग में नलदमयन्ती स्वयंवर प्रसङ्ग में देवताओं (इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम) के द्वारा दमयन्ती की प्राप्ति हेतु नल के दौत्य कर्म से एवं दमयन्ती द्वारा देवताओं की अर्चना से प्रसन्न होने पर सभी देवताओं द्वारा उन दोनों को अलग-अलग वरदान देने का विवरण दिया है। जिसमें अग्निदेव नल को वर देते हुए कहते हैं कि "नल तुम्हारी समृद्धि मेरे देखने मात्र ही से कामधेनु के समान इच्छापूरक तथा अपार हों। रोगों में दाहरूप तथा भोजनादि पकाने में पाकरूप मेरी मूर्ति तुम्हारी इच्छा के अधीन रहेगी। तुम अनंग से ही सुन्दर तथा सामर्थ्यशाली बनो, तुम्हारे द्वारा पकाये अन्न, मत्स्य, रस आदि पदार्थ अमृत से बढ़कर स्वादिष्ट हों। राजन् हम जानते हैं कि सूपकार क्रिया में आपको विशेष अभिरूचि है।[2] महाभारत से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है यथा –

> प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाष्टौवरान् ददुः। प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं चानुत्तमांशुभाम् ॥
> नैषधाय ददौशक्रः प्रीयमाणः शचापतिः । अग्निरात्मभवं प्रादाद् यत्र वाञ्छति नैषधः ॥
> लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः। यमस्त्वन्नरसं प्रादाद् धर्मे च परमांस्थितिम् ॥
> अपां पतिरपां भावं यत्र वाञ्छति नैषधः। स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वेच मिथुनं ददुः॥[3]
> अर्थकृच्छ्रेषु चैवाहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च। अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः॥[4]

नैषधकार ने सालहवें सर्ग में व्यंजनों की विविधता एवं उनके सुस्वादु होने का जो विवरण दिया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि वे पाक विद्या के भी जानकार थे।[5] एवं तत्कालीन समय में चतुर सूपकारों के होने की समीचीनता भी इस विवरण से प्रकट होती है। नल के पाकक्रिया ज्ञाता होने के प्रमाण महाभारत में अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं जहाँ दमयन्ती बाहुक रूप धारी नल के द्वारा पाच्य व्यंजनों को

---

1. सः नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा :ः स्वस्तये॥ ऋग्वेद- 1/1/9 सायण, सूपायन की व्याख्या-सु सुखेन उपायनं प्रापणं यस्य सः करते हैं यद्यपि वे ऋग्वेद (10/18/11) में सूपायना का अर्थ करते हैं शोभनोपगमना सूपचारिका, तथा अथर्ववेद (18/3/50) में सूपायस्मै भव सूपसर्पणा- सूपायना सुखेनोपगन्तुमहा सूपसर्पणा शोभनोनोपसर्पणयुक्ता च भव । जबकि यहां वे भट्टभाष्कर की व्याख्या सूपायनः सूपचारणः सुखेनोपचरणीयः परिचरणीयो वा भव - - -शोभनोपायो वा स्वीकार करते है। वेंकटमाधव ने सूपायनः की 'सूपचरः' व्याख्या की।
2. धूमावलिश्मश्रु ततः सुपर्वा मुखं मखास्वादविद्रां तमूचे ।
   कामं मदीक्षामयकामधेनोः पयायतामभ्युदयस्त्वदीयः ॥
   यादाहपाकौपयिकी तनुर्मेभूयात्र्त्तवदिच्छावशवर्तिनी सा ।
   तया पराभूततनोरनंगास्तस्याः प्रभुः सन्नधिकस्त्वमेधि ॥
   अस्तुत्वया साधितमन्नमीनरसादि पीयूषरसातिशायि ।
   यद्भूप! विद्मस्तवसूपकारक्रियासु कौतूहल शालिशीलम् ॥ नैषध 14/76, 77, 78
3. महाभारत नलोपाख्यान पर्व-57/35- - - 38
4. महाभारत नलपर्व 67/3
5. नै० 16/48- - - 120

चखकर यह जान लेती है कि यह नल ही हैं। अन्य कोई दूसरा व्यक्ति इतना सुस्वादु व्यंजन निर्माण नहीं कर सकता। ध्यातव्य है कि दमयन्ती ने यहाँ केशिनी को यह स्पष्ट निर्देश दिया था कि बाहुक को न पानी दिया जाय, और न ही अग्नि, अगर वह नल ही हैं, तो अवश्यमेव बिना पानी एवं अग्नि के वह भोजन बना सकते हैं, क्योंकि उसे अग्नि देव एवं वरूणदेव[1] का वरदान मिला था कि वह जहाँ चाहे वहाँ उसकी इच्छा मात्र से ही ही वे प्रकट हो जायेंगे, एवं दमयन्ती को इस तथ्य की जानकारी थी।[2] ऋग्वेद में अग्नि के स्वरूप का निर्धारण करते हुए कहा गया है-"ऊँ अग्निमीले पुरोहितम्, यज्ञस्य देवमृत्विजम्, होतारं रत्नधातमम्।।[3] अग्नि का यही स्वरूप नैषधकार को भी अभीष्ट है।[4] भारतीय संस्कृति में गृहस्थ को प्रतिदिन पाँच यज्ञ करने का विधान मनुस्मृतिकार ने किया है।[5] जिसमें नृयज्ञ में पाकक्रिया का यथेष्ठ योगदान होता है क्योंकि अतिथि का सत्कार, हाव-भाव विनम्रता प्रदर्शन के साथ-साथ स्वादिष्ट भोजन करवाने से यथेष्ठ रूप से यह यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। पाकक्रिया का वर्णन मनु, व्यास, कालिदास, भवभूति आदि ने उपलब्ध कराकर प्राचीन काल से ही इस विद्या के प्रचलन होने की पुष्टि कर दी है।[6]

---

1. स्मिताञ्चितां वाचमवोचदेनं प्रसन्नचेता नृपतिं प्रचेताः ।
प्रदाय भैमीमधुना वरौ तु ददामि तद्यौतककौतुकेन ।।
यत्राभिलाषस्तव तत्र देशे नन्वस्तु धन्वन्यपि तूर्णमर्णः ।
आपो वहन्तीह हि लोकयात्रां यथा न भूतानि तथाऽपराणि ।।
प्रसारितापः शुचिभानुनास्तु मरूः समुद्रत्वमपि प्रपद्य ।
भवन्मनस्कारलवोद्‌गमेन क्रमेलकानां निलयः पुरेव ।। नै० 14/82- - --84
2. न चास्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि केशिनि । याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया ।।
एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय। निमित्तं यत् त्वयादृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ।।
प्रेषितं तत्र राज्ञा तु मांसं चैव प्रभूतवत् । तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भास्तत्रोपकल्पिताः ।।
ते तेनावेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाभवंस्ततः । ततः प्रक्षालनं कृत्वा समिधिश्रित्य बाहुकः ।।
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत् । अथ प्रज्ज्वतिस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ।।
पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम् । महानसाद्द्रुतं मांसमानयस्वेह भाविनि ।।
सा गच्चा बाहुकस्याग्रे तन्मांसमपकृष्य च । अत्युष्णमेव त्वरितातत्क्षणात् प्रियकारिणि ।।
दमयन्त्यै ततः प्रादात् केशिनी कुरूनन्दन । सो चिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुराः ।।
प्राश्यमत्वा नलं सूतं प्राकोसद् भृशदुःखिता । वैक्लव्यं परमं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः ।।
महाभारत नलपर्व- 75/4,5, 11,12,13,20,21,22,23
3. ऋग्वेद 1/1/1
— अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्- ऐ ब्रा0 1/4
— अग्निर्वैदेवानामवमः - ऐ ब्रा0 1/1
— अग्निर्वै देवानां होता-ऐ0 ब्रा0 3/14
— अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्- तै-ब्रा0 2/4/3/3
— अग्निरवमो देवतानाम्-तै0 सं0 5/5/1/4
4. नै० 14/76, 77
5. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तुतर्पणम् ।
होमोदैवो बलिर्भौतो नृयसोतिथिपूजनम्।। मनुस्मृति।
6. — ओषधयः फलपाकान्ताः मनुस्मृति 1/46
— एवं वर्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म च नित्यदा- महाभारत 3/30/15
— सूपं भूयिष्ठमश्रीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा- महाभारत 12/29/128
— न स जानाति शास्त्रार्थं दवी सूपरसानिव- मनुस्मृति 3/226
— पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पयसादयः-भागवत 10/24/26 एवं 11/27/34
— पाकयज्ञाः गृह्याग्निसाध्या इष्टयः- भागवत 6/19/24
— पुनः पाकेन मृण्मयम (शुद्ध्यति)- मनु0 5/122
— रूपंचक्षुस्तथा पाकस्त्रिविधं तेज उच्यते- महाभारत- 12/194!10
— नीवारपाकादि0 - रघुवंश 5/9
— युयोजपाकाभिमुखैर्भृत्यान् विज्ञापनाफलैः, रघुवंश 17/40
— फलमभिमुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य- विक्रमो0 4/27,
— आशीर्भिरेधयामासुः पुरः पाकाभिरम्बिकाम्- कु0 6/90
— पाकाभिमुखस्य दैवस्य- उ0 7/4, महावीरच/4/14
— याज्ञवल्क्य संहिता- 1/187/3
— एक एवायमर्थः पाकोनाम। तस्यार्थान्तरे वैरूप्यंभवति।
अन्यथालक्षणओदनस्य पाकः अन्यथा लक्षणो गुडस्य। मीमांसा सूत्र 7/2/20-शाबरभाष्य।

महाराज भीम ने भी सभी बारातियों का स्वागम सत्कार किया, साथ ही स्वादपूर्ण व्यंजनों को सभी बरातियों खिलाकर दानादि से उनकी परिचर्या की। बारातियों द्वारा किये जाने वाले भोजन प्रसंग में श्रीहर्ष ने अपनी पाकशास्त्रज्ञता का परिचय दिया है। जहां वह कहते है कि सभी बाराती अपने पैर धोकर भोजन क्रिया में प्रवृत्त हुए।[1] ऐसे विवरण से यह ध्वनित होता है कि उस समय भी पैर धोकर, स्वच्छतापूर्वक भोजन करना श्रेष्ठ माना जाता था। बरातियों को मणिखचित पात्रों में भोजन परोसा गया।[2] जिनसे कुछ भाप निकल रही थी, बिना टूटे, पककर भी एक दूसरे से अलग, अत्यन्त कोमल, स्वादिष्ट एवं महीन तथा सुगन्धित चावल को बरातियों ने खाया।[3] यही चावल निर्मित श्रेष्ठ भात के लक्षण भी हैं। कुछ लोगों ने चावल दूध के साथ, तो कुछ ने दही के साथ मिलाकर खाया।[4] उत्तम दधि की विशेषता बतलाते हुए श्रीहर्ष कहते हैं-

अमीभिराकण्ठमभोजि तद्गृहे तुषारधारामृदितेव शर्करा ।
हयद्विषद्वष्कयणीपयः सुतं सुधाह्रदात्पङ्कमिवोद्धतं दधि ॥
तदन्तरन्तः सुषिरस्य विन्दुभिः करम्बितं कल्पयता जगत्कृता ।
इतस्ततः स्पष्टमचोरि मायिना निरीक्ष्य तृष्णाचलजिह्वताभृता ॥[5]

दूध की विशेषता बृहस्तोत्ररत्नाकर में निम्न रूप में मिलती है-

त्वदनुस्मृतिरेव पावनी स्तुतियुक्ता नहि वक्तुमीश सा ।
मधुरं हि पयः स्वाभावते ननु कीदृक् सितशर्करान्वितम् ॥

शार्ङ्गधर पद्धति में भी कहा गया है-

को हि तुलामधिरोहति शुचिना दुग्धेन सहजमधुरेण ।
तप्तं विकृतं मथितं तथापि यत्स्नेहमुद्गिरति ॥

चरक ने गाय के दूध को श्रेष्ठ माना "गोक्षीरं क्षीराणाम्, इन्द्र ने भी कहा है, "अमृत वै गवां क्षीरं।" एवं अर्थसंग्रह में वर्णन मिलता है- गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्॥ भोजप्रबन्ध में कहा गया है-

भोजनं देहि राजेन्द्रघृतसूपसमन्वितम्। माहिषं च शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलं दधि॥

वृद्ध चाणक्य का कथन है-

अन्नाद्दशगुणं पिष्टं पिष्टादशगुणं पयः ।
पयसोऽष्टगुणं मांसं मांसाद्दशगुणं घृतम् ॥

रूद्रालंकारटीका में कहा गया है कि घी खाने से आयु बढ़ती है "आयुर्घृतं"। छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है- "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धि" एवं गीता में भी कहा गया है -

आयुः सत्व बलारोग्यसुखप्रीति विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥

---

1. नै० 16/58, पतद्वारिणि पदे मन्दपाणिनेति योज्यम्-नारायण।
2. हरिन्मणेभेजिनभाजनेऽर्पिते गताः प्रकोपं किल वारयात्रिकाः ।
   भृतं न शाकैः प्रवितीर्णमस्ति वस्त्विषेदमेवं हरितेति बोधिताः ॥ नै० 16/66
3. — अमी लसद्बाष्पमखण्डिताखिलं वियुक्तमन्योन्यममुक्तमार्दवम् ।
   रसोत्तरं गौरमपीवरं रसादभुञ्जतामोदनमोदनं जनाः ॥ नै० 16/68
   — वीणा वंशश्चन्दनं चन्द्रभासश्चन्द्राभासा यौवनस्थास्तरुण्यः ।
   नैतद्रम्यं क्षुत्पिपासातुराणां सर्वारम्भास्तण्डुला प्रस्थमूलाः ॥ चाणक्यराजनीतिशास्त्र।
4. नै० 16/80-91
5. नै० 16/93-94

दधि का वर्णन सुभाषित रत्नभाण्डागार में भी मिलता है। यथा-

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधाऽपि मधुरैव ।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम् ।।

दही से बनने वाले रायते (राजिकाराद्धम् दधद्दधि) को भी बरातियों ने प्रेम से खाया। रायते के गुणों या विशेषताओं का वर्णन करते हुए नैषधकार लिखते हैं कि-

न राजिकाराद्धमभोजि तत्र कैर्मुखेन सीत्कारकृता दधद्दधि ।
धुतोन्तमाङ्गैः कटुभावपाटवादकाण्डकण्डूयितमूर्धनालुभिः ।।
वियोगिदाहाय कटूभवत्त्विषस्तुषारभानोरिव खण्डमाहृतम् ।
सितं मृदु प्रागध दाहदायि तत्खलः सुहृत्पूर्वमिवाहितस्ततः ।।[1]

श्रीहर्ष ने यह भी विवरण दिया कि भोजन में (घी) घृत कटोरे में भर-भर कर प्रत्येक बाराती के सम्मुख रखा गया था।[2] मृगमांस इतना स्वादिष्ट बना था कि बाराती आश्चर्य में पड़ गये कि यह कैसे बनाया गया होगा, साथ ही कोमल मांस की बनी फली की प्रशंसा भी की।[3] मत्स्य, मृग, बकरे तथा पक्षियों के मांस से कोमल एवं सुगन्धित भोज्य पदार्थ अनगिनत बने थे। यथा –

अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम् ।
अशाकि लोकैः कुत एव जेमितुं न तत्तु संख्यातुमपिस्म शक्यते ।।[4]

चतुर सूपकारों ने भोजन निर्माण इस विचित्रता से किया था कि बारातियों को सामिष पदार्थ निरामिष लगते थे एवं निरामिष पदार्थ सामिष[5] अनेक वस्तुओं के संयोग से भोजनविधि निर्माण का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि अनेक वस्तुओं के संयोग से जो भोज्य पदार्थ बना था, उसका उन सभी मिश्रित वस्तुओं से भिन्न रूप तथा स्वाद था। यथा-

अनेकसंयोजनया तथाकृतेर्निकृत्य निष्पिष्य च तादृगर्जनात् ।
अमी कृताकलिकवस्तुविस्मयं जना बहु व्यंजनमभ्यवाहरन् ।।[6]

---

1. नै० 16/73, 74
2. — नै० 16/85
   — चरक ने घृत को सभी स्नेहो में श्रेष्ठमाना है- सपिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः। एषु चैवोत्तमं सर्पिः।
   — "घृत के बारे में निम्न विवरण भी दर्शनीय है-
   आयुर्घृतं, नदी पुण्यं भयंचोरः सुखं प्रिया। वैरं द्यूतं, गुरूज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम्।। रूद्रालंकार टीका
   श्रेयः पुष्पफलं वृक्षाद् दध्नः श्रेयो घृतं स्मृतम्। श्रेयस्तैलं च पिण्याकाच्छ्रेयान् धर्मस्तु मानुषात्।। पंचतंत्र
   अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति। शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना।। शिशुपालबध-2/107
3. — व्यधुस्तमां ते मृगमांससाधितं रसादशित्वा मृदु तेमनं मनः ।
   निशाधवोत्सङ्गकुरङ्गजैरदः पलैः सपीयूषजलैः किमश्रपि ।। नै० 16/7(
   नखेन कृत्वाधरसन्निभां निभाद्यु वा भृदुव्यञ्जनमांसफालिकाम् ।
   ददंश दन्तैः प्रशशंस तद्ररसं विहस्य पश्यन्नपरिवेषिकाधरम् ।। नै० 16/82।
   — तेमन (मृगमांस निर्मित व्यञ्जन) की व्याख्या हेमचन्द्र ने कहा 'तेमनं व्यञ्जने क्लेदे।'
   अमरकोष में कहा गया है- 'स्यात्तेमनं तु निष्ठानम्'
4. नै० 16/87
5. यथामिषे जग्मुरनामिषभ्रमं निरामिषे चामिषमोहमूहिरे ।
   तथाविदग्धैः परिकर्मनिर्मितं विचित्रमेते परिहस्य भोजिताः ।। नै० 16/81
6. नै० 16/83

भोजनावसर में बीच-बीच में पानी वितरण का वर्णन करना नैषधकार नहीं भूले साथ ही उससे होने वाले परिहास का।[1] जल कृष्णागुरु से सुगन्धित किया गया था एवं सुराही तथा घट में रखा गया था। बाराती जितनी बार पानी पीते थे, उतनी बार उसकी प्रशंसा करते थे। यथा-

अकारि नीहारनिभं प्रभञ्जनादधूपि यच्चागुरुसारदारुभिः ।
निपीय भृङ्गारकराङ्गि तत्र तैरवर्णि वारि प्रतिवारगीदृशम् ।।
त्वयाविधातर्यदकरि चामृतं कृतं च यज्जीवनमम्बु साधु तत् ।
वृथेदमारम्भि तु सर्वतोमुखस्तथोचितः कर्तुमिदंपिबस्तव ।।[2]

सुश्रुत का भी कथन है कि भोजन करने वाले को बीच-बीच में अनेक बार पानी के घूंट पीने चाहिए क्योंकि वही अन्न जिह्वा साफ हो जाने के कारण नवीन अन्न के समान रुचिकर प्रतीत होता है।[3] चरक ने हितकारी जल के बारे में कहा-

दिवा सूर्यांशुसंतप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम् ।
कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम् ।।
हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि ।
स्नानपानावगाहेषु हितमम्बु यथाऽमृतम् ।।

चाणक्यशतक में आया है-

कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्रीचेष्टकालयम् ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्काले च शीतलम् ।।

भोजनावसर में बीच-बीच में थोड़ा पानी पीने की सम्मति वृद्धचाणक्य, क्षेम कुतूहल एवं पद्मपुराण ने भी दी है।[4] भोजन में गर्म एवं ठण्डे दोनों प्रकार के व्यंजन थे।[5] बीच-बीच में दमयन्ती के भाई दम द्वारा भोजन परोसने वालों को निर्देश भी दिया जा रहा था कि जिसको जो व्यंजन रुचिकर लगें वही दिया जाय।[6] नैषधकार दही बड़े का वर्णन एवं उसकी विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि अन्त में दही बड़े से सारा भोजन सजा दिया गया। श्रेष्ठ दही बड़े वही होते हैं, जिनके किनारों पर गोल चक्करदार रेखायें बन गई हों साथ ही उसे घी में इतना पकाया जाय कि उनका रंग कुछ रक्तमिश्रित पीतिमा लिए हुए हो जाय। श्रीहर्ष ने दही बड़े को भोजन विधि का समाप्ति सूचक माना है, ऐसा प्रतीत होता है कि दही बड़ा के खाने का प्रचलन भोजनान्त में ही था।[7] जब कि भोजनान्त में मिष्ठान्न खाने का प्रचलन परम्परया मान्य है (भोजनान्ते मिष्ठान्नं इक्षेत)। श्रीहर्ष भी इसी मत से सहमत दिखते है, तभी तो उन्होंने लड्डू[8] तथा शार्करी[9] (जलेबी या इमरती सदृश) के भी परोसने का वर्णन किया। बलात् भोजनपरोसने, जो कि प्रेम का प्रतीक माना जाता है, का भी वर्णन नैषधकार ने किया है।[10] भोजन का अत्यन्त रमणीय शैली में वर्णन करते हुए

---

1. नै० 16/84
2. नै० 16/89,90
3. प्रक्षालयेदद्भिरास्यं भुञ्जानस्य मुहुर्मुहुः। विशुद्धरसने तस्मै रोचतेऽन्नमपूर्ववत्।। सुश्रुत।
4. अजीर्णे भेषजं वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम्। भोजने चामृतं वारि, भोजनान्ते विषप्रदम् ।। वृद्धचाणक्य।
अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ।। क्षेमकुतूहल।
अपां संस्पर्शनात् स्नानात् पानाद् दर्शनतोऽपि वा। मनुष्या सिद्धिमायान्ति बाह्याभ्यन्तरक्षालिताः।। पद्मपुराण।
5. नै० 16/78, 79
6. नै० 16/48, 49, 97
7. समाप्तिलिप्येव भुजिक्रियाविधेर्दलोदरं वर्तुलयालयीकृतम् ।
अलंकृतं क्षीरवटैस्तदश्नतां रराज पाकार्पितगैरिकश्रिया ।। नै० 16/98
8. घनैरमीषां परिवेषकैर्जनैरवर्षि वर्षोपलगोलकावली ।
चलद्भुजाभूषणरत्नरोचिषा धृतेन्द्रचापैः श्रितचान्द्रसौरभा ।। नै० 16/100
9. नै० 16/104,
10. नै० 16/101, 105,

श्रीहर्ष कहते हैं कि भोजन करने वाले बारातियों के लिए तो भोजन क्रिया ही उनकी प्रिया तथा अनुराग की पात्र नायिका बनी थी, दूध उसकी मुस्कान था, मालपुये उसके शृङ्गारवस्त्र थे, बड़े चन्द्रमुख थे, बड़े लड्डू उनके स्तर थे, एवं उज्ज्वल भात ही उसके हार थे।[1] मालपुये के साथ-साथ श्रीहर्ष ने मधुर आम्ल, लवण इत्यादि षड्रस व्यंजनों का भी विवरण दिया।[2] भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी षडरस व्यंजनों का वर्णन मिलता है। यथा- "यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रस निष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैव्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।"

अत्राह- रस इति कः पदार्थः? उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुष हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः, हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः। अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः।

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदोजनाः ।।[3]

भीम ने भी बहुविध व्यञ्जनों को बारातियों को खिलाया परन्तु युवतियो के भाव-भङ्गिमाओं से प्रादुर्भूत शृंङ्गार नाम के सातवें-भोज्य पदार्थ ने तो सभी बारातियों को सन्तुष्ट कर दिया।[4] भोजनान्त में पान सुपाड़ी के साथ-साथ भेंट रूप में रत्न देने का वर्णन नैषधकार ने किया है जो भारतीय संस्कृति के सर्वथानुरूप है।[5]

श्रीहर्ष ने उपर्युक्त व्यञ्जनों के अतिरिक्त सत्तू,[6] जो तत्कालीन तथा तद्देशीय सामान्य एवं विशिष्ट व्यक्तियों का प्रिय भोज्य पदार्थ रहा होगा उसका भी वर्णन किया। साथ ही हैयंगवीन (नवनीत) एवं मधु[7], पर्पट (पापड़)[8] एवं अपूप (माल पुआ)[9], इक्षु (गन्ना), खण्ड (खांड) एवं द्राक्षारस,[10] मदिरापान,[11] गुडपाक,[12] शर्करा चक्रिका (जलेबी सदृश)[13] दुग्ध तथा द्राक्षासव[14] का उल्लेख किया। फलों में दाडिम, अंगूर, आम, बेल, जामुन, केला आदि का भी विवरण मिलता है।[15] इस प्रकार तत्कालीन समय में प्रचलित

---

1. पयः स्मिता मण्डकमण्डनाम्बरा वटाननेन्दुः पृथुलड्डूकस्तनी ।
   पदं रूचेर्भोज्यभुजां भुजिक्रिया प्रियाबभूवोज्ज्वलकूरहारिणी ।। नै० 16/107
2. नै० 16/109
3. नाट्यशास्त्र - षष्ठ अध्याय, पृ. 93
4. न षड्विधः षिड्गजनस्य भोजने तथा यथा यौवतविभ्रमोद्भ ।
   अपारशृङ्गारमयः समुन्मिषन्भृशं रसस्तोषमधत्त सप्तमः ।। नै० 16/109
5. नै० 16/110, 111
6. प्रतिहट्टपथे घरट्टजात्पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः।
   कलहान्न घनाद्यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः।। नै० 2/85
7. नै० 3/130
8. नै० 22/147
9. अलम्भि तुङ्गासनसंनिवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयादरः। नै० 15/12 उत्तरार्द्ध
10. नै० 21/152
11. नै० 21/149
12. नै० 21/153
13. नै० 21/155
14. नै० 21/160
15. नै० 1/82,83, 89,94, 2/37,36, 7/92,93, 11/85, 86, 21/152

भोजन प्रकारों एवं फलों का विवरण देते हुए नैषधकार ने दिन में दो बार ही भोजन करने की अपनी सम्मति[1] जो सर्वथा स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित भी है। कहा भी गया है-

> एककालं भवेद्देयं दुर्बलाग्निविवृद्धये ।
> समाग्नये तथाऽऽहारो देयः कालमथोभयम् ।।

चरक का भी कथन है-"कालभोजनमारोग्यकराणां श्रेष्ठम्।" कादम्बरी मे भी वर्णन आया है "नाहार बेलातिक्रमणीया।" मालविकाग्निमित्र में कालिदास कहते है- "उचितेबेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।" महाभारत में उचित आहार के साथ ही प्रातः सायं दो बार भोजन करने का विधान वर्णित है-

> गुणाश्चषण्मितमुक्तं भजन्ते आरोग्यमायुश्च बलं सुखं चं ।
> अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यूनमिति क्षिपन्ति ।।
> सायं प्रातर्मनुष्याणां भोजनं वेदनिर्मितम् ।
> यथा निरिन्धनो वह्निरल्पोवाऽतीन्धनावृतः ।।

स्वादयुक्त भोजन किसे कहते है? इसका उत्तर सुश्रुत के शब्दों में दिया जा सकता है कि "भुक्त्वाऽपि यत्प्रार्थयते भूयस्तस्वादुभोजनम्।" एवं भोजन का सुस्वादु बनना पाककर्मक्रिया विधि का मानदण्ड है, जो कि चतुर सूपकारों द्वारा ही बनाया जा सकता है एवं इन्हीं दक्ष सूपकारों की क्रियाविधि में ही पाकशास्त्र का महत्ता अन्तर्निहित रहती है। नैषधकार ने नैषध के प्रथम सर्ग में नल के वर्णन में पाकशास्त्र (सूपशास्त्र) विषयक सूक्ष्य एवं विस्तृत नियमों की जानकारी देते हुए कहा है कि राजा नल की जिह्वाग्र नर्तकी सी होकर त्रयी (ऋक्, यजु, सामवेद) विद्या नें मानो अठारह द्वीपों की जय लक्ष्मी को पृथक-पृथक करने की इच्छा से अपने छाहों अंगो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष) के गुणन द्वारा अठारह रूप धारण किये थे, अथवा षड्रसों वाली सूपकार विद्या ने परस्पर न्यूनाधिक समत्वरूप में सम्मिश्रण के द्वारा अष्टादश रूपों वाली हो गयी थी। यथा -

> अमुष्य विद्यारसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गणेन विस्तरम् ।
> अगाहताऽष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपृथग्जयश्रियाम् ।।[2]

नारायण ने अपनी नैषध की टीका में इस श्लोक का अर्थान्तर करते हुए लिखा है - "अथवा - स्वादुरसोत्पादकप्रसादकथनद्वारा श्रुता सती लोकस्थ रसनाग्रं जिह्वाग्रं नर्तयतीति रसनाग्रनर्तकी। नलस्थ सूपकार विद्या अङ्गानामवयभूतानां मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायाख्यानां षण्णां रसानां न्यूनाधिकसमत्वरूपेण गुणेनाष्टादशतां प्राप। यथा - मधुरे द्रव्ये मधुरद्रव्यान्तरस्थ न्यूनः प्रक्षेपः, तिक्तेऽधिकः, अम्ले समः, इत्यनेन प्रकारेण सर्वरसानां त्रैविध्येडष्टादशत्वम्। यद्वा - अङ्गानां दुग्धदध्यादीनाम्। तथा च सूपशास्त्रम् "दुग्धं दधि नवनीतं घोलवने तक्रमस्तुयुग्मम्। मध्याटविकहविष्यं द्विदलान्नं चेति विज्ञेयम्।। कन्दो मूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलं चेति। अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तानि गिरिसुतया।। इति। दध्युदकं मस्त्वित्युच्यते, कणिशभवं ब्रीह्यादि, शिम्ब्यादिभवं मुद्गादि, घण्टकभवं चणकादि। इदं त्रिविधं धान्यम्। भूचरखेचरजलचरभेदास्त्रिविधं मांसम्। षड्रसाः कन्दमूलफलनालपत्रपुष्पमयं षड्विधं शाकम्। इत्येवं धान्याद्यङ्गगुणेन विस्तरं नीता इति केचित्।।"[3] उपर्युक्त सभी वर्णनों से नल के साथ-साथ श्रीहर्ष की पाकशास्त्रज्ञता की स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

---

1. इति द्विकृत्वः शुचिमृष्टभोजिनां दिनानि तेषां कतिचिन्मुदा ययुः ।
   द्विरष्टसंवत्सरवारसुन्दरीपरीष्टिभिस्तुष्टिमुपेयुषां निशि ।। नै० 16/112
2. नै० 1/5
3. नारायणी टीका, पृ० 6-7

अश्वशास्त्र

वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत अश्वमेधयज्ञ एवं बाजपेययज्ञ किये जाने का विवरण वाजसजेयि संहिता, ऋग्वेद, यजुर्वेद, कौटिलीय अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति में मिलता है।[1] इन यज्ञों में अश्व की महनीय भूमिका होती थी, इसके साथ ही अश्वारोहण में भी इनका प्रयोग प्राचीनकाल से लेकर आज तक होता आया है। वैयाकरणों नें अश्व शब्द की व्याख्या करते हुए अभिहित किया "अश्नुते अध्वानं व्याप्नोति, महाशनो वा भवति" (अश्व+क्वन्)।[2] अश्व के बारे में किस रंग का, किस जाति का, कितनी लम्बाई एवं उँचाई, उसके गले, पूँछ, खुरों की बनावट, उसकी भाषा, दोष, गुण, उसके रोंगों की जानकारी एवं उनका निदान का सम्पूर्ण ज्ञान अश्वशास्त्र के अन्तर्गत ही होता है। नैषधकार ने अश्वशास्त्र से सम्बन्धित विवरण नैषध में दिया है, जिससे उनके स्वयं के साथ-साथ नल की अश्वशास्त्रसता का परिचय मिलता है।[3] नल के अश्वशास्त्रविद् होने का प्रमाण महाभारत से भी मिलता है जहाँ कर्कोटक नामक नाग नल से कहता है कि हे राजन्! अयोध्या नरेश (ऋतुपर्ण) आपसे अश्वविद्या सीखकर आपको द्यूत विद्या तो सिखा ही देंगे, साथ ही वे आपके मित्र भी बन जायेंगे।[4] एवं दमयन्ती के कथन से भी यह बात प्रमाणित होती है जहाँ दमयन्ती कहती है कि इस पृथ्वी पर नल ही ऐसे हैं जो एक दिन में सौ योजन की दूरी तय कर सकते हैं।[5] अयोध्या नरेश द्वारा एक दिन में विदर्भदेश पहुँचने की इच्छा पर बाहुक रूप धारी नल ने उन्हें एक दिन में ही पहुँचाने का बचन दिया तथा जब अश्व विद्या में चतुर बाहुक रूपधारी नल ने राजा ऋतुपर्ण को रथ पर बैठाकर वार्ष्णेय नामक सारथि के साथ उन अश्वों को रथ सहित आकाश मार्ग में उड़ाया तो बाहुक की इस निपुणता पर ऋतुपर्ण तो आश्चर्यचकित थे ही, वार्ष्णेय भी यह सोचने लगा कि यह बाहुक कहीं इन्द्र का सारथि मतलि अथवा अश्वशास्त्रज्ञ शालिहोत्र तो नहीं हैं, और अंत में निष्कर्ष पर पहुँचा कि बाहुक के रूप में निश्चत रूप से महाराज नल ही हैं, कोई अन्य नहीं।[6] ऋतुपर्ण जो अंकविद्या एवं द्यूत विद्या के जानकार थे, उनसे नल ने दोनों विद्याएँ सीखकर उन्हें अश्वविद्या सिखायी[7] जिससे स्पष्ट हो जाता है कि नल अश्वशास्त्र विद् थे।

अश्व की सात जातियाँ श्रेष्ठ मानी जाती हैं। यथा

---

1. अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान् त्समत्सुचोदय । - ऋग्वेद 6/75/13
   अरिष्टो येषां रथो व्यवश्वदावन्नीयते । - ऋग्वेद 5/18/3
   उतनो गोविन्दश्ववित् ।- ऋ 9/55/3
   अश्वसधर्माणो हि मनुष्याः नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वते - कौटि अर्थ 2/9
   यस्तेऽश्वसनिर्भक्षो - याज . सं. 8/12, एवं 30/13
   पूर्वं प्रहर्ता न जधानभूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।
   तुरङ्मस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ।। रघुवंश 7/47
   सूतानामश्वसारथ्यम् - मनु0 10/47
   अश्वहृदये निवेश्यात्मानम् - बाण-कादम्बरी. पृ. 80
2. उणादि सूत्र 1/49
3. नै० 1/57———73
4. – अयोध्यां नगरीं रम्यामद्य चवै निषधेश्वर । स तेऽक्षहृदयं दाता राजाश्वहृदयेन वै ।।
   इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान् मित्रं चैव भविष्यति । भविष्यसि यदाक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ।। -महाभारत नलपर्व 66/21, 22
   – स राजानमुपा तिष्ठद् बाहुकोऽमिति ब्रुवन् । अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्तिमत्समः ।। - महाभारत नलपर्व 67/2
5. त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
   समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ।। महाभारत नलपर्व 76/30 एवं 73/1-34 तथा 67/1-19।
6. महाभारत वनपर्व - 71/1-34
7. महाभारत वनपर्व 72/26——29

अमृताद् वाष्पतो वह्नेर्वेदेभ्योऽण्डाच्च गर्भतः।
साम्नो हयानामुत्पत्तिः सप्तधा परिकीर्तितः ।।[1]

एवं अश्वों की शरीराकृति निम्न रूप की होनी चाहिए यथा –

काष्ठतुल्यवपुर्धृष्यो मिथ्याचारश्च निर्भयः ।
द्वादशाङ्गुलमेढ्रश्च दरिद्रस्तु हयोमतः ।।[2]

महाभारत में भी उल्लेख मिलता है कि नल जो अश्वशास्त्रज्ञाता थे, वह उन श्रेष्ठ छोड़ों को घुड़साल से निकाल लाये, जो सिन्धु देशोत्पन्न, तेज, बल, और शील से भरे हुए दशभौंरियों से युक्त तथा मार्ग में चलने में समर्थ थे।[3] नैषधकार भी उपर्युक्त अश्वगुणों से सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सिन्धु देश में उत्पन्न, चन्द्र घवल, उच्चैःश्रवासदृश सौन्दर्यमण्डित उस अश्व पर भूभद् विजेत विपुलनयन, पृथ्वीन्द्र नल आरूढ़ हुए।[4] हय का सबसे बड़ा गुण सत्वयुक्त (पानीदार) होना है।[5] अग्निपुराण के 288 एवं 289 वे अध्याय में भी अश्वशास्त्र पर चर्चा की गयी है। वहाँ अश्व के निम्नलिखित लक्षण कहे गये हैं। यथा-

अश्वानां लक्षणं वक्ष्ये चिकित्साञ्चैव सुश्रुत ।
हीनदन्तो विदन्तश्च कराली कृष्णतालुकः ।।
कृष्णजिह्वश्च यमजोऽजातमुष्कश्च यस्तथा ।
द्विशफश्च तथा श्रृंगी त्रिवर्णो व्याघ्रवर्णकः ।।
खरवर्णो भस्मवर्णो जातवर्णश्च काकुदी ।
श्वित्री च काकसादी च खरसारस्तथैव च ।।
वानराक्षः कृष्णशटः कृष्णगुह्यस्तथैव च ।
कृष्णप्रोथश्च शूकश्च यश्च तित्तिरिसन्निभः ।।
विषमां श्वेतपादश्च ध्रुवावर्त्त विवर्जितः ।
अशुभावर्त्तसंयुक्तो वर्जनीयस्तुरंगमः ।।
रन्ध्रीपरन्ध्रयोद्वौ द्वौ द्वौ द्वौ मस्तकवसोक्षसोः ।
बाहुमूले गले श्रेष्ठा आवर्त्तास्तव शुभाः परे ।।
शुकेन्द्रगोपचन्द्राभा ये च वायससन्निभाः ।
सुवर्णवर्णाः स्निग्धाश्च प्रशस्यास्तु सदैव हि ।।
दीर्घग्रावाक्षिकूटाश्च ह्रश्वकर्णाश्च शोभनाः ।
राज्ञां तुरगंमा यत्र विजयं वर्जयेत् ततः ।।
पालितस्तु हयो दन्ती शुभदो दुःखदोऽन्यथा ।
श्रियः पुत्रास्तु गन्धर्वा वाजिनो रत्नमुत्तमम् ।।[6]

---

1. संस्कृत अंग्रेजी कोश, वामन आप्टे पृ० 278
2. संस्कृत अंग्रेजी कोश, वामन आप्टे पृ० 279
3. अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः। अध्यगच्छत् कृशानश्वान् समर्थानध्वनि क्षमान् ।।
तेजोबलसमायुक्तान् कुलशीलसमन्वितान्। वर्जितॉंल्लक्षणैर्हीनः पृथुप्रोथान् महाहनून् ।।
"शुद्धान् दशभिरावर्तैः सिन्धुजान् वातरंहसः। दृष्ट्वा तानब्रवीद् राजा किंचित कोपसमन्वितः।। महाभारत वनपर्व-71/12-14
– खुरैः खनन्यः पृथ्वीमश्वो लोकोत्तरः स्मृतः (शालिहोत्रमें वर्णित) । नैं. 1/57 नारायणी टीका में उद्धृत्
– देवमणिः शिवैऽश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे - इति विश्वः - नै० 1/58 नारायणी टीका
– चलाचलप्रोथत्वमश्वजातिः -नै० 1/60 नारायणी टीका
4. – स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैः श्रवसः श्रियम् हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्यलोचन स्तमारूरोह क्षितिपाकशासनः ।। नै० 1/64
– सिन्धुजम् इयनेनाश्वशास्त्रोक्त चतुःपञ्चाशदुत्तमकुलजत्वं वलित्वं महाकायत्वं चं सूचितम् -नै०1/64 नारायणी टीका
5. सत्त्वेनरहितो न संग्रह्यः- नै० 1/73 नारायणी टीका सारसिन्धु का वचन है-
तल्लक्षणगुणैः श्लाघ्यैः किंसत्त्वेनविना हयः।
पञ्चेन्द्रिय समेतो प्रियथाकायो-विनात्मना- नै० 1/73 नारायणी टीका में उद्धृत्
6. अग्निपुराण 289/1... 10

अमृताद् वाष्पतो वह्नेर्वेदेभ्योऽण्डाच्च गर्भतः।
साम्नो हयानामुत्पत्तिः सप्तधा परिकीर्तितः ।।[1]

एवं अश्वों की शरीराकृति निम्न रूप की होनी चाहिए यथा –

काष्ठतुल्यवपुर्धृष्यो मिथ्याचारश्च निर्भयः ।
द्वादशाङ्गुलमेढ्रश्च दरिद्रस्तु हयोमतः ।।[2]

महाभारत में भी उल्लेख मिलता है कि नल जो अश्वशास्त्रज्ञाता थे, वह उन श्रेष्ठ छोड़ों को घुड़साल से निकाल लाये, जो सिन्धु देशोत्पन्न, तेज, बल, और शील से भरे हुए दशभौंरियों से युक्त तथा मार्ग में चलने में समर्थ थे।[3] नैषधकार भी उपर्युक्त अश्वगुणों से सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सिन्धु देश में उत्पन्न, चन्द्र घवल, उच्चैःश्रवासदृश सौन्दर्यमण्डित उस अश्व पर भूमद् विजेता विपुलनयन, पृथ्वीन्द्र नल आरूढ़ हुए।[4] हय का सबसे बड़ा गुण सत्वयुक्त (पानीदार) होना है।[5] अग्निपुराण के 288 एवं 289 वे अध्याय में भी अश्वशास्त्र पर चर्चा की गयी है। वहाँ अश्व के निम्नलिखित लक्षण कहे गये हैं। यथा-

अश्वानां लक्षणं वक्ष्ये चिकित्साञ्चैव सुश्रुत ।
हीनदन्तो विदन्तश्च कराली कृष्णतालुकः ।।
कृष्णजिह्वश्च यमजोऽजातमुष्कश्च यस्तथा ।
द्विशफश्च तथा श्रृंगी त्रिवर्णो व्याघ्रवर्णकः ।।
खरवर्णो भस्मवर्णो जातवर्णश्च काकुदी ।
श्वित्री च काकसादी च खरसारस्तथैव च ।।
वानराक्षः कृष्णशटः कृष्णगुह्यस्तथैव च ।
कृष्णप्रोथश्च शूकश्च यश्च तित्तिरिसन्निभः ।।
विषमां श्वेतपादश्च ध्रुवावर्त्त विवर्जितः ।
अशुभावर्त्तसंयुक्तो वर्जनीयस्तुरंगमः ।।
रन्ध्रीपरन्ध्रयोद्वौ द्वौ द्वौ द्वौ मस्तकवसोक्षसोः ।
बाहुमूले गले श्रेष्ठा आवर्त्तास्तव शुभाः परे ।।
शुकेन्द्रगोपचन्द्राभा ये च वायससन्निभाः ।
सुवर्णवर्णाः स्निग्धाश्च प्रशस्यास्तु सदैव हि ।।
दीर्घग्रावाक्षिकूटाश्च ह्रस्वकर्णाश्च शोभनाः ।
राज्ञां तुरगंमा यत्र विजयं वर्जयेत् ततः ।।
पालितस्तु हयो दन्ती शुभदो दुःखदोऽन्यथा ।
श्रियः पुत्रास्तु गन्धर्वा वाजिनो रत्नमुत्तमम् ।।[6]

---

1. संस्कृत अंग्रेजी कोश, वामन आप्टे पृ० 278
2. संस्कृत अंग्रेजी कोश, वामन आप्टे पृ० 279
3. अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः। अध्यगच्छत् कृशानश्वान् समर्थानध्वनि क्षमान् ।।
   तेजोबलसमायुक्तान् कुलशीलसमन्वितान्। वर्जितॉंल्लक्षणैर्हीनः पृथुप्रोथान् महाहनून् ।।
   "शुद्धान् दशभिरावर्तैः सिन्धुजान् वातरंहसः। दृष्ट्वा तानब्रवीद् राजा किंचित कोपसमन्वितः।। महाभारत वनपर्व-71/12–14
   – खुरैः खनन्यः पृथ्वीमश्वो लोकोत्तरः स्मृतः (शालिहोत्रमें वर्णित) । नैं. 1/57 नारायणी टीका में उद्धृत्
   – देवमणिः शिवैऽश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे - इति विश्वः - नै० 1/58 नारायणी टीका
   – चलाचलप्रोथत्वमश्वजातिः -नै० 1/60 नारायणी टीका
4. – स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैः श्रवसः श्रियम् हयम् ।
   जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचन स्तमारूरोह क्षितिपाकशासनः ।। नै० 1/64
   – सिन्धुजम् इयनेनाश्वशास्त्रोक्त चतुःपञ्चाशदुत्तमकुलजत्वं वलित्वं महाकायत्वं चं सूचितम् -नै०1/64 नारायणी टीका
5. सत्त्वेनरहितो न संग्रह्यः- नै० 1/73 नारायणी टीका सारसिन्धु का वचन है-
   तल्लक्षणगुणैः श्लाघ्यैः किंसत्त्वेनविना हयः।
   पञ्चेन्द्रिय समेतो प्रियथाकायो-विनात्मना- नै० 1/73 नारायणी टीका में उद्धृत्
6. अग्निपुराण 289/1... 10

नैषधीयचरित में उपलब्ध सन्दर्भों में भी श्रेष्ठ अश्व के लक्षणों का प्रतिपादन मिलता है। प्रथम सर्ग में जब राजा नल मदनाक्रान्तिवश उपवन में जाना चाहते हैं, तव भृत्यगणों ने निरन्तर चञ्चलखुरों से वाजिशाला की भूमि खनने वाले, बल की अपेक्षा और अधिक वेग वाले, पुरुष प्रभाव से भी ऊँचे, विशेष रूप से अलंकृत एक धवल अश्व को ले आये उसके गले में देवमणि नामक भंवरी तथा कण्ठमध्यमार्ग में उठे हुए चन्द्ररश्मि धवल स्कन्ध बाल थे, तथा जो निरन्तर धरातल पर अपने पैर चलाये जा रहा था, एवं चञ्चल ओठों वाला होते हुए भी, मौन था, क्यों कि वह समझता था कि यह राजा (नल) मेरे (अश्व के) अभिप्राय को स्वंय जानते हैं।[1] स्पष्ट है कि श्रेष्ठ घुड़सवार वही होता है, जो घोड़े के हाव-भाव को एवं उसके मौन भावों से व्यक्त भावों को समझ लेता हो/अग्निपुराण में भी कहा गया है कि जो अश्वभावों का पारखी नहीं होता वह सफल अश्वारोही नहीं हो सकता । यथा-

अभ्यासादभियोगाच्च विनाशास्त्रं स्ववाहकः ।
स्नातस्य प्राड्मुखस्याथ देवान् वपुषि योजयेत् ॥
सहजा इव दृश्यन्ते गुणाः सारिवरोद्‌मवरः ।
नाशयन्ति गुणानन्ये सादिनः सहजानपि ॥
गुणानेको विजानाति वेत्ति दोषांस्तथापरः ।
धन्यो धीमान् हयं वेत्ति नोभयं वेत्ति मन्दधीः ॥[2]

परन्तु नल तो कुशल अश्वविद् थे, जैसा कि महाभारत में उपलब्ध विवरण से पूर्व में स्पष्ट ही कर दिया गया है, उनके लिए अश्व के मौन व्यवहार को जानना सुकर ही रहा होगा । नैषधकार के विवरण से भी प्रतीत होता है कि नल के साथ-साथ अश्व भी नल के अभिप्राय का जानता था तभी तो वह दूसरे अश्वो की अपेक्षा स्वंय को भृत्यगणों द्वारा ले जाये जाने पर हर्षित हो, अपनी चञ्चल पूँछ बार-बार हिला रहा था। श्रीहर्ष उस अश्व का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह वेग में गरूण से भी द्रुततर, स्वच्छ दन्त पंक्ति वाला पद्मरूप रेखा एवं चामर चिन्हों से समन्वित था। यथा -

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशः रितम् ।
रदावदातां शुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥
सितत्विषश्चञ्लामरयुग्म चिन्ह नैरनिन्हु वानं निजवाजिराजताम् ॥
अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरूषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गाया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरूत्मतः ॥[3]

---

1. अभी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽ्पि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम ॥
अथान्तरेणावटुगामिनाध्वना निशीथिनीनाथमहः सहोदरैः ।
निगालगाद्देव मणेरिवोत्थितै विंराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥
अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्किंतैः ॥
चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥ नै० 1/57 60
2. अग्निपुराण 288/1,22,23
3. नै० 1/16 ------ 63

नल द्वारा उस अश्व पर आरूढ़ होने का चित्रण अत्यन्त काव्यात्मक तथ्यों के साथ श्रीहर्ष ने किया है, जो स्वाभाविक एवं यथार्थ भी लगता है।[1] अश्वों की गति का चित्रण अतिशयोक्तिपरक शैली में नैषधकार ने किया है जहाँ वह उन अश्वों की मनोभावनाओं को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि वे अश्व पृथ्वी के साथ-साथ समुद्र को भी यदि वह स्थल होता तो उसे भी क्षण भर में पार कर लेते, परन्तु आकाश को जिसे हरि (विष्णु) ने एक पैर से नापा था, उनके चार पैर होने के कारण संक्रमण करने में उन्हें लज्जा आ रही थी। यथा -

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुद्धतं रजः ।।
हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रितानैन्र्यवर्ति तैरर्धनभः कृतक्रमैः ।।[2]

नल के अश्वपंख हीन वैनतेय (गरूण) हैं, दृष्टिगोचर पवन हैं, तथा महापरिमाण मन है, अर्थात नल के अश्वों को नैषधकार ने गरूण, पवन एवं मन जैसी गतिवाला बताते हुए कहा कि ऐसी कौन सी दिशा थी, जिसे उन अश्वों ने न नापी हो[3]। अश्वों में धवल अश्व सर्व श्रेष्ठ होता है ऐसा नैषधकार के विवरण से प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने धवल अश्व का ही वर्णन अनेकशः किया है।[4] स्वयंवर प्रसंग में कीकट नरेश की दिग्विजिय का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि इनके घोड़ों के खुर से उठी धूल से चारों ओर अंधकार छा जाता है।[5] घोड़े की चाल एवं टाप का वर्णन करते हुए नैषधकार अभिहित करते हैं कि कीकट नरेश, जो अपनी समस्त प्रजा को धर्मपालन की ओर प्रवृत्त करने वाले हैं, के अश्व पर सवार होने पर, इनका अश्व अपनी खुर की धूलि से आकाश को ढ़ंकते हुए, टाप के शब्दों से लोगों के कानों को बहिर करते हुए संग्राम में अपने अतिबातवेग से पवन को भी पंगु करते हुए, तथा अपने गुणों के कारण वर्णन करने वाले को मूक बनाते हुए, चौफाल-कूदने के बहाने पृथ्वी (गौ) को पैरों से स्पर्श करना निन्दित समझता है।[6] स्पष्ट है कि यहाँ श्रेष्ठ अश्व के लक्षणों की बात श्रीहर्ष करते हैं कि श्रेष्ठ अश्व वही होता है जो चौफाल कूदे एवं जिसके खुरों की टाप दूर-दूर तक सुनायी पड़े साथ ही जो सादि की भाषा समझे। काशीनरेश के घोड़े को इन्द्र के उच्चैःश्रवा घोड़े से भी श्रेष्ठ बताते हुए,[7] साथ ही उच्चैः श्रुवा की उत्पत्ति समुद्र से बताते हुए नैषधकार कहते हैं कि उच्चैः श्रुवा से श्रेष्ठ अश्व समुद्र ने वरुण को, वरुण ने भीम को एवं भीम ने अपने जामाता नल को दिया, जो अपने वेग के कारण शीघ्र ही आंखों से ओझल हो जाता,

---

1. निजमयूखा इव तीक्ष्णदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्किगत् पाणिपंकजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाश रूपा मनुजेशमन्वयुः ।।
चलन्नलंकृत्य महारयं हयं स्ववाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोद निःस्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकेर्नगरालयैर्नलः ।।
क्षणादथैष क्षणदापतिभ्रमः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्ठिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत्पुरुहूत पौरूषः ।। नै० 1/65 ...67
2. नै० 1/69, 70
3. प्राग्भूय कर्कोटक आचकर्ष सकम्बलं नागवलं यदुच्चै : ।
भुवस्तले कुण्डिनागामि रासां तद्वासुकेश्चाश्वतरोऽन्वगच्छत् ।। नै० 108
– स सिन्धुजं शीतमहः सहोदसं हरन्तमुच्चै : श्रवसः श्रियं हयम् । नै० 1/64
4. उपाहरन्श्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलै। क्षोदितमन्दुरोदरम्। नै० 1/54 एवं 1/62
5. नै० 12/94
6. धूलीभिर्दिवमन्धयन्वधिरयन्नाशाः खुराणां रवै–र्वातं संयति खञ्जयञ्जवजवैः स्तोतघ्न्गुणैर्मूकयन् ।
धर्माराधनसं नियुक्त जगता राज्ञामुनाधिष्ठितः सान्द्रोत्फाल मिषाद्विगायति पदा स्प्रष्टुं तुरगोऽपि गाम् ।। नै० 12/99
7. एतद्वलैः क्षणिकतामपि भूखुराग्रस्पर्शायुषां रयरसादसमापयद्भिः ।
दृक्पेय केवलनभः क्रमणप्रवाहैर्वा हैरलुप्यत सहस्रदृगर्वगर्व : ।। नै० 11/127

एवं लौटते समय उसकी टापों से उठी धूल से दार्शकों की आँखे ढक जाती हैं, जिससे ऐसे अप्रतिम घोड़े को देखने की दर्शकों की अभीप्सा धरी की धरी रह जाती। यथा–

महेन्द्रमुच्चैः श्रवसा प्रतार्य यन्निजेन पत्याऽकृत सिन्धुरन्वितम् ।
स तद्ददेऽस्मै हयरत्नमर्पितं पुराऽनुबन्धुं बरूणेन बन्धुताम् ।
जवादवारीकृत दूरदृक्पथस्तथाक्षियुग्माय ददे मुदं न यः ।
ददाद्दिदृक्षादरदासतां यथा तयैव तत्पांसुलकण्ठनालताम् ॥[1]

अश्व की उत्पत्ति का वर्णन कर श्रीहर्ष ने यह संकेत देना चाहा है कि वह अश्वों की जाति एवं उनके वंश से भी परिचित है। अग्निपुराण मे उपलब्ध विषय सामग्री से भी अश्वों की जाति या वंश के बारे में पता चलता है जहाँ अश्व के सात प्रकार के (वंश, जाति) उत्पत्ति स्थान बताये गये हैं। यथा-

हय! गन्धर्वशराजस्त्वं श्रृणुष्व वचनं मम ।
गन्धर्वकुल जातस्त्वं माभूस्त्वं कुल दूषितः ॥
द्विजानां सत्यवाक्येन सोमस्य गरुणस्यच ।
रुद्रस्य वरुणस्यैव पवनस्य बलेन च ॥
हुताशनस्य दीप्त्या च स्मर जातिं तुरङ्गम ।
स्मरराजेन्द्र पुत्रस्त्वं सत्यवाक्यमनुस्मर ॥
स्मरत्वं वारुणीं कन्या स्मर एवं कौस्तुभं मणिम् ।
क्षीरोदसागरे चैव मथ्यमाने सुरासुरैः ॥
तत्र देवकुले जातः स्ववाक्यं परिपालय ।
कुर्ले जातस्त्वमश्वानां मित्रं मे भव शाश्वतम् ॥[2]

नल तो (कुशल अश्वरोही) सादिवरेष्ठ थे। उनके अश्वारोहण की कुशलता का चित्रण करते हुए नैषधकार लिखते हैं कि नल ने अपने क्षत्र के नीचे ही अपने घोड़े से जो सुन्दर चक्कर लगवाये, उससे यह प्रतीत हो रहा था कि पवन उन्हीं चक्करों को सीखने के लिए बवंडरो के रूप में अब भी चक्कर लगाता दिखता है। यथा-

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।
मरुत्किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रमान ॥[3]

स्पष्ट है कि नल अश्वशास्त्रविद अवश्य रहे होंगे तभी उन्हे अश्वसंचालन की कुशल विधि ज्ञात थी, एवंविध वर्णन से नैषधकार भी अश्वशास्त्र मर्मज्ञ सिद्ध होते हैं। अग्निपुराण में कुशल अश्वचालन की विधि का निर्देश भी द्रष्टव्य है। यथा-

प्रग्रहेण गृहीत्वाऽथ प्रविष्टो वाहभूतलम् ।
सव्यापसव्यभेदेन वाहनीयः स्वसादिना ॥
आरुह्य सहसा नैव ताड़नीयो हयोत्तमः ।
ताड़नाद् भयमाप्नोति भयान् मोहश्च जायते ॥
प्रातः शादी प्लुतेनैव वल्गामुद्धृत्य चालयेत् ।
मन्दं मन्दं बिना नालं धृतवल्गो दिनान्तरे ॥
प्रोक्तमाश्वसनं साममैदोऽश्वेन नियोज्यते ।

---

1. नै० 16/25, 26
2. अग्निपुराण - 288/13 - 17
3. नै 1/73

कषादिताड़नं दण्डो दानं कालसहिष्णुता ।।
पूर्वं पूर्वं निशुद्धौ तु विदध्यादुत्तरोन्तरम् ।
जिह्वातले विनायोगं विदध्याद् वाहने हये ।।[1]

मन्त्र-शास्त्र

नैषधीयचरितम् में मन्त्रशास्त्र के कुछ सन्दर्भों का प्रसंग श्रीहर्ष ने रखा है। राजशेखरसूरि के कथनानुसार तो स्वयं श्रीहर्ष भी चिन्तामणि मंत्र की साधना एवं त्रिपुरा देवी की आराधना से अमोघ ज्ञानराशि प्राप्त किये थे।[2] साथ ही उन्होंने स्वयं अपने श्रृङ्गारामृत शीतगुः नैषधमहाकाव्य को चिन्तामणि मन्त्र की आराधना का फल माना है।[3] इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नैषधकार ने तन्त्रमन्त्र के प्रभाव को स्वीकार किया है, साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि तत्कालीन (बारहवीं शताब्दी में) सामाजिक व्यवस्था में तन्त्रमन्त्र का भी प्रभाव जनमानस द्वारा स्वीकार किया जाता रहा होगा, तभी श्रीहर्ष ने इस विद्या का विवरण भी नैषधमहाकाव्य में दिया है, क्योंकि कवि काल एवं समाज के सूक्ष्म दृष्टा माने जाते हैं।

तन्त्र शब्द अनेक अर्थो में[4] प्रयुक्त होता है किन्तु उपर्युक्त संदर्भ में इसका तात्पर्य ऐसी कर्मकाण्ड पद्धति से है, जिसमें देवताओं की पूजा अथवा अतिमानवीय शक्ति प्राप्त करने के लिए गुप्त रूप से मंत्र उच्चारित किये जाते हैं[5] ऐन्द्रजालिक कर्म तथा जादू, टोना तन्त्र के माध्यम से ही लोक में सम्पन्न देखे जाते हैं। मन्त्र वह- वैदिक वाक्य या शब्द समूह है जिससे किसी देवता की सिद्धि या अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है। निरुक्त के अनुसार वैदिक मंत्र तीन प्रकार के माने जाते हैं परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत एवं आध्यात्मिक।[6] नैषध में सत्रहवें सर्ग में कलिप्रतिनिधि के कथन से लोक मानस द्वारा तन्त्र को जानने की पुष्टि होती है।[7] कुण्डिनपुरी में इन्द्रजाल विद्या दिखाने वाले लोग तन्त्रशास्त्र से परिचित समझे जा सकते

---

1. अग्निपुराण - 288/26 -------30 एंव 31---------65
2. गंङ्गातीरे सुगुरदत्तं चिन्तामणिमन्त्रं वर्षमप्रमत्तः साधमामास। प्रत्यक्षा त्रिपुराऽभूत्। अमोघादेशत्वादिवराप्तिः। प्रबन्धकोशान्तर्गत श्रीहर्षकविप्रबन्धः -पृ० 54
3. तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले श्रृङ्गारभंग्या महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ।।नै: 1/145 उत्तरार्द्ध – तस्य श्रीहर्षस्य ये चिन्तामणिमन्त्रचिन्तने चिन्तामणे ब्रह्मणों मन्त्रः प्रणवः तस्य वाचकः प्रणवः इति पातञ्जलसूत्रात् तन्मत्रजप इत्यर्थः, चिन्तनञ्चलसूत्रात् चिन्तञ्च तस्य ब्राह्मणो ध्यानं तयो फले फलभूते तदुभयजातपुण्यजनित इत्यर्थः। नै० 1/145, जयन्ती टीका
4. संस्कृत हिन्दी कोश- आप्टे- पृ० 420 एवं संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० 475
   संस्कृत अंग्रेजी कोश, पी.के. गोडे, सी.जी. कर्वे भाग-2, पृ० 759
   – तन्त्र स्मृतिरूप है- यथाः "तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरिवस्यारहस्य प्रकाश), परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्ड शेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात् (सौभाग्यभास्कर का उपक्रम)। तन्त्र की मान्यता-वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः, वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधस्त्रैवर्णिकवेदागमौ।" श्रीकण्ठभाष्य 2/2/28
5. A Religious treatise teaching magical and mystical formularies for the worship of the deities or the attainment of super human power- Sanskrit English Dictionary, II[nd] Vol., P.C. Gode, P. 759.
6. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ- पृ० 864, 865
   — A Vedic hymn or sacred prayer (addressed to any deity) a sacred text (It is of three kinds - it is called ऋच् if metrical and intended to be loudly recited, यजुस्, if in prose and muttered in a low tone, and सामन् if, being metrical, it is intended far chanting) संस्कृत अंग्रेजी कोश, सी.जी. कर्वे भाग 2, पृ० 1236
7. व्यासस्यैव गिरा तस्मिञ्श्रद्धेत्यद्धा स्थ तान्त्रिकाः। मत्स्यस्याप्युपदेश्यान्वः को मत्स्यानपि भाषताम्।। नै० 17/64

हैं।[1] स्वयं नल भी तन्त्रविद्या में निष्णात थे, तभी तो उन्होंने दमयन्ती की सखियों को बाहर करने के लिए सहसा अञ्जुलि में जल भर कर उन्हें भिगो दिया।[2]

नैषधीयचरितम् महाकाव्य में उन्नीसवें सर्ग में वैतालिक गणों द्वारा राजा नल को जगाने हेतु प्रयुक्त विवरण में दैत्य गुरु शुक्राचार्य की मृतसंजीवनी विद्या भी, तंत्र विद्या के अन्तर्गत आती है जिसके द्वारा मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित कर लिया जाने की कथा सर्व विदित है।[3] मायावी शम्बर नामक दैत्य को जीतने वाली शाम्बरी माया का ही नल पर प्रभाव था कि उसे भीममहल में सर्वत्र दमयन्ती की आकृति दिखायी पड़ती थी।[4] श्रीहर्ष ने इस विद्या को छद्म[5] (धोखा) युक्त जादू (मोह क्रोध, भ्रम) से युक्त बताया जैसा कि बीसवें सर्ग में नल द्वारा दमयन्ती की सखियों को जल से भिगोने के पश्चात नल के कथन से भी प्रमाणित होता है। यथा–

अम्बुनः शम्बरत्वेन मायैवाभिरभूदियम्। यत्पटावृतमप्यंगमनयोः कथयत्यदः।।[6]

शम्बर शब्द, मोह माया[7] इत्यादि अर्थ में योग वशिष्ठ[8] में भी मिलता है, जहाँ टीकाकारों ने 'दीर्घशम्बरे' की 'दीर्घभ्रमे' रूप में व्याख्या की है तथा "शाम्बरी" शब्द लिंगपुराण[9] में राजा के विजय के लिए स्नानोत्सव रूप में तांत्रिक विधि में शाम्बरी देवी या शक्ति के रूप में वर्णित है[10] एवं "शाम्बरिक" शब्द सिवार्कमणिदीपिका अथवा श्रीकण्ठभाष्य में जादू एवं जादूगर के रूप में भी वर्णित मिलता है[11] साथ ही 'शाम्बर' शब्द माया के रूप में योगवशिष्ठ में भी आया है।[12]

तंत्रों का उल्लेख करने के साथ-साथ श्री हर्ष ने तंत्रों को सिद्ध करने की तिथियों का विवरण भी नैषधमहाकाव्य में दिया है। उनके मत में कृष्णाष्टमी के दिन (दूसरों को) वशीकरण हेतु तंत्रों (मंत्रों) को सिद्ध किया जाता है।[13] नैषधकार (देवदूत बने) नलमुखेन दमयन्ती के भाल (मस्तक) का वर्णन करते हुए

---

1. विलोकके नायकमेलकेऽस्मिन् रुपान्यताकौतुकदर्शिभिस्तैः। बाधा बतेन्द्रादिभिरिन्द्रजाल विद्याविदां वृत्तिवधाद्व्यधायि।। नै० 14/70
2. शिरः कम्पानुमत्याथ सुदत्या प्रीणितः प्रियः । चुलुकं तुच्छमुत्सर्प्य सख्योः सलिलमक्षिपत् ।। नै० 20/125
तच्चित्रदत्तचित्ताभ्यामुच्चैः सिचयसेचनम् । ताभ्यामलम्भि दूरेऽपि नलेच्छापूरिभिर्जलैः ।। नै० 20/126
3. असुरहितमप्यादित्योत्थां विपत्तिमुपागतं, दितिसुतगुरुः प्राणैर्योक्तुं न किं कचवत्तमः ।
पठति लुठतीं कण्ठे विद्यामयं मृतजीवनीं, यदि न वहते सन्ध्यामौन व्रतव्ययभीरुताम् ।। नै० 19/15
4. अनादिसर्गस्रजि वानुभूता चित्रेषु वा भीमसुता नलेन। जातेव यद्वा जिशम्बरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु।। नै० 6/14
– किन्तु, जितशम्बरस्य मायिनोऽपि मायिनः, कामस्य शाम्बरीशिल्पं मायासृष्टिः। स्यान्माया शाम्बरी इत्यमरः। जातैव, सा भीमसुता नलेन दिक्षु अलक्षि प्रतिदिशमलक्ष्यत्। नै० 6/14 मल्लि0
– जितः शम्बरो नाम दैत्यो येन तस्य शम्बरारेः कामदेवस्य, या शाम्बरी निहतः तच्छम्बरदैत्यसम्बन्धिनी मायाः तस्याः शिल्पं निर्माणकौशलस्वरूपा जातेव। तथा च महामायाविनं शम्बरदैत्यं निहत्य तस्य माया कामदेवेन गृहीता, तया च तदानीं तेन नलाय अलीकभैमीशतं दर्शितिमिति भावः। नै० 6/14, जयन्ती टीका
5. छद्मैव तच्छम्बरजं बिसिन्यास्तत्पदमस्यास्तु भुजाग्रसद्म। नै० 10/124, पूर्वार्द्ध
6. नै० 22/130
7. नै० 10/124, 20/130
8. किमेतस्मिन् महामायाडम्बरे दीर्घशम्बरे - योगवाशिष्ठ, स्थिति प्रकरण, 47/88
9. लिंगपुराण - 27/198, उत्तरार्द्ध
10. The word 'शाम्बरी' occurs in Lingapurana as the name of the deities or "Shakti" mentioned in connection with a Tantric Riti in which the king undergoes a cermonial bath for the attainment of victory. - हाण्डिकी, पृ० 634
11. शाम्बरिकदर्शितप्रपञ्चस्य .... शाम्बरीप्रसरणमात्रकालावसायित्वेन च यथाश्चर्यरुपत्वम्.....। सिवार्कमणिदीपिका, श्रीकाण्ठभाष्य, 3/2/6, Vol- II, पृ० 232
12. वत मूढा वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम् - योगवाशिष्ठ (वैराग्यप्रकरण), 12/12, यहाँ टीकाकारों का मत है "शाम्बरं शम्बरसम्बन्धि मायायमिति भावः।
13. कृष्णाष्टम्यां जगद्वशीकर्तुं गुटिकादिसिद्धिः साध्यते। नै० 7/23, नारायणी टीका
अपरोऽपि साधकः कृष्णाष्टमीं प्राप्य रात्रौ गुटिकादि सिद्धिं निष्पादयति, नै० 7/23, जयन्ती टीका

अभिहित करते हैं कि केशरूप अंधकार के नीचे रमणीय भाल रूप अर्द्धचन्द्रवाली यह सुन्दरी स्पष्ट रूप से अष्टमी तिथि है क्योंकि कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि में भी पहले अंधकार एवं फिर अर्द्धचन्द्रोदय के दर्शन होते हैं। अतः (दमयंती) कृष्णाष्टमी को प्राप्त कर कामदेव ने संसार को जीतने के लिए जो साधना की है, वह उचित ही है।[1] स्पष्ट है कि यहाँ श्री हर्ष दमयन्ती के भाल को तंत्रसिद्धि के लिए प्रसिद्ध कृष्णाष्टमी तिथिं मानते हैं। बृहन्नारदीय पुराण में वर्णन मिलता है कि (भाद्र पद की कृष्णाष्टमी) के दिन दशाफल नामक व्रत होता है, उस दिन के व्रत, एवं पूजा से कृष्णसायुज्य मोक्ष मिलता है, सभी पापो का शमन एवं सभी कामनाओं की पूर्ति भी होती है। एवं इस व्रत के करने से एक करोड़ एकादशी व्रत का फल मिलता है।[2] अग्निपुराणकार ने भी कहा है -

कृष्णो जातो यतस्तस्यां जयन्ती स्यात्तोऽष्टमी ।
सप्तजन्म कृतात् पापात् मुच्यते चोपवासतः ।।[3]

आगम ग्रन्थों के अनुसार कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को अदृश्य शक्तियों को सिद्धि की जाती है।[4] सुखावबोधिनी टीका एवं नारायणी टीका में वर्णित तथ्यों से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है।[5] नल दमयन्ती के गुल्फों का वर्णन करते हुए उसे चतुर्दशी रूप मानते हैं।[6] उनका मत है कि अरुन्धती, रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी तथा नवाम्बिकाओं[7] में यह दमयन्ती (चौदहवीं) चतुर्दशी है, अतः उनकी जो अदृश्य सिद्धि है, वह इस दमयन्ती में गुल्फ (दोनों पैरों के नीचे जोड़ पर दोनो ओर उठी हुई हड्डी अर्थात गट्टो) को प्राप्त हुई है वह उचित ही है।[8] वृहन्नारदीय पुराण में चतुर्दशीव्रत से ऐहलौकिक सकल कामनाओं की प्राप्ति बतायी गयी है[9] एवं अग्निपुराण में भी चतुर्दशी तिथि का विशिष्ट वर्णन प्राप्त होता है।[10]

चिन्तामणि मंत्र से तो स्वयं श्रीहर्ष प्रभावित थे जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, किन्तु चिन्तामणि मंत्र क्या है? एवं इसकी उपासना या सिद्धि से क्या फल मिलता है? इसका विवरण नैषधकार ने स्वयंवर पश्चात सरस्वती द्वारा नल को दिये जाने वाले वरदानों की सरणि में दिया है जहाँ नल से प्रसन्न सरस्वती नल को चिन्तामणि मंत्र के स्वरूप का विवरण देती हुई कहती है कि हे राजन् नल, आधे (दक्षिण) भाग में

---

1. केशान्धकारादथ दृश्यभालस्थलार्धचन्द्रा स्फुटमष्टमीयम्। एनां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु।।नै० 7/23
2. नभोमासे सिताष्टम्यां दशाफलमिति व्रतम्। उपवासं तु संकल्प्य स्नात्त्वा च नैत्यिकम्।।
   नैतेन सदृशं चान्यद्व्रतमस्ति जगत्त्रये। कृतेन येन लभ्येत कौट्यैकादशकं फलम्।। वृहन्नारदीय पुराण, 117/15...40
3. अग्निपुराण 183/2, एवं द्रष्टव्य, सम्पूर्ण 183वा एवं 184वां अध्याय
4. किञ्च यदियं चतुर्दशी तिथिः, तदिह अदृश्यसिद्धिरन्तर्धाननिष्पत्तिरुचितैव, "चतुद्दश्यामदृश्यत्वम्" इत्यागमादिति ध्वनिः। नै० 7/97, जयन्ती टीका
5. अथ च चतुर्दश्यां तिभावदृश्ताया अदृश्यीकरणविद्यायाः सिद्धि साधकानां प्राप्तिरुचितैव- इति सुखावबोधा। आगमे "चतुर्दश्यामदृश्यत्वसिद्धिर्भवति" इत्युक्तिमित्यर्थः।।
6. नौ मातृकाएँ + अरुन्धती + रति + लक्ष्मी + इन्द्राणी = 13 एवं चौदहवीं दमयन्ती। नौ मातृकाओं में चामुण्डा आदि सप्त मातृकाएँ एवं गौरी तथा सरस्वती परिगणित हैं, इनका विवरण इसी शोध प्रबन्ध के सामुद्रिक शास्त्र नामक अध्याय के अन्तर्गत द्रष्टव्य है।
7. विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य– नैषधीयचरित - हाण्डिकी, पृ० 555-557, In the Inroductuion of च्तंचंदबेंतं - by Avalon, p. 35, विष्णुधर्मोत्तर पुराण भाग एक, अध्याय 226, स्कन्ध पुराण 83/33, उत्तरार्द्ध, देवी पुराण, अध्याय 87 एवं 37/83......90, ब्रह्मवैवर्तपुराण - प्राकृतिखण्ड - 64/87....88, देवी भागवत, पु. 12/11,57,58, 9/50, एवं ध्यायत्वा यजेदेताश्चक्रेशीं त्रिपुरां ततः।- वामकेश्वर तन्त्र (नित्यषोडसिकार्णव) 8/126..27, प्रपंचसारतन्त्र, 7/11, कुलकुदामणितन्त्र, अध्याय 3, लिंगपुराण - पुर्वार्द्ध - 82/96 (अष्टमातृकाओं का वर्णन), मन्त्र महोदधि-महीधर-3/17,18 (अष्टि मातृकाओं का वर्णन) एवं 1/64, 65, वराहपुराण, अध्याय 27, कथासरित्सागर, 57/76 व्यवहारमयूख सम्पादक, पी.वी. कांणे, पृ० 65, द्वयाश्रयकाव्य, हेमचन्द्र, 19/59
8. अरुन्धतीकामपुरन्धिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम्। चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः।। नै० /98
9. श्रणु नारद वक्ष्यामि चतुर्दश्या व्रतानि ते। यानि कृत्वा नरो लोके सर्वान्कामानमाप्नुयात्।। वृहन्न. पु. 123/1 एवं 2..79
10. अग्निपुराण–192वां अध्याय

अवामा अर्थात पुरुष और आधे (वाम) भाग में वामा अर्थात् स्त्री, इस प्रकार दो भागों में विभक्त, किन्तु दोनों आकारों (स्त्री पुरुष भागों) के सम्मेलन से पूर्ण जो भगवत् (शिव) नाम से वाच्य रूप होता है, चन्द्रसहित निर्मल, (आकार) होने पर भी वस्तुतः आकारहीन, मंत्रात्मक हरमय (शिवमय) मेरे उस (रूप) का हृदय में स्मरण (चिन्तन, ध्यान) करो, और निरन्तर जाप करो। वह (मंत्र) तुझे (नल को) सिद्ध हो। अथवा- 'नरप' तद् सते ते सिध्यतु-राजन् वह तुझ सज्जन को सिद्ध हो, अथवा जपन रपत ते सः सिध्यतु- हे जप करने वाले या निरन्तर जप करने वाले तुझे वह सिद्ध हो।

इस मंत्र की विस्तृत रूप में इस प्रकार भी मीमांसा की जा सकती है कि आधे अर्थात् दाहिने भाग में पुरुष तथा आधे अर्थात् बायें भाग में स्त्री अतएव स्त्री पुरुषात्मक, अर्धनारीश्वर) दो भाग वाला, (परन्तु वास्तव में) दोनों आकारों के मिलने से सम्पूर्ण भगवद्वाच्य (शिव नाम से कहा जाने वाला) जो रूप होता है, हे राजन्! (नल) चन्द्रयुक्त निर्मल, (शुभ्रवर्ण) निराकार, (दो भाग प्रतीत होने पर भी वास्तव में अवयवहीन), मंत्रतुल्य गोपनीय, (या मंत्ररुप) ईश्वरा (शिवात्मक) मेरे उस रूप को अन्तःकरण में चिन्तन (ध्यान,जप) करो, अर्थात् जपरूप से उपासना करो 'मन्त्रमूर्ति वह (भगवान शिव) तुम्हें सिद्ध (फलदाता) हों।[1] **मंत्र पक्ष में (यह कहा जा सकता है कि)** "आधे (पूर्व) भाग में ओंकार तथा मकार से तथा उत्तर भाग में ओंकार तथा अकार से अपलक्षित अर्थात् आदि और अन्त में 'ओम्' रूप प्रणव से युक्त दो अकारों के घटना (संयोग) से द्विधाभूत हर इस प्रकार विभक्त अथवा दोनों अकार अर्थात् प्रणव के सम्पुटीकरण से दो आकार वाला), शिव, वाचक (ओं हर ओम् ऐसा) जो रूप होता है, वह हर मय अर्थात् हकार-रेफात्मक (ह, र, रूप) निराकार अर्थात् दोनों अकारों से रहित (ह् र् अर्थात् ह् - केवल व्यञ्जन हकार, रेफस्वरूप) ई और इन्दु (चन्द्र अर्थात् गोलाकृति (अनुस्वार से युक्त) अर्थात् ह्रीँ' ऐसे रूप वाला, कलायुक्त अर्थात् ह्रीं' (इस प्रकार "ओं ह्रीँ ओं" स्वरूप) मेरे मंत्र ("चिन्तामणि" नामक सारस्वत मंत्र) का मन में नित्य जप करों, अर्थात् मानसिक[2] जप करो, वह चिन्तामणि नामक सारस्वत मंत्र तुम्हें सिद्ध होवे। यंत्र पक्ष में, भग (योनि) के समान दृष्टिगोचर होने वाला अर्थात् त्रिकोण, दो आकृतियों की घटना से सम्पूर्ण अर्थात् षट्कोणस्वरूप और उस (षटकोंण) के बीच में उक्त मंत्र (ओं ह्रीं ओम्) से युक्त मेरे सारस्वत यंत्र की नित्य उपासना करो, वह यंत्र तुम्हें सिद्ध होवे। उपयुक्त चिन्तामणिमंत्र सर्वथा सरस्वतीपरक है किन्तु इसकी मीमांसा से यह प्रतीत होता है कि इसमें अर्धनारीश्वर भगवान शिव का वर्णन भी है। नैषध के प्राचीन टीकाकार चाण्डूपण्डित[3] मल्लिनाथ एवं नारायण ने इस मंत्र की विशद व्याख्या की है, जिसमें मल्लिनाथ इसे

---

1. अवामा वामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनादद्विधाभूतम रूपं भगवदभिधेयं भवति यत।
   तदन्तरर्मन्त्रं मे स्मर हरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिध्यतु स ते।। नै० 14/88
2. त्रिविधो जपजज्ञःस्यात् तस्य तत्त्वं निबोधत्।।
   वाचिकश्चाप्युपांशुश्च मानसश्च त्रिधाऽऽकृतिः। त्रयाणामपि यज्ञानां श्रेष्ठः स्यादुत्तरोत्तरः ।।
   यदुच्चनीचोच्चरितैः शब्दै स्पष्टपदाक्षरैः। मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपयज्ञस्तु वाचिकः ।।
   शनैरुच्चारये मन्त्रं किञ्चिदोष्ठौ प्रचालयेत्। किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्यात्स उपांशुर्जपः स्मृतः।।
   धियापदाक्षरश्रेण्या अवर्णमपदाक्षरम्। शब्दार्थचिन्तनाभ्यां तु तदुक्तं मानसं स्मृतम्।। हारीति स्मृति, 4/40.....14
3. वामे अर्धे वामपक्षार्धे प्रथमम् अवा ओकारेण तथा मा मकारेण ओंकारेणत्यर्थः। यत् रूपं द्विधा द्विप्रकारं भूतं सत् द्वितीयेन ओंकारेण दक्षिणार्धेपि भूतं प्राप्तं भवगदभिधेयं भवति ब्रह्मवाचकम्। किं भूतम्- उभयाकारस्य ओंकारद्वयस्य घटनात् मेलनात् सकलम्। तदन्तःतयोः ओंकारयोरन्तर्मध्ये हरमयमीश्वरमयं मन्त्रं स्मर। अथ च हकारो रेफकारी मकार ईकारश्च। चतुष्टयेपि अकार उच्चारणार्थः ईकारश्च च पुरतः अकारस्य सुखोच्चारणार्थे य आदेशे ह्रींकारः। उभयपक्षे ओंकारेण सम्पुटित इत्यर्थः। सेन्दु अर्धमात्रायुक्तम् अथवा हरमयमिति मयट्प्रत्ययः, अथवा सेन्दुमिति ईश्वरम्। ई इन्दुश्च ताभ्यां सह वर्तते सेन्दुः तं. तथा। एतावता ईकारौनुस्वारश्च लब्धः। अमलं निराकरं चान्तर्जप हे नरपते स ते तव सिध्यतु में मम देव्या भारत्या मन्त्रः सिध्यतु सारस्वतो मन्त्रः। अथवा यद्रूपं भगवद्योनिसदृसदृशाकरं त्रिकोणयन्त्रमयं भवति। किं भूतम्-उभयाकार घटनात् द्विधाभूतं त्रिकोणयन्त्रद्वयघटनात् षट्कोणयन्त्र तदन्तः मध्ये मे मन्त्रं स्मर। हरमयं हकाररेफमयम्। सकलं ककारलकारसंयुक्तम्। अवा ओकारेण मा मकारेण त्रिष्वपि अक्षरेषु बिन्दुना (सहवर्तमानम्) तथा यत्र अर्धे वामा अस्ति। वामाशब्देन स्त्री प्रत्यय ईकारोलक्ष्यते। अयमभिप्रायः षट्कोंण यन्त्रमध्ये पूँ प्रणवस्ततः क्लीं ह्रीं। अथवा अवामा न शक्तिः अपरा वामा नामशक्तिः इति द्वे अर्धे। एतत् स्वरूपं द्विधाभूतम् अभयाकारघटनात् योन्यर्घाकाररुपद्वयेमेलनात् सकलं सम्पूर्णं सत् यत् रूपं भगवत् योनिवत् तदन्तर्मन्त्रं स्मर इति शेषं पूर्ववत्। अथवा यस्य रुपस्यार्थे अवामा अप्रतिकूलावाम् पार्वती अस्ति तत् हरमयम् उभयाकार-घटनात् सकलम् अर्धनारीश्वरं सेन्दुं सचन्द्रं मन्त्रं गोप्यं रहस्यं निराकारं स्मर जप स्तुहि चिन्तय वा नै० 14/88, चाण्डू पण्डित की टीका।

सारस्वत चिन्तामणि मंत्र[1] एवं नारायण ने इसे भुवनेश्वरी रूप सरस्वती का[2] मंत्र माना है तथा नैषध के 'चन्द्रिका' हिन्दी टीकाकार डॉ. देवऋषि सनाढ्य शास्त्री ने "भगवदभिधेयम्" के माध्यम से उपर्युक्त मंत्र को 'लक्ष्मी नारायण रूप मंत्र भी माना है।[3] चाण्डूपण्डित मल्लिनाथ एवं नारायण के मत में चिन्तामणि मंत्र का स्वरूप ओं ह्रीं ओम्' है।[4]

चिन्तामणि मंत्र की आराधना एवं उससे प्राप्त फलों का विवरण भी नैषधकार ने दिया है। आराधना विधि की चर्चा करते हुए वे सरस्वती मुखेन अभिहित करते हैं कि जो साधक मुझ (सरस्वती) हंसवाहिनी मंत्रमूर्ति का अत्यन्त सुकुमार एवं सुगन्धित पुष्पों से पूजा करके तथा अन्य विषयों से बुद्धि हटाकर सर्वात्मा से मेरी सेवा करके जपेगा, वह एक वर्ष के अन्त में जिस किसी के सिर पर हाथ रेखगा, वह भी अकस्मात्, सुन्दर और निर्दोष श्लोकों की रचना करने लगेगा। ऐसा इसका कौतुक (प्रयोग के द्वारा) देखने योग्य है।[5] साथ ही चिन्तामणि मंत्र के फल का निर्देश करती हुई सरस्वती कहती हैं कि जो पापहीन साधक इसे चित्त में धारण करेगा, वह सब रसों से व्याप्त सुधा से एवं आर्द्र वाणी से वाचस्पति हो जायेगा। वह स्वर्ग की मृगाक्षियों को वश में करने के लिए भी कामदेव के समान हो जायेगा। अधिक कहने से क्या लाभ? वह पुरुष जो फल चाहेगा वह इस मंत्र से अवश्य प्राप्त करेगा।[6] डॉ0 ए0एन0 जानी महोदय ने इस मंत्र का विशेष विवरण दिया है।[7] एवं श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस मंत्र का रेखाचित्र भी प्रस्तुत किया है।[8]

चिन्तामणि नाम के अनेक मंत्रों का विवरण विभिन्न ग्रन्थों में देखने को मिलता है। बौद्धों के ग्रंथ आर्यमंजुश्रीमूलकल्पलता में बौद्धों के एक सूत्र (Buddhist formula) भी 'चिन्तामणि' नाम से वर्णित मिलता है।[9] बौद्धों की साधना या शास्त्र (विधि) सम्बन्धी ग्रन्थ में भी, एकजटावाली श्वेतमूर्ति तारा देवी की साधना (अर्चना) में जिस मंत्र का विवरण मिलता है वह नैषध में वर्णित चिन्तामणि मंत्र के समान ही मालूम होता है तथा उस मंत्र का रूप ह्रीं[10] "एकाक्षरोऽयं मंत्रराजश्चिन्तामणिकल्पः" के रूप में कहा गया है साथ ही

---

1. मे मदीयं मन्त्रं प्रणवद्वयसम्पुटितं ओं ह्रीं ओम् इत्याकारकं सारस्वत चिन्तामणिमन्त्रमित्यर्थः। नै० 14/85, मल्लिनाथी टीका।
2. तथा - भगवती भुवनेश्वरी अभिधेया तस्य तादृशमिति वा । शिवान्त्यो वह्निसंयुक्तो ब्रह्मद्वितयमन्तरा । तुरीयस्वरशीतांशु रेखातारासमन्वितः ॥ एष चिन्तामणिर्नाम् मन्त्रः सर्वार्थसाधकः । जगन्मातुः सरस्वत्या रहस्यं परमं मतम्। इत्यागमात्प्रणवद्वयसंपुटितभुवनेश्वरीरूपं चिन्तामण्याख्यं मे सरस्वत्याः स्वरूपं मन्त्रं स्मर जप। नै० 14/88,नारायणी टीका
3. नै० 14/85, हिन्दी टीका, डॉ0 देव ऋषि सनाढ्य शास्त्री, पृ० 279
4. शिवः=ह, वह्नि=रेफ, ब्रह्मन्=प्रणव, तुरीयस्वर=ई., शीतांशु–तारा= चन्द्रविन्दु, इस प्रकार इस मंत्र को प्रणवद्वयसम्पुटित माना है। द्रष्टव्य नै० 14/88 में चाण्डू पण्डित, नै० 14/85 में मल्लिनाथ एवं 14/88 में नारायण की टिप्पणी।
5. पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारुहंसेन मां चेन्निर्यान्तीं
   मंत्रमूर्तिं जयति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः ।
   तत्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते ।
   सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्याः ॥ नै० 14/90
6. सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः, स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकराय मारायते ।
   यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा, येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः ॥
7. A Note on the cintamani Mantra द्रष्टव्य Appendix -5
8. नैषधीयचरितचर्चा - पृ० 49
9. स मन्त्रों पात्रभूतस्थः त्रिषु चिन्तामणिस्तथा । करोति कर्म वैचित्रयम् ईप्सितं साधकेच्छया ॥
   मन्त्र चात्र भवति - "नमः सर्वबुद्धेः ॐ तेजो ज्वालसर्वार्थ साधक सिध्यसिद्धिचिन्तामणिरत्नं हुं ॥
   चिन्तामणिरत्नमंत्रः सर्वार्थसाधकम् । ईप्सितां साधयेदर्थं मंत्राश्चापि सविस्तराम् ॥
   –आर्यमंजुश्रीमूलकल्पलनता-त्रिवेन्द्रम प्रकाशन, भाग-2 पृ० 393
10. तत्रायं मंत्रोद्धार :- सप्तमस्य चतुर्थं वह्निसंयुक्तं ईकारभेदितम् अर्धेन्दुविन्दुभूषितम् इत्थं जपेत् । नाभिमध्ये अष्टदलकमलतदुपरि ह्रीकार पश्येत्; -साधनमाला-गायकवाड़ ओरियन्टल् सिरीज, भाग-1 पृ० 260

उसकी उपासना का फल भी नैषध महाकाव्य में वर्णित चिन्तामणि मंत्र की उपासना के फल की तरह व्यक्ति में महान कवित्तव, वैदुष्य एवं वक्तृत्व शक्ति प्रदान करना है।[1] 'चिन्तामणि' मंत्र का एक आन्यत्र प्रसंग- वैष्णव[2] तंत्र से सम्बन्धित पान्चरात्र[3] की दो सौ पन्द्रह संहिताओं[4] (जिसमें तेरह प्रकाशित हो चुकी है, उनमें से) अहिर्बुन्यसंहिता में सहस्रारचक्र के सम्बन्ध में पांचरात्र अनुष्ठान में आया है। यथा –

यथा- एतत्तन्मात्रका चक्रं यत्र सर्व प्रतिष्ठितम् ।
यद्बीजं मृकाक्षाद्यं, तद्बहिः प्रधिमालिरवेत् ।।
ततश्चिन्तामणिं बाह्ये, तद् बहिश्च लिखेत् पराम् ।
परावरां तद्बहिश्च तद्बहिः श्रियमालिखेत् ।।[5]

प्रपंचसारतंत्र[6] में भी चिन्तामणि मंत्र का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके अधिष्ठातृ देव अर्धनारीश्वर भगवान शिव हैं किन्तु वास्तव में यह एक वशीकरण मंत्र है, एवं इसका सरस्वती तथा कवित्तव शक्ति

---

1. लक्षजापेन महाकविर्भवति श्रुतिधरो वाग्मी च, वज्रवार्णी च लभते। महाधनो दीर्घायु सर्वशास्त्रविशारदो गरुणेश्वर इव त्रिभुवनं निर्विषं करोति । शीघ्रं च बोधिमभिसम्भोत्स्यते नास्ति अत्र सन्देहः । वही, पृष्ठ 270
2. वैष्णव तंत्र जो कि वर्तमान में वैष्णवागमो का प्रतिनिधि माना जाता है - वर्णन द्रष्टव्य है, भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ० 449.........458
3. पान्चरात्र का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है । यथा-
   - एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि । ईश्वरसंहिता 1/43
   - वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्। तदर्थकं पांचरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम् ।। श्रोप्रश्नसंहिता
   - ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि वाको वाक्यमेकायनम् ।। छा. ड0 7/1/2
   - पांचरात्रश्रुति - पंचरात्रश्रुतावपि यद्वत् सोपानेन प्रासादयावहेत्।
     प्लवने वा नदीं तरेत्, तद्वत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्तव्यः। स्पन्दकारिका, पृ० 2
   - पांचरात्रोपनिषत् च - ज्ञाता च ज्ञेयञ्च वक्ता च भोक्ता च भोज्यच। वहीं पृ० 40
   - रामानुज ने महाभारत तथा पुराण के अनेक प्रमाण वाक्यों को उद्धृत कर पांचरात्रागम को वेदों के समान ही प्रमाण भूत माना है । यथा –
     साख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
     आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।। श्री भाष्य 2/2/42
   - रामानुज के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने "पांचरात्र रक्षा" ग्रन्थ में एवं भट्टारक वेदोत्तम ने 'तंत्रशुद्ध' ग्रन्थ में मीमांसा पद्धति से विचार करते हुए पांचरात्र को वेदसम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है ।
   - पांचरात्र का ही दूसरा नाम भागवत धर्म और सात्तवतधर्म था । पाराशर की सम्मति में सात्तवत भागवत का पर्यायवाची है । यथा- सातयति सुखयति आश्रितानिति सात् परमात्मा । स एषामस्तीति वां सात्तवताः सात्वन्तो वा महाभागवताः। (पराशरभट्ट- विष्णुसहस्रनामभाष्य- वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण, पृ० 465)
   - शतपथ ब्राह्मण (13/6/1) में पांचरात्र सत्र' का वर्णन मिलता है जिसे नारायण ने समस्त प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए पांच दिनों तक किया था ।
   - 'पांचरात्र' शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलती है । यथा- महाभारत के अनुसार चारो वेद तथा सांख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा पांचरात्र थी । ईश्वरसंहिता (अध्याय 21) में वर्णन मिलता है कि शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को पाँच रातों में उपदेश दिया गया था, तथा पद्मसंहिता (ज्ञानपद अध्याय-1) का कथन है कि इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गये थे, अतः पांचरात्र नामकरण हुआ । नारद पांचरात्र के अनुसार इस नामकरण का कारण विवेच्य विषयों की संख्या है। रात्र का अर्थ होता है ज्ञान (रात्रंच ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविधं स्मृतम् नारद पांचरात्र 1/40/53), परमतत्तव, मुक्ति भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) -पंच विषयों का निरुपण करने से इस तंत्र का नाम "पांचरात्र" पड़ा है । नारद पांचरात्र 1/45/53, तथा अहिर्बुध्न्संहिता-11/64
   - पांचरात्र संहिताओं के विषय चार हैं-स्नान, योग, क्रिया, एवं चर्या- द्रष्टव्य भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय,पृ० 452
4. द्रष्टव्य प्दजतवकनबजपवद to the Pancharatra- Dr. Odar, P. 6&12
5. अहिर्बुन्यसंहिता 23/96,97, अड्यार पुस्तकालय, अड्यार, मद्रास
6. द्रष्टव्य, प्रपंचसारतंत्र, अध्याय-28

आदि से कोई नहीं है। ईशानशिवगुरुदेव पद्धति (शैव ग्रंथ) में भी एक दूसरे 'चिन्तामणि मंत्र' का विवरण मिलता है जिसके अधिष्ठात्र देव महारुद्र है।[1] मंत्रचिन्तामणि' नाम से एक वैष्णव सिद्धान्त भी है, जो कि कृष्ण की अलौकिक पूजा से सम्बन्धित है, का वर्णन भी पद्मपुराण में मिलता है।[2] साथ ही भास्कराचार्य ने भी ललितसहस्रनाम की व्याख्या में भी चिन्तामणि (मंत्र जो विवाहादि से सम्बन्धित है) का नामोल्लेख किया है।[3]

दमयन्ती को मंत्रसिद्ध विद्या रूपा बताते हुए[4] श्री हर्ष ने काशी नरेश के वर्णन प्रसंग में तारक मंत्र[5] का भी निर्देश किया है, जिसमें दमयन्ती को काशीनरेश को वरण हेतु सरस्वती कहती है कि वाराणसी में शरीर त्याग करने पर शिवजी प्राणी को श्रेष्ठ तारक मंत्र का उपदेश देते है, जिससे वह प्राणी उनकी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् शिवरूप हो जाता है। मुक्ति के सायुज्य समीप्य, सालोक्य आदि अनेक भेद शास्त्रों में वर्णित हैं। मंत्रों की प्रासंगिकता नैषधकार द्वारा सत्रहवें सर्ग में वर्णित वेद पाठियों के वर्णन[6], पितृ तर्पण[7] वर्णन गायत्री उच्चारण[8] (आवाहन), अग्निषोम यज्ञ विवरण,[9] पुरोडास यज्ञ वर्णन,[10] इन्द्रयाग,[11] सन्ध्या वर्णन,[12] सर्वमेधयज्ञ,[13] राजसूययज्ञ,[14] वामदेव्योपासन,[15] अग्निष्टोम, पौर्णमास एवं सोमयज्ञ,[16] सर्वस्वार नामक वैदिक यज्ञ,[17] महाव्रत यज्ञ,[18] अश्वमेधयज्ञ,[19] दुर्गा उपासना,[20] तथा नल द्वारा देवार्चना प्रसंग विवरण,[21] एवं नल दमयन्ती परिणय[22] में देखी जा सकती है। उपर्युक्त सन्दर्भो से हर्ष की तंत्रमंत्रशास्त्र सम्बन्धी रुचि एवं बारहवीं शताब्दी में इस शास्त्र की प्रसंगिकता की पुष्टि होती है। संभव है कि कालान्तर में शैक्षिक एवं वैज्ञानिक उन्नति के कारण इस शास्त्र की प्रासंगिकता एवं

---

1. बीजं चिन्तामणिर्नाम महारुद्रऽस्य देवता ।
   ऋषिस्तुम्बरुसंज्ञोस्यच्छन्दो गायत्र मेव हि ॥ 92 त्रिवेन्द्रम प्रकाशन, भाग-2, मंत्रपाद, पाशुपताद्याधिकार, पृ० 179
2. पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय-50
3. ललितस्रनाम, 87वॉ श्लोक
4. दिगन्तरेभ्यः पृथिवीयतीनामा कर्षकौतूहल सिद्ध विद्याम ।
   ततः क्षितीशः स निजां तनूजां गध्येमहाराजक माजुहाव ॥ नै० 10/92
5. सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्रयाः ।
   भूताभिधानपटुमद्यतेनीमवाप्य् भीभोद्भवे ! भवति, भावमिवास्तिधातुः ॥ नै० 11/117
6. नै० 17/163, 164, 165, 187,
7. नै० 17/169,
8. नै० 17/174
9. नै० 17/177
10. नै० 17/181
11. नै० 17/182
12. नै० 17/183-191
13. नै० 17/186
14. नै० 17/189
15. नै० 17/194
16. नै० 17/196
17. नै० 17/202,
18. नै० 17/203
19. नै० 17/204
20. नै० 14/37,
21. नै० 21वां सर्ग
22. नै० -16वां सर्ग

समीचीनता में कमी तो आ सकती है किन्तु इसका आत्यन्तिक अभाव नहीं हो सकता। इस शास्त्र का विस्तृत विवरण अग्निपुराण, वृहत्संहिता एवं वृहन्नारदीय पुराण आदि ग्रंथों में देखा जा सकता है।

आयुधशास्त्र

नैषधमहाकाव्य में आयुधशास्त्र से सम्बन्धित तथ्यों का संकेत भी श्री हर्ष ने राजाओं के वर्णन प्रसंग[1] एवं नल की पराक्रम वर्णन में[2] किया है, जहाँ राजाओं के साथ-साथ नल की आयुधशास्त्र के मर्मज्ञता के दर्शन होते हैं। आयुधों को हम दो प्रमुख भागों में बाँट सकते हैं प्रथम-हाथ से पकड़कर प्रहार करने वाले आयुध, जिन्हें शस्त्र कहते हैं, द्वितीय हाथ से फेंककर प्रहार किये जाने वाले आयुद्ध जिन्हें 'अस्त्र' कहा जाता है। नल आयुधों के इन दोनों प्रकारों के ज्ञाता थे, इनकी पुष्टि श्री हर्षके इस कथन से भी प्राप्त होती है कि नल की दिन चर्या[3] में विद्या सीखने वाले अन्य राजकुमारों को अस्त्र शस्त्र की जानकारी देने के साथ अभ्यास कराना (खुरली)[4] भी शामिल था और यह तो जाहिर सी बात है अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास एवं उनकी शिक्षा वही व्यक्ति दे सकता है, जिसे उनमें महारत हासिल हो। अग्नि पुराण में विभिन्न आयुधों का वर्णन त्रैलोक्यविजयविद्यावर्णनम्[5]

---

1. द्रष्टव्य, नैषधीयचरितम् के ग्यारहवें, बारहवें, एवं तेरहवें सर्ग
2. यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममंञ्जिः ।
   तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधातिपङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ नै० 1/8
   – स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्धनाशुग प्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य संङ्गरे ।
   निजस्य तेजः शिखिनः परश्शता वितेनुरिंगालमिवायशः परे ॥ नै० 1/9, एवं 10/11
   – सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
   दिगङ्गानागांवरणं रणांगणे यशः पटं तद्भटचातुरी तुरी ॥ नै० 1/12 एवं 13, 14, 19
3. तान सौ कुशलसूनृतसे कैस्तर्पितानथ पितेव विसृज्य ।
   अस्त्रशस्त्रखुरलीषु विनिन्ये शैष्यकोपनमितानमितौजाः ॥ नै० 21/5
   – मर्त्यदुष्प्रचरमस्त्रविचारं चारुशिष्यजनताम नुशिष्य ।
   स्वेदबिन्दुकितगोधिरधीरं सं श्वसन्नभवदाप्लवनेच्छुः ॥ नै० 21/6
4. 'खुरली' शब्द का अनेक अर्थो में विवरण मिलता है - यथा - विद्याधर प्रतापर्दण्ड का उद्धरण देते हुए श्रमस्थान, व्यायामशाला या मल्लशाला करते हैं "खुरली श्रमस्थानम्। श्रमस्थानं खुरलिका खुरली च। भास्कराचार्य खुरलिका को नित्याषोडशिकार्णव (8/128) में खलूरिका या खलूलिका नाम देते हैं। प्रतापरुद्रयशोभूषण (पृ083) में खुरलिविहरत्कार्तिकेय.....द्वारा खुरली का अर्थ व्यायामशाला या आखाड़ा **(Gymnasium)** मानते हैं तथा रत्नापण **(Ratnapana)** टीका में वर्णन मिलता है "खुरलिर्मल्लादिसाधनशाला" जब कि रत्नासन **(Ratnasana)** टीका में 'भाषान्तरे सा मुगरली' रूप में विवरण प्राप्त होता है । अनर्घराघव (4/24) में 'खुरली' को आयुध अभ्यास (**Practice of Arms)** नाम दिया गया है (खुरली कलहे कुमारमप्याक्षिपन्) जब कि रुचिपति ने तारावली में कहा है "अभ्यासः खुरली योग्या,"महावीरचरित में भी आया है "अस्त्रप्रयोग खुरली कलहे गजानां, (2/34) इसमें वीरराघव की टिप्पणी है" खुरली लक्ष्य बन्धनम् इति केशवः। बालरामायण के चौथे अंक में वर्णन मिलता है "कथं खुरलीखेलनप्रसरत्पृषत्कपंक्तीनां विनयनान्तेवासिनां चेतसि विरचितं पदं परस्परस्पर्धया । अमरचन्द्र के बाल भारत के आदि पर्व (11/52) में "प्रत्युषयामखुरलीक्षणनर्तितास्त्रौ "वर्णित मिलता है एवं यशस्तिलक (3/468) में "शस्त्रप्रपंच खुरलीं खलुः करोतु" रूप में खुरली शब्द की व्याख्या का निरुपण मिलता है। अभिनन्द ने अपने रामचरित (17/50) में खुरली का प्रयोग व्यायामशाला के अर्थ में किया है यथा "धारास्त्रयोग्यापिशुनानि रक्षोवीरार्भकाणां खुरलीखलानि"।' वस्तुपाल के नरनारायणानन्द (10/47) से इसकी तुलना की जा सकती है यथा "कायस्थ लीलाखुरली गृहाभः। विल्हण ने अपनी कर्णसुन्दरी (2/6) में खुरली का प्रयोग लक्ष्य **(Target)** अर्थ में किया है यथा-'सापि स्वैरं विशिखखुरली कल्पिता मन्मथेन । स्वयं नैषधकार एवं उनके प्राचीन टीकाकार विद्याधर एवं चाण्डूपण्डित तथा नारायण भी खुरली शब्द के अनेक अर्थ करते हैं– यथा नैषध (12/100) अश्वैरस्वैरवेगैः कृतखुरलीमंक्षुविक्षुद्यमानः में नारायण की टिप्पणी है "खुरली अभ्यास भूमिः, एवं चाण्डूपण्डित का कथन है खुराणां खुरली उल्लेखनम् जबकि मल्लिनाथ की टिप्पणी है "खुरखुरलीभिः खुरसंचारैः" एवं नै० 21/5 की टिप्पणी में मल्लिनाथ का कथन है खुरलीषु भ्रमणविशेषु अस्त्रशस्त्राणां खुरलीषु प्रयोग संहार विषयेषु इति ।" तथा नारायण की टिप्पणी है" "शस्त्राणि बाणादीनि तेषां खुरलीषु हस्तसंचारणादि संस्थानचातुरीविशेषेषु विनिन्ये, तद्विषयकौशलशिक्षयदित्यर्थः ।" परन्तु उपर्युक्त अर्थ में 'खुरली' शब्द का अर्थ" व्यायामशाला ही माना जाना उचित होगा एवं समीचीन भी ।
5. 134 वां अध्याय

संग्रामविजयविद्यावर्णनम्,[1] रणदीक्षाकधनम्,[2] धनुर्वेदवर्णनम्,[3] आदि अध्यायों में वर्णित हैं, एवं नैषध में प्रतिपादित आयुधशास्त्रीय सन्दर्भो की मीमांसा से यह प्रतीत होता है कि नैषकार इस ग्रंथ एवं इसके ग्रन्थकार (व्यास मुनि) दोनों से प्रभावित थे। तत्कालीन समय में राजकुमार शस्त्र एवं शास्त्र दोनों में पारंगत होते थे, इस तथ्य का विवरण श्री हर्ष ने दमयन्ती स्वयंवर में आने वाले राजकुमारों के वर्णन प्रसंग में दिया है। यथा-

रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषुच दृष्टपाराः ।
स्वयंवरं शंवरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजा ॥[4]

शस्त्रायुधों के अन्तर्गत नैषधकार ने कृपाण या तलवार का उल्लेख किया। वह कहते है कि नल के यौद्धाओं की चतुरता से संग्राम में तलवारों के प्रहार से शत्रु मरते थे, तो नल का वश दिगन्त तक फैलता था।[5] मिथिलानरेश तो तलवार बाजी में अत्यन्त निपुण थे[6] एवं उनकी तलवार तीस अंगुल से अधिक लम्बी थी।[7] साथ ही श्रीहर्षकामरुपदेशाधिपति[8] की तलवार की प्रशंसा करते हुए कीकट नरेश की तलवार को काली नागिन की उपाधि दी[9] जो कि म्यान से तत्काल निकालने पर चमकती थी। तलवारों को म्यान में रखा जाता था एवं वह म्यान चमड़े से बनती थी।[10] उत्तम लोहे से बनी तेज धार होने के कारण ही तलवारे चमकती है[11] एवं जंग इत्यादि से बचाने के लिए, तेज धार बनाये रखने तथा खुले रूप में रखने से अंगों को क्षति पहुँचना संभव होने से, तलवारों को म्यान में रखा जाता था। इससे यह तथ्य भी ध्वनित होता है कि श्री हर्ष ने तलवार के रख रखाव की तरफ भी यहाँ मानवबुद्धि को प्रेरित करने का प्रयास किया है। महाराज भीम द्वारा नल को भेंट में दी जाने वाली खड्ग को नैषधकार ने "महिषासुरसंघातिनी" नाम दिया। यथा-

असिं भवान्या क्षतकासरासुरं वराय भीमः स्म ददाति भासुरम् ।
ददे हि तस्मै धवनामधारिणे स शंभुसंभोगनिमग्नयानया ॥
अधारि यः प्राङ्महिषासुरद्विषा कृपाणभस्मै तमदत्त कूकुदः ।
अहायि तस्या हि धवार्धमज्जिना स दक्षिणार्धेन पराङ्गधारणाः ॥
उवाह यः सान्द्रतरांगकाननः स्वशौर्यसूर्योदयपर्वतव्रतम् ।
सनिर्झरः शाणनधौतधारया समूढसन्ध्यः क्षतशत्रुजासृजा ॥[12]

---

1. 135 वां अध्याय
2. 236 वां अध्याय
3. 249, 250, 251, 252 वां अध्याय
4. नै० 10/1
5. नै० 1/12
6. निस्त्रिंशत्रुटितारिवारण घटाकुम्भास्थिकूटावट स्थानस्थायुकमौक्तिकोत्करकिरः कैरस्य नापं करः ।
   उन्नीतश्चतुरंगसैन्यसमरत्वंगत्तरंगक्षुर- क्षुण्णासु क्षितिषु क्षिपन्निव यशः क्षौणीज बीजव्रजम् ॥ नै० 12/65
7. निर्गतः त्रिंशतोडंगुलिभ्यः इति त्रिंशदंगुल्यधिकः खड्गः इत्यर्थ,
   डच् प्रकरणे 'सङ्ख्यायास्तत्पुरुषस्य इति डच् प्रत्ययः । नै० 12/66
8. नै० 12/73
9. अस्यासिभुजगः स्वकोश विवराकृष्टः स्फुरत्कृष्णिमा ।
   कम्पोन्मीलदराललीलबलनस्तेषां भिये भूभुजाम् ॥ नै० 12/96 पूर्वार्द्ध
10. स्वकोशात् चर्ममयन्निजपिधानादेव विवात् बिलात्
    आकृष्टः उद्धृतः स्फुरत्कृष्णिमा व्यक्तकृष्णवर्णः इति । नै० 12/96 मल्लिनाथ
11. तथा- स्फुरन्प्रकाशमानः उत्तम लोहजाति विशेषत्वारुकृष्णिमा श्यामत्वं यस्य ।
12. नै० 16/18,19,20

उपर्युक्त कथन ''सान्द्रतरांगकाननः'' के माध्यम से श्री हर्ष ने तलवार की सम्पूर्ण आकृति का निरूपण किया है कि वह तलवार अपने प्रताप रूपी सूर्य का उदयाचल स्वरुप था। खड्ग में अत्यन्त घने चित्र खिंचे हुए थे, शाण पर चढ़ने से उसकी धार उज्जवल (तेज) हो गयी थी आदि। इससे यह प्रतीत होता है कि तलवार को सुन्दर बनाने हेतु उसमें चित्रकारी भी की जाती थी एवं तेज धार के लिए उसे शाण पर चढ़ाया जाता था। नारायण कहते हैं– सूक्ष्माण्यंगानि अंगकानि मुद्‌गपत्रीवल्लीरुपाणि तेषामननं जीवनं यत्र। तदाधार इति यावत्। सान्द्रतराणां पूर्वोक्तानामेवांगानां काननं समूहो यत्र। जिनराज का भी यही मन्तव्य है, जब कि विद्याधर कहते हैं ''सान्द्रतरमर्तिगहनमंगानां पुष्कराणां काननमिव यत्र। तलवार के साथ-साथ श्रीहर्ष ने आत्मरक्षार्थ पहनने वाले कवच (अरित्र) का वर्णन कामरुपदेशाधिपति के वर्णन प्रसंग में किया है।[1] नारायण कहते हैं ''अरिभ्यस्त्रायत, इत्यरित्रं कवचम्।

कटार भी शस्त्र के अन्तर्गत परिगणित है। कलिंगाधिपति के वर्णन प्रसंग में श्री हर्ष ने इसका उल्लेख करते हुए अभिहित किया कि युद्ध से परांगमुख अपने शूरवीर के मस्तक को भी यह नरेश अपने कटार से अलग कर देता है[2] एवं इसके प्रहार में ठन् शब्द की निष्पत्ति होती है।[3] यह लोहे से बनी होती है।[4]

खोखरी या खुखरी (छूरी) का वर्णन भी नैषध महाकाव्य में प्राप्त है। राजा भीम ने भेंट रूप में एक खुखरी राजा नल को प्रदान की थी[5] जो द्विधारिका थी।[6] इससे स्पष्ट होता है कि इस शस्त्र विशेष में दो तरफ धार होती है, एवं आज भी इसका प्रचलन सैनिको ;डपसपजंतपमेद्ध द्वारा अपनाये जाने में देखा जा सकता है। शस्त्र के अन्तर्गत नैषधकार द्वारा वर्णित इन्द्र के वज्र[7] को भी रखा जा सकता है, जिसके अधिकारी स्वयं इन्द्र ही थे, अन्य दूसरों के पास इस शस्त्र के मिलने की जानकारी अनुपलब्ध है। नल द्वारा विष्णु वन्दना के प्रसंग में दैत्यराज हिरण्यकश्यप का वध नंखाकुश[8] (पाणिशृणिपंचक) लौह अंकुश का उल्लेख भी नैषधकार ने किया है। वरुणदेव के पाश[9] का विवरण भी नैषध महाकाव्य में श्री हर्ष ने सुमधुर

---

1. अकर्णधाराशुगसंमृतांगतां गतैररित्रेण विनास्य वैरिभिः ।
   विधाय यावत्तरणेर्भिदामहो निमज्ज्य तीर्णः समरे भवार्णवः ।। नै० 12/71
2. यिद्राणे रणचत्वरादरिगणे त्रस्ते समस्ते पुनः कोपात्कोऽपि निवर्त्तते यदि भटः कीर्त्या जगत्युद्‌भटः ।
   आगच्छन्नपि सम्मुखं विमुखतामेवाधिगच्छत्यसौ द्रागेतच्छुरिकारयेण ठणिति च्छिन्नापसर्पच्छिराः ।। नै० 12/30
3. एतस्य छुरिकायाः शस्त्रविशेषस्य रयेण ठणिति कश्चिदनुकरणशब्दः।
4. ठण् इति लोहकण्ठास्थिसंघट्‌टज शब्दानुकरणम्। नै० 12/30 नारायण
5. यमेन जिह्वा प्रहितेय या निजा तमात्मजां याचितुमर्थिना भृशम् ।
   स तां ददेऽस्मै परिवार शोभनीं करग्रहार्हामसि पुत्रिका मणि ।। नै० 16/21
   – यदंगभूमि बभतुः स्ययोषितामुरोजपत्रावलिनेत्रकज्जले ।
   रणस्थलस्थण्डिल शशाताव्रतैगृहीतदीक्षैरिव दक्षिणी कृते ।। नै० 16/22
6. चाण्डु पण्डित का कथन है ''अंगस्य भूमि उभयपक्षतः भूमीद्वयम् ।
   जिनराज का अभिमत है अड्गं पट्‌टिका तस्य भूमी ऊर्ध्वाधोदेशौ । विद्याधर का मत है-तस्या छुरिकाया अंगभूमि पुष्करपट्‌टिकाभूमी।
   – मल्लिनाथ कहते हैं ''यस्या असिपुत्रिकायाः अंगभूमी प्रान्तदेशौ रणस्थलमेव स्थण्डिलममनिम्नोक्ता परिष्कता भूः। नारायण का कथन है ''अंगभूमी पट्‌टिकाया ऊर्ध्वाधोदेशौ।। एवं हाण्डिकी की टिप्पणी है कि अंगभूमिः (dual) "means-The blade of a knife or rword, Refers to the upper and lower portions or the two sides of a blade. नै० 16/22
7. नै० 11/124
8. दैत्य भर्तुरुदरान्धुनिविष्टां शक्रसंपदमिवोद्ध रतस्ते । पातुपाणिशृणिपंचकमस्माच्छिन्नरज्जुनिभलग्नतदन्त्रम् ।। नै० 21/60
9. तस्यां मनोबन्धविमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिव प्रचेताः ।
   पाशं उधानं कर बद्धवासं विभुर्बभावाप्यमवाप्य देहम् ।। नै० 14/64
   नलभीमभुवोः प्रेम्णि विस्मितायां दधौ दिवः । पाशिपाशः शिरः कम्पस्रस्तभूषश्रवः श्रियम् ।। नै० 17/10
   बभाण वरुणः क्रोधादरुणः करुणोज्झितम् । किं न प्रचण्डात्पाखण्डपाश ! पाशादिबभेषि नः।। नै० 17/102, एवं 14/31

काव्यसंचेतना के माध्यम से दिया है, जिसका साम्य वर्तमान में वन्दियों को पहनायी जाने वाली 'हथकड़ी' से स्थापित किया जा सकता है। परशुराम के फरसे (अर्द्धचन्द्राकार) का वर्णन भी नल की पूजा वर्णन प्रसंग में उपलब्ध होता है[1] एवं मुद्‌गर,[2] तथा लाठी,[3] का निर्देश भी इस महनीय ग्रंथ में प्राप्त होता है। जिसमें मुगदर की प्रासङ्गिकता वर्तमान में केवल व्यायाम तक सीमित रह गयी है तथा लाठी एवं फरसे की प्रांसङ्गिकता और समीचीनता की पुष्टि आज भी शस्त्र के रूप में ग्रामीण परिवेश में देखी जा सकती है।

अस्त्रायुधों के अन्तर्गत मनुष्यों द्वारा अपनाये जाने वाले अस्त्रों के साथ-साथ श्री हर्ष ने देवो के अस्त्रों का उल्लेख भी किया है जिसमें भगवान विष्णु के शंख (पाञ्चजन्य) एवं चक्र[4] तथा अग्नि के अग्निदण्ड[5] और यमराज के दण्ड[6] एवं उनके उत्क्रान्तिका नामक शस्त्र (शक्ति विशेष) साथ ही गदा का विवरण नैषधीयचरितम् में उपलब्ध होता है। 'चक्र' की अस्त्रायुध रूप में विश्रुति है एवं भगवान विष्णु के शंख के बारे में जनश्रुति है कि यह वामार्त होता है[7] एवं इसकी ध्वनि से शत्रु बधिर एवं अचेतन हो जाते हैं। वर्तमान में उपलब्ध अधिकांश शंख दक्षिणार्त' मिलते हैं, वामार्त शंख कम ही प्राप्त होते हैं आध्यात्मिक मनुष्य वामार्त शंख को (विष्णु का शंख होने से) अत्यधिक मूल्यवान, पवित्र एवं पूजार्द्ध समझते हैं। मानव जगत में व्यवहरित अस्त्रों में शतघ्नी नामक तोप का वर्णन नैषधकार ने मलयाधिपति के वर्णन प्रसंग में किया है, जहाँ वह कहते हैं कि इस अस्त्र विशेष को धारण करने वाले महिपाल का सौ सशस्त्र राजा भी मुकाबला नहीं कर सकते, एवं लक्ष्यभेदी (पक्षान्तर में लाख व्यक्तियों को मारने वाले) इस राजा के लिए एक लाख शत्रु भी व्यर्थ हैं। यथा -

राज्ञामस्य शतेन किं कयतो हेतिं शतघ्नी कृतं
लक्षैर्लक्षभिदो दृशैव जयतः पद्‌मानि पद्‌मैरलम्।
कर्तुं सर्वपरच्छिदः किमपि नो शक्यं परार्धेन श
तत्संख्यापगमं विनास्ति न गतिः काचिद्वतैद्‌द्विषाम्।।[8]

बारहवीं शताब्दी में वर्णित इस तोप एवं मदनके आग्नेयास्त्र[9] का साम्य वर्तमान में उपलब्ध, अर्जुन विक्रांत, या सामान्य अर्थ में लाइट मशीनगन से स्थापित किया जा सकता है एवं लक्ष्यभेदी अस्त्र के रूप

---

1. अर्द्धचक्रनपुषाऽर्जुन बाहू योऽलुनात् परशुनाऽथ सहस्रम् ।
   तेन किं सकलचक्रविलूने बाणबाहुनिचयेऽञ्चति चित्रम्? नै० 21/97
2. नै० 17/179
3. नै० 17/ 187
4. पांचजन्यमधिगत्य करेणापान्यजन्यमसुरानिति वक्षि ।
   चेतनाः स्थ किल पश्यत किं नाचेतनोऽपि मयि मुक्त विरोधः।। नै० 21/98
5. दण्डताण्डयनैः कुर्वन्स्फुलिंगानलिगितं नमः ।
   निर्ममेऽप गिराभूर्मीभिन्न मर्मेव धर्मराट् ।। नै० 17/95
   तिष्ठ भोस्तिष्ठ कण्ठोष्ठं कुण्ठयामि हठादयम् ।
   अपष्ठु पठतः पाठ्‌यमधिगोष्ठि शठस्य ते ।। नै० 17/96
6. दण्डं बिभर्त्तयमहो ! जगतस्ततः स्यात् कम्पाकुलस्य सकलस्य न पङ्‌पातः
   स्ववैद्ययोरपि मदव्ययदायिनीमिरेत रुग्भिरमरः खलु कश्चिदस्तिर ।। नै० 13/15
   यस्य दण्डभयात सर्वे भूतग्रामाः समागताः। धर्ममेवानुरुध्यन्ति का तं न वरयेत् पतिम्।। महा. 3/56/10
7. पाञ्चजन्यमिति! हे विष्णो! करेण पाणिना, वामहस्तेनेति यावत्। पाञ्चजन्यं तदाख्यशङ्‌खम्।...... शङ्‌खेः लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यः इत्यमरः। दक्षिणेन च करेण अपाञ्च जलानाञ्च, जन्यम् उत्पाद्यम् जलजं पद्‌ममित्यर्थः। नै० 21/98 मल्लि0
8. नै० 12/58
9. शशिमयं दहनाशास्त्रमुदिस्वरं मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी ।
   झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे ।। नै० 4/38

में आधुनिक प्रक्षेपास्त्रों पृथ्वी, अग्नि, नाग, एवं त्रिशूल से मलयाधिपति के इस अस्त्र की साम्यता परिलक्षित होती है। अवधेय है कि उपर्युक्त सभी अस्त्र संघारकारक है। एवं श्री रामा ने भी राम द्वारा नल को वरदान देते समय यह अभिहित किया कि "सम्पूर्ण शस्त्रसंहार तथा विक्षेपादि के अंगो (मंत्रादि प्रयोगो) के साथ शत्रुओं पर सर्वदा विजय पाने वाले तुम्हें (नल को) प्राप्त होंवे" क्योंकि वीरता के लिए कृतसंकल्प (योद्धाओं) को इस (समन्त्रक संहार-विक्षेप के सहित अप्रयास प्राप्त शास्त्रों) से अधिक प्राप्त करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि नल सम्पूर्ण संघारक शस्त्रों के जानकार थे। श्री हर्ष द्वारा वर्णित वारुणास्त्र[2] का साम्य वर्तमान में प्रचलित (पुलिस द्वारा दंगानियंत्रण हेतु अपनाये जाने वाले) अश्रुगैस से स्थापित किया जा सकता है, लेकिन वायव्यास्त्र, भुजशास्त्र[3] एवं मदन के कुसुमास्त्र[4] की आज समीचीनता नहीं रह गयी है।

अस्त्रायुधों के अन्तर्गत धनुषवाण[5] का अप्रतिम महत्व है । नैषधकार ने इस अस्त्र विशेष को नैषध में सर्वाधिक महत्व दिया है। इस अस्त्र की बनावट एव उसमें प्रयुक्त बांस की परीक्षा का भी संकेत नैषध मे मिलता है, जिससे यह तथ्य प्रकट होता है, जिस बांस का धनुष बनाया जाता है उस पर 'सिन्दूर' की रेखा खींची जाती है, एवं यदि उस बांस के पीठ या उर्ध्व भाग पर स्पष्ट रेखांकन हो जाता है, तभी वह बांस धनुष बनाने हेतु श्रेष्ठ समझा जाता है।[6] इस अस्त्र से साहित्यिक वर्णन नैषध में इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है कि लगता है कि श्री हर्ष धनुर्वेद[7] की रचना करना चाह रहे थे। धनुष में प्रयुक्त बांस, डोरी, बाण एवं लक्ष्य का चित्रण हंस द्वारा वर्णित दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में प्राप्त होता है जहाँ हंस दमयन्ती से कहता है कि कामदेव पुरुषों के बाणों से दुर्जेय (दुःख से जीते जाने योग्य, इस राजा (नल को) को जीतने के लिए दोषरहित वंश में उत्पन्न (पक्षान्तर में छिद्र रहित बांस से बनी हुई) तथा अधिक गुण वाली (पक्षान्तर में डोरी चढ़ी हुई) तुमको, धनुर्लता पाकर हर्षित हो रहा है, जो धनुर्लता (तुम्हारी) पीठ पर कुछ लटकती हुईसी कण्ठभूषण के लाल पट्टसूत्रलता से सिन्दूर की शोभा वाली अर्थात् बांस की परीक्षा के लिए सिन्दूर रगड़ने से उत्पन्न लाल रेखा से युक्त होने के समान सुशोभित हो रही है।[8]

धनुष के एक दूसरे प्रकार, जिस पर मिट्टी की गोली फेकने के लिए छिद्र बना रहता है । वर्तमान में जिसका साम्य 'गुल्ला' (गुलिका, चिड़ियों को मारने या भगाने में प्रयुक्त) का वर्णन करते हुए

---

1. सर्वाणि शस्त्राणि तवांगचक्रैराविर्भवन्तु त्वयि शत्रुजेत्रै ।
अवाप्यमस्मादधिकं न किञ्चिज्जगर्ति वीरव्रतदीक्षितानाम् ॥ नै० 14/80
2. अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदं धुतनुरस्त्रमुदस्तमवेक्ष्य सा ।
उचित मायतनिः श्वसितच्छलाच्छवसन शस्त्रमुञ्चदमुं प्रति ॥ नै० 4/39
3. रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतिगती सुदती मलयानिले ।
तदुरुतापभयात्तमृणा लेकामयानियं भुजगाग्नमिवादित् ॥ नै० 4/40
4. आत्तया युद्धि विजित्य रतीशं राजितः कुसुमकाहलयेव ॥ नै० 21/34 उत्तरार्द्ध
5. नैषध में धनुषबाण विषयक वर्णन द्रष्टव्य है।
6. नै० में धनुष बाण विषयक वर्णन द्रष्टव्य हैं 1/9, 3/38, 39, 4/87, 8/105, 12/34, 40, 44, 48, 49, 54, 71, 83, 97, 98, 109, 13/23 किं भूतां धनुर्वल्लीम्? निवसता विद्यमानेन सिन्दूरेण सौन्दर्यं लोहितिमा यस्यां तया पृष्ठे धनुः पृष्ठभागे, अथ च पश्चाद्भागे कियल्लम्बया कियद्दीर्घया ग्रीवा मध्यं कण्ठश्च तथा अलंकृतिलंकारभूता पट्टसूत्रलता तया, दीर्घेण पट्टसूत्रेणेत्यर्थः। भ्राजिष्णुं शोभमानाम्। कयेव? कषरेखयेव परीक्षारेखयेव। कषणधारया धनुर्योग्यवेणुपरीक्षायां निघृष्यमाणं सिन्दूरं चलति चेत्तदा परिपाको ज्ञेय इति धानुष्कप्रसिद्धि नै० 3/126, नारायण टीका
7. ऊर्ध्वस्ते रदनच्छदः स्मरधनुर्बन्धूकमालामयं, मौर्वी तत्र तवाधराधरतटाधः सीमलेखालता ।
एषा बागपि तावकी ननु धनुर्वेदः प्रिये! मान्मथः, सोऽयं कोणधनुष्मतीभिरुचितं वीणाभिरभ्यस्यते ॥ नै० 21/157
8. कामः कौसुमचापदुर्जयममुंजेतु नृपं त्वां धनुर्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ ।
ग्रीवालंकृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥ नै० 3/126

श्री हर्ष हंसमुखेन कहते हैं कि हे दमयन्ति! तुम समर्थ कामदेव के, (तुम्हारे) कटीन लड़ी वाले हार[1] विशेष के मोतियों को (मिट्टी की बनी हुई) गोलियाँ समझो। इस राजश्रेष्ठ नल (पक्षान्तर में राजहंस पक्षी) को बेध्य (मारने योग्य शिकार) समझो तथा अपने को वह मनोहर धनुर्लता समझो, जो शोभमान नाभिरुप बिल (गोलियों को फेंकने के लिए धनुष में बना हुआ छिद्र) वाली रोमांकित, जिस (धनुर्लता) के मध्य में सर्वदा रहने से अतिशय लालित (नचायी गयी) डोरी से सेवित (अनुभूत) होते हुए सम्पूर्ण विलास को प्राप्त करती है।[2] हंस के कहने का तात्पर्य यह था कि तुम्हारा रूप शीघ्र ही नल को जीत लेगा। इस रूप में यहाँ श्रीहर्ष ने बाण लक्ष्य साधने वाली स्थिति का चित्रांकन करना चाहा है।

बाण चलाते समय धनुष के मध्य में हाथ रखने का स्थान होता है, इस तथ्य का संकेत भी नैषधकार ने दमयन्ती के भौंह वर्णन में करते हुए अभिहित किया कि आज वह (प्रसिद्ध) कामदेव रज (पुष्पराग या पक्षान्तर में घुनी हुई लकड़ी की धूल) का स्थान, भ्रमररुप की से अर्थात् धुन से सेवित पुष्पमय अर्थात, अतिशय कोमल (अदृढ़) पुराने अपने धनुष को छोड़कर दमयन्ती के भ्रूद्वयरुप बीच में मुट्ठी में पकड़ा गया (अतएव बीच में अदृश्य) चाप का आदर करे।[3] साथ ही श्रीहर्ष ने शरोपाशन वेदिका (वाणविद्या सीखने की वेदी) का भी वर्णन नैषध महाकाव्य में किया है।[4] बाणाभ्यास या शराभ्यास को उपासन[5] शराभ्यासशाला को शरोपासन वेदिका कहते हैं, जिसमें वेध्य लक्ष्य के रूप में खूँटे गड़े रहते है।[6]

विवाह मण्डप में आयी दमयन्ती के वर्णन में नैषधकार कहते हैं कि नल को वरमाला पहनाती हुई रोमान्चित अंगों वाली दमयन्ती कामदेव की शरोपासन वेदिका सी ही प्रतीत हो रही थी, क्योंकि उस समयावधि में उसका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठा था एवं उसके रमणीय अधर उसे सौन्दर्य प्रदान कर रहे थे। उस समय दमयन्ती इस प्रकार प्रतीत होती थी, मानो कामदेव की बाण विद्या सीखने की वेदी हो, जिसमें उसके पुलकित रोम (रोमावलियाँ) वेध्य लक्ष्य दण्ड के समान सुशोभित हो रहे थे।[7]

अग्निपुराण में वर्णन मिलता है कि धुनर्विद्या में प्रवीण योद्धा सव्यापसव्य (दाहिने और बाये) दोनों हाथों से बाण चलाने में दक्ष होते हैं।[8] एवं उनका लक्ष्य भेदन भी सटीक होता है। इस पुराण में यह भी वर्णन मिलता है कि लक्ष्य भेद का अभ्यास करने के लिये दूर ऊँचे स्थान पर लक्ष्य के रूप में गोल चिन्ह बना दिये जाते हैं, यदि धनुर्धारी का बाण उस लक्ष्य के मध्य से जाता है।[9] श्रीहर्ष ने भी उपर्युक्त तथ्य का

---

1. हारभेदा यष्टिभेदाद् गुच्छगुच्छार्द्धगोस्तनाः । अर्द्धहारो माणवक एकावल्येकयिष्टिका । अमरकोश 2/6/105,106
2. त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुलिकास्तं राजहंस विभोवेर्ध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मंजु-धनुर्मंजरीम् ।
   यन्नित्यांक नियासलालिततमज्याभुज्यमानं लसन्नाभीमध्यबिलाविलासमखिलं रोमालिरालम्बते ।। नै० 3/127
3. रजः पदं षटपदकीटजुष्टं हित्वाऽऽत्मनः पुष्पमयं पुराणम् ।
   अद्यात्मभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्धृतमुष्टि चापम् ।। नै० 10/119
4. स्तम्भस्तथालभितां नलेन भैमीकरस्पर्शमुदः प्रसादः ।
   कन्दर्पलक्ष्यीकरणार्पितस्य स्तम्भस्य दम्भं स धितं यथापत् ।। नै० 14/59
5. शराभ्यासे उपासनम् इत्यमरः ।
6. किं भूता वेदिका ? शरव्यदण्डैर्वेध्यभूतैर्दण्डैः श्रिता मण्डनश्रीर लंकारशोभा मया सा । रोमांकराः शरव्यदण्डस्थानीयाः । नै० 14/54, नारायणी टीका एवं शराम्यासिनो व्याधप्रमुखा निखातलक्ष्ययष्टिकां वेदी कुर्वन्तीति प्रसिद्धि। नै० 14/54, मल्लि. टीका
7. रोमाङ्कुरैर्दन्तुरिताखिलांगी रम्याधरा सा सुतरां विरेजे ।
   शरव्यदण्डैः श्रितमण्डनश्रीः स्मारी शरोपाशनवेदिकेव ।। नै० 14/54
8. कर्त्तव्यं शिक्षकस्तस्य स्थानं कक्षासु वै तदा। वामहस्तेन संगृह्यदक्षिणेनोद्धरेत् ततः ।।
   कुण्डलस्याकृतिं कृत्त्वा भ्राम्यैकं मस्तकोपरि। क्षिपेत् तृणमये तुर्णं पुरुषे चर्मवेष्टिते ।। अग्निपुराण - 251/45
9. मनोलक्ष्यगतं कृत्त्वा मुष्टिना च विधानवत्। दक्षिणे गात्रभागे तु कृत्त्वा वर्णं विमोक्षयेत् ।।
   ललाटपुरसंस्थान दण्डे लक्ष्ये निवेशयेत्। आकृष्य ताड़येत् तत्र चन्द्रकं षोडशांगुलम् ।।
   मुक्त्वा बाणं ततः पश्चातुल्काशिक्षस्तदा तया। निगृहणीयान् मध्यमया ततोऽङ्गुल्या पुनः पुनः ।।
   अक्षिलक्ष्यं क्षिपेत् तुणाच्चतुरश्च दक्षिणम्। चतुरस्रगतं वेध्यमभ्यसेच्चादितः स्थितः ।। अग्निपुराण 250/7-10

संकेत स्वयंवर सभा में आयी दमयन्ती के असाधारण सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए दमयन्ती के कर्णाभूषणों (कर्णकुण्डलों) के प्रति राजाओं के कथन में उद्धृत किया है, कि क्या इस मृगाक्षी के दोनों कर्णाभरण धनुर्धारी कामदेव के लक्ष्यभेदन के लिये दो गोल चिन्ह बनाकर रखे गये हैं? अथवा क्या सव्यापसव्य हाथों से मारे हुए मदन के बाण इन्हीं गोलों के मध्य होकर जाते हैं।[1] स्पष्ट है कि यहाँ लक्ष्य भेद में सिद्धहस्त कामदेव का कुशल धनुर्धारी के रूप में श्रीहर्ष ने वर्णन किया है। तदनन्तर नैषधकार अलक्ष्य का भी संकेत करते हुए अभिहित करते हैं कि वह दमयन्ती नीलकमलों के दो कर्णाभूषण रूप कामदेव की अपकीर्ति फैलाती है, अर्थात दमयन्ती के कानों में कामदेव जैसे धनुर्धारी के होते हुए भी, अभी भी कानों में (लक्ष्य रूप) कुण्डल विद्यमान हैं, यह खेद का विषय है क्योंकि दुष्ट खल इन (दो नील कमलों के कर्णाभूषणों) के द्वारा कान के कुण्डल रूप लक्ष्य को वेध करने वाले उस कामदेव को चूकदायक (विफल लक्ष्य वाला) कहेंगे।[2] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कामदेव द्वारा छोड़े गये नीलकमल रूप दो पुष्पबाण दमयन्ती के कर्णकुण्डलों के बीच से न निकल कर लक्ष्य भ्रष्ट होकर कान पर ही रुक गये हैं, अतएव यह कामदेव लक्ष्यवेध में निपुण नहीं है इससे यह कामदेव की अपकीर्ति (बदनामी, करेंगे। इस प्रकार श्रीहर्ष द्वारा नील कमलों को कामदेव के बाणों का पुष्पमय होने से कामदेव तथा अपकीर्ति के काली होने से उनका अपकीर्ति मानना ठीक ही है।

बाण के प्रकार एवं उसकी बनावट के वर्णन सम्बन्धी विवरण का संकेत भी श्रीहर्ष ने नैषध में किया है। काशीनरेश के बाण को क्षुरप्रशर[3] नाम देते हुए सरस्वती दमयन्ती से कहती हैं कि युद्ध में आये हुए शत्रुओं के शिरोनाल (गर्दन) को काटने वाले 'क्षुरप्र' नामक बाण- विशेष से फैले हुए प्रताप वाला तथा कीर्ति समूह रूप चामर से सुन्दर धनुष वाला (धनुष से प्राप्त कीर्ति वाला) यह राजा तुम्हारा (दमयन्ती का) अलिंगन कर तुम्हारे (अथवा तुम्हारे कारण उत्पन्न अपने) कामसन्ताप को दूर करे।[4] बाण के एक अन्य भेद "नलिका बाण" का संकेत भी हंस द्वारा वर्णित दमयन्ती सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में प्राप्त होता है। यथा -

> धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ ।
> नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ।[5]

इसके साथ-साथ इक्कीसवें सर्ग में भी नल द्वारा दमयन्ती सौन्दर्य वर्णन में[6] नलिका बाण के होने का विवरण नैषध के प्राचीन टीकाकार विद्याधर मानते हैं, वे कहते हैं– नालीकः नलिका बाणः एवं नारायण

---

1. लक्ष्ये धृतं कुण्डलिके सुदत्या ताटङ्कयुग्मं स्मरधान्विने किम्? ।
   सव्यापसव्यं विशिखा विसृष्टास्तेनैतयोर्यान्ति किमन्तरेव? ।। नै० 10/117
2. तनोत्यकीर्तिं कुसुमाशुगस्य सैषा बतेन्दीवरकर्णपूरौ ।
   यतः श्रवः कुण्डलिकापराद्धशरं खलः ख्यापयिता, तमाभ्याम् ।। नै० 10/118
3. हेमचन्द्र ने लौहमुख वाले बाण "क्षुरप्र" की संज्ञा दी है। यथा – क्षुराभं लोहं प्रान्ते क्षुरप्रं धारामुखलोहः - अभिधानचिन्तामणि, 3/44, वामन आप्टे भी यही अर्थ मानते हैं, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० 319 तथा शचिपति ने अपने अनर्घराघव (4/47) की टीका में "क्षुरप्रनखरैः क्रौञ्चाद्रिदन्तावलम्' के उल्लेख के साथ क्षुरप्र की 'खुरप्र' से भी समानता की है। यथा खुरप्र-क्षुर विखण्डने क्षुरच्छेदने इति धात्वोर्वर्णदेशनायां साधितत्वात्। '[illegible]क्षिप्तखुर[illegible]डतः" इत्यत्र, पुरस्तात् "मृगखुरक्षुरप्रव्यालेखस्थपुटितविभागा वनभुवः इत्यत्र च प्रयुक्तात्। प्रो. हाँडिकी कहते हैं "An arrow with a razor like blade at its tip" उपर्युक्त के साथ ही नैषध 12/66 में चाण्डुपण्डित का कथन भी द्रष्टव्य है।
4. पृथ्वीश एष नुदतु त्वदनङ्गतापमालिङ्ग्यकीर्तिचय चामरचारुचापः ।
   सङ्ग्राम संगत विरोधि शिरोधि दण्डखण्डि क्षुरप्रशरसंप्रसरत्प्रतापः।। नै० 11/123
5. नै०, 2/28
6. स्त्रीपुंसौ प्रभविज्य जेतुमखिलावालौचितौचित्ययोर्गां वेद्मि रतिप्रसूनशरयोश्चापद्वयीं तद्भ्रुवौ ।
   त्वन्नासाच्छलनिह्नुतां द्विनालिकी नालीकमुक्त्यर्थिनोस्त्वन्निःश्वासलते मधुश्वसनजं वायव्यमस्त्रं तयोः।। नै० 21/156

का मत है "नालिकानां वितस्तिमात्रनालीकाख्यशरविशेषाणाम्।"[1] वह इसे पतला बाण (Thin arrow) भी मानते हैं।[2] विश्वकोश में भी वर्णन मिलता है कि नालीक एक बाण का नाम था "नालीक शल्ययोः इति विश्वः।" साथ ही नैषधकार ने "वायव्यास्त्रं" जैसा अभिकथन करके वायव्यास्त्र की तरफ भी संकेत किया है। सुर धनुष[3] का वर्णन करने के साथ श्रीहर्ष ने धनुष की टंकार (आवाज) का विवरण देते हुए नल को दक्ष धनुर्धारी[4] बताकर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि वह अस्त्र की इस विधा से भी परिचित थे।

वर्तमान में युद्ध में अपनाये जाने वाले पनडुब्बियों का साम्य श्रीहर्ष द्वारा वर्णित जलयन्त्र से[5] सामान्य अर्थ में किया जा सकता है, साथ ही रथों का[6] साम्य सैनिक ट्रकों या जीपों एवं विमान (पुष्पक)[7] का साम्य आज प्रचलित साधारण वायुयान या जेट फाइटर विमान, जगुआर मिग-15, मिराज-2000 एवं सुखोई से किन्चित् रूपेण स्थापित किया जा सकता है। प्राचीन काल में प्रचलित मल्ल युद्ध के वर्णन को भी श्रीहर्ष ने नैषध महाकाव्य में स्थान दिया है[8] किन्तु आज इसकी समीचीनता नहीं रह गयी है। हाँ, अखाड़ों में कुश्ती के रूप में यह परम्परा आज भी प्रचलित है, लेकिन (वरुण की असंख्य) जल सेना का[9] नैषधकार द्वारा दिया गया संदर्भ आज भी प्रासंगिक है साथ ही नैषधकार द्वारा दी गयी हस्ति सेना[10] एवं अश्व सेना की[11] समीचीनता प्राचीन काल तथा मध्यकाल तक तो थी[12], लेकिन वर्तमान में हाथी सवारी या शोभा यात्राओं तक सीमित है, परन्तु अश्वों (अश्व सेना) का आज भी आंशिक प्रयोग पुलिस द्वारा अपनाये जाने से अश्व सेना की आंशिक समीचीनता एवं प्रासंगिकता व्यावहारिक जीवन में भी देखी जा सकती है।

चिकित्साशास्त्र या आयुर्वेदशास्त्र

श्रीहर्ष ने 'नैषधीयचरितम्' में आयुर्वेदशास्त्र, जिसे ऋग्वेद एवं अथर्व वेद दोनों वेदों का उपवेद[13] भी माना जाता है, के कुछ संदर्भ उपस्थित किये हैं, जो नल की कामपीड़ित अवस्था, दमयन्ती की

---

1. नै० 21/150, नारायणी व्याख्या
2. नालीकौ नलिकाप्रेर्यमाणलघुशरौ तयोर्विमुक्तिकामयोर्नलिके शराधारनलौ न भवतः अपितु नलिके एव। नै० 2/28, नारायणी व्याख्या
3. स्वापराधमलुप्तपयोधरे मत्करः सुरधनुष्करस्तव। सेवया व्यजनचालनाभुवा भूय एव चरणौ करोत वा ॥ नै० 18/129
4. स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टि व्ययितस्य संगरे। निजस्य तेजः शिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे ॥ नै० 1/9
5. नै० 18/114 में नारायण का कथन है– "जलधारासंचारमण्डपपस्तम्भादिरचित जलयंत्रेभ्यः पातुकैर्निर्गमनशीलैरासारैर्धारासंपातै दूरं।
6. नै० 16/23
7. प्रसूतवत्ता नलकूबरान्वयप्रकाशितास्यापि महारथस्य यत्। कुबेरदृष्ट्यान्तबलेन पुष्पकप्रकृष्टतैस्तस्य ततोऽनुमीयते।। नै० 16/24 एवं नै० 10/107, 11/23, 13/11, यादवाभ्युदय, 12/88, जयन्ती विजय 13/77,79 तथा हाण्डिकी कृत नै० द्रष्टव्य पृ. 629
   – करोदधुतं विमानंच पादहाति विपादिकम्। गात्रसंश्लेषणं शान्तं तथागात्रविपर्ययः। अग्निपुराण 252/21
8. या सर्वतोमुखतया व्यवतिष्ठमाना यादोरणैर्जयति नैकविदारिका या। एतस्य भूरितवारिनिधिश्चमूः सा यस्याः प्रतीतिविषयः परतो न रोधः ॥ नै० 13/22
9. नै० 13/22
10. नासीरसीमनि घनध्वनिरस्य भूयान् कुम्भीरवान्समकरः सहदानवारिः। उत्पद्मकाननसखः सुखमातनोति रत्नैरलंकरणभावमितैर्नदीनः ॥ नै० 13/23
11. सस्यैन्दनैः प्रवहणैः प्रतिकूलपातं का वाहिनी न तनुते पुनरस्य नाम? । तस्या विलासवति! कर्कशताश्रिता या ब्रूमः कथं बहुतया सिकता वयं ताः? ॥ नै० 13/24
12. रथे रणे गजे चैव तुरङ्गाणां त्रयं भवेत। धानुष्काणां त्रयं प्रोक्त रक्षार्थे तुरगस्य च ॥ अग्नि. पु. 252/32
13. इस खलु आयुर्वेदं नानोपाङ्गमथर्ववेदस्या सुश्रुत सूत्र 1/60 एवं विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य संस्कृतवाङ्मय – डॉ० हरिकृष्णशास्त्री, पृ० 116

का मत है "नालिकानां वितस्तिमात्रनालीकाख्यशरविशेषाणाम्।"[1] वह इसे पतला बाण (Thin arrow) भी मानते हैं।[2] विश्वकोश में भी वर्णन मिलता है कि नालीक एक बाण का नाम था, "नालीक शल्ययोः इति विश्वः।" साथ ही नैषधकार ने "वायव्यास्त्रं" जैसा अभिकथन करके वायव्यास्त्र की तरफ भी संकेत किया है। सुर धनुष[3] का वर्णन करने के साथ श्रीहर्ष ने धनुष की टंकार (आवाज) का विवरण देते हुए नल को दक्ष धनुर्धारी[4] बताकर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि वह अस्त्र की इस विधा से भी परिचित थे।

वर्तमान में युद्ध में अपनाये जाने वाले पनडुब्बियों का साम्य श्रीहर्ष द्वारा वर्णित जलयन्त्र से[5] सामान्य अर्थ में किया जा सकता है, साथ ही रथों का[6] साम्य सैनिक ट्रकों या जीपों एवं विमान (पुष्पक)[7] का साम्य आज प्रचलित साधारण वायुयान या जेट फाइटर विमान, जगुआर मिग-15, मिराज-2000 एवं सुखोई से किन्चितः रूपेण स्थापित किया जा सकता है। प्राचीन काल में प्रचलित मल्य युद्ध के वर्णन को भी श्रीहर्ष ने नैषध महाकाव्य में स्थान दिया है[8] किन्तु आज इसकी समीचीनता नहीं रह गयी है। हाँ, अखाड़ों में कुश्ती के रूप में यह परम्परा आज भी प्रचलित है, लेकिन (वरुण की असंख्य) जल सेना का[9] नैषधकार द्वारा दिया गया संदर्भ आज भी प्रासंगिक है साथ ही नैषधकार द्वारा दी गयी हस्ति सेना[10] एवं अश्व सेना की[11] समीचीनता प्राचीन काल तथा मध्यकाल तक तो थी[12], लेकिन वर्तमान में हाथी सवारी या शोभा यात्राओं तक सीमित है, परन्तु अश्वों (अश्व सेना) का आज भी आंशिक प्रयोग पुलिस द्वारा अपनाये जाने से अश्व सेना की आंशिक समीचीनता एवं प्रासंगिकता व्यावहारिक जीवन में भी देखी जा सकती है।

चिकित्साशास्त्र या आयुर्वेदशास्त्र

श्रीहर्ष ने 'नैषधीयचरितम्' में आयुर्वेदशास्त्र, जिसे ऋग्वेद एवं अथर्व वेद दोनों वेदों का उपवेद[13] भी माना जाता है, के कुछ संदर्भ उपस्थित किये हैं, जो नल की कामपीड़ित अवस्था, दमयन्ती की

---

1. नै० 21/150, नारायणी व्याख्या
2. नालीकी नलिकाप्रेर्यमाणलघुशरी तयोर्विमुक्तिकामयोर्नलिके शराधारनली न भवतः अपितु नलिके एव। नै० 2/28, नारायणी व्याख्या
3. स्वापराधमलुप्तस्पयोधरे मत्करः सुकृतानुकरस्तव। सेवया व्यजनचालनाभुवा भूय एव चरणौ करोत वा ॥ नै० 18/129
4. स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टि व्ययितस्य संगरे। निजस्य तेजः शिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे ॥ नै० 1/9
5. नै० 18/114 में नारायण का कथन है- "जलधारासंघा[illegible] जलयंत्रेभ्यः पातुकै[illegible]
6. नै० 16/23
7. प्रसूतवत्ता नलकूबराध्वप्रकाशितास्यापि महारथस्य यत्। कुबेरपुष्पकस्तबलेन पुष्पकप्रकृष्टतैस्तस्य ततोऽनुमीयते॥ नै० 16/24 एवं नै० 10/107, 11/23, 13/11, यादवाभ्युदय, 12/88, जयन्ती विजय 13/77,79 तथा हाण्डिकी कृत नै० द्रष्टव्य पृ. 629
   – करोद्धृतं विमानेन पादहानि विपादिकम्। गात्रसंश्लेषणं शान्तं तथागात्रविपर्ययः॥ अग्निपुराण 252/21
8. या सर्वतोमुखतया व्यवतिष्ठमाना यादोगणैर्जयति नैकविधारिका या। एतस्य भूरितवारिनिधिस्तनुः सा यस्याः प्रतीतिविषयः परतो न रोधः ॥ नै० 13/22
9. नै० 13/22
10. नासीरसीमनि घनध्वनिरस्य भूयान् कुम्भीरवान्समकरः सहदानवारिः। उत्पद्यनकाननस्तः पुष्करमातनोति रत्नैरलंकरणमावमितैर्विहीनः ॥ नै० 13/23
11. तस्यैन्दवैः प्रबलैः प्रतिकूलमार्गे का वाहिनी न तनुते मुनरस्य नाम? । तस्या विलासवति! कर्करतामिता या कुतः कथं कनुतया सिकता वयं ताः? ॥ नै० 13/24
12. रथे रणे गजौ चैव तुरङ्गाणां [illegible] । [illegible] अग्नि. पु. 252/32
13. इस तरह आयुर्वेद [illegible] सुश्रुत सूत्र 1/60 एवं विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य संस्कृतसाहित्य – [illegible] हरिदत्तशास्त्री, पृ० 116

कामज्वरावस्था[1], राजाओं के वर्णन तथा नल दमयन्ती द्वारा सन्ध्या वर्णन प्रसङ्ग में द्रष्टव्य हैं। आचार्य सुश्रुत ने इस शास्त्र की व्याख्या करते हुए कहा था आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दतीति आयुर्वेदः। अर्थात् आयुर्वेदशास्त्र वह शास्त्र है, जिसके द्वारा मानव अपनी आयु को प्राप्त करता है, या अपनी आयु का संरक्षण एवं परिवर्धन करता है। आचार्य चरक ने आयुर्वेद की व्याख्या करते हुए अभिहित किया कि- हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥[2] वाग्भट्टप्रकार का भी कथन है कि देह की शुद्धि चिकित्साशास्त्र ही करता है।[3] इस शास्त्र के प्रथम प्रवर्तक ब्रह्मा माने जाते हैं। उनसे इस शास्त्र का ज्ञान प्रजापति, अश्विनी कुमारों, इन्द्र तथा भारद्वाज ने क्रमशः सीखा। भारद्वाज ने इसका प्रचार भारत वर्ष में किया, जब कि महर्षि व्यास, आत्रेय मुनि को आयुर्वेद का प्रवर्तक मानते हैं[4], आयुर्वेदशास्त्र के विभिन्न विद्वानों एवं ग्रंथों का विवरण संस्कृत साहित्य में प्रचुरता से मिलता है।[5] जिनमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट[6] एवं धन्वतरि, काश्यप आदि प्रमुख महर्षि भी सम्मिलित हैं। आयुर्वेदशास्त्र के प्रमुख आठ अंग माने जाते हैं,[7] शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायनतंत्र तथा वाजीकरण।[8] आयुर्वेदशास्त्र के मुख्य दो प्रयोजन होते हैं, रोगों से मुक्ति दिलाना एवं स्वास्थ्य की रक्षा[9] (Preventive and curative).

बारहवीं शताब्दी के विद्वान् श्रीहर्ष की इस अभिव्यक्ति की समीचीनता आज तक विद्यमान है कि रोगों से निजात तो पाया जा सकता है, लेकिन मृत्यु (अंतिम व्याधि) से मुक्त होना असंभव है[10], जब कि आज इक्कीसवीं सदी की तरफ अग्रसर विश्व के लोग एवं वैज्ञानिक अनेक प्रकार की स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं का अन्वेषण तो कर लिये हैं, लेकिन मृत्यु (प्राणवायु) को रोकना तो दूर की बात है, मृत्यु के कारणों या उसकी परिस्थितियों के मूल विन्दुओं तक का वे स्पर्श नहीं कर पाये हैं, हाँ उनके प्रयास इस दिशा में अवश्य चल रहे हैं, परन्तु प्रकृति के इस कृत्य के मूल बिन्दुओं की खोज वे कर सकेंगे, इसकी सम्भावना कम ही दिखती है। श्रीहर्ष ने आयुर्वेद के मर्मज्ञ अश्विनीकुमारों[11] को यदि स्वर्गवैद्य के रूप में मान्यता दी, तो चरक एवं सुश्रुत[12] का नाम श्रवण करना भी वह नहीं भूले। नैषधकार ने तो अश्विनीकुमारों

---

1. महाभारत- 3/54/1......6
2. चरक संहिता 1/41
3. कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समुपस्थिताः। चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धय॥
4. गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्। देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्। महा शान्ति 210 अध्याय
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास-बहादुरचंद छाबड़ा पृ० 703-73। संस्कृत शास्त्रों का इति. बलदेव उपाध्याय पृ० 1-43
6. अत्रिः कृतयुगे वैद्यो द्वापरे सुश्रुतः स्मृतः। कलौ वाग्भटनामाश्चं, गरिमाऽत्र प्रदिष्यते॥ हारीत
   चरकः सुश्रुतश्चैव वाग्भटश्च तथापरः। मुख्याश्च संहिता वाच्यास्तिस्र एव युगे-युगे॥ हारीत
   अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः। शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया।
   अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्णः पराशरः। हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः॥ चरक
7. चतुरंगबलो राजा जगतीं वशमानयेत्। अहं पञ्चांगबलवानाकाशं वशमानये॥
   कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान्। अष्टावंगानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता। अष्टांगहृदय
8. अग्निपुराण में, सिद्धौषधानि, सर्वरोगहराण्यौषधानि, रसादि लक्षणम् वृक्षायुर्वेदः नानारोगहराण्यौषधानि, मृतसञ्जीवनीकरसिद्धयोगकथन, कल्पसागरः गजचिकित्सा, अश्वचिकित्सा, शान्त्यायुर्वेद कथनम्, दष्टचिकित्सा, गोनसादिचिकित्सा रूप में क्रमशः 279, 280, 281, 282, 283, 285, 286, 287, 288, 289, 292, 295, 298, अध्यायों में चिकित्साशास्त्र का वर्णन द्रष्टव्य है।
9. व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् सु. संहिता 1/12
10. दण्डं विभर्त्यकमहो जगतस्ततःस्यात्कम्पाकुलस्य सकलस्य न पङ्कपातः।
    स्वर्वैद्ययोरपि भवव्ययदायिनीभिरेतस्य करिमरमरः किमुकश्चिदस्ति॥ नै० 13/16
11. किमुतदन्तरुभौ भिषजौ दिवः स्मरनलौ विषतः स्म विगाहितुम्।
    तदभिकेन चिकित्सितुमाशु तां मखभुजामधिपेन नियोजितौ॥ नै० 4/5
    नाकलोकभिषजोः सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव।
    वेद्मि[illegible] [illegible] [illegible] ॥ नै० 5/46 एवं 13/16
12. नै० 4/116

को खण्डितशिरों को भी जोड़ने वाले वैद्य के रूप में वर्णित किया है जैसा कि दमयंती के शब्दों से द्योतित हो रहा है यथा-

स्मरसखौ रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः।
सपदि सन्दधतुर्भिषजौ दिवः सखि! तथा तमसोऽकरोतु कः ।।[1]

ऋग्वेद में भी वर्णन मिलता है कि खेल नामक राजा की पत्नी विश्पला के पैर पक्षियों के पंखों के समान युद्ध में कट गये थे। अश्विनी कुमारों ने रात में जाकर उसे अच्छी तरह चलने फिरने के लिए उपयुक्त लोहे की जंघा बनाकर दे दी। यथा-

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णम् आजा खेलस्य परितक्म्यायाम ।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् ।।
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च ।
वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ।।

वैद्यकीय सुभाषितसाहित्यम् में वर्णन मिलता है कि अश्विनी कुमार कायचिकित्सा (Medicine), शस्त्र (शल्य) चिकित्सा (Surgery) और विकलांगचिकित्सा (Arthopaedics) इन तीनों के कुशलचिकित्सक थे। आयुर्वेद के पण्डितों का मानना है कि पृथ्वी लोक में परिश्रम एवं मिताहार ही अश्विनी कुमार है। यथा-

परिश्रमो मिताहारो भूगतावश्विनीसुतौ। तायनादृत्य नैवाहं वैद्यमन्यं समाश्रये।।

आयुर्वेदविदों की मान्यता है कि निदान में माधव का माधवनिदान श्रेष्ठ है, सूत्रस्थान में वाग्भट्ट का अष्टांगहृदय या अष्टांगसंग्रह श्रेष्ठ है, तथा शारीरस्थान में सुश्रुत श्रेष्ठ हैं एवं चिकित्सास्थान में चरक श्रेष्ठ हैं। यथा-

निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु वाग्भटः। शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठश्चरकस्तु चिकित्सिते।।

क्षेमकुतूहलकार का भी कथन है कि-

सुश्रुतं न श्रुतं येन किमन्यैर्बहुभिः श्रुतैः। नालोकि चरकं येन स वैद्यो वैद्यनिन्दितः।।

वाग्भट ने भी चरक एवं सुश्रुत संहिताओं को ही आयुर्वेद का मूल स्रोत माना है, जैसा कि वह कहते हैं- ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ। भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्।। नैषध में प्राप्त आयुर्वेद सम्बन्धी विवरणों से यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने भी अश्विनीकुमारों, चरक एवं सुश्रुत को ही आदर्श माना है।

नैषधमहाकाव्य में रोगों में संक्रामक रोग[2] (Infectious contagious Disease) का वर्णन तृतीय सर्ग में नल की कामदशा[3] के वर्णन प्रसंग में द्रष्टव्य है, जहाँ हंस दमयन्ती से कहता है कि नल की भयंकर कामज्वर की चिकित्सा करने की इच्छा करने वाले अनुभवी वैद्य समूह में लज्जाहीन उस नल की

---

1. नै० 4/67
2. प्रसंगाद्गात्रस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात् ।
   सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात ।। सुश्रुत संहिता, निदानस्थान 5/33
   – कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
   औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।। वही 5/34
3. रतिरहस्य में कामदशायें 10 मानी गयी हैं - नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः।
   निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ।
   उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।। नै० 3/103 मल्लिनाथी व्याख्या से उद्धृत

विशाल लज्जा (रोग के कारण को ठीक नहीं समझ सकने के कारण) निदान में मौन धारण करने से मानों संक्रामक रोग के समान वैद्यों में भी प्रविष्ट हो गयी क्योंकि संक्रामक रोग गात्रस्पर्श, निःश्वास, सहभोज, सहस्थिति, सहशयन तथा संक्रमित रोगी के वस्त्रों के स्पर्श एवं उनके पहनने से दूसरे मनुष्यों में भी संक्रमित कर जाता है। दूसरे शब्दों में अगदतंत्र के जानकार बहुत से वैद्य नल की कामज्वर की चिकित्सा करना चाह रहे थे किन्तु रोग का निदान ठीक नहीं कर सकने के कारण वे लज्जित हो गये, अतएव इससे यही ज्ञात होता है कि नल ने तुम्हारे (दमयंती के) विरह में जो लज्जा का त्याग कर दिया है वही विशाल लज्जा संक्रामक रोग (कुष्ठ, अपस्मार[1] आदि छुतही बीमारी) के समान उन वैद्यों में भी प्रविष्ट हो गयी है। रोग का ठीक निदान नहीं करने से वैद्य समूह का लज्जित होकर मौन धारण करना उचित ही है, अथवा जब वे रोग का ठीक निदान नहीं कर सके, तब नल से ही रोग का कारण पूँछ बैठे, और उन्होंने "दमयन्ती" विरह यह काम ज्वर है ऐसा लज्जा छोड़कर स्पष्ट कह दिया, अतएव वे लज्जित हो गये कि बिना इनके कहे हम रोग का निदान नहीं कर सके। इस प्रकार मानो नल की लज्जा (संक्रामक रोग की तरह) उन वैद्यों में प्रविष्ट हो गयी।[2] उपर्युक्त विवरण से यह भी ध्वनित होता है कि नैषधकार को आयुर्वेद के एक अंग अगदतंत्र का भी ज्ञान था। अगदतंत्र की विषय सामग्री अलम्बायन संहिता, उशनः संहिता सनकसंहिता तथा लाट्यायन संहिता जैसे ग्रंथों में भी द्रष्टव्य है।

रोगों में पाण्डु रोग (पीलिया कामला या Jaundice या Icterus) का संकेत नैषध के चतुर्थ सर्ग में मिलता है, जहाँ दमयन्ती कामदेव को उलाहना देती हुई कहती है कि तुम्हारी उपासना (आश्रय) करने वाले को अन्धता, दुर्बलता (पक्षान्तर में अकालमृत्यु) और पाण्डुता (पक्षान्तर में पाण्डु रोग) होते हैं, जब कि तुमसे भिन्न सूर्य देव की उपासना से इन सभी रोगों का शमन होता है।[3] यथा-

दृगपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते पर निर्जरसेविता।
अतिशयान्ध्यवपुः क्षतिपाण्डुताः स्मर! भवन्ति भवन्तमुपासितः॥[4]

धर्मसंहिताओं का भी कथन है कि सूर्य नमस्कार से जन्मजन्मान्तरों में (रोग) दारिद्र्य उत्पन्न नहीं होता। यथा-

आदित्यनमस्कारं ये कुर्वन्ति दिने दिने। जन्मान्तरसहस्त्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते॥

मत्स्यपुराण से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। यथा-

आरोग्य भास्करादिच्छेद्धनमिच्छेद्धुताशनात्। ज्ञानं महेश्वरादिच्छेन्मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात्॥

ध्यातव्य है कि आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार मानवदेह में कफ, पित्त एवं वात इन तीन तत्त्वों का

---

1. अक्षिरोगो ह्यपस्मारः क्षयः कुष्ठो मसूरिका।
   दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् संक्रमन्ति नरान्नरम्॥ नै० 3/111 मल्लि व्याख्या से उद्धृत
2. स्मरं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोः सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
   निदानमौनादविशद्विशाला सांक्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा॥ नै० 3/111
3. अतिशयेनान्ध्यं दृष्ट्युपघातः वपुःक्षतिः शरीरविपत्तिः पाण्डुता वैवर्ण्यं च, ता भवन्तीति देवान्तरभक्तस्य उक्तदोषशान्तिः फलं त्वद्भक्तस्य तदुद्रेक इत्यहो महद्वात्सल्यं कामदेवस्येत्युपहासः। नै० 4/85 मल्लिनाथ।
4. नै० 4/85

सदैव निवास रहता है। इन तीनों तत्वों की साम्यावस्था में ही मानव देह स्वस्थ रहता है एवं वैषम्यावस्था या इन तीन तत्वों में से किसी एक की अधिकता एवं किसी की कमी होने पर मानव शरीर अस्वस्थ या रोगग्रसित हो जाता है[2] यहां तक कि मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है। पीलिया रोग में मनुष्य के शरीर में पित्त की अधिकता होने से शरीर पीला पड़ जाता है, पाचन क्रिया कमजोर हो जाती है तथा उसका शरीर भी दुर्बल हो जाता है और रसनेन्द्रिय की स्वाद ग्रंथियाँ भी कमजोर पड़ जाती हैं। नैषधकार भी कहते हैं कि "पित्तेन दूने रसनासितापि तिक्तायते"[3] अर्थात् पित्त दूषित रसना से चीनी का स्वाद भी कड़वा लगता है। कामला के अनवरोधज (Nonobstructive) और अवरोधज (Obstructive) रूप में दो प्रकार होते हैं। अवरोधज में पित्त रक्त में अवशोषित होता है और नेत्र, नख, त्वचा में संचित होकर उन्हें रंगीन बनाता है। पित्त रंग में पीला, हरा और स्वाद में कटु होने से मुँह में कड़ुवापन और नेत्रादि में पीलापन उत्पन्न करता है। वैसे तो शरीर रोगों का घर ही कहा जाता है। (शरीरं व्याधि मन्दिरम्) फिर भी विभिन्न ओषधियों के सेवन से उसे स्वस्थ रखा जा सकता है, लेकिन रोगों से न तो रहित हुआ जा सकता और न वृद्धावस्था को टाला जा सकता है। आयुर्वेदविदों का भी मन्तव्य है कि– "अचिन्त्यो हि मणिमंत्रौषधीनां प्रभावः।" नैषधकार का भी कथन है कि चन्द्रमा ओषधिपति[4] होते हुए भी अपने क्षय को रोक नहीं पाता[5] तथा सामर्थ्ययुक्त संजीवनी आदि ओषधियाँ, ब्राह्मण समूह, समुद्र और अमृत भी क्रमशः क्षयशील अपने पति, राजा, पुत्र और स्वाश्रय चन्द्रमा को नहीं बचा सकते।[6] यथा-

त्रातुं पतिं नौषधयः स्वशक्त्या मन्त्रेण विप्राः क्षयिणं न शेकुः ।
एनं पयोधिर्मणिभिर्न पुत्रं सुधा प्रभावैर्न निजाश्रयं वा ॥[7]

---

1. शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजाः गुणाः। तेषां गुणानां साम्यं यदाहुः स्वास्थ्यलक्षणम्।। महाभारत,
   - सत्वं रजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः। तेषां गुणानां साम्यं यदाहुः स्वस्थलक्षणम्।। महाभारत
   - डॉ० कीथ का मानना है कि वात, पित्त, तथा कफ का सिद्धान्त सांख्यों के त्रिगुण (सत्य, रज तम) के आधार पर कल्पित किया गया है और वह पूर्णतया भारतीय है। अथर्ववेद में वात के विषय में एक पूरा सूक्त है एवं कौशिक सूत्र से पता चलता है कि उस युग में भी त्रिदोष का सिद्धान्त भारत में मान्य था। इनका यह भी कहना है कि सम्भवतः चरक के समय में मानव के शरीर पर शल्य क्रिया नहीं होती थी, ओर इसलिए उनकी संहिता में इसका विशेष विवरण नहीं मिलता, जब कि ईसा से तीसरी शती पूर्व सिकन्दरिया में यूनानी वैद्यों के लेखों में शल्यक्रिया का निश्चित विधान प्राप्त होता है, परन्तु इस कथन पर पूरा विश्वास नहीं होता। अथर्ववेद के एक पूरे सूत्र में अस्थियों के संस्थान तथा संख्या का प्रामाणिक उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में भी अस्थियों की संख्या 360 बतायी गयी है। ये सब आयुर्वेद की सुदीर्घ प्राचीनता के प्रमाण हैं। यूनानियों ने भारत की चिकित्सा से अनेक ओषधियों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है। अतः यूनानी वैद्यक पर भारतीय वैद्यक का प्रभाव मानना प्रमाणरहित नहीं माना जा सकता। द्रष्टव्य- A.B. kith, History of classical Sanskrit Literature, P- 513-515, Oxfored, 1928.
2. विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते । सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ।।
   समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। सुश्रुत
3. त्वया विधेयाः न गिरो मदर्थाः क्रुधा कटुष्णे हृदि नैषधस्य ।
   पित्तेन दूने रसनासितापि तिक्तायते हंसकुलावतंस ।। नै० 3/94
4. एनं स विप्रद्विजमुत्तमाङ्गे गिरीन्द्रपुत्रीपतिरोषधीशम ।
   अश्नाति घोरं विषमबिभ्रदन्न धत्ते भुजङ्गान्न विमुक्तशङ्कः ।। नै० 22/117 एवं 22/76-77
5. मृषा निशानाथमहः सुधा वा हरेदसौ वा न जराविनाशी ।
   पीत्वा कथं नापरथा चकोरा वियोगिरोचीनजरामवाप्स्युः ।। नै० 22/100
6. औषध्यादयः स्वशक्त्यादिस्वप्रसाधने सत्यपि पतित्वात्पुत्रत्वान्निजाश्रयत्वाच्च क्षयाद्रक्षितुं समर्था न बभूवुरिति विशेषोक्त्या पूर्वकर्मजो रोगो महानुपायैरप्यपनेतुं न शक्यत इति व्यज्यते। अचिन्त्यो हि मणिमंत्रौषधीनां प्रभाव" इत्योषध्यादीनां सामर्थ्य प्रसिद्धम्। नै०22/99 मल्लि.
7. नै० २२/99

महाकवि कालिदास, भोज एवं भर्तृहरि आदि विद्वानों के कथनों की मान्यता श्रीहर्ष के उपरोक्त कथन से स्थापित की जा सकती।[1] नैषधकार ने शाल्मल द्वीप में स्थिति द्रोणगिरि को ओषधियों एवं जड़ी बूटियों का आगार[2] बताते हुए सरस्वती मुखेन दमयन्ती को वहाँ के राजा वपुष्मान का वरण करने का वर्णना किया है, क्योंकि इससे दमयन्ती वशीकरण बूटी को पा सकती थी। साथ ही श्रीहर्ष ने इस शास्त्रीय तथ्य का भी प्रतिपादन किया है कि पृथु राजा से अदिष्ट गो रूप धारिणी पृथ्वी से मेरुपर्वत ने रत्नों तथा ओषधियों को दुहा था।[3] रत्न गर्भा वसुन्धरा है यह तथ्य तो सर्वविदित ही है। यथा -

प्रमाणं श्रूयते दुग्धा पुनर्दिव्यैर्वसुन्धरा ।
ओषधीश्चैव भास्वन्ति रत्नानि विविधानि च ।।
वत्सस्तु हिमवानासीद् दोग्धा मेरुर्महागिरिः ।।[4]

मनु ऋषि ने पाँच प्रकार के स्नानों का विवरण मनुस्मृति में दिया है। यथा -

वारुणं तु जलस्नानमापोहिष्ठेति मान्त्रिकम् ।
वायव्यं गोरजः स्नानमाग्नेयं भस्मनोदितम् ।
यत्तु सातप वर्षेण दिव्यं तदिति पञ्चधा ।।

नैषधीयचरितम् में श्रीहर्ष ने भी स्नानों में ऊष्ण स्नान[5] एवं वायव्य स्नान[6] का विवरण देते हुए रोगी को स्नान न करने के विधान का वर्णन किया है। चतुर्थ सर्ग में विरहिणी दमयन्ती का वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि कामज्वर (पक्षान्तर में अधिक ज्वर) पीड़ित उस दमयन्ती ने, जो नल कथा रूपी तड़ाग के जल (पक्षान्तर में विप्रलम्भ श्रृंगार रस) में मज्जन या स्नान किया, अर्थात् डुबकी लगायी, उसके परिणाम स्वरूप उसका अन्तस्ताप (ज्वर) शीघ्र विषम (भयकर) ज्वर में परिणत हो गया।[7] मनु ने भी रोग पीड़ित होने पर स्नान का निषेध किया है। यथा -

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाने जलाशये ।।

ध्यातव्य है कि दमयन्ती ने (नल विरह में) कामज्वरावस्था में उसकी शान्ति के लिए सखी या दरबारी गणों आदि से नल के गुणों को प्रेम से सुना (नल गुणों में मज्जन किया) किन्तु कामपीड़ा शान्त

---

1. नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे, सा तु तथैव संस्थिता। प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते।। रघुवंश
   – लक्ष्मीकौस्तुभपारिजातसहजः सूनुः सुधाम्भो निधे, देवेन प्रणय प्रसादविधिना मूर्धा धृतः शम्भुना ।
   अद्याप्युज्झति नैव दैवविहितं क्षैण्यं क्षपावल्लभः केनान्येन विलङ्घ्यते विधिगतिः पाषाणरेखासमी ।। भोज प्रबन्ध
   – अयममृतनिधानं नायकोप्योषधीनां शतभिषगनुयातः शम्भुमूर्ध्नोऽवतंसः ।
   विरहयति न चैनं राजयक्ष्मा शशाङ्कं हतविधिपरिपाकः केन वा लङ्घनीयः ।। नीतिशतक
   – ओषधीशोऽमृतकरः सम्नपीन्दुः क्षयार्दितः। न हि प्रतिक्रियासंपत्सिद्धिर्दोषाकरे भवेत्।। सुश्लोकलाघव
2. द्रोणः स तत्र वितरिष्यति भाग्यलभ्यसौभाग्यकार्मणमयीमुपदां गिरिस्ते ।
   तद्द्वीपदीप इव दीप्तिभिरोषधीनां कूलमिलज्जलदकज्जलदर्शनीयः ।। नै० 11/69
3. एषां गिरेः सकलरत्नफलस्तरुः स प्राग्दुग्धभूमिसुरभैः खलुपञ्चशाखः ।
   मुक्ताफलं फलमसाम्यवनाम तन्वान्नाभाति बिन्दुभिरिवच्छुरितः पयोधैः ।। नै० 11/10
4. नै० 11/10 मल्लि0 की व्याख्या से उद्धृत
5. यक्षकर्दममृदून्मृताङ्गं [illegible]लितमौलिम् ।
   गन्धवार्भिरनुबन्धितमृङ्गीरङ्गणा सिषिचुरप्यकुमारम्।। नै० 21/7
6. भूत्वा जनं रजोजुष्टं तुष्टिं प्राप्नोज्ज्वलियसी ।
   तं पश्यन्पावनस्नानावस्थं पुरुषसत्तममभवत् ।। नै० 17/199
7. यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम् ।
   सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत ।। नै० 4/2

होने के बदले और भी अधिक बढ़ गयी। अन्य कोई भी ज्वर से सन्तप्त रोगी यदि सन्ताप की शान्ति के लिए तड़ाग के जल में (ठंडा होने से सन्ताप को शान्त करने वाला समझकर) यदि स्नान करता है, तो उसका भयंकर परिणाम होता है, अर्थात् ज्वर सन्ताप शान्त होने के बदले और अधिक बढ़ जाता है वही दशा नलगुण श्रवण के पश्चात् दमयन्ती की भी हुई, इस अवस्था को कामशास्त्र के अनुसार नौवी संज्वरावस्था नाम दिया जा सकता है। यथा-

चक्षुः प्रीतिर्मनः सङ्गः संकल्पोऽथ प्रलापिता
जागरः कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागयोऽय संज्वरः
उन्मादो मूर्च्छनं चैव मरणञ्चरमं विदुः

आयुर्वेद के विद्वान् वाग्भट्ट का कथन है कि घी तथा मधु यदि समान मात्रा मे मिलाकर खाया जाय तो वह विष सदृश परिणाम का जनक होता है एवं उससे व्यक्ति मूर्च्छित हो सकता है।[1] नैषधकार ने इस तथ्य को साहित्यिक जामा पहनाते हुए नैषध के तृतीय सर्ग में हंस दमयन्ती संवाद प्रसंग में वर्णित किया है, जहाँ (नल दूत) हंस की वाणीरूप अत्यन्त स्वादिष्ट तथा सुगन्धित मक्खन (घृत) का प्रीतिपूर्वक बार-बार स्वाद लेकर भी उससे दमयन्ती को तृप्ति न हुई, क्योंकि उसमें कामदेव के बाणरूपी पुष्पों का मधु मिला था जिससे उसके अन्तःकरण में संताप हुआ एवं उसे अतुल मूर्च्छा की अनुभूति हुई। यथा-

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रय त्प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्तापि तृप्तिं न सा तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ।।[2]

अवधेय है कि घी तथा मधु समान मात्रा में मिलाकर अधिक खाने से भी तृप्ति नहीं होती और भी खाने की इच्छा बनी रहती है, लेकिन उसे खाने से अन्तःकरण में दाह होता है तथा मूर्च्छा आती है परन्तु वे सब दमयन्ती को नहीं हुए, इसमें आश्चर्य की बात है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि हंस के वचनों को दमयन्ती और भी सुनना चाहती थी, अतएव उसकी तृप्ति नहीं हुई तथा उसके चले जाने से दमयन्ती के अन्तःकरण में सन्ताप भी हुआ और वह मोहयुक्त भी हुई, एवं ऐसा उसके लिए उचित भी था क्योंकि प्रियगुणामृत पान से वह वंचित हो गयी थी।

नैषधकार ने ज्वरावस्था में ताप के बढ़ने एवं उसकी शान्ति के उपायों का भी वर्णन नैषध में किया है। काम ज्वरावस्था में दमयन्ती का शरीर काँप रहा था एवं उसके शरीर से ताप निकल रहा था।[3] ज्वर की शांति के लिए दमयन्ती की सखियाँ उसके शरीर पर कमल पुष्प, मृणालदण्ड एवं कमलिनी-पत्र, शैंवल (सेंवार) घास आदि रख रही थीं, किन्तु काम ज्वर इतना तीव्र था कि उसके ताप से वे सब तुरन्त सूख जाते थे।[4]

---

1. मधुनो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी इति वाग्भटः । नै० 3/130 मल्लिनाथी टीका से उद्धृत
2. नै० 3/130
3. स्मरकृतां हृदयस्य मुहुर्दशां बहु वमन्निव निःश्वसितानिलः ।
व्यथित वासनि कम्पमधत्त [illegible] सति नाम्यबाधने ।। नै० 4/16
करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे ।
रविमहो बहुपीततरं विराचनितरातपमित्युदसृज्यत ।। नै० 4/17 एवं 18........42
4. रिपुतरा भवनाद्विनिर्यती विधुरुचिर्गृहजालबिलं [illegible] ।
इतरथात्मनिवारणसङ्कया ज्वरयितुं [illegible] ।। नै० 4/24
स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम् ।
अयितुमर्पयितुं [illegible] ।। नै० 4/29 एवं 30 से 35 तक

अत्यधिक ज्वर (सन्निपात ज्वर) में रोगियों का आलाप (In a state of Delirium) वर्तमान में भी देखा जाता है। महाकवि माघ ने भी सन्निपात (त्रिदोष) ज्वर का चित्रण शिशुपालवध में किया है। यथा-

> आश्लिष्ट भूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकार वृहत्तरङ्गम् ।
> फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाश शङ्के ।

महाभारत में यह वर्णन प्राप्त होता है कि हंस के वचनों को सुनकर कामसंतप्त होने के कारण नल भी सनिपात ज्वर से ग्रसित हो गये। यथा-

> हंसानां वचनं तु तन्मां दहति पार्थिव ।
> त्वत्कृते हि मया वीर राजानः सन्निपातिताः ॥[1]

नैषधकार ने दमयन्ती की सन्निपातावस्था का अत्यन्त मनोहारी चित्रण किया है[2] जिसमें वह ब्रह्मा, रति, कामदेव, अमावस्या, चन्द्रमा, राहु, सती, विष्णु, शंकर आदि को उलाहना देती हुई मूर्च्छित हो जाती है जिससे पुनः उसे चेतनावस्था में लाने के लिएउसकी सखियों ने पुनः जलसेचन, एवं चन्दन लेप इत्यादि किया।[3] कन्यान्तःपुर में दमयन्ती की मूर्च्छा को सुनकर पिता भीम, राजवैद्य एवं प्रधानमंत्री का पहुँचना स्वाभाविक था। राजवैद्य एवं मन्त्रिप्रवर दोनों ने एक साथ भीम से निवेदन किया। प्रधानमंत्री ने कहा कि मेरे अधिकार से कन्या के अन्तःपुर के योगक्षेम में बाधा के लिए कोई दोष (परपुरुषसंसर्गजन्य व्यभिचार आदि) समर्थ हो ही नहीं सकते एवं राजवैद्य ने कहा उसके निरन्तर देखरेख रखने से कन्या के शरीर को रक्षित करने (से बाधा) के लिए कोई दोष (वात, पित्तादि) समर्थ नहीं हो सकते तब राजकुमारी के ज्वर का कोई अन्य कारण ही हो सकता है। इस प्रकार उन दोनों प्रधानमंत्री तथा राजवैद्य) ने समान (परस्पर अविरुद्ध) वचन कहे। अर्थात् प्रधानमंत्री भी ने कहा कि सरकार! सुनिये, अच्छी तरह से सुने हुए दूत के कहने से मैं सब जानता हूँ कि नल के लिए देने (नल के साथ विवाह करने) के अतिरिक्त इस दमयन्ती के सन्ताप की शान्ति के लिए कोई भी (अन्य राजादि) समर्थ नहीं हैं, एवं राजवैद्य ने कहा कि देव! सुश्रुत तथा चरक नामक चिकित्सा शास्त्र के रचयिता दोनों प्रधान आचार्यों की कही गयी बातों के अध्ययन से मैं जानता हूँ कि नल अर्थात् खस (मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभयं नलदं सेव्यम् इत्यमरः) देने के अलावा दमयन्ती के ताप की शान्ति के लिए अन्य कोई (क्वाथ, रस, भस्म आदि औषधियाँ) समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार दोनों ने क्रमशः नल से दमयन्ती का परिणय तथा खस द्वारा उपचार करने के प्रबन्ध का निधान भीम को बतलाया।[4]

---

1. महाभारत 3/56/3
2. नै० 4/43...109
3. इयमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका ।
   क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमतिदुःखिता ॥ नै० 4/110
   – अधित कापि मुखे सलिलं सखी प्यधित क्वापि सरोजदलैः स्तनौ ।
   व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं न्यधित कापि हिमं सुतनोस्तनौ ॥ नै० 4/111
   – उपचचार चिरं मृदुशीतलैर्जलजनालमृणालजलादिभिः ।
   प्रियसखीनिवहः स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥ नै० 4/112
   – अथ कले! कलय श्वसिति स्फुटं चलति पक्ष्म चलो! परिभावय ।
   अधरकम्पनमुन्नय मेनके! किमपि जल्पति कल्पलते! शृणु ॥ नै० 4/113
   – रचय चारुमति! स्तनयोर्वृतिं कलय केशिनि! केशसंयताम् ।
   अवगृहाण तरङ्गिणि! नेत्रयोर्जलझरानिति शुश्रुविरे गिरः ॥ नै० 4/114
4. कन्यान्तःपुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः ।
   देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षम ॥ नै० 4/116

महाभारत में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि शारीर और मानस दो प्रकार के रोग होते हैं एवं इनका जन्म परस्परावलम्बी होता है। यथा-

> द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा ।
> परस्परं तयोर्जन्म, निर्द्वन्द्वं नोपलक्ष्यते ।।
> शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः ।
> मानसाज्जायते व्याधिः शारीर इति निश्चयः ।।

इस प्रकार प्रधानमंत्री एवं राजवैद्य के कथन सर्वथा शास्त्रसम्मत कहे जा सकते हैं, क्योंकि मानस ताप शान्ति के अनन्तर ही शारीर ताप शान्ति सम्भव है। आचार्य काश्यप का भी मत है कि-

> अधिष्ठानद्वयं तेषां शरीरं मन एव च ।
> आधयो मानारस्तत्र शरीरा व्याधयः स्मृताः ।।

आचार्य सुश्रुत एवं चरक ने भी ज्वर ताप की शान्ति के लिए उशीर (खस या नलद) के प्रयोग का विधान किया है। यथा- दाहाभिभूतमथवा परिषेचयेत्तु शीतामृशीरजलचन्दनतोय-तोयैः[1] तथा लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनाम्, एवं लाजा चन्दनकाश्मर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूची हीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति।[2]

आचार्य सुश्रुत ने रोगी को मच्छी आने पर उसे चेतनावस्था में लाने के लिए सामान्य चिकित्साओं में जल सेचन को प्रधान माना है।[3] श्रीहर्ष ने भी इस तथ्य का वर्णन नैषध के पंचम सर्ग में नल एवं देव संवाद में उपलब्ध कराया है जहाँ नल कहते हैं कि दान योग्यवस्तु को (याचक के) समीप लाकर दान करने वाला जो याचक के लिए (उसके हाथ में संकल्प का) जल देता है, वह (जलदान कार्य) याचना की उक्ति के निष्फल होने की शंका से उत्पन्न भय से होने वाली मूर्च्छा (अकाल मृत्यु) की चिकित्सा है।[4] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यहाँ श्रीहर्ष के मत में दान देते समय हाथ में लिए जल की उपयोगिता याचक की (निष्फलता से होने वाली) मूर्च्छाकृत् अकाल मृत्यु (अपमृत्यु) को दूर करने के समान है, ठीक वैसे ही, जैसे मूर्च्छा आने पर व्यक्ति पर पानी छिड़ककर उसकी मूर्च्छा की चिकित्सा की जाती है या उसे चेतना में लाने का प्रयास कियाजाता है, उसी प्रकार हमारा (देवों का) मांगना व्यर्थ न होने, इस प्रकार के सन्देह से उत्पन्न भय से आने वाली मूर्च्छा की चिकित्सा, दान देते समय याचक के हाथ में दिया गया संकल्प का जल होती है, अर्थात् उस संकल्पजल के हाथ में आते ही याचक को अपनी याचना की

---

1. सुश्रुत संहिता, उत्तरतंत्र 47/58
2. चरक संहिता-सूत्रस्थान, अध्याय 4, 18/41 एवं चरक संहिता का अध्याय 3 भी द्रष्टव्य-यथा-सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम्। दाहज्वर प्रशमनं यथादभ्यञ्जनं भिषक।। चरक संहिता, चिकित्सास्थान 3/257
   – तथा-अथ चन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः चन्दनभद्रश्रीकालानुसार्य[illegible] च [illegible]नामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाममौषधानां कषायं कारयेत् । साधयेत् तैलम्, [illegible] [illegible]ज्वरमपनयति ।। वही, 3/258
   – अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामर्व्यगादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः। [illegible] तिलयवकुलत्थमाषाणामेवं विधानामन्येषां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्.....प्रयुञ्जीत शीतज्वरप्रशमनार्थम्। वही 3/267
3. सेकावगाही मणयः सहाराः शीतप्रदेहा व्यजनानिलाश्च ।
   शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि ।। सुश्रुतसंहिता, उत्तरतंत्र 47/14
4. यत्प्रदेयमुपनीय [illegible] सलिलमर्पितवान् ।
   याचनोक्तिविफलत्वविशङ्काजातमूर्च्छनमृत्युचिकित्सा ।। नै०5/83

सफलता प्राप्ति का संशय दूर हो जाता है। आचार्य शोढल ने मूर्छाशान्ति के लिए अपने ग्रंथ गदनिग्रह में विशल्या लता (गुडूची), सोंठ, द्राक्षा आदि कई ओषधियों के उपनयन का विधान किया है, यथा-

महौषधामृता द्राक्षा पौष्करग्रन्थिकाद्भवम् ।
पिबेत् क्वाथंकणायुक्तं मूर्च्छायां च मदेषु च ॥[1]

नैषधकार ने भी इस तथ्य का संकेत अष्टम सर्ग में देवदूत बने नल द्वारा देवताओं के संदेश को दमयन्ती से कहने के प्रसङ्ग में वर्णित किया है जहाँ नल देवों की प्रार्थना दमयन्ती से करते हुए कहते हैं कि उन (चारों) देवों ने तुम्हें पृथक्-पृथक् आलिङ्गनपूर्वक यह संदेश भेजा है कि कामदेव रूपी भील के बाणों से मूर्च्छित हम लोगों के लिए तुम (दमयन्ती) विशल्या (बाण रहित या कष्ट रहित करने वाली) नामक लता (ओषधि) बनो।[2] यथा-

एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशन्ति ।
त्वं मूर्च्छतान्नः स्मरभिल्लशल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि ॥[3]

अवधेय है कि इन ओषधियों का उपयोग प्राचीनकाल में केवल रोग चिकित्सा के लिए ही नहीं, अपितु रोगप्रतिबन्धन के लिए भी किया जाता था। विशल्या नामक ओषधि का वर्णन रामायण में भी मिलता है। श्रीराम जब वनवास हेतु प्रस्थान करने लगे तब माता कौशल्या ने विशल्यकरणी ओषधि अभिमंत्रित करके रामचन्द्रजी के हाथ में बांधी थी, जिससे उनके ऊपर हताहत और मूर्छित होने जैसी आपत्ति न आ सके। यथा-

औषधीं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम् ।
चकार रक्षां कौशल्या मन्त्रैरभिजजाप च ॥

श्रीहर्ष ने संजीवनी नामक ओषधि का विवरण इक्कीसवें सर्ग में नल की देवार्चना प्रसङ्ग में किया है।[4] स्मरणीय है कि वैद्यक संहिताओं तथा निघण्टुओं में संजीवनी ओषधि का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, संजीवनी नाम के अनेक योग मिलते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि जैसे काव्य निर्माताओं ने[5] अपने काव्य में संजीवनी शब्द को सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है वैसे ओषधि निर्माता वैद्यों ने भी सामान्य अर्थ में संजीवनी का प्रयोग अपने योगों के लिए किया है, जैसा कि शार्ङ्गधरसंहिता के विवरण से स्पष्ट है कि– "वटीसंजीवनीनाम्ना संजीवयति मानवम्।" इस तरह, संजीवनी मृतप्राय को जिलाने वाली ओषधि योग है, परन्तु रामायण काल में संजीवनी ओषधि के होने का वर्णन मिलता है, क्योंकि श्रीराम के शल्यचिकित्सक सुषेण के कहने पर हनुमान द्वारा लायी गयी संजीवनी से लक्ष्मण पुनर्जीवित हुए एवं मृतसंजीवनी से वानर सेना भी पुनर्जीवित हुई ऐसा वर्णन रामायण में प्राप्त होता है। महर्षि वाल्मीकि ने इन

---

1. गदनिग्रह-मूर्च्छाविकार 16/30
2. तस्य शल्यैः शूरैर्मूर्च्छतां मूढतां नोऽस्माकं मुदे त्वं विशल्या उद्धृतशल्या च सा ओषधिर्वल्ली विशल्यकरणीलता-इति मल्लिनाथ नै० 8/90
3. नै०-8/90
4. कर्णशक्तिमफलां खलु कर्तुं सज्जितार्जुनरथाय नमस्ते ।
   केतनेन कपिनोरसि[illegible] लक्ष्मणं कृतवता शरणम् ॥ नै० 21/80
5. संजीवनौषधिरसोनुहृदि [illegible] - उत्तररामचरित संजीवनौषधिरिवप्रव्यतिकरमालोकातिमिरसंभेदम्-मालतीमाधव किं कौमुदीः शशिकलाः सकला विचूर्ण्य संयोज्य चामृतरसेन पुनः प्रयत्नात् कामस्य घोरहरहुङ्कृतिदग्धमूर्ते संजीवनौषधिरियं विहिता विधात्रा- शार्ङ्गधरपद्धति

ओषधियों का स्थान ऋषभ और कैलास शिखरों के बीच बताया (ओषधीनां धरा भूमिर्हिमवान् शैलसत्तमः)। साथ ही यह भी कहा कि वे हमेशा दीप्तिमान रहती हैं। यथा– "भास्वन्ति ज्वलन्ति महौषध्यश्च।" सुषेण हनुमान से कहते हैं– "तयोः शिखरयोर्मध्ये प्रदीप्तमतुलप्रभम्। सर्वौषधियुतं वीर द्रक्ष्यस्यौषधिपर्वतम्।। तस्य वानरशार्दूलचतस्रो मूर्ध्निसंभवाः। द्रक्ष्यस्योषधयो दीप्ता दीपयन्तीर्दिशो दश।। मृतसंजीवनीं चैव विशल्यकरणीं तथा। सवर्णकरणीं चैव संधानीं च महौषधीम्। संजीवनार्थं वीरस्य लक्ष्मणस्य समानय।" इन ओषधियों का अवचारण (Administration) नासा द्वारा किया जाता था। रामायण में वर्णन मिलता है "ततः संक्षोदयित्वा तामोषधी वानरोत्तमः। लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः सुषेणः सुमहद्युतिः।। सशल्यः स समाघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा। विशल्यो विरुजः शीघ्रमुदतिष्ठन् महीतलात्।।" बालरामायण में भी वर्णन मिलता है कि– "आमोदमाघ्राय महौषधीनां सौमित्ररुन्मीलितपद्मनेत्रः।।" इन ओषधियों के प्रभाव से हताहत तथा मूर्च्छित मनुष्य प्रसन्नचित्त और स्वस्थ होकर प्रबोधित होते हैं, ऐसा मन्तव्य रामायण में इन ओषधियों की कार्य करने की पद्धति के विवरण मिलते हैं। यथा– "गन्धेन तासां प्रवरौषधीनां सुप्ता निशान्तेष्विव संप्रबुद्धाः।।"

रतौंधी (तिमिर) रोग का विवरण देने के साथ-साथ[1] अमृत रूपी रसायन (ओषधि)[2] की प्रासङ्गिकता पर साहित्यिक कटाक्ष करते हुए नैषधकार ने जहाँ स्त्रियों की लज्जा को महौषधि[3] माना है, वहीं उन्होंने मृत व्यक्ति को पुनर्जीवन प्रदान करने वाली मृत संजीवनी ओषधि की भी चर्चा की है तथा विषदोष नाशक थाल का भी वर्णन कर उस समय प्रचलित चिकित्साशास्त्र की मान्यताओं को भी उजागर किया है। यथा-

> मयेन भीमं भगवन्तमर्चता नृपेऽपि पूजा प्रभुनाम्नि या कृता ।
> अदत्त भीमोऽपि स नैषधाय तां हरिन्मणेर्भोजनभाजनं महत् ।।
> छदे सदैवच्छविमस्य बिभ्रतां न केकिनां सर्पविषं विसर्पति ।
> स नीलकण्ठत्वमधास्यदत्र चेत् स कालकूटं भगवानभोक्ष्यत् ।।[4]

नैषधकार ने नैषधीयचरितम् में उस समय विषवैद्यों के होने एवं ओषधि (जड़ी) लेपन[5] से सर्पविष के असर न करने का भी संकेत बारहवें सर्ग में कीकट नरेश के प्रसङ्ग में उपस्थित किया है[6] साथ ही श्रीहर्ष ने चकोरपक्षी का विवरण भी दिया है जो कामन्दक के अनुसार विषपरीक्षा के लिये पाला जाता है

---

1. जगति तिमिरं मूर्च्छामब्जव्रजेऽपि चिकित्सतः पितुरिव निजादस्माद्दस्रावधीत्य भिषज्यतः ?।
   अपि च शमनस्यासौ तातस्ततः किमनौचिती यदयमदयः कहलाराणामुदेत्यपमृत्यवे ?।। नै० 19/50
2. नास्माकमस्मान्यदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसायनानि ।
   सुधारसादभ्यधिकं प्रयच्छ प्रसीद वैदर्भि! निजाधरं नः ।। नै० 8/94 (1)
   अस्माकमस्मान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसोऽपि नासौ ।
   प्रसीद तस्मादधिकं निजन्तु प्रयच्छ पातुं रदनच्छदं नः ।। नै० 8/104 मल्लि.
   विशेष - नारायणी टीका में "अस्माक'..... की जगह ""नास्माक"....पद व्यवहरित मिलता है।
3. येन तन्मदनवह्निना स्थितं ह्रीमहौषधिनिरुद्धशक्तिना ।
   सिद्धिमद्भिरुदतेजि तैः पुनः स प्रियप्रियवचोऽभिमन्त्रणैः ।। नै० 18/54
4. नै० 16/29, 30 एवं नै० 19/15
   सिद्धयोगान् पुनर्वक्ष्ये मृतसञ्जीवनीकरान् ।
   आत्रेयभाषितान् दिव्यान् सर्वव्याधिविमर्दनान् ।। अग्निपुराण 285/1 एवं 2-77 तक
5. महती सिद्धा अमोघा ओषधीवीरुत् ओषधिलता तस्याः, ओषधी इति जातिविषयत्वात्.। पर्वग्रन्थि ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी इत्यमरः। आस्ये मुखे विनिवेश्य निधाय जाङ्गुलिकला विषवैद्यता, विषवैद्यो जाङ्गुलिकः इत्यमरः।।–नै० 12/96, मल्लि0
6. अस्यासिर्भुजगः स्वकोशसुषिरात्कृष्टः स्फुरत्कृष्णिमा कम्पोन्मीलदरालतीलवलनस्तेषां [illegible] ।
   संग्रामेषु निजाङ्गुलीमयमहासिद्धौषधीवीरुधः पर्वास्ये विनिवेश्य जाङ्गुलिकतायैर्नाम नालम्बिता ।। नै० 12/96

क्यों कि विषैले पदार्थों को देखने मात्र से ही उसकी आँखें लाल हो जाती हैं।[1] अग्नि पुराण में भी सर्पविष की चिकित्सा का वर्णन वृहद् रूप में प्राप्त होता है।[2]

मच्छरों के काटने से विभिन्न प्रकार के रोगों की सम्भावना होती है। वर्तमान में मच्छरों को भगाने के लिये जो विभिन्न प्रकार की धूम्रोत्पादक या विशिष्ट रासायन युक्त पदार्थ प्रचलित हैं तत्कालीन समय में भी रहे होंगे क्योंकि धूम्र द्वारा मच्छरों से निजात पाने की व्यवस्था का संकेत श्रीहर्ष ने पृथु राजा के वर्णन प्रसंग में दिया है।[3]

ओषधि निर्माण की विधि का संकेत भी श्रीहर्ष ने पांचवे सर्ग में किया है, जहाँ वह कहते हैं कि मेनका ने अपने मनस्ताप को छिपाने के लिये अपने हृदय के पुटपाक में बाहर से उसी तरह से कीचड़ लपेटा जिस तरह वैद्य किसी ओषधि का पुटपाक करते समय उस पर ऊपर से मिट्टी का लेप करते हैं। ओषधि पुटपाक करते समय वैद्यगण ओषधि का लेष मात्र तत्त्व भी बाहर न निकल जाय इसलिये उस ओषधि को दो सकोरों में बन्द कर ऊपर से कपड़कूट मिट्टी का लेप कर देते हैं तब वह ओषधि लेशमात्र भी बाहर नहीं निकलने पाती और भीतर में तप्त होकर जलती है। इसके प्रतिकूल यदि किसी औषध का खुलापाक करते हैं, तो उसकी सुगन्धि आदि बाहर फैल जाती है तथा वह वस्तु भी जल जाती है। वाग्भट (अष्टांगहृदय तथा अष्टांगसंग्रह के रचयिता) के रसरत्न सभुच्चय में रसायन शाला का विस्तृत वर्णन मिलता है। वाग्भट का कथन है कि सर्वबाधा से रहित उस स्थान में रसशाला का निर्माण करना चाहिए जहाँ ओषधियाँ सुगमता से मिलती हों, अच्छे कूप हों एवं रसशाला में अनेक उपकरण हों। इसकी पूर्व दिशा में पारे का शिवलिङ्ग हो अग्निकोण में वह्निकर्म के लिये स्थान हो, दक्षिण में पाषाणकर्म (Furnaces), दक्षिण पश्चिम में शस्त्रकर्म (Instruments), वरुण में शोषणकर्म, उत्तर में वेधकर्म तथा ईशानकोण में अन्य सिद्ध ओषधियों को रखने की जगह हो।[4] इसके साथ वाग्भट ने विभिन्न प्रकार की मूषाओं[5] तीन प्रकार के खल्व और मर्दक यथा- अर्धचन्द्र खल्ल, वर्तुल खल्ल, तप्त खल्ल का[6] उल्लेख करने के साथ-साथ विभिन्न कोष्ठियों (भट्ठियों) यथा- अंगारकोष्ठी, पातालकोष्ठी, गारकोष्ठी, मूषाकोष्ठी, का भी उल्लेख किया है, जिनका उपयोग ओषधियों के सत्त्वपातन तथा सत्त्वशोधन में किया जाता था।[7] पातालकोष्ठी की तुलना वर्तमान में प्रचलित Pit furnace के साथ की जा सकती है। रसरत्नसमुच्चय में पुट की व्याख्या करते हुए वाग्भट कहते हैं- "रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम्। नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपाकं हितमौषधम्।।" यह पुट दस प्रकार के गिनाये गये हैं - महापुट, गजपुट, वाराहपुट, कुक्कुट,

---

1. अयि! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ।
   अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः क्व ते शीकराः ।। नै० 4/58
   – चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात् - कामन्दक ।नै० 4/58 मल्लि. टीका से उद्धृत
2. द्रष्टव्य- अग्निपुराण, 295 अध्याय, दंष्ट चिकित्सा
3. एतद्भुजारणिसमुद्भवविक्रमाग्निचिह्नं धनुर्गुणकिणः खलु धूमलेखा ।
   जातं ययाऽरिपरिषन्मशकार्थयाऽश्रुविश्राणनाय रिपुदारदृगम्बुजेभ्यः ।। नै० 11/105
4. रसरत्नसमुच्चय - 7/1.......18
5. वही 10/8.......31
6. वही 10/84......91
7. वही 10/33.....39

कपोलपुट, गोबरपुट, भाण्डपुट, बालुकापुट, भूधरपुट एवं भावकपुट[1]। नैषधकार द्वारा वर्णित पुट की तुलना भाण्डपुट से की जा सकती है। वामन आप्टे ने पुट की परिभाषा निम्नरूप में दी है। -

"A particular method of preparing drugs in which the various ingredients are wrapped up in leaves and being covered with clay roasted in fire." वर्तमान में धातु विज्ञान में हम इसे Calcination and Roasting भी कह सकते हैं।

श्रीहर्ष अभिहित करते हैं कि प्रकृत में मेनका ने संताप तथा आकारगोपन रूप दो सकोरों के मध्य में स्थित अपने हृदय रूपी ओषधि को पकाते हुए बड़े कष्ट का अनुभव किया तथा वह कष्ट उसे देर तक होता रहा, खुले हुए पाक के समान शीघ्र नष्ट नहीं हुआ।[2] कलि विवरण में भी इसका प्रसंग प्राप्त होता है।[3] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ओषधियों का पाक (निर्माण) खुले रूप में नहीं करना चाहिये। वर्तमान में वैद्यगण भी ओषधिनिर्माण में श्रीहर्ष सम्मत विधि अपनाते हुए देखे जाते हैं। सम्पूर्ण चिकित्सा सम्बन्धी विवरणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस शास्त्र में भी श्रीहर्ष की पैठ थी। रसायनशास्त्र भी चिकित्सा शास्त्र का ही एक अंग माना जा सकता है, क्योंकि विभिन्न रसायनों के सेवन से मनुष्य के रोगों की चिकित्सा संभव होती है, परन्तु उसका विवेचन आगे किया जायेगा।

रसायन शास्त्र

रसायन शास्त्र से सम्बन्धित कुछ अवयवों के विवरण 'नैषधीयचरितम्' में प्राप्त होते हैं। विभिन्न रसायन, चाहे वह वैद्यकशास्त्र या चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित हों, या मानव द्वारा शारीरिक सौन्दर्य वर्धन में प्रयुक्त किये जाते हों, वह नल तथा दमयन्ती के जरावस्था या इनकी सज्जावस्था प्रसङ्ग में नैषधमहाकाव्य में प्राप्त होते हैं। भारतीय रसायन शास्त्र का प्रवर्तक 'नागार्जुन' (बौद्ध विद्वान्) को माना जाता है।[4] नालंदा में एक बार घोर अकाल पड़ने पर, जब भिक्षु अन्न संग्रह हेतु यत्र तत्र भ्रमण करने लगे, उसी समय नागार्जुन ने एक तपस्वी से रसायन विद्या ग्रहण की, जिसका उपयोग इन्होंने साधारण धातुओं से सोना बनाकर बौद्ध भिक्षुओं को धर्मच्युत होने से बचाया। इस प्रकार इनके योगदान ने हीं, इन्हें भारतीय रसायन शास्त्र के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्रदान किया। रसायन शास्त्र की उपयोगिता का रहस्य अनेक कारणों से है। प्रथमतः औषधि निर्माण, आरोग्यता प्रदान करने में, सौन्दर्य वर्धन लेप, निर्माण, विभिन्न धातुओं के शोधन तथा परीक्षण अन्य वैज्ञानिक शोधों में मुख्य साधन होने में विभिन्न रसायनों से निर्मित घोल या शिरप को वैद्य या डाक्टर रोगी को रोगों से निजात पाने या रोग निरोधक तथा शारीरिक पुष्टता एवं स्वस्थता बनाये रखने हेतु प्रदान करते हैं इन कारणों से रसचिकित्सा को नितान्त उपयोगी एवं महत्व शालिनी माना जा सकता है। रसेन्द्रसार संग्रहकार का कथन उपर्युक्त तथ्य का प्रमाण माना जा सकता है। यथा-

अल्प मात्रोपयोगित्वादरुचेश्च प्रसङ्गतः ।
क्षिप्रमारोग्य दायित्वाद् औषधिभ्योऽधिको रसः ।।

वैद्यक सम्बन्धी रसायनशास्त्रीय ग्रथों में नागार्जुन का रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल गोविन्दभगवत्पाद का रसहृदयतंत्र, सोमदेव का रसेन्द्रचूड़ामणि, यशोधर का रसप्रकाशसुधाकर, विष्णुदेवपण्डित का

---

1. वही 10/44......69
2. मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधित्सुरकरोदवहित्थाम्। तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्कलिप्तिमसृणद्बहिरन्तः।। नै० 5/51
3. पुटपाकमसौ [illegible] क्रतुशुष्ममहोष्मभिः [illegible] पूतैर्मिव्यजनानिलैः ।। नै० 17/168
4. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास- बलदेव उपाध्याय, पृ० 33

रसराजलक्ष्मी, गोपालभट्ट का रसेन्द्रसारसंग्रह, वाग्भट्ट का रसरत्नसमुच्चय, पार्वतीपुत्रसिद्ध नित्यनाथ का रसरत्नाकर, ढुण्ढुकनाथ का रसेन्द्र चिन्तामणि, गोविन्दाचार्य का रससार, गोपाल कृष्ण का रसेन्द्रकल्पद्रुम एवं शिव पार्वती संवाद रूप में उपलब्ध रसार्णव ग्रंथ प्रमुख हैं।

श्रीहर्ष ने पारद रस (सिद्ध रस या पारा) का विवरण देवदूत बने नल, एवं दमयन्ती के संवाद में दिया है, जहाँ नल दमयन्ती से कहते हैं। कि मनुष्य देवों के अनुग्रह से ही मनुष्यभाव को छोड़कर दिव्यभाव या देवत्व प्राप्त कर लेता है। औषधादि से सिद्ध पारद (पारा) का स्पर्श करने वाले लोहे से बने सोने की, लोहे में गणना नहीं होती।[1] आचार्य मल्लिनाथ भी विश्वकोश का उद्धरण देते हुए कहते हैं "तथा हि रसः पारदः।" "देहधात्वम्बुपारद" इति रस शब्दार्थेषु विश्वः। स हि संस्कारबलाल्लोहान्तरससुवर्णीकरणे समर्थः सिद्धरस उच्यते। तत्स्पृशामयसामपि तत्स्पर्शात्स्वर्णीभूतायसामपीत्यर्थः।[2] आचार्य नागार्जुन ने अपनी प्रसिद्ध रचना रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल में 'पारा' को दरद का सत्व माना है जो कि पातना यंत्र में पातन करने पर प्राप्त होता है।[3] अर्थात् विमल को शिग्रु के दूध, फिटकरी, कसीस और सुहागा के साथ वज्रकन्द मिलाकर कदलीरस के साथ भावित करें और माक्षिक (Pyrites) क्षार मिलाकर मूक मूषा (Closed Crusible) में तपायें, तो विमल का सत्व मिलता है। रसहृदयतंत्र के प्रणेता गोविन्दभगवत्पाद ने तो पारद के अठारह संस्कार, अभ्रकग्रासविधि, जारण, रंजन, बाह्यद्रुति, सारण, क्रामण आदि पारद भस्म के उपयोगी प्रक्रियाओं एवं पारे को सीसा और वंग से पृथक करना, रस और उपरस का भेद, सार लौह और पूति लौह, लवण और क्षार का विस्तृत वर्णन करते हुए शरीर दृढ़ता के लिये पारद रस के उपयोग के बारे में अपना अभिमत दिया है कि विद्याओं का आयतन, पुरुषार्थों का मूल भूत यह शरीर विना पारद के अमरत्व प्राप्ति नहीं कर सकता है, किन्तु जो व्यक्ति पारद में सुवर्ण और अभ्रक का जारण किये बिना उपर्युक्त फल की कामना रखते हैं, वह वैसे ही व्यक्तियों की श्रेणी में आते हैं जो कि विना खेत को जोते बिना फल प्राप्ति की कामना मन में संजोते हैं। पारद भस्म की यही पहिचान (वाह्य परीक्षा) है कि लोहा या तांबा पर रगड़ते ही वह सोना बन जाता है।[4] इसके सेवन से शरीर के अवयव नित्य एवं दृढ़ बन जाते हैं। स्पष्ट है कि शरीर को स्थिर, दृढ़ तथा व्याधिरहित बनाने के लौकिक उपायों में पारद के भस्म का सेवन सर्वोत्तम है। किन्तु इस भस्म को तैयार करने में अत्यधिक श्रम एवं समय लगता है शायद यही कारण है कि वर्तमान में इस पारद रस के उपलब्ध होने की संसूचना अनुपलब्ध है। कलिप्रतिनिधि के कथन से भी लोहा से सोना बनाने की युक्ति के दर्शन होते हैं।[5]

श्री हर्ष ने दमयन्ती एवं नल के शरीर को हरिद्रा[6] (हल्दी, Turmeric, या सोना) सदृश बताया। हल्दी प्राचीन काल से आज वर्तमान काल तक भी ग्रामीण अंचलों में दवा के साथ-साथ उबटन (शरीर को सुन्दर बनाने हेतु लेप रूप) में प्रयुक्त देखी जाती है। हल्दी, प्याज, चूना एवं तेल गर्म कर चोट के ऊपर

---

1. अनुग्रहादेव दिवौकसां नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम् ।
   अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽसां सिद्धरसस्पृशामपि ॥ नै० 9/42
2. नै० 9/42 में मल्लिनाथ।
3. विमलं शिग्रुतोयेन काक्षीकासीसटङ्कणैः। वज्रकन्द समायुक्तं भावितं कदलीरसैः॥
   माक्षीकक्षारसंयुक्तं धामितं मूकमूषके। सत्वं चन्द्रार्कसंकाशं पतते नात्र संशयः॥
   दरदं पातनायन्त्रे पातितं च जलाशये। सत्वं सूतकसंकाशं जायते नात्र संशयः॥ संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० 35 से उद्धृत
4. Specially treated mercury believed to turn iron into Gold नै० 9/42 श्री के०के० हाण्डिकी की टिप्पणी
5. अक्रोधं शिक्षयन्त्यन्यैः क्रोधना ये तपोधनाः। निर्धनास्ते धनायैव धातुवादोपदेशिनः॥ नै० 17/80
6. जम्बालजालात्किमकर्षि जम्बूनद्या न हारिद्रनिभप्रमेयम् ।
   अय्यङ्गयुग्मस्य न सङ्गचिह्नमुन्नीयते दन्तुरता यदत्र ॥ नै० 7/13
   रुपं प्रतिच्छामिकयोपनीतमालोकि ताभिर्यदि नाम कामम् ।
   तथापि नालोकि तदस्य रूपं हारिद्रभङ्गाय वितीर्णभङ्गम् ॥ नै० 6/45
   – मल्लिनाथ एवं नारायण ने हारिद्र का अर्थ सोना भी किया है। द्रष्टव्य 6/45 एवं 7/13 मल्लिनाथी एवं नारायणी व्याख्या

रखने से दर्द समाप्त हो जाता है। साथ ही हल्दी निरोधक रूप में भी प्रयुक्त की जाती है। ग्रामीण अंचलों में आज भी प्रसवकालीन औरतों को हल्दी एवं घी संयुक्त हलुवा या लड्डू बनाकर खाने को दिये जाते हैं।क्योंकि इससे उन्हें शक्ति मिलने के साथ-साथ, अन्य अनेक रोगों एवं विषाणुओं से छुटकारा भी मिलता है। आज भी यह प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि घाव लगने से खून बहने के स्थान पर यदि हल्दी का चूर्ण दबा दिया जाये, तो खून बहना बन्द हो जाता है। नैषधकार ने हल्दी एवं चूने के मिश्रण से रक्त वर्ण बन जाने की बात का विवरण भी नल द्वारा दमयन्ती से सन्ध्यावर्णन प्रसङ् में किया है। जहाँ वह कहते हैं कि प्रिये, प्राची के अम्बर (आकाश या वस्त्र) को रजनी (रात्रि, हल्दी) ने पीतवर्ण का कर दिया था। फिर चूने के समान श्वेत चन्द्ररश्मियों के मिलने से वह पीतिमा अरुणिमा में बदल गयी है।[1] रसायन शास्त्र में भी हल्दी एवं चूने के मिलने से लाल रंग की निष्पत्ति मानी गयी है।

विभिन्न रसायनों के सम्मिश्रण स्वरूप "सेंधा नमक" का विवरण भी नैषधकार ने उन्नीसवे सर्ग में चारणों द्वारा नल की स्तुति प्रसङ्ग में दिया है।[2] कपड़े इत्यादि में किसी दाग, धब्बा छुड़ाया जाना रसायनों के सहयोग से ही सम्भव होता है। नैषधीचरितम् में इस तथ्य का संकेत भी नल द्वारा सन्ध्यावर्णन प्रसङ्ग में मिलता है, जहाँ नल दमयन्ती से कहते हैं कि कृशोदरि, देखो, रात्रि रूपी धोबिन ने चन्द्रिमा रूपी दूध की धारा से आकाश रूपी वस्त्र में लगे हुए अन्धकार रूपी कज्जल (काजल) के दाग को क्षणभर में साफ कर दिया।[3] दूध में लैक्टिक एसिड होता है जो कालापन दूरता है। कलाकोष नामक ग्रन्थ में भी वर्णन मिलता है कि तैलं घृतेन तच्चोष्णजलैर्दुग्धेन कज्जलम्। नाशयेदम्बरस्थं तु मलं क्षारेण सोष्मणा।[4] रसायन के प्रयोग द्वारा ही किसी पात्र बर्तन इत्यादि पर एक लेप के ऊपर दूसरा लेप चढ़ाया जाता है। रसायन विज्ञान के अनुसार जिस पर कलई चढ़ानी होती है, उसे Negative Point से जोड़ देने के बाद A,G,C,L, में दुबे देने के बाद A, G, C,L. में Current पास कर देने पर कलई चढ़ जाती है। कलई चढ़ाने का निर्देश भी नैषध महाकाव्य में नल के सन्ध्यावर्णन प्रसङ्ग मेंही प्राप्त होता है, जहाँ नल दमयन्ती से कहते हैं कि प्रिये! देखो, यह सायंकाल कितना धूर्त है कि इसने चांदी के इस सफेद गोलखण्ड (चन्द्रमा) पर सोने का पानी चढ़ाकर आकाश को दिया और बदले में आकाश की अमूल्य मणि (सूर्य) को मार ले गया। अभी तक तो यह (चन्द्रमा) नकली सोने (के रंग) का बना था किन्तु अब फीका होने लगा है और इसका असली सफेद रंग झलकने लगा है।[5] (अर्थात् सन्ध्या हो गयी है।) लोक जीवन में भी पात्रों (बर्तनों) पर चढ़ा लेप कुछ दिनों के अन्तराल पर छूटते हुए देखा जा सकता है।

कसौटी पत्थर[6], जिससे सोना नामक धातु का परीक्षण किया जाता है[7] का निर्देश भी सन्ध्यावर्णन सन्दर्भ में श्रीहर्ष ने दिया है। जहाँ नल दमयन्ती से कहते हैं कि अस्ताचल निकषपत्थर (कसौटी पत्थर) के

---

1. अस्याः सुराधीशदिशः पुरासीद्यदम्बरं पीतमिदं रजन्या। चन्द्रांशु चूर्णव्यतिचुम्बितेन तेन धुना नूनमलोहिताय।। नै० 22/47
   – हरिद्रया पीतवर्ण वस्त्रं चूर्णेन युक्तं सद्रक्तं भवति – नै० 22/47, मल्लिनाथ, एवं नारायण
2. निशिः निरशनाः क्षीरस्यन्तः क्षुधाऽश्वकिशोरका मधुरमधुरं हेषन्ते ते विलोलितवालधि ।
   तुरगसमाजः स्थानोत्थायं क्वणन्मणिमन्थमू। धरभवशिलालेहायेहाचणो लवणस्यति ॥ नै० 19/18
3. आभिर्मृगेन्दोदरि! कौमुदीभिः क्षीरस्य धाराभिरिव क्षणेन ।
   अक्षालि नीली रुचिरम्बरस्था तमोमयीयं रजनीरजक्या ॥ नै० 22/111
4. नै० 22/111, मल्लिनाथ एवं नारायणी टीका से उद्धृत ।
5. आदत्त दीप्रं मणिमम्बरस्य दत्वा यदस्मै खलु सायधूर्तः । रज्यत्तुषा स्थूलिकूटहेम तत्पाण्डुजातं रजतं क्षणेन।।नै० 22/50
   –उदयानन्तरमतिक्रान्तकियत्कालत्वाद्रक्तिमानं परित्यज्य चन्द्रो रूप्यवदुज्ज्वलो जात इति भावः। नै० 22/50, नारायण एवं मल्लिनाथ
6. अस्ताचलेस्मिन्निकषोपलाभे सन्ध्याकषोल्लेखपरीक्षितो यः ।
   विक्रीय तं हैलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौः ॥ नै० 22/13
7. निकषोपलाभे सुवर्णपरीक्षापाषाणतुल्येऽस्ताचले। नै० 22/13, मल्लिनाथ एवं नारायण

समान है, उस पर सूर्य रूप स्वर्णपिण्ड को घिसकर सोने की परीक्षा की गयी है। सन्ध्या की अरुणिमा ही उस सोने का घर्षण चिन्ह है। किन्तु मूर्ख आकाश ने उस स्वर्णपिण्ड को देकर बदले में इन तारे रूपी कौड़ियों को लिया है। पीतल (Bross) के एक प्रकार आरकूट[1] का विवरण देने देने के साथ-साथ श्रीहर्ष ने कोयले (Charcoal) के एक प्रभेद इङ्गाल[2] (दग्धकाष्ठ) का वर्णन एवं कर्पूर (Campher) के एक भेद उदयभास्कर[3] का वर्णन कर उस समय धातुओं के साथ-साथ कोयले एवं कर्पूर की जानकारी भी मनुष्यों को थी, इस तथ्य का उद्घाटन किया है। नैषध के प्राचीन टीकाकार चाण्डुपण्डित का कथन है कि 'उदयभाष्कर' नामक कर्पूर गौड़ देश में पाया जाता था। कर्पूर का उपयोग पूजा में आरती हेतु, कपड़ों में रखने (कीटाणु नाशक रूप में), तथा अंजन (काजल) निर्माण एवं विभिन्न तेलों एवं इत्रों के निर्माण तथा पान में खाने (Brass रूप में) में प्रयोग में आता है।

कर्पूर के साथ-साथ श्रीहर्ष ने 'पुर' (गुग्गुल)[4] धूप का विवरण भी विवरण नैषध में दिया है। ध्यातव्य है कि कर्पूर एवं गुग्गुल का धुवाँ स्वास्थ्यकर होता है साथ ही रोग निरोधक भी। नल की पूजा प्रसङ्ग में गुग्गुल एवं कृष्णागुरु जैसे धूपों का उल्लेख नैषधकार ने किया है।[5] इन धूपों का निर्माण भी रसायनों द्वारा ही होता है। वर्तमान में भी विभिन्न प्रकार के धूपों का प्रचलन लोक व्यवहार में द्रष्टव्य है। साथ ही नल के प्रासाद विवरण में श्रीहर्ष ने 'कामशर' नामक धूप से बनायी गयी बत्तियों एवं महलों में जलने वाले सुगन्धित तेलों से युक्त दीपकों का विवरण दिया है।[6] तेलों को सुगन्धित बनाने में रसायनों का ही योगदान माना जा सकता है। कामशर धूप की निर्माण सामग्री के निर्माण के बारे में वर्णन मिलता है कि "पुरसर्जाभयालाक्षानखाब्जादिजटागदैः। समैः समधुभिर्धूपो मतः कामशराभिधः।। इति कामशरोधूपः।[7]

वर्तमान में शारीरिक सौन्दर्य के निखार हेतु जो विविध आयाम (साबुन, क्रीम, इत्यादि) अपनाये जाते हैं, इन आयामों की प्राचीन पद्धतियों का विवरण भी श्रीहर्ष ने नैषध महाकाव्य में नल एवं दमयन्ती के साज सज्जा प्रसङ्ग में दिया है। उनका कथन है कि (स्नानपूर्व) यक्षकर्दम के उबटन लगाये हुए अङ्गों वाले तथा पहले कस्तूरी से लिप्त शिर वाले नल को उन्नत स्तनों वाली (युवती) स्त्रियों ने (अधिक सुगन्धि होने से) भ्रमर जिस (पानी) पर आ रहे थे, ऐसे सुगन्धित पानी से नहलाया।[8] अमरकोष के अनुसार कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी और कङ्कोल नामक चारों द्रव्य से निर्मित उबटन को 'यक्षकर्दम' कहते हैं[9] एवं गरुण पुराण के अनुसार उक्त चारों द्रव्य तथा चन्दन से बनाये गये उबटन को 'यक्षकर्दम' कहा जाता है। यथा–

---

1. पुरः सुरीणां भणकेव मानवी न यत्र तास्तत्र तु शोभिकापि सा ।
   अकाम्यनेऽकिंचननायिकाङ्गके किमारकूटाभरणेन न श्रियः।। नै० 9/28
   – रीतिः स्त्रियामारकूटम् इत्यमरः। लोके पित्तलमिति वदन्ति। नै० 9/28, नारायण
2. निजस्य तेजःशिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे।। नै० 1/9, उत्तरार्द्ध
3. पूगभागबहुताकषायितैर्वासितैरुदयभास्करेण तौ । चक्रतुर्निधुवनेऽधरामृतैस्तत्र साधु मधुपानविभ्रमम् ।। नै० 18/103
4. प्रीतिमेष्यति कृतेन ममेदृक्कर्मणा पुरिपुर्मदनारिः । तत्पुरः पुरमतोऽयमधाक्षीद्धूपरूपमथ कामशरं च ।। नै० 21/37
   – गुग्गुलौ कथित पुरः इति विश्वः
   The aromatic resin commonly known as Gruggule burnt as incense before idols. नै० 21/37, हाण्डिकी
5. राज्ञि कृष्णलघुधूपनधूमाः पूजयत्यहिरिपुध्वजमस्मिन् । निर्ययुर्भवधृता भुजगा भीदुर्यशोमलिनिता इव जालैः ।। नै० 21/46
6. धूपितं युदवान्तर चिरं नैचकैरगुरुसारदारुभिः । जालजालधृतचन्द्रचन्दक्षोदमेदुरसमीरशीतलम् ।। नै० 18/5
   – क्वापि कामशरवृत्तवर्तयो यं महासुरभितैलदीपिकाः।
   तेनिरे वितिमिरं स्मरस्फुरोद्दोः प्रतापनिकराकुलश्रियः।। नै० 18/6
7. नै० 18/6 मल्लिनाथ एवं नारायणी टीका से उद्धृत
8. यक्षकर्दममृदून्मृदिताङ्गं प्राक्कुरङ्गमदमीलितमौलिम्। गन्धवाभिरनुबन्धितभृङ्गैरङ्गनाः सिषिचुरुच्चकुचास्तम्।। नै० 21/7
9. कर्पूरागुरुकस्तूरीकक्कोलैर्यक्षकर्दमः इति अमरः 2/6/133, इसके विषय में भिन्न-भिन्न मत के जिज्ञासुओं को अमरकोष की मल्लिनाथ कृत मणिप्रभा व्याख्या की "अमरकौमुदी" नामक टिप्पणी द्रष्टव्य है।

तथा कर्पूरमगुरुः कस्तूरी चन्दनस्तथा। कङ्कोलञ्च भवेदेभिः पञ्चभिर्यक्षकर्दमः।।[1]

प्रो० हंण्डकी ने यक्षकर्दम शब्द की वेशद व्याख्या की है।[2] वर्तमान समय में प्रचलित विभिन्न साबुन टिकियों में चन्दन एवं कस्तूरी आदि के मिश्रण का प्रयोग सर्वश्रात है। वैदर्भी की गौरवर्ण मुख को नैषधकार विविध चूर्ण लेपों का परिणाम मानते हैं।[3] साथ ही स्वर्ण सदृश भी।[4] उनका कथन है कि दमयन्ती की सखियों ने भी शरीर कांति वर्धन के लिये दमयन्ती के देह में स्निग्ध पदार्थ (सुगन्धित तेल इत्यादि) एवं कृत्रिम पदार्थों का लेप[5] और अंग राग[6] (कर्पूर, चन्दन का छिड़काव)

---

1. गरुण पुराण - काशीखण्ड 80/44 एवं 45, 46.
2. In Naishadh, 21/7, यक्षकर्दम, lit, Yaksa mud, a kind of fragrant paste. Nala's body is rubbed with Yaksa Paste before he takes his bath. (यक्षकर्दम मृदून्मृदिताङ्गम्) According to Dhanvantariya Nighantu and Rajani ghantu, the ingredients of Yaksakardama are sffron, aloe wood (Aguru), camphor, musk and sandal[A]. Narayana's quotation from garudapuran is to the same effect, except that is substitutes kakkol for saffron, Skandapurana (Kasikhanda 80.44-46) says that the paste is likied by all the gods, and gives the following recipe for its preparation, Two parts of must, two parts of saffron three parts of sandal, and one of comphor. The idol of the Devi is to be smeared with Yaksakardama in Devipurana (31.5) we read that the chariot in which the devi is led out in procession is to be worshipped with various flowers, yaksakardama, and sandal. Agnipurana (75.50) prescribes Homa or oblations of Yaksakardama. in the fire in connection with the ritual of shiva worship. Pranatosini Tantra (5.3) gives a quotation from a Matsyasukta, According to which a kind of incense prepared from yaksa paste (यक्षकर्दमधूप) [B] should be used in the worship of a sivalinga. Padmapurana (Kriyayogasara 12.8) tells us that he who applies the fragrant yaksa paste to the idol of Hari in the summer attains salvation. We hear of yaksakardama being used in Jaina ritual also. We find in somesvara's Kirtikaumudi (9.23) that the kapardiyaksa, a Jaina idol with the head of a bull, is smeared with the yaksa paste[C]. The paste was used also for various secular purposes, of which the reference in our poem is an example. We learn from Nalacampu that it was customary to wash the floor of a palace with water mixed with yaksakardema,[D] and the same work describes the walls of a recreation hall as being sprayed with yaksakardama.[E] yasastilaka likewise describes the walls of a palace chember as being decorated with pieces of camphor smeared with yaksakardama.[F] On festive occasions it seems to have been the practice to strew yaksakardama powder over the streets.[G] The Yaksa paste was frequently used for personal decoration. We find in skandapurma.[H] that it is an item in the adornment of Visnu on the eve of his marriage. The same work describes Laksmi as having her body smeared with the Yaksa Paste.[I] A smilar reference in found in Mahanataka which incidentally enumerates the ingredients, of yaksakardama.[J] Sesakrsna in his kamasavadh Speaks of Yaksakardam powder as being used as beauty paint.[K]
   - Rajanighantu states that yaksakardam is used exclusively by worshippers of shiva (त्र्यक्षपूजनपरैकगोचर). The statement need not be taken literally.
   - The yaksa incense mentioned in Dhanvantariya Nighantu (3.121) is different (ललनः शालनिर्यासो यक्षधूमोऽग्निवल्लभः) An incense called (यक्षाङ्ग) pataru (vratakanda) P.6 (G.O.S.)
   - स कर्दामैस्तस्य तनुं कपर्दियक्षस्य यक्षोपपदं विलिप्य।
   - यक्षकर्दमाम्बुसिक्तसौधस्कन्ध ....Chap. 7
   - यक्षकर्दमाच्छच्छटोच्छोटितपर्यन्तभित्तिनि........ अपराह्णविनोदखण्डपे।......... Chap. 7
   - यक्षकर्दमखचितकर्पूरदलन्तुरितजातरुपभित्तिनि......... वासभवने। .... Chap. 4
   - Cf. तत्र च वसन्तोत्सवे.....क्रियन्ते प्रतिरथ्यं छण्टनकानि यक्षकर्दमैः। Jinamandana's Kumarpalaprabandh quoted by Dalal in his Intruaection to Rupakasatka. (G.O.S.)
   - Vishnukhanda, 8/5 of Venkatacalamahatmya.
   - यक्षकर्दमसंलिप्तसर्वाङ्गो कटकोज्ज्वले-वही, 9/102
   - विदग्धबान्धकामिनीनीरन्ध्रपीनस्तनवदनघजघनकोर्मूलघम्मिल्लमालासाराधिष्ठितश्रीखण्डागुरुकर्पूर मृगमदकुंकुमस्तोमसंभृतयक्षकर्दमविमर्दवर्धितविविधगन्धकुसुमबहुलपरिमलोद्गारि..........Act - 4
   - उअहरामि दिव्वङ्गराअक्खमं अक्खकद्दमयोदमं Act - 5
3. धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डुरं विधिः। भ्रमयत्युचितं ... विदर्भजाननिर्मानकन्।। नै० 2/26.
4. वयं कलादा इव दुर्विदग्धं त्वद्गौरिमस्पर्धिदहेम हेम।
   प्रसूननाराचशरानेन सहैकवंशप्रभवं।। नै० 8/99 एवं नै० 15/24
5. स्निग्धत्वमाषाजललेपलोपसयतसयत्नाशुमाशुकमाम्। नेपथ्यहीरद्युतिरवेरितसिवच्छकुनच्छयनिजालिजालाम्।। नै० 10/94
6. विलेपनामोदमुदागतेन तत्कर्पूरोत्पलसर्पिणा च।
   रतीश दूतेन मधुव्रतेन कर्णे रहः किंचिदिवोच्यमानाम्।। नै० 10/95, नै० 15/25

तथा गोरोचन[1] (पीतवर्ण), चन्दन, (धवलवर्ण), कुंकुम (अरुण वर्ण) तथा कस्तूरी (नीलवर्ण), के आलेपन यथास्थान किये[2] विविध लेपयुक्त सौन्दर्यवर्धक रसायनों के साथ-साथ श्रीहर्ष ने इत्र (Perfumedया सौगन्धिक) जो कि विभिन्न रसायनों का मिश्रण होता है, का उल्लेख भी नैषध, के आठवें एवं इक्कीसवें सर्ग में किया है जो कि चन्दन इत्यादि की सुगन्धि सदृश था।[3] शृंगार रचनाओं के कुशल सेवकों द्वारा नल के केशों को संवारने में विविध रसायनों से सम्मिश्रित सुगन्धित तेलों का ही प्रभाव था कि उनमें कोमलता के साथ-साथ कांति भी आ गयी थी।[4] ब्रह्मा द्वारा लावण्य तेज से दमयन्ती की मुखरचना के निर्माण का विवरण उपलब्ध करवाना तो नैषधकार की रसायन मीमांसा का परिणाम ही माना जा सकता है।[5]

श्रीहर्ष ने औरतों द्वारा शृंगार प्रसाधन की सामग्री अधर राग (Lipistic), एवं यावक राग (पैरों पर लगाये जाने वाला रंग) एवं सिन्दूर का भी विवरण नैषध महाकाव्य में दिया है, जिनका निर्माण रासायनशास्त्र की पद्धति से ही किया जाता है। स्त्रियाँ होठो पर आलक्तक (अरुण राग) लगाने के पूर्व मोम या अन्य कोई चिकनी वस्तु लगाती हैं। दमयन्ती की सखियों द्वारा भी दमयन्ती के अधरोष्ठों पर यावक रंग लगाने के पूर्व उसे और अधिक चटकीला (चमकने के साथ स्थिरता लाने हेतु) बनाने हेतु मोम लगायी गयी। उस समय ऐसा लग रहा था मानो उस मोम ने अपने सदा के साथी मधु को त्याग दिया है, और अब अमृतमय राग अधरों पर सदा निवास करने के लिए उत्सुक हो सुशोभित हो रही हो।[6] मोम का प्रयोग लौकिक व्यवहार में अन्य वस्तुओं को जोड़ने के कार्य में भी किया जाता है। दमयन्ती के चरणों पर लगे हुए महावर या आलक्तक का, जो कि अरुण वर्ण का था, (यावोऽलक्तो द्रुमामयः इत्यमरः) नैषधकार का कथन है कि उसे देखकर लोगों ने यह समझा कि मानों प्रभातकालीन सूर्य की अरुण किरणें, जो रात भर कमल से वियुक्त रहीं, अब इन्हें पाकर लिपटी हुई हैं।[7] स्पष्ट है कि दमयन्ती के चरणों पर लगा रंग चमकीला एवं लाल रंग का था। श्रीहर्ष ने सिन्दूर को लाल वर्ण का बताते हुए उसे औरतों द्वारा अपने पतियों की आयु के चिह्न रूप में पर सिर पर धारण करने की मान्यता का प्रतिपादन नैषधीयचरितम् महाकाव्य में

---

1. Gorochana is a yellow pigment, being "Concretions found in the gall bladder of the OX.,- Ray Hindu Chemistry, Vol. 1, 1903. P.25
   - गोरोचनारुचिमरीचि विरोचनस्य बिम्बम्- हरविजय 19/2, पर अलका (Alaka) की टिप्पणी है "Gorocana is found in the horn of an ox."
   - कादम्बरी पूर्व भाग में भी गोरोचना का प्रसङ्ग द्रष्टव्य है। यथा- गोरोचनातिलकपत्रभङ्ग, गोरोचनाबिन्दुतिलक, गोरोचना चित्रकण्ठसूत्रग्रन्थिः,.... पुत्रकः। गोरोचनालिखित भूर्जपत्रगर्भान् मन्त्रकरण्डकानुवाह, गोरोचनामिश्रगौरसर्षपैश्चसलिलाञ्जलिमिश्रवारकुशलेनान्तः पुरजरतीजनेन् क्रियमाणावतरणकमङ्गलाम्, गोरोचनाचित्रितदशमनुपहतमतिधवलं दुकूलयुगलं वसाना विलासवतीं ददर्श, गोरोचनाछुरितदेह.... सिंहा सनमारुरोह।।
2. पीतावदातारुणनीलभासा देहोपदेहात्किरणैर्मणीनाम् । गोरोचना चन्दनकुङ्कुमैणनाभीविलेपान्पुनरुक्लयन्तीम्।। नै० 10/98
3. चन्दनवासिता दिक् नै० 8/77, सोऽज्ञातवासितमयः नै० 21/118, में चाण्डूपण्डित का कथन है संस्कृततयः है जब कि नारायण कहते हैं - अतितरां संभावितमनाः। तथा मल्लिनाथ कहते हैं "वासिततमः अतिशयेन अज्ञातभावनः सन्, अत्यर्थं तन्मयः सन्नित्यर्थः।
4. नृपस्य तत्राधिकृताः पुनः पुनर्विचार्य स्नान्बन्धमबाष्पिन्कचान् ।
   कलापलीलोपनिधिगुर्रुत्यजः स यैरपालऽपि कलापिसंपदः ।। नै० 15/58
   - पतत्रिणां द्राधिमशालिनां धनुर्गुणेन संयोगजुषां मनोभुवः।
   कचेन तस्यार्जितमार्जनश्रिया समेत्य सौभाग्यमलम्भि कुन्तलैः।। नै० 15/59
5. लावण्येन तवास्यमेव बहुना तत्यात्रमात्रस्पृशा, चन्द्रः प्रोञ्छनलब्धतार्द्रमलिनेनारम्भि शेषेण तु ।
   निर्माण द्वयमेतदप्सु विधिना पाणी खलु क्षालितौ, तल्लेशैरधुनापि धौतमिहायेरम्भोजमारभ्यते ।। नै० 22/142
6. निवेशितं यावकरागदीप्तये लगत्तयं लगत्तदीयाधरसीम्नि सिक्थम् ।
   रराज तत्रैव निवस्तुमुत्सुकं मधूनि निर्धूय सुधासधर्मणि ।। नै० 15/43
7. पदद्वयेऽस्या नवयावरञ्जना प्रानैस्ततानीमुदनीयतार्पिता ।
   चिराय पद्मौ परिरभ्य जाग्रती निशीव विश्लिष्य नवा रविद्युतिः ।। नै० 15/46

किया है।[1] स्कन्दपुराण में वर्णन मिलता है कि पतिव्रता स्त्रियों के लिये सिन्दूर धारण मङ्गलार्थक होता है।[2]

प्राणिशास्त्र (जीव विज्ञान)

श्रीहर्ष ने प्राणिशास्त्र सम्बन्धी कुछ प्राणधारी पशु पक्षियों एवं जलचर प्राणियों का वर्णन भी नैषधमहाकाव्य में किया है। उन्नीसवें सर्ग में वन्दीजनों द्वारा नल को जगाने में प्रयुक्त पदावलियों में वह 'कबूतर' प्राणी को पाणिनीय व्याकरण का ज्ञाता बताते हुए उसकी आवाज, जो कि 'घु' - 'घु' रूप में होती है, एवं उसके गमनकाल में शिर हिलाने की स्वाभाविक मुद्रा का भी वर्णन नैषधकार ने किया है।[3] कौए एवं कोयल को भी पतञ्जलि शास्त्र (व्याकरणशास्त्र) का जानकार बताते हुए श्रीहर्ष ने उनकी बोली क्रमशः किम् (कौन् या काँव) तथा तुहि (कुहू-कुहूँ) का भी उल्लेख किया है।[4] नैषधकार ने पंचनली प्रसङ्ग में नल को विज्ञानवेत्ता रूप में भी चित्रण किया है, जहाँ दमयन्ती मन ही मन विचार कर रही थी कि इस समय खिलाड़ी बनकर प्रिय नल इतने रूप बनाकर मुझसे परिहास तो नहीं कर रहा है? क्योंकि विज्ञानवेत्ता होने के कारण अश्वहृदय ज्ञान की भांति उनमें कई रूप धारण करने की विद्या तो अवश्य ही होगी?[5]

नैषधीयचरितम् में 'चकोर' (चातक) पक्षी का विवरण श्रीहर्ष ने दिया है जो कामन्दक के अनुसार विषपरीक्षक होता है।[6] साथ ही चक्रवाक युगल पक्षियों का कामशास्त्र के रहस्य के ज्ञाता रूप में[7] वर्णन करते हुए नैषधकार ने उन पक्षियों को रात्रि में अलग-अलग रूप में रहकर, एवं दिन में संयुक्त रूप में रहने की उनकी जीवन विधाओं की भी चर्चा की।[8] साथ ही उनके शरीर को (स्तन रूप) छोटा एवं गोलाकार बताया।[9] सर्पों में एक सहस्रफण वाले शेषनाग का विवरण देते हुए श्रीहर्ष ने सर्प के दो आंखों को, कान (श्रवण) का काम करने, अर्थात् सर्प आंख से ही सुन लेता है, उसके कान नहीं होते इसीलिए उसे चक्षुश्रवा भी कहा जाता है, इस तथ्य को भी स्पष्ट किया है। सर्प की फूत्कार को उन्होंने उदात्तादि स्वर (ऊंचे स्वर) वाला अभिहित किया।[10] नैषधमहाकाव्य में खंजन पक्षी का उल्लेख भी दमयन्ती के आंखों

---

1. नलात्स्ववैश्वस्त्यमनाप्तुमानता नृपस्त्रियो भीममहोत्सवागताः।
तदङ्घ्रिलाक्षामदधन्त मङ्गलं शिरःसु सिन्दूरमिव प्रियायुषे।। नै० 15/55
2. हरिद्रा कुङ्कुमं चैव सिन्दूर कज्जलं तथा, कूर्पासकं च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणं शुभम्। केश संस्कारकबरीकरकर्णविभूषणं भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेन्न पतिव्रता ।। नै० 15/55, नारायण एवं मल्लिनाथ की व्याख्या, से उद्धृत्
3. दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत्कोऽप्यधीती कपोतः कण्ठे शब्दौघ सिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषानुयातः।
—सर्वं विस्मृत्य दैवात्स्मृतिमुषसि गतां घोषयन्यो घुसंज्ञां प्राक्संस्कारेण संप्रत्यपि घुवति शिरः पट्टिकापाठजेन।। नै० 19/61
4. इह किमुषसि, पृच्छाशंसिकिंशब्दरूप - प्रतिनियमित वाचा वायसेनैष पृष्टः ।
भण फणिभवशास्त्रे तातङः स्थानिनौ का- विति विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोऽभूत् ।। नै० 19/60
5. किं. वा तनोति मयि नैषध एव काय - व्यूहं विहाय परिहासमसौ विलासी ।
विज्ञानवैभवभृतः किमु तस्य विद्या सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव ।। नै० 13/43
6. नै० 4/58, चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्-कामन्दक, नै० 4/58, मल्लिनाथ टीका से उद्धृत्
7. जगति मिथुने चक्रावेव स्मरागमपारगौ नवमिव मिथः संभुजाते वियुज्य वियुज्य यौ ।
सततममृतादेवाहाराद्यदाप्यदरोचकं तदमृतभुजां भर्ता शम्भुर्विषं बुभुजे विभुः ।। नै० 19/34
8. निजपरिवृढं गाढप्रेमारथाङ्गविहङ्गमी स्मरशरपराधीनस्वान्ता वृषस्यति सम्प्रति।। नै० 19/17 एवं 19/33, 35, 47 एवं 21/161
9. निःशङ्कसंकोचितपङ्कजोऽयमस्याममुदीते मुखमिन्दुबिम्बे ।
चित्रं तथापि स्तनकोकयुग्मं न स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम् ।। नै० 7/71
10. श्रुतिमयतनोर्मानोर्जाने[illegible] विहरणकृतः शाखा साक्षात्कृतानि [illegible] ।
निशि निशि सहस्राभ्यां दृग्भिः शृणोति सहस्वराः पृथगहिपतिः पश्यत्युद्यत्क्रमेण च [illegible] ।। नै० 19/52

के वर्णन में द्रष्टव्य है।[1] चारणों द्वारा नल की स्तुति प्रसङ्ग में ही श्रीहर्ष ने उलूक (उल्लू) पक्षी का विवरण दिया है, एवं यह अभिहित किया कि वह सूर्य के निकलने पर, अर्थात् दिन में देख नहीं सकता, उसकी आंखें भद्दी, एवं छोटी होती हैं।[2] उलूक पक्षी रात्रिचर प्राणी है।

नैषधमहाकाव्य की कथावस्तु के सूत्रधार हंस पक्षी का वर्णन तो श्रीहर्ष ने विस्तार से किया है, उसके स्वभाव, उसकी चाल एवं उसके चातुर्य का वर्णन करने के साथ-साथ महाकवि ने उसे सम्पूर्ण शास्त्रों के जानकार रूप में भी चित्रित किया है।[3] प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं नवें सर्ग में हंस पक्षी का विवरण नैषध महाकाव्य में मिलता है। नल के हाथों से छूटने पर इस पक्षी ने अपने चञ्चुपुट (चोंच) के माध्यम से अपने पंख सुव्यवस्थित किये,[4] ये पक्षी पैर एवं चञ्चुपुट से अपने पंखे, शिर एवं शरीर के विभिन्न अंगों को खुजलाते हैं, तथा एक पैर मोड़कर भी जंघे को पंखे के ऊपर तक भी ले जाकर यह अपने शरीर को खुजला लेते हैं एवं चोंच के माध्यम से पंखों के अंदर प्रविष्ट कीटों को भी बाहर निकाल देते हैं। विपत्ति में पड़ने पर अन्य पक्षियों की भाँति यह पक्षी भी भयमिश्रित उच्चस्वर करते हुए उड़ जाते हैं, परन्तु लालन पालन से यह मनुष्य के विश्वस्त भी बन जाते हैं।[5] हंस की गति का वर्णन करते हुए नैषधकार कहते हैं कि हंस कभी पंखों को हिलाते हुए उड़ता कभी ऊपर की ओर जाने के कारण दुर्लक्ष्य हो जाता या कभी पंखों को फैलाकर निष्पंद गति से चलता। वेग के कारण इनके पंखों की गति से आवाज (झंकार) होती है।,[6] एवं आकाश से नीचे उतरते हुए यह गोलाकार आकृति की मण्डल रचना करता हुआ जमीन पर उतरता है।[7] पक्षियों की यह विशेषता होती है कि जिस स्थान पर वे उतरना चाहते हैं, पहले तो अपने पंखों को समेट कर तीव्र वेग से आकाश से नीचे उतरते हैं तदनन्तर निर्धारित स्थान पर पहुंचने पर अपने शरीर के सन्तुलन को बनाये रखने के लिये अपने पंख फैला देते हैं, ठीक इसी मुद्रा का परिपालन करते हुए हंस भी (निषद् देश से चलकर कुडिनपुरी में पहुंचकर उपवन में विचरणशील) दमयन्ती के समीप भूमि पर उतरा।[8] साथ ही श्रीहर्ष इस तथ्य का विवरण तथ्य का विवरण नैषध महाकाव्य में दिया है कि हंस जमीन पर धीरे-धीरे या मन्दगति से चलने के साथ-साथ-फुदक कर भी चल सकता है।[9] दमयन्ती ने जब हंस को पकड़ना चाहा, तो उसने अपनी गति एवं अपने वंश का विवरण देते हुए कहा- कि हम पृथ्वी एवं आकाश दोनों में चल सकते हैं, या उड़ सकते हैं, ब्रह्मा के वाहन हंस वंश के हम (सहायक) पक्षी हैं, एवं

---

1. नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे। अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधते रुचिगर्वदुर्विधम् ॥ नै० 2/23
2. कमलकुशलाधाने भानोरहो पुरुषव्रतं, यदुपकुरुते नेत्राणि श्रीगृहत्वविवक्षुभिः ।
   कविभिरुपमानादप्यम्भोजानां गमितान्यसा, वपि यदतथाभावान्मुञ्चत्युलूकविलोचने ॥ नै० 19/40
3. नै० 1/128 ....142, 2/9......63, 3/18.........134, 9/128....130.
4. अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्। करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती॥ नै० 2/3
5. अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजंघमंघ्रिणा। स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुत कण्डूयितमौलिशालयम्॥ नै० 2/3
   – स गुरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान्कटु कीटान्दशतः सतः क्वचित्। नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटु चञ्चुपुटकोटिकुट्टनैः ॥ नै० 2/4
   – अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यव्रियताथ शङ्कितैः। उदडीयत वैकृतात्करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः॥ नै० 2/5
   – ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयानुकम्प्रताम्।
   तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव॥ नै० 1/126 एवं 127
   – पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु. सः। अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः॥ नै० 2/7
6. स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः। विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ नै० 2/68 एवं 69
   – विनमद्भिरधःस्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपात शङ्किभिः।
   स निरीक्ष दृशैकयोपरि स्वदझांकारितपत्रपद्धतिः॥ नै० 2/70 एवं 71........72
7. भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन, क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताधः ।
   मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः शशिपरिधिरिवोर्ध्वं मण्डलस्तेन तेने ॥ नै० 2/108
8. आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसावतीर्य। निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः॥ नै० 3/1
9. नै० 3/5,6,10,11.

मृणालभोजी के होने के कारण हमारा रूप भी तदनुरूप (अप्रतिम) है।[1] जल जीवों के अन्तर्गत मत्स्य की जीवन विधा की चर्चा करते हुए नैषकार ने लिखा है कि जल में शैवाल (जल नीली पौधा) से मछलियाँ स्वभावतः अपने शरीर को रगड़ती है।)[2] इस तथ्य को श्रीहर्ष साहित्यिक परिधान पहनाते हुए कहते हैं कि नल वियोग से व्यथित दमयन्ती के वक्षस्थल पर रखा हुआ शैवाल, दमयन्ती के पिक-आलाप श्रवणानन्तर हृदय में कंपकंपी मचने पर (वियोग में कोमल की मधुर आवाज भी विषसदृश प्रतीत होने के कारण) इस प्रकार प्रतीत होता था, मानो दमयन्ती के हृदय में सदा निवास करने वाले कामदेव के वाहन मत्स्य का शरीर-घर्षण लग रहा हो।[3] जल जीवों में ग्राह एवं मकर (मगर) कछुए, केकड़ा, का संकेत भी बाइसवें सर्ग में नैषध महाकाव्य के प्राप्त होता हैं।[4] अन्य जीवों यथा- सिंह (पंचास्य)[5] सिंहकापुत्र[6], मृग,[7] खरगोश,[8] वक (बगुला) पक्षी,[9] चकोरशावक[10] का संकेत भी इस महाकाव्य में प्राप्त होता है। श्रीहर्ष ने 'अश्व' का भी सम्पूर्ण विवरण दिया है, जिसका पूर्व में अश्वशास्त्र के अन्तर्गत विवेचन किया जा चुका है।[11] प्राणिशास्त्र सम्बन्धी उपर्युक्त मीमांसा से यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने विविध जीवों, एवं पशु पक्षियों के साहित्यिक विवरण पर ही अधिक प्रकाश डाला है, उनकी आंतरिक संरचना के वर्णन को उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि या तो नैषधकार ने काव्य के कलेवर विस्तार के भय से उसे अपने विवेचन का विषय नहीं बनाया या उनकी इस शास्त्र में रुचि या गति कम थी।

भौतिक शास्त्र

भौतिक शास्त्र सम्बन्धी कुछ बिन्दुओं पर भी नैषधकार ने अपनी दृष्टि डाली है। बाइसवें सर्ग में नल दमयन्ती द्वारा सन्ध्यावर्णन प्रसङ्ग में दमयन्ती नल से कहती है कि प्रिय (स्वामी)! दूर से लाल और नील पदार्थों को देखने पर केवल नीला दिखायी पड़ता है, इसी सिद्धान्त के अनुसार दूरस्थ चन्द्रमा के इस खरगोस की पीठ का लाल रंग भी हमें श्याम दिखायी पड़ रहा है।[12] नैषधकार का उपर्युक्त विवरण भौतिक शास्त्र के प्रकाश प्रकीर्णन सिद्धान्त (Scattaring of Light) से सम्बन्धित है। जब प्रकाश किसी ऐसे

---

1. धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।
   अहो! शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य संख्या वयसाप्यनेन ।। नै० 3/15
   – सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य पत्त्राणि पतत्त्रिणः स्मः ।
   अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ।। नै० 3/16
   – स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः ।
   अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ।। नै० 3/17
2. मत्स्योहिशैवले घर्षणं करोतीति जातिः । नै० 4/35, में नारायण की टिप्पणी।
3. पिकरुतिश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद्बभौ ।
   सततत‌द्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतनूघनघर्षिणा ।। नै० 4/35
4. नै० 22/17, 20
5. नै० 22/18
6. नै० 22/66
7. नै० 22/24, 75.........79, 106, 107, 132, 137
8. नै० 22/80, 94
9. नै० 22/138
10. नै० 22/141
11. द्रष्टव्य- इसी शोध प्रबन्ध का "अश्वशास्त्र" नामक अध्याय
12. दूरस्थितैर्वस्तुनि रक्तनीले विलोक्यते केवलनीलिमा यत् ।
    शशस्य तिष्ठन्नपि पृष्ठलोम्नां तन्नः परोक्षः खलु रागभागः ।। नै० 22/81

माध्यम से गुजरता है जिसमें धूल तथा अन्य पदार्थों के अत्यन्त सूक्ष्म कण होते है, तो इनके द्वारा प्रकाश सभी दिशाओं में (कुछ दिशाओं में कम तथा कुछ में अधिक) प्रसारित हो जाता है। इस घटना को प्रकाश का प्रकीर्णन कहते है। प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि बैंगनी रंग के प्रकाश का प्रकीर्णन सबसे अधिक होता है, वर्णक्रम से बैंगनी रंग से लेकर लाल रंग तक (बैंगनी Vicelet, जामुनी Indigo, नीला Blue, हरा Green, पीला Yellow, नारंगी Orange, तथा Red, को प्रकीर्णन सबसे कम होता है, एवं बैंगनी का सबसे अधिक तथा नीले रंग वर्णक्रम में लाल रंग से ज्यादा प्रकीर्णन होता है। दिन के समय मनुष्य केवल सूर्य के प्रकीर्णित प्रकाश को देखता है, प्रकीर्णित प्रकाश का मिश्र रंग (Composite Colour) हल्का नीला होता है इसी कारण आकाश हल्का नीला दिखाई पड़ता है।[1] दूसरा कारण यह है कि जब एक (प्रिज्म का) प्रकाश दूसरे प्रिज्म के प्रकाश से होकर गुजरता है, तो वह दूसरे प्रिज्म के रंग का हो जाता है।[2] उपर्युक्त वर्णन संध्या समय का है उस समय अंधकार होने के कारण अंधकार के रंग-काले, प्रिज्म से लाल रंग के गुजरने के कारण दमयन्ती को खरगोस की पीठ का लाल रंग भी श्याम दिखायी पड़ना भौतिक शास्त्र सम्मत है। स्पष्ट है कि रंगों का दिखना न दिखना प्रिज्म एवं प्रकीर्णन सिद्धान्त पर निर्भर करता है।

भौतिक शास्त्र की ध्वनि सम्बन्धी सिद्धान्त का विवरण नल के कथन मे दिखायी पड़ता है जहाँ वह दमयन्ती से कहते हैं कि प्रिये! तुम्हारी यह मधुर गीतध्वनि पथिक की भाँति जितनी दूर रात्रि में जाती है, उतनी दूर दिन मे नहीं, क्योंकि रात्रि में इस चन्द्रमा (सुधांशु) की अमृत रश्मियाँ बल देती है तथा इसे अंधकार रूपी वन की शीतलता मिलती है, दिन में तो धाम (धूप) और पसीने के कारण कुछ दूर चलना भी कठिन हो जाता है।[3] फिर भी चन्द्र ने मधुरिमा की पराकाष्ठारूप तुम्हारे गीत का आस्वादन कर ही लिया, तभी तो उसे अमृतमयी रश्मियों में भी अनास्था हो गयी, और उनका तिरस्कार करते हुए वह उन्हें नीचे गिरा रहा है।[4] भौतिक शास्त्र के अनुसार दिन में ध्वनि दूर तक इसलिये नहीं सुनाई पड़ती क्योंकि उसके संचरणमार्ग में विभिन्न प्रकार के अवरोधक तत्व विद्यमान रहते हैं जब कि रात्रि में वातावरण के शान्त होने से, साथ ही आर्द्रता के बढ़ने पर ध्वनि का वेग बढ़ जाता है इसलिये रात्रि में ध्वनि दूर तक जाती है या दूर तक सुनायी पड़ती है। सामान्यतः हमें ध्वनि की अनुभूति वायु के माध्यम से होती हैं जब वायु में दोलन करने वाले कण हमारे कान के परदे से टकराते हैं तो पर्दों में भी इसी प्रकार का दोलन उत्पन्न हो जाता है, परन्तु दिन में वातावरण में विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों के विद्यमान होने से ध्वनि संचरण में गतिरोध उत्पन्न होता है, फलतः दिन की अपेक्षा रात्रि में ध्वनि दूर तक सुनाई पड़ती है।

---

1. हाई स्कूल विज्ञान दो, भाग एक उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित संस्करण 1987, पृ. 225
2. वही, पृष्ठ 279
3. आप्यायनाद्वा रुचिभिः सुधांशोः शैत्यात्तमः काननजन्मनो वा ।
   यावन्निशायामथ धर्मदुःस्थस्तावद्व्रजत्यह्नि न शब्दपान्थः ॥ नै० 22/108
   – शब्दो हि रात्रौ स्वभावादतिदूरेऽपि श्रूयते, दिवा तु न तथा ।
   पथिकोऽपि रात्रौ शैत्याद्दूरं गच्छति, दिने चाल्पम्। दूरश्रवणप्रदिकोऽयं श्लोकः। नै. 22/108, मल्लिनाथ एवं नारायण
4. दूरेऽपि तत्तावकगानपानाल्लब्धावधिः स्वादुरसोपभोगे ।
   अवज्ञयैव क्षिपति क्षपायाः पतिः खलु स्वान्यमृताभिमासः॥ नै० 22/109
   – दूरेऽप्यतितरां देशव्यवधानेऽपि तत्प्रसिद्धं मधुरतरं तावकं गानं तस्य पानात्सादरश्रवणाद्धेतोः स्वादुरसोपभोगे माधुर्याति शयानुभवे विषयेलब्धावधिः प्राप्तमर्यादः। नै० 22/109, मल्लिनाथ एवं नारायण।
5. हाईस्कूल विज्ञान दो भाग-1, उ०प्र० राज्य सरकार द्वारा प्रकाशित, संस्करण - 1987, पृ. 167

गणित शास्त्र

नैषध महाकाव्य में गणित शास्त्र के किञ्चित तथ्यों का सङ्केत भी प्राप्त होता है। इस शास्त्र के अन्तर्गत सामान्यतया तीन विषयों, अंकगणित, बीजगणित तथा रेखा गणित का समावेश किया जाता है। नैषध में बीजगणित सम्बन्धी वर्णन तो प्राप्त नहीं होते, हाँ रेखागणित एवं अंकगणित के विवरण तो इस महाकाव्य में अवश्यमेव प्राप्त हैं। हंस द्वारा पंजे से नल के चित्र का निर्माण, एवं दमयन्ती तथा उसकी सखियों एवं कुण्डिनपुर निवासिनी स्त्रियों द्वारा बनाये गये आलेपन एवं भित्ति चित्रकारी में रेखागणित का प्रभाव ही माना जा सकता है, जिसका विशेष विवरण शिल्पशास्त्र के अन्तर्गत द्रष्टव्य है।[1] उपर्युक्त तीनों में रेखागणित को ही सर्वप्राचीन माना जाता है, ऋग्वेद कालीन समय के साथ-साथ वर्तमान में भी यज्ञवेदियों के निर्माण में रेखा गणित के योगदान को नकारा नहीं जा सकता है। भिन्न-भिन्न यज्ञवेदियों एवं उनमें प्रयुक्त ईंटों की संख्या के पिर्धारण का विवरण शुल्बसूत्र में देखा जा सकता है जो कि भारतीय क्षेत्रगणित के सबसे प्राचीन तथा विशद-प्रतिपादक सिद्धान्त ग्रंथ हैं। कठोपनिषद् में भी इस तथ्य का निदर्शन प्राप्त होता है।[2]

नैषधकार ने अंकगणित के सिद्धान्तों का ही संकेत "नैषधीयचरितम्" में विशेष रूप से किया है एवं आगम रूप में उसे मान्यता भी प्रदान की है।[3] भारत वर्ष में अंक गणित के लिये दो नाम प्रयुक्त मिलते हैं पाटीगणित तथा धूलिकर्म। कालान्तर में पाटीगणित के लिये व्यक्तिगणित शब्द का प्रयोग किया गया, जो बीजगणित से इसको पृथक करता है। प्रसिद्ध गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने पाटीगणित के अन्तर्गत 20 विषय और 8 व्यवहार सम्मिलित किये हैं, जो निम्नलिखित हैं-

संकलित (जोड़) व्यवकलित अथवा व्युत्कलित (घटाना), गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन घनमूल, पंचजाति (अर्थात् पांच प्रकार के भिन्नों को सरल बनाने के नियम) त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक (त्रैराशिक का उल्टा), पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, एकादश राशिक, भाण्डप्रतिभाण्ड (अदलाबदला या विनिमय)। तथा आठ व्यवहारों के नाम हैं- मिश्रण, श्रेणी (Series), क्षेत्र, (क्षेत्रफल निकालना), खात (खाई आदि का घनफल जानने की रीति) चिति (ढालू खाई का घनफल जानने की रीति), क्राकचिक (आरा चलाने वाले के काम का गणित), राशि (अन्न के ढेर का परिमाण जानने की रीति) और छाया (दीप और उसकी छाया से सम्बन्धित प्रश्न जानने की रीति)

नैषध में गणितशास्त्र के अन्तर्गत संकलित सिद्धान्त के विवरण का संकेत विरहिणी दमयन्ती के उस कथन से मिलता है जहाँ वह कहती है कि गणितशास्त्र में मनुष्य, देव, तथा ब्रह्मा का जिस काल परिणाम से युग निर्माण होता है (एक का क्षण दूसरे के युग के बराबर होता है), उसी प्रकार संयोगियों के क्षण के बराबर ही वियोगियों का युग क्यों न बनाया गया।[4] श्रीहर्ष ने तत्कालीन समय में गणना के लिये अंगुलियों को भी माध्यम बनाये जाने का विवरण बारात भोजन वर्णन प्रसङ्ग में दिया है, जो कि आज भी

---

1. द्रष्टव्य - इसी शोधप्रबन्ध का 'शिल्पशास्त्र' नामक अध्याय
2. लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै, या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
   स चापि तत्प्रत्यमवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ।। कठो. 1/1/15
3. नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं पदनेहसा ।
   विरहिणामपि तद्वतवद्युक्षणमितं न कथं गणितागमे ।। नै० 4/44
4. नै० 4/44

व्यवहारिक जीवन में द्रष्टव्य है।[1] साथ ही शंखों एवं बराटिकाओं (कौड़ियों) द्वारा भी गणना तत्कालीन समय में की जाती थी इस तथ्य का विवरण हंस द्वारा कुण्डिनपुर के बाजार वर्णन प्रसंग में उपलब्ध मिलता है। यथा-

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः
हिमबालुकयाच्छवालुकः पटु दध्वान यतापणार्णवः ।।[2]

गणित शास्त्र के व्यवकलिक सिद्धान्त (घटाना) के विवरण तथा क्रय विक्रय का निर्देश भी हंस दमयन्ती संवाद में मिलता है जहाँ दमयन्ती हंस से नल प्राप्ति की याचना करती हुई कहती है कि प्रिय को मूल्य रूप में देकर तुम मेरे जीवन को ही विक्रेय वस्तु के रूप में ले लो। इससे और कुछ नहीं तो तुम्हें पुण्य तो होगा ही। हे प्राणनाथ के दाता! यद्यपि मैं तुम्हें कुछ देने में समर्थ नहीं हूँ, तथापि तुम्हारे यश का गान तो करुँगी ही। कौड़ी मात्र के (अल्प) उपकार से ही सुलभ कृतज्ञ पुरुषों का धनिक (सेठ) आदर नहीं करते, किन्तु सज्जन व्यक्ति उन्हीं कृतज्ञों को अपने प्राणों का मूल्य देकर, स्वयं को चतुर कहते हुए खरीद लेते हैं।[3]

गणितशास्त्र के एक अन्य सिद्धान्त भाण्डप्रतिभाण्ड (अदला-बदला या विनिमय) का संकेत भी नैषध महाकाव्य के बीसवें सर्ग में दमयन्ती की सखी कला द्वारा दमयन्ती से हास परिहास विवरण प्रसंग में माना जा सकता है जहाँ कला अपनी सखी से कहती है कि सखी! इन लोगों (नल दमयन्ती) ने जो बातें की हों, उसे तू मुझे सुना दे। मैं भी इनके रहस्य को तुझे सुना दूंगी। आओ हम आपस में विनिमय कर लें।[4] इस सिद्धान्त के एक अन्य तथ्य के विवरण का संकेत भी नैषकार के दमयन्ती सौन्दर्य विवरण में माना जा सकता है जिसका तात्पर्य है कि विनिमय समान अवस्था या तुलनीय स्थिति (बराबरी) में संभव हो सकती है, अन्यथा नहीं। यथा-

कराग्रजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत्कुचौ चेत् ।
सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जातं वटीमप्यधुना न लुब्धम् ।।[5]

श्रीहर्ष ने गणितशास्त्र में महनीय भूमिका निभाने वाले शून्य का विवरण भी दिया है एवं शून्य के लिये उन्होंने 'बिन्दु' शब्द का प्रयोग उचित माना है[6], जो कि गोल रूप में होता है।[7] शून्य के साङ्केतिक

---

1. अमूनि संख्यातुमसावढौकि तैश्छलेन तेषां कठिनीव भूयसी। नै० 16/101 उत्तरार्द्ध
2. नै० 2/88
3. क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्ति तदस्तु पुण्यम् ।
   जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ।। नै० 3/87
   वराटिकोपक्रिययापि लभ्यान्नेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते ।
   प्राणैः पणैः एवं निपुणं भणन्तः क्रीणान्त तानेव तु हन्त सन्तः।। नै० 3/88
   – हे हंस! मज्जीवितं जीवमेव पण्यं विक्रेय वस्तु क्रीणीष्व, प्रियदानमूल्येनेति शेषः। मह्यमेव तत्क्रयेण प्रयच्छ। ननु तुभ्यं क्रयेण जीवदाने मम को लाभ इत्याशङ्क्याह - अन्यद्धनादिकं यद्यपि नास्ति तथापि पुण्यमस्तु भवतु। जीवितदाने च जीवाधिकदाने च जीवाधिकदानेन विनाऽन्यत् मूल्यं यद्यपि न विद्यते तथापि तस्य स्थाने श्रेय एव भवत्वित्यर्थः। नै० 3/87, नारायणी टीका
4. अभिधास्ये रहस्यं ते यदश्रावि मनानयोः। वर्णयाकर्णितं मह्यमेह्यालि! विनिमीयताम्।। नै० 20/113
5. नै० 7/79
6. चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुति कैतवात्तव ।
   मसारताराक्षि ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः ।। नै० 9/104
7. समाप्ति लिप्येव भुजिक्रियाविधेर्दलोदरं वर्तुलयालयीकृतम्।
   अलंकृतं क्षीरवटैस्तदस्नतां रराज प्राकार्पितगैरिकश्रिया ।। नै० 16/98

चिन्ह का प्रथम प्रयोग पिङ्गल के 'छन्दसूत्र' में मिलता है, जो ग्रंथ २०० ई०पू० प्राचीन माना जाता है शून्य का चिह्न बिन्दु ही था न कि लघुवृत्त इसका उल्लेख सुबन्धु की वासवदत्ता में प्राप्त होता है।[1] Sri G.B. Halsted का कथन है कि भारतीयों ने ही सर्वप्रथम एक से लेकर नौ अंक तक के भिन्न-भिन्न चिह्नों की एवं शून्य नामक एक नवीन चिह्न को प्रस्तुत किया जो गणित के इतिहास में युगान्तरकारी खोज है। शून्य की सहायता से दस, सैकड़ा, हजार, आदि संख्याओं को व्यक्त करना विश्व की सबसे बड़ी खोजों में एक है। इस प्रकार शून्य का गणित के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है, जिसका गुणगान प्रत्येक देश का गणितज्ञ करता है।[2] इसके पूर्व मिश्र में 1, 10 एवं 100 इन तीन संख्याओं के चिह्न थे, एवं लकीर की सहायता से अन्य संख्याओं के चिह्न बनाये जाते थे, जब कि यूनान (रोम) में अंकों के छः चिह्न थे[3], परन्तु गणना में भारतीय अंकों के माध्यम से ही सुविधा होती है, इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता।

गणितशास्त्र का ज्योतिषशास्त्र पर अभूतपूर्व प्रभाव है, जिसका विवेचन पूर्व में ज्योतिष शास्त्र नामक अध्याय में किया जा चुका है। सामायन्तः पूर्व में जितने भी गणितज्ञ या ज्योतिषी थे, वे इन दोनों शास्त्रों पर अपनी गति रखते थे। इसके अतिरिक्त गणितशास्त्र का सम्बन्ध भौतिकशास्त्र एवं रसायन शास्त्र से भी स्थापित किया जा सकता है क्योंकि गणित (गणना) के माध्यम से ही वे अपना प्रयोगों को अन्तिम रूप देने में सफल होते थे, आज भी यही स्थिति शिक्षा जगत में द्रष्टव्य है। प्रसिद्ध गणितज्ञों में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य, वाग्भट,लाटदेव, ब्रह्मगुप्त, भास्कर प्रथम, कल्याण वर्मा, लल्ल, आर्यभट्ट द्वितीय, श्रीधराचार्य एवं नारायण पण्डित आदि प्रमुख थे।[4]

राजनीति शास्त्र

राजनीति शास्त्र के कुछ मूलभूत मानदण्डों के विवरण भी नैषधमहाकाव्य में देखने को मिलते हैं। सामान्य अर्थ में राजाओं द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियाँ ही राजनीति कहलाती हैं जिसमें साम, दान, दण्ड भेद आदि अनेक विधा से राजा अपने राज्य का संचालन करता है। शास्त्र सम्मत नीतियाँ अपनाकर शासन करने वाला राजा ही श्रेष्ठ शासक समझा जाता है। श्रीहर्ष ने इस तथ्य की मीमांसा करते हुए लिखा कि इन्द्र आदि दिग्पालों के अंश से उत्पन्न, अतएव दिशाओं के स्वामी नल ने स्वेच्छाचारिता या कामदेव को बल से निवारण करने वाले, अपने को त्रिनेत्रधारी शिव के अवतार का बोध कराने वाले, दो से अधिक शास्त्र रूप तृतीय नेत्र को धारण किया।[5] लोकपालों के अंश से राजा के उत्पत्ति होती है,[6] इस तथ्य का वर्णन मनुस्मृति में भी मिलता है। यथा -

---

1. वासवदत्ता - षष्ठक शतक
2. The Importance of the creation of zero mark can never be exaggerated. This giving to airy nothing, not merely a local havitation and name, a picture, a symbol, but helpful power, is the characteristic of the Hindu Race, whence it sprang. It is like coining the nirvan into dynames. No single mathematical creation has been more potent for the general on-go of intelligence and power. —G. B. Halsted. On the foundation and technique of Arithmetic. नामक ग्रंथ में, Chicago, P. 20
3. I = 1, 5 = v, 10 = x, 50 = L, 100 = C, 1000 = M
4. गणितग्रंथों एवं गणितज्ञों के नाम हेतु द्रष्टव्य संस्कृतशास्त्रों का इतिहास, पं. बलदेव उपाध्याय, पृ० 47...142
5. दिगीश विभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
   बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ।। नै० 1/6
6. इन्द्राऽनिलयमाऽर्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ।। मनु 7/4
   यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा। मनु0 7/5

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्यत्पर्योमस्य च। अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥[1]

शास्त्र कहते किसे हैं? इस प्रश्न के समाधान में यह कहा जा सकता है कि "प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पुंसां येनोपदिश्यते। तद्धर्माश्चोपदिश्यन्ते शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः॥." अर्थात् पुरुषों की प्रवृत्ति और निवृत्ति, एवं उनके धर्म, जिससे उपदेशित किए जाते हैं, उन्हें शास्त्र कहते हैं। नैषधकार द्वारा नल को शास्त्र रूपी तृतीय नेत्र से युक्त होने के फल में लिखित तर्क सम्प्रेषित किया जा सकता हैं।

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षाऽर्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नाऽप्त्यन्ध एव सः॥

राजाओं के गुप्तचर ही उनकी आँखे होती हैं[2] क्योंकि उन्हीं के माध्यम से राजा अपने राज्य की यथार्थ स्थिति से अवगत होता है। श्रीहर्ष ने इस प्रसंग का विवरण भी राजा नल के वर्णन में दिया है जहाँ वह कहते हैं कि नल विचारदृक (समाचार या विचार को देखने वाले) थे एवं चार दृक (गुप्तचरनेत्र राजानः चारचक्षुषः) अर्थात् चार (गुप्तचर) ही उनके नेत्र थे। तात्पर्य यह है कि गुप्तचरों के द्वारा ही नल स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्रों के सभी व्यवहारों को देखते थे। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि राजा नल अपने तेज से अमित्र (शत्रु) जित होते हुए भी मित्र (सूर्य) जित, थे तथा चार (दूत, गुप्तचर) दृष्टि से सम्पन्न होने के साथ-साथ विचार विवेक पूर्वक कार्य करने की दृष्टि वाले थे। उनकी कार्य पद्धति से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों विपक्षी राजाओं की भांति विरुद्ध स्वभावों ने भी परस्पर विरोध त्याग दिया था।[3]

राजनीति शास्त्र से सम्बन्धित युद्धनीति का, जो कि किसी राज्य या राजा की प्रभुसत्ता का अभिन्न अंग होती है, का संकेत भी नैषधकार ने नल द्वारा दमयन्ती के उदर सौन्दर्यवर्णन प्रसंग में दिया है। उनका मन्तव्य है कि दो प्रबल राज्यों के बीच यदि एक दुर्बल, किन्तु भयंकर, जंगल, पर्वत एवं बीहड़ भूमि वाले राज्य पर प्रबल राज्यों का आक्रमण करना उचित नहीं, [4]क्योंकि बीहड़ स्थान में रहने वाले व्यक्ति वहां के सभी स्थानों से परिचित एवं भागने दौड़ने में अभ्यस्त रहते हैं, परन्तु प्रबल राज्य के सैनिक उस राज्य की बीहड़ भूमि से अपरिचित, इस रूप में कमजोर राज्य के सैनिक गुरिल्ला पद्धति से युद्ध करके प्रबल शत्रु को हानि पहुँचाने के साथ-साथ युद्ध जीत भी सकते हैं। छत्रपति शिवाजी की गुरिल्ला पद्धति से प्राप्त विजयें इसी का प्रमाण मानी जा सकती हैं, जबकि मात्स्य न्यायानुसार बड़े राज्य आसानी से छोटे राज्यों को अपने वश में कर लेते हैं, परन्तु इस कोटि में वही छोटे एवं कमजोर राज्य रखे जाने चाहिए जो कि समतल भूमि में स्थित हों एवं पड़ोसी राज्य उस राज्य की भूमि एवं सैनिक गतिविधियों से पूर्णतया परिचित होते हैं। नल कहते हैं कि इस भीमकुमारी दमयन्ती के (पक्षान्तर में भयंकर भूमि) क्षीण अर्थात् अत्यन्त कृश (पक्षान्तर में दुर्बल) और बीच में स्थित (पक्षान्तर में कटि=कमर में स्थित) उदर अर्थात्

1. मनु.....5/96
2. गन्धेन गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा।
   चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरेजनाः॥ नै० 1/13 नारायणी टीका में उल्लिखित
3. प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्ध धर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
   अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत॥ नै० 1/13
4. बबयोरभेदात् बलिभ्यो बलवद्भ्यश्च सकाशात् आक्रमणमभिव्याप्तिरभिभवश्च न प्राप्यते इति यद् तदनाक्रमणं चित्रं, बलिसमीपे दुर्बलस्यानाक्रमणं चित्रमित्यर्थः। नै० 7/81 मल्लिनाथ
– अन्येनापि क्षीणेन दुर्बलेनोभयोः सीमायां विद्यमानेनापि स्वाम्यमात्यादीनां सप्ताङ्गानां शुद्धौ सत्यामपि बलिष्ठेभ्यो भयानकायां भूमौ पराभवो न प्राप्यते तत् सप्ताङ्गरहितस्य दुर्बलस्य विलसितमाश्चर्यरूपम् बलिनां सर्वाङ्गशुद्धेर्विद्यमानत्वात्, स्वस्य च सर्वाङ्गराहित्यात्सीमनि [illegible] त्वादिपराभवकारणे सत्यपि सतः पराभवो न प्राप्तदाश्चर्यमित्यर्थः॥ नै० 7/81, नारायण

त्रिवलि का अधोभागस्त पेट (उदरं जठरे युधि इति मेदिनी) जो त्रिवलियों से (पक्षान्तर में तीन बलवान् पुरुषों से) आक्रान्त अर्थात् पीड़ित नहीं होता है, यह आश्चर्य है। सम्पूर्ण हाथ, पैर आदि अङ्गों के (पक्षान्तर में अमात्य, मित्र आदि सात राज्याङ्गों के) शुद्ध अर्थात् निर्दोष रहने पर अनङ्ग (अङ्गहीन, पक्षान्तर में कामदेव) के राज्य में अर्थात् युवावस्था में विलसित हो रहा है। यह दूसरा आश्चर्य है।[1]

राजनीति के एक अन्य सिद्धान्त, "दुर्बल प्राणी या राज्य को सबल प्राणी या राज्य से शत्रुता नहीं करनी चाहिए" की व्यञ्जना दमयन्ती द्वारा चन्द्रोपालम्भ विवरण में देखने को मिलती है, जहाँ वह कामदेव को उलाहना (उपालम्भ) देती हुई कहती हैं कि हे अनङ्ग! विषमनेत्र (शंकरजी) पर जो तुमने फूलों (कुसुमबाण, नेत्रो नेत्ररि भेद्यङ्गे इति विश्वः) द्वारा प्रहार (विगृह्णता पक्षान्तर में विरोध) करते हुए जो फल (आत्मनाश) पाया। इसी से यह भय विषयक नीति बनी कि फूलों (सरल मनुष्य) से भी लड़ाई उचित या श्रेयस्कर नहीं, फिर विषम अतिक्षीक्ष्ण स्वभाव वाले नेत्र (बाण या राज्यया व्यक्ति या नायक) के साथ विरोध करना, सबसे बड़ी मूर्खता ही कही जायेगी,[2] क्योंकि नीति भी कहती हैं "पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः।"[3] नैषधकार[4] भारवि[5] के साथ-साथ नैषधकार ने भी वाइसवें सर्ग में इस तथ्य की साहित्यिक मीमांसा का विवरण उपस्थित किया है।

शुक्रनीति में वर्णन मिलता है कि (मर्मज्ञ) अपने विषय में सबकुछ जानने वाले व्यक्ति की न ही उपेक्षा करे, एवं न ही उसे अपना विरोधी बनाये, अपितु प्रसन्न कर लेना ही नीतिज्ञ के लिये श्रेयस्कर है।[6] इस तथ्य का सङ्केत भी बीसवें सर्ग में परिहास सन्दर्भ में नल द्वारा दमयन्ती की सखियों कला एवं उसकी आत्मीया सखी को जल से भिगोने के उपरान्त बाहर जाने पर विवश अन्य सखियों के कथन से जाहिर होता है जब वे कहती हैं कि हे नीतिशास्त्रपण्डिता दमयन्ति! (तुम्हारे) मर्म (रहस्य सम्भोगादि वृत्तान्त) को जानने वाली इन दोनों की इस समय भी तुम्हारे द्वारा उपेक्षा नहीं होनी चाहिए[7] क्योंकि तुमसे उपेक्षित वे दोनों तुम्हारे रहस्य को सबके समक्ष प्रकट कर सकती हैं। रामायण में वर्णित विवरणानुसार रावण से उपेक्षित विभीषण ने भी रावण के गुप्त रहस्यों को राम के सम्मुख प्रकट किया था, फलतः रावण का सर्वनाश ही हो गया। नीति भी यही कहती है कि "मर्मज्ञं न प्रकोपयेत्।" नैषध महाकाव्य में राजाओं

---

1. पक्षान्तरे तु मध्ये मध्यसीमायां सता विद्यमानेनापि, क्षीणेन कोषबलादीनामल्पत्वात् दुर्बलेन नृपतिना, उदरेण युद्धेन, यत् तत्, सर्वेषामङ्गानां स्वाम्यमात्यादीनां राज्यावयवानं शुद्धिर्निर्दोषता शिक्षाशस्त्रादिरूपा यत्र तस्याम्, इह भूमिभुवि उपयपार्श्वत एवाक्रमणादभयङ्करायां भूमौ तन्मध्यसीमायाम्, अनङ्गराज्यस्य स्वाम्यादिसम्पूर्ण सप्ताङ्गरहितस्यापि तस्य क्षीणराष्ट्रस्य विजृम्भितं विलसितं कार्य्यं चित्रम्। तथा च स्वाम्यादिसप्ताङ्गशुद्धियुक्तौ प्रबलौ राजानौ उभयपार्श्वत एवाक्रमाणोद्यतौ, अथ च तादृशभयङ्करमध्यसीमावर्ती सम्पूर्णसप्ताङ्गहीनो दुर्बलो राजा यदाक्रमणं न प्राप्नोति, तच्चित्रमेव तत्कार्य्यमिति विरोधः, तस्य बुद्धिकौशलादेव तज्जातमिति च तत्परिहार इति भावः। नै० 7/81, जयन्ती टीका।
   क्षीणेन मध्येपि सतोदरेण यत्प्राप्यते नाक्रमणं बलिभ्यः। सर्वाङ्गशुद्धे तदनङ्गराज्यविजृम्भितं भीमभवीह चित्रम्।। नै० 7/81.
2. फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग! विगृह्णता।
   अहहनीतिरवाप्तमया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ।। नै० 4/81
3. नै० 4/81, मल्लि. नारायणी एवं जयन्ती टीका द्वारा उद्धृत्।
4. प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
   स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ।। कि0 1/23
5. दृष्टो निजां तावदियन्त्यहानि यत्र त्वदशां शशाङ्कः।
   पूर्णस्त्वदास्येन तुलां गतश्चेदनन्तरं ह्रस्यसि भङ्गमस्य ।। नै० 22/130
   क्षत्राणि रामः परिभूय रामात्क्षत्राद्यथाभज्यत स द्विजेन्द्रः।
   तथैव पद्मानभिभूय सर्वांस्त्वद्वक्त्रयद्मात्परिभूतिमेति ।। नै० 22/131
6. विरोधयेन्न सर्वज्ञः नोपेक्षेत विरोधिनम्। प्रसादयेदशक्यं तु.....। नै० 20/133, नरायणी टीका में उदधृत्
7. ता बहिर्भूय वैदर्भभूपुर्नीताववीतिनि! उपेक्ष्यते पुनः सख्यौ मर्मज्ञे नाधुनाऽधुना।। नै 20/133

द्वारा मर्यादापालन के तथ्य को अपनाने के विवरण को भी स्थान मिला है। नल द्वारा हंस को पकड़ने के प्रसंग में नैषधकार ने राजाओं को अपनी मर्यादा त्याग न करने की सलाह देते हुए हंस मुखेन कहलवाया है कि –

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥[1]

राजनीति शास्त्र में सामदानदण्डभेदादि चुतर्विध नीतियों का भी अप्रतिम महत्व है। मनुस्मृति एवं अग्निपुराण में इन नीतियों का विशद विवेचन किया गया है।[2] श्रीहर्ष हंस का चित्रण भी राजनीतिज्ञ के रूप में किया है जो सामनीति का आश्रय लेते हुए दमयन्ती को नल को ही वरण करने के लिये पहले नल के गुणों का उसके सम्मुख बखान करता है।[3] साथ ही दमयन्ती को इस तथ्य से भी अवगत कराता है जैसे बिना बसंत आये रसालवाटिका को भ्रमरसंगति का सौभाग्य दुर्लभ रहता है, उसी प्रकार नल से विवाह किये बिना तुम्हे हम लोगों (हंस) के मधुर वचनों का सुख दुर्लभ है, एवं अपना तर्क भी रखता है कि अभी तक तुम जैसी रूपराशि का पणिग्रहण नहीं हुआ है, हो सकता है विधाता ने तुम्हारा विवाह नल के साथ ही लिखा हो, फिर तुम दोनों (नल एवं दमयन्ती) तो कुल, गोत्र एवं सौन्दर्य में अप्रतिम हो, तब तो निशा, शशि, उमा शिव, रमाविष्णु की तरह योग्य व्यक्तियों का संयोग कराने में विधाता का प्रयत्न सर्वथा स्वारसिक (सङ्गत) ही कहा जायेगा, फिर अपना पक्ष मजबूती से रखते हुए हंस कहता है कि जिस प्रकार मोतियों की माला कर्कशकुशसूत्र से नहीं गूंथी जाती, ठीक उसी प्रकार तुम नलेतर पुरुष के योग्य नहीं हो। पुनः वह अनेक तर्क रखते हुए राजकुमारी के हृदय के भावों को जानने की अभिलाषा से चुप हो जाता[4] है क्योंकि विद्वान् जन गम्भीर कुण्ड[5] तथा गम्भीर हृदय का अवगाहन करके ही उचित कार्य का निर्णय करते हैं।[6] तदनन्तर दमयन्ती के सभी विचारों एवं भावनाओं का अवगाहन हंस करने के पश्चात यह भी पूँछ बैठता है कि यदि तुम्हारा कहीं अन्यत्र अनुराग हो या पिता की आज्ञा या स्वेच्छा से किसी दूसरे तरुण का वरण कर लिया हो, तब तो तुम्हारे लिये याचना करने वाले मेरे विषय में नल का विश्वास ही टूट जायेगा और अगर ऐसा है, तो तुम मुझे संदिग्ध विषय का भार मत सौंपो, इसके अलावा जो कहो मैं सब करने को तैयार हूँ। बाद में दमयन्ती के अनेक तर्कों के साथ यह कहने पर कि वह नल की ही दासी होना चाहती है, एवं हंस से वह अपने जीवनदाता नलको मांगती है, तब हंस पूर्णरूपेण समझ लेता है कि वह नलानुरक्ता है, एवं दमयन्ती की नलाशक्ति को और अधिक तीव्र करने के लिये हंस दमयन्ती के सम्मुख नल की दमयन्ती के वियोग में अत्यन्त दुखी प्राणी हो जाने का चित्रण करता है, एवं दमयन्ती के नल के

---

1. नै० 1/128.
2. सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये - मनु0 7/109
3. सामभेदौ मया प्रोक्तौ दानदण्डौ तथैव च। दण्डः स्वदेशे कथितः परदेशे ब्रवीमि ते ॥
   प्रकाशश्चापप्रकाशश्च द्विविधो दण्ड उच्यते। लुण्ठनंग्रामघातश्च शस्यघातोऽग्निदीपनम् ॥
   प्रकाशोऽथ विषं वह्निर्विविधैः पुरुषैर्वधः। दूषणञ्चैव साधूनामुदकानाञ्च दूषणम् ॥
   दण्डप्रणयनं प्रोक्तमुपेक्षां श्रृणु भार्गव ! यदामन्येत नृपति रणे न मम विग्रहः ॥
   अनर्थायानुबन्धः स्यात् सन्धिना च तथा भवेत्। सामलब्धास्पदञ्चात्र दानञ्चार्थक्षयङ्करम् ॥
   भेदण्डानुबन्धः स्यात् तदोपेक्षां समाश्रयेत्। न चायं ममशक्नोति किञ्चित् कर्त्तुमुपद्रवम् ॥
   न चाहमस्य शक्नोमि तत्रोपेक्षां समाश्रयेत्। अवज्ञोपहतस्तत्र राज्ञाकार्यो रिपुर्भवेत् ॥ अग्निपु. 240/1 7
4. नै० 3/23-45
5. नै० 3/46.....52
6. इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
   ह्रदे गंभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥ नै० 3/53.

प्रति प्रेम की प्रशंसा करते हुए उसके गुणौदार्य की अनेक विधा प्रशंसा करता है साथ ही दमयन्ती के लिये मंगल कामना करते हुए उससे निषध देश जाने की आज्ञा माँगकर नल की राजधानी के लिये चल पड़ता है।[1] ध्यातव्य है कि यह सब बातें हंस ने दमयन्ती को एकान्त में ले जाकर की, इससे भी उसकी राजनीतिक पटुता सिद्ध होती है, क्योंकि सार्वजनिक स्थान में बातें करने से उनकी गोपनीयता भी भंग हो जाती एवं हंस इससे शायद अपने लक्ष्य साधन में खरा न उतर पाता। हंस का उपर्युक्त कृत्य सामनीति का यथेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है, साथ ही साम, दान, दण्ड भेद इत्यादि चुतर्विध राजनीति का भी उसे यथेष्ट ज्ञाता प्रथम सर्ग में नल द्वारा पकड़ने पर प्राप्त होता है जहाँ वह स्वयं के पकड़े जाने पर नल को फटकारता है कि "न वास योग्यावसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः", धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः, पदे-पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसा रस एवं पूर्यते । धिगीदृशं ते नृपते! कुविक्रम कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि।। एवं तथाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्यष धरणी ह्रणीयते आदि कथन में वह दान एवं दण्ड नीति का आश्रय लेता दिखता है। फिर भेद नीति अपनाते हुए कहता है कि –

> न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
> विगर्हितं धर्मधनैनिबिर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ।।

पुनः सामनीति को अपनाते हुए करुण स्वर में[2] अपना जीवनदान राजा से मांगता है, एवं इस प्रकार वह अपने उद्देश्य अर्थात् राजा के पाश से स्वयं को मुक्त कर पाने में सफल हो जाता है।[3] हंस के साथ-साथ नल को भी श्रीहर्ष ने सामादि चुतर्विध नीतियों का ज्ञाता रूप में वर्णन किया है, क्योंकि दूत रूप धारी बने नल दमयन्ती को पहले सामनीति का आश्रय लेते हुए उसकी कुशल पूँछा फिर चारों देवताओं के गुणों का बखान करते हुए उसे, उनमें किसी एक को वरण करने को कहते हैं, पुनः दमयन्ती जब अपने अटल निर्णय (नलवरण) से नहीं डिगती, एवं आग, फांसी या जल में कूदकर आत्महत्या का निर्णय दूत नल को सुनाती है, तब नल उसे देवताओं का भय दिखाकर उसे देववरण करने को समझाते हैं, परन्तु दमयन्ती भी कुशल नीतिज्ञ एवं दृढ़निश्चय वाली थी, साथ ही नल के प्रति उसकी अनुरक्ति एवं विरह प्रलाप ने तथा बीच में हंस ने अपने उद्बोधन से नल को वास्तविक स्वरूप में आने को बाध्य कर दिया, इस रूप में नल कुशल राजनीतिज्ञ होते हुए भी देवकार्य सम्पादन में असफल हो जाते हैं अतः इस रूप में नल को एक कुशल दूत या राजनीतिज्ञ तो नहीं ही माना जा सकता क्योंकि वह भावनाओं के प्रवाह में बह गया, जब कि एक दक्ष राजनीतिज्ञ पर भावनाओं का कोई प्रभाव उसकी उद्देश्य प्राप्ति में अवरोध उपस्थित नहीं कर पाता, जैसा कि महाभारत में कृष्ण एवं अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य का मुद्राराक्षस में विवरण उन्हें सामादि चुतर्विध नीतियों का सम्यक् ज्ञाता एवं कुशल राजनीतिज्ञ ठहराता है एवं उन पर भावनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, फलतः वे अपने उद्देश्य प्राप्ति में सफल होते हैं।[4] सत्रहवें सर्ग में देवताओं द्वारा कलि को समझाना एवं दण्ड द्वारा डराने का विवरण से उन्हें साम एवं दण्ड नीतियों का ज्ञाता माना जा सकता है।[5] परन्तु पटु राजनीतिज्ञ नहीं क्योंकि वह कलि को नल से विरोध त्यागने को

---

1. नै० 3/54.......128
2. मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
   गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्न हो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि न।। नै० 1/135 एवं 136.....142
3. नै० 1/128............142
4. नै० 8/56 ....108 एवं 9/1...........15
5. नै० 17/133 158

तैयार नहीं कर पाये। साथ ही देवताओं की सामनीति का परिदृश्य नल को दूत बनाने के नैषध महाकाव्य के पांचवे सर्ग में वर्णित मिलता है, जहाँ वे नल की कुशल जानने के बाद उसके कुल, सौन्दर्य एवं दान की महिमा का वर्णन करते हुए उसे दमयन्ती वरण हेतु अपना दूत बलातरूप से नियुक्त कर ही लेते हैं[1]। परन्तु नल के इस कथन से कि "आर्जवं कुटिलेषु न नीतिः"[2] से यह तो परिलक्षित हो ही जाता है कि देवता कुटिल नीति के जानकार थे, जिस पर इन्द्र को तो विशेषज्ञता ही हासिल थी। इस संदर्भ में यह भी ध्यातव्य तथ्य है कि नैषधकार महाकवि भारवि से भी प्रभावित दिखते हैं।[3] अतएव यहाँ यह भी अभिहित किया जा सकता है कि राजनीति शास्त्र में कूटलता का भी योगदान होता है। कहावत भी है Every thing is valid in love and war.

श्रीहर्ष ने राजनीति के एक अन्य तथ्य "शत्रु का शत्रु भी मित्र होता है' का सङ्केत भी काञ्ची नरेश के प्रसङ्ग में देना चाहा है, जहां उनके कथन "स्पर्द्धागर्द्धिषु तेषु तान धृतवते दण्डान् प्रचण्डानपि"[4] (प्रतिस्पर्द्धी व्यक्ति को दण्डित करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्नता होती है) से इस तथ्य का संकलन किया जा सकता है। उपर्युक्त राजनीति शास्त्र सम्बन्धी तथ्यों से यह निगमन किया जा सकता है कि प्राचीन कालीन (नल के समय) एवं मध्यकालीन समाज में राजनीतिशास्त्र की प्रासङ्गिकता थी और आज भी है।

---

1. नै० 5/47......... 137 .
2. तेन तेन वचसैव मघोनः स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः। आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ।। नै० 5/103
3. व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
   प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान्, असंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः।। किरात० 1/30

– इयं खलु नीतिर्यत् -
  यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यास्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
  मायाचारो मायया प्रत्युपेयः साध्वाचारो साधुना प्रत्युपेयः।। किरात 1/30 की व्याख्यात्मक टि० से उद्धृत

4. आचूडाग्रममज्जयज्जयपटुर्यच्छल्यकाण्डानयं संरम्भे रिपुराजकुञ्जरघटाकुम्भस्थलेषु [illegible]।
   सा सेवाऽस्य पृथः प्रसीदसि तया नास्मै कुलस्त्वत्कृच स्पर्द्धागर्द्धिषु तेषु तान् धृतवते दण्डान् प्रचण्डानपि॥ नै० 12/40

एकादश अध्याय

वेद वेदाङ्गीय संदर्भ एवं उपसंहार

वेद वेदाङ्ग

नैषधकार ने अपने इस महनीय काव्य में वेद वेदाङ्गों के विवरण को भी अप्रतिम स्थान दिया है। राजा नल के वर्णन प्रसङ्ग के साथ-साथ, दसवे सर्ग में सरस्वती वर्णन, बाद में राजाओं के वर्णन एवं नल के विवाह तथा अर्चना प्रसङ्गों में उनके वेद वेदाङ्ग सम्बन्धी मीमांसा के दर्शन अध्येतागण सहज ही कर सकते हैं। वास्तव में प्रचलित लोकोक्ति "नैषधं विद्वदौषधम्" की पुष्टि नैषधमहाकाव्य के अनेकशः अध्ययनोपरान्त उसमें सन्निहित तथ्यों के आलोडन विलोडन एवं उसकी मीमांसा के अनन्तर ही होती है। नैषधीयचरितम् के प्राचीन टीकाकार विद्याधर के कथन से भी श्रीहर्ष की सर्वज्ञता के दर्शन होते हैं[1], और तो और, प्रसिद्ध काव्य समालोचक एवं नैषधमहाकाव्य के काव्यशास्त्रीय एवं कामशास्त्रीय विवरणों की तीखी आलोचना करने वाले डॉ0 सुशील कुमार डे को भी बलात् कहना पड़ा कि "यह तो मानना ही पड़ेगा कि नैषधीयचरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार से परम्परागत ज्ञान का भण्डार है। और किसी व्यक्ति को समस्त ज्ञान से परिपूर्ण होकर ही इसमें (नैषध में) प्रवेश करना चाहिए।[2] स्वयं नैषधकार द्वारा दमयन्ती स्वयंवर में राजाओं के परिचय के लिये आयी हुई सरस्वती देवी को किये गये वर्णन को[3], यदि श्रीहर्ष द्वारा सरस्वती देवी के वर्णन के बहाने, स्वयं श्रीहर्ष का सरस्वती (विद्वन्ता) का वर्णन मान लिया जाये, तो श्रीहर्ष के बारे में यह निष्कर्ष निकालना आसान होगा, कि वेद वेदाङ्गों में उनकी महनीय गति थी, क्योंकि इस महाकव्य के आधारभूत ग्रंथ महाभारत में स्वयंवर में सरस्वती के अवतरित होने का विवरण अनुपलब्ध है। इससे यह प्रतीत होता है कि सरस्वती देवी के वर्णन के ब्याज (बहाने) से नैषधकार ने अपनी विदग्धता का परिचय देना चाहा होगा, अतएव उन्होंने सरस्वती देवी के आवाहन का विवरण दमयन्ती की स्वयंवर सभा में रखा।

वेद एवं वेदाङ्गों की संख्याओं का निरुपण श्रीहर्ष ने राजा नल के वर्णन प्रसङ्ग में किया है, जहाँ वह कहते हैं कि नल ने स्वयं चतुर्दश विद्याओं (चार वेद, छैः वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण) का अध्ययन, ज्ञान, आचरण तथा शिक्षा इन चार उपाधियों से चार दशायें नियत करके उनका चुतर्दशत्व क्यों कायम रखा? यह नहीं मालूम।[4] ध्यातव्य है कि चतुर्दश विद्याओं की चार-चार दशायें हो जाने से उनको छप्पन हो जाना चाहिये था, पर वे चतुर्दश ही बनी रहीं, परन्तु यहाँ चतुर्दशत्व का अर्थ है चार दशाओं से युक्त होना। आचार्य मल्लिनाथ एवं नारायण ने उपर्युक्त तथ्यों की विशद विवेचना की है[5]।

---

1. अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो वेदार्थवगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
   नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
   व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधी कोविदः॥ – विद्याधर (O.I.MS, No. 9, Folio 278)

– अनेन (सप्तदश) सर्गेण श्रीहर्षकविराजेन आत्मसर्वज्ञता अभिव्यञ्जिता। इतस्तत्सदृशेन अन्येनाप्यस्य सर्वस्यार्थरत्नाकरस्य पारं प्राप्तुं शक्यते। मया तु निजमत्यनुसारेणायं सर्गो व्याख्यातो विचक्षणैर्विशेषव्याख्या बोद्धव्यः। – विद्याधर

2. Not with standing his limitations, it is clear that sriharsha possesses a truly high gift, but it is a gift not of a high poetic character. It should be recognised at once that the Naisadhacarita is not only a learned poem, but is in many ways a respository of traditional learning, and should, therefore, be approached with the ful equipment of such learning. — A History of Sanskrit Literature, Classical period, P. 329-330.

3. नै० 10/74............88

4. अधीतिबोधाचरणप्रसाचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः। चुतर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥ नै० 1/4

5. अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह – अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश" त्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः।....चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं" त्वतलोर्गुणवचनस्ये" तिपुंवद्भावो वक्तव्य, इत स्त्रियाः पुंवद्भावः। संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना इति सम्प्रदायः। चुतर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करण कथं पिष्टपेषणवदिति चुतर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते इति। नै० 1/4 मल्लि. टीका, एवं द्रष्टव्य, 1/4, नारायणी टीका

आगे श्रीहर्ष अभिहित करते हैं कि जैसे तीनों वेद, छः वेदाङ्गों से गुणा होने पर अठारह हो जाते हैं, उसी तरह नल की जिह्वा के अग्रभाग पर नाचने वाली विद्या अठारह द्वीपों की पृथक्-पृथक जय सूचक लक्ष्मियों को मानों जीतने की इच्छा से ही (चुतर्दश विद्याएं एवं आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व तथा अर्थशास्त्र को मिलाकर) अठारह गुनी हो गयी।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति[2] के साथ-साथ मनुस्मृति एवं विष्णु पुराण में भी चतुर्दश विद्याओं के बारे में वर्णन मिलता है तथा अठारह विद्याओं का विशद विवरण आचार्य मल्लिनाथ एवं नारायण द्वारा की गयी व्याख्या में भी दृष्टव्य है।[3]

वेदों की चर्चा श्रीहर्ष ने दसवें सर्ग में सरस्वती वर्णन के प्रसङ्ग में भी की है जहाँ वह कहते हैं कि गान विद्या उसकी (सरस्वती की) कण्डनाल थी, त्रयीमयी (ऋक्, यजुः, सामरूप वेदत्रय से निर्मित), वली विलासवाली तथा साहित्य (काव्य, नाटक, चम्पू आदि ग्रंथ) से बने हुए तरङ्गो के समान, अथवा तरंग रूप दृष्टिवाली, बाला का रूप धारण की हुई वह सरस्वती सभा (स्वयंवर स्थल) के बीच में उतरी या पहुँची।[4] अथर्ववेद का विवरण देते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं कि त्रिवलीरूप वेदत्रयी के मूल से निकलकर बढ़ती हुई अनेक अभिचार (भरण, मोहन उच्चाटन आदि) कर्म के योग्य, मेचक या कृष्णनील (पक्षान्तर में नाभि में प्रवेश करने योग्य) वर्ण वाली जिस सरस्वती की उदर रोमपंक्ति अथर्ववेद था[5]। पुराणों में अथर्ववेद का श्यामवर्ण होने एवं अभिचार कर्तृत्व होने की विक्षा मिलती है।[6] अथर्ववेद के श्यामवर्ण होने की अभीप्सा नैषधकार ने शायद इसलिये रखी, क्योंकि इस वेद में तान्त्रिक मन्त्रों, जादू होना, मारन, मोहन उच्चाटन आदि (पाप) कर्मों के निरूपण को विशेष स्थान दिया गया है जबकि ऋग्वेद में ऋचाओं द्वारा देवों के आह्वान, यजुर्वेद में यज्ञ सम्बन्धी वर्णन एवं सामवेद में विशिष्ट गानपद्धति के विवरणों की मीमांसा मिलती है।

अगर इस तथ्य की मीमांसा की जाये कि आखिर वेद कहते किसे हैं? हम इन पर विश्वास क्यों करें? इस तथ्य के बारे में भी श्रीहर्ष ने अपना मत रखा है कि वेद देवाज्ञा होने के कारण मान्य हैं "वेदोऽपि देवकी याज्ञा"[7], एवं जैसे हम देवताओं पर विश्वास रखते हैं, वैसे ही हम उनकी आज्ञा (आदेश, या उनके द्वारा प्रदत्त ग्रंथ) वेदों पर भी आस्था रखते हैं "श्रुतिं श्रद्धत्थ"[8] साथ ही वह यह भी कहते हैं कि वेद अनुष्ठानपरक हैं। इस तथ्य की निष्पत्ति कलिप्रतिनिधि द्वारा किये गये वेदों की आलोचना से निकाली जा सकती है। यथा–

---

1. अमुष्यविद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
   अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्।। नै० 1/5
2. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चुतर्दश ।। याज्ञ0 सं०, 1/3
3. "त्रयीव त्रिवेदीव इतिवेदास्त्रयस्त्रयीत्यमरः"। अङ्गानां "शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः। ज्योतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुद्धसत्तमैरि" त्युक्तानां षण्णां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीर सामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्ति विशेषेणेति यावत्? विस्तरं वृद्धि नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा; जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत् अभजत्। पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्तया आयुर्वेदादीनामनुशीलनस्योत्कर्षात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः। प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्या आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धवेश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृता"। अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्यायविश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वेत्रयीत्वहानिः। त्रयन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चित्त्यम्।। नै० 1/5 मल्लिनाथी व्याख्या एवं नारायणी व्याख्या भी द्रष्टव्य है।
4. मण्येसभं सावततार बाला गन्धर्वविद्याधरकण्ठनाला। त्रयीमयी भूतवली विभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा।। नै.10/74
5. आसीदथर्वा त्रियलित्रिवेदीमूलाद्विनिर्गत्य वितायमाना। नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा।। नै. 10/75
   – अथर्वाश्रुतिः यदीया सरस्वतीसंबन्धिनी उदररोमरेख उदररोमावली आसीत्। नै० 10/75, में नारायण
6. अथर्वणः श्यामत्वं पुराणप्रसिद्ध, अभिचार कर्तृत्वं च। विनिर्गत्येत्यत्रान्तर्भावितण्यर्थो ज्ञेयः। नै. 10/75, नारायण
7. नै० 17/59
8. नै० 17/61

प्रलापमपि वेदस्य भागं मन्यध्व एव चेत् ।
केनाग्येन दुःखान्न विधीनपि तथेच्छथ ॥[1]

वेद क्या हैं? और उनके प्रतिपाद्य क्या हैं, इसका समाधान ऋग्वेद के निम्न सूत्र से भी मिलता है। यथा –

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥[2]

वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार चारों वेद परमपिता के निःश्वास हैं। (अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो, यजुर्वेदः समावेदोऽथर्वांगिरस)। श्रीहर्ष ने वेदों के नेत्र रूप में होने की अभीप्सा व्यक्त की है, जैसा कि इन्द्र द्वारा कलि को फटकारने के सन्दर्भ में प्राप्त विवरण से ध्वनित होता है कि तीनों लोकों को कर्त्तव्योपदेश करने के कारण वेद (तीनों लोकों का) तीसरा नेत्र है।[3] राजशेखर भी इस तथ्य का समर्थन करते हुए दिखते हैं जहाँ वह कहते हैं कि ऋषि शास्त्रकार तथा कविगण सभी आवश्यकतानुसार ज्ञान की राशि वेदों का उपयोग करते आ रहे हैं[4] और शायद इसलिये वह वेदों को अपनाये हैं, क्योंकि वेदों से उन्हें उनके कर्त्तव्यमार्ग का निर्देश प्राप्त होता है।

वास्तव में समस्त वैदिक साहित्य को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं, वेदों की संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद। प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाये विभिन्न ब्राह्मण आरण्यक एवं उपनिषदों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। संहिताओं में मन्त्रों का शुद्धरूप रहता है, जिनका उच्चारण देव स्तुति एवं विभिन्न यज्ञों के समय होता है। ब्राह्मण ग्रंथों में वह भाग है, जो (वेद के) मन्त्रों के विधि भाग की व्याख्या करता है, आरण्यक ग्रंथों में वानप्रस्थ आश्रम में करणीय विधियों का व्यवस्थाओं का निरूपण है एवं उपनिषदों में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों की विधियों का प्रतिपादन मिलता है। नैषधकार ने उपर्युक्त समस्त वैदिक साहित्य के तथ्यों को इस ग्रंथ में यथास्थान जगह दी है। चारों वेदों की शाखाओं का विवरण देते हुए श्रीहर्ष उन्नीसवे सर्ग में चारणमुखेन कहते हैं कि चारों वेदों की एक सहस्र शाखायें ही सूर्य की सहस्र किरणों के रूप में परिवर्तित हुई हैं। वे किरणें अब हमारे समीप आ गयी हैं। प्रातः वेदपाठियों के मुखरूपी कन्दराओं में इन्ही किरण रूपी ऋचाओं के रास्ते की पदध्वनि ही तो वेदध्वनि के रूप में सुनाई पड़ती है।[5] यदि वेदों की शाखाओं पर दृष्टिपात करें, तो चारों वेदों की अनेक शाखाओं के होने की संसूचना तो अवश्य मिलती है, परन्तु अधिकांशतः सम्प्रति अप्राप्त हैं। महर्षि पतंजलि ने ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है[6], इनमें से केवल पांच शाखाओं के नाम या साहित्य उपलब्ध होते हैं, चरणव्यूह के अनुसार प्रमुख पांच शाखायें हैं, शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन एवं माण्डूकायन। सम्प्रति ऋग्वेद की शाकल शाखा ही प्रचलित है, वाष्कल शाखा की संहिता अप्राप्त है, आश्वलायन शाखा के श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं, जबकि शांखायन शाखा के ब्राह्मण एवं आरण्यक। माण्डूकायन का

---

1. नै. 17/60
2. ऋ० 1/164/39
3. लोकत्रयीं त्रयीनेत्रां कजवीर्यस्फुरत्करो क इत्थं भामते पाकशासने मयि शासति॥ नै. 17/85
4. नमोऽस्तु तस्मैश्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥ – काव्य मीमांसा, अ०-7
5. दशशत चतुर्वेदीशाखा विवर्तनमूर्तयः सविधमधुनाभूतं कुर्वन्ति ध्रुवं रविरश्मयः।
   वदनकुहरेष्वध्येतृणामयं तदुदृणामयं तदुदञ्चति श्रुतिपदमयस्तेषामेव प्रतिध्वनिरध्वनि॥ नै० 19/10
6. एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् – महाभाष्य, अहिनक-1

माना ही मिलता है। शेष शाखाओं के नाम भी संदिग्ध लगते हैं।[1] यजुर्वेद की सौ शाखाओं का उल्लेख महर्षि पतञ्जलि[2], के महाभाष्य, सवानुक्रमणी[3] एवं कूर्मपुराण[4] में मिलता है, जबकि चरणव्यूह में 86 का ही उल्लेख प्राप्त है जिनमें चरक शाखा की 12, मैत्रायणी की 7, वाजसनेयि की 17 तैत्तरीय की 6, एवं कठ की 44[5] चूंकि चरण व्यूह में कठ की 44 शाखाओं का नाम निर्देश नहीं मिलता, अतएव यह माना जा सकता है कि चरणव्यूह के समय 42 शाखायें ही थीं। सम्प्रति यजुर्वेद की 6 शाखायें ही उपलब्ध हैं, दो शुक्ल यजुर्वेद की, माध्यान्दिन या वाजसनेयि संहिता एवं काण्व संहिता तथा चार कृष्ण यजुर्वेद की, तैत्तरीय, मैत्रायणी काठक एवं कपिष्ठल कठ संहिता। सामवेद की शाखाओं को पतञ्जलि[6] ने एक सहस्र बताया, परन्तु शायद यह समीचीन मन्तव्य नहीं है, हां इसका अभिप्राय सामवेद के गान की एक सहस्र पद्धतियां माना जा सकात है जैसा कि श्रीसत्यव्रतसामश्रमी एवं श्री सातवलेकर का भी मत है।[7] सामतर्पण में 13 सामवेदी आचार्यो का विवरण मिलता है[8], अतएव इसकी 13 शाखाओं का ही परिगणन मान्य है, जिनमें सम्प्रति तीन शाखाएं ही उपलब्ध हैं, वे हैं राणायनीय, कौथुमीय एवं जैमिनीय या तलवकार। अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख पतञ्जलिकृत महाभाष्य[9] प्रयञ्चहृदय, चरण्व्यूह एवं सायणकृत अथर्ववेद भाव्य की भूमिका में मिलता है वे हैं- पैप्पलाद, तौद, मौद, शानकीय, जाजल, ब्रह्मवद, देवदर्श, चारण वैद्य, जिनमें सम्प्रति दो शाखाओं शौनक एवं पैप्पलाद की संहिताएं ही उपलब्ध हैं। इस प्रकार नैषधकार द्वारा वर्गित चारों वेदों की एक सहस्र शाखाओं में सम्प्रति सोलह शाखाओं (ऋग्वेद की 5, यजुर्वेद की 6, सामवेद की तीन, एवं अथर्ववेद की 2) के साहित्य, के उपलब्ध होने की विवक्षा मिलती है।

श्रीहर्ष ने वेदमन्त्रों के उच्चारण तथा उनकी सुरक्षा में कोई अन्तर न आने देने हेतु अपनाये जाने वाले उपायों, जिन्हें वैदिक साहित्य में विकृतियां कहते हैं, का भी वर्णन सत्रहवें सर्ग में कलि के नल राजधानी निषधपुर पहुंचने के प्रसङ्ग में वर्णन किया है। इन विकृतियों की संख्या 8 मानी गयी[10] वे हैं – जटा पाठ, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ एवं धन। इनमें वेदमंत्रों के उच्चारण में पांच प्रकारों का विशेष महत्व होता है वे हैं – संहिता पाठ, पद पाठ, क्रमपाठ, जटा, पाठ, एवं धन पाठ।[11] नैषधकार अभिहित करते हैं कि वहां (निषधपुर में) वेदपाठियों के मुख से पद पाठ सुनकर पापी कलि को पैर रखने का भी साहस न हुआ।[12] एवं वेदपाठियों के क्रमपाठ को सुनकर उसका आगे बढ़ने का क्रम ही रूक गया तथा वह नगर से दूर ही खड़ा रहा[13], और उसके चरणों की वेग से आगे बढ़ने की गति तथी तक ठीक

---

1. द्रष्टव्य–वैदिक वाङ्मय का इतिहास - भगवद्दत्त, भाग-1, पृ० 77-132 एवं वैदिक साहित्य-रामगोविन्द त्रिवेदी, पृ० 63-64
2. एकशतमध्वर्युशाखाः- महाभाष्य, आह्निक-1
3. यजुरेकशताध्वकम्- षड्गुरुशिष्य, सर्वानुक्रमणीवृत्ति
4. शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत् - कूर्म. पुराण 49-51
5. विवरण हेतु द्रष्टव्य- यजुर्वेद, सं० सातवलेकर, 1927, भूमिका, पृ० 6, 7
6. सहस्रवर्त्मा सामवेदः - महाभाष्य आह्निक -1
7. द्रष्टव्य- सामवेद संहिता - 1966 वि. (1939 ई०) सम्पादक श्री. दो. सातवलेकर, भूमिका, पृ० 2
8. राणायन-शाट्यमुग्रय-व्यास-भागुरि-औलुण्डी-गौल्गुलवि-भानुमानौपमन्यव-काराटि- मशकगार्ग्य-वार्षगण्य - कुथुम-शालिहोत्र-जैमिनि-त्रयोदशैते मे सामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः। सामतर्पणम्।
9. नवधाऽऽथर्वणोवेदः- महाभाष्य, आह्निक-1.
10. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
    अष्टो विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः।। सं. वा. का. इति. कपिलदेव द्विवेदी, पृ० 29 से उद्धृत
11. पञ्चपदपाठों की उच्चारण स्थिति द्रष्टव्य - वही पृ० 29-30.
12. वेदानुद्धरतां तत्र मुखादाकर्ण्यन्पदम्। न प्रसारयितु कालः कलिः पदमपारयत्।। नै० 17/163
13. श्रुतिपाठक वक्त्रेभ्यस्तत्राकर्णयतः क्रमम्। क्रम संकुचितस्तस्य पुरे दूरेमवर्तत्।। नै० 17/164

रही जब तक उसने वेदाध्यायियों के मुख से संहिता पाठ न सुना।[1] आचार्य मल्लिनाथ का कथन भी नैषधकार के कथन की पुष्टि करता है।[2]

नैषधकार ने चारों वेदों तथा उनके ब्राह्मण, आरण्यक, एवं उपनिषद् साहित्य में मिलने वाले ऋचाओं के चिह्नों उदात्त अनुसार एवं तीन स्वरों अनुदात्त एवं स्वरित की भी साहित्यिक मीमांसा की है। उन्नीसवें सर्ग में नल जागरण में चारणों द्वारा की गयी पद्यरचना में इसके दर्शन होते हैं, जहाँ वे कहते हैं कि रवि की प्रभातकालीन किरणों रूपी ऋचाओं (ऋग्भिः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते, यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः) के ओंकारों पर स्पष्ट और निर्मल अनुस्वार बिन्दु लगाने के लिये आकाश में कोई तारों को चुनता जा रहा है और उन्हीं ऋचाओं के ऊपर उदात्त[3] चिन्ह की रेखायें बनाने के लिये ही चन्द्र मण्डल से भी रश्मि रेखायें या किरणें चुन ली गयी है।[4] तात्पर्य यह है कि सूर्योदय काल में तारें लुप्त हो जाते हैं एवं अस्त होते हुए चन्द्रमा की उर्ध्वमुखी किरणें भी क्षीण होकर रेखावत् दृष्टिगोचर हो रही हैं। ध्यातव्य है कि उदात्त का अर्थ है उच्चध्वनि, अनुदात्त का अर्थ है निम्न ध्वनि, एवं स्वरित का अर्थ है दोनों की मिश्रित ध्वनि। ऋग्वेद में उदात्त स्वर पर कोई चिह्न नहीं लगता, जब कि अनुदात्त स्वर में वर्ण के नीचे पड़ी लकीर (Line) और स्वरित पर वर्ण के ऊपर खड़ी लकीर खींची जाती है।[5] सामवेद में उदात्त स्वर में वर्ण के ऊपर एक, अनुदात्त के ऊपर 3, एवं स्वरित के ऊपर 2 अंक लिखा रहता है।[6] यहाँ पर नैषधकार ने अनुस्वार हेतु तारागणों को, एवं उदात्त हेतु चन्द्ररश्मियों का निर्देश किया है।

नैषधीयचरितम् में वेदों में प्रतिपादित कुछ तथ्यों को भी श्रीहर्ष ने अपने विवेचन का विषय बनाया है, साथ ही वेदों से सम्बन्धित ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों की विषय सामग्री का भी संकलन किया है। अग्निहोत्रादि में मंत्रों से प्रज्जवलित होने वाली अग्नि का दृष्टान्त श्रीहर्ष ने नल एवं हंस के संवाद में दिया है, जहां नल पूछते हैं कि है हंस, दमयन्ती की अनुपम मधु के समान कथा को लोगों ने मेरे कानों का अतिथि बनाया है। वह कथा मेरी कामग्नि प्रज्वलित करनें में धाय्या (अग्नि सुलगाने में समर्थ ऋचा) के समान समर्थ है। अतः मुझ जैसे अधीर पुरुषों को धिक्कार है।[7] शतपथ ब्राह्मण में भी वर्णन मिलता है कि अग्नि होत्रादि में अग्नि प्रज्जवलित हेतु जिन मंत्रों का मन्त्रोच्चारण होता है उन्हें सामिधेनी कहते हैं।[8] इनमें अनेक मन्त्रों का एक साथ उच्चारण होता है[9] साथ ही जो यथावसर अन्य मन्त्र संयुक्त किये जाते हैं, उन्हें

---

1. तावद्गतिधृताटोपा पादयोस्तेन संहिता। न वेदपाठिकण्ठेभ्यों यावदश्रावि संहिता।। नै० 17/165
2. ....यावत् यत्पर्यन्तं, वेदपाठिनाम् वेदाध्येतृणाम्, कण्ठेभ्यः मुखेभ्यः, संहिता पूर्वोक्तपदक्रमरूपावस्थाद्वयविलक्षणा ऋगादिरूपा, न अश्रावि न श्रुता, तच्छृणोतेस्तुभ्य एव पादयोरिति भावः। तदेतदारण्यके "श्रुतम् अन्नाद्यकामो निर्भुजं ब्रूयात् स्वर्गकामः प्रतृण्वन् उभयन्तरेण, इति। नै० 17/162 मलिलनाथ
3. उच्चैरुदात्तः – पाणिनि सूत्र, 1/2/29
4. रविरुचिऋचामोंकारेषु स्फुटामलबिन्दुतां गमयितुमभूरुच्चीयन्ते वियत्यसि तारकाः।
   स्वरविरचनायासामुच्चैरुदात्ततया कृताः शिशिरमहसो बिम्बादस्मादसंशयमंशवः।। नै० 19/7
5. ऊँ अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्यं देवमृत्विजम्। होतार रत्नधातमम्।। ऋग्वेद 1/1/1.
6. विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य - सं. सा. का समी. इति.- कपिलदेव, पृ० 29 एवं वेदचयनम् परिशेष पृ० 37.........39.
7. अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः। मदनानलबोधने भवत्खग। धाय्या धिगधैर्यधारिणः।। नै० 2/56
8. इध्मेनाग्निं तस्मादिध्यो नाम समिन्धे। सामिधेनीर्मिहोता तस्मात्तत्सामिधेन्योनाम।। श.ब्रा. 1/3/5/1 अच्युत ग्रंथ माला, काशी सं. 1994
9. अथसामिधेन्यः प्रवोवाजा अभिद्यवो - ऋ. 3/27/1
   ऽग्नमायाहिवीतये गृणानः, वही, 6/16/10
   ईडेन्यो नमस्यस्तिरो, वही 3/27/13, म्निं दूतं वृणीमहे, वही, 1/12/1,
   समिध्यमानोध्वरो, वहीं 3/27/4, समिद्धो अग्नआहुतेति द्वे, वही, 5/28/5 एवं आश्वलायन सूत्र 1/2/7 पर भी द्रष्टव्य
   – ता एक श्रुतिसन्ततमनुब्रूयात् – आश्व. श्रौ. सूत्र 1/2/8

'धाय्या' कहते हैं[1], परन्तु वे भी समिधेनी के अन्तर्गत ही परिगणित होते हैं। अमरकोश में भी वर्णन मिलता है "ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धनी इत्यमरः।।"

ऋग्वेद में पाप प्रशमन हेतु अघर्षण सूत्र का उल्लेख मिलता है। यथा-ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत् आदि।[2] इस प्रसङ्ग का सन्दर्भ इन्द्र नारद संवाद में मिलता है, जहाँ इन्द्र देव ऋषि नारद से कहते हैं कि भगवन्, आपके वचन वेद के सार हैं। वेद की पाप नाशक ऋचा (अघर्षण) के समान अब मेरे मन में इस विषय (पृथ्वी लोक के राजा, स्वर्गलोक क्यों नहीं आये) में सन्देह उत्पन्न करने वाले इकट्ठे पाप को आप को शीघ्र नष्ट करना चाहिए।[3] राज नल ने भी अघमर्षण मंत्र का उच्चारण करते हुए अपनी मध्याह्न देवार्चना प्रारम्भ की, इस तथ्य का उजागर भी नैषधकार ने किया है। यथा –

श्वेत्यशैत्य जलदैवतमन्त्रस्वादुताप्रमुदितां चतुरक्षीम् ।
वीक्ष्येमोघघृतसौरमलोभं घ्राणमस्य सलिलघ्रमिवासीत् ।।[4]

नारायण का मत है कि लोमसजातीयस्पर्धाविगलित विवेकं सत् "ऋतं च"[5] इत्यादि संध्याघर्मषण चुलुकोदयस्पर्शमिषेण सलिलं जिघ्रतीति सलिघ्रं जलाघ्राणं कुर्वादिवाभूत्। लोभस्पर्धाभ्यां, विगलितविवको ह्यविषयेऽपि प्रवर्तते। संध्याघमर्षणं चकारेति भावः।[6] एवं आचार्य मल्लिनाथ का कथन है कि अघमर्षणकाले ऋतञ्च इत्यादि मन्त्र पठन् जलं जिघ्रेति स्मेति निष्कर्षः।[7] आचमन एवं पवित्रीकरण के उपरान्त जप करने का विधान विभिन्न संहिताओं में वर्णित है। नैषधकार भी उसी परम्परा का अनुपालन करते दिखते हैं, क्योंकि उन्होंने नल द्वारा अघमर्षण मन्त्र से आचमनोपरान्त ऋग्वेद के विष्णु सूक्त[8] का जप करने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि विष्णु सूक्त का जप करने के लिये राजा नल ने अपने कर कमल में पद्म बीजों की बनी पद्माक्ष माला ली मानो वे बीज पुनः अपने निवास स्थान कमल में ही पहुँच गये हों। यथा-

अक्षसूत्रगतपुष्करबीजश्रेणिरस्य कर सङ्करमेत्य ।
शोरिसूक्तजपितुः पुनरापत्पद्मसद्चिरवासविलासम् ।।[9]

ऋग्वेद में इन्द्र को 'शतक्रतु' कहा गया है।[10] एवं ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ब्राह्मण को मुखजः क्षत्रिय को बाहुज वैश्य को ऊरुज तथा शुद्र को पादज या अन्त्यज अभिहित किया गया है।[11] इस तथ्य का विवरण वरुण द्वारा वेदों की प्रामाणिकता एवं चार्वाक को फटकराने के प्रसङ्ग में नैषध के सत्रहवें सर्ग में मिलता है। वरुण कहते हैं कि हे नास्तिको! शतक्रतु (शताश्वमेधकारीन्द्रो भवति अर्थात इन्द्र) तथा ऊरुज (विष्णु के ऊरु से उत्पन्न वैश्य) आदि (मुखज=ब्राह्मण, बाहुज=क्षत्रिय, और पादज = शुद्र), वैदिक वाणी

---

1. तस्मादुपरिष्टादेवध्याय्येदध्यात् - श.ब्रा. 1/4/1/37
2. ऋ. सं. 10/190/1....3
3. तद्विमृष्य मम संशयशिल्पि स्फीतिमत्र विषये सङ्कसाघम्। भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणकल्पैः।। नै० 5/18
4. नै० 21/17
5. ऋ० सं० 8/8/48
6. नै० 21/17 में नारायण
7. नै० 21/17 में मल्लिनाथ
8. विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्– ऋ० सं० 1/54/1.....6
   – विष्णोर्नुकं....ऋ० सं० 2/2/24
9. नै० 21/48
10. शतक्रतुमर्णवं शाकिनं नरं गिरो म इन्दुमुपयन्ति विश्वतः। ऋ सं०, 3/51/2
11. द्रष्टव्य ऋ.सं. 3/37/2,3,6,8,9,। बाहूराजन्यः कृतः ऋ.सं. 10/90/12

से सङ्गतहोने के कारण तुम लोगों को क्यों आश्चर्यचकित (होने से वेद से विश्वासयुक्त) करती है।[1] अर्थात् वैदिक उपाख्यानों पर तुम क्यों विश्वास नहीं करते हो? नल द्वारा भगवान विष्णु की अर्चनाप्रसंग में भी नैषधकार ने उपर्युक्त तथ्य का निदर्शन करना चाहा है। यथा

> क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवनं सृजतः प्राक् ।
> जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थ मुचितौ विजयेताम् ।।[2]

उपनिषदों में किये गये गये विवेचन को भी श्रीहर्ष ने नैषधमहाकाव्य में स्थान दिया है। तैत्तरीयोपनिषद् के वाक्य "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति।[3] जिसका निष्कर्ष है कि ईश्वरानुग्रह से ही मनुष्य भवबन्धन मुक्ति से मिलने वाले ब्रह्मानन्द का आनन्द पाप्त कर सकता है" की संगति नल के करपञ्जर से मुक्त होने वाले हंस की स्थिति के निरूपण में श्रीहर्ष ने किया है कि "जैसे भगवान पुरुषोत्तम की कृपा से मुक्ति साधनभूत ज्ञान को पाकर कोई द्विज अवाङ्गमनसोगोचर रूप ब्रह्म का अनुभव करता है, उसी प्रकार नल से मुक्ति पाने पर उस पक्षी (हंस) को जो आनन्द हुआ , उसका वर्णन मन तथा वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता।[4]

आत्म दर्शन या आत्मसाक्षात्कार श्रवण मनन एवं निदिध्यासन की कसौटियों पर सफल होने के बाद ही संभव होता है, दूसरे शब्दों में प्रतीयमान विश्व का यथार्थ समझ में आता है, जैसा कि याज्ञवल्क्य मैत्रेयि को आत्मा से सम्बन्धित प्रश्न के समाधान में अभिहित करते हैं "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो। वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वविदितम्।[5] इस स्थिति का संकेत दमयन्ती द्वारा नल प्राप्ति के लिए उसके श्रवण, मानसिक भावनात्मक दर्शन या मनन तथा एकाग्रतापूर्वक ध्यान के क्रमिक उपाय के अवलम्बन का चित्रण करने के श्रीहर्ष के कथन में मिलता है, वह हंस से अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करती हुयी कहती है कि हे हंस! मैंने उन्हें (नल को) लोगों से सुना, उन्माद वश चारों ओर उन्हें देखा एवं एकाग्रचित्त से उनका ध्यान भी किया। अब मुझे या तो उनकी प्राप्ति होगी, या मेरे प्राणों का नाश होगा, और वह तुम्हारे ही हाथ है।[6] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार जिसने आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लिया है वह विश्व की सम्पूर्ण परिस्थितियों का हस्तामलकवत् दर्शन कर लेता है। यथा –

> यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धिसत्त्वः कामयते यांश्चकामान् ।
> तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकायः ।।[7]

उपर्युक्त तथ्य की तुलना श्रीहर्ष द्वारा वर्णित दमयन्ती विरह में चिन्तत नल द्वारा हंस की शीघ्र उपस्थित होने की कामना से की जा सकती है, जहाँ नल ने हंस को मन ही मन चाहा कि तुरन्त वह पक्षी उपस्थित हो गया एवं सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। सच ही तो है कि सुकृती पुरुषों को अपनी प्रिय वस्तु के

---

1. शतक्रतुरु जायाख्याविख्यातिर्नास्तिकाः कथम् । श्रुतिवृत्तान्तसंवादैर्न वश्चमदचीकरत्।। नै० 17/104
2. नै० 21/65
3. तै0 उप. 2/4
4. अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः। वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः।। नै० 2/1
5. वृहदा. उप. 2/4/5
6. श्रुतः स दृष्टश्चहरित्सुमोहाद्ध्यातः स नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
   ममाद्यतत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकरोषः ।। नै० 3/82
7. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/10

लिए केवल इच्छा करने भर की देर होती है।[1] छान्दोग्योपनिषद् के आत्मा से सम्बन्धित "तत्त्वमसि"[2] एवं वृहदारण्यकोपनिषद् के सा वा एष महानज आत्मा।[3] के साम्य का संकेत कलि प्रतिनिधि द्वारा किये गये वेदखण्डन प्रसंग में दृष्टव्य है। यथा–

जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ ।
त्योज्यते ग्राह्यते चान्यदहो श्रुत्यातिधूर्तया ।।[4]

लोक एवं पारलौक के विषय में कौन जान सकता है?[5] वेद के इस वाक्य का निदर्शन भी नैषधकार ने कलिप्रतिनिधि के कथन में किया है, जहाँ वह लोक परलोक की सत्ता के निराकरण में अपना मन्तव्य रखते हुए कहता है कि जब स्वयं वेद ही परलोक के विषय में संशयग्रस्त है तो उनको प्रमाण मानने वाला संसार परलोक की मान्यता में कैसे विश्वास कर ले?[6] पितृलोक के विषय में छान्दोग्य उपनिषद में वर्णन मिलता है कि (सूर्य के) दक्षिणायन के समय शरीर त्यागने वाले (गृहस्थ) क्रम से मासाभिमानी देवताओं, पितृलोक तथा आकाश (में स्थान) प्राप्त करते हुए चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं।[7] एवं वृहदारण्यक उपनिषद् का कथन है कि कभी गृहस्थ जन इस चन्द्र को प्राप्त होकर अन्न बन जाते है, एवं जिस तरह ऋत्विज यज्ञ में सोम का आप्यायन और अपक्षय करके यज्ञकर्ता जन भक्षण करते है वैसे ही देवता भी चन्द (सोम) लोक में शरीरधारी कर्मियों का उपयोग करते हैं।[8] साथ ही नारायणोपनिषद् की मान्यता है कि दक्षिणायन में मृत्यु प्राप्त होने पर, प्राणी पितरों की महिमा को प्राप्त कर, चन्द्रमा के सायुज्य एवं चन्द्रलोक को प्राप्त होता है।[9] नैषधकार ने उपर्युक्त श्रुतिवाक्यों के निष्कर्ष "चन्द्रो वै पितृलोकः इति श्रुतेः" का प्रसंग नल द्वारा सन्ध्यावर्णन विवरण में दिया है नल दमयन्ती से कहते है कि प्रिये! परशुराम ने सहस्रार्जन का शिर काटकर उसके जिस रक्त से पितरों का तर्पण किया था, उसी रक्त ने मानों इस पितृलोक (चन्द्रमा) में पहुँचकर इसके लालवर्ण का बना दिया है।[10] शायद इसीलिए सन्ध्या काल में आकाश लालवर्ण का दृष्टिगोचर होता है। पितृतर्पण में प्रयुक्त तिलाञ्जलियाँ चन्द्रमण्डल पहुँचती हैं एवं वह जल चन्द्रमा का अमृत बन जाता है इस तथ्य का विवरण भी नैषधकार ने दिया है। यथा–

स्वधाकृतं यन्तनयैः पितृभ्यः श्रद्धापवित्रं तिलचित्रमम्भः ।
चन्द्रं पितृस्थानतयोपतस्थे तदंगरोचिः खचिता सुधैव ।।[11]

---

1. प रवति दमयन्ति! त्वां न किंचिद्वदामि द्रुतमुपनम के मामाह सा शंस हंस
   इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः प्रियमनु सुकृता हि स्वस्पृहायां विलम्बः।। नै० 3/134
2. छा० उ० 6/8/7
3. वृहदा उ० 4/4/25
4. नै० 17/54
5. को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा। इति दिक्ष्वतीकाशान्करोति" इत्यादिर्या श्रुतिः। नै० 17/62, नारायण की टिप्पणी
6. को हि वेदास्त्यमुष्मिन्वा लोक इत्याह या श्रुतिः। तत्प्राणाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम्।। नै० 17/62
7. मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेषसोमो राजा तद्देवा नामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। छान्दो०उप0 5/10/4
8. मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताँस्तत्र देवा यथा सोम राजानमाप्यायस्वापक्षीस्वेत्यवमेनाँस्तत्र भक्षयन्ति। वृहदा. उप. 6/2/26
9. अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोति। नारायणोपनिषद् - 80
10. तानीव गत्वा पितृलोकमेनमरञ्जयन्त्यानि स जामदग्न्यः।
    छित्वा शिरोऽस्राणि सहस्रबाहोर्विस्राणि विश्राणितवान्पि तृभ्यः। नै० 22/48
11. नै०22/119

अर्थात नल सन्ध्यावर्णन करते हुए दमयन्ती से कहते है कि प्रिय पुत्रों ने अपने पितरों को श्रद्धा सहित जो तिलाञ्जलियाँ देते हैं, वह पितरों के लोक चन्द्रमण्डल में चली जाती हैं और वहाँ तिलाञ्जलियों के वे तिल एकत्रित होक कलंक रूप में श्यामवर्ण दिखायी दे रहे हैं एवं वह जल चन्द्रमा का अमृत बन जाता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित उपर्युक्त तथ्य जिसमें चन्द्रमा को देवों का अन्न बताया गया है, एवं उसे देवों का भक्ष्य कहा गया है का संकेत भी श्रीहर्ष ने दमयन्ती द्वारा चन्द्रोपालम्भ[1] वर्णन प्रसंग के साथ साथ सन्ध्यावर्णन में भी दिया है, दमयन्ती चन्द्रमा की प्रशंसा करती हुई कहती है कि सुधाभोजी देवगण इस सुधांशु को पीकर जो रिक्त कर देते है, वह ठीक ही है क्योंकि कुम्भज (आगस्त्य) ने इसके पिता सागर को ही पीकर रिक्त कर दिया था, अतः यह रिक्तता तो चन्द्रमा का पैतृक गुण है।[2]

श्रीहर्ष ने वेदों में वर्णित विभिन्न यज्ञों में विवरण को भी अपनी लेखनी का माध्यम बनाया है। सत्रहवें सर्ग में कलि से नल की राजधानी में सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञों में अग्निषोम (गोमेध) यज्ञ, इन्द्र याग या सौत्रामिणी यज्ञ, सर्वमेध यज्ञ, ब्रह्मसाम, अग्निष्टोम, पौर्णमास, सोम, सर्वस्वार, महाव्रत एवं अश्वमेघ यज्ञ को देखा जिससे उसे असीम कष्टों की अनुभूति हुई। गोमेध यज्ञ में हिंसा के लिए गौ को देखकर (याज्ञिक ब्राह्मणों के मुख से उच्चरित अग्निषोमीयं पशुमालभेत्" वाणी को सुनकर उसका रमण अर्थ समझ) वह कलि प्रसन्नतापूर्वक गौ की तरफ दौड़ा लेकिन सौमयज्ञ में काम आने वाली (सोमदेवताक नामक यागरूप धर्म में आसक्त) गौ ने पाप रूप कलि को इस तरह दूर से भगा दिया जैसे वृष में आसक्त गौ गधे को भगा देती है।[3] इस यज्ञ का विवरण शुक्लयजुर्वेद संहिता[4] एवं शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है।[5] नैषधकार ने सौत्रामिणी (इन्द्रयाग) को मदिरा (सुरा या सोमरस) द्वारा सम्पन्न करना बताया, जिसकी पुष्टि शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन (वाजसनेयि) संहिता[6] के साथ-साथ शतपथ ब्राह्मण[7] से भी होती है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णन मिलता है कि सौत्रामणी नामक यज्ञ, जिसमें देवजन कुश (बर्हिः) पर बैठते हैं, तथा शष्प तोक्म, लाजा, ब्रीहि श्यामाक, तथा नग्नहु आदि 26 अन्य औषधियों से आयुर्वेदशास्त्रनुसार बनी हुई सुरा (सोमरस) से यह यज्ञ सम्पन्न होता है। श्रीहर्ष अभिहित करते हैं कि कलि ब्राह्मण को मदिरा लेता हुआ देखकर प्रसन्न हुआ, पर बाद में सौत्रामणी यज्ञ करता हुआ (सौत्रामण्यां सुरां पिबेत् इति श्रुतेः) देखकर दुःखी हो गया।[8]

---

1. असित मेकसुराशितमप्यमून्न पुनरेष विधुर्विशदं विषम्। अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम्।। नै० 4/61
2. सुधाभुजो यत्परिपीय तुच्छमेतं वितन्वन्ति तदर्हमेव। सुरानिपीयास्य पितापि सिन्धुरकारि तुच्छः कलशोद्भवेन।। नै० 22/67
3. हिंसागवीं मखे वीक्ष्य रिरंसुर्धावति स्म सः। सा तु सौम्यवृषासक्ता खरं दूरान्निरास तम्।। नै० 17/177
   – विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य– मल्लिनाथी संस्कृत व्याख्या एवं हिन्दी रूपान्तरण, नै० 17/173
4. शु.यजु.सं., अध्याय-6
5. शतपथ ब्राह्मण, 4/5/2/1
6. सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं यज्ञं हिन्वन्ति महिषा नमोभिः।
   दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदे मेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः।। शु. यजु. वा. सं. 19/32
   यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य।
   तेन जिन्व यजमानं मदेनसरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्।। वही, 19/33
   यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
   इमं तं शुक्रं मधुमन्तमिन्दुं सोमं राजानमिह भक्षयामि।। वही, 19/34
   यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्य यदिन्द्रो अपिबच्छचीभिः।
   अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमं राजानमिह भक्षयामि।। वही, 19/35
   विशेष – सौत्रामणी यज्ञ का इस संहिता में 19 से 21 अध्याय तक विस्तृत विवरण किया गया है।
7. सुरावान् वा एष बर्हिषद् यज्ञो यत् सौत्रामणीः। श. ब्रा., 12/8/1/2
8. मुमुदे मदिराननं विन्दन्नेष द्विजन्मनः। दृष्ट्वा सौत्रामणीमिष्टिं तं कुर्वन्नद्रुतत्।। नै० 17/182

नैषधकार ने सर्वमेधयज्ञ को सम्पन्न होने का विवरण भी दिया है, जिसमें प्रत्येक जाति के एक-एक प्राणी की हिंसा का विधान होता है।[1] ब्राह्मण के घातक (ब्रह्महत्या) को देखकर कलि ने सन्तोष प्राप्त किया किन्तु जब उसे यह ज्ञात हुआ कि उस व्यक्ति ने सर्वमेध यज्ञ किया है। जिसमें ब्राह्मण को ब्राह्मण का वध करना वेद विहित है, तो वह अत्यन्त सन्तप्त हुआ।[2] आचार्य मल्लिनाथ का भी कथन है कि "ब्राह्मणे ब्राह्मणमालभेत" इति श्रुत्या सर्वमेधे ब्राह्मणादिसर्वालम्यविधानात् तस्य धर्मत्वादिति भावः।[3] राजसूय यज्ञ का निर्देश भी श्रीहर्ष ने किया है एवं इस तथ्य का उद्घाटन भी किया है कि इस यज्ञ में यजमान की ऋत्विजों के साथ जुआ (अक्षपण) खेलेन का भी विधान होता है।[4] कलि ने नलराजधानी में (स्वयं का सहायक सझमने वाले) जैन को ढूंढते हुए भी ब्रह्मचारियों का मृगचर्म (अजिन) ही पाया तथा दिगम्बर यती (बौद्ध क्षपणक) को तलाश करने में उसने (राजसूय) यज्ञ में दीक्षित हुए मनुष्य का पासों का जुआ देखा[5], जो कि वेद विहित था। इस प्रकार कलि के स्वपक्षीय किसी के (पाप कर्म के) नहीं मिलने से उसको वहाँ अत्यधिक कष्ट हुआ। ऋग्वेद[6] में वर्णन मिलता है कि ब्रह्मसाम (वामदेव या कम्र नामक देवता विशेष के उपासक या वामदेव से दृष्ट साम विशेष के उपासक) में पास में आयी हुई (गम्या अगम्या) सभी स्त्रियों से समागम करना, विधानसम्मत है क्योंकि श्रुति का भी कथन है- "वामदेव्योपासने सर्वाः स्त्रियः उपसीद। श्रीहर्ष कलि की मनोदश का चित्रण करते हुए कहते हैं कि स्वयं पास आयी सभी (जातियों की) स्त्रियों को कामुक मनुष्य को देखकर कलि को बड़ा सन्तोष हुआ किन्तु उन्हें वामदेव (ब्रह्मसाम) का उपासक देखकर बड़ा दुख हुआ।[7] छान्दोग्यउपनिषद् में भी वर्णन मिलता है कि समागमप्रयोजन हेतु स्वयं शय्या पर आयी हुई किसी स्त्री का परित्याग नहीं करना चाहिए।[8] नैषध में दर्श (अमावस्या तिथि में किया जाने वाला यज्ञ) अग्निष्टोम, पौर्णमास, एवं सोमयज्ञ का सङ्केत भी मिलता है। इन यज्ञों से तो कलि को कष्ट ही हुआ, परन्तु पौर्णमास यज्ञ को देखकर वह मच्छित हो गया, तथा सोमयज्ञ को तो वह यम ही समझन लगा।[9] सर्वस्वार नामक[10] यज्ञ को भी नलराजधानी में सम्पन्न होने के विवरण को रखते हुए श्रीहर्ष ने इस तथ्य का प्रतिपादन करना चाहा है कि इस यज्ञ में आत्म हत्या से पाप नहीं होता, परन्तु उक्त यज्ञ करने का अधिकार, औषधादि सेवन से भी स्वस्थ नहीं होने वाले किसी असाध्य रोग से युक्त मरणासन्न व्यक्ति को

---

1. सर्वमेधे हि तत्तज्जातीयैकैकप्राणिहिंसाधिकारात् "ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभेत" इति ब्रह्मवधस्य वैधत्वान्निराश्रयत्वात्संतप्त इत्यर्थः।। नै० 17/186, नारायण
2. तत्र ब्रह्महणं पश्यन्नतिसंतोषमानशे। निर्वर्ण्य सर्वमेधस्य यज्वानं ज्वरति स्म सः।। नै० 17/186
3. नै० 17/183, मल्लिनाथ व्याख्या से उद्धृत
4. राजसूय यजमानोऽक्षैर्दीव्यती 'ति श्रुतेरिति प्रकाश' व्याख्या।
   - राजसूये अभिषेचनीये अष्टाक्षैर्दीव्यन्तीति श्रवणात्, नै० 17/186, मल्लिनाथ
   - राजसूये यजमानोऽक्षैर्दीव्यति इति श्रुतेर्विहित त्वाद्द्यूतं युक्तम्. नै० 17/189 में नारायण
5. अपश्यञ्जिनमन्विष्यन्नजिनं ब्रह्मचारिणः। क्षपणार्थी सदीक्षस्य स चाक्षक्षपणमैक्षत्।। नै० 17/189
6. ब्रह्मसाम कयानश्चित्र- (ऋ. 3/6/24) इत्यादि वामदेव्यं नाम साम तस्य ब्रह्मविद्याया अभ्युपासकं विभाव्य मत्वा मम्लौ (कलिः) दुःखितोऽभूत। नै० 17/194, नारायण
   - दृष्टं साम (पा.सू. 7/2/7) इत्यर्थे वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ (पा.4/2/9) इति ड्यः।
7. कम्रं तत्रोपनम्राया विश्वस्या वीक्ष्यतुष्टवान्। स मम्लौ तं विभाव्याथ वामदेव्याभ्युपासकम्।। नै० 17/194
8. न काञ्चन परिहरेत् तद्व्रतम् - छान्दो. उपनिषद् 2/13
   - तदुपासकानां "न काञ्चन स्वयमागतां परिहरेत्" इति श्रुतेस्तदुपभोगस्य धर्मत्वादिति भावः। नै० 17/191, मल्लि0
9. दर्शस्य दर्शनात्कष्टमग्निष्टोमस्य चानशे। जुघूर्ण पौर्णमासेक्षी सोमं सोऽमन्यतान्तकम्।। नै० 17/196
10. कीथ महोदय ने हिलेब्रान्ट महोदय का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस यज्ञ में राजा अपना सर्वस्व त्यागकर सन्यास ग्रहण करता है, जैसा कि बुद्ध ने किया। यह यज्ञ उपाख्यानों पर ही आधारित है तथा केवल पुरोहितों की कल्पना ही समझ पड़ता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसका उल्लेख केवल बाद में लिखे गये सूत्रों में ही हुआ है। द्रष्टव्य, कीथ, रीलिजन एण्ड फिलास्फी आफ दि वेद, द्वितीय भाग, पृ० 348

ही है, स्वस्थ व्यक्ति को नहीं। सर्वस्वार यज्ञ में पशुमंत्र से संस्कार प्राप्त व्यक्ति का अपने को मारकर यज्ञभागार्पण करने पर उस आत्महत्या को धर्मविरुद्ध नही होने से वह कलि अत्यन्त दुःखी हुआ।[1] यथा–

आनन्द निरीक्ष्यायं परे तत्रात्मघातिनम्। सर्वस्वारस्य यज्वानमेनं दृष्ट्वाथ विव्यथे।।[2]

महाकवि कालिदास रचित रघवंशमहाकाव्य में भी इसक प्रसङ्ग प्राप्त है यथा- "यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्।। महाव्रत नामक यज्ञ का भी सङ्केत नैषधकार ने किया है। इस यज्ञ में ब्रह्मचारी एवं वैश्या के समागम का विधान होता है। उपनिषद् वाक्यानुसार यह यज्ञ धर्मप्रतिकूल नहीं माना जाता, यथा– "महाव्रते ब्रह्मचारिपुंश्चल्योः सम्प्रवादः" कलि ने इस महाव्रत यज्ञ में ब्रह्मचारी और वेश्या का सहवास देखकर यज्ञक्रिया को भाड़ों का असमय का नृत्य ही समझा[3] जो कि उसकी पाप बुद्धि का परिणाम था। नारायण एवं मल्लिनाथ के मत में भी इस यज्ञ के बारे में संसूचना मिलती है।[4] अश्वमेध यज्ञ का संकेत भी नैषध के कलिविवरण प्रसंग में मिलता है। यज्ञकर्ता की स्त्री के उरांग से अवश्वमेध के घोड़े के शिश्न को संस्पृष्ट देखकर अपण्डित (श्रुतिविधान का अज्ञ) उस कलि ने (अपने सहचर द्वापर से या स्वयं अपने प्रति) वेद् बनाने वाले (ईश्वर) को भाँड़ कहा[5], जब कि अश्वमेध में विधि है कि "निरायत्याश्वस्य शिश्न महिष्युपस्थे निधत्ते[6] या अश्वमेध प्रकरणे" अश्वस्य शिश्नं महिष्या उपस्थे निधत्ते।[7] इस रूप में अश्वमेघ यज्ञ का वैसा करने का विधान है। अतः राजाज्ञा के सामन वेदाज्ञा के बिना विकल्प किये स्वीकार करने का मनुवचन[8] होने से वैसा करना धर्मविरुद्ध नहीं था, किन्तु श्रुति को नहीं जानने वाला कलि अज्ञता के कारण वेदकर्ता को ही भण्ड (भाँड) कहने लगा। उपर्युक्त यज्ञों के साथ-साथ नैषधकार ने वेदों के इस विधान का, कि किसी यज्ञ के अनुष्ठान में दीक्षित होने पर यजमान अनुष्ठान काल तक दान, होम (सन्ध्या स्नानादि) नित्य नैमित्तिक कर्मों से मुक्त रहता है यथा दीक्षितो न ददाति न जुहोति इत्यादिश्रुतेः।।[9] का संकेत श्रीहर्ष के उस कथन में मिलता है जहाँ वह कहते हैं कि ब्राह्मण को नित्य नैमित्तिक कर्म को छोड़ता हुआ देखकर कलि को हर्ष हुआ, पर बाद में उसे यज्ञ में दीक्षित देखकर कलि दीनमुख करके दूर भाग गया।[10]

नैषध महाकाव्य में उपनिषदों में प्रतिपादित विषय सामग्री का भी विवरण प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि गृहस्थ जन इष्टापूर्त आदि पुण्य कर्मों के क्षयकाल तक चन्द्रलोक में चन्द्रसानिध्य प्राप्त करते हैं एवं पुनः पुण्य कर्मों की समाप्ति होने पर बिना किसी एक क्षण के विलम्ब के जिस मार्ग से चन्द्रलोक जाते हैं उसी मार्ग से पुनः मृत्युलोक वापस लौट आते हैं।[11] चन्द्रोपालम्भ विवरण में

---

1. सोऽन्त्येष्टी सर्वस्वाराख्ये यज्ञे आत्मानमेव पशुमन्त्रैः संस्कृतं घातयित्वा यज्ञभागमर्पयति इति श्रुतिः। वैधत्वादात्मघातदोषा भावाद्व्यथितः इत्यर्थः। नै० 17/199 मलि. एवं 17/202, नारायण
2. नै० 17/202
3. क्रतौ महाव्रते पश्यन्ब्रह्मचारीत्वरीरतम्। जज्ञे यज्ञक्रियामज्ञः स भण्डाकाण्डताण्डवम्।। नै० 17/203
4. स महाव्रताख्ये क्रतौ ब्रह्मचारी चेत्वरी च तयो रतं मैथुनं पश्यन् यज्ञक्रियां भण्डानामसत्यभाषणादिव्यापार-शीलानामकाण्डताण्डवमसमयोद्धतनृत्तमिव जज्ञे मेने। यतोऽज्ञो मूर्खः। भण्डा यथा बहुजनसमक्षं गुह्यादि प्रकाशयन्ति, तथा द्विवैव बहुजनसमक्षमश्लीलव्यापारकरणादिकर्म भण्डव्यापारतुल्यमिति यज्ञांशं सर्वोऽप्यसभ्य इति मेन इत्यर्थः। नै० 17/203 नारायण एवं नै० 17/200 मल्लि0 टीका भी द्रष्टव्य,
5. यज्वभार्यारवमेधाश्वलिङ्गालिङ्गिकाकृताम्। दृष्ट्वाचष्ट स कर्तारं श्रुतेर्भण्डमपण्डितः।। नै० 17/204
6. नै० 17/201 मलि0 टीका से उद्धृत्
7. नै० 17/204 नारायणी टीका से उद्धृत्
8. पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः।। मनु0 12/110
9. नै० 17/201 नारायणी टीका से उद्धृत्
10. हृष्टवान् स द्विजं दृष्ट्वा नित्यनैमित्तिकत्यजम्। यजमानं निरूप्याथ दूरं दीनमुखोऽभवत्।। नै० 17/201
11. तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वा - छा0 उप0 5/10/4-5

दमयन्ती कहती है कि हे जड़ चन्द्र! मरने से भीमकन्या दमयन्ती का मन मुझमें लीन हो जायेगा अर्थात् दमयन्ती मुझसे चाहने लगेगी, ऐसा समझते हो क्या? विद्वान् वेदव्याख्यानकर्ता (पक्षान्तर में स्मरणशील विद्वान् या देवता) काम ने निश्चय ही मुझसे उस श्रुति (वेदमन्त्र) का अर्थ नल का मुख (नलमुखेन्दु) रूप बतलाया है।[1] यहाँ दमयन्ती के कथन का आशय है मैं मरकर भी नल को ही जन्मान्तर में भी चाहूँगी, तुम्हें कदापि नहीं। ''यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोतं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु रोहितं च रेतश्च निधीयते''[2] या मनश्चन्द्रे निलीयते''[3] इस श्रुति वचन के अनुसार मृत प्राणी का मन चन्द्रमा में लीन हो जाता है, इस कारण चन्द्रमा का वैसा सोचना समझ कर दमयन्ती ने कहा कि उक्त श्रुति का "मरने पर प्राणियों के मन का चन्द्रमा में लीन होना सामान्य अर्थ है। वेद व्याख्यान का पूर्वापर या स्मरण करने वाले विद्वान्, या देवता काम ने उस श्रुति का अर्थ "मरने पर नल रूपी चन्द्रमा मे मन को लीन होना" बतलाया है। अतएव ''प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुप" अर्थात् सामान्य की अपेक्षा विशेष की बलवत्ता होने से तुम्हारी आशा (मरने पर दमयन्ती का मन मुझ चन्द्र में लीन होगा, यह समझना) एक भूल है। लोक जीवन में सहजतया यही देख जाता है कि सामान्य बुद्धि वाले मनुष्य किसी श्रुति आदि का सामान्य अर्थ ग्रहण करते हैं, जबकि विद्वान् तो विशेष अर्थ को ही ग्रहण करते हैं एवं यहाँ इस प्रसंग में भी देवता काम का बतलाया हुआ श्रुति का विशेष अर्थ ही ग्राह्य है, सामान्य अर्थ नहीं। इसी उपनिषद् में मरणासन्न प्राणी की स्थिति के बारे में विवरण मिलता है कि जब तक अन्तकालिक मनुष्य की वाणी की मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में लीन नहीं हो जाते, तब तक उसे (प्राणियों को या स्वयं को) जानने पहचानने का होश रहता है और जब उसकी वाणी मन में, मन तेज में एवं तेज परदेवता में प्रविष्ट हो जाता है तब यहाँ (मृत्युलोक में वह) मरता हुआ भी कुछ नहीं जानता।[4] वृहदारण्यक उपनिषद् में भी वर्णन मिलता है कि शरीर से आत्मा के निकलने पर प्राण, अपान, उदान आदि वायु भी शरीर से निकल जाती हैं।[5] उपनिषदों के उपर्युक्त मन्तव्य का संकेत दूतरूपधारी नल के सम्मुख दमयन्ती के करुण विलाप में प्रकट होता है वह कहती है कि ये युग तो बीत रहे हैं पर क्षण नहीं, कब तक मैं (नल विरह की) वेदना सहती रहूँगी, मुझे तो मृत्यु भी नहीं आती, क्योंकि मेरे प्रिय (नल) अन्तःकरण से अलग नहीं हो रहे हैं। मन प्रिय को नहीं छोड़ रहा है तथा प्राण मन को नहीं त्याग रहे हैं।[6] छान्दोग्यउपनिषद् का तत्वमसि,[7] वाक्य जो कि आत्मा की सत्ता का प्रतिपादक है, का संदर्भ भी कलि वर्णन प्रसंग में नैषधकार ने रखा है। इस सिद्धान्त का उपहास करता हुआ कलि प्रतिनिधि कहता है कि (मेरा) शरीर ही मैं हूँ, किन्तु वेदों (के उपनिषदों) में यह वर्णन मिलता है, कि नहीं, तुम यह शरीर नहीं हो, अपितु तत्वमसि (परमात्मा के अंश) हो, यह कितनी बड़ी धूर्तता है।[8]

---

1. किमसुभिर्ग्लपितैर्जड! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।
   मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधः स्मरः।। नै० 4/52
2. नै० 4/52 मल्लि० टीका से उद्धृत
3. नै० 4/52 नारायणी टीका से उद्धृत
4. पुरुषं सौम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति। छान्दो० उप० 6/15/1
– अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति। छान्दो० उप० 6/15/2
5. तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणाः उत्क्रामन्ति। बृ० उप० 4/4/2
6. अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत्सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे।
   स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः।। नै० 9/94
7. तत्त्वमसि - छा० उप० 6/8/7
8. जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ। त्याजितो ग्राह्यते ऽन्यत्वं श्रुत्यातिधूर्तया।। नै० 17/54

ध्यातव्य है कि वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को महान एवं अजन्मा भी माना गया है।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में ब्राह्मण बध की पञ्चमहापातकों के अन्तर्गत गणना की जाती है।[2] इस तथ्य के निर्देश की व्यञ्जना चन्द्रोपालम्भ विवरण में दृष्टिगोचर होती है, जहाँ दमयन्ती अपनी सखी से कहती है कि सखि! तुम राहु से पूछो, कि क्या वह अपने बैरी चन्द्रमा को ब्राह्मण होने की वजह से छोड़ता (ग्रसता नहीं) है, यदि ब्राह्मण है तो तो वारुणी (वारुणीगन्धदूर्वायां प्रतीचीसुरयोरपि इति विश्वः) प्राप्त करके पतित होकर फिर आकाश में क्यों आता है?[3] छान्दोग्योपनिषद् के अद्वैत प्रतिपादक वाक्य 'सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वियम्'[4] की संगति नल द्वारा दमयन्ती सौन्दर्य वर्णन में देखने को मिलती है, जहाँ नल दमयन्ती की वाणी की मधुरता का वर्णन करते हुए अभिहित करते हैं कि जिस प्रकार ब्रह्मचर्यावस्था में रहता हुआ एवं गृहाश्रमियों के यहाँ मांगकर भिक्षान्न को खाता हुआ ब्राह्मणश्रेष्ठ, आचार्य (ब्राह्मण) के पास जाकर अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली उपनिषद् विद्या को पढ़ता है उसी प्रकार कोयल भी आम्र के वृक्षों से भिक्षान्नरूप में प्राप्त मञ्जरियों (फलों) को खाकर एक मात्र काम का प्रतिपादन करने वाली विद्या (कामविद्या) को इसके (दमयन्ती के) मुखचन्द्र से पढ़ती है[5] अर्थात् इस दमयन्ती की मधुरवाणी को सीखती है। तात्पर्य यह है कि दमयन्ती की वाणी कोकिल वाणी से भी मधुर है।

छान्दोग्योपनिषद् के साथ-साथ वृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित कुछ विवरणों को भी नैषधकार ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है। शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दशकाण्डात्मक वृहदारण्यकोपनिषद् में स्वप्नावस्था के बारे में वर्णन मिलता है कि चैतन्य रूप ज्योतिस्वभाव वाला (जाग्रत, स्वप्न, इहलोक तथा परलोक आदि में) अकेला जाने वाला, अमरण धर्म वाला (आत्मा) निकृष्ट (शरीर रूप) घोसले की (पाँच रूपों, प्राण,अपान, उदान, व्यान एवं समान में चलने वाले) प्राण के द्वारा परिपालन करता हुआ, घोसले के बाहर घूमकर जहाँ-जहाँ अभिलाषा होती है, वहाँ-वहाँ वह स्वप्न में जाता है।[6] इस तथ्य का संकेत श्रीहर्ष द्वारा दमयन्ती के जीवनचर्याविवरण प्रसंग में प्राप्त होता है, जहाँ वह कहते है कि दमयन्ती स्वप्न में अभिलाषा से पतिरूप माने हुए नल को प्रत्येक रात्रि में देखती थी, क्योंकि निद्रा दमयन्ती के निमीलित नेत्रों से तथा बहिरिन्द्रियों के सुप्त हो जाने पर सम्पुटित हृदय से छिपाकर कभी न देखते हुए भी नल को बड़े रहस्य के रूप में दिखा ही देती है।[7] माघ के शिशुपाल वध में भी वर्णन मिलता है कि –

---

1. स वा एष महानज आत्मा - वृ.उप. 4/4/25
2. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्। ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति। छा0उप0, 5/10/9
3. वद विधुन्तुदमालि मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधियारिपुम्।
   किमुदिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम्।। नै० 4/70
4. छा0 उप0, 6/2/1
5. प्रसूनबाणाद्वय वादिनी सा काचिद्द्विजेनोपनिषत् पिकेन। अस्याः किमास्य-द्विजराजतो वा भाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः।। नै० 7/48
6. प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुषः एकहंसः।। वृह०उप० 4/3/12
7. मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्वसा न स्वपती स्म पश्यति।
   अदृष्टमप्यर्थमदृष्ट वैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्।। नै० 1/39
   निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाहेन्द्रियमौन्मुद्रितात्।
   अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः।। नै० 1/40
   – सुप्तिः स्वप्नः कदाचिददृष्टिमप्यर्थं वस्तु अदृष्टवैभवाद्धर्माधर्मसामर्थ्याज्जनदर्शनातिथिं जनदर्शनगोचरं करोति। "यद्दृष्टं दृश्यते स्वप्नेऽननुभूतं कदापि न" इति न्यायेन जन्मान्तरस्थानान्तरानुभूतं समुत्पन्नसंस्कारमस्मिञ्जन्मन्यदृष्टिमप्यर्थं धर्माधर्मावेव दर्शयत् इति भावः। चित्रादौ नल दर्शने सत्यपि साक्षात्तद्दर्शनाभावददृष्टत्वोक्तिर्युक्ता। साक्षाच्चित्रे त्रिधां" इति। नै० 1/39 नारायण
   – ननु सुषुप्तौ मनसोऽप्यव्यापारश्चेतर्हि ज्ञानं कथम्। उच्यते स्वप्नार्थानां बाहेन्द्रियग्राह्यत्वा भावाद् भावादाभ्यन्तरत्वाभावेऽप्यदृष्ट- सहकृतकेवलाविद्यावृत्तिरूपसुषुप्तिविषयत्वस्ययुक्तत्वात् आत्मन एव तत्रादृष्टत्वाच्च। आत्मरूपेण नित्यस्फुरणोपपत्तेः। नै० 1/40

सहजान्धदृशः स्वदुर्नये परदोषेक्षणदिव्यचक्षुषः। स्वगुणोच्चगिरो मुनिव्रताः परवर्णग्रहणेष्वसाधव ॥ [1]

स्वप्नावस्था में व्यक्ति अविद्या आदि शक्तियों के प्रभाव में रहता है जबकि अद्वैतावस्था में उससे रहित। ऐसा वृहदारण्यक उपनिषद मे भी वर्णन मिलता है।[2] हिरण्मयः पुरुष.[3] या हिरण्मयः पुरुषः एक हंसः'' का संकेत श्रीहर्ष ने श्लेष द्वारा हंस वर्णन प्रसंग में दिया है जहाँ कवि के अदर्शि कहने के बजाय अबोधि कहने से इस वाक्य की संगति की पुष्टि होती है। नैषधकार कहते हैं कि जिस तरह योगी अपने शरीर मे ही विद्यमान परमात्मा (हंस) का बोध कराता है, उसी तरह सरोवर तट पर विहरते हुए एक स्वर्णिम हंस को नल ने देखा। यथा :-

पयोधिलक्ष्मीमुषिकेलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः।।[4]

वृहदारण्यक उपनिषद के साथ-साथ अन्य उपनिषदों[5] में भी ब्रह्म को आनन्द रूप माना गया है। इसका सन्दर्भ भी नैषध में नारद के इन्द्रलोक गमन प्रसंग में मिलता है। नैषधकार कहते हैं कि जैसे योगी अनादि भवसिन्धु को पारकर आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है, वैसे ही देवर्षि नारद अनन्त आकाश के बीच से जाते हुए इन्द्र भवन में पहुँच गये। यथा –

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायक निकेतनमाप। संप्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव।[6]

शतपथ ब्राह्मण मे वर्णित धाय्या[7] की चर्चा करने के साथ-साथ नैषधकार ने ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित तथ्य कि अग्निमुखा वै देवाः'' (देवों का मुख अग्नि है'')[8] का भी निर्देश (श्लेष बल से) किया है। स्वयंवर सभा में इन्द्रादि चारों देवता अपने मुख की नल मुख की शोभा से तुलना करने के लिए बार-बार दर्पण देख रहे थे, फिर भी उनका मुख नल मुख की शोभा नहीं प्राप्त कर सका। दूसरे शब्दों में नल मुख की शोभा प्राप्त करने में असमर्थ उन अग्निमुख, अर्थात देवों का अनलाननत्व (अग्निमुखत्व, पक्षान्तर में नल भिन्नमुखत्व) भी पुनरुक्ति दोष को दूर करने के लिए समर्थ नहीं हुआ।[9]

ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ-साथ श्रौतसूत्रों एवं खिलसूक्तों के भी कुछ विवरण नैषधमहाकाव्य में देखने को मिलते हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र[10] के साथ-साथ श्रीहर्ष ने आपस्तम्बश्रौतसूत्र के ''उत्ताना हि देवगवा

---

1. शिशुपाल वध, 16/29
2. ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठंति शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यदेव जाग्रदभयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र- सर्वोस्मीतिमन्यते सोऽस्य परमोलोकः। वृ0उ० 4/3/20
   – तद्वा अस्येतदतिच्छन्दा अपहतपाप्काभयं रूपम्.....तद्वा अस्मै तदाप्त कामयात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्। वृ0उ० 4/3/21
   – अत्र पितापिता भवति। तापसो तापसौनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति। वृ0उ० 4/3/22
   – न हि दृष्टर्दृष्टेर्विरिलोको विद्यते विनशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्।। वृ0उ० 4/3/23
3. छा0 उपनिषद 6/6
4. नै० 1/117
5. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । वृ0 उप0 3/9/28, एवं 4/3/32, 33
   आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्- तै0 आरण्य, प्रपाठक, 9 अनुवाक 6 आनन्द ब्रह्मणो रूपम्– तै0उ० 2/4 एवं द्रष्टव्य तै0उप0 ब्रह्मानन्दवल्ली, अनुवाक, 5,9
6. नै० 5/8
7. इसी अध्याय में पूर्व में वर्णित
8. अग्निर्मुखं प्रथमो देवातानाम – ऐतरेय ब्राह्मण, प्रथम अध्याय चतुर्थ खण्ड।
9. तेषां तदा लब्धमुनीश्वराणां श्रियं [illegible] नलाननस्या। नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं [illegible] नलाननत्वम्। नै० 10/21
10. इसी अध्याय में पूर्व में वर्णित

वहन्ति''[1] अर्थात् देवसुरभियाँ उत्तान (चित) चलती हैं, इस तथ्य का सङ्केत नैषधमहाकाव्य में दो स्थलों पर मिलता है, प्रथम दमयन्ती के क्रीड़ा पर्वत के वर्णन में, द्वितीय बाइसवें सर्ग में दमयन्ती द्वारा चन्द्रवर्णन प्रसङ्ग में। नैषधकार कहते हैं कि दमयन्ती के क्रीड़ापर्वत पर मरकत (पन्ना) मणियों के अग्रभाग से उत्पन्न (होकर ऊपर की ओर जाते हुए, किन्तु ऊपर में स्थित) ब्रह्माण्ड के आघात (टक्कर) से ऊपर जाने के मद के भग्न होने से लज्जा से नम्रमुख हुए (अतएव) आकाश में उत्तानगामिनी किस कामधेनु के मुख में प्रविष्ट किरण रूप कुश तृण (कुण्डिनपुरी के) गोग्रास देने के शाश्वत पुण्य को नहीं पाता है।[2] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मरकत मणि के बने दमयन्ती के अत्युन्नत क्रीड़ापर्वत की चोटी से कुशाओं के समान हरे रंग की किरण ऊपर की ओर निकलती है किन्तु ब्रह्माण्ड के साथ टकराकर ऊपर नहीं जा सकने के कारण पुनः नीचे की ओर लौटकर ऊपर आकाश में उत्तान चलती हुई कामधेनु गाय के मुख में प्रविष्ट होकर ऐसी प्रतीत होती है जैसे कि पुण्य लाभार्थ गायों को हरे कुशाओं का निरन्तर गोग्रास दिया जाता हो। सन्ध्यावर्णन प्रसंग में दमयन्ती नल से कहती है कि चन्द्रमा का अंकगत शशक श्वेत कुक्षिवाला होने से उत्तान (ऊपर-स्वर्ग की ओर मुख किया हुआ) ही है, इसी कारण देवों की गौ (कामधेनु) स्वर्ग में उत्तान होकर (स्वर्ग की ओर मुख करने से भूलोकवासियों के लिए पृष्ठभाग को दिखलाती हुई) चलती है, इस प्रकार इस श्रुतिवाक्य प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित होने के कारण, इसमें अब मुझे विशेष श्रद्धा हो गयी है।[3]

गंगा यमुना के पवित्र संगम पर मृत्यु पाने वाले मनुष्य के बारे में ऋग्वेद के खिलसूक्त में वर्णन मिलता है कि जहाँ श्वेत (गंगा) तथा श्याम (यमुना) नदियाँ मिलती हैं, वहाँ स्नान करने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है एवं जो धीरजन वहाँ शरीर त्याग करते हैं, वे अमृतत्तव के भागी होते हैं।[4] इस तथ्य की संगति नैषध के बारहवें सर्ग में सरस्वती द्वारा राजाओं के परिचय प्रसंग में राजा ऋतुपर्ण के विवरण में द्रष्टव्य होती है, जिसमें सरस्वती कहती है कि इसके बाहुद्वय से उत्पन्न कीर्तिपरम्परा रूपी गंगा जिस कारण से शत्रु की अकीर्तिरूपा यमुनानदी से संगत हुई उस कारण से प्रयाग के संगम की भाँति (रणप्रागंण में संगत उक्त गंगा यमुना के संगम स्थल में) डूबकर अर्थात् मरकर क्षत्रिय शूरवीरों ने रम्भा (रम्भा नाम की स्वर्गीय अप्सरा) के आलिंगन के स्थान नन्दनवन में क्रीड़ा करने में अत्यधिक आसक्ति को आरम्भ कर दिया था।[5] अर्थात् हे दमयन्ती! इस राजा ने अत्यधिक क्षत्रिय शूरवीरों को मारकर स्वर्ग पहुँचाया हैं, अतएव वीर इस ऋतुपर्ण राजा का वरण करो।

---

1. आपस्तम्बश्रौतसूत्र - 11/7/6
2. वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भैर्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।
   कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रैर्यद्गोग्रास प्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म।। नै० 2/105
3. उत्तानमेवास्य वलक्षकुक्षिं देवस्य युक्तिः शशमकङ्कमाह।
   तेनाधिकं देवगवेष्वपि स्यां श्रद्धालुरुत्तानगतौ श्रुतायाम्।। नै० 22/80
4. सितासिते सरितौ यत्र संगते तत्राप्लुतासस्ते दिवमुत्पतन्ति। ये वै तत्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते।।
   – ऋ० खिलसूक्त, मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित, पुस्तक संख्या - 21
   – ऋ० 10/75/5, एवं नै० 12/12 मल्लि0 टीका में भी द्रष्टव्य
   – यत्र गंगा च यमुना यत्रप्राची सरस्वती।
   यत्रसोमेश्वरो देवस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव।। ऋ. 9/113/10 मैक्समूलर मुम्बापुरी आउफ्रेख्ट सातवलेकर द्वारा प्रकाशित, पुस्तक संख्या 16
   – तथा आश्वलायन मंत्र संहिता- मुम्बा प्रकाशित, पुस्तक संख्या 378 तथा इण्डिया आफिस लिखित पुस्तक संख्या 379
5. द्वेष्याकीर्तिकलिन्द शैलसुतया नद्यास्य यद्दोर्द्वयी कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद् गंगा [illegible]।
   तत्तस्मिन् विनिमज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः।। नै० 12/12

नैषधमहाकाव्य में वेदागों के विवरण भी कुण्डिनपुरीवर्णन, राजाओं के विवरण एवं सरस्वती वर्णन प्रसंग में द्रष्टव्य हैं। वास्तव में वेदों के वास्तविक अर्थ के ज्ञान के लिए जिन साधनों की उपयोगिता थी, उन्हें वेदांग नाम दिया गया। इनके द्वारा मन्त्रों के अर्थ उनकी व्याख्या एवं यज्ञादि में उनके विनियोग का ज्ञान होता था। ये सूत्रशैली में ही उपनिबद्ध हैं, हालांकि वैदिक कर्मकाण्ड, विनियोग एवं यज्ञविधि आदि के नियम बहुत विस्तृत एवं व्यापक थे। प्रारम्भ में वेदांग स्वतंत्र न होकर वेदाध्ययन के विशिष्ट अंग या प्रकार थे लेकिन कालान्तर में ये स्वतंत्र विषयों के रूप में उभर कर आये। मुण्डकोपनिषद्[1] एवं पाणिनीय[2] शिक्षा में इनकी संख्या छैः मानी गयी है शिक्षा कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष। यथा –

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा। कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः।

नैषधकार ने वेदांगों के एक अंग शिक्षा की आचरणशास्त्र के रूप में मीमांसा की है क्योंकि सरस्वती के वर्णन प्रसंग में वह कहते है कि शिक्षा शास्त्र ही उसका आचरण रूप था, "शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं"[3] नारायण कहते हैं "यदीयं चरितमाचरणं वर्णानां स्थानोच्चारणं बोधकं नारदादि प्रणीतं शिक्षैव पर्यणंसीत् परिणतम्। यदीयं चरितम् (इत्यर्थःअथ) शिक्षैव[4] साक्षाल्लोकस्य हितोपदेश एवेत्यर्थः एवं आचार्य मल्लिनाथ का कथन है कि "शिक्षा तदाख्यग्रन्थ एव साक्षात् स्वयमेव, यदीयं चरितम् अभूत परोपदेशरुपत्वादिति भावः।"[5] तथा आचार्य सायण का मन्तव्य है कि, "स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्ते सा शिक्षा[6] अर्थात् जिसमें स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण की शिक्षा दी जाती है, उसे शिक्षा कहते है। तैत्तरीय उपनिषद् में शिक्षा के छैः अंगों का वर्णन मिलता है वर्ण, स्वर, मात्रा (स्वरों क उच्चारण में लगने वाला समय) बल (वर्णों के उच्चारण में होने वाले प्रयत्न तथा उनके उच्चारण स्थान को बल कहते हैं), साम (स्पष्ट एवं सुस्वर से वर्णोच्चारण), सन्तान (पदपाठ में प्रयुक्त शब्दों में सन्धि नियमों का ज्ञान एवं उनका यथा स्थान प्रयोग करना।)[7] पाणिनीय शिक्षा में शिक्षा को वेद का प्राण बताने के साथ-साथ शिक्षा के प्रतिपाद्य विषयों यथा वर्णों, उनकी संख्या उच्चारण, प्रत्यन्न आदि पर विशेष विवरण देखने को मिलता है।[8] श्रीहर्ष ने भी कुण्डिनपुरी के वर्णन प्रसंग में शिक्षाशास्त्र की सम्पूर्ण विषय सामग्री का वर्णन करना चाहा है, वे कहते है कि जहाँ समस्त (अठारह) वर्ण[9] (ब्राह्मण आदि जातियां अथवा नील, पीत, हरित, आदि रंग अथवा अकारादि वर्ण) मर्यादाशील हों वह नगरी चित्रमयी (आश्चर्यमयी या रंग बिरंगी) क्यों न हो? जहाँ अनके मुख (वेदोच्चारणादि में) शब्द करते हों, वहाँ विभिन्न स्वर भेद क्यों न हो?[10] स्पष्ट है कि यहाँ नैषधकार ने आचरण पर जोर डालने के साथ साथ शिक्षा की प्रतिपाद्य विषय सामग्री स्वर ज्ञान, तथा उनके स्पष्ट उच्चारण की श्रेष्ठता एवं उद्देश्य पर प्रकाश डालना चाहा है। शिक्षा का उद्देश्य भी वर्णोच्चारण की शिक्षा देना, वर्णों की संख्या, उनका विभाजन, उनका उच्चारण किस स्थान से होना

---

1. तत्रापराः ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। मुण्डक0उप0 1/1/5
2. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। पाणिनीय शिक्षा, श्लोक, 41,42
3. नै० 10/76
4. नै० 10/76 नारायण
5. नै० 10/76 मल्लिनाथ
6. ऋग्वेद भाष्य- सायण, पृष्ठ - 49
7. वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः, इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। तै0 उप0 1/2
8. पाणिनीय शिक्षा, श्लोक 3 से 49 तक
9. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।। पाणिनीय शिक्षा, श्लोक -13
10. स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या। स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा।। नै० 2/98

चाहिए, उसमें क्या प्रयत्न करना पड़ता है, स्थान एवं प्रयत्न कितने हैं, स्वर कितने एवं कहाँ उच्चरित होते हैं? एवं प्राणवायु किस प्रकार वर्ण रूप में परिवर्तित होती है, इन्हीं को उपदेशित करना है।[1] इस वेदांग के अनेक प्राचीन ग्रंथों की संख्या 34 है,[2] परन्तु उनमें ऋग्वेद की पाणिनीय शिक्षा, शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य शिक्षा, कृष्णयजुर्वेद की व्यास शिक्षा, सामवेद की नारद शिक्षा एवं अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा के अतिरिक्त भारद्वाजी शिक्षा, वशिष्ठीशिक्षा, कात्यायनी शिक्षा पाराशरी शिक्षा, केशवी शिक्षा, आदि प्रमुख है, जिनमें पाणिनीय शिक्षा एवं व्यास शिक्षा अध्ययन अध्यापन हेतु विशेष महत्वपूर्ण हैं। वेदों की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इन शिक्षा ग्रन्थों को प्रातिशाख्य भी कहते हैं, प्रतिशाख्यों में ऋग्वेद की शाकल शाखा का शौनकरचित ऋक् प्रतिशाख्य, शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा का कात्यायनरचितशुक्लयजुः प्रातिशाख्य, कृष्ण यजुर्वेद की तैन्तरीय शाखा का तैन्तरीय प्रतिशाख्य, सामवेद के सामप्रातिशाख्य, पुष्पसूत्र एवं पञ्चविधसूत्र तथा अथर्ववेद का अथर्वप्रातिशाख्य, चातुरध्यायिका नाम से भी प्रसिद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदांग संहिता का विकास उपनिषदों से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था, एवं शिक्षा नामक वेदांग का सम्बन्ध ध्वनि, वर्ण, उच्चारण और इन आधारभूत तत्वों के पठनपाठन से था। एक वेदांग तथा एक विज्ञान (शास्त्र रूप में भी) के रूप में शिक्षा का विकास प्राचीन भारत में उच्चारण सम्बन्धी व्यापक, अनुसंधान की गम्भीरता का परिमापक है, क्योंकि इसी वेदांग के कारण ही आज समस्त देश में वेद के एक शाखा के वेदापाठी, चाहे, जिस प्रान्त में हो, एक ही स्वर, शैली, गति, यति, शक्ति तथा हस्तसंचालन की एक जैसी मुद्रा से मन्त्रोच्चारण करते दिखते हैं, एवं प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक उस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं।

द्वितीय वेदांग कल्प को श्रीहर्ष ने सरस्वती के आभूषण रूप में मान्यता दी, वे कहते हैं कि कल्प (वेदांगभूत कर्मकाण्डप्रतिपादक ग्रंथ विशेष) की शोभा से जिस सरस्वती का भूषण कार्य सम्पन्न हुआ, अर्थात् कल्प ही जिसका भूषण था, "कल्पश्रियाकल्पविधिर्यदीयः"[3] आचार्य मल्लिनाथ का कथन है कि "यदीयः आकल्पविधिः प्रसाधनविधिः कल्पश्रिया कर्मकाण्डभूतया कल्पसूत्रलक्ष्म्या निर्वृत्त इति शेषः।[4] तथा कल्प के बारे में नारायण की टिप्पणी है कि, "कल्प इतिकर्तव्याबोधको ग्रन्थस्तस्य श्रिया कृत्वा यदीय आकल्पविधिरलंकारविधिः पर्यणंसीत् परिणतः। यदीयान्यलंकरणानि कल्पेनैव रचितानीत्यर्थः।[5] आचार्य सायण ने कल्प की "कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगऽत्र इति व्युत्पत्तेः[6] रूप में एवं विष्णुमित्र ने "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्[7] रूप मे व्युत्पत्ति की है। इस रूप में कल्प का अर्थ यज्ञों, अन्य शास्त्रोक्त कर्मों तथा धार्मिक विधि विधानों में करणीय कर्मो से लिया जा सकता है। कल्प के अर्न्तगत समस्त वैदिक कर्मों का व्यवस्थित रूप से वर्णन या प्रतिपादन होता है। चूंकि वैदिक धर्म, विहित क्रियाओं तथा यज्ञों पर आधारित है इसलिए समयानुसार इस कर्मकाण्ड की क्रमानुसार जानकारी आवश्यक हुई एवं यही कारण है कि एक विशाल कल्पसूत्र साहित्य का उद्भव हुआ। कल्पसूत्र नाम सम्पूर्ण कल्पसाहित्य के

---

1. आर्यमित्र का वेदांग प्रकाश अंक 1968, पृ० 1-8 एवं वेद और शिक्षा नामक डॉ कपिल देव द्विवेदी का लेख।
2. शिक्षा ग्रंथो की सूची हेतु द्रष्टव्य - आर्यमित्र का वेदांग प्रकाश, सम्पादकीय, पृ० ज,झ । साथ ही "शिक्षा संग्रह" नामक ग्रंथ में 32 ग्रंथों का विवरण देखने को मिलता है।
3. शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं कल्पश्रियाकल्पविधिर्यदीयः।
   यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैनिरुक्तिविद्या खलु पर्यणंसीत्।। नै० 10/76
4. नै० 10/76 में मल्लिनाथ
5. नै० 10/76 में नारायण
6. सायण- ऋग्वेद भाष्य की भूमिका, पृ० 51
7. विष्णु मित्र कृत ऋक प्रातिशाख्य की वृत्ति, पृ० 13

सूत्र शैली में रचित होने के कारण दिया गया एवं इसे चार भागों में विभक्त किया गया है श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र। श्रौतसूत्र वेद विहित यज्ञों से सम्बन्धित है तो गृह्यसूत्र गृहस्थ जीवन की विविध धार्मिक क्रियाओं एवं जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अनेक महत्वपूर्ण अवसरों पर होने वाले संस्कारों से तथा धर्मसूत्र नीति, धर्म, रीति, प्रथाओं, चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों, सामाजिक, राजनीतिक एवं अन्य हितप्रद कर्तव्यों से और शुल्बसूत्र ज्यामिति, यज्ञवेदी संरचना तथा अन्य वास्तुकर्मों से सम्बन्धित है। प्रत्येक वेद के अलग अलग श्रौत, गृह्य, धर्म एवं शुल्ब सूत्र ग्रंथों का विवरण वैदिक साहित्य में मिलता है। प्रमुख श्रौतसूत्र ग्रंथों में ऋग्वेदीय आश्वलायन तथा शांखायन, शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन, कृष्णयजुर्वेदीय बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी या सत्याषाढ, वैखानस, भारद्वाज, मानव (मैत्रायणी शाखा से सम्बन्धित यह सूत्र ग्रंथ मनुस्मृति का आधार माना जाता है), वाराह, सामवेदीय आर्षेय या मशक, लाट्यायन द्राह्यायण और जैमिनीय तथा अथर्ववेदीय वैतानश्रौतसूत्र प्रसिद्ध हैं। प्रमुख गृह्यसूत्रों में ऋग्वेदीय आश्वलायन, शांखायन, शाम्भव्य एवं कौशीतक, शुक्लयजुर्वेदीय पारस्कर, कृष्ण यजुर्वेदीय बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, मानव, काठक, वैखानस सामवेदीय द्राह्यायण, गोभिल, खादिर एवं जैमिनीय और अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र ग्रंथों मे कौशिक गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं। धर्मसूत्र ग्रंथों के अन्तर्गत ऋग्वेदीय वशिष्ठ और विष्णु धर्मसूत्र, शुक्ल यजुर्वेदीय हारीत और शंख धर्मसूत्र, कृष्णयजुर्वेदीय बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी तथा सामवेदीय गौतम धर्मसूत्र प्रसिद्ध हैं। साथ ही यह भी विवरण मिलता है कि गौतम वशिष्ठ मानव वैखानस और विष्णु धर्मसूत्र वेद की किसी निश्चित शाखा से सम्बन्धित नहीं है।[1] शुल्ब सूत्र ग्रन्थों में शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन शुल्बसूत्र तथा कृष्ण यजुर्वेदीय बौधायन, आपस्तम्ब एवं मानव शुल्बसूत्र आदि प्रमुख हैं।

नैषधकार ने वेदांगों में तृतीय "व्याकरण" का विशिष्ट विवरण भी नैषधमहाकाव्य में दिया है, जिसका विवेचन पूर्व में व्याकरण शास्त्र के अन्तर्गत किया जा चुका है।[2] वेद के चतुर्थ अंग निरुक्त का भी सरस्वती के वर्णन प्रसंग में विवरण मिलता है जहाँ समस्त वस्तु विवेचनशास्त्र के रुप मे श्रीहर्ष ने निरुक्त को मान्यता प्रदान की यथा "यस्याः समस्तार्थ निरुक्तिरूपै निरुक्तिविद्या खलु पर्यणंसीत्।"[3] आचार्य मल्लिनाथ की इस विषय में टिप्पणी है कि "निरुक्तविद्या खलु एव यस्याः समस्तार्थानां सर्ववेदार्थानां निरुक्तिरूपैः निर्वचनभङ्गिभिः, पर्यणंसीत तद् रुपेण आसीदित्यर्थः।[4] तथा नारायण कहते हैं कि "यस्याः समस्तार्थानां सकलाभिधेयानां निरुक्तिरूपैः निर्वचनस्वरूपैः कृत्वा वेदश्रोत्रस्थानीया निरुक्तिविद्या पर्यणंसीत् परिणता।[5] और पाणिनीय शिक्षा में निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते रूप में निरुक्त की अवधारणा मिलती है। इस प्रकार निरुक्त वह वेदांग है जिसके द्वारा समस्त वेदों का अर्थ आसानी से जाना जा सकता है, क्योंकि इसमें वैदिक शब्दों के निर्वचन की पद्धति दी गयी है। शायद इसीलिए इसे वेदार्थ पद्धति या नैरुक्त पद्धति कहा जाता है। यास्क (8वीं या 10वीं शताब्दी ईसापूर्व) कृत निरुक्त इस विषय का प्रामाणिक ग्रंथ है।[6] जो निघण्टु का भाष्य है। निघण्टु के रचनाकार कश्यप प्रजापति माने जाते हैं। निरुक्त के पाँच प्रमुख प्रतिपाद्य

---

1. वैदिक साहित्य - संक्षिप्त विहंगावलोकन- किरीट जोशी राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, सामयिक निबंध 2- पृ० 13
2. द्रष्टव्य - इसी शोधप्रबन्ध का व्याकरणशास्त्र नामक अध्याय
3. नै० 10/76
4. नै० 10/76 में मल्लिनाथ
5. नै० 10/76 में नारायण
6. जयन्द्र विद्यालंकार- भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग-1 पृ० 298

विषय हैं वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश और धातुओं का अनेक अर्थों में प्रयोग।[1] निरुटु पर कई टीकाएँ हुई हैं किन्तु यास्क की टीका को वेदांग की प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है। स्वयं यास्क ने अपने पूर्ववर्ती 17 निरुक्तकारों यथा औदुम्बरायण गार्ग्य, शाकपूणि आदि का निरुक्त में उल्लेख किया है। निरुक्त के अन्य प्राचीन टीकाकारों में दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामिन् माहेश्वर, एवं वररुचि प्रमुख हैं चूँकि निरुक्त ऐसे अनेक विषयों का निरुपण करता है, जो व्याकरण के अति समीप है, इसलिए बहुधा निरुक्त को व्याकरण का एक अंग मान लिया जाता है, परन्तु स्वयं यास्क ने निर्देश किया है कि अवैयाकरण के लिए निरुक्त नहीं है "ना वैयाकरणाय". इससे यही प्रतीत होता है कि व्याकरण पर अधिकार होने के बाद ही निरुक्त का अध्ययन अध्यापन संभव है इस रूप में निरुक्त व्याकरण से सम्बन्धित होते हुए भी वैदिक वाङ्मय में अपना अलग स्थान अक्षुण्ण किये हुए प्रतीत होता है। पाणिनीय शिक्षा में कल्प को वेद के हाथ के रूप में वर्णित होने के पीछे शायद यही अर्थ होगा, जिस प्रकार हम हाथ के माध्यम से किसी वस्तु को हस्तगत करते हैं, उसी प्रकार कल्प के अध्ययनान्तर ही हम वेदार्थ को समझ पाते हैं। इस रूप में वेदांगों में इसके स्थान को नकारा नहीं जा सकता।

नैषधमहाकाव्य में वेदागों में पाँचवे, छन्द का विवरण भी नैषधकार ने सरस्वती के वर्णन प्रसंग मे दसवे सर्ग में दिया है एवं सरस्वती के भुजाओं के रूप में उसकी परिगणना की है। वे कहते हैं कि मात्रिक तथा वार्णिक दो भेदों में विभक्त छन्द शास्त्र जिसकी (सरस्वती की) दो भुजायें थीं एवं श्लोक के अर्ध में विराम सदृश जिसकी दोनों गांठो की सुन्दर (लक्षणों वाली) सन्धि थी। दूसरे, शब्दों में यह कहा जा सकता है कि श्लोक के आधे में विश्राम (पूर्ण विराम) रूप दो ग्रंथियों की सन्धि (जोड़) रूप सुन्दर चिह्न से युक्त तथा जाति (आर्या आदि मात्रा छन्द) तथा वृत्त (इन्द्रवज्रा, शिखरिणी आदि वर्णच्छन्द) रूप से दो भागों में विभक्त छन्द (वेदांगभूत छन्दःशास्त्र नामक ग्रन्थ विशेष) उस सरस्वती की दो भुजा हुए. अर्थात श्लोक के मध्य में विश्राम (पूर्ण यति) ही उस सरस्वती देवी की भुजा के कोहनी नामक बीच के जोड़ थे, इस प्रकार मात्रा तथा वर्ग के भेद से दो भागों में विभक्त छन्दः शास्त्र ही उस सरस्वती के दोनों हाथ हुए।[2] पाणिनीय शिक्षा में छन्द की वेद पुरुष के पैर रूप में अवधारणा मिलती है, उसका आशय यह है कि जिस प्रकार पैरों के द्वारा ही पुरुष की गति एवं स्थिति होती है, उसी प्रकार वेद छन्दों के आधार पर अक्षुण्ण रूप से स्थित हैं, क्योंकि समस्त वेद छन्दोमय हैं फलतः आधारभूत छन्दों का वेद का अंगभूत होना नितान्त उपयुक्त है। स्पष्ट है कि वेद मंत्रों की विशुद्धता एवं उनकी लयगति के ज्ञानार्थ छन्दशास्त्र केअध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि छन्दबद्ध रचित वेदमंत्रों के उच्चारण की गतिविधि, बिना छन्दशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किये, नहीं जानी जा सकती। यास्क ने "छन्दांसि छादनात्"[3] अर्थात भावों को अच्छादित करके समष्टि रूप प्रदान करने के रूप में छन्द की अवधारणा रखी, तो कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में "यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः") रूप में छन्द को परिभाषित किया। व्याकरण शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में तो छन्द शब्द की अनेक रूपों मे व्युत्पत्ति की जा सकती है। यथा-'छन्दयति पृणाति रोचते इति छन्दः (रुचिकर और श्रुतिप्रिय लयबद्ध

---

1. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
   धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।। सं०सा0 का समीक्षात्मक इति० कपिलदेव द्विवेदी , पृ 90 एवं सं०सा0 का इतिहास बलदुरचंद छाबड़ा, पृ० 187 से उद्धृत
2. जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूद्यदीयम्।
   श्लोकार्धविश्रान्तिमयीमविष्णुपर्वद्वयी सन्धि सुचिह्नमध्यम।। नै० 10/77
3. निरुक्त 7/19

वाणी ही छन्द है,) 'छन्दयति आह्लादयति छन्द्यन्तेऽनेन वा छन्दः' (जिसे छन्द को सुनते ही मन आह्लादित हो जाता है वह छंद है), "छादयति मन्त्रप्रतिपाद्ययज्ञादीन् इति छन्दः" (जो असुरों की विघ्नबाधाओं से यज्ञादि कर्म की एवं वैदिक अनुष्ठानों की (कवच रूप में) रक्षा करता है वही छन्द है) । यास्क ने निरुक्त में छंद के इसी सुरक्षार्थक स्वरूप का वर्णन किया है। उनका मन्तव्य है कि मन्त्रों का विषय मनन, छन्दों का छादन, स्तोत्रों की स्तुति और यजुओं का भजन से है। यथा- "मन्त्राः मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोत्रः स्तवनात् यजुः यजते।[1] इस रूप में छन्द की अनेक व्युत्पत्तियां दी जा सकती है, परन्तु अवधेय तथ्य यह है कि छन्द वेदों या काव्यसाहित्य की आधार शिलास्वरूप हैं। अतएव छन्द का ज्ञान वेद तथा लोक दोनो के लिए आवश्यक है। इनका ज्ञान प्रत्येक वैदिक मन्त्र के उच्चारण तथा अर्थज्ञान के लिए नितान्त उपायोगी माना जाता है, आर्षेय ब्राह्मण[2] तथा तदनुसारी सर्वानुक्रमणी में स्पष्ट प्रतिपादित है कि जो व्यक्ति मन्त्र के छन्द, ऋषि, देवता तथा ब्राह्मण बिना जाने यज्ञ कराता है, पढ़ाता है वह पापी होता है एवं उसका सकल अनुष्ठान गड्ढे में गिर जाता है अर्थात् व्यर्थ हो जाता है।[3] इस रूप में छन्द का आध्यात्मिक महत्व भी लोक जीवन धारियों के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। इस शास्त्र के प्रवर्तक भगवान शिव माने जाते हैं तदनन्तर गुह-सनत्कुमार-देवगुरु वृहस्पति- इन्द्र -शेषनाग (रूपधारी पतञ्जलि)-एवं पिंगल इस शास्त्र परम्परा के प्राचीन प्रवर्तक हुए।[4] परन्तु आचार्य पिंगल का छन्दःशास्त्र (छन्दसूत्र) ही छन्दशास्त्र का सर्वप्राचीन ग्रंथ माना जाता है। इस शास्त्र के छन्दोऽनुशासन, छन्दोविवृत्ति, छन्दोमान आदि नाम भी मिलते है।[5] वैदिक छन्दों में 7 मुख्य है, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, तथा जगती। ये सप्तछन्दांसि के नाम से निर्दिष्ट किये जाते हैं।[6] चूंकि ये छन्द वृत्तात्मक या वर्णवृत्त होते हैं, अतएव इनमें प्रत्येक पाद में वर्णों की संख्या निर्धारित होती है। छन्द शास्त्र सम्बन्धी विषय सामग्री शांखायन श्रौतसूत्र (केवल 7 से 27 में) ऋक्प्रातिशाख्य (पटल 16 से 18 में) सामवेद का निदानसूत्र, पिंगल कृत छन्दसूत्र (के पूर्व भाग में वैदिक छन्दों एवं उत्तर भाग में लौकिक छन्दो का विवेचन है), कात्यायन कृत दो छन्दोऽनुक्रमणियाँ, पिंगलनागछन्दोविचिति- भाष्यप्रणेता यादवप्रकारकृत, भास्करराय का छन्दःकौस्तुभ वृत्तचन्द्रोदय, पिंगलसूत्र भाष्यराज, भरतकृत नाट्यशास्त्र (15-16 वाँ अध्याय) जयदेवकृत जयदेवछन्द, जयकीर्ति कृत छन्दोऽनुशासन, केदारभट्ट कृत वृत्तरत्नाकर क्षेमेन्द्रकृत सुवृत्ततिलक, कालिदासकृत श्रुतबोध एवं वृत्तरत्नावली, गंगादास कृत छन्दोमंजरी, जनाश्रयकृत छन्दोविचिति आदि संस्कृत ग्रंथ हैं। प्राकृत ग्रंथों में नन्दिताढ्यक कृत गाथा लक्षण, विरहांक कृत वृत्तिजातिसमुच्चय स्वयंभूकृत

---

1. सं० सा0 का इतिहास बहादुर छंद छाबड़ा, पृ० 102 से उद्धृत्
2. आर्षेय ब्राह्मण - 1/10
3. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण या जयति याऽध्यापयति, वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा प्रपद्यते, प्र वा मीयते पापीयान भवति मातया मान्यस्यच्छन्दांसि भविन्त। दुर्ग की निरुक्त टीका तथा सर्वानुक्रमणी के आरम्भ से उद्धृत्।
4. छन्दोज्ञानमिदं भवाद् भगवतो लेभे गुरूणां गुरु न स्तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुर्माण्डव्य नाम ततः। माण्डव्यादपि सैतवस्तत ऋषियास्कस्ततः पिंगलस्तस्येदं यशसा गुरोर्भुवि धृतं प्राप्यास्मदाद्यैः क्रमात्।
   - छन्दःशास्त्रमिदं पुरा त्रिनयनाल् लेभे गुहोऽनादित स्तस्मात् प्राप सनत्कुमारकमुनिस्तस्मात् सुराणां गुरुः। तस्माद् देवपतिस्ततः फणिपतिस्तस्माच्च सत्पिंगल स्तच्छिष्यैर्बहुभिर्महात्मभिरथो मह्यां प्रतिष्ठापितम्।। युधिष्ठिर मीमांसक कृत - वैदिक छन्दो मीमांसा, पृ० 57, 59 से उद्धृत
5. युधिष्ठिर मीमांसक -वैदिक छन्दोमीमांसा - पृ० 35-42
6. सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्योन्यस्मिनाध्यर्पितानि। अथर्व वेद. 8/3/13

स्वयंभू छन्द तथा हेमचन्द्र कृत छन्दोनुऽशासन प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के छन्द विषयक प्रमुख ग्रंथ है।[1] काव्य के साथ-साथ संगीतशास्त्र भी छन्दशास्त्र का अत्यधिक ऋणी है, क्योंकि बिना छन्दज्ञान के तो वह अस्तित्व विहीन ही हो जायेगा, और यह तो भलीभाँति ज्ञात है कि सामवेद की रचना गानपद्धति पर ही आधारित थी, एवं वर्तमान में भी जो काव्य रचनाएँ होती है वह भी छन्दज्ञान के बिना श्रेष्ठ रचनाएँ कथमपि सिद्ध नही हो सकतीं, इससे छन्द की प्राचीनता के साथ साथ समीचीनता भी सिद्ध होती है।

वेदांगो में अन्तिम ज्योतिष के विवरण भी नैषधमहाकाव्य में प्राप्त होते है, जिसका विवेचन पूर्व में ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत किया जा चुका है।[2] वेदांगों के साथ साथ उपवेदों[3] के विवरण भी महाकाव्य में दृष्टव्य हैं। यथा ऋग्वेद एवं अथर्वेद दोनों का उपवेद आयुर्वेद है।[4] जिसका विवेचन पूर्व में आयुर्वेदशास्त्र या चिकित्साशास्त्र के अन्तर्गत किया जा चुका है।[5] यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है, जिसके कुछ विवरण नैषधमहाकाव्य में प्राप्त हैं एवं उनका विवेचन भी पूर्व में आयुधशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है।[6] सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद है जिसके विवरण नैषधमहाकाव्य में प्राप्त हैं, एवं पूर्व में इसी शोध प्रबन्ध के संगीत शास्त्र नामक अध्याय में इसका भी विवेचन किया जा चुका है।[7] अथर्ववेद का एक और उपवेद अर्थवेद है, जिसमें अर्थशास्त्र के साथ साथ राजनीतिशास्त्र, युद्ध शास्त्र और शिल्पशास्त्रों का अन्तर्भाव होता है।[8] अर्थात् सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का निरूपण अर्थवेद नामक उपवेद के अन्तर्गत देखने को मिलता है। नैषधकार ने तो अर्थशास्त्र सम्बन्धी विवेचन नैषध में नहीं किया, हाँ राजनीतिशास्त्र, युद्ध शास्त्र एवं शिल्पशास्त्र के विवरण इस महाकाव्य में अवश्य दृष्टव्य है जिनका विवेचन पूर्व में आयुधशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है।[9] रही अर्थशास्त्र की बात तो इसमें सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही है। कौटिल्य से पूर्व भीष्म एवं विदुर के विवेचन भी अर्थशास्त्र की विषय सामग्री हेतु महत्वपूर्ण हैं।

---

1. विस्तृत ग्रंथ सूची हेतु द्रष्टव्य- सं० शास्त्रों का इतिहास बलदेव उपाध्याय, पृ० 283-319
2. द्रष्टव्य- इसी शोध प्रबन्ध का ज्योतिष शास्त्र नामक अध्याय
3. तत्रचत्वारः उपवेदाः -
   1. आयुर्वेदः ऋग्वेदस्यार्थवेदस्य चोपवेदः
   2. धनुर्वेद : यजुर्वेदस्योपवेदः
   3. गन्धर्ववेदः सामवेदस्योपवेदः
   4. अर्थवेद : अथर्ववेदस्योपवेदः

   शौनको हि चरणव्यूह ग्रन्थे तावदायुर्वेदस्य ऋग्वेदोपवेदत्वं प्रतिपादयति। आयुर्वेदीया ग्रन्था अस्याथर्ववेदोपवेदत्वं प्रकटीकुर्वन्ति। अतोहि ग्रन्थप्रणेत्राऽऽयुर्वेदस्य ऋगथर्ववेदयोरुपवेदत्वमुररीक्रियते।
4. चिकित्सासिद्धान्तप्रतिपादकस्यायुर्वेदस्य ऋगथर्ववेदान्यतरोपवेदत्वं महर्षिभिनिर्णीतमस्तीत्यतस्तावदस्य संस्कृतवाङ्मयेषु प्रतनत्वं निस्संदिग्धतया प्रमाणीभवति। अनाद्यपौरुषेयेषु वेदेषु विशेषतया ऋगथर्ववेदयोस्तथा वेदाङ्गाऽऽर्षग्रन्थेषु पार्थिव औदभिद् रासायनिक जलीय सौर्यवायवीय मानसिककादि विविधचिकित्साविधानां तथैव मन्त्र तन्त्र औषधादीनां गदप्रतीकारक निवारक विनाशकचिकित्सोपाय दीनाञ्च सान्दर्भिकं विवरणं समुपलभ्यते।
   - विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य - आर्षसंहितायां 1/16, 1/19, 1/50, 1/89, 1/191, 2/15, 2/23, 10/37, 10/163, अथर्वसंहितायां 1/3, 1/11, 2/31,32, 4/93, 5/23, 6/14, 6/25, 6/83, 6/92, 6/109, 6/127, 6/136, 7/122, 9/93, 19/35, एवं, संस्कृत वाङ्मयम् - डॉ0 हरिकृष्णशास्त्री पृ. 116 से उद्धृत।
5. द्रष्टव्य - इसी शोधप्रबन्ध का आयुर्वेदशास्त्र या चिकित्साशास्त्र नामक अध्याय।
6. द्रष्टव्य - इसी शोध प्रबन्ध का आयुधशास्त्र नामक अध्याय
7. इसी शोध प्रबन्ध का संगीतशास्त्र नामक अध्याय विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य संस्कृत वाङ्यम् का गान्धर्ववेद नामक अध्याय, पृ० 144-163 एवं प्रमुख ग्रंथों के विवरण हेतु द्रष्टव्य वही है, पृ० 163-167
8. अर्थवेदे- अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र- युद्धशास्त्र शिल्पशास्त्रदीनामन्तर्भावो भवति - संस्कृत वाङ्मयम् पृ० 115
9. द्रष्टव्य इसी शोध प्रबन्ध के आयुधशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, शिल्पशास्त्र एवं धर्मशास्त्र नामक अध्याय

वेद वेदागों एवं उपवेदों के साथ-साथ श्रीहर्ष ने इस महाकाव्य में पुराण,[1] इतिहास (रामायण एवं महाभारत)[2] सामाजिक रीति रिवाज से सम्बन्धित विवरण भी[3] अपने विवेचन का विषय बनाया है। अवधेय तथ्य यह है कि वेद को सम्यक रूप से समझने के लिए न केवल वेदांग बल्कि इतिहास और पुराणों का अध्यपन भी आवश्यक है। महाभारत और भागवतपुराण में भी इस तथ्य की ओर स्पष्ट निर्देश किया गया है कि वेद के गूढार्थ को सरल और रोचक बनाने के लिए ये आख्यान (इतिहास पुराण) बनाये गये है। हालांकि वेद सबसे प्राचीन रचनाएं हैं फिर भी पुराण को पुराण इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें अतिप्राचीन ज्ञान को स्थान मिला है। परन्तु परम्परया पुराण ऐतिहासिक ग्रंथ ही माने जाते हैं[4] न कि शास्त्रीय। दूसरे शब्दों में यह कह लें कि पुराण सुहृदवत् या मिश्रम्मित रूप में लोकजीवन में समादृत हैं, अतएवं नैषध में प्राप्त इनके विवरणों को विवेचन का विषय नहीं बनाया गया है।

उपसंहार

निःसंदेह नैषधमहाकाव्य वृहत्त्रयी के अन्तर्गत परिगणित महाकाव्यों में अप्रतिम स्थान रखने वाला श्रृङ्गाररसोद्दीपक काव्य है, किन्तु इस काव्य रत्न को शास्त्रीय काव्य की पदवी से भी समलंकृत किया जा सकता है, क्योंकि नैषधकार की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का ही चमत्कार है कि जहाँ उन्होंने इसमें विविध मनोहारिणी कल्पनाओं का संगुम्फन किया है, वहीं उन्होंने विविध शास्त्रीय संदर्भों एवं पुराणैतिहासिक तथ्यों का प्रसंग रखकर लोक जीवन में व्यवहरित नर नारियों को उन तथ्यों से भी परिचय कराने का प्रयास किया है। श्री एम. कृष्णमाचार्यर महोदय का तो यहाँ तक मानना है कि सम्पूर्ण पुराण श्रीहर्ष की अंगुलियों पर नाचते हैं। (All mythology is at his finger's end). ''नैषधं विद्वदौषधं' जैसी उक्ति का पूर्ण परिपाक भी "नैषधीयचरितम्" में देखने को मिलता है। राजशेखर ने अपने ग्रंथ काव्यमीमांसा में विद्वान् कवियों के काव्यों में जिन बारह तत्त्वों की उपलब्धता पर जोर दिया है, यथा- ''श्रुतिः स्मृतिः इतिहासः पुराणं, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोकः, विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः'' उन सभी का पोषण एवं पल्लवन श्रीहर्ष ने इस ग्रंथ में किया है। शायद इसीलिए डॉ० बूहलर महोदय ने नैषध महाकाव्य को सहज काव्य की संज्ञा देते हुए, इसमें उपलब्ध शास्त्रीय संदर्भों के विवरणों के आधार पर कालिदास से उच्चतर कवि माना है, वह कहते हैं'' "To the purely native taste, the Naisadhiya appears now, and has appeared for many centuries, preferable to all the other

---

1. नैषध में प्राप्त पौराणिक प्रसंग हेतु द्रष्टव्य नैषधपरिशीलन- अध्याय 12, पुराणेतिहास पृ० 396-456 एवं A Critical study of Naishadhiyacharitam - A.N. Jani. Chapt. 11 Sriharas,s Erudition - Pauranic stories.
2. नैषध में प्राप्त विविध पर्वतों, नदियों, वृक्षों एवं नरेशों के विवरण के साथ साथ भूगोल सं सम्बन्धित ऋतुपरिवर्तन, हवाओं के विवरण आदि तथ्यों हेतु द्रष्टव्य - सर्ग 10 से 14 तक एवं 19/18, 11/62, 18/118, 22/29, 1/94,96, 7/31, 16/107, 19/28, 1/89, 2/66, 3/46, 22/77, 9/96, 18/137, 17/188, 9/155, 22/99, 18/25, 11/96, 1/41, 114, 115, 2/58,89,
   – द्रष्टव्य Geographical Data, Histoarical and Political Data - by A.N. Jani, Chapt. 13,14
3. विशेष रूप से द्रष्टव्य नैषध सर्ग 15,16,18,19 जिसमें आलेपन, विवाहादि वर्णन, श्रृंगार निरूपण एवं भोजन वैविध्य तथा अर्चना सम्बन्धी तथ्यों हेतु द्रष्टव्य - Social and Religious Data - A.N. Jani, Chapt. 15 तथा Sriharsa,s Erudition - General, Chapt. 12
4. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। - महाभारत 1/2/268
   – भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः। भागवत पुराण 1/4/28
   – वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने। वेदाः प्रतिष्ठिता सर्वे पुराणेनात्र संशयः।। नारदीयपुराण 2/24/17
   – अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदोयजुर्वेदसामवेदऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणम्। ब्राह्मणोपनिषद्, 4/11/5
   – नाम वा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्वश्चतुर्थः, इतिहासः पुराणञ्च, पञ्चमो वेदानां वेदः। छान्दो0 उप0 7/1/2, 7/1/4, 7/2/1
   – पुराणं सर्वशास्त्राण्यं प्रथमा ब्रह्मणा स्मृतम् । अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।। पद्मपुराण 53/3

Mahakavyas. Our Sastris now study it more frequentiy and praise it more higniy then even Kalidasa,s work, and it has been commented on more frequently than any other poem. डॉ० ए० एन० जानी महोदय भी नैषधमहाकाव्य को काव्यात्मक गुणों की बहुतायता से सम्पन्न होने के साथ ही इसे शास्त्रीय ग्रंथ मानते हैं। वह लिखते हैं कि "Sriharsa exhibits, n his poem, a superabundance of poetic skil (sakti) and Erudition (vyutpatti) and hence his poem, which is a masterly specimen of the poetry of erudite oddity, surpasses all the other poems and hence it is rightly described as a sastrakavya."

"नैषधीयचरितम्" ने जिन शास्त्रीय संदर्भों के विवरण देखने को मिलते हैं, व हैं दर्शनशास्त्र व्याकरणशास्त्र, काव्यशास्त्र, कामशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र, ज्योतिश्शास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, रत्नशास्त्र, शकुन शास्त्र शिल्प शास्त्र वास्तुशास्त्र, पाकशास्त्र, अश्वशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, आयुधशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, भौतिकशास्त्र, गणितशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं वेद वेदान्त यथा संहिता ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, एवं [illegible] आदि विभिन्न सूक्तों के विवरण, जिनका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में "नामूलं लिख्यते किञ्चित्" की मल्लिनाथी प्रतिज्ञा का. यथाशक्ति निर्वाह करते हुए ऐसा प्रयास किया गया है जिससे शास्त्र जिज्ञासुओं के लिए यह किञ्चित् उपगोगी सिद्ध हो सके। सर्वप्रथम संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध एकादश श्रीहर्षों की परम्परा में एकादश रुद्र की तरह प्रतिभापण्डित श्रीहर्ष (मिश्र) को "नैषधीयचरितम्" महाकाव्य का रचयिता विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए सिद्ध किया गया है। आज वर्तमान में भी नैषधकार के निवास स्थान (देश) एवं उनके समय (कालावधि) के बारे में विद्वानों में ऊहापोह की स्थिति ही दिखाई पड़ती है। जहाँ कुछ विद्वान् किंवदन्तियों के माध्यम से श्रीहर्ष को कश्मीर निवासी मानते हैं, वहीं सांस्कृतिक विवरणों को आधार मानकर उन्हें बंगाल (गौडदेशीय) निवासी सिद्ध करने में श्रीहरिसिद्धान्तवागीस भट्टाचार्य, प्रो० नीलकमलभट्टाचार्य, श्रीनलिनीनाथदास गुप्त, विद्यापति एवं डॉ० अरुणोदयनटवरलाल जानी ने एड़ीचोटी का पसीना एक कर दिया, बात यहीं समाप्त नहीं हुई, कुछ विद्वान् श्रीहर्ष को कन्नौजवासी सिद्ध करने में अपनी मानसिक एवं आध्यात्मिक शान्ति को ढूँढ़ रहे थे, उनमें यदि डॉ० वात्त्वे अपनी स्वरचित पुस्तक "संस्कृत काव्यचे पंचप्राण" में श्रीहर्ष का उल्लेख करके, एवं प्रो० एमनेयू तथा श्रीरघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री ने अपने अपने लेख के आधार पर श्रीहर्ष को कन्नौजदेशवासी माना तो, वहीं डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने गुरु (श्रीरघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री की) भक्ति के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए आधारहीत अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर, मध्यदेश का सन्दर्भ रखते हुए श्रीहर्ष को कन्नौज (जन्मा) निवासी मान लिया। परन्तु प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में श्रीहर्ष को कश्मीर, बंगाल, एवं कन्नौज निवासी मानने वाले विद्वानों की मान्यताओं का तर्कोपपेत ढंग से खण्डनकर मध्यदेश का विस्तृत विवरण देते हुए नैषधकार को काशी (वाराणसी) निवासी सिद्ध किया गया है।

श्रीहर्ष की कालावधि (स्थितिकाल) के बारे में विद्वानों में मतवैभिन्नता की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। जस्टिस के.टी. तैलंग शास्त्री, एफ.एस. ग्राउस एवं डॉ० हाल ने श्रीहर्ष को १०वीं शताब्दी का माना, वहीं प्रो. बूहलर, बाबूरामदास सेन, तथा श्री पी.एन. पूर्णिया महोदय ने उन्हें बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का सिद्ध किया जब कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उपर्युक्त विद्वानों की भ्रान्तियों का तर्कपूर्ण ढंग से निराकरण करते हुए साथ ही अनेकानेक ऐतिहासिक प्रमाणों का साक्ष्य रखते हुए, श्रीहर्ष का स्थितिकाल (समय) ११९४ ई. से १२०० ई० के बीच निर्धारित किया गया है। श्रीहर्ष के कृतित्व के बारे में प्रबन्धकोश में विवरण

मिलता है उन्होंने एक सौ से अधिक ग्रंथों की रचना, की यद्यपि उनके ग्रन्थों की सरणी में दस ग्रंथों के नाम मिलने का विवरण तो मिलता है किन्तु उपलब्ध ग्रंथों में दो ही प्राप्त होते हैं "नैषधीयचरितम्" एवं "खण्डनखण्डखाद्य।"

मैंने याज्ञवल्क्य नैषध में प्राप्त अविवेचित उपर्युक्त सभी शास्त्रीय संदर्भों का उनकी समीचीनता एवं प्रासंगिकता का निर्धारण करते हुए सारगर्भित मान्यताओं के साथ उनकी मीमांसा करने की मानसी शक्ति संजोने का प्रयास किया है। प्रत्येक लेखक कवि या विद्वान् किसी संकल्प के तहत अपना परिवेश चुनता है, परन्तु इच्छा अनिच्छा के बीच उसे ऐसी परिस्थितियों के बीच जीना होता है, जो पहले से ही पूर्वनिर्धारित हैं, जिन पर उसका कोई वश नहीं चलता। वास्तव में वह अपने परिवेश को नहीं चुनता बल्कि यह कह लें कि वह अपने परिवेश के द्वारा चुना जाता है। नैषधकार श्रीहर्ष पर भी उसी परिवेश का अप्रतिम प्रभाव पड़ा। उनके पिता श्रीहरि जो अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् थे, काशी की राजसभा में उदयनाचार्य नाम के नैयायिक द्वारा पराजित होने पर अपने शिशु श्रीहर्ष से यह वचन लेकर कि बड़ा उसके शत्रु को पराजित करेग, स्वर्गगमन कर गये। परिणामतः श्रीहर्ष ने पितृऋण से मुक्त होने के लिए नैयायिक विचारधारा का विशेष रूप से खण्डन किया एवं अद्वैतवेदान्त का मण्डन, जिसके विवरण उनके ग्रंथ खण्डनखण्डखाद्य में देखे जा सकते हैं। "नैषधीयचरितम्" में उन्होंने सभी दर्शनों की विषयवस्तु को स्पर्श करने का प्रयास किया है जिसमें चार्वाक दर्शन को कलिप्रसंग में श्रीहर्ष ने विशेष जगह दी है, भले ही वह परिहास रूप में हो। बौद्ध दर्शन के अर्न्तगत विज्ञानवाद, शून्यवाद, साकारवाद (बाह्यानुमेयवाद), क्षणिकवाद तथा अनात्मवाद के विवरण देने के साथ-साथ उन्होंने बौद्ध दर्शन के संस्थापक महात्मा बुद्ध की प्रशंसा भी है। परन्तु नैषधकार ने जैनों की त्रिरत्नों की अवधारणा पर ही प्रकाश डाला है न कि उनके सिद्धान्तों यथा अनेकान्तवाद, स्याद्वाद,क्षणिकवाद आदि तथ्यों पर। सांख्य दर्शन में यदि उन्होंने सत्कार्यवाद की चर्चा की तो योग दर्शन में चित्तभूमियों की चर्चा के साथ-साथ नल के अर्चना प्रसंग में सम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा करना वह नहीं भूले। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनेक सिद्धान्तों यथा- समवायि, असमवायि एवं निमित्तकारण की चर्चा हंस द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में, अणु, परमाणु का विवरण अणुओं के संयोग की चर्चा, कार्य कारण सिद्धान्त का संकेत, प्रत्यक्ष ज्ञान एवं सोलह पदार्थों का निरूपण, मोक्ष, ईश्वर, ईश्वर की सत्ता, हेत्वाभास, अयथार्थ ज्ञान, द्रव्य, गुण एवं तमस आदि पदार्थों की चर्चा श्रीहर्ष ने विस्तार रूप से की है। साथ ही उन्होंने वैशेषिक दर्शन को औलूक दर्शन मानने की अपनी अभिव्यक्ति का प्रतिपादन भी नैषध में किया है। मीमांसा इस दर्शन के संस्थापक महर्षि जैमिनि का उल्लेख करने के साथ-साथ श्रीहर्ष ने स्वतः प्रामाण्यवाद यज्ञों के विवरण, अख्यातिवाद, अदृष्ट एवं कर्म सिद्धान्त तथा ईश्वर की सत्ता के परिहार के विवरण नैषध में पिरोये हैं। उत्तरामीमांसा या वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत आत्मा, ब्रह्म, एवं ब्रह्म साक्षात्कार पद्धति का विवेचन माया (अविद्या), मोक्ष, स्थूल तथा लिंङ्ग शरीर, का विवरण समुपस्थापित कर नैषधकार ने कविपण्डित होने के साथ-साथ स्वयं की श्रेष्ठ दार्शनिक होने की संसूचना देनी चाही है, परन्तु उनके कथन "अद्वैततत्व इव सत्यतरेऽपि लोकः नै० (१३/६५) और नैषध एवं खण्डनखण्डखाद्य में प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर श्रीहर्ष सर्वथा अद्वैत वेदान्तानुयायी या उसके पोषक तथा समर्थक माने जा सकते हैं।

नैषध में प्राप्त व्याकरणशास्त्रीय संदर्भों की मीमांसा से यह ध्वनित होता है कि श्रीहर्ष ने भी पूर्व महाकवियों द्वारा काव्य में व्याकरणिक तत्वों के संगुम्फन करने की परम्परा का ही निर्वहन किया है। विभक्ति, कारक, उपसर्ग, क्रियापद, धातुपद, प्रत्यय समास पातञ्जल्य भाष्य, लिङ्ग, आदेश एवं पाणिनि की (अष्टाध्यायी) की चर्चा करते हुए भी नैषधकार ने वैयाकरणों को अपने शब्द निर्माण में अभिमान न

करने की सलाह देते हुए लिखा है, व्याकरण से बढ़कर लोक प्रमाण अधिक प्रभावशाली होता है, क्योंकि शश से शशी (दोनों चन्द्रमा बोधक) लोक व्यवहार द्वारा ग्राह्य है किन्तु इसी प्रकार में मृग का मृगी नहीं बन सकता, क्योंकि मृगी मृगपत्नी का सूचक है । इस प्रकार नैषधकार ने व्याकरणशास्त्र तथा लोक के इस तारतम्य को दिखलाकर लोक को व्याकरण शास्त्र से अधिक प्रभावशाली माना है । स्मरणीय है कि श्रीहर्ष ने कुछ च्युत संस्कृत के दोषों एवं नये शब्दों को गढने के साथ-साथ अपाणिनीय शब्दों का प्रयोग भी इस महाकाव्य में किया है किन्तु किन्चित् दोषों से काव्य की कमनीयता नष्ट नहीं हो जाती । आचार्य विश्वनाथ भी कहते है "नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः।"

काव्य शास्त्रीय सिद्वान्तों में मुख्य रूप से छैः सिद्वान्तों के पल्लवन की पुष्टि नैषधीयचरितम् में देखने को मिलती है । रस सिद्वान्त के अन्तर्गत शृंगार रस का पूर्ण परिपाक देखने को मिलता है, क्यों न हो? स्वयं नैषधकार भी इस महाकाव्य को शृंगारामृतशीतगुः रूप देना चाहते थे । इसके साथ-साथ हंस विलाप एवं दमयन्ती विलाप प्रसंग में करुण रस, कलि प्रसंग तथा नल दमयन्ती एवं सखियों के वार्तालाप व प्रसंग में हास्य रस, जबकि राजाओं के वर्णन प्रसंग में वीर रस के भी दर्शन होते हैं, रौद्र एवं भयानक विवरण राजाओं के वर्णन प्रसंग एवं कलिवर्णन में दृष्टव्य हैं, परन्तु स्मरणीय है कि श्रीहर्ष ने इन दोनों रसों को न्यून रूप में ही रखा है क्योंकि वह अपने कथारस को अमृत रस से श्रेष्ठ बनाना चाहते थे। श्रीहर्ष के समय तक रीति सिद्वान्त के अन्तर्गत प्रमुख रूप से वैदर्भी गौडी, पान्चाली तीन रीतियाँ ही प्रधान थीं, जिसमें नैषधकार को सर्वगुणा वैदर्भी रीति ही अभिप्रेत थी, जो कि उनके कथन "धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैः" से स्पष्ट है, लेकिन नैषध के पंचनली प्रसंग एवं इक्कीसवें तथा बाइसवें सर्ग में गौडी रीति के भी दर्शन होते हैं जिसकी पुष्टि नैषध के प्राचीन टीकाकार विद्याधर के कथन "विद्या संयति हर्षमिश्र इडितो गौडेरगौडैर्गुणैः" से होती है । आचार्य भरत द्वारा व्याख्यायित १० गुणों में नैषधकार ने त्रिगुणवाद की मान्यता की पुष्टि करते हुए माधुर्य, ओजस् एवं प्रसाद गुण को ही नैषध में जगह दी है। अलङ्कार सिद्वान्त के अन्तर्गत शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकारों में श्रीहर्ष ने उपमा अलंकार का सर्वांग रूप से विवेचन किया है, इसके अतिरिक्त उन्होंने अनुप्रास, एवं श्लेष अलंकार के विवरण को भी नैषध महाकाव्य में दिये हैं। ध्वनि सिद्वान्त के अन्तर्गत मुख्य रूप से तीन प्रकार की ध्वनियाँ परिगणित की जाती हैं, रसध्वनि, वस्तुध्वनि एवं अलंकार ध्वनि, जिसमें नैषधीय चरितम् महाकाव्य में वस्तुध्वनि, रसध्वनि के साथ साथ आचार्य मम्मट द्वारा व्याख्यायित ध्वनि के ५१ भेदों में पदध्वनि का विवरण भी प्राप्त होता है । वक्रोक्ति सिद्वान्त में परिगणित वक्रोक्ति के दोनों भेदों श्लेष वक्रोक्ति एवं काकु वक्रोक्ति की शास्त्रीय मीमांसा नैषध महाकाव्य में देखने को मिलती है । औचित्य सिद्वान्त के संदर्भ में नैषधकार आचार्य क्षेमेन्द्र के साथ साथ आचार्य आनन्दवर्धन से भी प्रभावित दिखते हैं, उन्होंने स्वभावौचित्य, भावौचित्य, कालौचित्य, प्रतिभौचित्य, अभिप्रायौचित्य के विवरण भी इस महाकाव्य में यथास्थान दिये हैं। नैषध की काव्य शास्त्रीय मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि यह एक नवीन एवं शृंगारात्मक काव्य होने के साथ-साथ शास्त्रीय काव्य है किन्तु साहित्यिक अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में डॉ० एस०एन० दास गुप्त डॉ० एम० कृष्णमाचार्यर, एवं एस०के० डे ने नैषधकार की क्लिष्ट भाषा एवं विषयवस्तु में कल्पनाओं की ऊँची उड़ानों की भरमार होने के कारण नैषध महाकाव्य को निम्न काव्य या साधारण काव्य ही माना है, परन्तु शायद उनकी यह अलोचना नैषधकार की नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा का अपमान करना होगा। फिर कवि तो अपने कल्पना जगत का सम्राट तो होता ही है एवं उसका तर्क वितान नैयायिकों के तर्क वितान से कहीं अधिक व्यावहारिक एवं

लोकग्राही होता है। परन्तु यह तो यथार्थ सत्य है कि वैदुष्य का व्यामोह श्रीहर्ष को स्थान स्थान पर खींच ही लेता है, शायद यही कारण हे कि नैषध क्लिष्टतम महाकाव्यों में परिगणित किया जाता है।

श्री हर्ष ने कामशास्त्रीय तत्त्वों यथा त्रिवर्ग धर्म, अर्थ, काम की विवेचना करते हुए इनमें समन्वय स्थापन के महत्व पर जोर दिया है । नैषधीयचरितम् में जहाँ उन्होंने हंस को दूत बनाकर नल एवं दमयन्ती का सम्मिलन करवाया है, वहीं नल को भी देवताओं द्वारा बलात्दूत नियुक्त करने का विवरण देकर यह संकेत देना चाहा है कि बलात् नियुक्त किये गये दूत का दौत्यकर्म सफल नहीं होता है। नैषध में जिन कामशास्त्रीय तत्त्वों का विवरण विशिष्ट रूप में देखने को मिलता है वे हैं नल एवं दमयन्ती कृत विद्यासमुद्देश वर्णन, नागरक वर्णन, भवन विन्यास वर्णन, दैनन्दिनी वर्णन, दौत्यकर्म विमर्श विवरण, साम्प्रयोगिक विवरण जिसमें नल एवं दमयन्ती द्वारा सम्भोगपूर्व कृत्यों यथा वर द्वारा वधू का विश्वास जीतना एवं उसे अपने जीवन साथी की उम्र, उसकी सहनशीलता का अनुमान कर उसके साथ रति स्थापन करना, एक साथ स्खलित होने के लिए स्वय को इडा पिगला इत्यादि नाडियों का संयमन कर सम्भोगरत होना शामिल है, परन्तु इसके पूर्व नखच्छेद दन्तच्छेद एवं आलिंगन की विविध क्रियाओं को अपनाना एवं अन्त में हास परिहास के क्षण भी उपस्थित करना कामशास्त्रीय विधि मानी जाती है। नैषधकार ने नल एवं दमयन्ती द्वारा उपर्युक्त सभी कियाओं को अपनाने का विवरण दिया है, जो सर्वथा कामशास्त्रीय सीमाओं के अन्तर्गत ही आते हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वान ए०बी० कीथ, एम० कृष्णयाचार्यर तथा डॉ० एस०के० डे ने नैषध के कामशास्त्रीय विवरणों के साथ-साथ, कृत्रिम कल्पनाओं एवं भाषा शैली को लक्ष्य लेकर श्रीहर्ष के इस काव्य को निम्न काव्य के अर्न्तगत मानते है। परन्तु संस्कृत वाङ्मय में कामशास्त्रीय विवरणों को भारवि, माघ एवं कालिदास ने भी अपने अपने काव्यग्रंथों में जगह दी है फिर इन विद्वानों द्वारा नैषध की ही आलोचना क्यों? इस विषय में तो दो ही तथ्य मनमस्तिष्क में पट्टंकित होते हैं, प्रथम, इन विद्वानों के ऊपर या तो पूर्व महाकवियों की श्रेष्ठता मानने का जुनून सवार है और या तो इन विद्वानों की नैषध में अबाध गति न होने के कारण वह नैषध को निम्न श्रेणी का काव्य सिद्व करना चाह रहे हैं परन्तु इस संदर्भ में यास्क के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति।"

नैषधीयचरितम् महाकाव्य में संगीतशास्त्र के तीनो तत्त्वों गीत वाद्य एवं नृत्य के विवरण देखने को मिलते है। नल के राजप्रासाद में जहाँ श्रीहर्ष ने स्त्री पुरुषों के सामूहिक नृत्य के विवरण की चारुता का विवरण दिया है, वहीं उन्होंने प्रकृति के नर्तकी रूप का चित्रण भी किया है। दमयन्ती के स्वयंवर प्रसंग में गीतों के साथ साथ बारहवीं शताब्दी में प्रचलित प्रमुख वाद्यों यथा वीणा, मृदंग, ढोलक, शहनाई, वंशी, तुरही, कांस्यताल, झर्झर, घुघंरु, आदि के विवरण का उल्लेख नैषधकार ने किया है। नैषध में ज्योतिष शास्त्र के जिन संदर्भों को श्रीहर्ष ने अपनाया है वे है पापग्रह एवं उनका फलवर्णन, तिथियों एवं सूर्य तथा चन्द्रमा के सम्बन्ध का विवरण, नक्षत्रों का प्रभाव, राशियों के स्वामियां के विवरण एवं उनके स्वरूप विवरण, जन्म के समय ग्रह संयोगों की युति एवं उनका फल, ललाटी योग, दुरुधरा योग, चन्द्रमा के शुभ होने एवं अशुभ होने का विचार, विवाह मुहूर्त एवं यात्रा विचार अष्टक वर्ग के विवरण। श्रीहर्ष के इस कथन से उनकी जयोतिष में आस्था होने के दर्शन मिलते हैं कि, "जो होने वाला है, वह अवश्य होगा," एवं इस रूप में वह भाग्यवादी भी सिद्ध होते हैं। ग्रहों के अशुभ फल के निवारणार्थ रत्न व धारण करने की सलाह ज्यातिर्विद सामान्य जन को देते आये हैं। नैषधीयचरितम् में भी विभिन्न रत्नों के विवरण देखने को मिलते हैं उनमें वैदूर्यमणि, मोती, कौस्तुभमणि, स्फटिक, माणिक्य, हीरा, पद्मरागमणि, पन्ना, पुखराज (पुष्पराज या

पुष्पराग), गारुत्ममणि, इन्द्रनीलमणि या नीलम तथा मूंगा प्रमुख है। साथ ही नैषधकार ने रत्नों के दोषों तथा (प्राकृतिक) वास्तविक एवं कृत्रिम रत्नों एवं रत्नों के गुण, दोषों की मीमांसा भी नैषध में की है। शकुनों को भी इस महाकाव्य में नैषधकार ने जगह दी है, वैसे शकुन सम्बन्धी विवरण ज्योतिश्शास्त्र के संहितास्कन्ध के अंग रूप में परिगणित किये जाते है। शकुन वे शुभ सूचक या अशुभ सूचक चिह्न या लक्षण है जो किसी कार्य के सम्बन्ध में शुभ या अशुभ सूचना देते हैं। प्रस्थान काल में मार्ग में मिलने वाले जलपूर्ण कलश, फलयुक्त आम का पेड़, शीत वायु का चलना, दर्पण देखना, लाजा गिराना, प्रियजन को मुख दर्शन, करिशावक दर्शन को शुभ सकुन एवं विपरीत वायुका चलना व्याध, सर्प आदि का दर्शन, आंसू गिराना, झींक होना जैसे अशुभ शकुनों का विवरण नैषध में मिलता है। सामान्यतः पुरुषों के दाहिने अंग यथा भुजा, नेत्र आदि का फड़कना शुभ तथा स्त्रियों का वामांग स्पन्दन शुभ माना जाता है। नल एवं दमयन्ती को शुभ शकुनों का दर्शन कराकर श्रीहर्ष ने स्वयं की शकुनशास्त्रविद् होने की भी मीमांसा जनसामान्य के सामने रखी है।

नैषध में सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी विवरण को भी श्रीहर्ष ने नल एवं दमयन्ती के वर्णन प्रसंग में अपनाया है। सामुद्रिक विद्या के माध्यम से पुरुष एवं स्त्री के हाथ, पैर, ललाट, सिर तथा अन्य शरीरा की आकृति या उस में स्थित चिह्नों एवं रेखाओं आदि से उनके सम्पूर्ण जीवन के बारे में विचार किया जाता है। सामुद्रिक शास्त्र का केन्द्र बिन्दु "धन्यापितृमुखी कन्या धन्या मातृमुखो पुमान" है एवं हंमुखेन तथा राजाओं द्वारा नल एवं दमयन्ती के शरीर की सुन्दरता का जो विवरण नैषध में प्राप्त होता है, उससे दोनों सर्वांग सुन्दर, एवं भाग्यशाली सिद्ध होते है, जिससे वृहत्संहिता के "यत्राकृतिस्तत्र गुणा भवन्ति" एवं अग्निपुराण के वाक्य यत्राकारस्ततो गुणाः की पुष्टि भी होती दिखायी पड़ती हैं। शिल्पशास्त्र एवं वास्तुशास्त्र के संदर्भ न्यूनमात्रा में ही नैषध में दिखायी पड़ते हैं, जो नल एवं दमयन्ती तथा भीम के राजप्रासाद वर्णन कुण्डिनपुरवासियों द्वारा विभिन्न आलेपनों, द्वार सज्जा तथा मण्डप सज्जा के साथ साथ नल एवं दमयन्ती को वर वधू रूप में संवारने के प्रसंग में दृष्टिगोचर होते हैं। नैषध महाकाव्य में धर्मशास्त्रीय विवरण प्रभूत मात्रा में नल की देवार्चना एवं दान प्रसंग, नल दमयन्ती के विवाह प्रसंग एवं देवताओं के वार्तालाप प्रसंग में प्राप्त होते हैं। नैषधकार ने विभिन्न यज्ञों के विवरण, वेद उपनिषद आरण्यक पुराण गीता धर्मसूत्र गृह्यसूत्र एवं विभिन्न खिलसूक्तों के विषयों की अन्विति कर धर्म अर्थ एवं काम में परस्पर सम्बन्ध दिखलाते हुए धर्म को सर्वोपरि माना है। जिसकी पुष्टि नल के कथन से होती है जब वह रति उन्मत्ता दमयन्ती से कहते हैं कि "तुम कुछ क्षण सखियों से वार्तालाप करो एवं तब तक जिस पुण्यफल के प्रताप से मैने तुम्हें प्राप्त किया है उस देवार्चना की क्रिया को सम्पन्न कर लूँ।" इन्द्रादिदेवगणों ने ~~[illegible]~~ तो नल की भक्ति के शतांशमात्र से धर्म, अर्थ, काम मोक्ष चारों पदार्थ सुलभ बताया है। दमयन्ती भी देवाराधना पश्चात ही नल को प्राप्त कर सकी। इससे नल एवं दमयन्ती दोनों की धर्म में आस्था सिद्ध होती है। स्वयं नैषधकार भी भगवान अर्धनारीश्वर के अनन्य भक्त थे। साथ ही जीवन के अनेक पहलुओं तथा समस्याओं यथा जीवन की क्षणभंगुरता, गृहस्थाश्रम, सतीत्व, प्रेम भावना, भक्ति दयालुता आदि पर भी श्रीहर्ष ने अपने महनीय विचार नैषध महाकाव्य में प्रस्तुत किये हैं जो हंस विवरण एवं दमयन्ती वर्णन प्रसंग में प्राप्त होते हैं, धर्म शास्त्र के तीनों स्कन्धों यज्ञ, अध्ययन एवं दान के विवरण श्रीहर्ष ने इस महनीय काव्य में समुपस्थित किया है देवों के प्रति नल दमयन्ती का समर्पण उनकी धर्म में आस्था का प्रमाण माना जा सकता है। नैषध में प्राप्त सम्पूर्ण धर्मशास्त्रीय विवरणों को यदि एकत्र किया जाय तो वह एक लघु धर्मशास्त्रीय ग्रंथ का रूप बन सकता है।

नैषधीयचरितम् में पाकशास्त्रीय संदर्भों के विवरण भी आंशिक रूप से कुण्डिनपुर में बारात भोजन प्रसंग एवं निषधदेश में नल के भोजन प्रसंग में प्राप्त होते हैं। तत्कालीन बारहवीं शताब्दी में भी पाककर्म निपुण रसोइयों के होने की मीमांसा श्रीहर्ष के उस कथन से उद्धृत की जा सकती है, जहाँ वह कहते है कि चतुर रसोइयों ने भोज्य सामग्री का इस विधि से निर्माण किया था। जिसमें बारातियों को सामिष पदार्थ निरामिष एवं निरामिष भोज्य पदार्थों में सामिष भोज्य पदार्थों का स्वाद मिल रहा था। स्वयं नल भी पाक शास्त्र विद् थे, क्योंकि उन्हें देवताओं से भी मनोनुकूल सुस्वादु भोजन निर्माण का वर मिला था, जिसकी पुष्टि नैषध एवं महाभारत दोनों से होती है। हाँ, यह तथ्य अवश्य स्वीकरणीय है कि श्रीहर्ष ने, किस व्यञ्जन को कैसे बनाया जाये? उनके निर्माण में सामग्री का अनुपात या परिमाण क्या है. इसका विवरण उपलब्ध नहीं किया है इसका कारण शायद ग्रंथ विस्तार का भय रहा हो। अश्वशास्त्र के विवरण भी नल के विहार गमन प्रसंग एवं नल दमयन्ती स्वयंवर प्रसंग में प्राप्त होते हैं, जिसमें अश्वों की आकृति, उनकी गति एवं उत्पत्ति का विवरण रखते हुए नैषधकार ने सिन्धुदेशोद्भव धवलाकृति अश्वो को श्रेष्ठ माना है। अश्व हृदय दूसरों (अपने स्वामियों) के मन की बात जानने में दक्ष होता है साथ ही नल भी कुशल अश्वशास्त्रविद् थे, इसकी पुष्टि नैषध एवं महाभारत दोनों से होती है।

आयुधशास्त्र के किञ्चित् विवरण भी नैषध महाकाव्य में संग्रथित हैं। जिनमें शस्त्रायुधों के अन्तर्गत कृपाण, तलवार, उनके रख रखाव के विवरण, कटार, खुखुरी, छुरी, नखांकुश, फरसा, मुद्गर, गदा एवं अस्त्रायुधों के अन्तर्गत धनुषबाण, उत्क्रान्तिदा नाम अस्त्र, शतघ्नी तोप, के विवरण के साथ धनुष के प्रयुक्त बांस की मीमांसा या परीक्षण, धनुषों के विविध प्रकार तथा शरोपासन वेदिका का उल्लेख करके श्रीहर्ष ने इस शास्त्र के बारहवीं शताब्दी में प्रचलन होने का संकेत किया है। चिकित्साशास्त्र के अन्तर्गत संक्रामक रोग, पाण्डुरोग, सन्निपात, मूर्च्छा रतौंधी सर्पदंश तथा इनके निवारणार्थ विभिन्न औषधियों यथा संजीवनी कमलपत्र, विशल्या औषधि तथा चरक सुश्रुत आदि ऋषियों का विवरण देने के साथ साथ रोगियों को अपथ्य सेवन करने की सलाह देते हुए, द्रोणगिरि को जड़ी बूटियों का आगार एवं चन्द्रमा को ओषधिपति की संज्ञा श्रीहर्ष ने दी है। साथ ही उन्होंने स्वयं की इस शास्त्र के विषय में अपनी सम्मति भी दी है कि चिकित्सा से रोगों से निजात तो पाया जा सकता है किन्तु अन्तिम व्याधि मृत्यु से नहीं। भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र प्राणिशास्त्र एवं गणितशास्त्र के संदर्भ नैषध में नाममात्र को ही देखने को मिलते है। हाँ मन्त्रशास्त्र के विवरण प्रभूतमात्रा मे अवश्य प्राप्त होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि बारहवीं शताब्दी का समाज इस विद्या से अवश्यमेव प्रभावित रहा होगा, क्योंकि स्वयं श्रीहर्ष भी त्रिपुरा देवी की आराधना पश्चात् अमोघ ज्ञानराशि प्राप्त किये थे। नल कृत देवार्चना प्रसंग, नल दमयन्ती परिणय में प्रयुक्त में मंत्रोच्चारण के साथ साथ विभिन्न यज्ञों के सम्पादन में भी मन्त्रशास्त्र की प्राचीनता एवं वर्तमान में भी यज्ञों के सम्पन्न होने में मन्त्रशास्त्र की समीचीनता मानी जा सकती हैं। नैषध में कुण्डिनपुर में ऐन्द्र जालिकों के कृत्य, के वर्णन के साथ-साथ एवं चतुर्दशी तिथियों को गुप्त सिद्ध वाले बताया गया है। स्वयं श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ नैषधमहाकाव्य को चिन्तामणि मंत्र की आराधना का फल माना है, एवं नल द्वारा दमयन्ती की सखियों को हास परिहास प्रसंग में अचानक अंजुलि में जलभर कर भिगो देना उनकी मंत्रशास्त्र में दक्षता का प्रमाण माना जा सकता है। राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत साम, दान, दण्ड, भेद, चतुर्विध नीतियों के विवरण का प्रतिपादन हंस दमयन्ती संवाद, राजाओं के वर्णन देव कलि वर्णन, प्रसंग में नैषधमहाकाव्य में देखने को मिलते हैं साथ ही गुप्तचर रखने कमजोर शत्रु की भी उपेक्षा न करने, अपने विषय में जानकार

दूसरे व्यक्ति से विरोध न करने एवं आर्जवं कुटिलेषु न नीति जैसी नीति अपनाने की राजनीतिज्ञों को नैषधकार ने सलाह भी दी है।

उपर्युक्त तथ्यों के साथ साथ श्रीहर्ष ने वेद वेदाङ्गों के तथ्यों को भी नैषध महाकाव्य में पिरोया है। नल को चतुर्दश विद्याओं में पारंगत बताते हुए नैषधकार ने जहाँ सरस्वती के शरीर सौन्दर्य वर्णन में ऋग्वेद, यजुर्वेद, एवं सामवेद की चर्चा की वहीं अथर्ववेद में जादू, टोना इत्यादि का विशद वर्णन मिलने के कारण उसे श्यामवर्ण का माना। चारों वेदों की शाखाओं की संख्या जहाँ श्रीहर्ष ने एक सहस्र निर्धारित की वहीं आज केवल सोलह शाखाओं के प्राप्त होने की विवक्षा प्राप्त होती है। वेदों के उच्चारण की स्पष्टता पर बल देते हुए तथा उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित का विवरण रखकर उनके स्थान निर्धारण का प्रयास भी महाकाव्यकार ने किया है। नैषध महाकाव्य के रविरुचिरक्रमोंकारेषु स्फुटाम्नलब्दुतां (१९/७) जैसे श्लोक में महाकवि की कल्पनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः वे कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता तथा काठक संहिता को मानने वाले थे क्योंकि उदात्त स्वर को सीधी रेखा द्वारा चिह्नित किये जाने का विवरण इन्हीं दोनों संहिताओं में प्राप्त होता है। श्रीहर्ष ने वेद ब्राह्मण, आरण्यक तथा विभिन्न उपनिषदों की विषय सामग्री का प्रतिपादन करते हुए सामधेनी मंत्र, धाय्या, अघमर्षण सूत्र, जप वर्णन विधि, आत्मदर्शन विधि वर्णन, मोक्ष, तत्त्वमसि का संदर्भ, लोक परलोक की मीमांसा तर्पण श्राद्ध एवं विभिन्न यज्ञों यथा सौत्रामिणी, सर्वमेध ब्राह्मसाम अग्निष्टोम पौर्णमास सोम, सर्वस्वार महाव्रत अवश्मेघ यज्ञ के विवरण उपलब्ध कराने के साथ साथ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, आश्वलायन श्रौतसूत्र के विवरण तथा सरस्वती वर्ण प्रसंग में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद ज्योतिष आदि षड् वेदांगों के सन्दर्भ भी नैषधमहाकाव्य मे दिया है। इस रूप में नैषधकार को कवि पंडित नरभारती तथा कला सर्वज्ञ जैसी उपाधियों से समलंकृत करना ही उचित एवं न्यायसंगत होगा, तथा "नैषधीयचरितम्" महाकाव्य को श्रृंगाररसवर्षी एवं शास्त्रीय काव्य। नैषध के प्राचीन टीकाकार आचार्य विद्याधर की उक्ति श्री हर्ष के व्यक्तित्व के विषय में बिल्कुल सटीक बैठती है जहाँ वह कहते हैं-

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारों नयो
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्य सौ
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधी कोविदः।

एवं नैषधीय चरितम् महाकाव्य के यथार्थवलोकन के संदर्भ में आचार्य गदाधर का निम्न कथन सटीक माना जा सकता है।

काव्ये नैषधनाम्नि धाम्नि सुबृहत्यर्थस्य मुक्ताऽवधे
र्भावान् दूरनिगूहितान् कथमहं सर्वान् प्रभातुं क्षमः।
एतस्मिन् द्युतिमन्ति सन्ति सुबहून्येतानि मध्ये भुवः
साकल्येन लभेत कोऽपि खनिता वज्राणि वज्राकरे।

अन्त में "नैषधीयचरितम् में उपलब्ध शास्त्रीय सन्दर्भों की मीमांसा" के परिप्रेक्ष्य में यह अभिहित किया जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी के महान विद्वान श्रीहर्ष ने इस ग्रंथ में लगभग सम्पूर्ण शास्त्रों के विवरणों को अपनी लेखनी में समेटा है, एवं उनकी प्रासङ्गिकता तथा समीचीनता विद्यमान है, जिसकी पुष्टि वर्तमान में लोकजीवन में व्यवहरित नरनारियों द्वारा किसी न किसी रूप में इन शास्त्रों के अपनाये

जाने से की जा सकती है और यह तो यथार्थ सत्य है कि नैषध महाकाव्य विदग्ध जनों के लिए है, सामान्य जन के लिए नहीं एवं इस ग्रंथ में विवर्णित शास्त्रीय तथ्यों का अवगाहन भी वही जन कर सकते हैं, जो विनम्रता के साथ गुरुचरणों में बैठकर, उनके माध्यम से इस ग्रंथ के शास्त्रसमन्वित दुरूह ग्रंथियों को सुलझाकार, शास्त्राम्भोनिधि सदृश इस महाकाव्य की रसोर्मियों में गोता लगाकर आनन्दानुभूति के अभिलाषी हों, परन्तु इसके लिए अभिलाषी जन में धैर्य, स्थिरचित्तता, गुरुकृपा एवं इस ग्रंथ के अध्ययन की उत्कट अभिरुचि का होना नितान्त अपेक्षित है। निःसंदेह "नैषधीयचरितम्' महाकाव्य शास्त्रीय विवरणों या सन्दर्भों से ठसाठस भरा हुआ एक मनोरम काव्य मंजूषा है। तथापि मेरी अन्तिम अभीप्सा यही है कि "परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं, भिक्षवो न, तु गौरवात्।"

'इति शुभम्'

सहायक ग्रंथ सूची

सहायक ग्रंथ सूची

संस्कृत एवं हिन्दी ग्रंथ

1. अग्निपुराणम् श्रीमन्महर्षिकृष्णद्वैपायनव्यास विरचितम्, गुरुमण्डलग्रंथमालायाः सप्तदशपुष्पम् - मनुसुखरायमोर 5, क्वाइव रो, कलकत्ता, सन् 1957
2. अभिनवभारती - अभिनव गुप्त, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज
3. अमरकोष श्री अमर सिंह विरचित रामाश्रमी टीका सहित - निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
4. अद्वैत वेदान्त- इतिहास तथा सिद्धान्त, डॉ० राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुकलिंकर्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1987
5. अलंकार शास्त्र का इतिहास - डॉ० कृष्ण कुमार, साहित्य भण्डार, मेरठ, सन् 1975
6. उपनिषदों की भूमिका- डॉ० राधाकृष्णन (The Introduction to the Principal upnishads) अनुवादक - रमानाथ शास्त्री, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट दिल्ली, चौथा संस्करण, 1981
7. कला विवेचन - डॉ० विमल कुमार, भारती भवन पटना, सन् 1968
8. काव्यशास्त्र - भागीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1975
9. काव्यशास्त्र - सम्पादक- डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली
10. ऋषिकल्पन्यास - प्रकाशक - भारती परिषद् प्रयाग, प्रकाशन, 1970
11. अथर्ववेद भाष्यम् - काण्ड 1-13, सम्पादक एवं लेखक प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार
12. ईशोपनिषद् - श्रीसातवलेकर, भारत मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, पारडी (सूरत), संस्करण - चतुर्थ, संवत् 2006
13. ऐतरेय ब्राह्मण - आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1931
14. ऐतरेय ब्राह्मण- प्रथमभाग, सम्पादक-सुधाकर मालवीय, प्राच्य भारती ग्रंथमाला- 4 संस्करण 1980
15. ऋग्वेद संहिता- भाष्यकार, सायण - आनन्द आश्रम मुद्रणालय पूना, प्रथम संस्करण 1942
16. यजुर्वेद संहिता - भाष्यकार- दयानन्द, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1974
17. सामवेद - भाष्यकार श्रीराम शर्मा, चौखम्भा ओरियन्टलिया वाराणसी, प्रथम संस्करण - 1964
18. अथर्ववेद संहिता-भाष्यकार-सायण, चौखम्भा ओरिन्टालिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण- 1964
19. आपस्तम्ब धर्म सूत्र - चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1969
20. अभिनव भारती (अभिनवगुप्त)- हिन्दी व्याख्याकार एवं सम्पादक - डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली, विश्व विद्यालय, द्वितीय संस्करण, 1973
21. अभिधावृत्तिमातृका - (राजानक मुकुलभट्ट प्रणीत), हिन्दी व्याख्याकार - डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला 165, 1973 ई०
22. अभिनव भारती (हिन्दी)- अभिनव गुप्तपादाचार्य विरचित नाट्यशास्त्र विवृत्ति के तीन अध्याय - प्रथम, द्वितीय, तथा षष्ठ, अभिनवभारती सञ्जीवन भाष्य, -सम्पादक डॉ० नगेन्द्र एवं आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि - प्रकाशक हिन्दी विभाग, दिल्ली वि0वि0 दिल्ली, प्रथम संस्करण -1960
23. अलंकार सर्वस्वम् (राजानक रुय्यककृतम) जयरथकृतया टीकासमेतम् सम्पादक -पं० गिरिजा प्रसादद्विवेदी, प्रकाशक- पाण्डुरांग जावजी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1939 (काव्यमाला -35)
24. अलंकार कौस्तुभ, (विश्वेश्वर पण्डित कृत)-सम्पादक, महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त, तुकाराम जावजी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1898, (काव्यमाला-66)
25. अलंकार शेखर - (केशव मिश्र प्रणीत) -सम्पादक - शिवदत्त, निर्णय सागर प्रेस, सन् 1895
26. अलंकार प्रदीप-(विश्वेश्वर पण्डित रचित)-संपादक - विष्णुप्रसाद भण्डारी - हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला - 1923
27. एकावली-विद्याधर- प्रकाशक संस्कृत विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद, सन् 1981
28. औचित्यविचारचर्चा - क्षेमेन्द्र - भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
29. काव्यालंकार - भामह - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1962

30. काव्यादर्श - (दण्डी विरचित)- प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, संवत 2028

31. काव्यादर्श : (हृदयगमा टीका)- टीकाकार - तरुण वाचस्पति, ब्रह्मदीन प्रेस, मद्रास

32. काव्यालंकारसूत्र - (वामन रचित) - प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, संवत 2033

33. काव्यालंकार, (रुद्रट विरचित)-प्रकाशक- चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, संवत 2033

34. काव्यमीमांसा - (राजशेखर रचित) - प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, सन् 1965

35. कवि और काव्यशास्त्र - डॉ० सुरेश चन्द पाण्डे, राका प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1981

36. कठोपनिषद् - गीताप्रेस गोरखपुर, सत्रहवाँ संस्करण - संवत 2038

37. कामसूत्रम् - (श्रीवात्स्यायन प्रणीतम्) प्रथमोभागः यशोधरविरचितया जयमङ्गलाख्यया टीकया या समेतम्, मुम्बई निर्णयसागरयन्त्रालये मुद्रितम् - संवत् 1891

38. कामसूत्रम् (श्रीवात्स्यायनविरचितम्) श्रीयशोधरविरचितया जयमङ्गलाख्यव्याख्यासहितम् सर्वतंत्रस्वतंत्ररिसर्चस्कालर, पं० माधवाचार्यनिर्मितया पुरुषार्थप्रभाख्यभाषाटीकयाटिप्पणीभिश्च विभूषित, द्वितीय भागः, गङ्गाविष्णुश्रीकृष्णादास, लक्ष्मीवेंकटेश्वरप्रेस, कल्याण, बम्बई, संवत् 1991 शाके 1856

39. काव्यमाला - प्रथम गुच्छ से चतुर्दश गुच्छ पर्यन्त- सम्पादक पं० दुर्गादास एवं काशीनाथ पाण्डुरंग, परब चौखम्भा भारती अकेदमी, 1987

40. काशिका (वामन जयादित्यविरचित) - न्यासपदमंजरी भावबोधिनीसंहिता (दस भागों में) सम्पादकों- डॉ० जयशंकरलाल त्रिपाठी, डॉ० सुधाकर मालवीय, प्राच्य भारती ग्रंथमाला-17, वाराणसी 1985 ई०

41. कामसूत्र का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पं० देवदत्तशास्त्री, विविध भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1982

42. कौटिलीय अर्थशास्त्र - सं०, वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 1962

43. कामसूत्र - (वात्स्यायन प्रणीत) संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1967

44. कामसूत्र- (वात्स्यायन प्रणीत) - श्रीयशोधर विरचित जयमंगलाख्य टीका, हिन्दी व्याख्याकार, श्री देवदत्त शास्त्री, काशी संस्कृत ग्रंथमाला- 29, वाराणसी

45. काव्यानुशासनम्- (प्रथमभाग) हेमचन्द्र रचित) प्रकाशक श्रीमहावीरजैन विद्यालय, बम्बई - सन् 1968

46. काव्यानुशासनम् - वाग्भट्ट विरचित - तुकाराम जावजी, बम्बई, सन् 1915

47. काव्यालंकारसारसंग्रह - (उद्भट रचित)- प्रकाशक-सेक्रेटरी, भण्डारकर ओरियन्टल इंस्टीट्यूट पूना सन् 1817

48. काव्यानुशासनम् -(हेमचन्द्र रचित)-प्रकाशक- मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास पब्लिकेशन नई दिल्ली, संस्करण द्वितीय 1986

49. कालिदास ग्रन्थावली सम्पादक - सीताराम चतुर्वेदी - प्रकाशक, भारत प्रकाश मंदिर, अलीगढ़, तृतीय संस्करण, संवत 2019

50. कारिकावली (भाषापरिच्छेद) - (श्रीविश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य विरचिता) श्री सूर्यनारायण शुक्ल रचित मयूखोद्भासित सिद्धान्तमुक्तावली संहिता प्रकाश हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार - श्री रामगोविन्द शुक्लः, श्रीहरिकृष्ण निबन्ध भवनम् वाराणसी, 1991

51. काशी की पाडित्य परम्परा-आचार्य बलदेव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1994

52. काव्य प्रकाश (मम्मटकृत) व्याख्याकार - स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, वाराणसी ज्ञानमण्डल लि0 ज्ञानमण्डल ग्रंथमाला 93, 1960

53. काव्य प्रकाश (मम्मट कृत), शशिकला हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार डॉ० सत्यव्रत सिंह, विद्याभवन संस्कृत ग्रंथ ,पटना 15, 1955 ई०

54. काव्य प्रकाश (मम्मट कृत) - बालबोधिनी संस्कृत टीका, व्याख्याकार, स्व० वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर, सम्पादक, रघुनाथ दामोदर करमकर भण्डारकर ओरि0 पूना0 1950

55. काव्यादर्श-(आचार्यदण्डी विरचित)- सुदर्शनाऽऽख्यया संस्कृतहिन्दीव्याख्यासमेतः व्याख्याकार - धर्मेन्द्र कुमार गुप्त - मेहरचन्द, लक्ष्मनदास, दिल्ली, 1973 ई०

56. काव्यालंकार - (मम्मट विरचित) - भाष्यकार - प्रो0 देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1962

57. किरणावली (उदयनाचार्यप्रणीता), सम्पादकोऽनुवादकश्च - श्री गौरीनाथ शास्त्री, गङ्गानाथ झा ग्रन्थमाला - 8, प्रथम संस्करण 1980

58. कुवलयानन्दः (श्रीमदप्पय्यदीक्षित विरचितः) अलंकारसुरभि, हिन्दी व्याख्या- व्याख्याकार, डॉ० भोलाशंकर व्यास, विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला 24, वाराणसी, 1956

59. कुवलयानन्दः अप्पयदीक्षित चरित - चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी , सन् 1963

60. कौटिलीयअर्थशास्त्र - श्रीविष्णुगुप्त चरित पण्डित पुस्तकालय, काशी 1964

61. खण्डनखण्डखाद्यम्-(श्रीहर्षप्रणीतम्) श्रीविद्यासागरीपाह्वानन्दपूर्णमुनीन्द्र विरचितखण्डनफक्किकाभिधान संवलितम्।

62. स्वामी योगीन्द्रनन्दकृतखण्डनपञ्जिकयोपेतम्, प्रकाशक-षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम्-वाराणसी, प्रथम संस्करण-1979

63. ग्रहलाघवम् - गणेश दैवज्ञविरचित, हरिदास संस्कृत ग्रंथ माला - 309 , सम्पादक एवं व्याख्याकार - प्रो0 रामचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1994

64. ग्रहनक्षत्राणि - प्रणेता - डॉ० सम्पूर्णानन्द, सम्पूर्णानन्द ग्रन्थ माला 10 , सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

65. गौतम धर्मसूत्र - (मिताक्षरावृत्ति सहित) चौखम्भा संस्कृत सिरीज वाराणसी, प्रथम संस्करण - संवत 2023

66. चन्द्रालोक - जयदेवरचित, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस, सन् 1938

67. चित्रमीमांसा - अप्पयदीक्षित रचित, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस, सन् 1971 ई०

68. चमत्कार चन्द्रिका - विश्वेश्वर पंडित - चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी प्रथम संस्करण - 1964

69. छान्दोग्योपनिषद् - गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण संवत् 2013

70. जन्मपत्रदीपकः - आचार्य विन्देश्वरी प्रसाद द्विवेदी - चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

71. ज्योतिष रत्नाकर - देवकी नंदन सिंह, मोतीलाल बनारसी दास वाराणसी, पुर्नमुद्रण 1997

72. जातक संग्रह - एन0वी0 तुंगर, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, द्वितीय संस्करण, 1942 पूना

73. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि (An Idealist view of life- Dr. Radhakrishnan का हिन्दी अनुवाद)- प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1962

74. जैमिनीय मीमांसा भाष्यम् (आचार्य शबरस्वामिविरचितम्) (5 भागों मे) व्याख्याकार - युधिष्ठिर मीमांसक, प्रथम भाग 1977 , द्वितीय भाग, 1978, तृतीय भाग 1980, चतुर्थ भाग 1984, पंचम भाग -1986, प्रकाशक -युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़, सोनीपत हरियाणा

75. तैत्तरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक - श्रीसुरेश्वरचार्यकृत, अनुवाद- राधेश्याम शास्त्री, मेहरचंद लक्ष्मनदास पब्लिकेशनल, नई दिल्ली, संस्करण - 1975

76. तर्कभाषा (श्रीकेशवमिश्र प्रणीता), हिन्दी व्याख्याकार - श्रीबदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण-1976

77. तर्कभाषा (श्रीकेशव मिश्र प्रणीत) - हिन्दी व्याख्याकार - डॉ० श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, अष्टम संस्करण 1992

78. तर्कभाषा (केशवमिश्र प्रणीता) - तर्क रहस्यपदीपिका, हिन्दीव्याख्याविभूषिता आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि - चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, अष्टम संस्करण, संवत् 2042

79. ताजिक नीलकण्ठी (श्री नीलकण्ठ दैवज्ञ विरचित) व्याख्याकार, श्री केदारदत्त जोशी, मोतीलाल बनारसी दास, संस्करण - 1995

80. तर्कसंग्रह - अन्नमभट्ट रचित, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, संस्करण 1971

81. दर्शन के अनुसार (The types of Philosophy by william Ernst Hocking) अनुवादक- प्रो0 रमेश चन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर - प्रथम संस्करण - 1974

82. दशकुमारचरित-(दण्डिन् कृत्) बालबोधिनी संस्कृतव्याख्या, पं० ताराचरण भट्टाचार्य, बालक्रीडा हिन्दीव्याख्या, पं० रामतेजशास्त्री, एवं पं० केदारनाथ शर्मा, हरिदास संस्कृत-सिरीज-92, 1948

83. दशरूपक-(धनञ्जय विरचित)-चन्द्रकला हिन्दी व्याख्याकार, डॉ० भोलाशंकर व्यास, विद्याभवन संस्कृत ग्रंथ माला (वाराणसी) संस्करण - 1954

84. ध्वन्यालोक- हिन्दी व्याख्या, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादक- डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो-दिल्ली, प्रथम संस्करण-1952.

85. ध्वन्यालोक- श्री मदानन्दवर्धनाचार्यविरचित, सहृदयतिलक श्री रामषारक कविताकिंक चक्रवर्ति तथा पं. श्रीमहादेवशास्त्री विरचित बालप्रियादित व्यञ्जना व्याख्या एवं श्रीमदभिनवगुप्त विरचित लोचन व्याख्या सहित-पं० पट्टाभिरामशास्त्री- काशी संस्कृत सिरीज ग्रन्थमाला-135-सन् 1940.न

86. ध्वनि सिद्धान्त, विरोधी सम्प्रदाय, उनकी मान्यताएं- डॉ. सुरेश चन्द्र पाण्डेय वसुमति प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1972 ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त भाग-1 भोलाशंकर व्यास, सूर्यकुमारी पुस्तक माला (वाराणसी)-26 प्रथम, संस्करण-संवत् 2013.

87. धर्म दर्शन- लक्ष्मीनिधि शर्मा.

88. धर्मशास्त्र का इतिहास-डॉ० पी0वी0 काणे, अनुवादक, अर्जुन चौबे काश्यप, पाँच भागों में, हिन्दी समिति ग्रंथ समिति ग्रंथ माला 74, 111, 132 213, 214, उ०प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ

89. न्यायदर्शनम् (वात्स्यायन भाष्यसंवलितम् गौतमीयं) हिन्दी भाषान्तरसम्पन्नम्-सम्पादक- स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारतीय ग्रंथ माला- 11, वाराणसी, संस्करण, चतुर्थ-1989।

90. न्यायसूत्र-गौतम-दि पाणिनि आफिस भुवनेश्वरी आश्रम बहादुरगढ़, इलाहाबाद, सन् 1930.

91. न्याय कुसुमाञ्जलि (उदयनाचार्यकृत्) हिन्दी अनुवाद, श्रीदुर्गाधर झा, सम्पादक-डॉ. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, नागेश शास्त्री, गङ्गानाथ झा ग्रंथमाला-6, 1973.

92. नामलिङ्गानुशासनं नाम-अमरकोषः-महामहोपाध्याय श्री भट्टोजिदीक्षितात्मजविद्वद्वर श्रीभानु दीक्षितकृतया रामाश्रमी (व्याख्या सुधा) व्याख्यया विभूषितः - पं. हरगोविन्द शास्त्री (प्रकाशोण्नामक-सरल मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या एवं टिप्पणी सहित सम्पादित) काशी संस्कृत ग्रंथमाला-198, 1970 ई०

93. नामलिङ्गानुशासनम् (अमरकोषः)- मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या-व्याख्याकार- पं. हरगोविन्द शास्त्री- हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला-30, 1957.

94. निरुक्त- यास्क कृत (प्रथमकाण्ड) सं० उदयशंकर शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1977.

95. नीतिशतकम्-भर्तृहरि- भारतीय प्रकाशन, कानपुर, 1979

96. निरुक्त प्रथमकाण्ड न्यास्क-संपादक-

97. नाट्यशास्त्रम्, (श्रीभरतमुनि विरचित) -सम्पादक- पं. केदारनाथ, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, काव्यमाला-42, 1983 ई०

98. नाट्यशास्त्र (साभिनव भारती, तीन भागों में) भरतकृत, व्याख्याकार अभिनवगुप्त, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, प्रथमभाग 1956, द्वितीय भाग 1934, तृतीय भाग 1954.

99. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली- श्री विश्वनाथतर्कपञ्चानन रचित न्यायकारिकावली) प्रत्यक्षखण्ड, हिन्दी व्याख्याकार, डॉ० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, संस्करण तृतीय, 1985, पुनमुर्दुण, दिल्ली, 1992.

100. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, (श्री विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्य विरचित)- बालप्रिया हिन्दी व्याख्योपेता, व्याख्याकार- डॉ० श्रीगजाननशास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण-1984

101. न्याय विन्दु (धर्मकीर्ति विरचित) का गोविन्द चन्द्र पाण्डे कृत अनुवाद एवं व्याख्या- दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, प्रथम संस्करण, 1972

102. नैषधमहाकाव्य-व्याख्याकार, डॉ० सूर्यदेव शास्त्री, चौखम्भा ओरियन्टल वाराणसी प्रथम संस्करण-1975

103. नैषध महाकाव्य प्रथम सर्ग, अनुवादक, श्रीधरप्रसादपन्त, 'सुधांशु' प्रकाशक- स्टूडेन्ट स्टोर रामपुर बाग, बरेली, संस्करण-1980

104. नैषधचरितचर्चा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, गवर्नमेन्ट प्रेस, इलाहाबाद।

105. नैषधीयचरितम् (श्रीहर्षविरचितम्) श्रीमन्नारायण विरचितया नैषधीय प्रकाशाख्यव्याख्यया, मल्लिनाथ-विद्याधरजिनराज, चारित्रवर्धन, नरहरि व्याख्यान्तरीय विशिष्टांशैस्तत्पाठान्तरैष्टिप्पण्यादिभिश्च समुल्लसितम- श्रीमदिन्दिराकान्ततीर्थचरणान्तेवासिभिः नारायणरामआचार्य "काव्यतीर्थ", मेहरचन्द लक्ष्मनदास पब्लिकेशन्स, 1- अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पुनमुर्दण-1986

106. नैषधीयचरित में रस योजना-डॉ० रविदत्त पाण्डेय, मुद्रक, गोयल प्रिंटर्स,भोलानाथ नगर, शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण 1979.

107. नैषधीयचरित का अभिनव समीक्षात्मक एवं व्याख्यात्मक अध्ययन (प्रथम सर्ग) प्रो. शिव बालक द्विवेदी, डॉ. प्रकाश मित्र शास्त्री, शिक्षक प्रकाशन प्रेमनगर, कानपुर-1, संस्करण 1981.

108. नैषधीयचरितम् (श्रीहर्षविरचितम्) श्रीनन्नारायणविरचितया नैषधीयप्रकाशाख्यया व्याख्यया समुल्लसितम् महामहोपाध्याय, दाधीचपण्डित शेवदत्तशर्मणा, टीकान्तरीयटिप्पण्यादिसंस्कृत्य संशोधितम्, चतुर्थसंस्करणम्- शाके 1834 सन् 1912 वत्सरे निर्णयसागराख्यमुद्रणयन्त्रालय, मुम्बई।

109. नैषधीयचरितम्- (श्रीहर्ष प्रणीतम्) हिन्दी अनुवादक पं. श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट, मास्टर खिलाड़ी लाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, बनारस सिटी, प्रथम संस्करण 1949.

110. नैषधीयचरितम्- (श्रीहर्ष प्रणीतम्) हिन्दी अनुवादक, आचार्य चण्डिका प्रसाद शुक्ल, साहित्य सदन देहरादून, प्रथम संस्करण-1951.

111. नैषध महाकाव्यम्- (महाकवि श्रीहर्षप्रणीतम्)- महामहोपाध्याय श्रीमल्लिनाथकृत "जीवातु व्याख्यायुत मणिप्रभा" भाषा टीकासहितम्- भाषा टीकार- पं. हरिगोविन्द शास्त्री, हरिदास संस्कृत ग्रंथ वाराणसी 205, प्रथम संस्करण संवत् 2010 (सन् 1954). उत्तर खण्ड सन् 1967, (संस्करण द्वितीय संवत् 2024)

112. नैषध महाकाव्यम् (श्रीहर्षप्रणीतम्)- प्रथम सर्ग, जीवातुटीका सहित, हिन्दी टीकाकार डॉ. सुरेन्द्र देव शास्त्री, गोकुल दास संस्कृत सिरीज-2, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1975.

113. नैषधमहाकाव्य (श्रीहर्ष विरचितम्) प्रथम सर्ग, मल्लिनाथी व्याख्या सहित, हिन्दी अनुवाद डॉ. शिवराज शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, पंचम संस्करण 1975

114. नैषधीयचरितम् (श्रीहर्षविरचितम्) बारह से बाइस सर्ग तक, जीवातु संस्कृत एवं चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या व्याख्याकार डॉ० देव ऋषि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास संस्कृत सिरीज, 52 (वाराणसी, प्रथम संस्करण 1987)

115. नैषधीचयरितम् (श्रीहर्ष विरचित)-प्रथम सर्ग से दशम् सर्ग तक- चन्द्रकला संस्कृत व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद सहित-व्याख्याकार, आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पंचम संस्करण, 1987

116. नैषधीयचरितम् (श्रीहर्ष विरचितम्) छात्रतोषिणी टीका सहित, (षष्ठ से नव सर्ग) टिप्पणीकार एवं हिन्दी अनुवादक-श्री मोहनदेव पन्त, मोतीलाल बनारसी दास प्रथम संस्करण,1979

117. नैषधचरितम्- (महाकविश्रीहर्षविरचितम्) पूर्वार्द्धरूपं प्रथम खण्डम् (प्रथम सर्गादेकादशसर्गपर्यन्तम्- श्रीहरिसिद्धान्तवागीशभट्टाचार्य्येण, प्रणीतया जयन्ती समाख्यया टीकया, तत्कृतेन वङ्गभाषानुवादेन च समन्वितम् कलिकाता 41, संख्यकदेव लेनस्थितसिद्धान्त (विद्यालयात्), यन्त्रे श्री हेमचन्द्र भट्टाचार्येण मुद्रितम् तेनैव प्रकाशितम्, द्वितीय संस्करणम्, 1871 शकाब्दीयसौराश्विनस्य प्रथम संस्करण, 1849 शकाब्दे

118. नैषधपरिशीलन-डॉ. चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, हिन्दुस्तानी अकेडमी, उ०प्र०, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1960.

119. ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धनप्रणीत-व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, 1952

120. ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धनप्रणीत लोचन एवं बालप्रिया सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी-1940 ई०

121. ध्वन्यालोक- (आनन्दवर्धनकृत) व्याख्याकार-डॉ० रामसागर त्रिपाठी, पूर्वार्द्ध, एवं उत्तरार्द्ध भाग मोतीलाल बनारसी दास-वाराणसी प्रथम संस्करण, 1963 ई०

122. नारदीशिक्षा-शोभाकार व्याख्यासहित-सम्पादक-दीक्षित, मैसूर- 1946 ई.

123. नीतिशतक- भर्तृहरि प्रणीत- चौखम्बा सुरभारती, प्रकाशन, वाराणसी-1982 ई०

124. पारस्कर गृहसूत्रम्-हिन्दी व्याख्याकार तथा सम्पादक-डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय, चौखम्बा, अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1980

125. पातञ्जलयोगदर्शन्-सांख्ययोगाचार्य श्रीमद्हरिहरानन्दकृत, बंगलाभाष्यानुवाद और टीका का मूल सहित हिन्दी अनुवाद, सम्पादक-डॉ. भागीरथ मिश्र, हरिकृष्ण अवस्थी ब्रजकिशोर मिश्र, प्रकाशक लखनऊ विश्वविद्यालय

126. पातञ्जलयोगदर्शनम्, (महर्षि पतञ्जलिमुनिप्रणीतम्)- व्यासभाष्यसंवलितम् तत्त्व योगसिद्धि हिन्दी व्याख्योपेतम्-व्याख्याकार डॉ. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव्यशास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-वाराणसी तृतीय संस्करण-1993

127. पूर्व और पश्चिम कुछ विचार (East And West-Some Reflections) -डॉ० राधाकृष्ण द अनुवादक-रमेश वर्मा, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली सातवां संस्करण, 1981

128. पञ्चदशी-(श्री विद्यारण्यमुनि विरचित), सम्पादक- आचार्य कृष्णपति त्रिपाठी, उ.प्र. संस्कृत अकादमी लखनऊ, शास्त्रीय ग्रंथ माला द्वितीय पुष्प; 1989 ई.

129. प्रशस्तपादभाष्यम्- (प्रशस्तपादाचार्यप्रणीत) श्रीधरप्रणीत न्यायकन्दली व्याख्या, सम्पादक- डॉ. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, हिन्दी अनुवादक- पं. दुर्गाधर झा, गंगानाथ झा ग्रंथमाला-1 1977 ई०

130. बुद्धकालीन भूगोल- डॉ० भरत सिंह उपाध्याय

131. बोधिचर्यावतार- आचार्य शान्तिदेवकृत, अनुवादक, भिक्षु, ग० प्रज्ञानन्द, प्रकाशक, लखनऊ बौद्ध समिति, उ.प्र. संस्करण-1955

132. बौद्ध धर्म दर्शन- आचार्य नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-3, विक्रम संवत्-2013

133. बौद्ध दर्शन और वेदान्त-डॉ० चन्द्रधर शर्मा, विज्ञान विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण-1981

134. प्राचीन भारतीय भूगोल- अवध बिहारी लाल अवस्थी

135. बृहन्नारदीयपुराणम्- (पूर्वभाग) अनुवादक, तारणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग- 1989 ई.

136. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् (श्रीपराशरमुनिविरचितम्)- सविमर्श सुधाव्याख्याविभूषित, सम्पादक एवं व्याख्याकार-दैवज्ञ पं. देवचन्द्र झा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी- पंचम संस्करण संवत् 2050 (काशी संस्कृतमाला-220)

137. वृहदारण्यकोपनिषद्-गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण-संवत् 2014

138. बौधायन धर्मसूत्र-चौखम्भा संस्कृतसिरीज वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् 2029

139. ब्रम्हसूत्रशाङ्करभाष्य-सत्यानन्दी दीपिका सहित-अनुवादक श्रीस्वामी सत्यानंद सरस्वती, प्रकाशन गोविन्द मठ टेढी नाम वाराणसी, संवत्-2035

140. भारतीय साहित्यशास्त्रकोश- डॉ. राजवंश सहाय हीरा प्रकाशक, बिहार ग्रंथ अकादमी सम्मेलन भवन पटना-3, प्रथम संस्करण-1973

141. भारतीय साहित्य के निर्माता, (क्षेमेन्द्र) सम्पादक- व्रजमोहन चतुर्वेदी, साहित्य आकादमी, प्रथम संस्करण-1983

142. भगवत्पतञ्जलि विरचित व्याकरण महाभाष्य (प्रथम आह्निक) का हिन्दी अनुवादक- श्री चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, प्रथम संस्करण, संवत्-2019

143. भारतीय दर्शन- डॉ. राधाकृष्णन, हिन्दी अनुवादक, नन्द किशोर गोभिल, प्रथम एव द्वितीय भाग, राजकमल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली द्वारा प्रकाशित संस्करण-1989

144. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1- एस.एन. दास गुप्त, अनुवादक, कलानाथ शास्त्री, सुधीर कुमार राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर-4, प्रथम अनूदित संस्करण-1978

145. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण- संगम लाल पाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1976

146. भारतीय दर्शन- आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, तृतीय संस्करण-1984

147. भारतीय दर्शन- (ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन) नन्दकिशोर देवराज, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, ग्रंथांक-158, तृतीय संस्करण-1983

148. भारतीय दर्शन- उमेश मिश्र, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-10, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ.प्र. लखनऊ, द्वितीय संस्करण-1964

149. भारतीय दर्शन की रूपरेखा- एम. हिरियन्ना, अनुवादक- डॉ० गोवर्धनभट्ट, श्रीमती मंजू गुप्त श्रीसुखबीर चौधरी, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण-1985

150. भारतीय दर्शन, आलोचन एवं अनुशीलन-चन्द्रधर शर्मा, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी प्रथम संस्करण-1990

151. भारतीय ज्योतिष - डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, पन्द्रहवाँ संस्करण-1980

152. भारतीय काव्यशास्त्र, नयी व्याख्या डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण-1980

153. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ- परिसंवाद से तैयार राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण-1984

154. भारतीय दर्शन में मोक्षचिन्तन-एक तुलनात्मक अध्ययन- डॉ. अशोक कुमार लाड, म0प्र0 हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण-1973

155. माण्डूक्योपनिषद्-गीताप्रेस गोरखपुर, चौदहवाँ संस्करण-सं. 2050

156. मुहूर्त चिन्तामणि- दैवज्ञानन्द, सुतरामाचार्य प्रणीत; व्याख्याकार उमाशंकर शुक्ल, प्रकाशक श्री ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार, वाराणसी

157. पाणिनीय शिक्षा-एम.एम. घोष

158. प्रतापरुद्रीय- विद्यानाथ-श्रीबालमनोरमा प्रेस, माइलापोर मद्रास, 1950

159. भट्टिकाव्य-भट्टिकृत प्रकाशन--तुकाराम जावजीनिर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1914

160. महाभाष्य - पतञ्जलि - प्रथमखण्ड - सत्यभामाबाई पाण्डुरंग, बम्बई, 1951 द्वितीय खण्ड - पाण्डुरंग जाव जी बम्बई, 1935

161. भारतीय काव्याशास्त्र की भूमिका-डॉ. नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली -1976

162. भारतीय ज्योतिष (श्री शिवनाथझारखण्डी) मराठी भाषा का हिन्दी अनुवाद- श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित, उ.प्र. राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन, लखनऊ, तृतीय संस्करण-1975

163. भारत सावित्री- वासुदेव शरण अग्रवाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

164. भरत भाष्य- नान्यदेव प्रणीत-भाण्डारकर प्राच्य ग्रंथ संग्रह पूना में संगृहीत (हस्तलिखित)

165. महाभारत-व्यास प्रणीत-बम्बई संस्करण

166. भरतकोष- प्रो0 रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित, तिरुपति संस्करण

167. मानसोल्लास - सोमेश्वर प्रणीत द्वितीय भाग - सम्पादक जी.के. श्रीहिंगोडेकर, ओरियन्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा -1939 ई.

168. मालतीमाधव- भवभूतिप्रणीत तारिणीश झा, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1975

169. मालती माधव- भवभूतिप्रणीत- सम्पादक एम.आर. काले, मोतीलाल-बनारसी दास

170. मनुस्मृति-सम्पादक, हरगोविन्द शास्त्री-मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या हरिदास संस्कृत सिरीज-226, वाराणसी, 1979

171. मनुस्मृति- मेघातिथि रचित मनुभाष्य समेता- महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, प्रथम एवं द्वितीय भाग, परिमल संस्कृत ग्रंथ माला-331 (दिल्ली) संस्करण-1992

172. मध्यकालीन भारत, भाग-1, सम्पादक-प्रो. हरिश्चन्द्र वर्मा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-1983, पुनर्मुद्रेण-1992

173. मध्यकालीन भारत- सम्पादक प्रो. हरिश्चन्द्र वर्मा, हिन्दी माध्यम कायान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1993

174. मीमांसा दर्शनम्-सं० रामजी शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, प्रथम संस्करण 1974

175. मुण्डकोपनिषद्- सं. हरिकृष्णदास गोयनका, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत्- 2019

176. वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी (श्रीमदृभट्टोजिदीक्षितकृत) बालमनोरमा (वासुदेव दीक्षितकृत) तत्त्वबोधिनी (ज्ञानेन्द्रसरस्वतीकृत) व्याख्या सहित, सम्पादक-श्रीपरमेश्वरानन्द, (चार भागों में) प्रकाशक-मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी-1960 ई.

177. वक्रोक्ति जीवित- कुन्तक प्रणीत- व्याख्याकार, श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्भासंस्कृत सिरीज, वाराणसी- 1967 ई०

178. हिन्दी वक्रोति जीवित- भूमिका-आचार्य कुन्तक और वक्रोक्ति सिद्धान्त, व्याख्याकार- आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादक- डॉ. नगेन्द्र, दिल्ली अनुसंधान परिषद ग्रंथमाला-ग्रंथ-5, 1955

179. व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट रचित) चौखम्भा संस्कृति सिरीज, वाराणसी, 1964

180. व्याकरण महाभाष्यम्- (पतञ्जलिमुनिनिर्मितम्)- श्रीमदुपाध्यायकैयटनिर्मित "प्रदीप" एवं प्रकाश हिन्दी व्याख्या- व्याख्याकार, आचार्य मधुसूदन प्रसाद मिश्र विद्या भवन, संस्कृत ग्रन्थमाला-138 द्वितीय संस्करण, 1978 ई०

181. व्याकरण महाभाष्य-प्रथमखण्ड-(अष्टाध्यायाः प्रथमद्वितीयाध्यायव्याख्यानरूप कैयट प्रदीपेननागेशभट्टकृद्योतेनसहितः, मोतीलाल बनारसी दास, प्रथम संस्करण 1967 ई० (प्रथम, द्वितीय, एवं तृतीय खण्ड)

182. वैशेषिक दर्शन (श्रीमन्महर्षिकणादविरचित) प्रशस्तपादभाष्य- (श्रीमन्महर्षिप्रशस्तदेवाचार्य विरचित), प्रकाशिकाहिन्दी व्याख्या, भाष्यव्याख्याकार-आचार्य ढुण्डिराज शास्त्री, वैशेषिकसूत्र व्याख्याकार-श्रीनारायणमिश्र, काशी संस्कृत ग्रंथमाला-173, प्रथम संस्करण, 1966 ई०

183. श्रीविष्णुपुराण- गीता प्रेस गोरखपुर- चतुर्थ संस्करण-सं० 2014 अनुवादक श्री मुन्नी लाल गुप्त)

184. व्याकरणतंत्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव-डॉ. हरिराम मिश्र, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली प्रथम संस्करण-1994

185. व्याकरण शास्त्र का इतिहास-युधिष्ठिर मीमांसक

186. वायु पुराणम्- (श्रीमद्व्यासविरचितम्) हिन्दीअनुवादक, रामप्रताप त्रिपाठी (शास्त्री), हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सन् 1987

187. याज्ञवल्क्यस्मृति- याज्ञवल्क्यप्रणीत- विज्ञानेश्वरप्रणीतमिताक्षरासहित- सम्पादक- डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, काशी संस्कृत सिरीज, 178, वाराणसी, 1969 ई० लाट्यायन श्रौतसूत्र प्रकाशक-एशियाटिक सोसायटी बंगाल

188. रस. सिद्धान्त- डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, सन् 1974

189. रसगङ्गाधर- पण्डितराजजगन्नाथविरचित), नागेशभट्टकृतटीकासहित- व्याख्याकार:, भट्टमथुरानाथशास्त्रिणा- मोतीलाल बनारसीदास, निर्णयसागरप्रेस बम्बई, 1983

190. रसगंङ्गाधर-पडितराजजगन्नाथविरचित) प्रथमाननमचन्द्रिकासंस्कृत हेन्दी व्याख्योपेत- पं. बद्रीनाथझा एवं पं० मदनमोहनझा, विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला-11, चतुर्थ संस्करण-1978

191. रस सिद्धान्त- (डॉ. नगेन्द्र प्रणीत) - अनुवादक, अमीरचन्द्रशास्त्री, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्, दिल्ली-1973

192. राजतरङ्गिणी - कल्हणकृत- पण्डित पुस्तकालय, काशी 1960

193. राघवपाण्डवीयम्, कविराजकृत, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सं. 2022

194. रामायण-वाल्मीकिप्रणीत-गीताप्रेस संस्करण, गोरखपुर

195. रामायण- बाल्मीकिप्रणीत, तिलकटीका सहित, बम्बई प्रकाशन, 1909ई.

196. रस मीमांसा-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, शास्त्रविज्ञान ग्रंथमाला-4, तृतीय संस्करण संवत् 2017।

197. वैदिक इण्डैक्स भाग-2, प्रो. ए.ए. मैक्डानल एवं ए.बी. कीथ हिन्दी अनुवादक -रामकुमार राय, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण-1961

198. लघुसिद्धान्त कौमुदी-वरदराज, व्याख्याकार, धरानंदशास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास 1987

199. विष्णुधर्मोत्तरपुराण-(तृतीयखण्ड) सं.-डॉ. प्रियबालाशाह, ओरियन्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा, सन् 1958

200. वाक्यपदीय-भर्तृहरिकृत, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, अनुसंधान संधान, ब्रम्हकण्ड, 1976 ई० वाक्यकाण्ड 1968 ई० पदकाण्ड 1974

201. वाग्भटालंकार-वाग्भट्ट द्वितीय-चौखम्भा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-1957

202. वास्तुसौखयम्- (श्री टोडरानन्दान्तर्गतम्)- भाषानुवादेन विशदीकृतम्, डॉ. शैलजा पाण्डेयेन सुसंपाद्य अनूदितम्, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, ग्रंथमाला, 39, सन् 1993

203. वेदान्तसार- (सदानन्दयोगीन्द्रप्रणीतो) हिन्दी रूपान्तर, तत्वपारिजाताख्य हिन्दीव्याख्या संवलितः डॉ. सन्तनारायणश्रीवास्तव्य, पीयूषप्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-1983

204. वेदार्थ संग्रहः (श्रीमद्रामानुजयतीन्द्रविरचतो)-चन्द्रिकातिलकव्याख्याविभूषितः रामवदनशुक्ल (रामकृष्णाचार्य), प्रधानाचार्य श्रीरामदेशिक संस्कृत महाविद्यालय, प्रयाग

205. वैद्यकीय सुभाषितसाहित्यम् (साहित्यिकसुभाषितवैद्यकम्)-संकलनकर्ता और व्याख्याकार-आयुर्वेदाचार्य श्रीभास्करगोविन्दघाणेकर, काशी संस्कृत ग्रंथमाला, 184, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण संवत् 2033

206. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ-सम्पादक- स्वर्गीय चतुर्वेदीद्वारकाप्रसादशर्मा तथा पं. तारणीश झा- प्रकाशक-रामनारायण लाल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण-1957

207. सुभाषित रत्नभाण्डागारम्, सम्पादक - नारायण राम आचार्य काव्यतीर्थ, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिसर्स, प्रा. लि., 1978 ई.

208. समराङ्गणसूत्रधार- (भोजकृत) गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, 1924

209. सरस्वती कण्ठाभरण (भोजकृत) चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1976

210. श्रृङ्गारप्रकाशः- भोजकृत (प्रकाशक-दि इण्टरनेशनल एकेडमी आफ संस्कृत रिसर्च मैसूर, तृतीय संस्करण 1969)

211. सर्वदर्शन संग्रह- श्रीमन्मध्वाचार्य विरचितः- श्रीउदयनारायणसिंह कृत तथा गोविन्द सूरि विरचित भाषाटीका सहित, लक्ष्मी वेंकटेश्वर मुद्रणालय, कल्याण मुम्बई, सम्वत् 1982, शकाब्द 1847

212. साहित्यदर्पण, (श्री विश्वनाथ कविराजकृत)- विमला हिन्दी टीका, टीकाकार, श्रीशालिग्राम शास्त्री विरचित, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, पुनमुद्रण- 1992 ई.

213. सिद्धान्त कौमुदी- (भट्टोजिदीक्षितकृत) तत्वबोधिनी (व्याख्याकार, जैनेन्द्र सरस्वती), सुबोधिनी (व्याख्याकार जयकृष्ण), चन्द्रकला (व्याख्याकार-भैरवमिश्र), व्याख्या सहित सम्पादक- महामहोपाध्याय पं. शिवदत्त शास्त्री, प्रकाशक-खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1959

214. श्रीमद्भगवद्गीता- मधुसूदनी संस्कृत हिन्दी व्याख्योपेत-स्वामी श्रीसनातनदेव जी महाराज, काशी संस्कृत ग्रंथ माला-162, द्वितीय संस्करण-1983

215. श्रीमद्भगवद्गीता- शाङ्करभाष्य, हिन्दीअनुवादसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, अष्टमसंस्करण, संवत् 2010

216. श्रीमन्महाभारतम् (महर्षिकृष्णद्वैपायनप्रणीतं)-गीता प्रेस गोरखपुर, सं० 2015, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, भाग)

217. श्रीमद्भागवत महापुराण- महर्षिवेद व्यासप्रणीत- प्रथम एवं द्वितीय खण्ड, गीताप्रेस गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण-संवत् 2018

218. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (महर्षि वाल्मीकिप्रणीत) प्रथम, द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण 2017, गीता प्रेस गोरखपुर

219. सुलभ ज्योतिष-पं. वासुदेवसदाशिवखारखोजे विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रंथमाला 130, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पंचम संस्करण-1997

220. सुगम ज्योतिष-पं. देवीदत्त जोशी, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी संस्करण .98[illegible]

221. शतपथ ब्राम्हण-अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय वाराणसी, संवत् 1994-97

222. शतपथ ब्राह्मण, सं० चित्रस्वामी -चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1964

223. सारस्वत संदर्शनम् - भारतीपरिषदप्रयाग, परिषद ग्रंथमाला, एकविंशतितमः, 1894 शकाब्द (1973 A.D) , प्रथम संस्करण - 1973

224. सङ्केतकौमुदी - (श्रीहरिनाथाचार्यविरचिता) - भाषानुवादविभूषिता - डॉ० प्रकाश पाण्डेयेन गुंफाद्य अनूदिता, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, टेक्स सिरीज नं0 36, सन् 1993 (ज्योतिष ग्रंथ)

225. सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा - (ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका तथा वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्व कौमुदी) - हिन्दी व्याख्याकार - डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन मंदिर प्रयाग, प्रथम संस्करण - 1956

226. सांख्य तत्त्व कौमुदी - (ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तथा वाचस्पतिमिश्र कृत तत्त्वकौमुदी का हिन्दी अनुवाद एवं ज्योतिषष्मती व्याख्या) - प्रणेता - डॉ० रमाशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, द्वितीय संस्करण - 1976

227. संस्कार तत्त्व समीक्षा - डॉ० रमा गोविन्द त्रिपाठी, विश्ववाणी प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 1981

228. शिशुपाल वध - माघकृत - चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, सं० 2029

229. शिशुपाल वध - महाकवि माघ - महामहोपाध्याय मल्लिनाथ की सर्वकशा संस्कृत व्याख्या एव मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या - हिन्दी व्याख्याकार पं० हरगोविन्द शास्त्री, विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला - 8 , चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पंचम संस्करण - 1984

230. श्लोकवार्तिकम् (श्रीमत्कुमारिलभट्टपादविरचितम्) - श्रीमत्पार्थसारथि मिश्र विरचितया न्यायरत्नाकर व्याख्या सनाथम, सम्पादक- स्वामीद्वारिकादासशास्त्री, प्राच्य भारती ग्रंथमाला, वाराणसी 70, सन् 1978

231. षड्दर्शन - स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, प्रकाशक गोविन्द राम हासानन्द, आर्य साहित्य भवन, 4408 नई सड़क, दिल्ली, 110006, प्रथम संस्करण - 1979

232. संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास- डॉ० सत्यकाम वर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, प्रथम संस्करण - 1977

233. संस्कृत कवियों की रचना संसार - डॉ० जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण संवत् 2052

234. संस्कृत साहित्य का इतिहास - डॉ० कपिलदेव द्विवेदी - प्रकाशक, राम नारायण लाल, विजय कुमार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 1985

235. संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् 2032 (सन् 1975)

236. संस्कृत साहित्य का इतिहास - आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन वाराणसी दशम संस्करण - 1978, एवं पुनर्मुद्रण 1985

237. संस्कृत साहित्य का इतिहास - (वी वरदाचार्य) का हिन्दी अनुवाद, डॉ० कपिल देव द्विवेदी. प्रकाशक रामनारायण लाल, इलाहाबाद

238. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय शारदा मंदिर प्रथम संस्करण सन् 1969

239. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- महामहोपाध्याय पी0वी0 काणे, अनुवादक - डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, प्रथम संस्करण - 1966 का मुद्रण - 1994

240. संस्कृत का व्यशास्त्र का इतिहास- डॉ० सुशील कुमार डे, अनुवादक - श्रीमायाराम शर्मा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना, द्वितीय संस्करण - 1988

241 साहित्यमीमांसा - सं० गौरीनाथ शास्त्री, प्रकाशक - अनुसंधान संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी सन् 1984

242 - समराङ्गणीर भवन निवेश - द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल,

243 - संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रणेता ए0बी0 कीथ), हिन्दी अनुवादक, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास - 1985

244 - संस्कृत साहित्य विमर्शः, आचार्य द्विजेन्द्रनाथशास्त्री, संस्कृतमणिमालायाः प्रथमः मणिः, भारती प्रतिष्ठानम्, मयराष्ट्रनगरम् (उ०प्र०), संस्करण - 1956

245 - संस्कृत वाङ्मय - डॉ० हरिकृष्ण शास्त्रिदातारः, कीर्तिसौरभ प्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 1989

246 - संस्कृत साहित्य की रूपरेखा- पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय, प्रकाशक - साहित्य निकेतन कानपुर प्रथम संस्करण-1945

247 - शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण-अभेदानन्द, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण-1973

248 - संस्कृत सुकवि समीक्षा-आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, तृतीय संस्करण-1987

249 - भारतीय सङ्गीतवाद्य - डॉ० लालमणि मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973

250 - भरत का सङ्गीत सिद्धान्त - डॉ० कैलाशचन्द्रदेववृहस्पति - प्रकाशनार्थ सूचना विभाग उ०प्र०, 1954 ई०

251 - भारतीय सङ्गीत का इतिहास - उमेश जोशी, मानसरोवर प्रकाशन प्रतिपादन, फिरोजबाद 1978 ई०

252 - भारतीय संङ्गीत का इतिहास-डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधरपरांजये , चौखम्भा संस्कृतसिरीज आफिस वाराणसी, 1969 ई०

253 - संङ्गीत चिन्तामणि - आचार्य वृहस्पति (प्रथम खण्ड)- संगीत कार्यालय, हाथरस, 1976 ई०

254 - संङ्गीतशास्त्र - के वासुदेव शास्त्री- हिन्दी समिति ग्रन्थमाला 19 , हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ०प्र०, लखनऊ 1968 ई०

255 - संङ्गीत विशारद - प्रकाशक संङ्गीत कार्यालय हाथरस

256 - हिन्दुस्तानी संङ्गीत पद्धति - पं० विष्णु नारायण भातखण्डे, संङ्गीत कार्यालय हाथरस, 1979 ई०

257 - स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान - डॉ० इन्द्राणी चक्रवर्ती,चौखम्भा ओरियन्टालिया-दिल्ली -1979 ई०

258 - सङ्गीतदर्पण - दामोदर पण्डित प्रणीत -सम्पादक - पं० विश्वम्भरनाथ भट्ट, संगीत कार्यालय हाथरस - 1950 ई०

259 - संङ्गीत पारिजात - महोबल पण्डित प्रणीत, भाष्यकार कलिन्द, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1971 ई०

260 - संङ्गीत रत्नाकर - शार्ङ्गदेव प्रणीत - प्रथम भाग कल्लिनाथ कृत कलानिधि तथा सिंहभूपालकृत सुधाकर सहित, सम्पादक पं० एस0 सुब्रह्मण्य शास्त्री, अड्यार लाइब्रेरी 1943 ई०

261 - संङ्गीतरत्नाकार - शार्ङ्गदेव प्रणीत - द्वितीय भाग, कल्लिनाथकृत कलानिधि तथा सिंहभूपाल कृत सुधाकर सहित सम्पादक - पं० एस0 सुब्रह्मण्य शास्त्री अड्यार लाइब्रेरी 1944 ई०

262 - संगीतराज -(महाराणाकुम्भप्रणीत) प्रथम भाग - सम्पादिका, डॉ० प्रेमलता शर्मा, हिन्दू विश्वविद्यालय, संस्कृत प्रकाशन समिति, वाराणसी- 1963 ई०

263 - संङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार - सुधाकलशप्रणीत - सम्पादक, उमाकान्त प्रेमानन्द शाह गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज -133] बड़ौदा 1961 ई०

264 - वाद्यप्रकाश - विद्याविलासी पण्डितप्रणीत, पाण्डुलिपि, संगीतमकरन्द - नारदप्रणीत-पाण्डुलिपि

265 - संगीतसुधाकर - हरिपालप्रणीत - पाण्डुलिपि

अंग्रेजी ग्रंथ (Bibliography)

1 — A critical study of Sriharsa's Naisadhiyacharitam - Dr. Arunoday Natvarlal Jani - M.S. University of Baroda Research series - 2 oriental Institute Baroda, First Edition, 1957

2 — Ancient India - R.C. Majumodar, Motilal Banarsidas Delhi 19 2, ?th Edition

3 — Ancient Geography of India - A. Kanigham.

4 — A critical study of the Geographical Data in the early puranas- M.R. Singh, Edition-1972.

5 — An Intoduction to Indian Philosophy - Dr. Satis chandra chatterji & Prof. Dhirendra Mohan Datta. 4th Edit., university of calcutta, 1950.

6 — Abhinava Gupta and his works - Dr. V. Raghavan. chaukhambha orientalia - Varansi, First Edition - 1980.

7 — Abhinava Gupta - An Historical and Philosaphical study - by Dr. K.C. Panday (Chaukhambha sanskrit series - I, II, Edi. 1963

8 — A History of Sanskrit literature- Arthur A. Macdonell, Motilal Banarasidass. Varnasi- 1962.

9 — A Critical survey of Indian Philosophy - Prof. Chandradhar Sharma, Motilal Banarsidas, Reprinted- 1983.

10 — An Anthology of Source Materials and some recent studies- Edited by Debiprasad Chattopadhyaya in collaboration with Mrinel Kant Gangopadhyay.

11 — Dattilam- A compendium of Ancient Indian Music, E.T. Nijenhuis, E.J. Bril, leiden (The Netherlands) 1970

12 — Sangitaratnakar, val. I. English translation - R.K. Srngi Motilal Banarasidass. Delhi, 1978

13 — An English Hindi Dictionary-F.C. Buecke, S.J. IIIrd Edi. (19 5) S Chand and company, New Delhi.

14 — Ancient History of Banaras- A.S. Altekar.

15 — A History of sanskrit Literature, classsical period, vol. I., S N. Das Gupta nad S.K. De University of Calcutta- 1962.

16 — A History of Sanskrit Literature-Maurice winternitz vol., I, II, (Oriental Book Reprint corp. New Delhi) II Edi., 1972

17 — A History of Indian Literature- Prof. M. winternitz. Vol. I, Part-1, University of Calcutta, 1959.

18 — Bhojas Sringar Prakes-Dr. V. Raghavan, Sri Krishnapuram Street, Madras-14, 1963

19 — Bhartrhari- A study of the Vakyapadiya in the light of the Ancient commentaries-Deccan college, Poona, 1969

20 — Concise sanskrit English Dictionary- Vidyadhar Vaman Bhide- Gyan Publishing house, New Delhi.

21 — Cormology and Geography in Early Indian Literature- D.C. Sarkar.

22 — Concept of Rit and Gun in Sanskrit poetics (In their Historical Development)- P.C. Lahiri, Oriental Books Reprint corporation, 54 Rani Jhansi Road, New Delhi, I Ed. 1974.

23 — Dhvanya Laka (Anandavardhana)- Or theory of suggestion in poetry- Dr. K. Krishnamoorthy, oriental book Agency, Poona-2, Poona Oriental Series-92 Ed., 1955.

24 — Dhvanyaloka udyata I and II Editid with notes by Bishnupada Battacharya (Calcutta).

25 — God and Reason, (A Historical Approach to philosophical theology, Ed. L. Miller, University, Macmillan Publishing, Co., Inc. Collier Macmillan Publishers. London.

26 — Eassays on Indian Poetics- Dr. Satya Dev Choudhary-Vasudeva Prakashan, Model Town, Delhi, I Ed., 1965.

27 — Geography of the Puranas- S.M. Ali and Mastaram Singh- Hindi Sahita Sammedan, Liberary)

28 — Geography of Ancient and Medival India, D.C. Sarkar, Edition 1971

29 — History of classical sanskrit Literature-M. Krishnamachariar- Motilal, Banarsidass, IIIrd Edi, 1974

30 — History of Sanskrit poetics Pub., K.L. Mukhapadhyaya, Uni. of Calcutta, I, IInd, Vol. S.K. Dey, II Ed., 1960 History of Sanskrit poetics-P.V. Kane.

31 — Hymns from the Rgveda (Peterson's second selection, by- V.G. Paranjpe- Bombay Sanskrit and Prakrit series, LVIII- 1938

32 — Hand Book in social philosophy R.N. beck, Macmillen publishing co. Inc., 866, third Avenau, New York, 10022 Edition 1979.

33 — History of India Edliat, Voll. II

34 — Hidi English Dictionary- S.T. Das, Gyan publishing house, Nw Delhi.

35 — History of Kanauj- To the Moslem conquest- Rama Shankar Tripathi- Motilal Banarsi dass, 1964.

36 — Historical Geography of Ancient India- Bimal Churn, Law, Peris, 1954

37 — Indian thought- A Gitical Survey- K. Damodaran Asia Publikeshing house.

38 — Indian Architect (भारतीय वास्तुशास्त्र, समराङ्गणसूत्रधार का अंग्रेजी अनुवाद) - Prof. P.K. Acharya.

39 — Jayanta Bhatta's- Nyaya Manjari, translation in to English in to English, Janki Vallabha Bhattacharya Vol.I, Motilal Banarasidas, First Edition -1978.

40 — Kavyamimansa of Rajasekhara- Edited by the late-Mr. C.D Dalal, and pandit R.A. Sastry, Revised and Enearged by K.S. Ramaswami Sastri Siromani, IIIrd Edi, 1934 Oriental Institute, Baroda.

41 — Kashmir Saivism, L.N. Sharma, Bhartiya Vidya Prakashan, Varanasi-1, First Edition, 1972.

42 — Modernization of Indian tradition- (A systemic study of social change)- Yogendra Singh, Rawat Publications, Jaipur, 1986, Reprinted, 1988.

43 — Materialism in Indian thought-by Kewal Krishan, Mittal Munshiram Mancharlal Pubi., New Delhi.

44 — Music of the Nations (A copmarative study) Swami Prajnanananda Munshiram Manoharlal Publishers, 1973

45 — Musical Instruments of India - B- chaitanys Deva, Firma K L M Private Limited, Calcatta, 1978

46 — Indian Music - A perspective - M. Kuppuswamy, Gowry and Hariharan - Motilal Banarasidass - 1980

47 — Northern Indian Misic - Alain Danielou - Vol I, II, Haley on Press London, 1954

48 — Naisadhacharita of sriharsa (translated in to english) Prof. Krishan Kanta Handique, Decan college Monograph series-14, (Poona) Second Edition 1965

49 — Number of Rasas. V. Raghvan-Pub. Adyar Library.

50 — Number of rasar-V. Raghvan-(Adyar library)

51 — Naishadha and sriharsa- Neel Kamal Bhattacharya- Sarasvati Bhavan studies.

52 — Oxford Advanced Learner 's Dictionary of current English, A.S. Hornby with A.P. Cowie oxford university press.

53 — Palmistry for All - Cheiro.

54.— Philosophy of Religion-John Hick, Prentice Hall of India, Private Limited, New Delhi-110001, 1987 (Third Edition)

55.— Philosaphy of Religion- A.R. Mahapatra.

56.— Political History of Ancient India, Dr Rai chaudhari, University of Calcutta. End, 1953.

57 — Successful Marriage through Astrologty-Vidwan, C. Lakshmanan, Bala Jashier, D.B. Taraparevala sans & Co. Privapti, Itc. Bombay.

58 — Studies on some concept of the Alankarshastra. - V. Raghavan., Bombay sanskrit series, 1942 and Adyer Library Research Centera- 1973

59 — Socio and Political Philosophy-Frederick M. watkins, New Haven, 1964 (Yele University)

60 — Sanskrit English Dictionary- Monier willians Indian Edition-1956.

61 — Sarva Darshan Sangraha-Commentration- T.G. Mainkar, Poona Oriential studies, Edition-1978.

62 — Sri harsa of Kanauj- K.M. Panikkar.

63 — The students sanskrit English Dictionry, V.S. Apte- Motilal Banarasi Das-1963.

64 — The History and culture of Indian people, the age of Inperical Kanauj- R.C. Majumdar.

65 — The History of Indian literature-Albrocht weber, John Mann, Theodor zachariaf, chakhamba sanskrit series- Studies 8, 6th Ed, 1961.

66 — The science of physiognomy, Character Reading fiom the face, Grace A Rees, D.B. Taraporowal sans and company, Bombay.

67 — The Lawas of scientific hand'reading.- W.G. Benham, D.B. Taraporawal sans and Co. Private, Ltd. Bombay third Indian Reprint, 1971.

68 — The New Vedic Selection- Part-I,II (Telanga and Chaubeys)- by Dr. Braj Bihari Chaubey- Bharatiy Vidya Prakashan- Varansi-1972.

69 — The concise Oxford Dictionary-Edited, E.M.C.I.5th Ed. 1963.

70 — The Practical Sanskrit English Dictionary (Prin. V.S. Aptes) - Editors- P.K. Gode, C.G. Karve, with three vol., 1, 2, 3, Prasad Prakashan, Poona, 1958

71 — The six wats of Knowing- Prof. D.M. Datta, Univesity of Calcutta, 1972.

72 — The Meaning and process of culture- Prof. G.C. Pande, Shiva Lal Agarwal & Company, Educational, Publishers, Agra-3, First Edition-1972.

73 — The Chief currents of contemporary Philosaphy, Prof. D.M. Datta, the University of Calcutta, Third Eidtion-1970.

74 — The History of Sanskrit Literature- A.B. Keith- Oxford University press-1961.

75 — The Religion and philosophy of veda and Upanishad Part-II by A.B Keith.

76 — Vakroktijevitam- Commentretor-K. Krishan Murti, Karnataka University, Dharwad, Edit-1977.

पत्र एवं पत्रिकाएँ

1 — Indian Antiquary- By D.C. Bhattacharya and F. Kielhorn, Madras.

2 — Journal of Bombay Branch of the Royal Asiatic society- by Buhalar, and P.V. Kane.

3 — Annals of Bhandarkar oriental Research Institute.

4 — Allahabad University studies, Allahabad.

5 — Journal of the Ganganath Jha Institute.

6 — Journal of Asiyatic society, by- F. Kielhorn.

7 — Monthly organ of the Sanskrit Sahitya Parishat, Calcutta.

8 — Indian historical quarterly by- G. Harihar Sastri. and S.K. De.

54.— Philosophy of Religion-John Hick, Prentice Hall of India, Private Limited, New Delhi-110001, 1987 (Third Edition)

55.— Philosaphy of Religion- A.R. Mahapatra.

56.— Political History of Ancient India, Dr Rai chaudhari, University of Calcutta. IInd, 1953.

57 — Successful Marriage through Astrologty-Vidwan, C. Lakshmanan, Bala Jashier, D.B. Taraparevala sans & Co. Privapti, Ltd. Bombay.

58 — Studies on some concept of the Alankarshastra. · V. Raghavan., Bombay sanskrit series, 1942 and Adyer Library Research Centera- 1973

59 — Socio and Political Philosophy-Frederick M. watkins, New Haven, 1964 (Yele University)

60 — Sanskrit English Dictionary- Monier willians Indian Edition-1956.

61 — Sarva Darshan Sangraha-Commentration- T.G. Mainkar, Poona Oriential studies, Edition-1978.

62 — Sri harsa of Kanauj- K.M. Panikkar.

63 — The students sanskrit English Dictionry, V.S. Apte- Motilal Banarasi Das-1963.

64 — The History and culture of Indian people, the age of Inperical Kanauj- R.C. Majumdar.

65 — The History of Indian literature-Albrocht weber, John Mann, Theodor zachariaf, chakhamba sanskrit series- Studies 8, 6th Ed, 1961.

66 — The science of physiognomy, Character Reading from the face, Grace A Rees, D.B. Taraporowal sans and company, Bombay.

67 — The Lawas of scientific hand reading.- W.G. Benham, D.B. Taraporawal sans and Co. Private, Ltd. Bombay third Indian Reprint, 1971.

68 — The New Vedic Selection- Part-I,II (Telanga and Chaubeys)- by Dr. Braj Bihari Chaubey- Bharatiy Vidya Prakashan- Varansi-1972.

69 — The concise Oxford Dictionary-Edited, E.M.C.I.5th Ed. 1963.

70 — The Practical Sanskrit English Dictionary (Prin. V.S. Aptes) - Editors- P.K. Gode, C.G. Karve, with three vol., 1, 2, 3, Prasad Prakashan, Poona, 1958

71 — The six wats of Knowing- Prof. D.M. Datta, Univesity of Calcutta, 1972.

72 — The Meaning and process of culture- Prof. G.C. Pande, Shiva Lal Agarwal & Company, Educational, Publishers, Agra-3, First Edition-1972.

73 — The Chief currents of contemporary Philosaphy, Prof. D.M. Datta, the University of Calcutta, Third Eidtion-1970.

74 — The History of Sanskrit Literature- A.B. Keith- Oxford University press-1961.

75 — The Religion and philosophy of veda and Upanishad-Part-II by A.B Keith.

76 — Vakroktijevitam- Commentretor-K. Krishan Murti, Karnataka University, Dharwad, Edit-1977.

पत्र एवं पत्रिकाएँ

1 — Indian Antiquary- By D.C. Bhattacharya and F. Kielhorn, Madras.

2 — Journal of Bombay Branch of the Royal Asiatic society- by Buhalar, and P.V. Kane.

3 — Annals of Bhandarkar oriental Research Institute.

4 — Allahabad University studies, Allahabad.

5 — Journal of the Ganganath Jha Institute.

6 — Journal of Asiyatic society, by- F. Kielhorn.

7 — Monthly organ of the Sanskrit Sahitya Parishat, Calcutta.

8 — Indian historical quarterly by- G. Harihar Sastri. and S.K. De.

9 — Sri Ravi Verma Sanskrit Granthavali Journal- "पूर्णत्रयी" Kerala.

10 — "ऋतम्" Journal of Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow.

11 — The Astrological Magazine- Raman Publication-Bangalore.

12 — The Oxford, school Atlas- 25th Edition.

13 — Kashmir report- Recorded by Buhler.

14 — Gazettur of Farukhabad.

15 — Imperial Gazettur of India.

16 — Vianna Oriental Journal.

17 — Procedings, oriental confrence- 1926, volu.1 to 5.

18 — The Illustrated weakly of India.

19 — परिशीलनम् (षाण्मासिकयअनुसंधानपत्रिका)-उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ

20 — संस्कृत मञ्जरी -(त्रैमासिकी), दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली

21 — सारस्वती सुषमा (त्रैमासिकी)- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय नुसन्धानपत्रिका वाराणसी

22 — संगमनी- संस्कृत त्रैमासिकी पत्रिका- संस्कृत साहित्य परिषद्, प्रयाग

23 — सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग, (इलाहाबाद)

24 — श्रमण- (त्रैमासिक शोध पत्रिका)- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

25 — समाज, धर्म एवं दर्शन (त्रैमासिक)- श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान प्रयाग

26 — ज्योतिष प्रकाश- प्राच्य विद्या ज्योतिष एवं अनुसन्धान संस्थान, प्रयाग

27 — अजस्रा- संस्कृत त्रैमासिकी, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ